

THE RAM CHARITA (BHATTIKAVYA.)

OF

B H A T T I

WITH

JAYAMANGALA'S COMMENTARY



EDITED BY

KA VIRATAN PANDIT SHIV DUTTA,



REVISED BY

LEARNED SHASHTRIS OF THE PRESS



PRINTED & PUBLISHED

BY

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS,
AT THEIR SHRI VENKATESHWAR STEAM PRESS.
7TH KHETWADI KHAMBATI LANE.

Bombay.

1928.

[All rights Reserved by the publisher.]

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणशिरोमणिश्रीभट्टमहाकविप्रणीतं

रामचरितम् ।

(भट्टकाव्यम्)

श्रीजयमङ्गलविरचितया जयमङ्गलया
व्याख्यया समवेतम् ।

पण्डितप्रवरश्रीदेवीसहायचरणोपासनया-
इश्वीतविद्येन शिवदत्तकविरत्नेन कृतया
टिप्पण्या परिष्कृतम् ।

तदेव

शोधनकार्याधिकृतैः शास्त्रिग्रन्थैः संशोध्य

श्रीक्षेमराज-श्रीकृष्णदासेन

मुम्बापुर्या

स्वये “श्रीवेङ्कटेश्वर” स्तीम-मुद्रणयन्त्रालये
सम्मुद्रय प्रकाशितम् ।

वैकमाब्दाः १९०४,

क्रिस्ताब्दाः १९२८.

॥ श्रीः ॥

प्रस्तावः ।

यद्यपि 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इत्याद्युक्त्या काव्यं न कदाऽप्याराधनीयं प्रतिपद्यते, तथाऽपि 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेत्ररक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्याद्युक्त्या लोकोत्तरफलकं तत् कर्थं परिहेयतया तादृशं शास्त्रमनुशास्त्रीति विमर्शनीयं साम्रतं विवेकिभिर्महाद्विः । अथैवं विमर्शने व्यतिकरावसरे इदमेव निश्चीयते यत् निर्गुणमुद्दिश्य निषेध-शास्त्रं सगुणमुद्दिश्य पुनः प्रशंसयोपादेयताप्रत्यायक शास्त्रम् । तत्राऽलीलित्वादिभिः काव्यस्य सदोषत्वं, तदन्यथा सगुणत्वं च । यद्वा पामरजनानां गुणारोपणेन श्लाघने काव्यस्य दुष्टत्वं परमेश्वरचरितवर्णने पुनः सगुणत्वं स्यात् इत्येतत् सर्वे विचार्यं परोपकैरैकप्रवणस्तत्रभवान् महावैयाकरणः श्रीभट्टकविर्व्याकरणशास्त्रोपदेश्यार्थसमर्पणपुरःसरम्मर्यादापुरुषोत्तमस्य भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य चरितमुपानिबबन्धेति विदितचरं विदुषाम् । तदिदं प्रकृतं महाकाव्ये समस्तशास्त्रान्तरावगमोपकारकं व्याकरणशास्त्राध्ययनफलं समर्पयन् समस्तशास्त्राधिकारितामुपनीय परमेश्वरचरणानुरागौपयिकतानिदर्शनच्छलेन परमश्रेयःसाधनरूपतामपि समर्थयते । एवं चेदं समस्तपुरुषार्थसाधकमिदं भट्टिकाव्यापरपर्यायं रामचरितं काव्यमिति सिद्धम् । अथ यद्यपि प्रायः प्रसादगुणशास्त्रालयेदम्, तथाऽपि विषयंदुरवबोधतया व्याख्यासोपेक्षमिति करुणापारावारीर्णिविवृद्धैरनेकैर्व्याख्याय स्फुटार्थतां नीतम् । तासु च यादृशी पण्डितमणिना जयमङ्गलेन प्रणीता व्याख्याऽन्तेवासिनां झटिति हिताश्च प्रस्तुता न तादृशी काचिदप्यन्या इति विचार्यं तया समवेतमिदं विहितम् । तत्र च यानि सूत्राणि न सर्वात्मनोपन्यस्तानि यानि वा कालमहिम्नां विपरीतात्मतयोपलब्धानि तथैवान्यान्यापि दुरुद्धरशल्याधितानि यानि कान्ति चिन्मूलटिकासंवलितानि तानि सर्वाणि यथामति परिष्कृत्य सर्वेषां विदुषां छान्नाणां चोपकृतये स्थलाविशेषे टिप्पण्या प्रसाधितम् ।

एवं सर्वात्मना उत्पण्या व्याख्यया च परिष्कृत्येदमनवद्यं भट्टिकाव्या-
पराभिधं रामचरितं नाम महाकाव्यं समस्तशास्त्रोद्धारविधौ बद्धपरिकरेभ्यो
धर्मरक्षाद्यनेकविरुद्धावलिमहितेभ्यः श्रीक्षेमराजथीकृष्णदासश्रेष्ठिभ्यः सम-
पितम् । तैश्चैतद्वान्मानाभ्यां संतोषितः सधन्यवादमितप्रवृत्ति एतत्प्रका-
शनादिसर्वाधिकारभारमपि तेभ्य एव समर्प्य विरमामि । यद्यपि अस्य सर्व-
योग्योगिताविधौ परं यतितम्, अथाऽपि कथमिवेदं संवृत्तमित्यत्र महान्त एव
प्रमाणम् । उक्तं हि—आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगाचिज्ञानम् । बलवदपि
शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चतः ॥ इति शम् ।

इति सहृदयानुचरस्य.

शिवदत्तस्य ।

वर्थ

रामचरित (भट्टिकांव्य) स्य

श्लोकानुक्रमणिका ।



| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| अ. | | | |
| अकम्पनस्ततो ... | ३९२ | अच्छैत्तां च महाऽऽत्मानौ० | ४२६ |
| अकुप्यदिन्द्रजित् | ४५५ | अजिप्रहत्तं ... | ३६ |
| अकूर्द्धिष्ट व्यकारीच्च | ४१४ | अजिग्रंपस्तथैव० | ४३१ |
| अकृष्टपच्याः ... | १४४ | अजिहृदत् सः० | ४३१ |
| अकोकूर्यिष्ट | ४३२ | अजीगणदाश०... | ४२ |
| अकृधज्ञाभ्यधाद् | ४०६ | अज्जवन्नोत्सहेथाः० | ४९२ |
| अहुश्यमसिना... | १९९ | अटाटथमानः०... | ६८ |
| अक्षारिषुः शराम्भांसि | २५१ | अतत्वरच्च तान्... | ४१८ |
| अक्षेमः परिहासोऽयम् | १७९ | अतस्तम्भदृयम्... | ४२५ |
| अक्षणोः पतनील० | ३२८ | आताय्यस्योत्तमम् | १३५ |
| अखण्डथमानम् | ३३६ | अतिकायाद्विना० | ४३६ |
| अगाधत ततो ... | २०९ | अतिकाये हते ... | ४३६ |
| अगोपिष्टां पुरीम् | ४३२ | अतिक्रान्ता त्वया | ५१८ |
| अग्निः प्रमादेन... | ३३८ | अतिप्रियत्वात्० | १६३ |
| अग्निचित्सोम ... | १६८ | अतीते वर्षुके० ... | १७९ |
| अग्निष्टोमादि | २७२ | अतुल्यमहसा०... | ९४ |
| अग्निवरिवस्यंश्च | ४६० | अतुष्टप्तीठम् ... | ४०२ |
| अग्न्याहितजनप्रहे | २८० | अतुह्यन्नमराः सर्वे | ४५९ |
| अग्रासेष्ट व्यथाविष्ट० | ४१९ | अत्तणेऽशक्रजित् | ४५१ |
| अघानि ताढका | ९८ | अतौत्सीद्वद्या ... | ४११ |
| अघुरस्ते महा ... | ४६३ | अथ कुमात् ... | १९२ |
| अङ्गदेन समं | ४२२ | अथ जगदुरनीचैः | १९ |
| अङ्गदेनाऽहसताम् | ४३३ | अथ तमुपगतम् | ५५७ |
| अचूर्णयच्च गूपाक्षम् | ४६७ | अथ तीक्ष्णायसैः | ८६ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| अथ दृहगुः ... | ३०८ | अधिजलधि ... | ३१५ |
| अथ नयन० ... | ३१७ | अधिज्यव्यापः ... | ३१ |
| अथ पुरुजवयोगात् ... | ४३ | अधिरामे ... | २३७ |
| अथ सूदु ... | ३१४ | अधीयात्रात्म० ... | १०५ |
| अथ लक्षण ... | ३०५ | अध्यगीष्टार्थ० ... | ४२५ |
| अथ लुलित० ... | २९२ | अध्यङ्गश्शात० ... | ९६ |
| अथ सवलक्त० ... | २८७ | अध्यायच्छुक्रजित् ... | ४५५ |
| अथ ससंभ्रम० ... | ५२४ | अध्यासिसिषमाणे ... | २२० |
| अथ संपततः ... | ८३ | अध्यासीत् ... | २२५ |
| अथाच्चितोरस्कम् ... | ३२८ | अध्युवास रथम् ... | ३९१ |
| अथानुकूलान् ... | ३२९ | अध्वरेष्विभिः० ... | ८८ |
| अथाऽऽयस्यन् ... | ११२ | अध्वरेष्विष्टाम् ... | १६३ |
| अथार्थ्य मधु० ... | १४८ | अनन्सीचरणौ ... | २६३ |
| अथाऽऽलम्ब्य ... | १३६ | अनन्सीद्भूभरेण ... | ४०८ |
| अथाऽऽलुलुक्रे... ... | २८ | अनर्दिषुः कपि० ... | ४११ |
| अथास्तमासेदुषी० ... | ३१९ | अनिमित्तान्यथा० ... | ४४९ |
| अथोपशरदे ... | १७८ | अनिवृतं भूतिषु... ... | ३५४ |
| अदालिषुः शिला॒ | ४१२ | अनुजानीहि॑ ... | ४९६ |
| आदिहश्चन्दनैः... ... | ४६१ | अनुजिज्ञासतेवाऽथ ... | २१९ |
| अदीदिपचतो वीर्यम् ... | ४२४ | अनुमन्तास्वहे नावां ... | ९२१ |
| अहश्चताम्यांसि ... | २२ | अनुष्टाय यथादिष्टम् ... | ५०१ |
| अहश्चन्त्राऽनिमित्तानि ... | ४७३ | अनृतोद्यं न तत्रालिति ... | १४२ |
| अदेवाद्विन्द्यु०... ... | २४६ | अनेकशो निर्जित० ... | ४२ |
| अदोहीव ... | १३५ | अन्तःपुराणि पौलस्त्यम् ... | ४८६ |
| आद्वित्वं पञ्चगव्यम् ... | ४९९ | अन्तर्घत्स रघु० ... | ९५ |
| अद्वा द्विजान् ... | ३२ | अन्तर्निविष्टो... ... | ८ |
| अद्य सीता मया ... | २४० | अन्याऽसक्तस्य ... | २८६ |
| अद्राष्टां तं रघु० ... | ४१३ | अन्ये त्वलद्विषुः ... | ४१० |
| अधर्मात्रात्रसः ... | ४५६ | अन्योन्यं स ... | २१० |
| अकिंतमाहिमा... ... | ३१८ | | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| अन्वनैषीत्तो ... | १७३ | अभियाता ... | ३८६ |
| अन्वयाऽऽदि० ... | २८५ | अभियाता४५वरं | २९६ |
| अपक्वकुम्भाविव | ३४४ | आभय्यन्त | २६९ |
| अपथ्यमायतौ ... | ४७७ | अभीव्यन्त | २२१ |
| अपप्रथदूगुणान् | ४२१ | अभून्नपो | १ |
| अपमन्युस्ततो० | ४८८ | अभेदि च शैरः ... | ४१९ |
| अपरिमित० ... | ३१३ | अभृः कपयो० | ४१७ |
| अपरीक्षित० ... | ३०४ | अमस्यत भवान् | ५११ |
| अपलापयमानस्य | २२१ | अमन्थीच परानीकम् | ४१४ |
| अपहरदिव | ३१४ | अमार्षितमिव | २०७ |
| अपि तत्र रिपुः ... | ५०७ | अमर्षो मे परः ... | ४४० |
| अपि स्तुहपिसेधा० | २३६ | अमलमणि० | ३६९ |
| अपिस्फवत्स्वसामर्थ्य | ४२८ | अमितम्पचम् | १५९ |
| अपूजयंश्चतुर्वक्तम् | ४४८ | अमृडित्वा | २०४ |
| अपूजयन् कुलज्येष्टान् | ४४७ | अम्भांसि रुक्मकुम्भेन | ४९४ |
| अपूजन विष्टर० | २९ | अयुक्तमिदमित्यन्ये | ४६० |
| अपूर्यन्नभः ... | ४६२ | अयं नियोगः पत्युस्ते | ५०० |
| अपृष्ठो नु ब्रवीति | ४८० | अयं मैथिल्यभिज्ञानम् | २४५ |
| अपौहद्वाणवर्षम् | ४६८ | अरण्ययाने० | ६५ |
| अप्रतिस्तब्ध० ... | २७४ | अरविन्देणु० | ३६३ |
| अवभाजत्ततः ... | ४३४ | अरासिषुः | २५९ |
| अविभ्रजत्ततः ... | ४२७ | अरोदीद्राक्षसानीकम् | ४५९ |
| अभायत यथा० ... | २०९ | अर्थेन संभृता | ४४२ |
| अभावे भवताम् ... | १९९ | अघोत्थिता० | ३२४ |
| अभिज्ञानं ... | १५० | अलिगणविलोल० | ३६२ |
| अभियोतिष्यते ... | २३५ | अलोठिष्ट च | ४१७ |
| अभिनच्छत्रु० ... | ४६४ | अवगाढं गिरिजालम् | ३६३ |
| अभिन्यविक्षथाः | २२३ | अवग्राहे | १९० |
| अभिमानफलं जानन् | २८३ | अवश्यपाव्यम् ... | १४६ |
| अभिमानफलं प्रोक्तम् | २८४ | | |

| श्लोकः | पृष्ठाङ्कः | श्लोकः | पृष्ठाङ्कः |
|--------------------|------------|--------------------|------------|
| अवश्यायकणा० | १५२ | असीतो रावणः... | १२२ |
| अवसन्नरुचिम्... | ३०१ | असुलभरिसंचारम् | ३६१ |
| अवसायो० ... | १५३ | असृष्ट यो० ... | ४९ |
| अवसाव नगेन्द्रेषु | १७२ | असौ दघदू ... | ३४७ |
| अवसितं हसितम् | २८९ | अस्ताविषुः सुराः | ४२३ |
| अवसेयाश्च कार्याणि | ४९५ | अस्तुवन् देव ... | ४६४ |
| अवाक्षिरसम्... | ६८ | अस्तुवन् बन्दिनः | ४४५ |
| अवादीचिष्ठते०... | २५१ | अस्तृणादयिकम् | ४७३ |
| अवादीन्माम् ... | ४०३ | अखीकोइसा० ... | ७९ |
| अवाद्यायुः ... | २२६ | अस्पन्दिष्टाऽक्षि | ४०८ |
| अविवेष्टन्त्यपा० | ४१८ | अस्माकमुक्तम् ... | ६६ |
| अवीततृष्णो० ... | ३२४ | अस्यन्दिनिन्दु० | २२८ |
| अवोचत्कुम्भम्०... | ४०४ | अस्यन्नरुष० | २६७ |
| अव्यग्रमुप० ... | २१३ | अस्यसञ्चात्तहतो० | ४३४ |
| अव्यर्थो गिरि ... | २५५ | अस्माक्षुरसम् ... | ५१ |
| अशनिरथम् ... | ३१५ | अहं राम० ... | १४१ |
| अशम निह्वानो० | २३१ | अहं शर्पणखा ... | ८० |
| अशान भरतात् | ५०२ | अहं स्वप्रक् ... | १८२ |
| अशिष्वशात्ययिकम् | ५४ | अहं तु शुश्रुवान् | १७१ |
| अशृण्वन्नन्यतः... | ४५१ | अहं न्यवधिषम् | १२९ |
| अशोभिष्ट ... | ४१६ | अहमन्त० ... | ११९ |
| अशोतद्विधिरम् | ४६६ | अहते धने० ... | ३०३ |
| अशीतपितीयन्ती | ११६ | अहो जागर्ति ... | ४७९ |
| अश्वान् वालिसुतो० | ४२३ | अहौषीकृष्ण०... | ४२७ |
| अश्वान् विभीषणो० | ४७० | आंहिषतां रघु० | ६९ |
| अष्टघटां महा० | ४७० | आंहिष्ट तानसंमान्य | ४०९ |
| असंकुत्रिम० ... | ८२ | आः कष्टम् ... | १२७ |
| असद्वन्यु० ... | २८६ | आकर्ष्यामि यशः | ४४८ |
| असंप्राप्ते० ... | २४३ | आख्यन्मुनिस्तरय | १४ |
| असितोमर० ... | ३७० | | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| आरुत्यातासि हतम् | ५१९ | आप्यानस्कन्ध | १०३ |
| आधूर्णिष्टां क्षतौ | ४२३ | आबद्धनेत्राऽ ... | ३२५ |
| आप्नन् भेरीः ... | ४४९ | आश्वद्धभीम० ... | ५७ |
| आचचक्षे च वृत्तान्तम् | ३८५ | आबप्नन् कपि० | ४७६ |
| आचाम्यं सन्ध्ययोः | १४६ | आमन्त्रयेत तान् | ४९० |
| आचिक्याते च भयोऽपि | ३८४ | आमिक्षीयं दाधि० | ८९ |
| आचिचाय स तैः | ३८३ | आमुच्चद्वर्म ... | ४४८ |
| आच्छादयन् व्यलिं० | ४७७ | आयान्त्यः स्वफलः | ५१५ |
| आजघ्नुस्तूर्य० | ३९६ | आयाससंभवाऽरुण० | ३६१ |
| आज्ञां कारय० | २३४ | आयिष्ट मासति॒म् | ४३० |
| आज्ञां प्रतीषु ... | ६२ | आयोधने स्थायुकम् | ५७ |
| आटाण्यताऽवमत्याऽसौ | ४६६ | आरामदर्शनात् | २३५ |
| आठथङ्करण०... ... | १६४ | आरूढं च सुवेलम् | ३६७ |
| आतिथ्यमेभ्यः... ... | ५१ | आरूढबाण० ... | ३७० |
| आतिष्ठदगुः | ७२ | आरोक्ष्यामि युगान्त० | ४४६ |
| आत्मनः परि० | २०१ | आर्चीद्विजातानि० | ११ |
| आत्ममभिरस्त्वं | ३२ | आर्च्छ्नं वामम् | ४४९ |
| आत्मानमपजानानः | २१६ | आलिङ्गितायाः | ३२३ |
| आत्रिकूटम् ... | २८४ | आलोकयत्स०... | ४६७ |
| आददीधं महार्हाणि | ४९० | आलोचयन्तो ... | १८७ |
| आदरेण गमम्... ... | १९२ | आवरीतुमिवा० | २५६ |
| आदिक्षदादीम० | ४५ | आवासे सिक्त० | ११५ |
| आदिदेश स ... | ३८८ | आशङ्कमानो० ... | १२५ |
| आदृत्यस्तेन ... | १४३ | आशासत ततः... ... | ४४७ |
| आनन्दयिष्यदाग्भ्य | ५१२ | आशितस्मवम् ... | ३६१ |
| आनन्दितारस्त्वाम् | ५१९ | आशीर्भरभ्यच्यै | १६ |
| आपिङ्गलक्षो ... | ३१ | आशुशूष्णन् ... | २१९ |
| अपीतमधुका ... | १०८ | आश्चर्यै यज्ञ यत्र त्वाम् | ४९३ |
| आत्मारौ भवता | ५१८ | आश्चर्यै यज्ञ यत्र खी | ५१० |

(८) रामचरित (भाष्टकाव्य) स्थ

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| आश्वस्याक्षः ... | २५९ | इषुमति रघुसिंहे | १९ |
| आश्वासयाच्चकाराऽथ | ३८७ | इह सा व्यलिपित् | " |
| आसमज्ज भयम् | ३९८ | इहाजीव इहैव त्वम् | ४५६ |
| आसेष्ट नैकत्र... ... | ५३ | इहाऽसिष्टा० ... | १३१ |
| आसीद् द्वारेषु ... | ४६२ | ई. | |
| आस्कन्दृष्टमणम् | ४६८ | ईक्षांचक्रेऽथ | ३१६ |
| आस्ते स्मरन् ... | १४२ | ईयुर्भरद्वाज० ... | ५१ |
| आस्फायतास्य | ४६० | ईष्याविरुग्णाः ... | ३२० |
| आस्यन्पूर्वज्ञमाः | ४५० | ईश्वरस्य | २४४ |
| आस्त्व साकं मया | २३ | ईषदाद्यङ्गरो ... | २०१ |
| आहूय रावणो ... | २६३ | | |
| आहोपुरुषिकाम् | ९४ | | |
| आहास्त स० ... | १३२ | उक्तवन्तौ ततो रामम् | ५२१ |
| आहास्यते विशङ्को | ४३८ | उक्तवान् राघवः | ४९८ |
| | | उक्षान्प्रचक्षु० ... | ४६ |
| | | उप्रम्पश्याऽऽकुले | ७७ |
| इ. | | उप्रम्पश्येन ... | १५९ |
| इच्छ स्नेहेन ... | २३२ | उच्चखनाते नलेनाजौ | ३८० |
| इच्छन्त्यभीक्षणम् | ३५५ | उच्चरल्नुः पार० ... | ३६३ |
| इच्छा० म परमानन्देः | ४९४ | उच्चिकिये पुष्प० | ६० |
| इतरो रावणादैषः | २४१ | उच्चैरच्चित० ... | २६१ |
| इति चिन्ता० ... | २४२ | उच्चैरसौ राघव ... | ४१ |
| इति निगदित० ... | ६७ | उच्चैरसौ रारस्यमानाम् | ११८ |
| इति त्रुवाणो ... | ३९ | उच्छ्रायवान् ... | १९० |
| इति वचनमसौ... ... | ३५६ | उच्छुग्गरे ततः ... | ३८५ |
| इत्थं ग्रवादम् ... | ३४ | उत्तराहि ... | २४१ |
| इदं कवचम् ... | १३४ | उत्तिष्ठस्व मते ... | ५०१ |
| इदं नक्तन्तनम् ... | १२८ | उत्तोर्णौ वा ... | १५८ |
| इदमाधिगतम् ... | ५२४ | उत्तेरिथ समुद्रम् | ३८६ |
| इन्दुं चषक० ... | २२० | उत्पत्य खम् ... | ९४ |
| इन्दोः स्यन्दिष्यते | ४४० | | |

श्लोकानुक्रमणिका ।

(९)

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| उत्पातजं छिद्रम् | ३५२ | उर्णीषं सुमुचे ... | ३९६ |
| उत्पाताः प्रावृत्तम् | ४०८ | उह्नेरन् यज्ञपात्राणि | ४९० |
| उत्सुकानीयतां ... | ४९८ | | |
| उद्दक् शत० ... | १९१ | ऊचे संवरिषीष्टाः | २५७ |
| उदक्षिपन् पट्ट० | ५८ | ऊर्जस्वलं हस्ति० | ६७ |
| उद्जीवत् सुमत्राभूर्० | ४७१ | ऊर्णुनाव स ... | ३९८ |
| उदतारिषुः ... | ४१० | ऊर्वं मुहूर्ताद्हो ... | ५०० |
| उदतारीदुदन्वन्तम् | ४०३ | ऊर्वं मिये मुहूर्ताद्दि० | ४८६ |
| उदपतद्वियत् ... | २९४ | ऊहिरे मूर्ध्नि ... | ३९५ |
| उदरे चाऽजरनन्ये | ४१५ | | |
| उद्यांस्थिति हरिर् ... | ४३७ | | |
| उन्नसं दधती ... | ७४ | ऋग्यजुषम् ... | ७० |
| उन्नयानाधि० ... | १८६ | ऋणाद्वद्ध० ... | २४० |
| उन्मीलिष्यति चक्षुर्० | ४३७ | ऋद्विमान् राक्षसो | ३०३ |
| उन्मुच्य स्त्रजम् ... | ४८५ | ऋषभोऽद्रीन् ... | ४१४ |
| उपशाम्यतु ते बुद्धिः | ४९७ | ऋष्यमूकम् ... | १६६ |
| उपशूरम् ... | २३५ | ऋष्यमूके ... | १४१ |
| उपागन्यकुरुताम् | १६१ | | |
| उपारंसीच्च ... | २२४ | | |
| उपासांचाक्रिरे ... | १२३ | एकः पदातिः ... | ३४८ |
| उपास्थितैवमुक्ते | १३८ | एकहायन० ... | १५४ |
| उपास्थिष्ठत ... | २७६ | एकेन बहवः ... | २५३ |
| उपेक्षणीयैव ... | ३४० | एकेन वाली ... | ३४३ |
| उपेक्षिता देव० ... | ३३० | एकेन सन्धिः ... | ३४२ |
| उपेक्षिते वालिं० | ३३६ | एको द्वाभ्याम् ... | २८८ |
| उभावकृन्तताम् | ४७३ | एता दैवानु० ... | २७७ |
| उभौ मायां व्यपायेताम् | ४७४ | एते ते सुनिजन० ... | ५२२ |
| उल्का दृशिरे ... | ३७७ | एतौ स्म मित्रावरुणौ | ३६ |
| उवाच चैनं क्षणदा० | ३५५ | एवं युवां भमं ... | ५२१ |
| उवाच मारुतिः | १९८ | एवं विजिये ताम् | ३९८ |
| | | एष पेद्याम्यरीन् | ४४५ |

(१०) रामचरित (भाष्टकाव्य) स्थ

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| एष प्रावृषि० | ... १०२ | कन्नाभिरावृतः | ... १८२ |
| एष रावणिः | ... ४२५ | करपुट | ... ३०१ |
| एष शोकच्छिदो० | ... १८३ | करिष्यमाणम् | ... ८८ |
| एष्टारमेषिता | ... २५८ | करोति वैरम् | ... ३५६ |
| ऐ | | कर्णजपैराहित० | ... ४७ |
| ऐक्षिष्महि | ... १२९ | कर्तारीस्म कार्यम् | ... १८४ |
| ऐद्विप्रवद्मानैः | ... २१७ | कलहारिकण्ठ० | ... ३६८ |
| ऐन्द्रेण हृदये | ... ४२० | कलिपष्यते हरे | ... ४३८ |
| ऐ वाचं देहि | ... १३० | का त्वमेकाकिनी | ... १०६ |
| ऐषीः पुनर्जन्म | ... १३ | कान्ता सहमाना | ... २९३ |
| ऐहिष्ट तं कारयितुम् | ... ९ | कान्ति स्वाम् | ... २२३ |
| ओ | | कामो जनस्य | ... ४९३ |
| ओजायमाना | ... ११० | कार्य सारनिभम् | ... १८५ |
| ओषांचकार | ... १२४ | काव्यभिदं विहितम् | ... ५२६ |
| औ | | काञ्चिन्नोपावदिष्टासौ | ... २१७ |
| औष्ण्यं त्यजेन्मध्य० | ... ३५० | किं इन्नैस्त्वय्यु० | ... ३५१ |
| क | | कुण्डपायताम् | ... १४७ |
| कः कृत्वा रावणा० | ... २७९ | कुतोऽधियास्यसि | ... २३६ |
| कः पण्डितायमानः | ... ११० | कुमुदवन | ... ३१६ |
| कथं दुष्टः | ... १७० | कुम्भकर्णस्ततो | ... ४०७ |
| कथं न्वजीविषुस्ते च | ... ४२२ | कुम्भकर्णसुती | ... ४३२ |
| क्षपयोऽविभयुः | ... ४६२ | कुम्भकर्णे हते | ... ४४० |
| कपितोयानिधीन् | ... २९९ | कुम्भकर्णे रणे | ... ४४० |
| कपिनास्तमोघिं० | ... २५० | कुरु बुद्धिम् | ... ९० |
| कपिष्टुष्टगतौ | ... ३०६ | कुर्याद्योगिनम् | ... १७७ |
| कपिजगाद् | ... २८४ | कुर्यास्तथा येन | ... ३३३ |
| कपिष्वङ्क्रमणो | ... १७९ | कुर्वन्ति परिसारिण्यः | ... १७६ |
| कमण्डलुकपालेन | ... १०५ | कुर्वन्तो हवम् | ... १९४ |
| कम्बून्थ समादध्मुः | ... ३७२ | कुलभार्यम् | ... २१४ |
| | | कुतं सर्वं यथोदिष्टम् | ... ४९२ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| कृताभिषेको० | ३४७ | कुद्यन् कुलम् ... | १६ |
| कृती श्रुती ... | ६५ | कूराः क्रिया प्राम्य० | ३५१ |
| कृते कानिष्ठिनेयस्य | ११३ | छिष्टाऽत्मभूत्यः | ३४५ |
| कृते नोपकृतम् | २११ | क च स्वातो रघो० | ५०२ |
| कृतेषु पिण्डोदक० | ११९ | क ते कटाक्षाः | ३२० |
| कृते सौभागिनेयस्य | ८१ | क स्त्रीविषहाः | ३४९ |
| कृतैरपि दृढ० ... | ३८२ | क्षणं भद्रावतिष्ठस्व | २१८ |
| कृत्वा कर्म ... | २४७ | क्षतैरसंचेतित० | ३२६ |
| कृत्वा लङ्का० ... | ९३ | क्षितिकुल० ... | ३१२ |
| कृत्वा वालि० ... | १६६ | क्षिप्रं ततोऽध्यन्य० | ३७ |
| कृशानुवर्षमण्यधि० | ३३४ | क्षुद्रान्नजक्षुः ... | २९ |
| कृषीद्वं भर्तु० ... | २७१ | | |
| केचित्संचुकदुः | ३९८ | ख | |
| केचिद्वेपथुम् | ८४ | खमट द्यामट ... | ५०४ |
| केचित्त्रिनिन्दुः | ४८ | खमूर्युर्वसुधाम् ... | ३९३ |
| केन सूभावितम् | ४२९ | खं पराजयमानो | २११ |
| केन संविद्रते नाऽन्यः | ४८४ | खरदूषणयोः ... | ८१ |
| केन संविद्रते वायोर् | २१४ | खरादिनिघनं ... | २८१ |
| केनापि दौष्कुलेयेन | २०२ | | |
| कशानलुच्छिषुः | ४०१ | ग | |
| कोट्या कोट्या पुर० | ३७९ | गच्छन्तु चाह० | ३६२ |
| कोऽन्योऽकर्तस्यदिह | ५१३ | गच्छन्स वारीणि | २९७ |
| कोपात्काञ्चित् | २१८ | गजानां प्रददुः | ३७५ |
| कौशल्याऽसावि० | ११ | गतमङ्गुलिं० ... | २७१ |
| क्रियासमारम्भ० | ३५० | गतासु तासु ... | २४० |
| क्रियेरञ्च दशास्येन | ४८९ | गतास्याद्वचिन्वाना | १२७ |
| क्रीडन् भुजङ्गन् | ३५६ | गते तस्मिन्तुपा० | २६४ |
| कुद्धाननुनये० | ४९४ | गते तस्मिन्गृहीतार्थे | ५२० |
| कुद्धोऽदीपि ... | १३५ | गते तस्मिन् जल० | १०४ |
| | | गते तस्मिन् समा० | २३८ |
| | | गतेऽतिभूमिम् | ३२७ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------|-------------|------------------------|-------------|
| गते त्वयि पथानेन | ५२० | वानिष्यते तेन | १५ |
| गतो वनं इवो | ४९१ | घोरजलदन्ति० | ३५९ |
| गत्वाऽथ ते पुरीम् | ४९ | घोषण तेन प्रति० | ३४९ |
| गदा शक्तिजिता | ३८१ | ब्रन्तं मोपेक्षिवाथाम् | ४१३ |
| गन्तारः परमां प्रीतिम् | ५२० | च. | |
| गन्तुं लङ्घातीरम् | ३६१ | चकाराधस् | २६८ |
| गम्भीरवेदिनः | ३७५ | चकासाञ्चकुः | ३७७ |
| गम्भीरा प्रावहन् | ४६३ | चक्रन्दुरुचै० | ३९४ |
| गहडानिल० | २९८ | चक्राणाऽशङ्कितो | ३९४ |
| गर्जन् हरिः | २२ | चक्षुषि कान्तान्यापि | ३२५ |
| गाढगुरुपुङ्ग० | ३५९ | चञ्चलतस्हरिण० | ३५८ |
| गाढसमरिण० | ३६९ | चञ्चूर्यन्तेऽभितो | ४८३ |
| गाधितासे नभो | ५१६ | चतुष्काष्ठम् | २६६ |
| गाधेयदिष्टम् | ३२ | चन्दनद्रुमसंछान्ना | ५१७ |
| गान्धर्वेण न्यविघ्यत् | ४६९ | चत्स्यन्ति वाल० | ४४० |
| गिरिपङ्कचारु० | ३६६ | चलकिसलय०... | ३६८ |
| गिरिपरिगत० | ३१२ | चलपिङ्गल०... | २९९ |
| गिरिमन्वस्तृपत् | १३३ | चापलयुक्तस्य | ३३७ |
| गिरेर्नितम्बे | २२ | चारुकलहंस०... | ३६४ |
| गुहगिरिवर० | ३६२ | चारुसर्मरिणरमणे | ३५८ |
| गुहपणववेणु० | ३७० | चिर्कीर्षिते पूर्व० | ३३३ |
| गुरुद्यधाना | ३२३ | चिचेत रामस ... | ३८७ |
| गुरुरुचञ्चत् | ३३० | चितां कुरु च ... | ५०५ |
| गुहाया निरगात् | ११५ | चित्रं चित्रम् ... | २९६ |
| गूहमानः | २२२ | चिन्तयान्त्रित्यम् | २२६ |
| गृप्रस्येहा० | १३४ | चिन्तावन्तः कथम् | १९७ |
| ग्रहमणिरशनम् | ३०७ | चिरं रुदित्वा ... | ६५ |
| घ. | | चिरकालोषितम् | ९८ |
| घनगिरीन्द्र० | २९३ | चिरं क्षिशित्वा | १०१ |
| घनिष्ठीष्ट त्वया | ४१५ | चिरेणाऽनुगुणम् | २३८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|----------------------|-------------|
| चुकोपेन्द्रजित् ... | ३८३ | जिते नृपारौ ... | ४३ |
| चुकुधे तत्र ... | ३९६ | जूतिमिच्छुथ ... | १९६ |
| चैतसस्त्वयि ... | ५०३ | जेता यज्ञ० ... | ७८ |
| छ. | | जेतुं न शक्यो० | ३३५ |
| छलेन दयिता ... | १५९ | ज्ञात्वेऽङ्गितै० ... | ५६ |
| छिन्नानैक्षन्त ... | ४६३ | ज्ञायिष्यन्ते मया | ४४६ |
| ज. | | ज्योतिपुर्वन् ... | ५६७ |
| जश्मिमोऽनपराधे | ८२ | ज्योत्स्नाऽमृतम् | २२७ |
| जगन्ति धर्स्व ... | ५०४ | ड. | . |
| जगन्त्यमेयाहृत० | ३३९ | डुडैकिरे पुनर् ... | ३१० |
| जगर्जुर्जह्युः ... | ३७३ | त. | . |
| जगाद् वानरान् | २०३ | तं यान्तं दुदुवुर् | ३९६ |
| जगाहिरेऽस्म्बुधिम् | ३८९ | तं यायजूकाः ... | २६ |
| जग्मुः प्रसादम् | ३४ | तं रबदायम् ... | ३३५ |
| जगलौ दध्यौ ... | ३८७ | तं विप्रदर्शम् ... | २८ |
| जटायुः पुण्यकृत् | २०० | तं सुस्थयन्तः ... | ११८ |
| जनानुरागेण ... | ३४० | तं जागरूकः | १८१ |
| जरित्वेव | २६१ | ततः कथार्थिः | ५२२ |
| जलकामदन्ति० | ३६९ | ततः कपिसमाहारम् | १८५ |
| जलतीरतुङ्ग० ... | ३७१ | ततः कपीनाम् | १८४ |
| जलद इव | ३३१ | ततः कर्ता० ... | १७४ |
| जलनिधिमगमत् | ३०९ | ततः क्रोधानिल० | २८२ |
| जले विक्रम० ... | २१६ | ततः खड्गं समुद्धम्य | २३७ |
| जल्पाकीभिः ... | १८० | ततः परं भरद्वाजो | ५१८ |
| जल्पितोत्कृष्ट ... | २१७ | ततः प्रगदिता वाक्यम् | ५०३ |
| जहसे च क्षणम् | ३९५ | ततः प्रजघटे युद्धम् | ३९९ |
| जहींहि शोकम्... | ४१८ | ततः प्रणीताः ... | ३६५ |
| जिगमिष्या संयुक्ता | ३६२ | ततः प्रसुदितो ... | ४३६ |
| जिज्ञासोः शक्तिम् | १६४ | ततः प्रविभ्राजयिषुः | ४८ |

| इलोका: | पृष्ठाङ्कः | इलोका: | पृष्ठाङ्कः |
|----------------------|------------|-------------------------|------------|
| ततः प्राकारम् | २२५ | ततो रामो हनूमन्तम् | ५१६ |
| ततः प्रामुहताम् | ४५३ | ततो रौद्रसमायुक्तम् | ४५९ |
| ततः प्रस्थिष्ठता० | ३०६ | ततो बलिन्दम० | १६१ |
| ततः प्रोदसहन् | ४७१ | ततो वालिपशौ | १६५ |
| ततः शतसहस्रेण | ४७२ | ततो वावृत्यमानासौ | ७९ |
| ततश्चित्रीयमाणो० | १०० | ततो विजघटे ... | ३८८ |
| ततः सकोपम् ... | ३५५ | ततो विनिद्रम् | ३३२ |
| ततः स गतवान् | ४९४ | ततोऽशीति० ... | २५० |
| ततः समभवद्युद्धम् | ४६२ | तत् कर्म वालिं० | ३८१ |
| ततः समाशङ्कित० | ३२१ | तत्र जेतुं गमिष्यामि | ४४४ |
| ततः संसंभद्रास्तत्र | १९३ | तत्रेन्द्रजितम् ... | ४५५ |
| ततः सुचेतीकृत० | ४५ | तत्रेषज्ञास्ववान् | ४२९ |
| ततः सौमित्रिर् | ४२७ | तथापि वक्तुम् | ३५१ |
| ततखिशिरसम् | ४७० | तथाऽत्तोऽपि ... | १३२ |
| ततोऽकुण्डाहश० | ४६७ | तं दृष्ट्वाचिन्तयत् | २४१ |
| ततोऽक्रान्तीदद्य० | ४२७ | तं नो देवा विधेयासुः | ४८८ |
| ततोऽचित्रीयता० | ४६३ | तमः प्रसुपम् ... | ३२२ |
| ततो जलधिगम्भीरान् | १९६ | तमध्यासेष्ट | ४२८ |
| ततो दशास्यः | ३२६ | तमसाया महानिल० | ७१९ |
| ततो दशास्यः स्मर० | ३७२ | तमुद्यत० | ९९ |
| ततोऽद्विषुर्निरालोके | ४६२ | तमेवं वादिनम् ... | ४४४ |
| ततोऽधावन् महा० | ४६५ | तं भीतकारम् ... | ९७ |
| ततो नदीष्णान् | ३७ | तं मनोहरम् ... | १५६ |
| ततो नीलहनूमन्तौ | ४२३ | तं सीताघातिनम् | १३८ |
| ततोऽस्यगमद्राधिं० | १३ | तयोर्वानर० | १६७ |
| ततो मातलिना | ४७५ | तरङ्गसङ्गात् ... | २० |
| ततो मन्दगतः ... | १९९ | तर्पणं प्रजनिष्णून्ताम् | १७५ |
| ततो मायामयान् | ४७४ | तवोपशायिका | २४६ |
| ततो मायामयीं सीताम् | ४५२ | तस्तुर्जज्वलुर् | ३७९ |
| ततो रामेति चक्रन्दुः | ३८४ | तस्मात्कुरु त्वम् | ३५३ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------|-------------|---------------------|-------------|
| तस्मान्त्रिरपतद्भूरि | ४५९ | तास्तया तर्जिताः | २४० |
| तस्मिन्कृशानु० | ७० | ता हनूमान् ... | २२३ |
| तस्मिन् कैलास० | २२४ | तिगमांशुरश्मि० | २३ |
| तस्मिन्नन्तर्घणे | १९४ | तिरोबभूवे सूर्येण | ३८३ |
| तस्मिन्वदृति | २४३ | तीव्रं स्यन्दिष्यते | ४३७ |
| तस्य क्षेमे महा० | ४२९ | तीव्रमुत्तपमानो० | २१३ |
| तस्य निर्वर्त्य ... | १७३ | तुङ्गतरुच्छाया० | ३६७ |
| तस्याः सासद्यमानायाः | ८० | तुङ्गमणिकिरण० | ३६८ |
| तस्याधिवासे | ३०४ | तुङ्गमहागिरि० | ३६४ |
| तस्याप्यत्यक्रमीत् | ४०५ | तुङ्गगिरिवर० | ३६० |
| तस्याच्यवेभिदिष्टासौ | ४३३ | तुरुषुर्वानराः | ४०० |
| तस्यालिपत | १३१ | तुरङ्गाः पुस्कुद्धः | ३७३ |
| तस्याहारिषत | ४२३ | तूर्याणामथ ... | ५२३ |
| तस्यै स्थृहय० | २३१ | तृणहानि दुराचाराः | ४९७ |
| ताः सान्त्वयन्ती | ५३ | तृणाय मत्वा | २३९ |
| तातं प्रसाद्य कैकेय्या | ५१४ | तृणेदु खद्वियोग० | ४९९ |
| तान् दृष्ट्वाति० | २५४ | तृणेद्वि देहम् | ४८५ |
| तान् प्रत्यवादीत् | ३० | ते तं व्याशिष्टत | ४१३ |
| तान् विलोक्य | १७५ | तेन वह्नेन | १४२ |
| ताभ्यामन्योन्यम् | ४७३ | तेन सङ्गतम् | १४२ |
| तामापतन्तीम् ... | ४७० | तेनादुद्यूषयद् | १०० |
| तामुवाच स ... | ७६ | तेनेऽद्रिवन्धो | ३६५ |
| तांश्चेतव्यान् | २५२ | ते परस्परमासाद्य | ४५९ |
| तां पराजयमानाम् | २३० | तेऽभाषिष्ठत ... | ४०२ |
| तां प्रत्यैच्छन् ... | ४५४ | तेऽस्यगुरुभवनम् | ४०१ |
| तां प्रातिकूलिकीम् | ११७ | ते विज्ञायाऽभिर्वा | २७५ |
| तां प्राविशत् ... | २२६ | ते भुक्तवन्तः ... | १३ |
| तालेन सम्पादित० | ३२४ | ते रामेण सरभसम् | ३७१ |
| तावभाषत पौलस्त्यो० | ४५३ | ते व्यरासिषुः | ४१३ |
| तावस्फावयताम् | ४५८ | तेषां निहन्य० ... | २५५ |

(१६) रामचरित मण्डिकाव्य) स्य

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|------------------------|-------------|
| ते हि जालैर् ... | ... १७१ | दत्तं न किं के | ... ३५१ |
| तैरजेष्वत सैन्यानि | ... ४२२ | दत्तावधानम् | ... २१ |
| तैर्वृक्णगुणण० | ... ८३ | ददाल भूर्नभो | ... ३७७ |
| तौ खङ्गमुसल० | ... ८५ | दद्वशे पर्ण० | ... ७३ |
| तौ चतुर्दश० | ... ८३ | ददैर्दुःखस्य | ... १५२ |
| तौ वालिप्रणिधी | ... १५४ | ददौ स दयिताम् | ... १७६ |
| तौ हनूमन्तमानेतुम् | ... ४३० | दधाना बलिभम् | ... ७६ |
| ब्रस्यन्तीं ताम् | ... ११७ | दधावाऽऽद्धिः | ... ३८४ |
| त्रिवर्गपारीणम् | ... ३९ | दध्वान मेघवत् | ... २५० |
| त्रिशत्तम् ... | ... २०२ | दन्तच्छदे प्रज्वलिता | ... ३२८ |
| त्वं सप्तर्जिथ ... | ... २६३ | दमितारिः | ... २५५ |
| त्वं स्म वेत्थ ... | ... ४८१ | दमित्वाप्यरिहि | ... २६१ |
| त्वक्त्रैः संविव्ययुः | ... ३९० | दर्शनीयतमाः | ... २४४ |
| त्वं च भीरुः ... | ... ९९ | दर्शयांचक्रिरे रामम् | ... ३८३ |
| त्वन्मित्रनाशो | ... ३४६ | दशश्रीवोऽहम् | ... ४५७ |
| त्वमजानश्रिदम् | ... ४८० | दश दन्तिसहस्राणि | ... ४६४ |
| त्वमर्हसि आतुः | ... ४८७ | दहोऽहं मधुनो | ... १५३ |
| त्वं पुनीहि पुनीहीति | ... ५०४ | दातुः स्थातुर्द्विषाम् | ... ४८७ |
| त्वया तु लोके | ... ३४२ | दिक्पालैः कदनम् | ... ४५४ |
| त्वयाद्य लंका० | ... ३५५ | दिव्यापिनीर्लोचन० | ... २४ |
| त्वयाऽद्रक्ष्यत किम् | ... ५०८ | दिव्यक्षमाणः परितः | ... ५६ |
| त्वयापि नाम रहिताः | ... ४८५ | दिव्यक्षुमैथिली राम | ... ४९८ |
| त्वया सन्दर्शितारौ | ... ५१७ | दिद्विषुर्द्युवुर् | ... ३९७ |
| त्वयि नस्तिष्ठते | ... २१२ | दिशो द्योतयामानाभिर् | ... २२२ |
| द. | | | |
| दग्धशैल इवा० | ... ४०७ | दिशो व्यञ्जुते | ... ४८८ |
| दण्डकानध्य० | ... ८७ | दीक्षस्व सह रामेण | ... ५०० |
| दण्डकादक्षिणेन | ... २४९ | दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं | ... ५२५ |
| दुष्टेन कोशेन च | ... ३४५ | दीप्यमानम् | ... ११२ |
| दुत्तः स्वदोषैर् | ... ३५६ | दुःखायते | ... १०९ |
| | | दुरुत्तरे | ... ३२४ |

श्लोकानुक्रमणिका ।

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| दुर्गाऽऽश्रितानाम् | ३४७ | द्विष्कुर्वताम् | २६७ |
| दुष्पानः पुनः | २७९ | द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यः | ४७८ |
| दूतस्मेकम् | २८० | | |
| दूर समारूप्य | ३२० | ध. | |
| दूरगैरन्तर्गैः | १६२ | धनानामीशते | ४८१ |
| दूरात्प्रतीहार० | ३३४ | धनुष्पाशभृतः | २६६ |
| दृष्ट्वा ताम् | २७४ | धनूष्यारेपयाच्चकुः | ३७४ |
| दृष्ट्वा दियतया | २२५ | धर्मकृत्यरताम् | १४५ |
| दृष्ट्वा राघव० | २२६ | धर्मं प्रत्यपयन् | २८१ |
| दृष्ट्वा सुषुप्तम् | २७२ | धर्मोऽस्ति सत्यम् | ३३ |
| दृष्ट्वोरुण्वानान् | ६२ | धर्म्यासु कामार्थ० | ८ |
| देवान्तकोऽति० | ४२२ | धारयैः कुसुमो० | १५२ |
| देहं विप्रक्षुः | ३ | विगदाशरथिम्... | १६७ |
| देहत्रश्चन० | १९९ | विङ्गमां त्रिशिरसा | ४३८ |
| दैत्यक्षये महा० | ५१४ | धुन्वन्सर्व० | १२० |
| दैत्याभिभूतस्य | ३० | धूम्राक्षोऽथ प्रति० | ३१० |
| दैवं न विद्वे | १७२ | धेयास्त्वं सुहृदाम् | ४१६ |
| दैवाद्विभीहि | ५०३ | धवजानुदुधुवुः... | ३८५ |
| दोषैररमतैभिस्ते | ४५८ | धवनीनामुद्धमैः... | १५१ |
| दौवारिकाभ्याहत० | ३४४ | | |
| चामिवाहृत्यशानम् | २१४ | न. | |
| चुतित्वा | २०८ | न खैरकर्तिषुः | ४०१ |
| द्रष्टासि प्रीतिमानारात् | ५१७ | न गच्छामि पुरा | ४८५ |
| द्रष्टास्थस्तत्र तिस्तः | ५२० | न गजानगजा | २९१ |
| द्रष्टुं प्रक्रममाणः... | २१६ | न गरस्तीस्तत्त्व० | ५१९ |
| द्रुतं संस्वरिष्टिष्टाः | २५७ | न च काच्चन० | २८९ |
| द्रुतं द्रुतम् | २९१ | न चोभावप्यलक्ष्येताम् | ४७४ |
| द्रुतमत्रास्त | ४३४ | न जिजीवाऽसुखी | ३८६ |
| द्रुभङ्गव्यनि० | २४९ | न जिह्वाच्चकार | १२४ |
| द्विष्टन्वने० | ११८ | न तज्जलं यन्न ... | २६ |
| | | न तं पश्यामि ... | ९३ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| न तानगणयन् ... | ४५० | नायास्यसि ... | १४८ |
| न त्रणेष्वीति ... | १३७ | नारीणामप० ... | २९२ |
| न त्वजायत मे... . | ४५७ | नावकल्प्यमिदम् | ४९२ |
| न त्वं तेनान्व० | ९६ | नाविविदिषुम् ... | २०५ |
| न निश्चितार्थम्... | ३५० | नावैत्याप्यायितारम् | १७९ |
| नन्दनानि मुनी० | १४९ | नासां मातृ० ... | २७२ |
| भ प्रणाय्यो० ... | १४७ | नास्यं पश्यति ... | ९१ |
| न प्राणिषि ... | २६५ | निकुञ्जे तस्य ... | २०६ |
| न प्रावोचमहम् | ४०३ | निकुम्भो वानरेन्द्रस्य | ४२४ |
| न विभाय ... | २२१ | निकृत्तमत्त० ... | ३३० |
| न भवति महिमा | ३१३ | निखिलाभवन् ... | २८८ |
| न भवाननु०... | २३५ | निधानिध० ... | १९५ |
| नभस्त्वान्यस्य वाजेषु | ४७५ | निजघाना० ... | २८३ |
| न योदुमशकन्... | ४१५ | नित्यमुश्यच्छमानाभिः | २२२ |
| नरकस्यावतारोऽयम् | २०० | निन्दको रजनि० | १७८ |
| न वानैः | २९१ | निमित्तशून्यैः ... | ३५२ |
| नश्यन्ति ददर्श ... | २९२ | निरचायि यदा... . | ४२० |
| न भर्वरात्र० ... | २८० | निरवत्स्यन्न ... | २२९ |
| न द्वेष्यवधम् | ४९७ | निराकरिणवः... . | १७५ |
| नाकलस्यत्सन्धिम् | ५११ | निराकरिष्णुः ... | २३० |
| न खेयः सागरः | १४३ | निराकरिणू ... | ८५ |
| नाग्नामिदम् ... | ३८८ | निराकृत्य यथा... . | ४५६ |
| नाजानन्संदृधानम् | ४५१ | निरासू राक्षसाः | ३७८ |
| नासुरोत्स्ये जगत्० | ४४१ | निर्माणदक्षस्य ... | ६८ |
| नाभविष्यदियम् | ५०७ | निर्यत्सुलिङ्गाकुल० | ३३७ |
| नाभिज्ञा ते महा०... | ४४४ | निर्लङ्को विमदः | ११४ |
| नाभिज्ञा ते सयक्षेन्द्रम् | ४४५ | निर्वणं कृतम् ... | ३७६ |
| नाभ्यसाहं कपिभिः | १७३ | निरिल्लिपे मूर्त्रिः ... | ३९१ |
| नाभ्येष्याम् वयम् | ५१२ | निवृत्ते भरते ... | ६८ |
| नाभ्यसुद्विजितुम्... | २०३ | निशातुषारैः ... | २० |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|---------------------|-------------|
| निष्कोषितव्यान् | २५८ | पयोधरांश्च | ३२६ |
| निष्क्रम्य शिक्षया | १९७ | परस्वीभोग० | २८३ |
| निष्ठां गते ... | १० | परिखेदित० | २९९ |
| निहतश्च ... | १९६ | परिघेणावधिष्ठाथ | ४२३ |
| निहन्ता वै० ... | १११ | परितः पर्यवाङ्मायुः | ४६१ |
| नीवारफल० | १८९ | परिपूर्युदधेऽ ... | १०८ |
| नृपात्मजौ | ५७ | परिभावम् | १९१ |
| नेत्रेषुभिः | ३२६ | परिभावीणि | १५० |
| नेदार्नीं शक्रो | ४८४ | परिशेषं न | २३६ |
| नैतन्मतं मत्क्रम् | ११८ | परीक्षितुमुपा० | २१५ |
| नैवं विरह० | ५२१ | परेव्यव्यद्य | ७२ |
| नैवेन्द्राणीं न | ९२ | पर्यशाप्सीत् | ८० |
| नोदकणिठ्यता० | १०९ | पांचितोऽनु ... | २६० |
| न्यकृन्तश्चक्र० | ४५० | पश्चिमं करवामैतत् | ४९७ |
| न्यवर्तयत्पुमित्रा० | १३७ | पश्यामि रामात् | ३४७ |
| न्यवसिष्ट ततः | ४०२ | पत्पन्दे तस्य ... | ३९३ |
| न्यविक्षत | २११ | पापकृत् सुकृताम् | १६८ |
| न्यश्यन् शब्दाणि | ४४८ | पार जिगामेषन् | २६१ |
| न्यषेष्ठत्पावका० | ४६९ | पिप्रायाद्रिऽ ... | १९५ |
| न्यायं यदत्र | १८७ | पिशाचमुख० ... | १२१ |
| प. | | पिशेताशिनाम् | २९० |
| पक्षिभिर्विवृद्धैः | १५१ | पीडाकरमभित्राणाम् | ४५२ |
| पञ्चगुच्छाल० | २८२ | पीतौष्ट्रागाणि ... | ३२५ |
| पञ्च पञ्चनखाः | २७० | पीने भटस्यो० ... | ३२१ |
| पतत्रिक्रोष्टु० | ३११ | पुंसा भद्रयेण ... | २८४ |
| प्रतिवध० | ३१७ | पुण्यो महाब्रह्म० | ५ |
| पतिष्यति क्षितौ | ४२९ | पुत्रीयता तेन ... | ८ |
| पपत राक्षसः | ३९२ | पुरःप्रवेशम् ... | २४७ |
| पुयोधटोऽनीरापि | ३५३ | पुरुहृताद्विषः ... | २६८ |
| | | पुरो रामस्य ... | ६९ |

| श्लोकः | पृष्ठाङ्कः | श्लोकः | पृष्ठाङ्कः |
|-------------------------|------------|----------------------|------------|
| यूतं शीतैर् ... | २०७ | प्रमेदिताः ... | २५४ |
| पूर्वस्मादन्य० ... | २४१ | प्रयथाविन्द्रजित् | ३७६ |
| पृथग्नभस्वतः... | २४२ | प्रयाणमात्रेण ... | ३४१ |
| पृथुगुरुमणि ... | ३०९ | प्रयातस्तव यस्यत्वम् | १४२ |
| पौरा निर्वर्तध्वम् | ५० | प्रयास्यतः पुण्य० | १७ |
| प्रकुर्याम वर्यं देशे | ४८९ | प्रलापिनो० ... | १७८ |
| प्रगृह्यपदवत् ... | १४५ | प्रलुठितभवनौ | २३ |
| प्रग्राहैरिव ... | १८८ | प्रवपाणि वपुर् | ५०६ |
| प्रचपलमणुरुम् ... | ३०८ | प्रवपाणि शिरो... | २७७ |
| प्रजागराज्ञकार... | १२४ | प्रवहन्तं सदा० | २२४ |
| प्रजागराताम्र०... | ३२५ | प्रविधाय धृतिम् | ५२४ |
| प्रणमन्तं ततो ... | ५१३ | प्रष्टव्यं पृच्छतः | १४० |
| प्रणमन् ब्रह्मणा | ५१२ | प्रस्कन्दिकाम् ... | १९८ |
| प्रणश्यन्नपि ... | २८५ | प्रस्थास्यमानौ... | ४९ |
| प्रणिपत्य ततो... | ३६० | प्रहस्तमर्थाज्ञके | ३९४ |
| प्रणिशाम्य ... | २७७ | प्रहस्तस्य पुरो० | ३९५ |
| प्रण्यगादीत् ... | २७७ | प्रहीणजीवितम् | २७८ |
| प्रतन्यः कोसलाः | ५१७ | प्राकारमात्रावरणः | ३४३ |
| प्रतीय सा पूर् ... | ५२ | प्राधानिषत् ... | २७८ |
| प्रतुष्टुवुः कर्म ... | ३० | प्राङ्मुहूर्तात् ... | ४४३ |
| प्रतष्टुषुः पुनर् ... | २६९ | प्राचीं तावद्विः... | १९१ |
| प्रतोदा जग्नुः... | ३१७ | प्राचुर्यूर्णच्च ... | ४११ |
| प्रत्यूचे मारुतिः | १५९ | प्राच्यमाजिहिषा | ३७५ |
| प्रत्यूचे राक्षसेन्द्रः | ९३ | प्राज्ञवाक्यान्यवा० | ४०४ |
| प्रत्यूचे वालिनम् | १७१ | प्राज्ञास्वेजस्विनः | ४७७ |
| प्रदद्युरुह० ... | ३११ | प्राणयन्तम् ... | २७८ |
| प्रबाधमानस्य ... | ३२२ | प्राणा दध्वंसिरे... | ३८६ |
| प्रबोधकालात् ... | ३२९ | प्राणिषुर्निहताः... | ४३१ |
| प्रभातवाताहति | २१ | प्रातस्तरां ... | ३२७ |
| प्रमादवांस्त्वम् ... | ३४९ | प्रादमयन्त ... | २२७ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| ग्रादिद्वक्षत् ... | २१९ | बवाधे च बलम् ... | ३८३ |
| ग्रादुःषन्ति ... | २७२ | बभूव याऽधिं० ... | २०४ |
| ग्रादुन्वज्ञानुभिः ... | ४५० | बभौ महत्वान् ... | २९५ |
| ग्रासचारित्र्य० ... | ५०२ | बलान्यमिं० ... | २६९ |
| ग्राण्य चक्षुर्य० ... | ७५ | बलिनावमुम् ... | १५७ |
| ग्रायुडक्त राक्षसीर् ... | २३८ | बलिर्वबन्धे ... | ३५ |
| ग्रायोपासन० ... | १९८ | बहुधवलवारि ... | ३६९ |
| ग्रालोठन्त् ... | ४५१ | बहुधा भिन्न० ... | २७५ |
| ग्रावर्तिष्यन्त चेष्टाः ... | ५१३ | विभ्रत्यस्थाणि ... | ४८२ |
| ग्रावर्धत रजो० ... | ४६२ | विस्वागतैस्तीर० ... | २० |
| आशीन्न चात्रपत् ... | ४०९ | दुद्धिपूर्व ध्रुवम् ... | १६४ |
| आस्थापयत्पूरा० ... | ४५ | दुमुत्सवो द्रुतम् ... | २०५ |
| प्रियंवदोऽपि० ... | १६० | बोद्धव्यं किमिव | ३१८ |
| प्रियंभातुकताम् ... | १६४ | बोभवीति न ... | ४८७ |
| प्रीतोऽहं भोज० ... | २३४ | ब्रह्माण्डिनैनूनम् ... | ३४८ |
| प्रीत्यापि दत्तेक्षण० ... | ३३५ | ब्रह्मादधाद्वधम् ... | ४५४ |
| प्रता वरेण शक्त्य | ५१४ | ब्रह्म हूर० ... | २८३ |
| प्रोदपाति नभस्तेन | ४३० | अः | |
| प्रोर्णोति शोक० ... | ४८४ | भजन्ति विपदस्त्तर्णम् ... | ४७७ |
| प्रौर्णवीच्छर० ... | ४३४ | भयसंहृष्ट० ... | २५५ |
| प्रौर्णवीत्तेजसा ... | ४३४ | भल्लैश्च विभिन्नुः ... | ३७८ |
| फ. | | भवत्यामुत्सुको० ... | २४४ |
| फलभरमन्थर० ... | ३६९ | भवन्तं कार्तौ० ... | ९५ |
| फलान्यादुत्स्व ... | २११ | भिन्ननौकैः ... | ११४ |
| फलाशिनो निर्झर० | ३४६ | भुजांसवद्धःस्थल० ... | ३३६ |
| ब. | | भुजौ चक्षुतुः ... | १३९ |
| बद्धो दुर्बल० ... | ७८ | भुवनभर० ... | ३१० |
| बद्धो वासर० ... | ३५८ | भूर्ति वृणेद्धि ... | १३७ |
| बन्धूनशङ्किष्ट ... | ५५ | भूमिष्ठस्यासम् ... | ४७२ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| भूमौ शेते दश० | ४७७ | मरिष्यामि विजेष्ये | ४३९ |
| भूयस्तं धिप्सुम् ... | २५९ | महाकुलीन० ... | ११० |
| भृङ्गाली कोकिल० | १५० | महोद्यमाना ... | ३४ |
| भृतनिखिल० ... | ३११ | मांसं हतानामिव | ३५२ |
| भेष्यते मुनिभिः | ४४५ | मांसविक्रियणः ... | १६९ |
| भ्रमरकुलाकुलो० | ५१४ | मांसान्यौष्ठा० ... | ९० |
| भ्रमी कदम्ब० | १७६ | मांसेनास्याश्वताम् | ४०९ |
| भ्रातरि न्यस्य ... | ११२ | मांसोपभोग० | २५३ |
| भ्रूभङ्गमाधाय ... | ३५४ | मातामहा० ... | ४४ |
| भ्रेजिरेऽक्षत० ... | ३८९ | मा न सावीर् ... | २६३ |
| भ्रेषुः शिलो० ... | १९२ | मानुषानामिं० ... | ७६ |
| भ्रेषुर्वर्वल्पुः ... | ३६६ | मानुषो नाम ... | ४४२ |
| म. | | मानेन तल्पेषु ... | ३२० |
| मण्डलान्यटताम् | ४६८ | मां दुष्ट ज्वलित० | ५०६ |
| मचेनामारि ... | ४२४ | मापराम्नोदियम् | ४५२ |
| मत्वा सहिष्णूऽ- | ३४१ | मासुपास्त | ९३ |
| मत्पराकम० ... | ११४ | मायानामीश्वराः | २५२ |
| मधुकरौविष्टै० ... | ३०७ | मायाभिः सुचिरम् | २६० |
| मधुसाद्यगृत० ... | २७४ | मायाविभिन्नास० | ३३१ |
| मध्यपाययत ... | २२१ | मारथिष्यामि ... | ४४१ |
| मन्तूयिष्यति ... | ४४३ | मार्गं गतो गोत्र० | ३५२ |
| मन्त्रे जातु वदन्ति | ४८० | मावमस्थाः ... | २३३ |
| मन्दायमान० ... | २२८ | मा शोचिष्ट रघु० | ४२९ |
| मन्त्रियोगात् ... | २८३ | मा स्म तिष्ठत ... | ४५४ |
| मन्युं वज्या भट० | ४९५ | मा स्म द्राक्षीर् | १३० |
| मन्युं शेकुर्न् ते | ३८४ | मा स्म भूर्माहिणी | ११७ |
| मन्युर्मन्ये ... | १३४ | मित्रमवदत् ... | २९४ |
| मन्ये किंजमहम् | १७० | मित्रन्नस्य प्रचुक्षोद् | ३८० |
| मम रावण० ... | ८१ | मिथ्या मासम् ... | ४५७ |
| मया त्वमाप्थाः | १५ | मिथ्यैव श्रीः ... | १०० |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------|-------------|------------------------|-------------|
| मिमेह रक्षम् ... | ... ३९७ | यतं प्रोर्णवितुम् ... | ... २०३ |
| सुखेताकाशः ... | ... ४९० | यत्र यज्ञामरिष्यत् ... | ... ५१० |
| मुदा संयुहि ... | ... ५०० | यत्स्वधर्मम् ... | ... २८५ |
| मुषित्वा धनदम् ... | ... २०४ | यथास्वं संगिरन्ते ... | ... २१८ |
| मुष्णन्तमिव ... | ... २७५ | यथेष्टे चर वैदेहि ... | .. ५०३ |
| मूर्खस्त्वामवः ... | ... ४०४ | यदताप्सीच्छनैर् ... | ... २५० |
| मूर्धेजान् त्वम् ... | ... ४८६ | यदा न फेलुः ... | ... ४०० |
| मूर्धा दिवमिवाऽ ... | ... ४०७ | यदा विगृहन्त ... | ... ३४० |
| मृगयुमिव ... | ... ८४ | यद्ग्रहे नार्दिनम् ... | ... ९८ |
| मृगाः प्रदक्षिणम् ... | ... ३७५ | यद्यकलस्यत् ... | ... २६१ |
| मृदज्ञा धीरः ... | ... ३७३ | यद्यहं नाथ ... | ... ८७ |
| मृदुभिरपि ... | ... ३१४ | यमं युनजिम ... | ... १३६ |
| मृषासि त्वम् ... | ... १६८ | यमलोकमिव ... | ... ४६४ |
| मृषोद्यम् ... | ... १०४ | यमायाकम्पनम् ... | ... ३९३ |
| मेघद्वारम् ... | ... १६० | यमास्यद्वश्वरी ... | ... ९६ |
| मेघनादः ... | ... २७१ | ययाथ त्वम् ... | ... २६२ |
| मेघाः सविद्युतो ... | ... ४६५ | ययुर्विन्ध्यम् ... | ... १९१ |
| मोज्जिप्रहः सुनीतानि | ... ४०६ | यशस्कर० ... | ... ११९ |
| मोदिष्ये कस्य ... | ... ४४१ | यस्यां वासयते ... | ... २२७ |
| नियमाणः ... | ... १७२ | याः सुहन्सु ... | ... ४४१ |
| नियामहे ... | ... २०२ | यां कार्त्ति राज० ... | ... १९८ |
| नियेयोर्ध्वं सुहूर्तात् | ... ४८९ | यात यूयम् ... | ... १८६ |
| य. | | यानैः समचरन्त | ... २१८ |
| यः पयो दोगिष्ठ | ... २३३ | यायास्त्वमिति ... | ... १०४ |
| यक्षेन्द्रशक्तिम् | ... ४१२ | यावज्जीवम् ... | ... ५०९ |
| यच्च यत्र भवांस्ति० | ... ४९२ | यावन्न संत्रासित० ... | ... ३३३ |
| यच्चापि यज्ञाऽ | ... ३३८ | युद्धाय राजा ... | ... ३३८ |
| यज्ञपत्राणि गत्रेषु | ... ४९१ | युद्धोन्मत्तं च ... | ... ४२२ |
| यत्कृतेऽरीन् ... | ... ४५३ | युयुजुः स्यन्दनान् ... | ... ३९४ |
| | | युवजानिर् ... | ... ८९ |

| श्लोकः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|--------------------|-------------|
| युष्मानचेतत् ... | ३०२ | राघवं पर्ण० | ७७ |
| यूय समैप्यथ ... | ६९ | राघवस्य ततः | १८६ |
| येन पूत्रकतोर् | ४७९ | राघवस्य मतेनाथ | ५०६ |
| ये सूर्यमुप० ... | २१२ | राघवस्याभृशायन्त | ४७१ |
| यैरवानि खरोऽ | ४२० | राघवस्यामुसः | ४०५ |
| योगक्षेमकरम् | १०१ | राघवाभ्यां शिवम् | २४८ |
| योद्धारोऽविभरुः | ४६१ | राघवो न दयाच्छक्रे | ३८२ |
| योद्धुं सांड्यरुषत् | ४१६ | राजितं गारुडैः | ४७५ |
| योऽपचके | २१४ | राममुखैर् | १६८ |
| योषिद्वृन्दारिका | ९१ | रासमंघुषितम् | १०३ |
| R | | | |
| रक्षपङ्के गजाः ... | ३७९ | रामस्य दयमानः | २४५ |
| रक्षमश्च्योतिषुः | ४१५ | रामस्य शायितम् | २४७ |
| रक्तं प्रचुश्चतुः ... | ३९२ | रामादीतीत० | २३० |
| रक्तेनाचिङ्गित् | ४१४ | रामोऽपि दारा० | ३४४ |
| रक्षांसि वेदिम् ... | १० | रामोऽपि हत० | १२५ |
| रक्षणं करोषि ... | ११५ | रामोऽवोचत् | १५८ |
| रघुतनयम् ... | ३०० | रावणः शुश्रवान् | ३७८ |
| रणपण्डितोऽ | २८७ | रावणबल० | ३७१ |
| रणे चिकीङ् ... | ३९२ | रावणस्य नमन्ति | ४८७ |
| रथेनविल्यथत् | ४२५ | रावणस्येह ... | २४५ |
| रविस्तप्यति ... | ४३७ | रावणाङ्गपरिशिलष्टा | ५०२ |
| रसान् संहर | ५०५ | रावणाय नमस् | २३९ |
| राक्षसस्य त् ... | ४१७ | रिणचिम जलधेः | १३६ |
| राक्षसानां सयि | २४६ | राचिरोन्नत० | ३०१ |
| राक्षसान्नदुऽ | ११३ | रुद्रोऽशिश्रियत् | १३० |
| राक्षसेन्द्रस्ततोऽ | ४०० | रुरुजुञ्जेजिरे | ३९१ |
| राक्षसेन्द्रस्य० | २४८ | रोचमानः ... | २३० |
| राक्षसोऽवर्जयत् | ४७३ | रोदिति स्मेत | २६४ |
| राक्षस्यः प्रसूदन् | ४६५ | रोदिम्यनाशम् | ४८४ |
| | | रोषभीम० | २७९ |

| श्लोकाः | पृष्ठांश्चाः | श्लोकाः | पृष्ठांश्चाः |
|--------------------------|--------------|-------------------|--------------|
| ल. | | | |
| लक्ष्मे द्वे च पदातीनाम् | ४६४ | वनतापसके | १८ |
| लक्ष्मणं सा | ७९ | वनस्पतीनां सरसाम् | १५ |
| लक्ष्मणाचक्षव | १३१ | वनानि तोयानि | २१ |
| लक्ष्मीः पुंयोगम् | ९१ | वनान्तप्रेह्णणः | २७९ |
| लक्ष्मी नामा | २०३ | वनेषु वासंतयेषु | ७० |
| लक्ष्मालयतुमुल० | ३६७ | वपुश्चान्दनिकम् | ७८ |
| लज्जानता | ५०१ | वयमैवैव | १८३ |
| लतानुपातम् | २३ | वारवारणं सालेल० | ३६० |
| लंब्धां ततो० | ४० | वरिष्ठीष्ट | २५६ |
| लभ्यां कथं तु | १४० | वरेण तु मुनेर | १६२ |
| लर्णुः खज्जान् | ३९५ | वर्तिष्यमाणम् | २२९ |
| लवणजलवन्ध० | ३७० | वर्धते ते | १४८ |
| लाङ्गूलमुद्रतम् | २५१ | वर्धिष्ठिष्ठाः | ४९४ |
| लाङ्गूलौर्डोठयां० | ३७८ | वल्गूयन्तीम् | १०९ |
| लेढि भेषजवत् | ४७८ | वसानसंत्रक्त० | ७१ |
| लोकानशिशिष्योः | २६४ | वसानां वल्कले | १४४ |
| लोभाद्याद्वा | ३४६ | वसुन्धरायाम् | १६२ |
| लोलं कूलाभिगमे | ३६६ | वसूनि तोयेम् | ४ |
| लौहवन्वैर्वबन्धे तु | ३८६ | वसूनि देशांश्च | ४६ |
| ब. | | | |
| वक्षुः स्तुनाभ्याम् | ३२२ | वस्त्रान्तपान० | ६२ |
| वचनं रक्षसाम् | २३४ | वस्त्रैनत्युल्बण० | ३२७ |
| वज्रमुष्टेष्विशिश्लेष | ३८० | वाचंयमान् | ६१ |
| वज्राभिधातैर् | ३४९ | वाचंयमौ० | १६० |
| वचित्वापि | २०७ | वाताहति० | १५४ |
| वणिकः प्रप्राह० | १९० | वादयाच्चक्रिरे | ३७२ |
| वधेन संस्थे | ४४ | वानरः कुल० | २६५ |
| | | वानरं प्रोर्ण० | २६० |
| | | वानरा मुष्टिभि | ३७८ |
| | | वानरे षु कपि० | २४३ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|------------------|-------------|---------------------|-------------|
| वायव्याख्येण तम् | ४२० | विराधताढका० | २८१ |
| वालिनं पतितम् | १६७ | विराधं तपसाम् | २८५ |
| वासयेत् सु० | ४९१ | विशुणसंकीर्ण० | ३५३ |
| विकथी याचते | १७७ | विशुणोदग्र० | ९३ |
| विकुर्वे नगरे | २१५ | विशुपाक्षस्ततो | ४६७ |
| विगाढारम् | २५८ | विशुपाक्षो जहे | ३८१ |
| विग्रहस्तव | ८७ | विलुलितपुष्पह० | २४९ |
| विचित्रमुद्देः | २५ | विलोक्य द्योतनम् | १७८ |
| विचुक्षुभूमी० | ५३ | विलोक्य रामेण | ५२ |
| विटपिमूर्ग० | ३०० | विलोक्य सलिल० | ३०८ |
| विदाङ्कुर्वन्तु | ६२५ | विलोचनाम्बु० | २७४ |
| विदित्वा शक्तिम् | २०४ | विलोलतां चक्षुषि | ३२९ |
| विद्यामथैनम् | २७ | विवृत्पार्वम् | २५ |
| विशुतप्रणाशम् | ५० | विशङ्को वक्षसि | ४१ |
| विशुभ्राशम् | १८२ | विशिश्वासयिषाम् | ३७५ |
| विद्वममणि० | ३११ | विश्वासप्रद० | १५६ |
| विधृतनिशित० | ३३१ | विषधरनिलये | ३०७ |
| विनडक्ष्यति | ४४२ | विषसादेन्द्र० | २७५ |
| विनेष्ये क्रोधम् | २१५ | विषहा राक्षसाः | २७० |
| विपाकोऽयम् | ४७७ | विष्यन्दमान० | २७० |
| विप्रकृष्टम् | २४३ | विस्फुलाद्विर् | २७३ |
| विभवम० | ३०३ | बीनामुपसरम् | १९३ |
| विभिन्ना जुघुरः | ३८२ | बीर्य मा न ददशे | ४०४ |
| विभिषणत्ततो० | ४२९ | वृक्षाद्वक्षम् | २२९ |
| विभिषणोक्तम् | ३४८ | वृतस्त्वं पात्रे० | ८८ |
| विमलमहामणि० | ३६८ | वृद्धिक्षयस्थान० | ३३९ |
| वियति व्यत्यु० | २०९ | वृत्ती प्रकाशम् ... | ३२१ |
| वियत्यानश्चतुः | ३९९ | वृद्धौरसां रज्य० | ६६ |
| वियोगदुःखा० | २४ | वृन्दष्टमाच्रित०... | ३८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| वेदिवत्स० ... | १८९ | शतसाहस्रम् ... | २२० |
| वेदोऽङ्गवांस्तैर् ... | १२ | शत्रुघ्नान् युधि | १६३ |
| वेश्मान्तर्हणनम् | २७८ | शत्रुभिर्निहते | ४३८ |
| वैखानसेभ्यः ... | ५३ | शत्रून् भीषयमाणम् | १०३ |
| वैदही ... | २४८ | शमं शमं नभस्वन्तः | ४८२ |
| व्यक्तुक्षद्वानरा० | ४१४ | शरणमिव ... | ३१६ |
| व्यजिघृक्षत्सुरान् | ४५७ | शरीरं लोहिताक्षस्य | ४३३ |
| व्यतिप्रन्तीम् ... | २१० | शरैरताड्यत् ... | ४५८ |
| व्यतिजिग्ये ... | २१० | शर्मदं मारुतिम् | १५५ |
| व्यनाशयस्ततः ... | ४६६ | शशाङ्कनाथा० ... | ३२३ |
| व्यरमत्रधनात् | २२४ | शशिराहितमपि | ३१२ |
| व्यश्चुते स्म ततः | ४७६ | शख्यादिदेविषुम् ... | २५८ |
| व्याख्यागम्यभिदम् | ५२५ | शखं तरुवींधरम् | ३४५ |
| व्याप्तं गुहा० ... | १५७ | शास्यत्यृतुसमाहारः | ४८१ |
| व्यायच्छमानयोः | १६६ | शिज्ञानभ्रंमर | ५२८ |
| व्योम प्राचिनुताम् | ४६९ | शितविशिख० | ८५ |
| ब्रज्यावती ... | १९७ | शिला तरिष्यति | ३५४ |
| ब्रणकन्दर | २९८ | शिवाः कुण्णन्ति | ४७९ |
| ब्रणवेदनया | १३९ | शीघ्रायमाणैः | ६० |
| ब्रणवेदिषु० ... | २५१ | शीर्षवातिनम् ... | १६३ |
| ब्रातीनव्याल० ... | ७१ | शीर्षच्छेदम् ... | ९९ |
| श. | | शुक्लोत्तरासङ्ग० | ६४ |
| शक्ति संस्वजते | ४८२ | शुश्राव रामः ... | ३७६ |
| शक्तिरित्यकुपत् | ४१७ | शूलानि भ्रमयां | ३७४ |
| शक्तैः सुहृद्दिः | ३२६ | शृणवद्धथः प्रतिं | २३२ |
| शक्त्यृष्टिपरिघ० | २५० | शैलेन्द्रशृङ्गेभ्यः | ३२९ |
| शक्तोति यो न | ३४१ | शैले विश्रयिणम् | १८० |
| शक्त्यान्यदोषाणि | ३४५ | श्रीर्निष्कुञ्ज्यति | ४८२ |
| शङ्काधवित्र० ... | २०२ | श्रुत्वा विस्फूर्जथु० | १०८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| श्रोत्राक्षिनासा० | ... ५९ | संचेरुः सहसा | ... १९२ |
| श्लाविष्ये केन | ... ४३६ | संजानानान् ... | ... २१६ |
| श्वःश्रेयसम् ... | ... ८३ | संजुधुक्षवः ... | ... २५२ |
| ष. | | संज्वारिणेव ... | ... १७६ |
| षड्गीवशयः ... | ... ३४३ | स तात्राजीगणत् | ... ४०१ |
| स. | | सतामरुष्करम् | ... १२० |
| संयुशुम् ... | ... २५९ | सतामविभ्रमत् | ... ४१६ |
| संवर्गयांचकार | ... ३९५ | स तामूचे ... | ... १४६ |
| संवाद्धिः सकुसुम० | ... ५१५ | सत्त्वं समदुधुक्षच्च | ... ४११ |
| संवित्तः सह ... | ... २९७ | स त्वं हनिष्यन् | ... २६३ |
| संशृणुष्व ... | ... १३ | सत्वमेजय० | ... १५७ |
| संसर्गी परि० ... | ... १७६ | सत्वानजसम् | ... १३९ |
| संसिस्मिष्यमाणो | ... २६४ | सदूहार० | ... १८६ |
| संस्तावमिव ... | ... १८७ | सदृत्नमुक्ता० | ... ७ |
| स एव धारयेत् | ... ४८९ | संदर्शितस्नेह० | ... ३४१ |
| स किङ्कौः कलिपतम् | ... ३३५ | संत्रस्तानामपाहारी | ... ४१९ |
| सख्यस्य तव | ... १४९ | संत्रासयांचकार | ... १२१ |
| स गिरि० तह० | ... २९७ | संदिदर्शयिषुः | ... १०६ |
| संकल्पं नाकरिष्यच्च | ... ५०८ | संदृश्य शरणम् | ... १२७ |
| संकुच्यसि | ... २३१ | संदुधुक्षे॒ तयोः | ... ३९९ |
| संक्षणुवानः ... | ... २२० | संधानकारणम् | ... ४०६ |
| संगच्छ पौस्ति० ... | ... ११६ | संधानमेवास्तु | ... ३४८ |
| संगच्छ राम० | ... २८० | संधुक्षितं मण्डल० | ... ३४४ |
| संग्रामे | ... २७० | संघौ स्थितो वा | ... ३४१ |
| संघर्षयोगिणः ... | ... २७७ | सञ्चल्तस्याम्यथवा | ... ४४२ |
| स च विहृल० | ... ३०५ | सपक्षोऽद्विरिवा० | ... ४०८ |
| स चापि इधिरै० | ... ४१९ | स पुण्यकीर्तिः | ... ६ |
| स जलस्मोद० | ... १८५ | सप्तप्रष्टि॒ प्लवङ्गानाम् | ... ४२८ |
| | | स ग्रोषिवान् | ... ५५ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|---------------------|-------------|
| स विभ्रेष प्रचुक्षोद | ... ३९४ | संप्राप्य तीरं ... | ... ६० |
| समयं परिहरमाणोऽ | ... ३५९ | संप्राप्य वानराम् | ... २०१ |
| स भवान् भ्रातृ० | ... ४९२ | संप्राप्य राक्षस० | ... ८६ |
| स भस्मसाच्चकार | ... ३९३ | संबभवः कबन्धानि | ... ३७९ |
| समक्षुभ्रन्तुदन्वन्तः | ... ४७४ | संमृष्टिसिक्ता० ... | ... ३२८ |
| समक्षुवृत शक्षाणि | ... ४६१ | सरसवृहुपल्लव० | ... ३६७ |
| समगत कपिसैन्यम् | ... ४३५ | सरमां सरसाम् | ... २८८ |
| समग्रधम् | ... २०५ | सराघवैः किं बत | ... ३३७ |
| समतां शशि० | ... ३०४ | स राजमूर्य० ... | ... १४३ |
| समनात्सीत्ततः | ... ४३२ | सर्वैकषयशः ... | ... १६० |
| समपत्स्यत राजेन्द्र | ... ५०९ | सर्वतश्चाभयम् ... | ... ४६५ |
| समपश्यद् | ... ३०२ | सर्वत्र दयिता० ... | ... १५० |
| स महाफणि० | ... ३६८ | सर्वनारीगुणैः ... | ... २७३ |
| समधत्तासुरम् | ... ४६९ | सवस्य जायते ... | ... ४७८ |
| समाविष्टम् | ... १५३ | संविच्च ... | ... ९७ |
| समाश्वसिमि केनाहम् | ... ४७८ | संवृत्वूषुः ... | ... २५७ |
| समिद्धशरणा | ... २९० | सवृक्षमच्छिदत् | ... ४२० |
| समीरयांचकाराथ | ... ३९९ | स शत्रुलावौ ... | ... १५५ |
| समीहे मर्तुम् ... | ... ३८८ | स शुश्रवाम् ... | ... १४ |
| समुपचित | ... ३१० | संश्रुणुष्व ... | ... २१३ |
| समुत्क्षिप्य ततः | ... ५०७ | संसर्गी ... | ... १७६ |
| समुच्चरन्तौ ... | ... १४४ | सैन्यश्छादयन् | ... २६५ |
| समुत्पेतुः कशा० | ... ३७४ | संस्तानिमिव ... | ... १८७ |
| समुद्रोपत्यका | ... ११५ | सस्फुरस्योदकर्षच् | ... ४७१ |
| समुपेत्य ततः ... | ... ४९६ | सस्यन्दे शोणितम् | ... ३९६ |
| समूलकार्ष | ... ६४ | सखंसे शर० | ... ३९० |
| संपत्य तत्सनीडे | ... ९५ | सहभृत्यः सुरा० | ... ४४५ |
| संपत्पर्शाऽथ | ... ३८९ | सहसा ते तरु० | ... ३६४ |
| संपादिना प्रजञ्ज्ञः | ... ३८० | सहायवन्तः | ... ९० |

(३०) रामचरित (भट्टिकाव्य) स्य

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| सा जुगुप्सान् | ... ३८७ | सुषमीं सर्व० | ... २७३ |
| सांराविणम् | ... १८८ | सुषुपुस्ते | ... २६८ |
| सामर्थ्यं चापि | ... ४१० | सुद्वौ राम० | ... २८१ |
| सामर्थ्यसम्पादित० | ... ३०२ | सूतोऽपि गङ्गा | ... ५१ |
| सामोन्मुखेन० | ... ३२३ | सुमरोऽभङ्गुर० | ... १८१ |
| साम्नैव लोके | ... ३२७ | सेरुं महेन्द्रम् | ... ५२२ |
| सायन्तनीम् | ... १०६ | सोवितासे प्लवङ्ग० | ... ५१६ |
| सारथिं चालुनात् | ... ४५८ | सेहे कपी रथा० | ... ३९९ |
| सारोऽसाविन्द्रिया० | ... ९२ | सोऽध्यष्टीयत रामेण | ... ४७२ |
| सा स्तम्भन्न० | ... १९४ | सोऽध्यष्ट वेदान् | ... ३ |
| सिताराविन्द० | ... २५ | सोऽपृच्छत् | ... १२६ |
| सीतां सौमित्रिणा | ... १२६ | सौमित्रिः सर्पवत् | ... ४२६ |
| सीतां जिघांसु | ... १३४ | सौमित्रिराकुलः | ... ४५२ |
| सीतान्तिके | ... २२८ | सौमित्रे माम् | ... ७५ |
| सीतां दिव्यक्षुः | ... २२१ | सौमित्रेरिति | ... ३१८ |
| सीतारक्षो० | ... १८८ | सौर्यग्निये | ... ४२६ |
| सुकृतं प्रिय० | ... १०७ | स्त्रीभूषणम् | ... २५ |
| सुखं स्वप्स्यन्ति | ... ४४३ | स्थान नः पूर्वजानाम् | ... ५२३ |
| सुखजातः | ... ९७ | स्थायं स्थायम् | ... १०१ |
| सुखावगाहानि | ... ३२८ | स्थितमिव परि | ... ३०६ |
| सुप्रीवान्तिकम् | ... १८४ | स्नानभ्यषिच्त | ... १३२ |
| सुप्रीवो सुसुदे | ... ३८१ | स्नानीयैः स्नापयेत् | ... ४९१ |
| सुप्रीवोऽस्याभ्रशत् | ... ४१८ | स्नाहानुलिङ्गम् | ... ४९९ |
| सुप्रद् द्विरद० | ... ७४ | स्पृहयालुम् | ... १८० |
| सुपो नभस्तः | ... ५४ | स्फटिकमणिगृहैः | ... ३०८ |
| सुप्रतिष्णात० | ... २७३ | स्फुटपरुषम् | ... २८६ |
| सुप्रातमासादित | ... ४० | स्मरातुरे चेतसि | ... ३२६ |
| सुरापाण० | ... २७६ | स्मेष्यन्ते मुनयो | ... ४३९ |
| सुरपैरिव | ... १५६ | स्वन्त्वा स्यन्त्वा दिवः | ... ५१८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------|-------------|----------------------|-------------|
| सप्तसाङ्गचेष्टो० | ... ३२२ | हते वस्मिन् ... | ... २६२ |
| सप्तसाङ्गयष्टिः | ... ३२२ | हत्वा रक्षांसि००० | ... २५६ |
| स्वपोषमपुषत् | ... १३३ | हन्तुं क्रोधवशात् | ... १२२ |
| स्वं कर्म कारयन्नास्ते | ... २२३ | हया जिहेषिरे ... | ... ३७३ |
| स्वर्गे विद्यस्व | ... ५०५ | हरहासरुद्ध० ... | ... ३६२ |
| स्वर्भानुर्भास्करम् | ... ४७९ | हरामि राम० ... | ... १०० |
| स्वां जिज्ञापायषू० | ... २६० | हरिस्वविलोल० | ... ३६३ |
| स्वामिनो निष्क्रयम् | ... २६६ | हरेः प्रगमनम् ... | ... २७९ |
| स्वेनुस्तित्विषुः | ... ३८९ | हविर्जश्चिति ... | ... ४८१ |
| ह- | | हित्वाश्चितङ्गवीनानि | ... ७१ |
| हतं रक्षांसि ... | ... ४२१ | हिरण्मयी शाल० | ... २९ |
| हतबन्धुर्जगाम | ... ८६ | ही चित्रं लक्ष्मणेन | ... ३८२ |
| हतराक्षस० ... | ... २८२ | हृतराक्षश्चयुत० | ... ९४ |
| जनस्थान० | ... ३३३ | हृदयङ्गम | ... १०७ |
| | | हृदयोदङ्क० | ... ३०० |

समाप्तेवं रामचरित (भट्टिकाव्य) स्य श्लोकानुक्रमणिका ।





श्रीहरिः ।

महावैयाकरणश्रीभट्टिकविप्रणीतं

भट्टिकाव्यम्

अथवा—

श्रीरामचरितं काव्यम् ।

श्रीजयमङ्गलोल्लासितया जयमङ्गलया व्याख्यया समुल्लसितम् ।

प्रथमः सर्गः ।

प्रणिपत्य सकलवेदिनमतिदुस्तरंभट्टिकाव्यसलिलनिधेः ॥
जयमङ्गलेति नाम्ना नौकेव विरच्यते टीका ॥ १ ॥

लक्ष्यं लक्षणं चोभयमेकत्र विदुषः प्रदर्शयितुं श्रीस्वामिस्तुनुः कविर्भट्टिनामां
रामकथाश्रयं श्रीरामचरितं नाम महाकाव्यं चकार । तस्य चोपनिबन्धनं कविना
द्विधा कृतम् । एकं लक्षणसूचकैः प्रकीर्णाधिकारप्रसन्नतिडंन्तकाण्डेश्चतुर्भिः ।
द्वितीयं लक्ष्यसूचकै रामसंभवादिभिर्द्वाविश्लया सगेः । तत्र लक्षणं द्विविधम् ।
शब्दलक्षणं काव्यलक्षणं च । तत्र प्रथमस्य त्रीणि प्रकीर्णाधिकारतिडन्तका-
ण्डानि, द्वितीयस्य त्वेकं प्रसन्नकाण्डम् । यत्रोच्चावचेन बहूनां लक्षणानां प्रकरणं
तत्प्रकीर्णकाण्डं, तदेव चात्र प्रथमसुकूं तस्य व्यापित्वात् ‘उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्’
इति प्रदर्शनार्थम् । अत्र यद्यप्यादौ कविना देवतानमस्कारो न कृतस्तथापीष्ट-
देवतासंकीर्तनमपि विश्रोपशमनहेतुर्भवतीति मन्यमान आह—

अभूत् नृपो विबुधसखः परन्तपः श्रुताऽन्वितो दशरथ इत्युदाहृतः
गुणीर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ॥ १ ॥

१ अतिदुस्तरो यो भट्टिकाव्यं भट्टिप्रणीतं रामचरितं काव्यमेव सलिलनिधिस्तस्थेति
रूपकम्, नतूपमा; अतिदुस्तरत्वस्य तथैवोपपत्तेः । २ लक्ष्यमुदाहरणम् । ३ लक्ष्यते इतर-
व्यावृत्ततया ज्ञायत अनेनेति लक्षणं सूचितम् । ४ यं पितरमित्यनेनांस्य (पातीति पितेति)
पितृवं स्वाभाविकमिति सूचितम् । ५ इदं तस्य गुणगैरवाहितं पुत्रात्मनां भवने स्व-
हितवे हेतुरिति सूचयति ।

अभूदित्यादि—तस्य हीष्टदेवता सनातनो विष्णुः सं चादौ कीर्तिंतः । चतुप्रतिबन्धनां चेयं कथेति प्रबन्धेनैवात्रै संकीर्तनं रामायणवत् । तत्र विष्णु-ना यस्मिन्काले जगत्कार्यवशादवतारः कृतस्तदेव प्रथमं दर्शयति । अभूदिति भूतसामान्ये लुक्ष भूत इत्यर्थः; अन्यथा राजाश्चिराततिवात् कवेः परोक्षत्वाच्च लिट् सात् ‘गातिस्थायुपाभूम्यः सिचः परस्पैपदेषु २ । ४ । ७७ ।’ इति सिचो लुक्ष । ‘भूसुवेस्तिङ्गि । ७ । ३ । ८८ ।’ इति गुणप्रतिषेधः ॥ ‘नयते-र्दृच्च’ इति नयतेरौणादिकं ऋक् । नरो मनुष्यात्मान्नन्पातीति । ‘अतोऽनुप-सर्गे कः । ३ । २ । ३ ।’ ‘आतो लोप इष्टि च । ६ । ४ । ६४ ।’ नृपो राजा । अत्यन्तधर्मविजयित्वादेवराजस्य मित्रमासीदिलाह—विबुधसख इति । विबु-ध्यन्त इति विबुधा देवास्तेषामपि प्रधानत्वात् । तत्रेषुपथलक्षणः कः । सामा-न्यशब्दोऽपि देवेषु वर्तमानोऽव्यर्थवशाच्छक्रे प्रयुक्तसत्य सखेति । ‘राजाऽहः सखिभ्यष्ट्व । ५ । ४ । ९१ ।’ विबुधसखः । अनेन धर्मविजयित्वं दर्शयति, विबुधसखत्वस्य धर्मकार्यत्वात् । सुरलोकविजयिनश्च ये राजानस्तेषां धर्मवि-जयी प्रधानम् । परे शत्रविजिविधाः—उच्छेदनीयोपर्पीडनीयकर्णणीयाः । तत्र ये उपर्पीडनीयकर्णणीयात्मान्परांस्तापयतीति परन्तपः । ‘द्विष्टपरयोस्तापेः । ३ । ३ । ३९ ।’ इति खच् । ‘खचि हृस्वः । ६ । ४ । ९४ ।’ ‘अरुद्विषदजन्तस्य मुम् । ६ । ३ । ६७ ।’ इति मुम् । नृप इत्यनेन स्वमण्डले वृत्तिराज्याता । पुरन्तप इति परमण्डले । श्रूयन्त इति श्रुतानि वेदादीनि तैर-न्वितः सम्बद्धः, ग्रन्थतोऽर्थतश्च गृहीतत्वात् । दशरथ इत्यनेन नाश्रोदाहृतो लोके गीतः । गुण्यन्तेऽभ्यस्यन्त इति गुणाः । ‘गुण आमत्रणे ।’ इति चौरा-दिकोऽदन्तः । तस्मात् ‘अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । ३ । ३ । ११ ।’ इति घब्, येषाम् ‘एरजप्यन्तानाम्’ इति दर्शनम्, येषांतु तत्रामिति तेषामेरत्यः; स्वरं प्रति-विवादो न रूपं प्रति । गुणैरभिरामत्वादिभिर्वरं श्रेष्ठं यं तृपं पितरमु-प्रागमादिति सम्बन्धः । व्रियत इति वरः । ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३ । ३ । ५८’ इति कर्मण्यप् । केन हेतुनोपगतवान् तं पितरं सनातनं इत्यत आह—

१ कवेः । २ स च इष्टदेवो विष्णुश्च । ३ ‘अकारो वासुदेवः स्यात्’ इत्यकारोपन्या-सात् । ४ न च तथा प्रथमं तत्कीर्तनमेव कृतम्, किंतु स सनातनो विष्णुरेव प्रतिबद्धते प्रधानत्वेव प्रस्तूयते, अनया, अत्र वेति तथोक्ता । ५ भट्टिकणीतायां रामचरि-त्यमस्तपर्यायभूतार्थं कथायाम् । ६ न तु भूतविशेषे परोक्षे, तस्यापि ततोऽनतिरिति-स्वयमानत्वात् ।

भुवनहितच्छलेनेति । भवन्युत्पद्यन्त इति सुक्लानि । भूर्भुवःस्वरिति त्रयलोकाः । ‘रजः क्युन्’ इत्यनुवर्तमाने ‘भूर्सूधूसर्जिभ्यश्छन्दासि’ इत्यौणादिकः क्युन्, बहुलवचनाद्वाषायामपि भवति, तेभ्यो हिता भुवनहिता विष्णोदेशवताराः, इह तु रामो द्रष्टव्यः । तस्य च्छलेन व्याजेन भुवनहितच्छलेन । इदानीं रावणादिकण्टकोद्धरणात् । तथा चोक्तम्—‘परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥’ इति । सनेत्यव्ययं सदायें वर्तते । सना भवतीति । ‘सायंचिरप्राह्वेगेऽव्ययेभ्य-ष्टुयुट्युलौ तुद च । ४ । ३ । २३ ।’ इति ट्युट्युलौ तुद च । सनातनो विष्णुरूपागमदुपजगाम । लदित्वादङ् । सत्सन्येषु राजसु गुणैर्वर्त्वाद्यं पितं जनकमंगीकृतवान्सोऽभूदिति योज्यम् । स्वयमित्यात्मना न कर्मणाऽन्येन वा प्रेरित इत्यर्थ ॥ १ ॥

सोऽध्यैष वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनपारीत् समर्मस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट पङ्कवर्गमर्मस्त नीतौ समूलघातं न्यवर्धीदर्दीश्च ॥ २ ॥

सोऽध्यैषेत्यादि—क्षत्रियस्य धर्मः अध्ययनं, यजनं, दानम्, शासार्जिवो, भूतरक्षणं च । तत्र अन्तिमसुभयं नुप इत्यनेनोक्तम् । भूतरक्षणे शक्षमङ्गम् । स दशरथनामा नृपो वेदानध्यैष—अधीतवानिति स्वाध्याय उक्तः । वेदयन्ति ज्ञापयन्ति धर्मधर्माविति वेदाः सामादर्यः । ‘नन्दिग्राहिपचादिभ्यो ल्युणि-न्यचः । ३।१।१३४।’ इत्यच् । इडोऽधिपूर्वस्य ‘विभाषा लुड्लङ्गोः । २।४।५०।’ इति गाङ् । विभाषयेति गाङ्गभावपक्षे रूपम् । अजादित्वादाद् । ‘आटश्च । ३।१।१०।’ इति वृद्धिः । छित्वादात्मनेपदम् । ‘आदेशप्रत्यययोः । १।३।५९।’ इति षत्वं, षट्त्वं च । त्रिदशान्देवानयष्टाभिष्ठोमादिभिः पूजितवान् । यजन-मुक्तम् । यजेः ‘स्वरितवितः कर्त्रभिप्राये क्रियाकले । १।३।७२।’ इति तद् । अनिकसमीपत्वाद्वलः ‘लिङ्गसिचावांत्मनेपदेषु । १।२।१।’ इति कित्वं न भवति । ब्रह्मब्रह्मसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः । ८।२।३६।’ इति षत्वम् । ‘झलो झालि । १।२।२६।’ इति सिचो लोपः ॥ पितृनपारीदात्यायितवान् । पितृ-नुहिश्य यजनम् ‘पृ पालनपूरणयोः’ इत्यस्मात्पूरणार्थाल्लुडि रूपम् । ‘सिच्चि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।१।’ इट ईटि । १।२।२।१।’ इति सिचो लोपः । अथवा ‘पितृनताप्सीत्’ इति पाठः । ‘रूप प्रीणने ।’ इत्यस्माल्लुडि ‘स्पृशमृशकृशतृपद्यां

१ अत्र स्विचर वृत्तम् ‘जमौ सजौ गिति स्विचरा चतुर्ग्रहैः’ इति लक्षणात् ।
२ आदिपदेनर्गयजुरथर्वणां ग्रहणम् ।

च्छेः सिज्जकव्यः ॥ इति च्छेः सिचि ‘अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः । ६।१
५१।’ इत्यमभांवपक्षे रूपम् । पितृंस्तर्पितवानित्यर्थः । सममंस्त वन्धून मातृ-
पित्रादिज्ञातीन् सम्मतवान्, सदा दानमानादिभिः पूजितवानित्यर्थः । मन्यते-
रनुदात्तत्वात्तङ्, इदप्रतिषेधश्च । येषां सिच इकार उच्चारणार्थस्तेषाम् ‘हनः
सिच् । १।२।१४।’ इति कित्करणज्ञापकान्त्रलोपाभावः । येषां तु इकार इत्ते-
षामिदित्तवान्नकारलोपाभावः । आभ्यन्तरं शत्रुमजित्वा कथं परन्तप इत्याह—
व्यजेष्ट षड्वर्गमिति । कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणां षण्णां वर्गः षड्वर्गः ।
तमभिभूतवान् । विपूर्वस्य जयते: ‘विपराभ्यां जे: । १।३।११।’ इति तद्भु-
अरंस्त नीतौ सामादिषु सध्यादिषु च रतः, नीतिमानित्यर्थः । समूलघातं न्यव-
धीत् समूलान्निःशेषानरीञ्शत्रून्निहतवान् । उच्छेदनीया ये शत्रवस्तेष्विदं
विघानस्म् । समूलोपपदाद्धन्तेः ‘समूलाकृतजीवेषु हनकृब्रप्रहः । ३।४।३६।’ इति
णमुल् । ‘हो हन्तेऽर्णग्नेषु । ७। ३। ५४।’ इति घत्वत्वं, वृद्धिः । ‘हनस्तः
। ७।३।३२।’ इति तत्वम् । ‘कषादिषु यथाविघ्यनुप्रयोगः । ३।४।४६।’ इति
यथाविघ्यनुप्रयोगः । अनुप्रयोगे ‘लुडि च । २।३।४३।’ इति वधादेशः ।
तस्याकारान्तत्वादुपदेशेऽनेकाच्चादिष्णेषो न भवति । अतो लोपे कृते
तस्य शानिवद्वावात् ‘अतो हलादेर्लयोः । ७।२।७।’ इति विभाषावृद्धिन्
भवति ॥ २ ॥

वसूनि तोर्यं घनवैदू व्यकारीत् सहाऽसनं गोत्रभिदाऽध्यवात्सीत् ।
न ऋग्म्बकादन्यं मुपास्थिताऽसौ यशांसि सर्वेषु भृतां निरास्थत् ॥ ३ ॥

वसूनित्यादि—वसूनि द्रव्याणि बन्धुव्यतिरेकेण बालादिभ्यो व्यकारीदत्त-
वान्, विक्षिप्तवानिति वा । किरतेलुङ्डि रूपम् । कः किमिवेत्यपेक्षायामाह—
तोर्यं घनवदिति । तोर्यमुदकम् । घनो मेघः फलनिरपेक्षतया यथा विकिरिते
बद्धत् । एवं सम्यक्यालनादिन्द्रेण तुल्यत्वमाह—सहासनं गोत्रभिदाऽध्यवा-
त्सीदिति । गोत्रभिदन्द्रेण सहासनमध्यवात्सीदध्युषितवान् । अनेनात्यन्तघ-

शलुध्यान् दानेन, वृद्धान् महतो वा मानेन, दीनान् आश्रयणेन चेति यथायोगं सम्भा-
व्यम् । २ इदमारभ्य प्रायः समाप्त्यन्तमिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयस्त्पजातिः, ‘स्यादिन्द्रवज्रा
व्यदि तौ जगौ गः’ इति, ‘उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ’ इति, ‘अनन्तरोदीरित
क्षमभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता: ।’ इति तलक्षणात् । ३ मेघवदित्यर्थः । इदं
अत्युपेक्षायात्यन्यत्वं सूचयति । ४ ऋग्म्बकमेवोपास्थितेति भावः । अनेन सनातनस्य
विष्णोरारावनमन्तरैव स्वाप्तक्षयाऽधिकगुणत्वमपेक्ष्य पितृत्वप्रख्यापनं सूचितम् ।

र्मविजयित्वस्य फलं दर्शयति । ‘वस निवासे ।’ इत्यस्य रूपम् । ‘वासिः सम्प्रसारणम्’ इति वचनादिङ्गमावः । ‘अस्तिसिचडपृक्ते ।३।३।५६।’ इति ईद् ‘वदब्रजहलन्तस्याचः । ३।२।३।’ इति वृद्धिः । ‘सः स्याधघातुके ।३।४।४९।’ इति तत्त्वम् । आसनामिति ‘उपान्वयधाङ्गवसः ।१।४।४८।’ इत्याधिकरणस्य कर्मसञ्ज्ञा । त्रीण्यस्वकान्यक्षीणिं अस्येति त्र्यम्बको महोदैस्तस्मादन्दं नोपास्थित न पूजितवानित्यर्थः । उपपूर्वाच्चिष्ठेः ‘देवपूजासंगतिकरण-भित्रकरणपथिषु ।’ इति देवपूजायां तद् । ‘स्थाघोरिच्च ।१।२।१७।’ इत्युत्कं कित्वं च । ‘हस्तादङ्गात् ।३।२।२७।’ इति सिंचो लोपः । इषून्निब्रतीति ‘अन्ये-स्योऽपि दृश्यन्ते ।३।२।७५।’ इति किप् । इषुभृतो धनुर्धराः तेषां सर्वेषां यशांसि निरास्थत् । निरस्तवानित्यर्थः । एतेनास्यासाधारणीकृतास्थत्वं दर्शिन्तम् ! ‘उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा वचनम्’ इति वार्त्तिकवचनाद्यदा तद् नास्ति, तदा तिप् । ‘अस्यतिवक्तिव्यातिभ्योऽह ।३।१।५२।’ इति च्छेरङ् । ‘अस्येतः स्युक् ।३।४।१७।’ ॥ ३ ॥

पुण्यो महाब्रह्मसमूहजुष्टः सन्तर्पणो नाकसदां वरेण्यः ।

जज्वाल लोकस्थितये स राजा यथाऽध्वरे वहिरभिप्रणीतः ॥ ४ ॥

पुण्य इत्यादि—पुनातीति पुण्यः । ‘पूजो यत् पुण् हस्तवश्च’ इत्यौणादिको थत् । पुणागमश्च हस्तवश्च । अल्पन्तपुण्यकरणाद्राजापि पुण्य इत्युच्यते । तन्मन यत्वाद्राजा । अग्निरपि पुण्यः पावनात्पुण्यः । यागादिः पुण्यस्तेन पुरुषः पूयते । महतां वेदविदां ब्रह्मणां ब्राह्मणानां समूहेन जुष्टः सेवितो राजाऽभिश्च । ब्रह्मशब्दोऽत्र ब्राह्मणपर्यायः । नाके स्वर्गे सीदन्तीति ‘सत्सूद्धिष्ठुहुद्दुह्यु-विदभिदिच्छिदजिनीराजामनुपसर्गेऽपि किप् ।३।२।६।१।’ इति किप् । नाकसदोऽदेवास्तेषां कर्मणि षष्ठी । सन्तर्पयति प्रीणयतीति सन्तर्पणः । सन्तर्पयते ‘कृत्यल्युटो वहुलम् ।३।३।१।३।’ इति कर्त्तरि ल्युद । राजा यागादिना तर्पयति । अग्निरपि सदा शुद्धत्वेन परशुद्धिकृत्वेन च पुण्यः महतां वेदानां समूहेन प्रतिपाद्यत्वेन जुष्टश्चासन्तर्पकः पुनराग्निसुखत्वादेवानां वरेण्यश्चैवं श्रेष्ठो राजाऽभिश्च सर्वेषां धर्मविदामिति यथातथमूहम् । ‘वृङ् एण्यः’ । जज्वाल प्रदीपवान् ।

१ सूर्यचन्द्रपावकभेदेन व्रिसङ्घयाकानि । २ ‘अस्त्रकं च’ इति त्रिकाण्डशेषः । ३ ‘त्र्यम्बकम्भिपुरान्तकः ।’ इत्यमरः । ४ अत्रोपमाङ्गल्डारसमर्थनायैव वेदव्राह्मणीभयवाचकस्य ब्रह्मपदस्योपादानम् । ५ किं तु ‘स्वे स्वे धर्म्ये कर्मणि सर्वेऽपि प्रवर्त्तेत्तरम्’ इति भावः । ६ एतेन लोकस्थित्यतिक्रमेणापराधासहिष्णुत्वं सूचितम् ।

लोकस्थितये माभूलोकस्य स्थितातिक्रम इत्येवमर्थम् । अग्निरपि लोकस्य
स्थितये ज्वलति । यथोक्तम् ‘अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्ञायते वृष्टिवृष्टेरनं ततः प्रजाः ॥’ अभिप्रणीत इत्यग्निविशेषणम् ।
आभिमुख्येन प्रणीत इति प्रादिसमासः । ‘उपसर्गादसमासेऽपि णोयदेशस्य
१८।१४।’ इति णत्वम् । मन्त्रेणाभिमुखीकृत इत्यर्थः । यथाऽव्वरे यागेऽभिप्र-
णीतो वृद्धिर्ज्वलति तथा राजाऽपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

यत्रस्थो राज्यं चकार तां राजनगरी दर्शयन्नाह—

स पुण्यकीर्तिः शतमन्युकलपो महेन्द्रलोकप्रतिमां समृद्धच्या ।

अध्यास्त सर्वतुर्सुखामयोध्यामध्यासितां ब्रह्मभिरिद्वोर्वैः ॥ ५ ॥

संपुण्येत्यादि—स्वामिगुणपूर्वका हि निवासस्य गुणा भवन्तीति प्रद-
श्नार्थं पश्चात्तदभिवानम् । तथा चोक्तम्—‘स तु यच्छीलस्तच्छीला अस्य प्र-
कृतयो भवन्ति ।’ इति । स राजा पुण्यकीर्तिः पुण्याः पवित्राः कीर्तयो यस्य
सः । शतमन्युकलप इति प्रभावं दर्शयति । ‘ईषदसमाप्तौ कल्पब्दैश्यदेशीयरः
१५।३।६७।’ इति कल्पप् । शतमन्युरिन्द्रः महेन्द्रलोकप्रतिमामयोध्याभिति
योज्यम् । प्रतिमीयते तुल्यत इति प्रतिमा । ‘आतश्चोपसर्गे । ३।३।१०६।’
इत्यङ् । महेन्द्रलोकेन प्रतिमा तुल्या । ‘तृतीया सप्तम्योर्बहुलम् । २।१।३०।’
इति ‘तृतीया’ इति योगविभागात्समासः । अमरावतीभिवेत्यर्थः । क्या ।
समृद्धथा । सम्यगतिशयेनर्द्धिः समृद्धिः । कुगतिप्रादयः । २ । २ । १८ । इति
श्रादिसमासः । अध्यास्ताध्यासितवान् । भूतसामान्ये लङ् । आस्तेरनुदात्ते-
त्वात्तङ् । ‘अधिशीङ्गस्यासां कर्म्म । १४।४६।’ इत्याधिकरणस्य कर्मसञ्ज्ञा ।
सुखयतीति सुखा, पचाद्यच् । सुखहेतुत्वाद्वा सुखा । सर्वेषु ऋतुषु सुखेति ।
‘सप्तमीविशेषणे बहुत्रीहौ । २।१।४०।’ इति योगविभागात्समासः । अध्यासि-
मामच्युषिताम् । ब्रह्मभिर्ब्रह्मपैरिद्वोर्वैः । सर्वशास्त्रपरिज्ञानात्पदुबुद्धिभिरि-
त्यर्थः । इन्द्रोर्निष्ठायामनुनासिकल्पाः ॥ ५ ॥

निर्माणदक्षस्य सर्माहितेषु समिव पद्माऽसनकौशलस्य ।

ऊर्ध्वस्फुरदल्नगभस्तिभिर्य । स्थिताऽवहस्येव पुरं मघोनः ॥ ६ ॥

निमणेत्यादि—पद्मासनो ब्रह्मा । पद्मासनं यस्येति कृत्वा । तस्य कौशलं
नैपुण्यमिति षष्ठीसमाप्तः । तस्य ‘पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमा-’
नाधिकरणेन । २।२।११’ इति न प्रतिषेधः । तत्र विशिष्टा एव गुणा रूपरस-
गन्वस्पर्शस्तद्विशेषाश्च शुक्लनीलादयः कटुकास्त्रादयः सौरभ्यादयः शीतोष्णा-
दयश्च गृहीताः । तत्र रूपादिभिः समाप्तो भवत्येव । ‘तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी
समस्यते न तु तद्विशेषगुणैः ।’ इति वचनात् । अन्यैस्तु समाप्तप्रतिषेधः ।
[एवं च कृत्वा मुनित्रयवचनमर्थवद्भवति । तद्यथा ‘अधिकरणैतावत्त्वे च’
। २।४।१५।] ‘तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् । १।१।५।३’ इति पाणिनेः, ‘युगपदे-’
शपृथक्त्वदर्शनात्’ इति ‘रूपसामान्याद्वा’ इति वचनप्रामान्यादिति चेदलोपप्रति-
षेधः’ इति कात्यायनस्य, ‘नकारप्रहणसामर्थ्याल्पोपो न भविष्यतीति किं पुनरत्रार्थ-
सतत्वम्, इति भाष्यकारस्येति] तस्य सीमेव मर्यादेवायोध्या । ततो न
सृष्टयन्तरं शोभनमस्तीत्यर्थः । क्रीष्णस्य । निर्माणदक्षस्य । निर्मितिर्निर्माणं
सृष्टिस्तत्र दक्षस्य पटोः । क विषयेषु । समीहितेषु । सज्जुमीप्सितेष्वस्यर्थः ।
ऊर्ध्वमुपरिष्टात्स्फुरद्रवगभस्तिभिः स्फुरन्तोये रत्नानां गमस्तयोरद्वमयस्तैर्हासभूतैः
र्मघोन इन्द्रस्य पुरममरावतीमवहस्येव स्थिता या, तामध्यास्त । ‘मधवनश्वन्-
उक्षन्’ इत्यौणादिकः। ‘श्वयुवमघोनामताद्वितो ॥६।४।१३।३॥’ इति सम्प्रसारणम् ॥६॥

सद्रत्नमुक्ताफलवज्रभाजि विचित्रधातूनि सकाननानि ।

स्त्रीभिर्युतान्यप्सरसामिवैष्मेरोः शिरांसीव गृहाणि यस्याम् ॥ ७ ॥

सद्रत्नमुक्ताफलवज्रभाजि—सन्ति शोभनानि यानि रत्नादीनि तानि भजन्ते यानि गृहाणि-
तानि सद्रत्नमुक्ताफलवज्रभाजि । मुक्ताफलवज्रयो रत्नान्तर्भावेऽपि प्राधान्य-
ख्यापानार्थं वचनम्, गोबलीवर्दन्यायाद्वा । रत्नशब्देन मरकतपद्मराग-
वैदूर्यादयो गृह्णन्ते । सद्रत्नादि—‘युज्जि’ इति पाठान्तरम् । ‘युज्जेरसमाप्ते-
। ७।१।७।।’ इति प्रतिषेधो न भवति, अनुपुंसकविषयत्वात्, नपुंसके
तु तल्लक्षणस्य तुमो विधानात् । ‘विचित्रधातूनि विचित्रा नानाप्रकारा-
धातवो मनःशिलादयो येषु गृहेषु तेषां विरचितचित्रकर्मत्वात् । सकाननानि
सोद्यानानि । स्त्रीभिर्युतान्यप्सरसामिवैष्मेरत्रत्यामिः स्त्रीभिरप्सरोभिरिवे-
त्यर्थः । मेरोः शिरांसीव मेरोः शृगाणीव एवंविधानि गृहाणि यस्यामयोध्यायां-

१ अत्रोत्प्रेक्षयोर्युगलम् । २ ‘गहनं काननं वनम्’ इत्यंमरः ।

तामध्यास्त । गृह इतिर्गिह कः । ३।१।४४' इति कः तत्र गृहशब्दो वेशमाने
नपुंसकलिंगः । तत्सथायिषु पुँलिंगो नित्यं बहुवचनान्तः ॥ ७ ॥

अन्तर्निविष्टोज्ज्वलरत्नभासो गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यः ।

हिमाऽद्विटङ्गादिवं भान्ति यस्यां गङ्गाऽम्बुपातप्रतिमाँ गृहेभ्यः ॥ ८ ॥

अन्तरित्यादि—अन्तर्गृहमध्ये निविष्टानि निहितान्युज्ज्वलरत्नानि यानि
तेषां भासो रशमयो गृहेभ्यो गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यो निर्गच्छन्त्यो यस्यां
भान्ति तामध्यास्तेति योज्यम् । पर्वतस्योन्नतप्रदेशषट्क^१, इत्युच्यते । तस्माद्वि-
मवत्पर्वतटङ्गादिव गङ्गाम्बुपातप्रतिमः गंगाजलप्रवाहतुल्याः, स्वच्छत्वात् ॥ ८ ॥

धर्म्यसु कामाऽर्थयशस्करीषु मतासु लोकेऽधिगतासु काले ।

विद्यासु विद्वानिव सोऽभिरेमे पत्नीषु राजा तिसृष्टृत्तमासु ॥ ९ ॥

धर्म्यास्वित्यादि—धर्मादनपेतासु । ‘धर्मपर्यथन्यायादनपेते । ४ । ४ । २९’
इति यत् । कामार्थयशांसि कर्तुं शीलं यासां तासु । कृबो हेतु-
ताच्छील्यानुलोभ्येषु । ३।२।२०’ इति ताच्छील्ये टः । ‘अतः कृकमिकंस-
कुम्भपात्रकुशाकण्ठं चनव्ययस्य । १।३।४६’ इति विसर्जनीयस्य सत्त्वम् ।
टित्त्वान्डीप् । मतासु पूजितासु लोके तासां प्रतीतत्वात् । अधिगतासु काले
विवाहयोग्ये काले परिणीतासु । सोऽभिरेमे स राजाऽभिरतवान् । पत्नीषु
‘पत्युनों यज्ञसंयोगे । ४।१।३।३’ इति नकारः । तिसृष्टु कौसल्याकैकेयीसु-
मित्रासृष्टमाध्विति सन्नारीगुणैः श्रेष्ठासु । विद्यास्विति विद्वन्त्याभिर्धर्माध-
मीविति विद्याः ‘सच्जायां समजनिषद्विनिपत्तमनविदपुञ्चशीढ़भृत्यिणः
। ३।३।९।९’ इति क्यप् । तिसृष्टु सामर्थ्यजुराख्यासु । धर्म्यास्वित्यादिकं तुल्यम् ।
विद्वानिव यथाधिगतविद्य इत्यर्थः । विदेः शतुर्वसुः । ७।१।३।६। दीर्घः हल
कूणादिसंयोगान्त्वलोपाः ॥ ९ ॥

तस्य राज्ञः पत्रीभिस्ताभिः सह रममाणस्य सुता नैवासन् । क्रष्णशृंगनामा
सुनिः पुत्रीयं क्रतुं जानातीति, पुरोधसो वशिष्ठादुपश्रुत्य राजा वारविला-
सिनीभिरानायितो सुनिरित्येतत्कथयितुमाह—

पुत्रीयता तेन वराऽङ्गनाभिरानायि विद्वान् क्रतुषु क्रियावान् ।

विपर्किमज्ञानगतिर्मनस्वी मान्यो सुनिः स्वां पुरमृष्यशृङ्गः ॥ १० ॥

^१ अत्रोपमाऽलङ्कारः । २ अत्रोल्पेक्षा । ३ अत्रोपमा । ४ अत्रोपमा । ५ इदं न केवलं

पुत्रीयतेत्यादि—पुत्रीयताऽऽत्मनः पुत्रमिच्छता । इच्छायाम् ‘सुप आत्मनः क्यच् । ३ । १ । ८।’ इति क्यच् । ‘क्यचि च । ७ । ४ । ३२।’ इतीत्वम् । तेन राजा प्रयोजककर्त्रा वराङ्गनाभिवरेखीभेः प्रयोज्यकर्त्राभिरानायि स्वां पुरमिति योज्यम् । ‘नीवह्नोः’ इत्यादेरपि ‘अकथितं च । १ । ४ । ५१।’ इति चकारेण संगृहीतवान्नयतिर्द्विकर्मकः । तत्र प्रधानकर्मणि लुह् । चिणिलोपौ ‘चिणो लुह् । ६ । ४ । १०४।’ इति तशब्दस्य लुह् । गुणकर्मणि तु पुरमिति द्वितीया । गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स शौ । १ । १ । ४ । ५२।’ इति प्रयोज्यकर्तरि द्वितीया न भवति । ‘नीवह्नोः प्रतिषेधः’ इति वचनात् । विद्वान्वेदार्थतत्त्ववित् । एवं च कृत्वा क्रतुषु क्रियावान्प्रशस्तक्रियः । प्रशंसायां मतुप् । विपक्त्रिमज्ञानगतिरिति विपाकेन निर्वृत्तम् । पचते: क्विः क्वर्तेषु । यत्पूर्वजन्मकृतमनिवर्तनीयं कर्म चस्योप्रतपःप्रत्ययाद्विनोपदेशाङ्गानात्प्रवृत्तिर्बुद्धावस्य जातेत्यर्थः । मनस्वी प्रशस्तमनाः । प्रशंसायाम् ‘अस्मायामेधास्तजो विनिः । ५ । २ । १२१।’ इति विनिः । मान्यो मानार्हः । ‘अर्हे कृतुच्चश्च । ३ । ३ । १६९।’ इति प्यत् । धर्मादिमननान्मुनिः । ‘मनेहृच्चोपधाया’ इति इन् । उपधाया उकारः । ऋष्यस्य शूङ्गमृष्यशूङ्गं तच्छृङ्गमिव शृंगं यस्य स ऋष्यशृङ्गः । ‘सप्तम्युपमान—’ इत्यादिनोन्तरपदलोपी समाप्तः ॥ १० ॥

ऐहिष्ट तं कारयितुं कृताऽऽत्मा क्रतुं नृपः पुत्रफलं सुनीन्द्रम् ।

ज्ञाताऽऽशयस्तस्य ततो व्यतानीत् स कर्मठः कर्म सुताऽनुबन्धम् ॥ ११ ॥

ऐहिष्टेत्यादि—तं सुनीन्द्रं क्रतुं कारयितुं नृप ऐहिष्ट ईहितवान् । ईहतेरात्मने-पदिनो लुडि सेट्वादिति च रूपम् । द्विकर्मकता तु ‘हक्कोरन्यतरस्याम् । १ । ४ । ५३।’ इति । कृतात्मा वशीकृतात्मेति भावः । पुत्रफलं पुत्रः फलं कर्त्य यस्य क्रतोः । तत उत्तरकाळम् । स सुनिः परचित्तज्ञत्वाङ्गाताशयो ज्ञाताभिप्रायो राजाभिमतं कर्म कारयितुं तस्य नृपस्य कर्म व्यतानीत्प्रारब्धवान् । तनोते: ‘नेटि । ७ । २ । ४।’ इति हलन्तलक्षणायां प्रतिषिद्धायाम् ‘अतो हलादेलघोः । ७ । २ । ७।’ इति विभाषा वृद्धिः । कर्मठः कर्मणि घटते ‘कर्मणि घटोऽठच् । ५ । २ । ३५।’ इत्यठच् यागक्रियानिष्पादक इत्यर्थः । सुतानुबन्धं सुतानुबन्धातीति कर्म-प्रयण् । ‘सुतानुबन्धि’ इति पाठान्तरम् । सुतानुबद्धं शीलमस्येति । ‘सुप्य-जातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३ । २ । ७८।’ सुपीत्यनुवर्तमाने सुब्रह्मण्यमुपसर्ग-

निवृत्यर्थमिति केवलस्योपसर्गस्य निवृत्यर्थं दृष्टव्यम् । अन्यथा जाताविति किं ब्राह्मणानामन्त्रायितेति न युज्यते, आडित्यस्योपसर्गत्वात् ॥ ११ ॥

रक्षांसि वेदीं परितो निरास्यदङ्गान्ययाक्षीदभितः प्रधानम् ।

शेषाण्यहौषीत् सुतसम्पदे च वरं वरेण्यौ नृपतेरमार्गांत् ॥ १२ ॥

रक्षांसीत्यादि—वेदीं परितो यजनवेद्याः समन्तात् । विज्ञायोपस्थितानि रक्षांसि । रक्ष्यते येभ्य इत्यसुन् । तानि रक्षोन्नैर्मन्त्रैर्निरास्यनिरस्तवान् । पर्यंभिभ्यां सर्वैःभयार्थं तसिल्ल । ‘अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि’ इति द्वितीया । अङ्गान्ययाक्षीदभितः प्रधानमिति । यदेवतामयो यागः सा देवता तत्र प्रधानम् पुत्रफलत्वांद्विष्णुः प्रधानम् । तमिद्वा । तस्योभयतः पार्श्व्योर्यान्यङ्गानि चक्षुरादीनि देवतान्तराणि तान्ययाक्षीत् अप्रावृद्धत्या पूजितवान् । कर्तुः क्रिया-फलाभावात्तद् न भवति । षट्वकत्वे शेषाण्यहौषीदिति स्वाङ्गं विष्णुमिद्वा शेषाणि प्रतिकृतानि पिष्टकमयानि सुतानां सम्पर्दर्थमग्नौ हुतवान् । जुहोतेः सिचि वृद्धा-विटि च रूपम् । वरेण्यः श्रेष्ठः । हे देवा अभिप्रृथयो नृपतेः सुता भूयासुरि-ति वरं चामार्गान्मार्गितवान् । ‘मार्ग अन्वेषणे’ । ‘आधृषाद्वा’ इति यदा पिच्छानांस्ति तदा चडभावात्सजेव भवति ॥ १२ ॥

निष्ठां गते दत्रिमसभ्यतोषे विहित्रिमे कर्मणि राजपत्न्यः ।

प्राशुर्दुतोच्छृष्टमुदारवङ्यास्तिस्तः प्रसोतुं चतुरः सुपुत्रान् ॥ १३ ॥

निष्ठामित्यादि—निष्ठां समाप्ते गते कर्मणि यागक्रियायां समाप्तायां राजपत्न्यो हुतोच्छृष्टं हुतावशेषं शिष्टचर्णं प्राशुर्भक्षितवत्यः । अश्रोतेलिंठि उसि-रूपम् । दत्रिमसभ्यतोषे दानेन निर्वृत्तो दत्रिमः सभ्यानां ब्राह्मणानां तोषो यत्र कर्मणि । विहित्रिमे विधानेन निर्वृते कर्मणि दावो धावश्च ढ्वितः किः । ३ । ३ । ८८ । ३ । इति कौ विहिते प्रथमस्य ‘दोद्दद्वाः’ । ७ । ४ । ४६ । इति दृददेशः । ढ्वितीयस्य ‘दधोर्तोर्हः’ । ७।४।४२। इति हिरादेशः । मप् । सभायां साधव इति सभ्याः । ‘सभाया यः’ । ४ । ४ । १०५ । उदारवंश्या महावंशोद्वाः । शेषे यत् । कौसल्या कैकेयी च क्षत्रिये । सुमित्रा तु वर्णसंकरजा । किमर्थं प्राशुः । प्रसोतुं सुपुत्रान्विनीतान्प्रसवितुम् । तत्र कौसल्या केकर्थी वैकैकं पिण्डं प्राशितवत्यौ । ताभ्यां चावयोः परिचारिकेति पिण्ड-भागद्वयं दत्तं सुमित्रा प्राशितवती । ततश्च पुत्रद्वयं जनयिष्याति । एवं

चामिसंधाय चतुर इत्युक्तं न तु त्रीनिति । ,षूड् प्राणेगभविमोचने । 'स्वर-
तिसूतिसूयतिधूदितो वा । ७ । २ । ४४ ।' इति विभाषितेऽ ॥ १३ ॥

कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः प्राकेक्यीतो भरतस्तोऽभूत् ।

प्रासोष्ट शत्रुघ्नसुदारचेष्टमेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन ॥ १४ ॥

कौसल्ययेत्यादि—कोसलस्य राज्ञोऽपत्यमिति 'वृद्धेत्कोसलाजादाव्यङ् ॥
४ । ४ । १७१ ।' 'यडश्चाप् ॥ ४ । १ । ७४ ।' कौसल्यया प्राक् प्रथमम्
असावि रामो जन्यते स्म । षूडः कर्मणि लुडि चिणि रूपम् । सुखेनेति प्रकृ-
त्यादित्वात्तृतीया । महतां जन्मनि न काचिदपि पीडात्ति । तदनन्तरं केक-
यीतो भरतोऽभूत् । केकयानाच्छ्रेति णिच् । सा हीष्मास्तादृशाः केकया
इति कथयति । तदन्तात् 'अच इ' इति इकारप्रस्तय औणादिकः । णिलोपः ।
'कृदिकारादकेनः इति डीष् । 'अपादाने चाहीयरुहोः । ५ । ४ । ४५ ।' इति
तसिः । यदा च केकयस्यापत्यम् 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादव् । ४ । १ । १८६ ।'
इत्यव् 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः । ७ । ३ । २ ।' इतीयादेशः । 'टिङ्गाद-
ग्न्युद्वयस्चृद्वन्न्यमात्रचतुर्यपूठक्ठञ्चकटरपः । ४ । १ । १५ ।' इति
डीप् । तदा कैकयीति द्वितीयं रूपम् । सुमित्रा शत्रुघ्नसुदारचेष्टम् । उदार
चेष्टा यस्येति । प्रासोष्ट प्रसूतवती । कर्तरि लुड् । डिन्वात्तङ् । जातमात्रस्य
हि तस्य किल महासत्त्वतया तादृश्येव चेष्टाऽभूदिति श्रूयते । एकेति । एकैवेति
गम्यमानत्वादेवशब्दो न प्रयुक्तः । सह लक्ष्मणेन लक्ष्मणेन सःहै ॥ १४ ॥

आर्चीद्विजातीन्परमार्थविन्दानुदेजयान् भूतगणान्यषेधीत् ।

विद्वानुपानेष्ट च तान्स्वकाले यतिर्वशिष्टो यमिनां वरिष्ठः ॥ १९ ॥

आर्चीदित्यादि—तेषु जातेषु द्विजातीन्द्रे जाती येषामिति तान्त्राह्णक्षत्रि-
यैवश्यान्परमार्थविन्दान् । विन्दतीति विन्दाः । 'विद्लू लाभे' इत्यस्मा-
द् 'अनुपसर्गालिम्पविन्दधारिपरिवेद्युदेजिचेतिसातिहेतिभ्यश्च । ३ । १ ।
१३८ । इति शः । मुचादित्वान्तुम् । परमार्थस्य विन्दाल्लाभिन् । इति कर्मणि
षष्ठी । तस्याः 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्' इति समाप्तः ।
तानार्चीत्खणगादिभिः पूजितवान् । 'अर्च पूजायाम्' इत्यस्माल्लुडि-

१ यथा तिथः सामर्थ्यजूलपविद्या धर्मार्थकाममोक्षरूपान् चतुरः पुत्रान्
तथोति ध्वन्यते । २ कथं तिसूणां चत्वारः पुत्रा उदपद्यन्तेति निर्देशार्थमस्यादतारणम् ।

तिप् इट सिचो लोपः । भूतगणान्राक्षासादिगणान् । उद्जयानुत्कम्पान्
चस्मिन्ब्रव सूत्र उत्पूर्व एजिर्णन्तो निर्दृष्टः । तस्मादुद्जयतीति शः । तान्न्य-
षेधीदुत्सादितवान् । षिधे: 'नेटि । ७ । २ । ४ ।' इति हलन्तलक्षणायाः
प्रतिषेधः । विद्वान्पौरोहित्यकर्मणि कुशलः । उपानेष्ट च तान्रामादीन् ।
तेषामुपनयनादिक्रियां चकार । 'सम्माननोत्सनञ्चाचार्यकरणज्ञानभृति-
विगणनव्ययेषु नियः । १ । ३ । ३६ ।' इत्याचार्यकरणे तद् । स्वकाल इति
'गर्भादेकादशे वर्षे जातस्य गर्भेकादशे' इत्यादिना वचनेन उपनयनकाल
उक्तः । यमनियमेषु यतत इति यतिः । 'सर्वधातुभ्य इन्' इति इन् । 'अहिंसा
सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकलमषम् ।' इति पञ्च यमा येषां सन्तीति यमिनः स्मृताः ।
तेषां वरिष्ठ उत्तमः । 'प्रियस्थिरस्फरोहबहुलगुहवृद्धत्रप्रदीर्घवृन्दारकाणां
अस्थस्कर्बर्याहिगर्वार्षित्रपूद्राविवृन्दाः । ६ । ४ । १५७ ।' इत्युरुशब्दस्य वरा-
देशो महत्पर्यायस्य । वदिष्टः ॥ १५ ॥

वेदोऽङ्गवांस्तैरखिलोऽध्यगायि शक्षाण्युपायंसत जित्वराणि ।

ते भिन्नवृत्तीन्यपि मानसानि समं जनानां गुणिनोऽध्यवात्सुः ॥ १६ ॥

वेद इत्यादि—‘शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दोविवृतिर्नैरुक्तं ज्योतिषं च’ इति
चड़ज्ञाने शास्त्राणि तानि विद्यन्ते यस्य वेदस्येत्यज्ञवान् । तैरुपनीतै रामादि-
र्मिः । अखिलो निशेषो वेदोऽध्यगायि । अधीत इत्यर्थः । इङ्गोऽधिपूर्वार्त्कर्मणि
लुडि ‘विभाषा लुड्लडोः । २।४।५०।’ इति गाडादेशः । चिण् युक्त तल्कु
शक्षाणि धनुरादीनि जित्वराणि जयशीलनि । ‘इण्नशजिसर्तिभ्यः करप् । ३।२।
३६२ ।’ इति करप् । तैरुपायंसत स्वीकृतानि । उपपूर्वो यमिः स्वीकरणे
वर्तते । तस्मात्कर्मणि लुड् । ‘आत्मनेपदेषु । ७ । १ । ५।। इत्यदादेशः ।’ ‘हनः
सिच् । १ । २ । १४ ।’ इति ज्ञापकादनुनासिकलोपाभावः । ततस्ते रामादयो
गुणिनो मानसानि मनांसि । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेणः । भिन्नवृत्तीनि नानावि-
धप्रवृत्तीनि विषयेषु तानि मानसान्यापि जनानां समं साधारणम् । क्रिया-
विशेषणम् । अध्यवात्सुरल्युषितवन्तः । अधिपूर्वाद्विसेः सिचि ‘कद्रजहल-
न्तस्या चः । ७ । २ । ३ ।’ इति वृद्धिः । ‘सः स्याद्वधातुके । ७ । ४ । ४९ ।’
इति तत्वम् । ‘सिजभ्यस्त्विदिभ्यश्च । ३ । ४ । १०९ ।’ इति जुस् । उपानु-
ध्याङ्गसः । १ । ४ । ४८ ।’ इत्यधिकरणस्य कर्मसंज्ञा ॥ १६ ॥

१ अनेन वशिष्ठस्य युरो हिताधायित्वं सूचितम् । २ स्वयमभिन्नवृत्तित्वेन समस्य
ध्यवात्सुरिति सूचयितुमप्यपनेवेशः ।

ततोऽभ्यगाद् गाधिसुतः क्षितीन्द्रं रक्षोभिरभ्याहतकर्मवृत्तिः ।

रामं वरीतुं पंरिक्षणार्थं राजाऽर्जिहत् तम्मधुपर्कपाणिः ॥ १७ ॥

तत इत्यादि—तेषु रामादिषु तथाभूतेषु । गाधिसुतो विश्वामित्रः । क्षितीन्द्रं राजानमभ्यगात् अभिगतवान् । इणो गादेशः । गातिस्याधुपाभूभ्यः २ । ४ । ७७ ।' इति सिचो लुक् । रक्षोभिर्निशाचरैरभ्याहताभिमूता यागादेः कर्मणो वृत्तिः प्रवृत्तिर्यसेति । रामं वरीतुं प्रार्थयितुम् । 'वृतो वा । ७ । २ । ३८ ।' इति इटो दीर्घत्वम् । परिक्षणार्थं विहन्यमानस्य कर्मण इत्यर्थः । तं गाधिसुतम् । आर्जिहत् पूजितवान् । 'अर्हं पूजायाम्' । इति स्वार्थिकण्ठ-न्तश्चारादिको गृहते, न तु भौवादिकः । तस्माद्देतुमणिचात्र न भावितव्यम् ॥ 'णिश्रिदुम्भ्यः कर्त्तरि चद् । ३ । १ । ४८ । इति चद् णिलोपः । द्विर्वच-नेऽचि । १ । १ । ५९ ।' इति स्यानिवद्वावात् । 'अजादेद्वितीयस्य । ६ । १ । १ । २ ।' इति हिशब्दो द्विरुच्यते । रेख्य न 'नन्द्राः संयोगादयः । ६ । १ । ३ ।' इति प्रतिषेधः । चुत्वम् । आद् । वृद्धिः मधुपर्कपाणिः । दधिघृतमधून्येकी-कृतानि मधुपर्क इत्युच्यते । तस्मिन् पात्रे स्थितः पाणिर्यसेति विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदसोचरलोपः' इत्युत्तरपदलोपी समाप्तः । पात्रादुद्धृत्य मधुप-केंण पूजितवानित्यर्थः ॥ १७ ॥

ऐषीः पुनर्जन्मजयाय यत् त्वं, रूपाऽर्जिद्विवोधान् न्यवृतत्वं यत् ते ।

तत्त्वान्यवृद्धाः प्रतनूनि येन ध्यानं नृपस्तच्छिवमित्यवार्दीत् ॥ १८ ॥

ऐषीरित्यादि— मुक्तिस्तत्त्वावबोधस्तस्या ध्यानं प्रयोजनं तत्र पुनर्जन्मभूयोजनम तस्य जयाय यद्व्यानं त्वमैषीः एषितवानासि । इषेर्लुक् । मध्यमैक-वचने 'इट ईटि । ८ । २ । २८ ।' इति सिचो लोपे रूपम् । रूपादिवोधा-न्यवृततच्च । यत्ते—रूपादिषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु चक्षुरादिद्वारेण यो बोधोऽ-ध्यवसायलक्षणा बुद्धिः तस्माच्च यद्व्यानं न्यवृतत् निवृत्तम् । वृत्तेद्युतादित्वात् 'बुद्धयो लुड्हि । १ । ३ । ११ ।' इति तिप् । च्छेरड् । तत्त्वानि पञ्चविश्वातिः पुरुषयथानमहदहङ्कारादीनि । प्रतनूनि सूहमाणि येन ध्यानेनाबुद्धाः ज्ञातवानासि । बुधेनुदाचेतो लुड् । थासः सिच् 'लिङ्गसिचावात्मनेपदेषु । १ । २ । ११ ।' इति सिचः कित्त्वादुणाभावः । सिज्जलोपथत्वजश्शत्वादि । तद्व्यानं शिवं शोभनं कच्चिदिति नृपोऽवादीत् । न तस्य व्याघात इति 'वद्रज-

१ गाधे: तदाव्यस्य राजर्षे: सुवः । २ अस्यैव गाधेयेत्यपि अन्वर्था संज्ञा । 'अश्च गाधेयो विश्वामित्रश्च कौशिकः ।' इत्यभिन्नानात् । ३ कांस्यपात्रपिहितानीति शेषः ।

इलन्तस्याचः । ७ । २ । ३ । १ इति वृद्धिः । ‘धै चिन्तायाम्’ भावे ल्युट् ।
च्यानम् ॥ १८ ॥

आरुयन् मुनिस्तस्य शिवं समाधेर्विघ्नन्ति रक्षांसि वने क्रतूंश्च ।
तानि द्विषद्वर्थीनिराकारिष्णुस्तृणेहु रामः सह लक्ष्मणेन ॥ १९ ॥

आख्यादित्यादि—पृष्ठे मुनिस्तस्य समाधेर्विघ्नन्ति रक्षांसि वने क्रतूंश्च
कथितवान् । ‘चक्षिडः ख्यात् । २ । ४ । ५४ ।’ ‘अस्यातिवक्तिख्यातिभ्यो-
ङ्ग ३ । १ । ५२ ।’ इति च्लेरड् । आतो लोपः । किन्त्वयं दोषः—विघ्नन्ति
रक्षांसि वेन क्रतून् । ‘गमहनजनखनघसां लोपः किञ्च्यनङ्गि । ६ । ४ । ९८ ।’
इत्युपधालोपः । ‘हो हन्तेऽर्किङ्गेषु । ७।३।५४।’ इति कुत्वम् । किं क्रियता-
भिति चेदाह्-तानि रक्षांसि । द्विषतां वीर्यं सामर्थ्यम् । वीरेः स्वार्थिकण्यन्तात्
‘अंचो यत् । ३ । १ । ९७ ।’ इति यत् । तस्य निराकारिष्णुः निराकरण-
शीलः । ‘अलंकृशनिराकृव्यञ्जनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपत्रवृत्तुधुसहचर
इष्णुच् । ३ । २ । १३६ ।’ इतीष्णुच् तृणेहु द्विनस्तु । तृहंविर्धो लोट ।
‘एहः । ३।४।८६।’ रुधादित्यात् भ्रम् । ‘तृणह इम् । ७ । ३ । ९२ ।’ होढः ।
८ । २ । ३१ । पुर्वम् । ‘ढो ढे लोपः । ८ । ३ । १३ ।’ इति ढलोपः ।
सह लक्ष्मणेन लक्ष्मणेन सह ॥ १९ ॥

स शुश्रुवांस्तद्वचनं भुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम् ।

अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरुचे वचस्तापसकुञ्जरेण ॥ २० ॥

स इत्यादि—स राजा तस्य मुनेस्तद्वचनं शुश्रुवान् श्रुतवान् सन् सुतविप्र-
द्यागमसहिष्णुरसहनशीलो मुमोह मोहमुपगतः । शृणोते: ‘भाषायां सद्वस-
श्चुवः । ३।२।१०८।’ इत्यनेन कसुः । सुतेन विप्रयोगभिति ‘कर्तृकरणे कृता-
बहुलम् । २।१।३।२।’ इति समासः । ‘न लोकाव्ययनिष्ठा—। २।३।६९।’ इति
ष्ठृथाः प्रतिषेधः । अथानन्तरम् । अहंयुना अहंकारवता । ‘अहंशुभमार्युस्
१५।२।१४०।’ इति युस् । तापसकुञ्जरेण ‘तपःसहस्राभ्यां विनीनी । ५।२।१०२।’
इत्यनुवर्तमाने ‘अण् च ४।२।१०३।’ इति मत्वर्थेऽण् । तापसश्च स कुञ्जरश्चेति ।

१ लक्ष्मणेन सह रामस्तृणेहु इत्याख्या, इत्याख्यादित्यन्वयः इत्यध्याहार्यम् । २
तद्वचनश्रवणमात्रेण मूर्छित आसीदित्यत्र हेतुः सुतविप्रयोगसहिष्णुत्वभिति परि-
करोऽप्रस्तुतः ।

“वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् ।२।१।६२।” इति समाप्तेः तेन (तादुशेन क्षितिपो राजा । शुभंयुः कल्याणवान् । पूर्ववद्युस् । वचो वद्यमाणमूचे उक्तः कर्मणि लिट् सम्प्रसारणम् । “अहंयुनाथः” इति विसर्गान्तं पाठान्तरम् । तत्र अहंयैनां क्षत्रियाणां नाथ इति योज्यम् ॥ २० ॥

मया त्वमाप्थाः शरणं भयेषु वयं त्वयाऽप्याप्स्महि धर्मवृद्धैँ ।

क्षात्रं द्विजत्वं च परस्पराऽर्थं शङ्खांकृथा मा प्रहिणु स्वसूनुम्॥ २१ ॥

मयेत्यादि—भयेषु त्वं शरणम् आप्थाः प्राप्तोऽसि मया । आपेः कर्मणि लुङ् । सिंजलोपः । त्वयापि धर्मवृद्धैँ धर्मोपचयाय वयमाप्स्महि प्राप्ताः । पूर्ववल्लुडादि । उत्तमबहुवचनम् । सिंचो लोपाभावः । मकारस्याङ्गलत्वात् तदित्यं क्षात्रं द्विजत्वं च धर्मवृद्धैँ परस्परार्थम् अन्योन्यप्रयोजनम् । ‘कर्मव्यतिहारे सर्वनाशो द्वे भवतः । ‘समासवच्च बहुलम्’ इति यदा न समासवत् तदायम् । तस्मान्मा शङ्खां कृथाः साकार्णीः । कथमास्मिन् संकटे पुत्रं त्रियोज्ञायामीति । ‘माङ्गि लुङ् । ३।३।१७५’ अडभावः । ‘उश्च । १।२।१२’ इति कित्वादुणाभावः । ‘हस्तादङ्गात् । १।२।२७’ इति सिंचो लोपः प्रहिणु ग्रेषय । स्वं पुत्रम् । हिनोतेः प्रार्थनायां लोट् । श्चुः । अपित्वात् छित्वम् । गुणाभावः । ‘उतश्च प्रत्ययात् । ६ । ४ । १०४।’ इति हेर्लैक् ‘हिनुमीना । १।८।४।१५।’ इति णत्वम् ॥ २१ ॥

धानिष्यते तेन महान् विपक्षः स्थायिष्यते येन रणे पुरस्तात् ।

मा मां महाऽत्मनं पारिभूयोग्ये न मद्विधो न्यस्यति भारमद्यम्॥ २२॥

धानीत्यादि—अनागतर्थं ज्ञानेन समीक्ष्याह—महान्विपक्षो रावणः त्रैलोक्यविजयित्वात् । सोऽपि तेन रामेण धानिष्यते किमुतेतरे राक्षसाः । हन्तेः कर्मणि लट् । ‘स्त्रियुद्वासिषु भावकर्मणोरुपदेशोऽज्ञनप्रहवृशां वा चिष्वदिट् च । ६।४।६२।’ इति चिष्वदिट् उपधावृद्धिः । ‘हो हन्तेः—७।३।५४।’ इति कुत्वम् । पुरस्तादप्रतो यद्रणं युद्धं भावि परशुरामेण सार्वभिति भावः ।

१ अत एव ‘स्युस्तरपदे व्याघ्रपुङ्कवर्षमकुञ्जराः।’ ‘इति सिंहशार्दूलनागाद्याः उंसि श्रेष्ठार्थगोचराः।’ इति चामरः सङ्खच्छते । २ एतेन स्वाभाविकमहङ्कारित्वं सूचितम् ।

३ अत एव भगवताऽपि गीतायाम् ‘परस्परम्भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।’ इत्युपदिष्टम् । ४ एवमस्थाने सशोकेन न व्यया भवितव्यमिति सूचयितुम् महाऽत्मन् इत्युक्तम् । न हि महात्मानः सहसा तथा शुभ्यन्तीति भावः ।

तत्र येन स्थायिष्यते तेन धानिष्यते इति योज्यम् । अत्र तिष्ठतेर्भवे लट् । चिष्पदिङ्गवा । ‘आतो युक् । ७।३।३३’ इति युक् है महात्मन् महासन्त्व मा मां परिभूर्मावज्ञासीः । किमेवं वदसीति । परिपूर्वों भवतिर्निराकरणे वर्तते माद्विध इति विधानं विधा प्रकारः ‘आतश्चोपसर्गे । ३।३।१०६’ इत्यङ् । विधा भेदः साहश्यं च । इह साहश्यं गृह्णते मया विधा साहश्यं यस्येति माद्विधः । ‘श्रत्योत्तरपदयोश्च ७ । २ । ९८’ इति मदादेशः । मद्विधो मत्स-द्वशोऽन्यो न भारमग्र्यम् ‘अग्राद्यत् । ४ । ४ । ११६’ अयोग्ये असमर्थे न्यस्याति निक्षिपति । किमहं येनानागतं समीक्षितमिति भावः । योगाय ग्रभवाति योग्यः ‘योगाद्यच्च । ५ । १ । १०२ । ॥ २२ ॥

कुरुध्यन् कुलं धक्ष्यति विप्रवह्निर्यास्यन् सुतस्तप्स्यति मां समन्युम् । इथं नृपः पूर्वमवाङ्गलोचे तैतोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्यं ॥ २३ ॥

कुरुध्यन्त्यादि—यद्यहं भूतरक्षणेऽधिकृतोऽस्य वचनं न कुर्यां तदा कुरुध्य-न्त्यन् । दिवादित्वात् श्यन् । विश्रो वहिरिव । ‘उपमितं व्याप्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५६’ इति समाप्तः । धक्ष्यति कुलं भस्मसात्करिष्याति । द्वहर्लट् ‘दादे:-८।२।३२।’ इति घः । भषमावः । चत्वर्म् । घकारस्य ककारः । ‘इङ्कोः । ८।३।५७।’ इति षत्वम् यास्यनाभिष्यन्सुतो मां समन्युं सशोकं तप्स्यति सन्तापयिष्याति । तपेल्ट् ॥ इथमेवंप्रकारं नृपः पूर्वमादाववाङ्गलोचेऽवलोगचितवान् । अवाङ्गपूर्वाङ्गलोचेर्लट् तत उच्चरकालं सुतस्य गमन-मनुजज्ञे । अनुज्ञातं नृपेणेति विभक्तिविपरिणामेन तेनेति योज्यम् । कर्मणि लिट् । ‘ज्ञा अवबोधने’ इति परस्मैपदित्वात् । नचानुपूर्वादसादात्मनेपदं विहितम् ॥ २३ ॥

आँशीर्भिरभ्यर्च्य भुँनिः क्षितीन्द्रं प्रीतः प्रतस्थे पुनराश्रमाय ॥
तं पृष्ठतः प्रष्टमियाय नम्रो हिंसेषुदीप्ताऽऽसधनुः कुमारः ॥ २४ ॥

१ कुलदाहोषेक्षया वियोगातापस्याल्पकष्टदत्वात् । २ रामस्य । लक्ष्मणस्य तु गमनं तद्वमननेवै । अत एव ‘सह लक्ष्मणेन’ इति निर्दिशता मुनिना तद्वमन-अधान्यं प्रथमत एव सूचितम् । न हि लक्ष्मणो रामेण वियुज्य स्यातुं क्षमत इक्ति निश्चयश्चात्र हेतुः । अत एवं तं ‘पृष्ठतः’ इत्यादि च वक्ष्यति । ३ अत्र बहुवचनं सर्वाभिषितपूर्णं सूचयति । ४ ग्रार्थनामावेऽपि तथाऽशिषां प्रयोग एवाभ्यर्च-नम् एतेन सुतगमनानुज्ञानस्य सधो महाफलत्वं सूचितम् ।

आशीर्भिरित्यादि-रामगमनस्यानुज्ञातत्वात् प्रीतो मुनिः क्षितीन्द्रं राजान्^१
माशीभिरभ्यर्च्यं पूजयित्वा । आङ्गः शासेः किष्युपसंख्यानात् उपधाया इत्वम् ।
प्रतस्ये पुनराश्रमाय-आश्रमं पुनः प्रस्थितवान् । तिष्ठते: । ‘समवप्रविभ्यः स्थः
१।३।२।२।’ इति लिटि तङ् । प्रष्ठम् अश्रयायिनं तं ‘प्रष्ठोऽप्रगामिनि ।८।३।९।२।’^२
इति षष्ठ्यम् । पृष्ठतः पश्चात् इयाय कुमारः । इणो णलि वृद्धिरायादेशः ‘द्विर्व-
चनेऽचि ।१।१।५।१।’ इति स्थानिवद्वावाद् द्विर्वचनमिकारस्य । ‘अभ्यासस्याऽ-
स्वर्णे ।६।४।७।’ इतीयङ् । नग्रोऽनुकूलः । हिंसनशीला इषवः शराः हिंसे-
षवः । आप्तमविसंवादि यद्यनुस्तत् । हिंसेषु दीप्तमासं धनुर्यस्य कुमारस्येति
विग्रहः । अत्र ‘धनुषश्च ।५।४।१३।२।’ इत्यनङ् न भवति ‘समासान्तविधिर-
नितः’ इति । दीप्राक्षधनुरिति पाठान्तरम् । दीप्रमखं धृष्टतया यस्य धनुष-
स्तदीप्राक्षं धनुर्यस्येति सः कस्मिन्विषये हिंसेषु नान्येषु । नग्रादयो नभि-
कम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः ।३।२।१६।७।’ इति रप्रत्ययान्ताः ॥ २४ ॥

प्रयास्यतः पुण्यवनाय जिष्णो रामस्य रोचिष्णुमुखस्य धृष्णुः ।

त्रैमातुरः कृत्त्वजिताऽद्विद्वास्त्वः सङ्घयङ् रतः श्रेयसि लक्ष्मणोऽभूत् २५

प्रयास्यत इत्यादि—प्रयास्यतो गमिष्यतो रामस्य लक्ष्मणः सङ्घयङ् अभूत्
सहायीभूतः । ‘सहाच्चति इति किन अनुषङ्गलोपः’ ‘उगिदचां सर्वनामस्थाने
धातोः ।७।१।७।०। इति नुम् । हल्ड्यादिसंयोगान्तलोपौ ‘किन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।
६।२।’ इति कुत्वम् मकारस्य छकारः । ‘सहस्य सध्रिः ।६।३।५।’ इति सध्या-
देशः । पुण्यवनाय पुण्यहेतुत्वपुण्यं वनम् । गत्यर्थात् कर्मणि चतुर्थी जिष्णोः
जैयशीलस्ये ‘ग्ला-जि-स्थश्चग्न्तुः ।३।२।१३।१।’ इति ग्न्तुः । रोचिष्णु रोचन-
शीलं मुखं यस्य तस्य रामस्य पितुराज्ञया तुष्टत्वात् । अलंकृत्वनिराकृत्प्रजनो-
त्पचोत्पतोन्मदरूच्यपत्रपवृत्तुवृधुसहचर इष्णुच् ।३।२।१३।६।’ इतीष्णुच् । धृष्णुः
शत्रुविध्वंसने प्रगल्भः । ‘त्रसिंगृधिवृषीक्षिपेः कनुः ।३।२।१४।०।’ इति कनुः ।
त्रैमातुरः तिसूणां मातृणामप्यमिति तद्वितार्थविषये समासः । पश्चात् ‘मातुरुत्स-
ङ्ख्यासम्भद्रपूर्वार्याः ।४।१।१५।’ इत्यण् उत्वं च । ‘द्विगोर्लुगनपत्ये ।४।१।८।८।’
इति लुक् न भवति । स हि पिण्डद्वयप्राशनात्ताभ्यां च जनितः अखं च शखं
चेति द्रन्दुः । कृत्स्नं समग्रं जितमधिगतमस्त्रशङ्कं येनेति विग्रहः । रतेः

१ ‘यः सहाच्चति सङ्घयङ् सः’ इत्यमरः । २ जेता जिष्णुश्च जित्वरः’ इत्यमरः ।
३ ‘विभ्राद् आजिष्णुरोचिष्णू’ इत्यमरः । ४ ‘धृष्णे धृष्णुविषयातश्च’ इत्यमरः ।
५ अत्यन्तमासक्तेता इत्यभिप्रायः ।

अथेषि कल्याणे । 'प्रकृत्यैकाच् ।६।४।१६३।' प्रशस्यस्य श्रः ।५।३।६०।' इति
श्रः लक्ष्मीरित्यौणादिकः । लक्ष्मेर्मुद् ईप्रत्ययश्च । सा यस्य विद्यत इति लक्ष्मणः ।
लोमादिषु 'लक्ष्म्या अच्च' इति न प्रत्ययः अत्वं च ॥ २५ ॥

इषुमति रघुसिंहे दन्दशूकाच् जिघांसौ
धनुरारिभिरसहं मुष्ठिपीडं दधाने ।
ब्रजति पुरतरुण्यो बद्धचित्राऽङ्गुलित्रे
कथमपि गुरुशोकान् मा रुदन् माङ्गलिक्यः ॥ २६ ॥

इषुमतीत्यादि—रघुसिंहे रामे रघुषु रघुवंशभवेषु सिंह इवं शौर्यादि-
योगात् । ब्रजति सति । इषुमति सनिषङ्गे । प्रशंसायां मतुप् । तदुक्तं कौमुद्यां
‘भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशयने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति भ-
तुवादयः ।’ इति दन्दशूकान् हिंसान् । देशे ‘लुपसदचरजपजभद्हदशगृभ्यो
‘भावार्हायाम् ।३।१।२४।’ इति यड् । ‘जपजभद्हदशभञ्जपशां च’ इत्यभ्या-
सस्य नुक् । तदन्तात् ‘यजजपदशां यडः ।३।२।१६६।’ इत्यकः । ‘अतो
लोपः ।६।४।४।’ इत्यतो लोपः ‘यस्य हलः ।६।४।४।४।’ इति यलोपः ।
जिघांसौ हन्तुमिच्छौ । ‘अज्ज्ञन गमां सनि ।६।४।१६।’ इति दीर्घः । ‘अभ्यासाच्च
गमांसनि ।७।३।५५।’ इति कुत्वम् ‘सनाशंस मिक्षउः ।३।२।१६८।’ इति उः ।
‘न लोकाव्ययनिष्ठाखर्लर्थरुनाम् ।२।३।६९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधात् द्वितीयैव ।
धनुर्दधाने विभ्राणे अरिभिरसहं सोहुमशक्यम् । ‘शक्तिसहोश्च ।३।१।९९।’
इति यत् । मुष्ठिपीडं मुष्ठिना पीडयित्वा । मुष्ठिशब्दे तृतीयान्ते उपपदे ‘सप्तस्यां
चोपपीडरुधर्कर्षः ।३।४।४।’ इति णमुल् । तत्र चकारेण तृतीयानुकर्षणात् ।
वद्धं चित्रमङ्गुलित्रं येन । अंगुलिं त्रायत इति कः । पुरे तरुण्यः पुरतरुण्यः ।
‘तव्यस्नबीकक्ख्युस्तरुणतलुनानामुपसङ्घायानम्’ इति डीप् । यदि तद्वचोऽ-
र्थवत् । नो चेद्वौरादिपाठात् डोप् । रामो गत इति गुरुः शोको
यासां ताः । कथमपि मा रुदन् न रुदितवत्यः । रुदेः ‘इरितो
वा ।३।१।५७।’ इति च्छेरड् । यतो माङ्गलिक्यः मंगलप्रयोजनाः ।
तदस्येत्यनुवृत्तौ ‘प्रयोजनम् ।५।१।१०।’ इति ठब् ‘टिङ्गाणन्ध्रयसज्जद्वन्व
सात्रचत्यपठक्ठक्त्वक्त्वक्त्रपः ।४।१।१५।’ इति डीप् ॥ २६ ॥

१ अत्र परिभ्रश पदे मालिनी वृत्तम् । (ननमययथुतेयम्मालिनी भोगिलोकैः ।)
इति तलक्षणात् ।

अथ जगदुरनीचैराशिषस्तस्य विप्रा-
स्तु मुलकलनिनादं तूर्यमाजघुरन्ये ।
अभिमतफलशंसी चारु पुस्फोर बाहु-
स्तरसु चुकुवुरुचैः पक्षिणश्चाऽनुकूलाः ॥ २७ ॥

अथेत्यादि-तस्य रामस्य ब्रजतो विप्रा अनीचैर्महता ध्वनिनाऽऽशिष इष्टव-
चनानि जगदुर्गदितवन्तः । अन्ये वादकास्तूर्ये कांस्यतालपटहादिसमूहमाजघु-
स्ताडितवन्तः । 'आङो यमहनः । १ । ३ । २८ ।' इत्यात्मनेपदं न भवति ।
अकर्मकांदित्यनुर्वर्तते । तु मुलो महान्कलो मधुरो निनादो ध्वनिर्यस्येति ।
अभिमतामेष्ट फलं शंसितुं शलिं यस्य बाहोः स चारु पुस्फोर सुतरां स्फुरित-
बाहू । अत्र दक्षिणो बाहुः सामर्थ्याद्यस्यते स्वाङ्गत्वात् । अतेन सीताप्राप्तिबी-
जमुपन्यस्तम् । स्फुरतेरभयासस्य 'शर्पूर्वाः ख्यः । ७ । ४ । ६१ ।' इति ख्यः
शैषः । चत्वर्म् । पक्षिणश्च तरसु स्थिता अनुकूलाः सन्त उच्चैः सुष्ठु चुकुवुः
शूजितवन्तः । 'कु शब्दे' इत्यस्य लिटः कित्वादुवडादेशः । २७ ॥

इति श्रीन्यमङ्गलविरचितया यथमङ्गलाऽऽव्यया व्याख्याया समलङ्कृते

श्रीन्भद्रिप्रणीते रामचरिते काव्ये प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे
प्रथमो वर्गः । लक्ष्य-रूपे कथानके श्रीराम-संभवो नाम सर्गश्च ।

द्वितीयः सर्गः ।

इदानीं विजिगीषूणां कण्टकान् समुद्धर्तु शरत्काले समुद्योग इति तमेव
वर्णयन्नाह—

वैनस्पतीनां सरसां नदीनां तैजस्विनां क्रान्तिभृतां दिशां च ।
निर्याय तस्याः स पुरः समन्ताच्छ्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥ १ ॥
वैनस्पतीनामित्यादि-स रामः । तस्याः प्रसिद्धायाः प्रकृतायाश्च पुरः अयोध्याया
रन्याय निर्गत्य । समन्तात् सर्वतः शरदं ददर्श दृष्टवान् । कालसाप्रत्यक्षत्वात्
कार्याणां दर्शनात्तदर्शनमिति मन्यते । श्रियं दधानां धारयन्तीम् । केषां श्रियम्-
वैनस्पतीनाम् । पारस्करादिदर्शनात् सुट । अत्र लोकप्रतीत्या वृक्षाँ द्रष्टव्याः । न तु

१ एवं च शुभान्तरमपि भावीति सूचितम् । २ सर्गेऽस्मिन् प्राय उपजातिशङ्कनः,
तल्लुक्षणं चोक्तं प्राक् । ३ सर्वे वृक्षा इत्यर्थः । न तु वृक्षविशेषा इत्यभिप्रायः । एतेन
‘वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरुभ्याद्वैनस्पतिः ।’ इति पारिभाषिकाणां वृक्षविशेषाणां
चयवच्छेद ।

‘पक्षिणि’ इत्यौणादिकः । कुमुद्वती ‘कुमुदनडवेतसेभ्यो इमतुप् ॥४॥२८७॥’ इति इमतुप् । ‘श्ययः ॥८॥१०॥’ इति वत्वम् । उगित्त्वात् झीपै ॥ ४ ॥

वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैः सरोजैश्च निलीनभृङ्गैः ।

परस्परां विस्मयवन्ति लक्ष्मीमालोकयाच्चकुरिवाऽऽदरेण ॥ ९ ॥

वनानीत्यादि—वनानि पुष्पैर्निलीनभृङ्गैः स्थितभ्रमैः । लीयते: ‘स्वादय ओदितः ॥२॥४५॥’ इति निष्ठानत्वम् । नेत्रकल्पैः नेत्रतुल्यैः । तोयानि च सरोजैः निलीनभृङ्गैनेत्रकल्पैः । विस्मयवन्ति जातविस्मयानि । परस्परामन्योऽन्यस्य लक्ष्मीं शोभाम् आलोकयाच्चकुरिव । आदरेण तांत्पर्येण ॥ ५ ॥

प्रभातवाताऽऽहतिकाम्पिताऽऽकृतिः कुमुदतीरेणुपिशङ्गविग्रहम् ।

निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम् ॥ ६ ॥

प्रभातेत्यदि—प्रभाते यो वातस्तस्याधातेन कम्पिता चालिता आकृतिराकारो यस्याः पद्मिन्याः सा भृङ्गै निरास निरस्तवती । कुमुदतीरेणुना पिशङ्गः कपिशः विग्रहो यस्य भृङ्गस्य । कुपितेव । यथा अन्यया द्विया सहोपितं तदङ्गसंक्रान्तपरिमलकण्ठमालमात्मदयितं काचित् कुपिता निरस्यति तद्वत् । सा किमिति निरस्यति—यतो मानिनी मानवती अन्यसंगमम् अन्यया सह संगमं न सहते । आत्मसंगादन्यसंगमं न संसहते न क्षमते ॥ ६ ॥

दत्ताऽवधानं मधुलेहिगीतौ प्रशान्तचेष्ट हरिणं जिघांसुः ।

आकर्णयन्नुत्सुकहंसनादान् लक्ष्ये समाधिं न दधे मृगावित् ॥ ७ ॥

दत्तेत्यादि—मधुलेहिगीताविति मधु लेढुं शीलमेषामिति गिनिः । मधुलेहगीताविति पाठान्तरम्, तत्र लिहन्तीति लेहा: पचाद्यच् । मधुनो लेहा इति षष्ठीसमासः । मधु लिहन्तीति वा कर्मण्यण् । दत्तावधानं दत्तमानसं हरिणं प्रशान्तचेष्ट जिघांसुः हन्तुमिच्छुरपि मृगावित् व्याधः । मृगान् विघ्यतीति किप् । ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचातिवृश्चतिपृच्छतिभृजतीनां डिति च ॥१॥६॥’ इतिसम्प्र-

१ अत्र पतङ्गानां नाद एवोपारोदनमिति बोध्यम् । दिनादावित्यनेन ‘पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च’ इत्यमरोक्त्या पक्षिसूर्योभयवाच्चपतङ्गशब्दन्यासेन च तीरतौः पतङ्गनदनमेवोपारोदनमिति जातमिति तु सूच्यत एव, किं तु सूर्यो दिने कुमुदतीमप्राप्य यथा रोदिति तथा तेन समे तां प्रात्मुमिच्छन्नपि देशभेदनप्राप्य रुदितवानिवे तथां प्रतीयत हत्यपि धन्यते । २ अत्र सहोक्तिरभिव्यज्यते, समुच्चय उत्प्रेक्षा चालङ्गारै । ३ अत्र वंशस्थविलं छन्दः ‘वदन्ति वशस्थविलं जतौ जरौ इति तलक्षणात् ।

श्रुतानि । शृणोते: कर्मणि लुड् । वहतीति वहः पचायच् । गन्धस्य वह इति कुद्योगे षष्ठी समस्यते । गन्धवहो वायुराद्वायि आद्रातः । कर्मणि लुड् । अरविन्देन पद्मेन व्यतिर्षंगः संपर्कः सोऽस्ति यस्य वायोः सः । वातीति वान् वाते: शतप्रलययः । सुगन्धः । शोभनो गन्धो यस्य सः । अरविन्दव्ययः तिषङ्गत्वात् ‘गन्धस्येदुत्पूतिसुरभिभ्यः ॥५॥४॥१३५॥’ इतीकारः समाख्यानतो न भवति । ‘गन्धस्येत्वे तदेकान्तप्रहणम्’ इति वचनात् सुगन्ध आपणिक इति यथा ॥ १० ॥

लताऽनुपातं कुसुमान्यगृह्णात् स नद्यवस्कन्दभुपास्पृशच्च ॥
कुतूहलाच्चारु शिलोपेवेशं काकुत्स्य ईषत् स्मयमान आस्त ॥११॥

लतेत्यादि—‘विशिष्टप्रतिपदिस्कन्दां व्याघ्रमानसेवेयमानयोः ॥३॥४॥५॥’ इति द्वितीयान्त उपपदे णमुलिवधीयते । तत्र व्याघ्रमाने द्रव्यवचनस्य आसेव्यमाने च क्रियावचनस्य ‘नित्यवीप्सयोः ॥८॥९॥’ इति द्विर्वचनं विधियते । अत्र तु समासेनैवोक्तत्वात् नोपयुज्यत इति स्थितम् । स काकुत्स्थो रामो गच्छन् लतां लतामनुपात्य कुसुमान्यगृह्णात् गृहीतवान् । लतामनुपात्यानुपात्य च । ‘तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरम्याम् ॥२॥३॥१॥’ इति समाप्तः । प्रहेर्लङ् । भाप्रत्ययस्य, अपिदिति छित्वे ‘ग्रहिज्यावायेव्यविष्टि-विचतिवृत्तिपृच्छतिपृज्ञतीनां डितिच ॥१॥१६॥’ इति सम्प्रसारणम् । नद्यवस्कन्दमिति नदीं नदीम् अवस्कन्द सर्वा नदीमवस्कन्द हौकित्वा नदीं वा अवस्कन्दावस्कन्द, उपास्पृशत्, आचमनं कृतवान् । कुतूहलादिति सर्वत्र ग्रोञ्जयम् । चाहशीलोपवेशमिति चाहशीला चाहशीलाः उपविश्य चाहशीला उपविश्यापविश्य वा आस्त आसितवान् । आसेल्डिं रूपम् ईषत् स्मयमानः ईषद्वसन् ॥ ११ ॥

तिग्मांशुरश्चिद्गुरितान्यदूरात् प्राञ्चि प्रभाते सलिलान्यपश्यत् ।

गभस्तिधारीभिरिव द्रुतानि तेजांसि भानोर्भुवि सम्भृतानि ॥१२॥

तिग्मांश्चित्यादि—अदूरात्समीपे सलिलान्यपश्यत् । द्वशेर्लङ्डि ‘पान्ना-धमास्थान्नादाण्डदृश्यतिसार्नेशदसदां पिबजिघमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छीघौशीय-सीदाः ॥७॥८॥७॥’ इति पश्यादेशः । तिग्मांशोरादित्यस्य रशिमभिः छुरितानि रीञ्जतानि । तुक् । प्राञ्चि पूर्वस्यां दिशि अवस्थितानि । प्रपूर्वादिच्छते: ‘ऋत्व-

ग्रदधृक्षग्दिगुष्णिगद्युयुजिकुचां च । ३।२।५१ । इति किष् । अनुषंगलोपः । नपुंसकस्य नुम् । भानोरिव तेजांसि भुवि संभृतानि पिण्डीकृतानि । गम-
स्ति भिः; रश्मिभिः धाराभिरिव द्रुतानि गलितानि । धारा प्रपात इति भिद्रा
पठाद्द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

दिग्ब्यापिनीलोचनलोभनीयामृजाऽन्वयाः स्नेहमिव स्ववन्तीः ।
ऋज्वाऽऽयताः सस्यविशेषपङ्गीस्तुतोष पश्यन्वितृणाऽन्तरालाः ॥ १३ ॥

दिग्ब्यापीत्यादि—सस्यविशेषाणां शाल्यादीनां पङ्गक्तीः पश्यस्तुतोष
तुष्टवान् । दिग्ब्यापिनीः सर्वदिग्ब्यापनशीलाः । लोभयन्तीति लोभनीयाः ।
बहुलवचनात्कर्तर्यनीयः । लोचनानां लोभनीया इति षष्ठीसांसाः । मार्जनं
मृजा शुद्धिः । ‘षिद्धिदादिभ्योऽङ् । ३ । ३ । १०४ ।’ तयां, अन्वयोऽनुगमो
यासां शुद्धयनुगता इत्यर्थः । ततः स्नेहमिव स्ववन्तीः । ऋजवश्च ता आय-
ताश्च वितृणान्तरालाः उत्पादितानि नृपानि अन्तराले मध्यभागे यासां
तीः ॥ १३ ॥

वियोगदुःखाऽनुभवाऽनभिज्ञैः काले नृपांशं विहितं दद्धिः ।
आहार्यशोभारहितैरमायैरैक्षिष्ठ पुम्भिः प्रचितान्स गोष्ठान् ॥ १४ ॥

वियोगेत्यादि—पुम्भिः गोपैः प्रचितान् व्यापान् गोष्ठान् गावस्तिष्ठन्ति
र्थज्ञाति ‘सुपि स्थः । ३ । २ । ४ ।’ इति कः । ‘अस्वास्व—। ८ । ३ । ९७ ।’
इत्यादिना मूर्धन्यः । तान् स राम ऐक्षिष्ठ दृष्टवान् । अनुदातेत्त्वात्तङ् । इट् । वियो-
गदुःखस्य योऽनुभवः अनुभवनं तस्यानाभिज्ञैः तेषां पुत्रदारैः सहैव सर्वत्र गम-
नात् एतावता कालेन एतावदेयमिति विहितं कृतम् । ‘दधातेर्हि’ । नृपांशं
करं दद्धिः । आहार्या कटकादिभिः आहरणीया शोभा दीप्तिः तया रहितैः ।
अमायैः ऋजुभिः । आहार्येति, ‘ऋहलोर्ण्यत् । ३ । १ । १२४ ।’ इति प्यत्
शोभयतीति शोभा पचाद्यच् । ‘प्यासश्रन्थो युच् । ३ । ३ । १०७ ।’ इति
युच् न भवति, तस्य छीर्लिङ्गे भावे अकर्तरि च कारके विधानात् । नन्द्यादि-
पाठात् ल्युर्न भवति, तस्य ‘वाऽसल्पोऽविद्याम् । ३ । १ । ९४ ।’ इति विक-
लिपत्वात् । अथवा शोभनं शोभा छीर्लिङ्गे भावे घञ् । ’ ‘कृत्यल्युटो बहु-
ल्यम् । ३ । ३ । १३१ ।’ इति बहुलवचनादन्येऽपि कृतः प्राप्नमपि स्वाभिधेय-
व्यमिचरन्ति ॥ १४ ॥

खीभूषणं चेष्टितमप्रगल्भं चारुण्यवकाण्यपि वीक्षितानि ।

ऋजुंश्च विश्वासकृतः स्वभावान् गोपाङ्गनानां मुमुदे विलोक्य १५
खीभूषणमित्यादि—गोपाङ्गनानां चेष्टितं गमनागमनादि । अप्रगल्भं
लज्जावत् । तच्च खीभूषणं खीणामलङ्घारः तथा वीक्षितानि विलोकितानि
अवकाण्यपि कटाक्षादिरहितान्यपि चारुणि शोभनानि । स्वभावान् स्वाभि-
प्रायान् ऋरुन् अकुटिलान् विश्वासकृतो विश्वासस्य जनकान् विलोक्य मुमुदे
हृष्टवान् । स रामः । लिटोऽपित्त्वात्किञ्चत्वे गुणाभावः । कार्याणां दर्शनात् स्व-
भावानां दर्शनमित्युक्तम् ॥ १५ ॥

विवृतपार्थं रुचिराङ्गहारं समुद्दहच्चारुनितम्बरम्यम् ।

आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपाङ्गनानृत्यमनन्दयत्तम् ॥ १६ ॥

विवृतेत्यादि—गोपाङ्गनानां दधिमन्थनाय यत् स्थानं कृतं तत् नृत्यमिवैति
गोपाङ्गनानृत्यं कर्तुं तं रामम् अनन्दयत् सन्तोषितवत् । नन्देष्यन्तस्य लड्ठ-
रूपम् । विवृते तिर्यक् चलिते पार्थं यत्र नृत्ये । रुचिरः शोभनोऽङ्गहारोऽङ्ग-
विक्षेपो यत्र । समुद्दहता तिर्यक् समुद्दहता चारुनितम्बेन कटिभागेन
रम्यं मनोहरम् । आमन्द्र ईषद्रम्भीरो यो मन्थकृतो ध्वनिः तेन दत्तस्तालो
यत्र ॥ १६ ॥

विचित्रमुच्चैः प्लवमानमारात् कुतूहलं त्रस्तु ततान तस्य ।

मेघाऽत्ययोपात्तवनोपशोभं कदम्बकं वातमजं मृगाणाम् ॥ १७ ॥

विचित्रमित्याद—मृगाणां कदम्बकं वृन्दं तस्य रामस्य कौतूहलं ततान
विस्तृतवत् । विचित्रम् कृष्णश्वेतत्वात् । उच्चैः प्लवमानम् ऊर्च्छ्वं जिहानम् ।
आरात् समीपे । त्रस्तु त्रसनशीलम् । ‘त्रसिगृधिवृषिक्षेपः कनुः ।३।२।१४०।’
इति कनुः । मेघाययेन मेघापगमेन उपात्तवनोपशोभम् । उपात्तं गृहीतं वनम्
उपशोभा च येनेति व्यधिकरणबहुत्रीहिः । वातमजति वातमजम् । बाताभि-
मुखं गच्छतीत्यर्थः । ‘वातशुनीतिलशर्धेष्वजघेद्गुदजहातिभ्य खश्’ इति खश् ।
अरुद्धिष्वद्जन्तस्य मुम् ।६।३।६७।’ इति मुम् ॥ १७ ॥

सिताऽरविन्दप्रचयेषु लीनाः संसक्तफेनेषु च सैकतेषु ॥

कुन्दाँवदाताः कलहंसमालाः प्रतीयिरे श्रीत्रसुखैर्निनादैः ॥ १८ ॥

१ इदं प्रकृतानुप्रसक्तम् । २ उद्येष्वा ध्वन्यते । ३ अत्र गम्योपमा ।

सितेत्यादि—सितारविन्दानां प्रचयेषु समूहेषु । ‘एरच् । ३।३।५६। इत्यच्
 ‘सङ्घे चानौत्तराधर्ये । ३ । ३ । ४२ । ’ इति घबकौ न भवतः प्राणिषुः
 सङ्घशब्दस्य रूढत्वात् । लीनाः कलहंसमालाः । तथा संसक्फेनेषु च सैकतेषु
 पुलिनेषु लीनाः । सिकता येषु विद्यन्त इति । ‘देशे लुबिलचौ च । ५ । १ ।
 १०५ । ’ इति चकारादण् । कुन्दावदाताः कुन्दभिवावदाताः शुक्लाः । ‘उपमा-
 नानि सामान्यवचनैः । २ । १ । ५५ । ’ इति समासः । प्रतीयिरे ज्ञाताः ।
 तेन रामेणेति विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः । कर्मणि लिट् । ‘इणो यण् ।
 ६ । ४ । ८१ । ’ इति यण् । द्विर्वचनेऽचि । १ । १ । ५९ । ’ इति स्थानिवद्धा-
 वाद्विर्वचनम् । श्रोत्रसुखैर्मधुरैर्ननादैः करणभूतैः । ‘नौ गदनदपठस्वनः
 ३ । ३ । ६४ । ’ इति घब् ॥ १८ ॥

शरद्वर्णनमुपसंहरन्नाह—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥ १९ ॥

न तज्जलमित्यादि—किन्बहुनोक्तेन सर्वथा न तज्जलं यत् सुचारुपङ्कजं न
 बूम्बव । पङ्कजमपि यदलीनषट्पदं तदपि न । असौ षट्पदोऽपि तथाविधो
 नाभूत् । यः कलं मधुरं न जुगुञ्ज न गुञ्जितवान् । ‘गुजि अव्यक्ते
 शब्दे’ । ‘इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ । ’ इति नुमि लिटि रूपम् ।
 गुञ्जितमपि तत् नैवासीत् । यन्मनो न जहार न हृतवत् । रामस्य लोकस
 वाँ ॥ १९ ॥

तं यायजूकाः सह भिक्षुमुख्यै तपः कृशाः शान्त्युदकुमभहस्ताः ।

यायावराः पुष्पफलेन चाऽन्ये प्राणञ्चुरच्चर्या जगदर्चनीयम् ॥ २० ॥

तमित्यादि—यायजूकाः, अत्यर्थं यजनशीलाः । ‘यजजपदशां यङ्गः
 ३ । २ । १६६ । ’ इत्यूकः । ‘अतो लोपः । ६ । ४ । ४८ । ’ ‘यस्य हलः
 । ६ । ४ । ४९ । ’ ते तपोवनस्थितास्तं राममागच्छन्तमानचुः सुष्ठु पूजित-
 वन्तः । अर्चेलिटि द्विर्वचनम् । अत आदैः । ७ । ४ । ७० । ’ इति दीर्घत्वम् ।
 तस्मन्तुड द्विहलः । ७ । ४ । ७१ । ’ इति नुद् । सह भिक्षुमुख्यैः । भिक्षण-

१ अत्र वंशस्थविलं छन्दः तलक्षणं चोक्तं प्राक् । एकावल्यलङ्गारश्च ‘स्याप्यते
 अशोहते वाऽपि यथापूर्वं परं परम् । विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विवाः’
 इति’ तलक्षणात् । प्रकृते उत्तराधोति विशेषः । २ ‘भिक्षुः परिचाद् कर्मन्दी
 पाराशर्चर्यपि मस्करी’ इत्यमरः ।

शीला भिक्षवः परिब्राजकाः । 'सनाशंसभिक्ष उः । ३ । २ । १६८ ।' तेषां
ये प्रधानानास्तैः सह । तपःकुशाः तपसा दुर्बलाः । शान्त्यर्थमुदकं तेन पूर्णः
कुम्भः । 'एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् । ६ । ३ । ५९ ।' इति उदक-
स्य उद्भावः । स हस्ते यथामिति बहुत्रीहिः । परीनिपातश्चात्र वाहिताग्न्या-
दिदृशीनात् । प्रहरणार्थेभ्य इति वा । शान्त्युदकुम्भस्त्वहितनिवारणसाधम्यात्
उपचारेण प्रहरणम् । ते शिरःसूदकदानेन प्राणर्चुः । अन्ये मुनयो यायावरं
एकत्रानियतनिलयाः । यातेर्यडन्तात् 'यश्च यडः । ३ । २ । १७६ ।' इति
वरचू । अतो लोपादि । पुष्पफलेन प्राणर्चुः पुष्पाणि च फलानि चेति
'जातिरप्राणिनाम् । २ । ४ । ६ ।' इत्येकवद्वावः । अर्च्या अर्चनाहर्षः । 'अहं
कृत्यतृचश्च । ३ । ३ । १६९ ।' अर्चनीयमित्यत्रापि । जगतां जगद्विर्वा,
अर्चनीयम् । 'कृत्यानां कर्तव्यं वा । २ । ३ । ७१ ।' इति पक्षे षष्ठी । न तु
'कर्तुकर्मणोः कृति । २ । ३ । १५ ।' इति षष्ठी ॥ २० ॥

विद्यामथैनं विजयां जयां च रक्षोगणं क्षिप्तुमविक्षताऽऽत्मा ।

अध्यापिपदाधिसुतो यथावन्निधातयिष्यन्युधि यातुधानान् ॥२१॥

विद्यामित्यादि—तपोवनं प्राप्तः गाधिसुतः एनं रामम् 'द्वितीयाटौस्वेनः
२ । ४ । ३४ ।' इत्येनादेशः । विद्यां नान्ना विजयां जयां च । यथावत्
यथाविधि । अध्यापित् पाठितवान् । 'णौ च संश्लेषोः । ६ । १ । ३१ ।'
इति गाढभावपक्षे रूपम् । अधिपूर्वादिङो हेतुमणिच्च 'क्रीड़जीनां णौ ।
६ । १ । ४८ ।' इत्यात्वम् । पुगादिविधयः । रक्षोगणं । क्षिप्तुं प्रेरयितारम्
'त्रसिगृधिवृधिक्षिपेः कुः । ३ । २ । १४० ।' इति कुः । 'न लोकाव्यय-
निष्ठाखलथैरुनाम् । २ । ३ । ६९ ।' इति षष्ठीप्रतिषेधात् द्वितीयैव । अविक्ष-
तात्मा रागादिभिरनभिभूतचित्तवृत्तिः । तस्य हि विद्या असोधा भवति । युधि
संप्राप्ते । यातुधानान् रक्षांसि । निधातयिष्यन् मारयिष्यन् । हन्तेहेतुमणिच्च ।
घर्त्वं । लट् लटः सदादेशः ॥ २१ ॥'

आयोधने स्थायुकमख्जातममोघमम्यर्णमहाऽहवाय ।

ददौ वधाय क्षणदाचराणां तस्मै मुनिः श्रेयसि जागरूकः ॥२२॥

आयोधन इत्यादि—स मुनिः तस्मै रामायाख्जातम्, अख्समूहं ददौ
दत्तवान् । ददातोर्लिंद् । णल् 'आत औणलः । ७ । १ । ३४ ।' आयुधयन्ते
अस्मिन्निति आयोधनं संप्राप्तमः । अधिकरणे लयुट् । तत्र स्थायुकं स्थितिकरण-

१ निराकरिष्णुः क्षिप्तुः स्थात् इत्यमरः ।

शीलम् । जयावहत्वात् । ‘ लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्याउकव्य
१३।२।१५४।’ इति उक्तव् । आतो यक् । अत एवामोघम् अवन्ध्यम् ।
अवृथामोक्षत्वात् । अभ्यर्णों निकटो महाहवो यस्य तस्मै । अभिपूर्वादर्दें-
र्निष्ठायाम्, ‘अभेश्चाविदूर्यैः ३।२।२५।’ इतीद्युप्रतिषेधः । ‘रदाभ्यां निष्ठातो
नः पूर्वस्य च दः । ८।२।४२।’ इति नत्वम् । अभ्यर्णः । आहव इति, आहूयन्ते
अस्मिन्द्युद्धायेति ह्यतेराङ्गपूर्वात् ‘आङ्गि युद्धे । ३।३।७३।’ इति सम्प्रसारणम् ।
अप् प्रत्ययः, गुणावादशौ । वधाय क्षणदाचराणामिति, क्षणदा रात्रिः तत्र
चरन्तीति, ‘चरेष्टः ३।२।१६।’ इति तेषां रक्षसामिल्यर्थः । तत्र हि^२ महाहवे
रामो राक्षसान् हनिष्यतीति । ‘हनश्च वधः । ३।३।७६।’ इति वधादेशः ।
कृत्प्रयोगे क्षणदाचराणामिति कर्मणि षष्ठी । श्रेयसि जागरूकः तत्कल्याणे
सावधानः । जागरेत्तरुकैः ॥ २२ ॥

तं विप्रदर्शं कृतधातयता यान्तं वने रात्रिचरी डुढौकै ।

जिधांसुवेदं धृतभासुराऽन्नस्तां ताडकाऽरुद्यां निजधान रामः॥२३॥
तमित्यादि—विद्यामखजातं चादाय यज्ञकर्मणि विद्वोपशमनार्थं वने
यान्तं रामम् रात्रिचरी राक्षसी ताडकाभिधाना डुढौकै ढौकते स्म । ढौकते-
रात्मनेपदिनो लिटि रूपम् । तां च रामो निजधान निहतवान् । विप्रदर्शं
कृतधातयता विप्रान् ब्राह्मणान् दृष्ट्या कृतमारणाभियोगा रात्रिचरी । रामोऽपि
जिधांसुवेदं धृतभासुराख्यः । जिधांसु विदित्वा धृतं भासुरं भासनशीलम् अखं
येनेति बहुत्रीहिः । विप्रदर्शं जिधांसुवेदमिति ‘कर्मणि हाशिविदोः साकल्ये
३।४।२९।’ इति णमुद् ॥ २३ ॥

अथाऽलुलोके^३ हुतधूमकेतुशिखाऽञ्जनस्त्रिग्रसमृद्धशाखम् ।

तपोवनं प्राघ्ययनाऽभिभूतसमुच्चरच्चारुपतत्रिशिञ्चम् ॥ २४ ॥

अथेत्यादि—अथासौ रामो राक्षसीं हत्वा तपोवनम् आलुलोके हृष्टवान् ।
कथम्भूतम् । हुतधूमकेतुशिखाऽञ्जनस्त्रिग्रसमृद्धशाखम् । हुतश्चासौ धूमकेतुर-
ग्रिमश्च हुतधूमकेतुः । तस्य शिखाञ्जनेन स्त्रिग्राः समृद्धाश्च फलादिना शाखा
यस्य तपोवनस्य । प्राघ्ययनेन वेदपाठेन अभिभूता तिरस्कृता समुच्चरन्ती
चार्वा शोभना पतत्रिणां पक्षिणां शिजा ध्वनिर्यत्र । ‘शिजि अव्यक्ते शब्दे ।’

१ ‘त्रियामा क्षणदा क्षपा’ हृत्यमरः । २ यतो विश्वामित्रयज्ञे हृत्यर्थः ।
३जागरणपरा हि सावधानो भवतीति हृष्टचरम् । ४ ‘अथालुलोच्च इति पाठान्तरम् ।

शिखनं जिज्ञा ‘गुरोश्च हलः ।३।३।१०३’ इत्यकारप्रत्ययः । पतन्ते
त्रायन्त इति पतत्राणि पक्षाः । ‘आतेऽनुपसर्गे कः ।३।२।३’ । तानि येषां
सन्तीति पतत्रिणः । पतङ्गशिखामिति पाठान्तरम् ॥ २४ ॥

क्षुद्रान्ब जक्षुर्हरिणान्मृगेन्द्रा विश्वसे पक्षिगणैः समन्तात् ।

नन्नम्यमानाः फलदित्सयेव चकाशिरे तत्र लता विलोलाः ॥ २५ ॥

क्षुद्रानित्यादि—तत्र तर्स्मस्तपोवने तपोधनानां मित्रभावात् क्षुद्राने-
तरानपि हरिणान्मृगेन्द्राः सिंहाः न जक्षुः । न वाधितवन्तः । क्षुद्यन्त इति
क्षुद्राः । स्फायितच्चीत्यादिना औणादिको रक्त । ‘लिट्यन्यतरत्याम् ।२।४।४०’
इति अदेवर्घस्त्वर्थ । ‘गमहनजनखनघसां लोपः क्लिन्यनाडि ।६।४।९८।’ इत्यु-
पवालोपः ‘खरिच । ८। ४। ५५।’ इति चत्वर्म् । शासिवसिघसीनां च
।१।३।६०।’ इति षत्वम् । पक्षिगणैः समन्तात्सर्वत्र विरुद्धैरपि काकालूका-
दिभिः परस्परं विश्वसे विश्वस्तम् । भावे लिट् । लताश्च विलोलाश्चपलाश्चका-
शिरे शोभन्ते स्म । फलदित्सयेव मुनिभ्यः फलं दातुमिच्छयेव यन्नम्य-
मानाः अत्यर्थ नमन्त्यः । दातुमिच्छा दित्सा । ददातेः सन् । ‘सनि मीमांसुरभ-
लभशकपतपदामच इसाण।४।५४।’ इति इसुः ‘अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।७।४।५।८।’
इति अभ्यासलोपश्च । ‘सः स्यार्थातुके ।७। ४। ४९।’ इति सकारस्य
तकारः । ‘अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२।’ इत्यकारप्रत्ययः । फलानां दित्सेति कर्मणि
षष्ठीं विधाय कुद्योगे समाप्तः । नन्नम्यमाना इति नमेर्याङ्गि ‘नुगतोऽनुनासिंका-
न्तम्य ।७।४।८५।’ इति तुक् । यज्ञन्ताच्छानच् । आने सुक् ॥ २५ ॥

अपूपुजन्विष्टरपाद्यमाल्यैरातिथ्यनिष्णा वनवासिमुख्याः ।

ग्रत्यग्रहीष्टां मधुपर्कमिश्रं तावासनाऽऽदि क्षिंतिपालपुत्रौ ॥ २६ ॥

अपूपुजन्वित्यादि—वनवासिमुख्याः महर्षयो विष्टरादिभिः अपूपुजन् पूजि-
तवन्तः । तौ क्षितिपालपुत्रावित्यर्थात् द्वितीयान्तेन योज्यम् । वनवासीति शय-
वासवासिष्वकालात् । ६। ३। १८।’ इति विकल्पेन सप्तम्या अलुक् ।
पूजेः स्वार्थकण्णन्तस्य पौ चल्लिहस्तः । ‘दीर्घों लघोः ।७। ४। ९४।’ इति
अभ्यासस्य दीर्घः । विष्टरमासनम् । ‘वृक्षासयोर्विष्टरः ।८। ३। ९३।’ इति
निपातनात् । पाद्यं पादार्थमुद्दिकम् । ‘पादार्थाभ्यां च ।५। ४। २५।’ इति
यत् । तदर्थेत्वात्पद्मवाभावः । माल्यानि कुमुसानि । मालायां साधूनि । ‘तत्र
साधुः ।४। ४। ९८।’ इति यत् । आतिथ्यनिष्णाः आतिथ्यर्थम् आतिथ्यम् ।
‘अतिथेव्यः ।५। ४। २६। तत्र निष्णाः कुशलाः । ‘निनदीभ्यां सनाते:

कौशले । ८ । ३ । ८९ ।' इति षत्वम् । तौ च क्षितिपालपुत्रौ रामलक्ष्मणौ
तदासनादि प्रत्यप्रहीष्टां प्रतिगृहीतवन्तौ । प्रतिपूर्वाद् प्रहेर्लङ् । तसस्ताम् ।
‘प्रहोऽलिटि दीर्घः । ७ । २ । ३७ ।' इति दीर्घः । षत्वण्डुत्वे । मधुपर्कमिश्रम्
मधुपकेण सहेत्यर्थः ॥ २६ ॥

दैत्याऽभिभूतस्य युवामवोऽं मग्नस्य दोर्भिर्भुवनस्य भारम् ।
हर्वीषि सम्प्रत्यपि रक्षतं तौ तपोधनैरित्यमभाषिषाताम् ॥ २७ ॥

दैत्येत्यादिः—दितेरपत्यानि दैत्याः । ‘दित्यादित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः । ४
१ । ३ । ८५ ।' इति प्यः । तैराभिभूतस्य मग्नस्य शरण्यस्य भुवनस्य भारमिति
कर्तव्यतालक्षणं दोर्भिर्भुजैः युवामवोढम् उठवन्तौ । नरनारायणौ युवामित्यु
क्तौ । त्वं च त्वं चेति एकशेषः । अवोढमिति वहेर्लङ् । थसस्तम् । हलन्तल-
शणा वृद्धिः । सिज्ज्लोपाः । ‘सहिवहोगेदवर्णस्य । ६ । ३ । ११२ ।’ इत्योत्तरम् । दृत्वण्डु-
त्वदलोपाः । दोरिति दमेडोर्भित्यैणादिको ढोस् । हर्वीषि होतव्यानि । सम्प्र-
त्यपि रक्षतम् । अर्चिरचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिरित्यैणादिक इसिः ।
रक्षसैरुपहन्यमानानि रक्षतम् । प्रार्थनायां लोहू । शप् । थसस्तम् । इत्थमि
ति ‘इदमस्थमुः । ५ । ३ । २४ ।’ अनेनोक्तप्रकारेण । तपोधनैस्तप एव धनं
केषमिति । अभाषिषाताम् अभिहितौ । भाषते: कर्मणि लुङ् । सिजिटौ ॥ २७ ॥

तान्प्रत्यवादीदय राघवोऽपि यथेष्टितं प्रस्तुत कर्म धर्मपम् ।

तपोमरुद्धिर्भवतां शराऽग्निः संधुक्षयतां नोऽरिसमिन्धनेषु ॥ २८ ॥

तानित्यादि—अथैतर्थिन् प्रस्तावे राघवोऽपि रघुसुतः तान्मुनीन् प्रत्यवादीत्
‘बद्रब्रजहलन्तस्याचः । ७ । २ । ३ ।’ इति वृद्धिः । यथेष्टितं यथाभिमतम् ।
आप्रोते: ‘आपृज्ञाप्यवृधामीत् । ७ । ४ । ५५ ।’ इतीत्त्वम् अभ्यासलोपश्च । सन्न-
न्तात्कर्मणि निष्ठा । धर्मादनपेतं धर्म्यम् यागादि कर्म । प्रस्तुत प्रारभच्चम् ।
प्रपूर्वः स्तौतिः प्रारम्भे वर्तते । तस्मान्निमन्त्रणे नियोगकरणे लोट् । थस्य तः ।
श्चपो लुङ् । तपांसि मरुत इव तपोमरुद्धिः । भवतां तपोमरुद्धिर्नोऽल्माकम् ।
‘बहुत्रचनस्य वसन्सौ । ८ । १ । २१ ।’ इति नसादेशः । शराग्निः शरोऽग्नि-
रिव । संधुक्षयतां दीप्यताम् । ‘घुक्ष, धिक्ष, सन्दीपनक्षेदनजीवनेषु ।’ तस्मा-
त्कर्मणि लोट् । अरिसमिन्धनेषु अरिकाष्टेषु । समिध्यते एभिरितिं समिन्धना-
ति । करणे ल्युट् । अरयः समिन्धनानीव ॥ २८ ॥

प्रतुष्टुबुः कर्म ततः प्रकल्पैस्ते यज्ञिर्यैद्रव्यगणैर्यथावत् ।

दक्षिण्यादिष्ठं कृतमार्त्तिजीनैस्तद्यातुधानैश्चित्ते प्रसर्पत् ॥ २९ ॥

प्रतुष्टुतुरित्यादि—ततो रामवद्यनादनन्तरं तपोधनाः कर्म यागक्रियां प्रतु-
ष्टुतुः । यथावत् यथाविविष्टा ग्राव्यवन्तः । यज्ञियैः यज्ञकर्माहैः द्रव्यगणः प्रकल्पः
मिलितैः । ‘कृपो रो लः ॥१२।११॥’ दक्षिणामहन्तीति दक्षिण्याः महामुनयः ।
‘कड़कड़दक्षिणाच्छ च ॥५।१।६९॥’ इति चकाराद्यत् । तैर्दृष्टमुक्तम् ।
कृतमात्विजीनैः । ऋत्विक्माहैरनुष्टितम् । ऋत्विजश्च ब्रह्मादयः षोडश पठिताः
तच्च कर्म प्रसर्पत् वृद्धिं गच्छन् । यातुधानै राक्षसैः चिचिते ज्ञातम् । ‘चिती
संज्ञाने’ इत्यस्मात् कर्मणि लिट् । यज्ञियैरार्त्तिजीनैरिति ‘यज्ञर्त्तिगम्यां घखबौ
॥५।१।७१॥’ इति तत्कर्माहृतीति ॥ २९ ॥

आपिङ्गलक्षोर्ध्वशिरस्यबालैः शिरालजड्वैर्गिरिकूटदम्बैः ॥
ततः क्षपाऽटैः पृथुपिङ्गलाऽक्षैः स्वं प्रावृषेण्यैरिवं चाऽऽनशेऽब्दैः ॥ ३० ॥

आपिङ्गेत्यादि—ततः कर्मप्रवर्तनादनन्तरम् । क्षपाटैः निशाचैः । अ-
दन्तीत्यटा: पचाद्यच् । क्षपायामटा इति समरीति योगविभागत् समासः ।
स्वलमाकाशमानशे व्याप्तम् । अश्रोतैः कर्मणि लिट् । ‘अश्रोतेश्च ॥७।४।७२॥’
इति नुट् । शिरसि जाताः शिरस्त्याः । ‘शरीरावयवाद्यत् ॥५।१।६॥’ इति लच् ।
आपिङ्गा आ समन्तात् पिङ्गा विद्युदिव । रुक्षाः सूक्ष्माः उर्ध्वशिरस्या बाला
येषां तैः अन्योऽपि शिरस्यो भवति इति बालप्रहणम् । अमंगलबाला इत्यर्थः ।
शिरा: सन्ति यासामिति ‘प्राणिस्यादातो लज्जन्यतरस्याम् ॥५।२।१६॥’ इति लच् ।
शिराला जड्वा येषां तैः । गिरिकूटदम्बैर्गिरिकूटप्रमाणैः । ‘प्रसाणे द्वयसच्चदम्ब-
व्यमात्रत्वः ॥५।२।३७॥’ इति दम्बच् । पृथूनि विस्तीर्णानि पिंगलानि चाक्षीणिं येषां
तैः । ‘बहुत्रीहौ सकृद्धणोः स्वाङ्गात्यच् ॥५।५।११॥’ इति चच् । प्रावृषेण्यैरिवेति
प्रावृष एण्यः ॥४।३।१७॥’ अब्दैमेवैः कृष्णसाधम्यात् । अपो इदतीति अब्दाः ।
चकारः पादपूरणार्थः ॥ ३० ॥

अधिज्यचापः स्थिरबाहुमुष्टिरुदञ्चिताऽक्षोऽञ्चित दक्षिणोरुः ।

ताँलुक्ष्मणः सन्नतवामजड्वो जघान शुद्धेषुरमन्दकर्षी ॥ ३१ ॥

अधीत्यादि—तान् क्षपाटान् गगनस्थान् लक्ष्मणो जघान हतवान् । की-
च्चशः अधिज्यचापः । अध्यारूढा उक्तलिता द्या गुणो यस्य चापस्य तदवित्त-
स्यम् । प्रादिभ्यो धातुजस्येति समासः । अधिज्यं चापं यस्य लक्ष्मणस्य ।
स्थिरो निश्चलो बाहुर्मुष्टिश्च यस्य । उदञ्चिते उत्क्षिते अक्षिणी येन स उदञ्चि-
ताक्षः । आकाशस्यापितदृष्टिरित्यर्थः । अञ्चितः सङ्कोचितो दक्षिणोरुर्येन-

१ इदमुपभाषोत्कम् ।

सोऽन्वितदक्षिणोरुः । अच्चेः पूजायामितीटोऽनुत्पन्नत्वात् एवन्तस्य रूपम्
न चात्र पूजा गम्यते, किन्तु गतिविशेष एव । अनुषङ्गलोपोऽपि न भवति णि
लोपस्य स्थानिवद्वावात् । समन्तात् नता वामजङ्घा यस्य स सन्ततवामजङ्घः ।
शुद्धेषुः निशितवाणः । अमन्दमत्यन्तं ऋषुं शीलमस्यासावमन्दकर्णी । कर्णा-
न्ताकृष्टचाप इत्यर्थः ॥३१॥

गाधेयदिष्टं विरसं रसन्तं रामोऽपि मायाचणमस्तुञ्चुः ।

स्थास्तुं रणे स्मेरमुखो जगाद् मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम् ॥ ३२ ॥

गाधेयेत्यादि—गाधेयपस्यं गाधेयो विश्वामित्रः । द्वयच इत्यनुवर्तमाने
‘इतश्चानिवः ।४।१।१२२’ इति ढक् । तेन दिष्टं कथितं मारीचं नाम राक्षसं
रामो जगाद् गादितवान् । रसन्तम् वदन्तम् । विरसमश्राव्यमिति क्रियाविशे-
षणम् । मायाचणं मायया वित्तम् । अस्तुञ्चुः अस्तैः प्रतीतो रामः । तेन वित्त-
शुच्चुपचणपौ ।५।२।२६।’ इति । स्थास्तुं रणे स्थितिशीलम् । तस्य सेनापति-
त्वात् । स्मेरमुखः चित्तस्याक्षोमादीषद्वसनशीलवदनः । ‘नमिकम्पिस्म्यजसकम्
हिंसदीपो रः ।३।२।१६।’ इति रः । उच्चैस्तरां जगादेति क्रियाविशेषणम् ।
वचनं वक्ष्यमाणं महार्थं प्रधानार्थम् । ब्रुविशासत्यत्र ब्रुवीत्यर्थमहणाद्वि-
कर्मकता । मारीचं वचनं च ॥३२॥

आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैराणां फलेग्रहीन् हंसि वनस्पतीनाम् ।

शौबस्तिकत्वं विभवा न येषां ब्रजन्ति तेषां दयसे न कस्मात् ३॥

आत्मेत्यादि—नराणां पिशितैर्मासैः आत्मानं बिभर्णि पुण्णासि ।
नान्यदपि शरीरस्थितिहेतुभवतीति भावः । स त्वमात्मम्भरिः आत्मभरणाय
फलानि गृह्णन्ति ये वनस्पतीनां तान् फलेग्रहीन् फलाशिनो मुनीन् हंसि
आरयसि । शपो लुक् । ‘फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ।३।२।२६।’ इति निपातितौ ।
श्वो भवितारः शौबस्तिकाः । ‘ध्वसस्तु च ।४।३।१५।’ इति ठब् तुडागमश्च ।
द्वारादित्वादैजागमः । शौबस्तिकत्वं तद्येषां विभवा न ब्रजन्ति तेषामश्वस्त-
निकवृत्तीनां कस्मान्न दयसे न रक्षसि । ‘अधीर्गर्थदयेशां कर्मणि ।२।३।५२।’
इति कर्मणि षष्ठी ॥ ३३ ॥

अद्वो द्विजान् देवयजीनिहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतनराऽधिवासम् ।

धर्मो ह्ययं दाशरथे निजो नो नैवाऽध्यकारिष्महि वेदवृत्ते ॥३४ ॥

१ ‘ उभो त्वात्मम्भरिः कुक्षिम्भारिः स्वोदरपूरके ।’ इत्यमरः ।

अुच्च इत्यादि—राक्षसः प्राह । द्विजान् ब्रह्मणक्षत्रियवैश्यान् अद्यो भक्षयामः
देवधर्जीन् देवान् यजन्ति आराधयन्ति ये तान्निहन्मः । ‘अच इः’ इत्यनुवर्तमाने
खनीत्यादिष्ठूमानेष्वौणादिकेषु सूत्रेषु यद्यपि यजिर्न पठितस्तथापि
प्रकृतेश्च तदूष्मिति वचनात् । ‘जासिनिप्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम्
।२।३।५६।’ इत्यत्र सङ्घातविगृहीतविपर्यस्तग्रहणात् षष्ठी प्राप्तापि न भवति ।
कर्मणः शेषत्वेनाविवक्षितत्वात् । पुरं नगरं प्रेतनरणां मृत्तनराणाम् । अधिवा-
समवस्थानं कुर्मः । नियहननेन इमशानतुल्यभियर्थः । कस्मादेवमित्यतआह—धर्म
इति । दशरथस्यापत्यं दाशरथिः । ‘अत इच् ।१।११५।’ इतीव् । हे दाशरथे ।
हि यस्मादर्थं वर्तते । यस्मादर्थं धर्मः आचारः । मिजो नित्यः । न इत्य-
स्माकम् । वेदविरुद्ध इति चेत्—नैवाद्यकारिष्माहि वेदवृत्ते । वेदविहितं वृत्त-
मिति मध्यमपदलोपी समासः । यद् ब्राह्मणानामुक्तमनुष्ठानं तत्र वर्यं नैवा-
ध्युता इत्यर्थः । अधिपूर्वात्करोते कर्मणि लुङ् । ‘स्यसिच्चसीयुट्तासिषु भावक-
र्मणोरुपदेशोऽज्ञानप्रहृशां वा चिष्वादिद् च ।६।४।६।२।’ इति चिष्वादिद् ।३।४॥

धर्मोऽस्ति सत्यं तव राक्षसाऽयमन्यो व्यतिस्ते तु ममाऽपि धर्मः ।
ब्रह्मद्विषस्ते प्रणिहन्म येन राजन्यवृत्तिर्धृतकार्मुकेषुः ॥ ३५ ॥

धर्म इत्यादि—रामः प्राह । हे राक्षस । रक्ष एव राक्षसः । प्रजादित्वादण् ।
स्वार्थिका अतिवर्तन्त इति पुँछिंगता । तवार्यं पूर्वोक्तः पराभिद्रोहलक्षणो धर्मो-
ऽस्तीति सत्यमेतत् । किन्तु ममापि रामस्य अन्यो धर्मोऽशिष्टनिप्रहलक्षणो
व्यतिस्ते व्यतिभवते । इदमुक्तं भवति—यद्यत्येवंप्रकारस्त्वद्धर्मो भविष्यति
तथापीदानीमेव या त्वद्वर्मेण विद्यमानतया निष्पाद्या सा अस्मद्वर्मेणैव निष्पा-
दकत्वेन व्यतिस्ते । ततश्चान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति इतरसम्बन्धिनी-
मितर इति धर्मव्यतिहारसम्भवात् । अस्ते: ‘कर्तृरि कर्मव्यतिहारे ।१।३।१४।’
तद् । तथा हि यो यद्वसरे यां कांचित् क्रियां करोति स तक्रियाकारीत्युपचा-
रालोक उच्यते । येन धर्मेण हेतुना ब्रह्मद्विषस्ते प्रणिहन्म मारयामि स व्यति-
स्ते इति योज्यम् । ‘नैर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्साति-
वपतिवहतिशास्यतिचिनोतिदेगिषु च ।८।४।१७।’ इति णत्वम् । ‘जासि-
निप्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम्—२ । ३ । ५६ ।’ इति कर्मणि षष्ठी । तथा
कथं तव धर्म इति चेदाह—राजन्यवृत्तिरिति । क्षत्रियवृत्तिः ततो राज्ञोऽपत्यम् ।
‘राजधश्चशुराद्यत् ।४।१।२७।’ इति यत् ये च ।६ । ४ । १६।’ इति प्रकृति-

भावः । धृतं कामुकम् इषवश्च येन सः । यतः अहं राजन्यवृत्तिः ततोऽहं धृत-
कामुकेषुरिति । ‘धृतकामुकेषु’ इति पाठान्तरम् । क राजन्यवृत्तिः
सायुधेष्वित्यर्थः ॥ ३५ ॥

इत्थंप्रवादं युधि संप्रहारं प्रचक्रद् रामनिशाविहारौ ।

तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽथ बाणेन रक्षः प्रधनान्निरास्थत् ॥ ३६ ॥

इत्थमित्यादि—इत्थम् अनेन प्रकारेण प्रवादः अन्योन्याभिवातो यत्र सं-
प्रहारे तं संप्रहारं परस्पराभिभवलक्षणं प्रकृतवन्तौ । युधि रणभूमौ । युध्यन्ते
अस्यामिति सम्पदादित्वादधिकरणे किंप् । रामनिशाविहारौ । रामो निशा-
विहारो निशाचरो मारीचश्चेत्यर्थः । निशायां विहारो यस्येति समाप्तः । अथा-
नन्तरं रघुनन्दनो रघुवंशस्य नन्दियिता रामो मारीचं बाणेन तत्सम्बन्धिनि
सत्यपि तृणाय मत्वा तृणमिव अवमत्य । ‘मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु—
राश॑१७’ इति चतुर्थी । तत्र प्रकृष्टकुत्सितप्रहणं कर्तव्यम् । इह मा भूद् ।
तृणं मत्वेति ।’ प्रधनात् संग्रामात् । निरास्थत् अपनीतवान् ॥ ३६ ॥

जग्मुः प्रसादं द्विजमानसानि, द्यौर्वर्षुका पुष्पचयं बभूव ।

निर्व्याजमित्या ववृते वचश्च भूयो बभाषे मुनिना कुमारः ॥ ३७ ॥

जग्मुरित्यादि—यागविन्नकारिषु निरस्तेषु द्विजानां मानसानि मनांस्येव
मानसानि । ‘प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८।’ इत्य॑४ । प्रसादम् अव्याकुलत्वं जग्मुः
गतानि । ‘गमहनजनखनघसां लोपः कूडित्यनडि ।६।२।९।८।’ इत्युपधालोपः ।
द्यौः पुष्पचयं वर्षुका वर्षणशीला बभूव भवति स्म । ‘लषपतपदस्थाभूवृपहन-
कमगमशृभ्य उक्त्वा ३ । २ । १५४ ।’ इति उक्त्वा । ‘न लोकाव्ययनिष्ठा-
श्वलर्थरुनाम्—२ । ३ । ६९ ।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः । निर्व्याजं निर्विन्नम् ।
इज्या यागः । ‘ब्रजयजोर्भावे क्यपूर्व ।३।९।८।’ इति क्यप् । ववृते वृत्तः । लिट् ।
भूयः पुनरपि मुनिना गाधेयेन । कुमारः । अकृतदारकर्मत्वात् । वचो वक्ष्यमाणं
बभाषे । कर्मणि लिट् । ब्रुवीत्यर्थप्रहणात् द्विकर्मकता वचः कुमारश्च ॥ ३७ ॥

महीयमाना भवताऽतिमात्रं सुराऽध्वरे घस्मरजित्वरेण ।

दिवोऽपि वज्राऽऽयुधभूषणाया हिणीयते वीरवती न भूमिः ॥ ३८ ॥

१ ‘अत्र विषये सप्तमी । २ ‘युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनम् प्रविदारणम्’ इत्यमरः
३ ‘प्रसादस्तु प्रसज्जता’ इत्यमरः । ४ ‘दशरथस्य’ इति प्रकृतम् । दशरथस्येति
विशिष्यावचनेन च तत्र तस्य वात्सल्यं ध्वन्यते । राम इत्यर्थः ।

महीत्यादि—भवता भूमिः पृथिवी महीयमाना पूज्यमाना । अतिमार्त्तं
सुषु सम्यक् पालनाद्विवोऽपि सर्वास्य न हिणीयते न लज्जते किंतु प्रातिस्पर्धत
इति भावः । ‘हिणी, महीङ्’ इति कण्डादिपाठाद्यक् । (डित्वात्तद् । अवयवे
क्रुतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवतीति ?) महीयशब्दात्कर्मणि लकारः ।
शानच् । यक् । अतो लोपः । मुक् । महीयमानेति रूपम् । सुराभ्यरे सुरानु-
द्दिश्य योऽध्वरो यज्ञः क्रियते तत्र । ये धैसराः अद्वनशीला राक्षसा इति
यावत् । ‘सूघस्यदः क्मरच् ३ । २ । १६० । तेषां जित्वरेण जयशीलेन
भवता । ‘इष्णशजिसर्तिभ्यः करप् ३ । २ । १६३ ।’ इति करप् । वज्रा-
युधभूषणायाः शक्त एवालङ्घारो यस्याः दिवः । वीरवती त्वद्विधो वीरो यस्यां
भूमाविति ॥ ३८ ॥

संक्षेपेण सुतिमाह—

बलिर्बन्धे जलधिर्मन्थे जहेऽमृतं दैत्यकुलं विजिग्ये ।

कल्पाऽन्तदुःस्था वसुधा तथोहे यैनैष भारोऽतिगुरुर्न तस्य॥ ३९ ॥

बलिरित्यादि—येन भवता बलिर्बन्धे बद्धः । जलधिर्मन्थे मथितः ।
मन्दरं दोर्भिर्गृहीत्वा । ‘मन्थ विलोडने’ इत्यस्य रूपम् । संयोगान्तत्वाण्डि-
टोऽकित्वेन अनुनासिक्लोपो न भवति । जहेऽमृतम् । खीरूपधारिणा । दैत्य-
कुलं विजिग्ये विजितमनेकधा । ‘सङ्क्लिटोङ्जः ७ । ३ । ५७ ।’ इति कुत्वम् ।
‘एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६ । ४ । ८२ ।’ इति यणादेशः । तथा कल्पान्ते
प्रलये दुःस्था दुःस्थिता वसुधा पृथिवी ऊहे उद्धृता । वराहरूपिणा ।
वहेर्यजादित्वात् संप्रसारणम् । तस्य भवत एष भारो मुनिजनरक्षणम् अति-
गुरुर्न भवति । सर्वत्र कर्मणि लिद् ॥ ३९ ॥

इति ब्रुवाणो मधुरं हितं च तमाञ्जिहन् मैथिलयज्ञभूमिम् ।

रामं मुनिः प्रीतमना मखाऽन्ते यशांसि राजां निजिवृक्षायिष्यन् ॥ ४० ॥

इतीत्यादि—इति यथोक्तप्रकारेण मधुरं श्रोत्रसुखं हितं च ब्रुवाणः अभिद-
धानः । ‘लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ३।२।१२६।’ इति शानच् । मुनिः प्रीतमना
मखान्ते यज्ञावसाने तं रामं मैथिलस्य यज्ञभूमि आञ्जिहत् गामितवान् । मिथि-
लानां राजेति । ‘जनपदशब्दात्क्षत्रियादच् ४।१।१६८।’ इत्यत्र तस्य राजन्य-
पत्यविद्यतिदेशाद्ब् । ‘अहि गतौ ।’ ‘इदितो नुम् धातोः ७ । १ । ५८ ।’

१ ‘अनुपयुक्तोऽयं कोष्ठकान्तर्गतः पाठः’ । २ ‘भक्षको वस्मरोऽशरः’ इत्यमरः ।
राक्षसपरत्वं तुलक्षणया । ३ ‘जता जिष्णुश्च जित्वरः’ इत्यमरः ।

प्रयोजकव्यापारे णिच् । लुङ् आद चडि णिलोपः । ‘द्विर्वचनेऽचि । १ । १ ।
५९ ।’ इति स्थानिवद्वावात् ‘अजादेह्द्वितीयस्य ६ । १ । २ ।’ इति हिशब्द-
स्य द्विर्वचनम् । ‘नन्द्राः संयोगाद्यः ६ । १ । ३ ।’ इति नकरास्य प्रतिषेधः ।
अभ्यासकार्यम् । आजिहदिति रूपम् । राज्ञां यशांसि निजिवृक्षयिष्यन् निग्र-
हीतुमधिभवितुमेषयिष्यन् । ग्रहेः सन् । ‘सनि ग्रहगुहोश्च । ७।२।१२ ।’
इति इट्प्रतिषेधः । द्विर्वचनादि । ‘रुदिविद्मुषघ्राहिस्वपिप्रच्छः संश्च । १ ।
२ । ८ ।’ इति सनः कित्वम् । ‘ग्रहिज्यावयिव्यविधिविष्टिविचति-
वृश्चतिपृच्छातिष्टुज्जतीनां डिति च । ६ । १ । १६ ।’ इति सम्प्रसारणम् ।
दत्त्वभूषभावौ । गकारस्य घकारः । कत्वष्टवे । पञ्चाणिण्च । तदन्ताद्विव-
ष्यत्सामान्यविवक्षायां लद् । तेन भविष्यद्वन्दवतने लुद् न भवति ॥ ४० ॥

एतौ स्म मित्रावरुणौ किमेतौ किमश्चिनौ सोमरसं पिपासू ।

जनं समस्तं जनकाऽश्मस्य रूपेण तावौजिहतां नृसिंहौ ॥ ४१ ॥

एतावित्यादि—एतौ तत्रागतौ नृसिंहौ नरौ सिंहाविव । जनकाश्रमस्थं
जने रूपेण स्वरूपतया औजिहतां वितर्कं कारितवन्तौ । सिंहाविव । ‘ऊह
वितर्के’ इत्यसाद्वातोः प्यन्तात् कर्तुः क्रियाफलाविवक्षायां ‘णिचश्च ।
१ । ३ । ७४ ।’ इति तद्व न भवति । चडि णिलोपस्य स्थानिवद्वावात् ।
अजादेह्द्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।’ इति द्विर्वचनम् । ऊहमाह—मित्रावरुणौ
आदित्यवरुणौ । ‘देवताद्वन्द्वे च । ६ । ३ । २६ ।’ इत्यानद् । तयोर्महानु-
भावत्वात् । सोमरसं पिपासू पातुमिच्छू । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम् । २।
३ । ६९ ।’ इति पष्ठीप्रतिषेधः । एतावागतौ । आङ्गूर्वस्येणो निष्ठायां रूपम् ।
किमश्चिनौ अधिनीकुमारौ सोमरसं पिपासू एताविति । एवं जनम् औजि-
हताम् । सुशब्दपाठे एतौ सुभित्रेति पाठः । एतौ स्म मित्रेति समशब्दे निपातः
पादपूर्णपाठः ॥ ४१ ॥

अजिग्रहत्रये जनको धनुस्तद् येनाऽर्दिदैत्यपुरं पिनाकी ।

जिज्ञासमाने बलमस्य बाह्वोर्हसत्रभाङ्गीप्रध्युनन्दनस्तत् ॥ ४२ ॥

अजिग्रहदित्यादि—यन धनुषा दैत्यपुरं पिनाकी महादेव आर्दिदत् हिंसि-
त्वान् । अदेः स्वार्थकप्यन्तात् चडि ‘अजादेह्द्वितीयस्य । ७।१।३४’ इति दिश-
ब्दो द्विरुच्यते रेफस्य प्रतिषेधः । ‘तद्वनुस्तं रामं जनकः अजिग्रहत् बोधितवान् ।
अनेन चतुषा त्रिपुरं दग्धमिति । ग्रहेह्नेतुमण्णन्ताचडि णिलोपः । ‘जौ च-
हृष्यप्रवर्तयां हृत्वः । ७।४।११’ इति द्रव्यः । सन्वद्वावादित्वम् । ग्रहेश्च

बुद्ध्यर्थत्वात् । ‘गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकरणमणिकर्ता स यौ ॥१४।५२॥’ इति रामस्य कर्मसंज्ञा । अत्य रामस्य बाहोर्मुजयोर्बलं जिज्ञासमानो जनकः । एवंभूतं धनुः हसन् स्मयसानो रघुनन्दनो रामः अभांक्षीत् भग्नवान् । अञ्जेरुष्ठे सिंचि हलन्तलक्षणा वृद्धिः । तत्र हि हलप्रहरणं समुदायप्रतिपत्त्यर्थं मित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

ततो नदीष्णान्पथिकान्गिरिज्ञानान्नायकान्मूर्मिपतेरयोध्याम् ।

दित्सुः सुतां योधहरैस्तुरङ्गैर्व्यर्जयन्मैथिलमर्त्यमुख्यः ॥ ४३ ॥

तत इत्यादि—धनुर्मङ्गादनन्तरं महानयमिति ज्ञात्वा जनकः सुतां दुहितरं दित्सुः दातुमिच्छुः । दादते: । ‘सनि मीमांसुरभलभशकपतपदामच इस् ॥७।४।५४॥’ इति अच इस् । द्विर्वचनम् । ‘अत्र लोपोऽभ्यासस्य ॥७।४।५५॥’ इत्यभ्यासलोपः । ‘सः स्यार्थधातुके ७ । ४ । ७९ ॥’ इति तत्त्वम् । ‘सनान्शंसभिक्षुः ॥१।२।१६॥’ भूमिपतेर्दशरथस्य आहायकान् आहयन्ति आकार-यन्तीति कर्तरं पुलः । ‘आतो युक् चिण्कृतोऽ७।३।२३॥’ कृतप्रयोगे भूमिपते: कर्मणि षष्ठी । तान् अयोध्यां व्यसर्जयत् विसर्जितवान् । विपूर्वस्य सुजेहेतु-मण्णन्तस्य लङ्घि रूपम् । गत्यर्थत्वात् द्विकर्मकता । नद्यां स्नान्तीति नदीष्णाः । ‘सुपि स्थः ॥१।२।४॥’ योगविभागातकः । ‘आतो लोप इटि च ॥६।४।६॥’ ‘निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ॥१।३।८॥’ इति षत्वम् । नर्दी तरीतुं कुशलानित्यर्थः । पथिकान् पथि कुशलान् । ‘तत्र कुशलः पथः ॥५।४।६॥’ इति ठक् । गिरिज्ञान् यथाप्रदेशं गिरिज्ञान् ‘इगुपथज्ञाप्रीकिरः कः ॥१।१।१३॥’ इति कः । तुरंगैः अश्वैः करणभूतैः । युध्यन्त इति योधाः । पचाद्यच् । तानाहृतैः क्षमैः । ‘वयसि च ॥१।२।१०॥’ इत्यच् ‘हसिमूर्मिष्णवामिद-मिलदूर्घूर्वभ्यस्तन्’ इत्यौणदिकस्तन् । ग्रियन्ते ग्राणिनोऽस्मिन्निति मर्यो भूर्लोकः । तत्र भवा मर्त्या मनुष्याः । दिगादेराकृतिगणत्वात् यत् । आकृति-गणत्वस्य लिंगं ‘देवमनुष्यपुरुषपुरुषमर्त्यभ्य’ इति निर्देशः । मुखमेव मुख्यः प्रथानम् । ‘शाखादिभ्यो यः ॥५।३।१०॥’ मर्त्येषु मुख्यो मर्त्यमुख्यः । मैथिलश्वासौ मर्त्यमुख्यश्वेति विशेषणसमासः । जनक इतर्थः ॥४३॥

क्षिप्रं ततोऽध्वन्यतुरङ्गयार्ये यविष्टवद्वृद्धतमोऽपि राजा ।

आरुयापकेभ्यः श्रुतसूनुवृत्तरग्लानयानो मिथिलामगच्छत् ॥४४॥

१ अत्र समाप्तपुनरात्मत्वं द्वाषः । २ अत्र ‘मर्त्यानाम्’ इति तु न युक्तः पाठः, ‘न निर्धारणे २।२।२०’ इति षष्ठीनिषेधात् ।

क्षिप्रमित्यादि—आख्यान्ति कथयन्ति ये ते आख्यायकास्तेभ्यः श्रुता सूनुवृत्तिर्येन स राजा दशरथः । सूयत इति सूनुः पुत्रः ‘दामाभ्यां नुः’ इति वर्तमाने ‘सुवः किञ्च’ इत्यौणादिको नुप्रत्ययः । ततोऽनन्तरमेव क्षिप्रं शीघ्रम् । ‘स्फायितिच्चिवच्चिशक्षिपेक्षुदिस्त्रिपिदृपिवन्द्वीन्द्रिप्रिति-वृत्यजिनीपदिमदिसुदिलिदिच्छिदिभिदिमन्दिचन्दिहिदिसिदृभिभवसिवाशिर्णि-क्षहसिसिधिशुभिभ्यो रक्ष’ इति रक्ष । कियाविशेषणं चैतत् । मिथिलाम-गच्छत् । भरतशत्रुघ्नाभ्यां सहेत्वर्थादनुषक्तव्यम् । गमेलिंडि ‘इुगमियमां छः । ७।३।१७।’ अध्वानम् अलं गमिनो ये तुरंगा अक्षाः ते अध्वन्यः । अलं गमीतास्मिन्नर्थे ‘अध्वनो यत्क्षौ । ५।२।१६।’ इति यत् । ये चामावकर्मणोः । ६।४।१६।८।’ इति प्रकृतिभावः । तैः साधु यातीति साधुकारिणि णिनिः । अध्वन्यतुरंगयायी । एवं च कृत्वा अग्लानयानः न विद्यते ग्लानिर्यस्मिन्याने तत् अग्लानं यानं यस्येति । तादृशः तादृशैस्तुरङ्गः सुखयान इति भावः । ग्लानेति भावें निष्ठा । संयोगादेरातो भावोर्यण्वतः । ८।२।४।३।’ इति नत्वम् । वृद्धतमोऽपि यविष्टवत् । युवशब्दस्ये-ष्टनि ‘स्थूलदूरयुवहस्त्वाक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरम्पूर्वस्य च गुणः । ६।४।१५।६।’ इति यणादिपरलः पः पूर्वस्य च गुणः । पश्चात् ‘तेन तुल्यं क्रियाचेद्वितिः । ५।१।११।५।’ इति वितिः ॥ ४४ ॥

वृन्दिष्टमार्चोद्दिसुधाऽधिपानां तं प्रेष्टमेतं गुरुवद्विष्टम् ।

सद्भू-महान्तं सुकृताऽधिवासं बंहिष्टकीर्तिर्थशसा वरिष्टम् ॥ ४५॥

वृन्दिष्टमित्यादि—तं राजानमेतमायान्तं जनक आर्चीत् पूजितवान् । अर्चेलुकि रूपम् । वृन्दिष्टं वृन्दारकतमम् प्रशस्ततमभित्यर्थः । केषां वसुधाधि-पानां पृथ्वीपतीनाम् । प्रेष्टं प्रियतमम् । गुरुवत् गुरुणा तुल्यं वर्तमानं गरि-ष्टम् गुरुतमम् । सद्भूं समानान्ययोश्चेत्युपसंख्यानाद् दृशेः किं । रुढिंशब्द-आर्थम् । नात्र दर्शनक्रिया विद्यते । अंभिजनादिभितुल्यो जनक इत्यर्थः । महान्वं महानुभावं सद्भावं मध्ये महान्तम् । सुकृताधिवासं सुकृतनिलयम् । अधिवसत्यस्मिन्निति अधिकरणे घब् । बंहिष्टा बहुलतमा कीर्तिर्थस्य स बंहिष्ट-कीर्तिः । यशस्य वरिष्टं गुरुतमम् । अत्र वृन्दारकप्रियगुरुबहुलोरुणामिष्टनि

१ वच्चनि यथेष्टं यमवे योग्यैः अध्वन्यैः इत्यर्थः । २ ‘साधिष्टदाविष्टस्फे-ष्टगरिष्टहसिष्टवृन्दिङ्गः’ इत्यमरः । ३ ‘प्रेष्टवरिष्टस्यविष्टबंहिष्टा’ इत्यमरः ।

यथासंख्यं प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धत्प्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्वहि-
र्गर्वार्षित्रब्राह्मिवृन्दाः । ६।४।१५७।' इति वृन्दप्रगर्वहवर इत्येते आदेशा
भवन्ति ॥ ४५ ॥

त्रिवर्गपारीणमसौ भवन्तमध्यासयन्नासनमेकमिन्दः ।

विवेकद्वश्वत्वमगात्मुराणां तं मैथिलो वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४६ ॥

त्रिवर्गेत्यादि——तं दशरथं मैथिलो जनकः वाक्यमिदं बभाषे । त्रिवर्त्यर्थग्र-
हणात् द्विकर्मकता । किं तद्वाक्यमित्याह—असाविन्द्रो भवन्तम् एकासनमध्या-
सयन् आरोपयन् विवेकद्वश्वत्वमगादिति संबन्धः । आसनस्य ‘अधिशीङ्-
स्थासां कर्म । १।४।४६।’ इत्यधिकरणे कर्मसंज्ञा । भवन्तमिति ‘गतिबुद्धि-
प्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामाणि कर्त्ता सणौ । १।४।५२।’ इत्यस्ते-
रण्यन्तावस्थायामकर्मकत्वात् । पारंगामीत्यस्मिन्वाक्ये । ‘अवारपारात्यन्तानु-
कामांगामी । ५।२।११।’ इति पारशब्दात् खः । तत्र विगृहीतविपर्यस्तप्र-
हणात् । त्रिवर्गस्य धैर्मार्थकामस्य पारीणमिति षष्ठीसमासः । त्रिवर्गपारीणं
भवन्तम् । सुराणां मध्ये स एवैको विवेकद्वश्वत्वं विवेकज्ञतामगात् । ‘इतो गा-
लुङ्गि । २।४।४५।’ ‘गातिस्थायुपामूर्यः—२।४।७७।’ इति सिचो
लुङ्ग । विवेकं दृष्टवानिति दृशः क्वनिष् ॥ ४८ ॥

हिरण्मयी साललतेव जङ्गमा च्युता दिवः स्थास्तुरिवाऽचिरप्रभा ।

शशाङ्कान्तरधिदेवताऽङ्कतिः सुता ददे तस्य सुताय मैथिली ४७

हिरण्मयीत्यादि——तस्य दशरथस्य सुताय रामाय । सूयत इति सुतः ।

‘षु प्रसवैश्वर्ययोः’ इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । सुता मैथिली सीता ददे जनके-
नेत्यर्थात् । कर्मणि लिट् । मैथिलस्यापत्यं ‘अत इच् । ४।१।१५।’ तद-
न्तान् ‘इतो मनुष्य जाते । ४।१।६५।’ इति छीष् । रामस्य य्येष्वत्वात्-
स्वैव कविना परिणय उक्तः न शेषाणाम् । तेन अन्या अपि तदैव दुहितरो
दत्ताः । हिरण्मयी सुवर्णनिर्मितेव साललता वृक्षलता । सुवर्णच्छवित्वात् तस्याः
हिरण्यविकार इति मयटि‘ दाण्डिनायनद्वास्तिनायनार्थवर्णिकजैह्याशनेयवा-
शिनायनिभ्रौणहृत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयाने । ६।४।१७४।’
इति यलोपनिपातनम् । जङ्गमा संचारिणी नतु स्थावरा । अत्यर्थ गच्छतीति
यङ्गि ‘नुगतः ७।४।८५।’ इति नुकू । यडन्तात्पचाद्याचि यडेऽचि
च । २।४।७४।’ इति यडो लुक् च्युता दिवः आकाशात्पतिता । अचि-
रप्रभेव विद्युदिव तेजस्वत्वात् तन्वत्वाच । किन्तु स्थास्तुरच्चला । सा तु

१ ‘त्रिवर्गो धर्मसकामार्थैः’ इत्यमरः ।

चञ्चलेति व्यतिरेकः । ‘ऊडुतः । ४ । १ । ६६ ।’ इति ऊडुन भवति क्रियाश-
व्यत्वात् । तत्र मनुष्यजातिरिति वर्तते । शशाङ्ककान्तेर्याधिदेवता अधिष्ठात्री
‘देवता तस्या आकृतिर्यस्याः । सौन्यात्वात् । आकैर्यते अनयेत्याकृतिः संस्थानम्
‘अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् । ३ । ३ । १९ ।’ इति खियां किन् ॥ ४७ ॥

लब्धां ततो विश्वजनीनवृत्तिस्तामात्मनीनामुदवोढ रामः ।

सद्रलमुक्ताफलभर्मशोभां सम्बंहयन्तीं रघुवर्ग्यलक्ष्मीम् ॥ ४८ ॥

लब्धामित्यादि—ततो दानानन्तरम् लब्धां तामात्मनीनाम् आत्मने
हिताम् । ‘आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्वः । ५ । १९ ।’ इति खः । रामः उद-
वोढ । वेहः स्वरितेत्यात्वात्कर्तुः क्रियाफलविवक्षया तङ् । विश्वजनीना
विश्वजनाय हिता वृत्तिः प्रवृत्तिर्यस्य रामस्य सः पूर्ववत् खः । सती उत्कृष्टा
रक्षादिशोभा यस्याः । तैरलंकृतत्वात् । तां सद्रब्लमुक्ताफलभर्मशोभाम् । भर्म
स्वर्णम् । सर्वथातुभ्यो मनिन् । ‘भर्मभूषाम्’ इति पाठान्तरम् । सद्रक्षादि
भूषा अलङ्घारो यस्या इति योज्यम् । ‘गुरोश्च हलः । ३ । ३ । १०३ ।’
इत्यकारः । सम्बंहयन्तीं संबहुलामतिस्थिरां कुर्वाणाम् । बहुलशब्दात् ‘तत्क-
रोति तदाचष्टे’ इति पिंचि इष्टवद्वावात् ‘प्रियस्थिरस्फिरोरुवहुलगुरुवृद्ध-
नुप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्विहिगर्विष्ट्रवद्वाधिवृन्दाः । ६ । ४ । १५७ ।’
इति बंहादेशः । पश्चात्तदन्तस्य संपूर्वस्य साधनेन योगः । कामित्याह—रघु-
वर्ग्यलक्ष्मीमिति । रघुवर्गे भवां विभूतिम् । ‘वर्गान्ताच्च । ४ । ३ । ६३ ।’
इत्यनुदृत्तौ ‘अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् । ४ । ३ । ६४ ।’ इति यत् ॥ ४८ ॥

सुप्रातमासादितसंमदं तदू वन्दारुभिः संस्तुतमभ्ययोध्यम् ।

अश्वीयराजन्यकहास्तिकाऽऽद्यमगात् सराजं बुलमध्यनीनम् ॥ ४९ ॥

सुप्रातेति—विवाहं निर्वर्त्य प्रभाते अयोध्याभिमुखं तदूलं दशरथस्यागात्
गतवत् । सुप्राचं ‘निरुपदवत्वात् । शोभनं प्रार्तिदिनमुखं यस्य बलस्य । ‘सु-
प्रात्सुश्वसुदिवशारिकुक्षच्चतुरशैणपिदाजपदप्रोष्टपदाः । ५ । ४ । १२० ।’
इति समासान्तश्चिलोपश्च, निपातयते । आसादितसंमदं प्राप्तहर्षम् । ‘प्रमद-
सम्मदौ हर्षे । ३ । ५५ । ८८ ।’ इति निपातनम् । वन्दारुभिः संस्तुतं कृत-
ख्यम् । अभ्ययोध्यम् अयोध्याभिमुखम् । ‘लक्षणेनाऽभिप्रती आभिमुख्ये
। २ । १ । १४ ।’ इति अव्ययीभावः । अश्वानां समूहो अश्वीयम् । ‘केशा-

३ ‘भर्मस्यात् काञ्चने भूतो’ इति भेदिनी २ आसादितः सम्मदो थैन ताद्य-
मित्यर्थः । ‘प्रमोदामेऽदसम्मदाः’ इत्यमरः । ३ ‘बृन्दे त्वश्वीयमाध्यवत्’ इत्यमरः ।

श्वाभ्यां यद्भौ— ४ । २ । ४८ ॥ इति छः । राजन्यानां क्षतियाणां सैम-
हो राजन्यकम् ‘गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्राजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाह्नुव् ॥४॥२॥३॥’
इति वृच् । ‘प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः’ इति प्रकृतिभावादपत्ययकार-
लोपो न भवति । हस्तिनां समूहो हास्तिकम् । ‘अचिच्चहस्तिधेनोष्टक्
॥४॥२॥४॥’ इति ठक् । एषां सेनाज्ञत्वात् द्वन्द्व एकवद्वावः । तेनाद्यमुप-
चितमिति शृतीयेति योगविभागात् समाप्तः । सह राज्ञेति विगृह्य ‘साकल्यव-
चने यौगपद्ये वाव्ययीभावः । ‘अव्ययीभावे चाकाले । ६ । ३ । ८१ ॥’
इति सभावः । ‘अनश्च’ ॥५॥४॥१०॥’ इति टच् समाप्तान्तः । अङ्घवनी-
नमध्वानमलंगासीति तं तादृशम् ‘अध्वनो यत्खौ ॥५॥२॥१६॥’ ‘आत्माध्वानौ
खे ॥४॥१६॥’ इति प्रकृतिभावः ॥ ४९ ॥

विशङ्कुटो वक्षसि वाणपाणिः सम्पन्नतालद्यसः पुरस्तात् ।

भीष्मो धनुष्मानुपजान्वरलिनैति स्मरामः पथि जामदग्न्यः ॥५० ॥

विशङ्कुटेत्यादि—एवमस्य गच्छतः पथिः मार्गे । सप्तम्यां ‘भस्य टेलोपः
॥१॥८॥८॥’ पुरस्तादग्रतः । ‘अस्ताति च ॥५॥३॥४॥० ॥’ इति पूर्वस्य पुरादेशः ।
रामो जामदग्न्यः । जमदग्नेपत्यं रामोऽग्न्यम् । गर्गादिपाठाद्यत् । स येति स्म
आगतवान् । आङ्गूर्वादिणो लट् । ‘एत्येष्ठत्यूहसु ॥६॥१॥८॥९ ॥’ इति वृद्धिः ।
उरसि विशङ्कुटो वक्षति विशालः ‘वै शालच्छङ्कटचौ ॥५॥२॥२॥’ इति
शङ्कटच् । बाणः पाणावस्येति बाणपाणिः । ‘प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ,
सप्तम्यन्तस्य परनिपातः । संपन्नो निष्पन्नो यस्तालवृक्षः स प्रमाणं यस्य स
तथोक्तः । ‘प्रमाणे द्वयसच्चदग्न्यमात्रचः ५ । २ । ३७ ॥’ भीयते अस्मादिति
भीष्मः । ‘भियः षुगवा’ इति औणादिको मक्प्रत्ययः । वा षुगागमश्च ।
‘भीमादयोऽपादाने ॥३॥४॥७॥४ ॥’ इत्यपादाने साधुः । धनुष्मान् धनुषा
युक्तः । संसर्गे मनुप् । जानुनोः समीपमुपजानु । सामीप्येऽव्ययीभावः ।
उपजानु अरक्तिर्यस्य स तथोक्तः प्रलम्बबाहुरित्यर्थः ॥ ५० ॥

उच्चैरसौ राघवमाहतेऽधनुः सबाणं कुरु माऽतियासीः ।

पराक्रमज्ञः प्रियसन्ततिस्तं नम्रः क्षितीन्द्रोऽनुनिनीषुरुचे ॥ ५१ ॥

१ ‘अथ राजकम् । राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात् ।’ इत्यमरः ।

२ ‘हास्तिकं गजता वृन्दे’ इत्यमरः । ३ ‘अङ्घवनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः’ इत्यमरः ।

४ ‘विशङ्कुटं पृथु वृहत्’ इत्यमरः । ५ भयङ्कर इत्यर्थः । ‘दारुणं भीषणं भीष्मम्’ इत्यमरः ।

। ४ । ३ । २० ।' इत्यण् । वाक्यं वचनम् । यदा दर्पेण मदेन हेतुना स जाम-
दग्न्यः नाजीगणत् न गणितवान् । 'गण संख्याने ।' इत्यस्यादन्तत्वान्न वृद्धिः ।
‘चड़ि । ६ । १ । ११ ।' इति द्विर्वचनम् । ‘ई च गणः । ७ । ४ ९७ ।’
इति अभ्यासस्येकारः । तदा कुमारो रामो धनुर्व्यक्ताक्षर्णात् आकृष्टवान् । ‘कृष
आकर्षणे ।’ स्पृशमृशेत्यादिनोपसंख्यानेन सिंचि पक्षे रूपम् । हलन्तलक्षणाः
वृद्धिः । ‘षडोः कः सि । ८ । २ । ४१ ।’ इति कत्वम् । कृतदारकर्मापि
पुत्रः पितारि जीवति कुमार इति व्यपदिश्यते । गर्भयतीति गर्भः । गुरु-
बाणो गर्भो यस्य धनुषः । लोकांश्च स्वप्रभावाद्विजितान् । तस्य परशुरामस्य ।
अलोचीतः छिन्नवान् । लुनातेर्लुडि सिंचि वृद्धौ रूपम् । समुच्छिद्यन्तामस्या-
लोका इति अमोघमध्यं मुक्तवानित्यर्थः । ततः प्रभृतितस्य सर्वे तेजोऽपहृतम् ॥५३॥

जिते नृपादौ सुमनीभवन्ति शब्दायमानान्यश्नैरशब्दकम् ।

वृद्धस्य राज्ञोऽनुमते बलानि जगाहिरेऽनेकमुखानि मार्गान् ॥५४॥

जिते इत्यादि—जिते नृपारौ परशुरामे बलानि सैन्यानि मार्गान् पथः—
जगाहिरे अवष्टव्यवन्ति । वृद्धस्य राज्ञो दशरथस्यानुमते सति गच्छतेति । जाम-
दग्न्यसंरम्भादसुमनांसि सुमनांसि सन्ति सुमनीभवन्ति बलानि । ‘अरुमन-
श्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च । ५ । ४ । ५१ ।’ इति च्वावन्त्यस्य लोपे ‘अस्य
च्चौ । ७ । ४ । ३२ ।’ इतीत्वे रूपम् । शब्दायमानानि । अशनैः सुष्ठु शब्दं
कुर्वाणानि । एवं जितस्था जितो नृपारिरिति । ‘शब्दवैरकलहाभ्रकणवमेघे-
भ्यः करणे । ३ । १ । १७ ।’ इति क्यद् । अशङ्कं निर्भयं जगाहिर इति क्रिया-
विशेषणम् । अनेकमुखानि पृथग्भूतानि पूर्वे भयेन बहुलीभूतत्वादनीकानां
बहुवचनमिति ॥ ५४ ॥

अथ पुरुजवयोगान्वेदयद्दूरसंस्थं
दवयदतिरयेण प्राप्तमुर्वीविभागम् ।
क्लमरहितमचेतन्नीरजीकारितक्षमां
बलमुपहितशोभां तूर्णमायादयोध्याम् ॥ ५५ ॥

अथेत्यादि—अथेत्यानन्तर्ये । बलं दाशरथम् । तूर्ण शीघ्रम् । ‘रुष्यमन्त्वर-
संघुषाऽस्त्वनाम् । ७ । २ । २८ ।’ इति पक्षे इडभावः । ‘जवरत्वरस्त्रिव्य-

१ लूच् छेदने । २ नृपा अरयः वध्यत्वेन वधकत्वेन च शत्रवः यस्य तस्मिन् ।
रामो हि पूर्वे नृपान् हतवान् सम्प्राप्ति च स्वयं जित इति तथोक्तव्यम् ।

विमवामुपधायात्र । ६ । ४ । २० ।' इति वक्तारोपध्योरूद् । 'रदाभ्याम्—
। ८ । २ । ४२ ।' इति नत्वम् । अयोध्यामायात् आगतम् । आङ्-
पूर्वाद्यातेर्लङ्गि रूपम् । पुरुषमहान् वेगो जवः तेन योगात् । पूर्यते वर्धते इति
पुरः । 'कुञ्चश्च' इत्यधिकृत्य 'पृथिविव्यधिगृथिधृषिभ्यः' इति कुप्रत्ययः ।
दूरसंस्थं दूरे सन्तिष्ठत इति कः । उर्वाचिभागम् । नेदयत् अन्तिकं कुर्वत् ।
अन्तिकशब्दात् समीपवाचिनः तत्करोतीति णिच् । इष्टवद्वावानात् 'अन्तिक-
आहयोनेदसाध्यौ । ५ । ३०६३।' इति नेदादेशः पश्चाल्लद् । शतरि शप् । अया-
देशः । प्राप्तं विषयीकृतं चोर्वाचिभागं भूविभागम् । अतिरथेण अतिवेगेनः ।
दृवयत् दूरीकुर्वत् पश्चाल्लगेन । दूरशब्दात् पूर्ववणिणचि इष्टवद्वावे च 'स्थूल-
दूरयुवह्वस्वक्षिप्रक्षुप्राणो यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः । ६ । ४ । १५६ ।' इति
चण्डादिपरलोपः पूर्वस्य च गुणः । पश्चात्तथा एव लडादयः । कुमरहितम् अप-
गतप्रभम् । अचेतत् क्रियदूरमागतोऽहमेत्यनुध्यमानम् । 'चिती संज्ञाने'
इत्येवत्य शतरि रूपम् । अनीरजा नीरजां चारितेति 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहो-
रजसां लोपश्च । ५ । ४ । ५१ ।' इति च्वावन्त्यलोपः । 'अस्य चौ । ७।४।५१।'
इतीत्वम् । नीरजीकारिता क्षमा भूर्मियस्यामयोध्यायां ताम् । सिक्कसंमृष्टभूत-
आमित्यर्थः । उपहितशोभाम् छत्रध्वजपताकाभिरारोपितशोभाम् ॥ ५५ ॥

इतिं श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते
श्रीभट्टिकाव्ये प्रथमे प्रकीर्णकाण्डे लक्षणरूपे द्वितीयः परिच्छेदः
लक्ष्यरूपे कथानके सीतापरिणयो नाम द्वितीयः सर्गश्च ॥

तृतीयः सर्गः ।

वधन सङ्गरूपे पिशिताऽशनानां क्षत्राऽन्तकस्याऽभिभवेन चैव ।
आढ्यं भविष्णुर्यशसा कुमारः प्रियं भविष्णुर्न स यस्य नाऽसीत् ॥ १ ॥
वधेनेत्यादि-संङ्गरूपे संप्राप्ते पिशिताशनानां राक्षसानाम् । पिशितं मांसम्
अश्वनं येषामिति । तपां वधेन हननेन । 'हनश्च वधः । ३ । ३ । ७६ ।' इति
अपूर्वत्यये वधादेशः । कूलयोगे कर्मणि षष्ठी । क्षत्रान्तकस्य परशुरामस्य ।
अभिभवेन पराजयेन च 'ऋदोरेप । ३ । ३।५७ ।' चैवशब्दो निपातसमुदायः
समुच्चये । तेन हेतुभूतेन । यशसा आढ्यं भविष्णुः । अनाढथ आढथो भूतः ।
कर्वति मुकुः स्विष्णुच्चुक्षुक्षौ । ३।२।५७।' इति खिष्णुच्च 'अरुद्विषदजन्तस्य मुम्

१ अत्र 'मस्तिकवी' वृत्तं तलुक्षणं चोक्तं प्राक् ।

द्वादशां^१ इति सुम् । कुमारो यस्य स प्रियंभविष्णुः । यस्यापि प्राक् प्रियो न जातः पश्चादपि तथैव न प्रियो भूतः स नासीत् न वभूव ॥ ? ॥

ततः सुचेतीकृतपौरभूत्यो राज्येऽभिषेद्ये सुतमित्यनीचैः ।

आघोषयन्मूमिपतिः समस्तं भूयोऽपि लोकं सुमनीचकार ॥ २ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रियम्भविष्णुताया अनन्तरं भूमिपतिदशरथो लोकं सुमनीचकार । किम्यं सम्यक् पालयिष्यति न वेति असुचेतसः पौरा भूत्याश्र जाताः ते सम्यक्पालनात् सुचेतसः कृता येन स सुचेतीकृतपौरभूत्यः । भूयो-ऽपि पुनरपि लोकं समस्तं सुमनीचकार । कथमित्याह—राज्ये राजकर्मणि यालनलक्षणे सुतं रामं अभिषेद्ये तदभिषेकं करिष्यामीति । सिचेत्तभयपदित्वा चइ । अनीचैर्महता धवनिना । आघोषयन् घोषणां कारयन् । सुचेतीसुमनीस-बदौ ‘अर्हमनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ।५।४।५।१’ इति साधू ॥ २ ॥

आदिक्षदादीसकृशानुकल्पं सिंहासनं तस्य सपादपीठम् ।

सन्तप्तचामीकरवल्गुवज्रं विभागविन्यस्तमहार्घरत्नम् ॥ ३ ॥

आदिक्षदित्यादि—तस्य रामस्य सिंहासनमादिक्षर्त् आदिष्वान् एवंविधं कारयेति । दिशोः स्वरितेतो लुडि ‘शल इगुपधादनिटः क्सः ।३।१।४।५’ इति च्छ्लः क्सः । अकर्तुर्गामिक्रियाफलत्वाच्चिप् । आदीपकृशानुकल्पं ज्वलिता-मितुल्यम् । तस्य कारणमाह—सन्तप्तचामीकरवर्णानि उत्तप्तसुवर्णवर्णानि वज्राणि यासन् । तथा विभागेषु विन्यस्तानि अतिमहार्घाणि रत्नानि पद्मरागादीनि चत्र । सपादपीठं सह पादपीठेन ॥ ३ ॥

प्रास्थापयत्पूर्गकृतान्स्वपोर्पुष्टान्प्रयत्नाद्वद्गात्रबन्धान् ।

सभर्मकुम्भान्पुरुषान्समन्तात् पत्काषिणस्तीर्थजलाऽर्थमाशु ॥ ४ ॥

प्रास्थेत्यादि—तीर्थजलार्थं पुरुषान् प्रयत्नात् आदरेण । समन्तात् सर्वासु दिक्षु । आशु शीघ्रं प्रास्थापयत् प्राहिणोत् । प्रपूर्वस्तिष्ठतिर्गमने वर्तते । तस्य हेतु-मण्यन्तस्य लाङे रूपम् । पूर्गकृतान् अपूर्गाः पूर्गाः कृताः इति ‘अर्ण्यादिषु च्छ्यर्थवचनम्’ इति समाप्तः । संघीकृतानित्यर्थः । स्वपोर्पुष्टान् । ‘स्वे पुषः ।३।४।४।०’ इति णमुल् । ‘अमैवाव्ययेन ।२।२।०’ इति समाप्तः । यथाविघ्यनु-प्रयोगश्च । द्व्दो गात्रबन्धो येषां तान् । संयतकायान् । महाभारोद्द्वन्द्वक्षम-

^१ प्रसन्ने चकार । २ तत एवाह किमयमित्यादि । ३ आङ्गूर्वकस्य ‘दिश अतिसर्जने’ इत्यत्य लुडि रूपमिदम् ।

स्वात् समर्मकुम्भान् ससुवर्णकलशान् । पत्काषिणः । पादौ कैषितुं हिंसितुं
शीलं वेषाभिति । ‘सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये ।३।३।७७।’ ‘हिमकाषिहतिषु
च ।६।३ ।५४।’ इति पदादेशः । पदातीनित्यर्थः । आश्रिति ‘कृवापाजिंभि-
स्वादिसाध्यभूम्य उण्’ इत्युणादिकादुण ॥ ४ ॥

उक्षान्प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान् ध्वजान्बबन्धुर्मुचुः सधूपान् ।

दिशश्च पुष्पैश्चकर्विचैत्ररथेषु राजा निषुणा नियुक्ताः ॥ ५ ॥

उक्षानित्यादि—ये निषुणा अर्थेषु कार्येषु राजा दशरथेन नियुक्ताः अधि-
कृतास्ते नगरस्य मार्गान् पथः । उक्षान् सेकवतः प्रचक्रुः । उक्षणमुक्षा । ‘गुरो-
श्च हलः ।३।३।१०३।’ इत्यकारः । सा विद्यते वेषाभिति ‘अर्शादिभ्योऽच् ।
५।१।१२७।’ ‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३।६।’ इत्यमप्रत्यये प्रचक्रुरित्य-
तुप्रयोग्ये न घटते । ‘कृच्छानुप्रयुज्यते लिटि ।३।१।४।०।’ इत्यतुशब्दस्य व्यवहि-
तानि वृत्त्यर्थत्वात् । ध्वजान् बबन्धुः उच्छ्रायितवन्तः । मुमुचुः सधूपान् आकाशे
घटिकादिभिर्धूपान्मुमुचुः प्रमुक्तवन्तः । दिशश्च पुष्पैश्चकरः छादितवन्तः ।
‘कृ विशेषे ।’ इत्यस्य लिटि ‘ऋच्छत्यृताम् ।७।४।१।’ इति गुणः । विचित्रैः
चानाप्रकारैः ॥ ५ ॥

मातामहाऽवासमुपेयवांसं मोहादपृष्ठा भरतं तदानीम् ।

तत्केकयी सोङ्गमशक्नुवाना ववार रामस्य वनप्रयाणम् ॥ ६ ॥

मातेत्यादि—तपूर्वोक्तमभिषेकसंविधानं सोङ्गमशक्नुवाना असहमाना
केकयी केकयस्य देशविशेषस्य, लक्षणया तदीशस्येति यावत् । इयं पुत्रीति
तथोक्ता रामस्य वनप्रयृणं ववार प्रार्थितवती राजा इत्यर्थात् । सहेः शकोतावुप-
षदे ‘शकधृष्णाग्नाधटरभलमक्रमसद्वार्हात्यरथेषु तुमुन् ।३।४।६।५।’ इति
तुमुन् । तत्र नवा शक्यर्थस्य प्रतिषेधेऽपि न दोषः प्रतिषेधस्य बाहिरङ्गत्वात् ।
शकोतेः परस्पैदित्वात् शानज् नास्ति । ‘ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चा-
नश् ।३।२।१२।१।’ इति चानश् । स्वादित्वात् श्वुः । ‘अच्च श्वुधातुभ्रुवां व्यो-
रियुक्तवौ ।६।४।७।’ इत्युक्त् । किं कृत्वेत्याह—तदानीं प्रार्थ-
नाकाले देशान्तरावस्थितत्वात् किमेवं कियते न वेति न भरतं
शृष्टवती । देशान्तरावस्थितिं दर्शयन्नाह—मातामहावासाभिति ।

^३ अस्मद्दिव्यमन्तराहस्यमन्तरेण गमने धरणपीडावहत्वभिति यथोक्तम् ।

भातुः पिता मातामहः । ‘पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ।४।२।३६।’ इति
निपातनात् डामहच् । आवासः निलयम् आवसत्यस्मिन्निति अधिकरणे धज्ज ।
उपेयिवांसम् । ‘उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ।३।२।१०९।’ इति निपातितः मोहादज्ञा-
नात् । दूतप्रेषणेनापृद्वा । रामस्येति कर्तरि षष्ठी वनाय प्रयाणं गमनमिति चतुर्थीति
योगविभागात् समासः । ‘गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थैर्यौ चेष्टायामनध्वनि
।२।३।१२।’ इति चतुर्थी । परत्वात्कृलक्षणया षष्ठ्या भवितव्यमिति चेन् न ।
पुनर्द्वितीयाग्रहणात्परामपि षष्ठी बाधित्वा द्वितीयैव यथा स्यादिति । यद्येव
द्वितीयैव स्यात् न चतुर्थी । नैष दोषः । द्वितीयाग्रहणस्योपलक्षणाथ त्वात् ।
तथा च वृत्तादुभयमुक्तं—ग्रामं गन्ता ग्रामाय गैन्तेति ॥ ६ ॥

कर्णेजपैराहितराज्यलोभा स्नैणेन नीता विकृतिं लघिन्ना ।

रामप्रवासे व्यगृशन्न दोषं जनाऽपवादं सनरेन्द्रमृत्युम् ॥ ७ ॥

कर्णहृत्यादि—कर्णे जपन्ति कर्णेजपाः सूचकाः मन्थरादयः । ‘स्तम्ब-
कर्णयो रामजपोः ।३।२।१३।’ इत्यच् । ‘तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।६।३।१४।’
इति समस्या अलुक् । तैराहितः आनायितो राज्यलोभो यस्याः सैवम् । खणेन
खिया अयम् । ‘खीपुंसाभ्यां नज्जन्तव्यो भवनात् । ४। १। ८७।’ इति नज्ज ।
लघोर्भावो लघिमा ‘पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ।५। १। १२२।’ इतीमनिच् ।
टिलोपः । तेन विकृतिमन्यथात्वं नीता केकयी रामप्रवासे सति दोषं न व्यसृ-
शत् नालोचिदवती । ‘मृश आमश्नेने ।’ इति तौदादिकस्य लङ्घि रूपम् ।
किंस्वरूपं दोषम्—जनापवादं लोकवैमुख्यम् । राज्याहो ज्येष्ठः पुत्रोऽनया
प्रब्राजित इति । नरेन्द्रस्य दशरथस्य मृत्युना सह वर्तमानम् ॥ ७ ॥

वसूनि देशांश्च निवर्तयिष्यन् रामं नृपः संगिरमाण एव ।

तयाऽवज्ञे भरताऽभिषेको विषादशङ्कश्च मङ्गै निचखे ॥ ८ ॥

वसूनीत्यादि—रामं निवर्तयिष्यन् रामं निवर्तयितुं वसूनि द्रव्याणि देशां-
श्च सङ्ग्रहरमाण एव प्रतिज्ञानान एव दास्यामीति नृपो राजा कैकेया तदनज्ञोक-
रणादवज्ञे अवज्ञातः । ज्ञा इत्यर्थं धातुरवपूर्वोऽवज्ञान वर्तते । तस्मात्कर्मणि
लिद् । ‘गमहनजनखनघसां लोपः द्वित्यनङ्गि ।६।४।९८।’ इत्युपधा-
लोपः । तत्र वृत्तेहेतुमण्णयन्तात् क्रियार्थोपपदे लङ् । सङ्ग्रहणं च क्रिया ।
गिरेस्तौदादिकात् ‘अवादग्रः ।१।३।५।१।’ इति अधिकृत्य ‘समः प्रतिज्ञाने ।१।३।५।
२।’ इति तङ् । शानच् । ‘ऋत उत् ।७।१।१००।’ ‘आने मुक् ।७।३।२।८।’

१ अत्र परिकरः । २ अत्र समाप्तपुनरात्मवमिति तृतीयचतुर्थपादौ व्यत्ययेन
पठनीयौ ।

इदं चापरमनुष्ठितं तथा भरता राजेऽभिषिच्यतामिति भरताभिषेको मतौ
ममसि निच्छ्वे निखातः । कर्मणे लिद् । ‘गहमनजनखनवसां लोपः छित्यनडि
।६ । ४ । ९। इत्युपधालोपः। तथा विषादः शंकुरिव शल्यमिव निच्छ्वे । उयेष्ठ-
त्वात् नायं समाभिषिच्यत इति विषादः । संप्रामाकिल परिश्रान्तमागतं दश-
श्वं केकीय परिच्छाचार तेन परितुष्टेनोक्तं किं ते दास्यामीति । सा प्राह यदार्थ-
यिष्यते तदा यूर्य दास्येति सा तदवसरं बुद्ध्वा वरद्वयं प्रार्थतवती । एको
रामस्य वनगमनं द्वितीयो राज्ये भरतोऽभिषिच्यतामिति ॥ ८ ॥

ततः प्रवित्राजयिषुः कुमारमादिक्षदस्याभिगमं वनाय ।

सौमित्रिसीतानुचरस्य राजा सुमन्त्रनेत्रेण रथेन शोचन् ॥ ९ ॥

तत इत्यादि—केकीयप्रार्थनानन्तरं राजा कुमारं रामं प्रवित्राजयिषुः प्रब्रज-
न्तमेन प्रब्राजयितुमिच्छुः ब्रजेहेतुमण्णन्तात्सन् । अस्य कुमारस्य । रथेन वनान-
भिगमाभिगमनम् । ‘प्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३ । ३ । ५।’ इत्यप् । आदि-
क्षत् आदिष्ठवान् । अस्योति कर्तरि षष्ठी । वनायेति । ‘गलर्थकर्मणि द्वितीया-
चतुर्थीं चेष्टायामनध्वनि । २ । ३ । १२।’ इति चतुर्थीं । सौमित्रिसीता-
नुचरस्य लक्ष्मणसीतासहायस्य । सुमित्राया अपत्यम् । बाह्वादित्वादिव् । सहच-
रत्वेनाभ्याहितवात् पूर्वनिपातः । अनु पश्चाच्चरतीति अनुचरः ‘भिक्षादेनादा-
येषु च । ३ । २ । १७।’ इति चकारस्यानुक्तसमुच्चारार्थत्वात् टः । अनुचरश्चा-
नुचरी च । ‘पुसान् खिया । १२।६७।’ तावत्तुचरौ सौमित्रिसीते अनुचरौ
सहस्रौ यस्य । कालपिकास्ततोऽन्यत्रापि पठान्ति अधिकरणोपपदे ‘चरेष्टः’ इत्य-
र्थः । नीयतेऽनेति नेत्रं लोचनम् । ‘दाम्नीशसयुयुजस्तुदासिसिचमिहपतदश-
नहः करणे । ३ । २।१८।’ इति ष्टन् । सुमन्त्रनामा रथवाहको नेत्रमिव यस्य
रथस्य तद्वशात्तरस्य प्राप्तेः । शोचन् परिदेवयमानो राजा ॥ ९ ॥

केचिच्चिनिन्दुर्नृपमपशान्तं विचुक्षुः केचन साऽस्तमुच्चैः ।

ऊचुस्तथाऽन्ये भरतस्य मायां घिक्केकीयमित्यपरो जगाद् ॥ १०॥

केचिदित्यादि—राजा वनगमने समादिष्टे सति केचिज्जना नृपं निनिन्दुः
कुत्सितवन्तः । ‘गिदि कुत्सायाम् ।’ अप्रशान्तं वृद्धभावेऽपि ऊवशम् । केचन
केचित्सासं सवाप्पमुच्चैः सुषु विचुक्षुः सुतरामाकन्दितवन्तः । तथान्ये भर-
तस्य मायां शाठथमुच्चैः उच्चवन्तः । तत्कृतोऽयं प्रयोगो येनात्मरक्षणार्थं माता-
महिनिवासे स्थित इति । अपरो घिक्केकीयो यैवमनुष्ठितामिति जगाद् गदितवान् ।
‘स्त्रियादिषु त्रिषु’ इति घिग्योगे द्वितीया ॥ १० ॥

^३ अथ ‘तुलयोगेषिता’ ।

गतो वनं श्वो भवितेति रामः शोकेन द्वे हैं जनताऽज्ञतिमांत्रम् ॥
 धीरास्तु तत्र च्युतमन्यवोऽन्ये दधुः कुमाराऽनुगमे मनांसि ॥११॥
 गत इत्यादि—थ आगामिनि दिवसे वनं गतो रामो भवितेति तास् ।
 जनता जनसमूहः । ‘प्रामजनबन्ध्यस्तल् ।४।२।४३’ इति तत्त्वः । द्वे हैं दग्धा ।
 कर्मणि लिट् । ‘अत एकहल्मध्येऽनादेशादेल्लिटि ।६।४।१२०’ इत्येत्वाभ्यासलोपौ ।
 गत इति भूतकालः श्वो भवितेति भविष्यत्कालेन सम्बद्धयमानः साधुः । ‘धातु-
 सम्बन्धे प्रत्ययाः ।३।४।१’ इति । ये तु तत्र धीरां ते च्युतमन्यवो विगत-
 शोकाः सन्तः कुमारानुगमे कुमारस्य पश्चाद्वसननिमित्तं मनांसि दधुः कृत-
 वन्तः । राममनुब्रजाम इति । निमित्तात्कर्मसंयोगे सप्तमीति । मनांसीति कर्मणा
 योगात् ॥ ११ ॥

प्रस्थास्यमानाद्युपसेदुषस्तौ शोशुच्यमानानिदमूच्यतुस्तान् ।
 किं शोचतेहाभ्युदये बताऽस्मान् नियोगलाभेन पितुः कृताऽर्थान् ॥१२
 प्रस्थेत्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ प्रस्थास्यमानौ गमिष्यन्तौ । ‘समवप्रविभ्यः
 स्थः ।१।३।२२’ इति तत्त्वः । जनान् इदं वक्ष्यमानमूच्यतुः उक्तवन्तौ । ब्रवी-
 त्यर्थग्रहणात् वचेद्विकर्मकता । उपसेदुषस्तौ ढौकितवतः जमान् । ‘भाषायां सद-
 वसश्चुवः ।३।२।१८०’ इति कसुः । शोशुच्यमानान् अत्यर्थं शोकं कुर्वतः । भृशार्थे
 यद् । किंमूच्यतुरियाह—किं शोचतेति । हे जनाः ! कस्मादस्मान् शोचत परि-
 देवयध्यम् । विघावपर्वार्थप्रकाशने लोट् । इहाभ्युदये बतशब्दो विस्मये ।
 तस्मिन् आश्र्वयं भूते अभ्युदये बृद्धौ सत्याम् । कुत इत्याह—पितुर्नियोगला-
 भेन वनगमनाङ्गालाभेन कृतार्थान् लब्धप्रयोजनान् । कृतार्थेत्वादशोच्या वय-
 मित्यर्थः ॥ १२ ॥

असृष्ट यो यश्च भयेष्वरक्षीदयः सर्वदाऽस्मानपुष्टस्वपोषम् ।

महोपकारस्य किमस्ति तस्य तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्षः ॥१३॥

असृष्टेत्यादि—असृष्ट जनितवान् । सृजेदैवादिकस्यात्मनेपदित्वात् लुडि
 रूपम् । तौदादिकस्य परमैपदित्वात् ‘सृजिद्वशोर्जल्यमकिति ।६।१।५८’ इत्यम् ।
 यश्च भयेषु सत्सु अरक्षीत् पालितवान् । ‘रक्ष पालने’ इत्यस्य लुडि
 रूपम् । यः सर्वदा सर्वकालम् । ‘सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ।५।३।१५’ इति
 दाप्रत्ययः । यश्चापुष्टत् पुष्टवान् । स्वपोषं धनेनास्मानपुष्टत् । पुष्टरुडि रूपम् ।
 ‘पुषादिद्युताद्युलदितः परस्मैपदेषु ।३।१।५५’ इत्यद् । ‘स्वे पुषः । ३।४।४०’

३ च्युतशोकत्वे धीरत्वं हेतुः ।

इति णमुल् । ‘अमैवाव्ययेन ।२।२।२०’ इति समाप्तः । ‘यथाविध्यनुप्रयोग—
ग—३ । ४।४।’ तस्य पितुः सम्बन्धिनो महोपक्षरस्य किमस्ति मोक्षः प्रत्युप-
कारो नैवेति भावः । केनेत्याह—तुच्छेन असारेण वनस्य यातेन । याते-
मीवे लयुद् । वनस्येति शेषसामान्ये षष्ठी । कृलक्षणायास्तु षष्ठ्या गत्यर्थकर्मणि
चतुर्थ्यां बाध्यमानत्वात् ॥ १३ ॥

विद्युत्प्रणाशं स वरं प्रनष्ठो यद्वोर्ध्वशोषं तृणवद्विशुष्कः ।

अर्थे दुरापे किमुत प्रवासे न शासनेऽवास्थित यो गुरुणाम् ॥ १४ ॥

विद्युदित्यादि—अर्थे कार्यविशेषे दुरापेऽपि कृच्छ्रप्राप्येऽपि । ‘ईषददुःसुषु-
श ।३।१२६।’ इति खल् । गुरुणां यच्छासनमादेशः तस्मिन् यो नावास्थित नाव-
स्थितवान् । अवपूर्वाच्छिष्ठतेर्लुङ् । ‘समवप्रविभ्यः स्थः ।१।३।२२।’ इति तद्
‘स्थाच्छेदिच्च ।१।२।१७।’ इति कित्वमित्वं च । ‘हस्त्वादङ्गात् ।१।२।२७।’ इति
सिचो लोपः । स वरं विद्युत्प्रणाशं प्रनष्ठः । विद्युदिवोत्पत्यनन्तरमेव विनाशं
गतः । ‘उपमाने कर्मणि च ।३।४।४५।’ इति चकारात् ‘कर्त्रोर्जीवपुरुषयोः
—३।४।४३।’ इत्यतः कर्त्रैप्रहणानुवृत्तौ कर्त्रवाचिनि विद्युच्छब्द उपपदे णमुल् ।
‘उपसर्गादगमासेऽपि णोपेदशस्य ।१।४।१४।’ इति णन्वम् । यद्वेत्यथवा । स ऊर्ध्व-
शोषं तृणवद्विशुष्कः । ‘ऊर्ध्वे शुष्पिपूरोः ।३।४।४४।’ इति णमुल् । उभयन्नामैव-
लादिना समाप्तः । ‘यथाविध्यनुप्रयोग—३ । ४ । ४ । ४।’ किमु प्रवासे किम्पुनः
प्रवासविषये यच्छासनं तत्र तावदनवास्थितस्य सुतरामेव पूर्वोक्तं प्रयुज्यते ॥ १४ ॥

पौरा निवर्त्तध्वमिति न्यगादीत् तातस्य शोकाऽपनुदा भवेत ।

मा दर्शताऽन्यं भरतं च मत्तो निवर्तयेत्याह रथं स्म सूतम् ॥ १५ ॥

पौरा इत्यादि—हे पौरा! यथागतं निवर्तध्वम् । विधौ लोट् । इति तान्
न्यगादीत् उक्तवान् रामः । गदे: ‘अतो हलादेल्घोः ।७।२।७।’ इति वृद्धिः । ‘इट
ईटि ।८।२।३।८।’ इति सिचो लोपः । तातस्य पितुः । शोकापनुदा: शोकस्या-
पहर्त्तो भवेत । तुन्दशोकयोरित्यादिना कः । भवतेर्विधौ प्रार्थनायां वा लिङ् ।
मध्यमपुरुषबहुवचनम् । भरतं च मत्तो मत्तः सकाशात् । ‘अस्मदः
पञ्चम्यास्तसिल् ।५।३।७।’ ‘प्रत्ययोत्तरपद्योऽच्च ।७।२।९।८।’ इति
मदादेशः । अन्यं भरतं मा दर्शत मा द्रष्टारः स्थ । अपि तु योऽहं स एव भरत
इति भावः । स च प्रतिष्ठितः राज्यं पालयिष्यतीत्येव न्यगादीत् । दृशेर्माङ्गि
लुङ् । ‘इरितो वा ।३।१।५।७।’ इत्यङ् । ‘ऋद्धशोऽडिं गुणः ।७।४।१।६।’

निवर्तय रथमिति सूतं च सुमन्त्रमाह स्म । 'लद् स्मे ।३।२।११८' इति लद् ।

‘ ब्रुवः पञ्चानामादितं आहो ब्रुवः ।३।४।८४' इत्याहादेशः तिपो णल् ॥ १५ ॥

ज्ञात्वेद्भिर्तैर्गत्वरतां जनानामेकां शयित्वा रजनीं सपौरः ।

रक्षन्वनेवासकृताद्यथात्तान् प्रातश्छलेनाऽपजगाम रामः ॥ १६ ॥

ज्ञात्वेत्यादि—निवर्तद्वनित्युक्ते ये तत्रानिवृत्ताः तेषां जनानां रामो गत्व-
रतां गमनशीलतां ज्ञात्वा । ‘ गत्वरथ ।३।२।१६४' इति निपातितः । तैर्न-
द्भिर्तैरभिग्रायसूचकैश्चेष्टितैः । इङ्गतैर्मविनिष्ठा । वनेवास इति सप्तमीति योग-
विभागात् समाप्तः । ‘ शयवासवासिषु—६ ।३।१८' इति विभाषासप्तम्या
अलुक् । तेन कृतार्त्सिहादिभयात् रक्षन् पालयन् तान् पौरान् सपौरः पौरैः
सह एकां नतु ततोऽधिकां रजनीं शयित्वा । एकरात्रिपर्यन्तमेव तैः समेकत्र
न्यूष्येत्यर्थः । ‘ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५' इति द्वितीया । शयित्वेति
‘ न क्त्वा सेद् ।१।२।१८' इति । कित्वप्रतिषेधात् गुणो भवति । प्रातः प्रातः-
काळे । छलेन सन्ध्यावन्दनादिव्याजेन अपजगाम गतवान् ॥ १६ ॥

अस्ताक्षुरसं करुणं रुवन्तो मुहुर्मुहुर्न्यश्वसिषुः कवोष्णम् ।

हा राम हा कष्टमिति ब्रुवन्तः पराङ्मुखैस्ते न्यवृत्तन्मनोभिः ॥ १७ ॥

अस्ताक्षुरित्यादि—ते पौरा राममपश्यन्तः । कहणं रुवन्तो विलपन्तः ।
‘ रु शब्दे ।' इत्यर्थ्य शतारि रूपम् । अस्तम् अश्रु । अस्ताक्षुः मुक्तवन्तः । सृजे-
स्तोदादिकस्य परस्मैपदिनः सिचि ‘ सृजिदशोऽश्वल्यमकिति ।६।१।६८' इत्यम् ।
हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘ चोः कुः ।८।२।३०' ‘ खारि च ।८।४।५५' इति
चत्वर्म् । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः कवोष्णमीषदुष्णमन्तःसन्तापात् । ‘ कवं चोष्णे
द्वा ।१।०७।' इति कोः कवादेशः । न्यश्वसिषुः । इवसेलुङ् । ‘ । हयन्तक्षण-
श्वसजागृणिश्वयेदिताम् ।७।२।५।' इति श्वसेवृद्धिप्रतिषेधः । ‘ अतो हलादेल्लघोः
।७।२।७।' इति विकल्पस्य प्रामन्त्रात् । हा राम हा कष्टं कृच्छ्रमिति ब्रुवन्तः ।
पराङ्मुखैः येन गतो रामस्तेन गतैर्मनोभिरित्थंभूतैः । न्यवृत्तन् निवृत्तवन्तः ।
‘ द्युद्धथो लुडि ।१।३।९।१।' इति परस्मैपदिकल्पात् । द्युतादित्वादङ् ॥ १७ ॥

मूतोऽपि गङ्गासलिलैः पवित्रा सहाऽश्वमात्मानमनल्पमन्युः ।

सप्तमीतयो राघवयोरधीयन् श्वसन्कदुष्णं पुरमाविवेश ॥ १८ ॥

सूत इत्यादि—सूतोऽपि सुमन्त्रः सहाश्चमध्यैः सह । अनलपमन्युः प्रवृद्धं शोकः । राघवयोः रामलक्ष्मणयोः । ‘सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । १२ । इष्ठा’ इत्येकशेषः । ससीतयोः सीतासाहितयोः । अधीयन् स्मरन् । ‘इक्षु समरणे’ इत्यस्य शतरि रूपम् । यणादेशः । ‘अधीगर्थदयेशां कर्मणि २। श३५२।’ इति कर्मणि षष्ठी । श्वसन् । कदुष्णं ईषदुष्णम् । ‘कवं चोष्णे । ६। श३१०७।’ इति चकारात् कदादेशः । गङ्गातटात्प्रतिनिवृत्य पुरमयोध्यामाजगाम आगतवान् । गङ्गासलिलैः आत्मानं बाह्यमाभ्यन्तरं च पवित्रीकृत्य । ‘पूड़च्छ्रा ३।२।५१।’ इति विकल्पेनेत् । ‘पूडः क्त्वा च । १।३।२३।’ इति कित्वप्रति-घेषात् गुणः ॥ १८ ॥

प्रतीयि सा पूर्वदृशे जनेन द्यौर्भासुशीतांशुनिराकृतेव ।

राजन्यनक्षत्रसमन्विताऽपि शोकोऽन्धकारक्षतसर्वचेष्टा ॥ १९ ॥

प्रतीयेत्यादि—जनेन रामानुयायिना प्रतीय प्रतिनिवृत्य । पूर्योध्या ददृशे हृष्टा । कर्मणि लिद् । प्रतीय इति ईङ् गतावित्यस्य रूपं न पुनारिणः । तस्य हि तुकि प्रतीयेति स्यात् । ‘षत्वतुकोरसिद्धः । ६।१।८६।’ इत्येकादेशस्यासिद्धत्वात् । ‘प्रतीयुषा सा दृशे’ इति पाठान्तरम् । प्रतिनिवृत्तेन सा पूर्वदृशे हृष्टेत्यर्थः । अस्मिन् पाठे तु ‘उपेयिवाननांश्वाननूचानश्च । ३।२।१०९।’ इतीणः क्वसौ रूपं दृष्टव्यमन्त्रोपसर्गस्थातन्त्रत्वात् । शोकोऽन्धकार इव शोकान्धकारः । केवल क्षता नीतानुषेष्यकर्मणि चेष्टा परिस्पन्दो यसां पुरे सा तथोक्ता । राज्ञोऽपत्यानि ‘राजदृशुराद्यत् । ४।१।१३७।’ राजन्याः क्षत्रियाः । ‘ये चाभावकर्मणोः । ६। ४।१।६८।’ इति प्रकृतिभावः । राजन्याः नक्षत्राणीव तैः समन्वितापि द्यौः भानुशीतांशुविनाकृतेव द्यौराकाशः यथा नक्षत्रसमन्वितापि रात्रौ भानुचन्द्राभ्यां विनाकृता रहिता अन्धकारच्युतसर्वचेष्टा तद्वत्सापि भानुचन्द्रस्थानीययोः रोक्षवयोर्विरहात् ॥ १९ ॥

विलोक्य रामेण विना सुमन्त्रमच्योष्ट सत्वान्नृपतिश्चयुताऽशः ॥

मधुनि नैषीद्धयलिपन्न गन्धैर्मनोरमे न व्यवसिष्ट वस्त्रे ॥ २० ॥

विलोक्येत्यादि—रामेण विना सुमन्त्रं विलोक्य दृशा नृपतिर्दशरथं सत्वात् स्वभावादच्योष्ट च्युतः । च्यवतेरकर्मकाललुङ् । गतोऽपि मद्वचनम-विक्रम्य आपाच्छेद्राम इति अस्य या आशा सा च्युता यस्य स च्युताशः ।

सत्वात् च्युतश्च मधूनि पातुं नैषीत् नेष्टवान् । ‘नेटि । ७ । २ । ४ ।’ इति
सिचि वृद्धिप्रतिषेधः । गन्धैश्चन्दनादिभिर्नालिपत् । लिपेः ‘लिपिसिचिह्वश्च
। ३ । १ । ५३ ।’ इत्यङ् । मनोरमे चेतोहारीरणी वस्त्रे न व्यवसिष्ट न परि-
हितवान् । ‘क्वस आच्छादने ।’ इत्यस्मात् लुङ् । अनुदात्तेत्वात्तङ् ॥ २० ॥

आसिष्ट नैकत्र शुचा व्यरंसीत् कृताऽकृतेभ्यः क्षितिपालभाग्भ्यः ।

स चन्दनोशीरमूषणालदिग्धः शोकाभिनाऽगाह्युनिवासमूयम् ॥२१॥

आसिष्टेत्यादि—एकत्र भूमाने शुचा शोकेन नासिष्ट नोपविष्टः । ‘आस
उपवेशने’ इत्यत आत्मनेपदिनो लुङ् । कृतानि चाकृतानि चेति । ‘कैन नव्यवि-
शिष्टेनानव् । २ । १६० ।’ इति समाप्तः । असमापितेभ्य इत्यर्थः । क्षितिपालं
भजन्ते यानि दूतप्रेषणादीनि तेभ्यः क्षितिपालभाग्भ्यः । व्यरंसीत् विरतः ।
विमुखोऽभूदिर्यर्थः । ‘जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्’ इति अपादा-
नसंज्ञा । रमेलुङ् । ‘व्याङ्गपरिभ्यो रमः । १ । ३ । ८३ ।’ इति तिष् । ‘यम-
रमनमातां सक्त्व । ७।२।७३।’ इति सगिटौ । स एवम्भूतो राजा चन्दनोशीरमू-
षणालैः शोकाभिप्रतीकारभूतैर्दिग्ध उपलिपेऽपि उद्गोभिनैव द्युनिवासमूयं देव-
स्वमगात् गतवान् । दिर्हेनष्टायां ‘दादेव्यातोर्धः । ८।२।३।२।’ इति धः । ‘ज्ञषस्तथा-
धों धः । ८।१।२।४०।’ ‘झलां जश् झाशि । ८।४।५३।’ इति जश्त्वम् ।
‘दिविं निवासो येषां ते द्युनिवासाः देवाः तेषां भाव इति ‘भुवो भावे
३।१।१०७।’ इति वैयप् ॥ २१ ॥

विचुकुशुभूमिपतेर्महिष्यः केशाल्लुलुञ्चुः स्वपूर्णि जघ्नुः ।

विभूषणान्युन्मुचुः क्षमायां पेतुर्बभञ्जुर्वलयानि चैव ॥ २२ ॥

विचुकुशुरित्यादि—भूमिपते राजो महिष्यः पत्न्यः । ‘अविमहोषिष्च’
‘त्यौणादिकषिष्च । विचुकुशुः रुदितवत्य इत्यर्थः । हा स्वामिन्निति । तथा
देशान् लुलुञ्चुः उत्पाटितवत्यः । स्वपूर्णि स्वशरीराणि जघ्नुस्ताडितवत्यः ।
वेमूषणानि हारादीनि उन्मुमुचुर्मुकवत्यः । क्षमायां भुवि पेतुः । वलयानि
प्रवैधव्यचिह्नानि बभञ्जुः चूर्णितवत्यः । एते लिङ्गानाः । पतेरेः
स्वाभ्यासलापौ ॥ २२ ॥

ताः सान्त्वयन्ती भरतप्रतीक्षा तं बन्धुता न्यक्षिपदाशु तैले ।

दूतांश्च राजाऽत्मजमानिर्षीन् प्रास्थापयन्मन्त्रमतेन यूनः ॥२३॥

ता इत्यादि—बन्धुता बन्धुसमूहः । ‘ग्रामजनबन्धुभ्यस्तद् । ४ । २
। ४३ ।’ ता महिषीः सान्त्वयन्ती तृष्णीं स्थापयन्ती । सान्त्वं करोतीति
णिच् । तं दशरथं मृतं तैले न्यक्षिपत् निक्षिपती । आशु शीघ्रम् । मा भूत्पू-
तिरीति । क्षिपेर्लङ् । ‘पुषादिव्याद्याद्यादितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।’
इत्यङ् । कस्मात्तमक्षिपादित्याह—भरतप्रतीक्षा तेन संस्कारः कर्तव्य इति सा
भरतं प्रतीक्षते । ‘ईक्षिक्षमिभ्यां च ।’ इत्युपसंख्यानाण्णः । दूतान् प्रास्थापयत्
प्रहितवरी । राजात्मजं भरतमानिनीषून् आनेतुमिच्छून् । अन्यथा केकयीवै-
मुख्याद्वर्द्वेऽपि वैमुख्याहूता अपि नानेतुमिच्छन्ति । तत्रोपि मन्त्रिमतेन न
समतेन । यूनः तेषां गन्तुं समर्थत्वात् ॥ २३ ॥

सुसो नभस्तः पतितं निरीक्षाञ्चके विवस्वन्तमधः स्फुरन्तम् ।

• आरुयद्वसन्मातृकुले सखिभ्यः पश्यन्प्रमादं भरतोऽपि राज्ञः ॥ २४ ॥

सुस इत्यादि—भरतोऽपि मातृकुले वसन् सखिभ्यो मित्रेभ्यः आरुयत्
कथितवान् । स्वयातेर्लङ् । ‘अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । ३ । १ । १२ ।’ इत्यङ् ।
क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति संप्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । किमारुयदित्याह—अहं
सुसः सन् नभस्तो नभस्तलात् आकाशात्पतितं विवस्वन्तमादित्यं स्फुरन्तं
चलन्तं निरीक्षांचके निरीक्षितवान् । ईक्षेः ‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । ३ । १ । ६ ।’
इत्याम् । उच्चमविषये सुसप्रमत्तावस्थायां चित्तव्याक्षेपात् परोक्षे लिङ् । पश्यन्
विलोक्यन् । राजो दशरथस्य । प्रमादमनिष्टम् ॥ २४ ॥

अशिश्रवनात्ययिकं तमेत्य दूता यदाऽर्थं प्रयियासयन्तः ।

आंहिष्ट जाताऽञ्जिहिषस्तदाऽसाबुत्कण्ठमानो भरतो गुरुणाम् २५ ॥

अशीत्यादि—दूता एत्य आगत्य भरतमातृकुलमित्यर्थः । अङ्गपूर्वादिनः क्त्वां-
अत्यवस्थ स्वयपि तुकि च रूपम् । यदा तं भरतमर्थं वचनमशिश्रवन् श्रावितवन्तः ।
अर्थात्तेऽनेति णिच् घञ्च । शृणोतेर्णर्णन्ताल्लुडि ‘चडि । ६ । १ । ३ ।’ इति द्विर्वच-
नम् । ‘स्वतिशृणोस्विद्वतिप्रवर्तिपूर्वतिच्यवतीनां वा । ७ । ४ । ८ ।’ इत्यभ्यासस्ये-
त्वम् । आत्ययिकम् अत्ययो विनाशः स प्रयोजनमस्येति तर्दस्य प्रयोजनमिति
ठञ् । पिता ते मङ्गानस्त्वां द्रष्टुमिच्छतीति आत्ययिकं वचनम् । तमिति
‘मारिचुद्दिग्रयवसानार्थशब्दकन्मार्कम्भकाणामणि कर्त्ता सणौ । १ । ४ । ५ ।’ इति
कर्त्तव्यमेवं । शृणोते: शब्दकर्मतात् अर्थमिति ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १ । ४ । ४ ।’
इत्यक्षेत्रं कर्म । प्रयियासयन्तः प्रयातुमिच्छन्तं भरतं प्रयोजितवन्तः ।
समन्वयातोऽप्यम् । तदा असौ भरतो जाताऽञ्जिहिषः । जाता अञ्जिहिषं

गमनेच्छा यस्य सः । ‘आहि गतौ ।’ ‘इदितो नुम् धातोः ।७ । १ । ५८ ।’
 तस्मादंहितुमिच्छतीति सन् । इट् । ‘अजादेहितीयस्य ।६।१२ ।’ इति
 हिशब्दो द्विरुच्यते । नकारस्य ‘न न्द्राः संयोगादयः ।६।१३ ।’ इति प्रतिषेधः ।
 अभ्यासकार्यम् । अनुस्वारपरस्वरणैः । ‘अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२ ।’ इत्यकार-
 प्रत्ययः।टाप्।आंहिष्ट गतवान् तस्मादेवात्मनेपदिनो लुड् । उत्कण्ठमानः स्मरन् ।
 ‘मठि काठि शोके ।’ इत्यस्मादात्मनेपदिनो रूपम् । अनेकार्थत्वाद्वात्मनाम् ।
 गुरुणां पितामहादीनाम् । ‘अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।’ इति
 कर्मणि षष्ठी ॥ २५ ॥

बन्धूनशङ्किष्ट समाकुलत्वा—दासेदुषः स्वेहवशादपायम् ।

गोमायुसारङ्गणाश्च सम्यड्नाभ्यासिषुर्भीमरासिषुश्च ॥ २६ ॥

बन्धूनित्यादि—दुःस्वप्रदर्शनेन, अकस्माच्च पितृदूतागमनेन स्नेहवशात्
 चेतसि समाकुलत्वाद्वरतो बन्धूनशङ्किष्ट शङ्कितवान् उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः ।
 शङ्कतेरात्मनेपदिनो लुडि रूपम् । कीदृशान् आसेदुषः अपायं विनाशं
 गतवतः । ‘भासायां सद्वसस्तुवः ।३।२।१०८ ।’ इति कसुः । ‘अत एकहल्ल-
 मध्येऽनादेशादेलिटि ।६।४।१०० ।’ इत्येत्वाभ्यासलोपौ । अस्मद्बन्धुः कञ्चित्
 व्यसनमापन्नोऽभूदिति । गच्छतंस्तस्य गोमायुसारङ्गणाः शृगालमृगगणाश्च
 सम्यग्नुकूलं नायासिषुः नागताः । यातेर्लुडि ‘यमरमनमातां सकृ च
 ।७।२।७३ ।’ इति सगिटौ । शृगालाः प्रदक्षिणं गताः मृगाश्च सव्यमित्यर्थः ।
 भीमसुद्देशकरमरासिषुः रसिताः । रसेः परस्मैपदिनो लुडि । ‘अतो हलादे-
 र्लघोः ।७।२।७ ।’ इति वृद्धौ रूपम् । न रासेः । तस्यात्मनेपदित्वात् ॥ २६ ॥

स प्रोषिवानेत्य पुरं प्रवेक्ष्यन् शुश्राव घोषं न जनौघजन्यम् ।

आकर्णयामास न वेदनादान् चोपलेभे वणिजां पणाऽयान् ॥ २७ ॥

स इत्यादि—स भरतः प्रोषिवान् मातामहकुलात् प्रोषितः सन् ।
 ‘भाषायां—।३।२।१०८ ।’ इति कसुः । यजांदित्वात् सम्प्रसारणं द्विर्वचनम् ।
 ‘वस्वेकाजाद्वसाम् ।७।२।६७ ।’ इति इट् । पुरमयोध्यामेत्य आगत्य प्रवेक्ष्यन्
 गृहमित्यर्थात् पुरं प्रविष्टः।घोषं शब्दं न शुश्राव न श्रुतवान्।जनौघजन्यं जनसमू-
 हेन जन्यमुत्पाद्यम् । ‘जनेर्यक्’ इति जनेर्यक् । तथा वेदध्वनीआकर्णयामास
 न श्रुतवान् । ‘प्रातिपदिकाद्वत्वर्थे’ इति णिच् । तदन्तात् लिङ्घामि ।
 ‘अयामन्ताल्वाद्ययेत्निवण्णुषु ।६ । ४ । ५५ ।’ इत्यादेशः । न चोपलेभे
 नोपलब्धवान् । वणिजां पण्यजीविनाम् । पणायान् पणलाभान् । क्रयविक्रय-

रूपव्यवहारस्योच्छब्दत्वात् । पणन्ते इति वणिजः पणेरिजादेश्व व इत्यौणा-
दिकः । पण्यन्ते इति पणाः । ‘नित्यं पणः परिमाणे ।३।३।६६।’ इत्यप् ।
व्यवहर्तव्याः ईयन्ते प्राप्यन्ते वणिग्भिरित्ययाः लाभाः । ‘एरच् ।३।३।५६।’
इति हणः कर्मणि अच् । पणानामयाः पणायाः तान् । पणायामिति
पाठान्तरम् । वणिजां स्तुतिं संव्यवहारविषयां नोपलेभे । संव्यवहारकुशलाः
साधव इति गुपादिषु स्तुत्यर्थपणिना साहचर्यात् पणेरपि तदर्थादेवायप्रत्ययः ।
‘अ प्रत्ययान् ।३।३।१०२।’ इत्यकारः । टाप् । ‘वणिजां प्रलापान्’ इति तृतीयः
पाठः । वणिक्प्रसारकलहानित्यर्थः ॥ २७ ॥

चक्रन्दुरुच्चैर्नपार्ति समेत्य तं मातरोऽभ्यर्णमुपागताऽस्वाः ।

पुरोहिताऽमात्यमुखाश्च योधा विवृद्धमन्युप्रतिपूर्णमन्याः ॥ २८ ॥

चक्रन्दुर्पत्यादि—तं भरतं गृहगतमभ्यर्णं समीपीभूतं समेत्य ढौकित्वा
मावरः कौशल्याद्याः नृपतिमुच्चैरत्यर्थं चक्रन्दुः क्रान्दितवत्यः । हा स्वामिन् !
हा राजन् ! क गतोऽसीति । उपागतं प्राप्तमस्मशुजलं यासां ताः । एवंविधाः ।
युध्यन्ते इति योधाः पचादित्वादच् । ते च तं समेत्य नृपतिं चक्रन्दुः । पुरो
धीयत इति पुरोहितः । ‘निष्ठा ।३।२।१०२।’ ‘दधातोहिंः ।७।४।४२।’ अमाशब्दः
सहार्थे । सह राजा कार्येषु भवतीत्यमात्यः । ‘अमेहकतसित्रेभ्य एव ।’ इति
नियमात् । पुरोहितामात्यौ मुखं प्रधानं येषां योधानां ते पुरोहितामात्युगुखाः ।
अमात्यस्याजायदन्तत्वेऽपि पुरोहितस्याभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । विवृद्ध-
मन्युना शोकेन प्रतिपूर्णे मन्ये गलशिरे येषामिति ॥ २८ ॥

दिव्यक्षमाणः परितः ससीतं रामं यदा नैक्षत लक्ष्मणं च ।

रोरुद्यमानः स तदाऽभ्यपृच्छद्यथावदाख्यन्तर्थ वृत्तमस्मै ॥ २९ ॥

दिव्यक्षमाण इत्यादि—स भरतो यदा ससीतं रामं लक्ष्मणं च परितः
सर्वतो दिव्यक्षमाणः द्रष्टुभिच्छन् । ‘ज्ञाश्रुसृष्टशां सनः १ ।३।५७।’
इति तहु । ‘हलन्ताच्च ।१।२।१०।’ इति सनः किन्त्वे ‘सृजि-
दृशोः— ।६।१।५८।’ इत्यम् न भवति । नैक्षत न दृष्टवान् । तदा
रोरुद्यमानः अत्यर्थं रुदन् । यदि रूपम् । अभ्यपृच्छत् पृष्टवान् । ऐक्षताभ्यपृ-
च्छदिति भूतसामान्यविक्षया लङ् । अन्यथा क्वेः परोक्षत्वात् लिद्
स्यात् । अथैतस्मिन् प्रस्तावे यथावत् यादृशं वृत्तं भूतं तथावत् आख्यन् कथि-
तवन्तः पुरोहितामात्यमुखा अस्मै भरताय । ख्यातेः ‘अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्
।३।१५।३।’ इति च्छेष्टु । आतो लोपः ॥ २९ ॥

आबद्धभीमभुक्तीविभङ्गः शेशीयमानाऽरुणरौद्रनेत्रः ।

उच्चैरुपालब्धस केकयों च शोके मुहुश्चाविरतं न्यमाङ्गक्षीत् ॥३०॥

आबद्धेत्यादि—स भरत उच्चमहता ध्वनिना केकयों च मुहुर्मुहुर्भूयो भूय उपालब्ध उपालब्धवान् । उपाङ्गपूर्वों लभिरुपालम्भे वर्तते । तस्मादात्मनेपदिनो ‘झलो झलि ।८।२।२६’ इति सिज्जापे धत्वजश्वते रूपम् । शोके च मन्यौ अविरतमजहं न्यमाङ्गक्षीत् निमग्नः । मस्जेलुडि ‘मस्जिनशोर्ज्ञलि ।७।१।६०’ इति तुम् । तत्रापि मस्जेरन्त्यादिनियमात् तुम् । संयोगादिलोपः । हलन्तल-शणा वृद्धिः । हलप्रहणं समुदायप्रतिप्रत्यर्थभित्युक्तम् । कीटशः । आबद्धभीम-भुक्तीविभङ्गः । अभेश्च डुरित्यौणादिको डुः । ‘कुडे छीलिङ्गे भावे कृशादिभ्यु’ इतीः । तदन्तात् कृदिकारादिति डीष् । भुवोः कुटी कौटिल्यं भुक्ती । ‘इको हस्तोऽठयो गालवस्य ।६।३।६१’ इति हस्तः । तस्या विभङ्गो विरचनम् । आबद्धः कृतः प्रयत्नेनायासवृत्तेन भीमो भयानको भुक्तीविभङ्गो येन यस्य वेति । शेशीयमाने अस्तर्थं शूयमाने अरुणे लोहिते रौद्रे भयानके नेत्रे यस्य सः । श्वयतेर्याडि ‘विभाषा श्वेः ।६।१।३०’ इति वा सम्प्रसारणम् ॥३०॥

तमुपालम्भमाह—

नृपाऽत्मजौ चिकिंशतुः ससीतौ ममार राजा विधवा भवत्यः ।

शोच्या वयं भूरनृपा लघुत्वं केकयुपज्ञं बत बह्नर्थम् ॥ ३१ ॥

नृपेत्यादि—नृपात्मजौ रामलक्ष्मणौ ससीतौ सीतया सह चिकिंशतुः फिट्टौ । ममार भृतो राजी । ‘प्रियतेर्लुह्लिडोश्च ।१।३।६१’ इति नियमात्-डोऽभावः । विधवाः धवो भर्ता तेन विना भवत्यो जाताः । शोच्याः शोच-नीया वयम् अयशोभाजनत्वात् । ‘ऋहलोर्यत् ।३।१।२४’ ‘शङ्क्याः’ इति पाठा-न्तरम् । शङ्कनीया वयम् । एतत्कृतोऽयं प्रयोग इति । भूश्चानृपा । न विद्यते नृपो यस्यामिति । नवोऽस्त्यर्थनामिति बहुव्रीहिः । लघुत्वं राज्यप्रार्थनालक्षणं केकयुपज्ञम् । केकय्या प्रथमतो ज्ञातं नान्यस्य कस्यचित्पूर्वज्ञातम् । उपज्ञायत इत्युपज्ञम् ‘आतश्चोपसर्गे ।३।१।३६’ इति श्वियामङ् । कृलक्षणा वष्टी केकय्या उपज्ञेति समाप्तः । ‘उपज्ञोपक्रमं तदाद्याच्चित्यासायाम् ।२।४।२।१’ इति नपुंस-कृता । बत कष्टम् । बह्नर्थं बहुदोषम् । क्लेशमरणाद्यनिष्टानां सम्भवात् ॥३१॥

भरतकृत एवायं प्रयोग इत्येतत्परिहरन्नाह—

* अश्लीलोऽपि प्रयोगोऽन्नादुष्टः । प्रहृते तथोक्तौ शोकोद्धारकत्वात् ।

नैतन्मतं मत्कमिति ब्रुवाणः सहस्रशोऽसौ शपथानशप्त् ।

उद्भाश्यमानः पितरं सरामं लुठचन्सशोको भुवि रोरुदावान् ॥ ३.२ ॥

नैतदित्यादि—यदेतकेकश्चनुष्ठितं मतमभिप्रायः । न मत्कृतं तत् । नाहमस्य ग्रामणीर्ण प्रभुरिति । अस्मच्छब्दात् ‘स एषां ग्रामणीः । ५।।२७८।’ इति कन् । ‘ग्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।।१९८।’ इति मपर्यन्तस्य मादेशः । नास्मन्मता-दनुष्ठितमनयेत्यर्थः । इत्येवं ब्रुवाणः सहस्रशो बहुवारानसा भरतः शपथान् स्मश्रत्ययकारणवचनानि अशप्त् कृतवान् । अनेकार्थत्वाद्वातूर्ना शोपैवादि-कस्य उभयपदिनो लङ्घि रूपम् । उद्भाश्यमानः आह्वयन् । ‘वाशृ शब्दे ।’ दैवा-दिकः । अनुदान्तेत् । पितरं सरामं हा तात् ! हा रामेति । लुठयन् भुवि लुठन् । ‘लुठ विलोडने ।’ दैवादिकः परमैपदी । सशोक इति शाठधपरिहारार्थम् । रोरुदावान् अत्यर्थ रोदनं कुर्वन् । यज्ञन्तात् ‘अ प्रत्ययात् । ३।।३।।०२।’ इत्यकारः । ‘अतो लोपः । ६।।४।।४८।’ ‘यस्य हलः । ६।।४।।४९।’ खियामतष्टाप् । सा विद्यते यस्येति मरुप् ॥ ३.२ ॥

तं सुस्थयन्तः संचिवा नरेन्द्रं दिधक्षयन्तः समुद्भुरारात् ।

अन्त्याऽऽहुर्ति हावायितुं सविप्राश्चिचीषयन्तोऽध्वरपात्रजातम् ॥ ३.३ ॥

तमित्यादि—संचिवा अमात्याः । कार्येषु सचन्ते समवयन्तीति सचेरिच-
ज्ञित्यौणादिक इवन् । तं भरतं सुस्थयन्तः सुरथं कुर्वाणाः । तत्करोतीति
चिच् । नरेन्द्रं दशरथम् समुद्भुः, उद्भाहितवन्तः । शिविकायामारोप्य । बहिर-
न्तर्भावितण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । आरात् नातिदूरे ।
दिधक्षयन्तः । दग्धुमेच्छन्तं भरतं प्रयोजितवन्तः । दहे: सानि ‘दादेश्वरोघ्नः
६।।२।।३।।२।’ भूषभावचर्त्वे । प्रयोजकव्यापारे णिच् । अन्ते विनाशे भवा या
च्छुर्तिः । दिग्गादिभ्यो यत् । ४।।३।।५।।४। इति यत् । तामन्त्याहुर्ति हावयितु-
मर्त्तौ प्रक्षेपयितुं सविप्राः त्राह्वणैः सहिताः संचिवाश्चिचीषयन्तः । चेतुं
निधातुस्तिष्ठन्तः, त्रिक्षेपयितवन्तः । किं तत् अध्वरपात्रजातं यज्ञोपयोगिपात्राणां
सुवादीनां समूहम् ॥ ३.३ ॥

उदक्षिपन्यदृद्धुकूलकेतूनवादयन्वेणुगृदङ्गकांस्यम् ।

कम्बूश्च तारानधमन्समन्तात् तथाऽनयन् कुङ्गमचन्दनानि ॥ ३.४ ॥

बदेत्यादि—पद्मदुकूलविरचितान् केतून् ध्वजानुदक्षिपन् उच्छ्रूतवन्तः ये

नियुक्ताः । क्षिपेस्तौदादिकर्स्य ग्रहणम् । वेणुमृदङ्गकांस्यं वंशमुरजकांस्यतालम्-
चादयन् वादितवन्तः । वदेर्यन्तस्यैव प्रयोगः । 'जातिरप्राणिनाम् । २ । ४ ।
६ ।' इत्येकवद्भावः । न पुनरत्याङ्गत्वात् । तत्र हि प्राणिनां तूर्याङ्गाणां द्वन्द्वे-
क्लवद्भावः । यथा मार्दङ्गिकपाणविकभिति । 'वृत्वादिहनिकमिकषिभ्यः
सः ।' इत्यौणादिकः कंसशब्दः । तदर्थाय हिंतं कंसीयम् । त्रिपुणा हठद्रव्यम् ।
प्रकृतिविकारभावे छः । तस्य विकार इति । 'कंसीयपरशव्ययोर्यज्ञौ लुक्ष
च । ४ । ३ । १६८ ।' इति छस्य लुक्ष यज्ञ च प्रत्ययः । कम्बून् शङ्खान् ।
तारान् उच्चैस्तरध्वनीन् अधमन् शब्दितवन्तः । 'पात्राधमास्थान्नादाण्डशर्यतसर्ति-
शदसदां पिबिजिव्रथमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छधौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।'
इति धमादेशः । तथा कुंकुमचन्दनार्णि आनयन् आनीतवन्तः । सर्वत्र लङ्घि
रूपम् ॥ ३४ ॥

अन्त्योष्टि दर्शयन्नाह—

श्रोत्राऽक्षिनासावदनं सरुकमं कृत्वाऽजिने प्राकिञ्चिरसं निधाय ।

सञ्चित्य पात्राणि यथाविधानमृत्विग्जुहाव ज्वालितं चिताऽप्निम् ॥ ३९ ॥

श्रोत्रेन्द्रादि—अजिने कृष्णसारर्चर्मणि प्राक् पूर्वं शिरो मूर्धा यस्येति तं प्राक्-
शिरसं शर्वं निधाय स्थापयेत्वा पश्चात् श्रोत्राक्षिनासावदनम् । प्राण्यङ्गत्वादेऽ-
क्लवद्भावः । वृत्वृदीत्यादिस्त्रूपस्यानन्तरं नयतेराचेति प्रकृतेराकारे नासेयौणा-
दिकं रूपम् । सरुकमं संसुवर्णं कृत्वा । सञ्चित्य विन्यस्य अङ्गप्रत्यङ्गेषु । पात्राणि
स्तुगादीनि । यथाविधानं यादृशं विधानमुक्तं गृह्णशास्ते । ऋत्विग्याजकः ।
ऋतौ यजतीति । 'ऋत्विग्यादधृक्सग्गदिगुणिगच्चयुजिक्रुचां च । ३ । ३ ।
५९ ।' इति निपातितः । ज्वलितं चिताऽप्निम् । ज्वलनं चितं तदर्थमग्निं जुहावं
जुहोति स्म ॥ ३५ ॥

कृतेषु पिण्डोदकसञ्चयेषु हित्वाऽभिषेकं प्रकृतं प्रजाभिः ।

प्रत्यानिनीषु विनयेन रामं प्रायादरण्यं भरतः सपौरः ॥ ३६ ॥

कृतेष्वित्यादि—पिण्डोदकदानास्थिसञ्चयेष्वनुष्ठितेषु प्रजाभिः प्रकृतं प्रस्तु-
तमभिषेकमादिर्चर्मणि क्तः । हित्वा त्यक्त्वा । 'जहातेश्च किर्त्व । ७।४। ४३ ।'
इति हिरादेशः । रामं प्रत्यानिनीषुः प्रत्यानेतुभिच्छुः । विनयेन प्रसादनया न
भयादरण्यं वनं प्रायात् गतवान् । भरतः सपौरः सह पौरैः । अयोध्याभैर्ज-
नर्मयैकेन प्रसाद्यमानः कदाचिन्नागमिष्यतीति मया प्रसाद्यमानोऽपि यदि
न प्रत्यागच्छेचदा लोके तथा मृषाप्रवादो माभूदिति च हेतोः पौरैः सह
श्रयाणम् ॥ ३६ ॥

शीघ्रायमाणैः ककुभोऽशुवानैर्जनैरपन्थानमुपेत्य सृष्टैः ।
 शोकादभूषैरपि भश्चकासाञ्चकार नागेन्द्ररथाऽध्यमिश्रैः ॥ ३७ ॥
 शीघ्रेत्यादि—जनैर्हेतुभूतैर्भूतचकासाञ्चकार शोभते स्म । कर्तुः क्रियाफल-
 योगेऽपि नात्मनेपदम् । आप्नत्ययवदित्यत्र पूर्वप्रहणानुवृत्तेः । चकासेशच परस्यै-
 यादित्वादिति विधिनियमौ स्थितौ । शीघ्रायमाणैः अशीघ्रैः शीघ्रैर्भवद्विर्जितिं
 गच्छद्विरित्यर्थः । ‘शृशादिभ्यो सुव्यच्चेलोपश्च’ हलः । ३ । १ । १२ ।’ इति
 क्यद्वृ । डित्वाच्चड । ककुभोऽशुवानैः दिशो व्याप्तुवद्धिः । अश्वोते: सौवादि-
 कस्य आत्मनेपदिनो रूपम् । अपन्थानमुपेत्य सृष्टैः बहुत्वाद्भाग्माणपि गत्वा-
 गतैः । ‘ऋक्पूरबूधःपथामानक्षे ।’ ३ । ४ । ७४ ।’ इति समासान्तः प्राप्तो ‘नव-
 स्तपुरुषात् । ५ । ४।७१ ।’ इति प्रतिबिद्धः सन् ‘पथो विभाषा । ५ । ४।७२।’
 इति विकल्पितः । शोकाद्वेतोरभूषैरनलङ्घारपि चकासाञ्चकार । भूः भूमिः ।
 भूषेति ‘गुरोऽच हलः । ३ । ३ । १०३ ।’ इत्यकारप्रत्ययः । ‘चकासु दीतौ’
 इत्यस्मात् कास्यनेकाज्प्रहणं चुलुम्पाद्यर्थमित्याम् । नागेन्द्ररथाञ्चमिति द्वन्द्वे
 एकवद्वावः । अल्पाच्चतरस्य न पूर्वनिपातः । ‘बहुष्वनियमः ।’ इति वचनात् ।
 चेन सेनाङ्गत्वात् कृतैकवद्वावेन मित्रैर्युक्तैः । ‘पूर्वसद्वशसमोनार्थकलहनिपुण
 मिश्रद्वलक्षणः । १।१।३।’ इति तृतीयासमाप्तः ॥ ३७ ।

उच्चिकियरे पुष्पफलं वनानि सस्तुः पितृनिपियुरापगासु ।

आरेदुरित्वा पुलिनान्यशङ्कं छायां समाश्रित्य विशश्रमुश्च ॥ ३८ ॥

उच्चीत्यादि—ते जनाः गच्छन्तः पुष्पफलं पुष्पाणि फलानि चेति ‘जाति-
 रप्राणिनम् । २।४।६।’ इत्येकवद्वावः । उच्चिकियरे उच्चितवन्तः । चित्वाच्च-
 ड कर्तुः क्रियाफलयोगात् । ‘विभाषा चेः । ७।३।५।’ इति धातोः कुत्वम् ।
 ‘एरनेकाचः—क्षा४।८।२।’ इति यणावेशः । ‘उच्चिच्चियरे इति पाठान्तरं युक्तम् ।
 वनानीतिवैहुत्येन ‘अकथितं चा । १।४।५।’ कर्म । वनानि विषद्वयन्तः फलानि
 चगृह्णात्यर्थः । कर्तः सस्तुः स्नातवन्तः । स्नातेलिंदि ‘उस्यपदान्तात् । ६ ।
 १ । ९६ ।’ इति यरुपम् । पितृन् पिश्रियुः उदकाजलिना तर्पितवन्तः ।
 ग्रीष्मतेर्लिंदि इयडवदेशः । आपगासु नदीषु । एतत् कृत्वा पुलिनानि सैक-
 तानि इत्वा आरेदुः अस्त्रियाऽप्यत्रेषुस्त्रियोपाठात्तरम् । शोकापनोदनार्थे
 क्रियन्तमपि कालमारमन्ति स्म । ‘व्याङ्गपरिभ्यो रमः । १ । ३ । ८३ ।’ इति
 उत्समैपदम् । अशङ्कं विश्वव्यम् । छायां समाश्रित्य विशश्रमुः विश्रान्ताः ॥ ३८ ॥

स्त्रस्त्रंप्य तीरं लमसाऽपगाया गङ्गाऽम्बुसम्पर्कविशुच्छिभाजः ।

विगाहितं यामुनम्बु पुण्यं ययुर्नेरुद्धश्रमवृत्तयस्ते ॥ ३९ ॥

सम्प्राप्येत्यादि—तमसापगायाः तमसाख्यायाः आपगायाः नद्याः । ‘अत्य-
विचमितमिनमिरभिलभितपिपतिजनिपणिगहिभ्योऽसच्’ । यस्याः स्म-
रणात्पापं ताम्यति सा तमसा । ‘तरसा’ इति पाठान्तरम् । तत्र तरसा
वेगेन आपगाया अर्थात्तमसाया नद्या गङ्गाम्बुसम्पर्कात् विशुर्द्धि पवित्रतां
भजते या तस्यास्तीरं कूलं सम्प्राप्य गत्वा ते जना निरुद्धश्रमकृतयः यथुः
गताः । गङ्गेति गन् गम्यद्योरित्यौणादिको गन् । विगाहितुं विगाहिष्यामह
इति कृत्वा । यामुनमम्बु यमुनाया इदं यमुनासम्बन्धिजलम् । पुण्यं पुण्य-
हेतुत्वात् पुण्ययुक्त्वाद्वा ॥ ३९ ॥

ईयुर्भरद्वाजमुनेर्निकेतं यस्मिन्विशश्राम समेत्य रामः ।

च्युताऽशनायः फलवद्विभूत्या व्यस्यन्नुदन्यांशिशिरैः पयोभिः ४० ॥
ईयुरित्यादि—भरद्वाजमुनेर्निकेतं आश्रममीयुः गताः । ‘इणो यण्
। ६ । ४ । ८१ ।’ इति यत्वम् । अभ्यासस्य ‘दीर्घ इणः किति । ७ । ४ । ६९ ।’
इति दीर्घत्वम् । यस्मिन्निकेते रामो विशश्राम विश्रान्तः । समेत्य मिलित्वा ।
तमीयुर्जना इति योज्यम् । फलवद्विभूत्या फलवतां वृक्षाणां समृद्धया हेतुभूतया
च्युताशनायोऽपगतव्युक्त्वाः । ‘अशनायोदन्यधनायामुक्त्वापिपासागर्वेषु । ७ ।
४ । ३ । ४ ।’ इति निपातितः । व्यस्यन् उदन्यां वारयन् । असेदैवादिकस्य रूपम् ।
उदन्यां पिपासां शिशिरैः शीतलैः पयोभिः ॥ ४० ॥

वाचंयमान्स्थिण्डलशायिनश्च युवुक्षमाणाननिशं सुमुक्षन् ।

अध्यापयन्तं विनयात्प्रेमुः पद्मा भरद्वाजमुनिं सशिष्यम् ॥ ४१ ॥
वाचमित्यादि—ते भरद्वाजमुनिं सशिष्यं शिष्यैः सह वर्तमानं प्रणेमुः प्रण-
मन्ति स्म । विनयात् विनयेन । अत एव पद्माः पदात्यः पादाभ्यां गच्छन्तीति ।
‘अन्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।’ इति डः । ‘हिमकाषिहतिषु च । ६ ।
। ३ । ५ । ४ ।’ इति चकारस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् गमोत्तरपदे पदादेशः । पदिति
योगविभागाद्वा । कीदृशम् । अध्यापयन्तं पाठयन्तम् । कान् वाचंयमान् मौनत्र-
तान् । ‘वाचि यमो ब्रते । ३ । २ । ५० ।’ इति खच् । ‘वाचंयमपुरंदरौ च
। ६ । ३ । ६९ ।’ इति निपातनात् पूर्वपदस्य अमन्तता । स्थिण्डलशायिनः
भूशायिनः । ‘स्थिण्डलच्छयितारि ब्रते । ४ । २ । १५ ।’ इति णिनिः । युवु-
क्षमाणान् योक्तुमिच्छतः । योगाभ्यासनिष्ठानित्यर्थः । अनिशमविच्छेदेन सुमुक्ष-
न्मोक्षाभिलाषिण इत्यर्थः । अतएव योगाभ्यासमिच्छून् ॥ ४१ ॥

आतिथ्यमेभ्यः परिनिर्विवप्सोः कल्पद्रुमा योगबर्लेन फेलुः ।

धामप्रथिम्नो ग्रादिमाऽन्वितानि वासांसि च द्राविमवन्त्युद्गुः ॥ ४२ ॥

आतिथ्यमित्यादि—आतिथ्यर्थमातिथ्यमन्नपानादि । ‘अतिथेवर्यः १५।४।२६।’ एव्यो भरतादिजनेभ्यः इति संप्रदाने चतुर्थीं परिनिर्विन्द्वप्सोः निर्वप्तुमिच्छोदार्तुमिच्छोरित्यर्थः । निर्पूर्वो वपिर्दाने वर्तते । धाम-प्रथिनः । धाम्ना तेजसा प्रथिमा पृथुत्वं यस्य । तेजसो बहिर्निर्गतत्वात् शरीरस्य पृथुत्वं जायते । तस्य भरद्वाजमुनेयोगबलेन समाधिबलेन । ‘युज समाधौ ।’ इत्यस्य रूपम् । कल्पद्रुमाः फेलुः फलिताः । भक्ष्यान्नपानादिकमित्यर्थः । ‘चूफलमजप्रश्च । ६।४।१२२।’ इत्येत्वमध्यासलोपश्च । वासांसि च वस्त्राणि उद्धुः उद्धवान्ति स्म । यजादित्वात् संप्रसारणम् । ग्रादिमान्वितानि सृष्टुत्वमुपगतानि । द्राघिमवन्ति दैर्घ्ययुक्तानि । पृथुमृदुदीर्घशब्दे भ्यस्तस्य भाव इत्यर्थे ‘पृथ्वादिभ्य इमनिच्च वा । ५।१।१२१।’ पृथुमृदुशब्दयोः ‘र अतो हहादेः । ६।४।१६१।’ इति रादेशः । दीर्घशब्दस्य ‘प्रियस्थिरस्थिरोरुच्छुलगुरुवृद्धत्रप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्वहिगर्वर्षित्रवद्राघिवृन्दाः । ६।४।१५७।’ इति द्राघादेशः पश्चान्मतुप् ॥ ४२ ॥

आज्ञां प्रतीषुर्विनयादुपास्थुर्जगुः सरागं ननृतुः सहावम् ।

सविभ्रमं नेमुरुदारमृच्छुस्तिलोक्तमाऽद्या वनिताश्च तस्मिन् ॥४३॥

आज्ञामिति—तर्तस्मस्तपोवने तिलोक्तमाद्या वनिता दिव्यविनियः आगता आज्ञामादेशं मुनेः प्रतीषुः प्रतीष्टवत्यः । चेटीभवत्य इत्यर्थः । प्रतिपूर्व इषिर्ग्रहणे वर्तते तस्य लिटि रूपम् । विनयादुपास्थुः उपस्थिताः । पादप्रक्षालनादिदानेन च्यस्त्रानं कृतवत्यः । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्लुडिःसिच् । ‘गातिस्थाघुपाभूम्य—२।४।७७।’ इति सिचो लुक् । ‘सिजभ्यस्त्वाविदिभ्यश्च । ३।४।१०९।’ इति झेर्जुस् । ‘उत्स्यपदान्तात् । ६।१।१६।’ इति पररूपम् । जगुः सरागं सरक्तं गीत-वत्यः । ननृतुः सहावं सशूद्धारचेष्टं नार्तिवत्यः । सविभ्रमं नेमुः सविलासं प्रकृत्वः । उद्दरमृच्छुः अग्राम्यमुक्तवत्यैः ॥ ४३ ॥

वस्त्राऽन्नपानं शथनं च नाना कृत्वाऽवकाशे रुचिसम्प्रकल्पम् ।

तात्प्रीतिमानाह मुनिस्ततः स्मनिवध्यमाध्वं पिबताऽत शेष्वर्वम् ॥४४॥

चक्रेत्यादि—क्वो वनितोपश्यानानन्तरमवकाशे प्रदेशे यथाभिमते वस्त्र-अपानम् । सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्वतीत्येकवद्वावः । शयनमित्यथिकरणे रूपुद् । नाना कृत्वा पृथक् कृत्वा । रुचिसंप्रकल्पम् । यस्य यावदभिरुचिर्तं तत्त्वैव संपादितम् । ‘कपो रो लः । ८।२।१८।’ प्रीतिमान्मुनिस्तान भरता-

दीनाह स्म उक्तवान् । किमाह—निवध्वं परिधित्व वस्त्राणि । ‘वस आच्छादने’^१
इत्यस्य विधौ लोट् । ‘श्लां जश ज्ञशि ॥१४।५३॥’ इति सकारस्य दकारः ।
आध्वं उपविशत । आसेः पूर्ववत् दादेशः । अत्त खादत अन्नादिकम् । ‘अद्
भक्षणे ।’ इत्यस्मात् लोट् । पानादिकं पिवत । पिवते^२ ‘पाद्राधमास्थान्ना-
दाणंदृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिग्रधमतिष्ठमनयच्छुपद्यच्छुधौशीयसीदाः ॥’
इति सूत्रेण पिबादेशः । शोधवम् स्वपित शयने । सर्वत्र विधौ लोट् ॥ ४४ ॥

ते भुक्तवन्तः सुसुखं वसित्वा वासांस्युषित्वा रजनीं प्रभाते ।

द्रुतं समध्वा रथवाजिनागैर्मन्दाकिनीं रम्यवनां समीयुः ॥ ४५ ॥

ते भुक्तेत्यादि—ते भरतादयः सुसुखामिति क्रियाविशेषणम् । भुक्तवन्तः
सन्तो वासांसि वसित्वा परिधाय । रजनीमुषित्वा रजनीं रात्रिं ‘वसति-
शुधोः—॥१४।२५॥’ इतीट् । ‘कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३॥’ इति
द्वितीया । द्रुतं शीघ्रं प्रभाते मन्दाकिनीं नदीं समीयुः संभूय गताः । समध्वर
अविच्छिन्नाध्वानः । सङ्गता अध्वन इति प्रादिसमाप्तः । ‘अपसर्गाद्ध्वनः-
॥५।४।८॥’ इति समाप्तान्तर्ष्टच् । रथवाजीति द्रुन्दैकवद्वावः । तेन सहिता
नागा इति शाकपार्थिवादित्वात् समाप्तः अन्यथा सेनाङ्गत्वात् समुद्रायस्यैकव-
द्वावः स्थात् । रम्यवनां रमणीयकाननां रमणीयजलां वा ॥ ४५ ॥

वैखानसेभ्यः श्रुतरामवार्तास्ततो विशिञ्चानपतत्रिसङ्घम् ।

अञ्चलिहाऽप्यं रविमार्गभङ्गमानंहिरेऽद्वि प्रति चित्रकूटम् ॥ ४६ ॥

वैखानसेत्यादि—ततो मन्दाकिनीगमनान्तरं वैखानसेभ्यस्तृतीयाश-
मिभ्यः । चित्रकूटे रामोऽस्तीति श्रुतरामवार्ताः । चित्रकूटनामानगर्दि पर्वतं प्रति ।
‘लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ॥१४।९०॥’ इति कर्मप्रवच-
नीयसंज्ञा । ‘कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ॥१३।८॥’ इति द्वितीया ते लक्ष्मी-
कृत्य आनंहिरे जग्मुः । अंहर्तेलिटि द्विर्वचनम् । ‘हलादिः शेषः ॥१४।६॥’
‘अत आदे ॥१४।७॥’ इति दीर्घः । ‘तस्मान्नुड द्विलः ॥१४।७॥’ इति
नुट् । विशिञ्चानपतत्रिसंघं कूजत्पक्षिगणम् । अञ्चलिहाशं अञ्चस्पृक्षशिखरम् ।
‘वहाऽध्रे लिहः ॥१३।३॥’ इति खश् । ‘अर्द्धद्विषदजन्तस्य मुम् ॥१४।५॥’
इति मुम् । रविमार्गभङ्गम् । उच्चस्तरत्वात् रवेमार्गभङ्गो यस्मि-
न्नद्राविति ॥ ४६ ॥

द्वष्टोर्णुवानान्कुभो बलौधान् वितत्य शार्ङ्गे कवचं पिनह्य ।

तस्थौ सिसंग्रामयिषुः शितेषुः सौमित्रिरक्षिष्ठुवमुज्जिहानः ॥ ४७ ॥

इत्यस्याद्—बलैवान्दृष्टा सौमित्रिस्तस्थौ स्थितः । अभ्यासस्य ‘शर्पूर्वाः स्थयः । ७।४।६१’ इति खयः शेषः । कीदृशः कुमो दिश ऊर्णुवानान् आच्छादयतः । ऊर्णोतेरदादिकस्योभयपदिनः शानचि उवडादेशे च रूपम् । शार्ङ्गं शृङ्गस्य विकारं घनुर्वितत्य आरोपितगुणं कृत्वा । ‘वा ल्यपि । ६।४।३८’ इत्यनुनासिकलोपः । कवचं पिनह बद्धवा । ‘णह बन्धने’ इत्यस्य ल्यपि । अपिशब्दाकारलोपस्तु—‘वष्टि भागुरिरलोपमवाप्योरुपसर्गयोः । धाव्यकूजोस्तनिनहोश्च बहुलत्वेन शौनकिः ॥’ इति । सिसंप्रामयितुः संप्रामयितुमिच्छुः । ‘संप्राम युद्धे ।’ इति चौरादिको णिच् । तदन्तस्य सनि ग्रन्थमस्यैकाचो द्विवचनम् । शिवेषुः तीक्ष्णशरः अक्षिणी च मुखौ च अक्षिभुवम् । ‘अचतुर्विचतुरसुचतुरर्णापुंसधेन्व ०—५।४।७।’ इत्यत्र निपातितः । उज्जिहानः ऊर्ध्वं नयत् । ‘ओहाङ् गतौ । इत्यस्य जुहोत्यादिकस्य ‘भृत्यामित्, ७।४।७।६’ इतीत्वम् ॥ ४७ ॥

शुक्लोत्तरासङ्गभूतो विश्वान् पादैः शनैरापततः प्रमन्यून् ।

आौहिष्ट तान्वीतविरुद्धबुद्धीन् विवन्दिष्वृन्दाशरथिः स्ववर्ण्यान् ॥४८॥

शुक्लेत्यादि—दाशरथिस्तान् स्ववर्ण्यान् स्ववर्गे भवान् । ‘अशब्दे यत्वौ । ४।३।६।४’ इति यत् । आत्मीया अपि कदाचित् दुष्टबुद्धयो भवन्तीत्याह—वीतविरुद्धबुद्धीन् । औहिष्ट ऊहितवान् । ऊहतेरात्मनेपदिनो लुडि आदृ बृद्धिः । तदेवाविरुद्धबुद्धित्वं दर्शयन्नाह—शुक्लोत्तरासङ्गभूतः शुक्लो य उत्तरासङ्गः उत्तरीयं तं विभ्रतीति क्विप् । विश्वान् निरायुधान् । पादैरापतत आगच्छतो मुकवाहनत्वात् । शनैर्न त्वरया । प्रमन्यून प्रकृष्टशोकान् आगतशोकान् वा । विवन्दिष्वृन् वान्दिष्वृमिच्छन् ॥ ४८ ॥

समूलकाषं चक्षु रुदन्तो रामाऽन्तिकं बृहितमन्युवेगाः ।

आवेदयन्तः क्षितिपालमुच्चैःकारं मृतं रामवियोगाशोकात् ॥ ४९ ॥

समूलेत्यादि—ते रामान्तिकं रामसमीपं प्राप्ताश्चक्षुः पिष्ठवन्तः समूलकाषं समूलं कषित्वा भमेरधोभागमुत्खन्य । ‘निमूलसमूलयोः कषः । ३।४। । ३।४।’ इति कषेष्वसुल्य । ‘कषादिषु यथाविष्यनुप्रयोगः । ३।४।४।’ रुदन्तः दोदनं कुर्वन्तः बृहितमन्युच्चेम विवृद्धशोकवेगाः । ‘बृहि वृद्धौ’ इत्यस्य रूपम् । रामवियोगशोकात् कारणात् क्षितिपालं दशरथमुच्चैःकारं कृत्वा । मृतं विधवं गतम् आवेदयन्तः । ‘अव्यये यथाभिप्रेताख्याने कृजः क्त्वाणमुलौ ३। ४।५।५।’ इति कृजो णमूल । एतद्यथाभिप्रेताख्यानभिति नीचैराख्यातुमभिप्रेतत्वात् उच्चिरवेद्यान्ति ॥ ४९ ॥

चिरं रुदित्वा करुणं सशब्दं गोत्राभिधायं सरितं समेत्य ।

मध्येजलाद्वराघवलक्ष्मणाभ्यां प्रत्तं जलं द्वयञ्जलमन्तिकेऽपाम्॥५०॥

चिरमित्यादि—चिरं महान्तं कालं करुणं समन्यु सशब्दं प्रतिकृत्य रुदित्वा ‘रलो व्युपधाद्वलादे: संश्च।१।२।८।’ इति कित्त्वे विकल्पिते ‘रुदविद्मुषभ्र-हिस्विप्रिच्छः संश्च १।२।८।’ इत्यनेन नित्यं कित्त्वम् । सरितं समेत्य नदीं संभूय गत्वा । मध्येजलात् । जलस्य मध्यात् तस्माद्वा स्नात्वोत्थाय अवतीर्थ्य ल्यब्लोपे पञ्चमी । ‘पारेमध्ये षष्ठ्या वा ।२।१।८।’ इत्यव्ययीभावः । ‘नाव्ययीभावाद्तोऽम् त्वपञ्चम्याः ।२।४।८।’ इति लुक्षप्रतिषेधश्च । अपञ्चम्या इति प्रतिषेधात् अमपि न भवति । राघवलक्ष्मणाभ्याम् । अपामन्तिके समीपे जलं प्रत्तं दत्तम् । ‘अच उपसर्गात्तः ।७।४।४।’ गोत्राभिधायं नामाभिधायम् । ‘द्वितीयायां च ।७।२।८।’ इति णमुलु । द्वयञ्जलमिति । अज्ञालिपरिच्छिन्नम् । जलमञ्जली द्वौ विगृहा । तद्वितीर्थं समाप्तः ‘ द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ।५।४।१०।२।’ इति टच् । ताभ्यां प्रत्येकमञ्जलिप्रदानात् द्रावञ्जली प्रमाणमस्ये-त्यस्मिन्वाक्ष्ये प्रमाणप्रत्ययस्य ‘प्रमाणे लः । द्विगोर्नित्यम्’ इति लुक् । ततः समासान्तो न प्राप्नोति । अतद्वितलुकीत्यविकारात् ॥ ५० ॥

अरण्ययाने सुकरे पिता मां प्रायुङ्क राज्ये बत दुष्करे त्वाम् ।

मा गाः शुचं वीर ! भरं वहाऽसुमाभाषि रामेण वचः कनीयान् ॥५१॥

अरण्ययान इत्यादि—अरण्ययाय यानम् अरण्ययानं तस्मिन् सुकरे सुखसाध्ये पिता मां प्रायुङ्क नियुक्तवान् । युजे रौधादिकस्य लङ्कि रूपम् । कर्त्रभिप्राये ‘प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ।१।३।६।४।’ इत्यात्मनेपदम् । राज्ये दुष्करे दुःखसाध्ये त्वां प्रायुङ्क । एवं च सति हे वीर, शुचं शोकं मा गाः । मा कार्षीरित्यर्थः । ‘हणो गा लुड्हि ।२।४।४।’ गातिस्थाषुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७।७।’ इति सिचो लुक्षैः । बत इति खेदे । किन्तु भरमसुं वितुर्नियोगम् । ‘भृत् भरणे ।’ इत्यस्मात् ‘ऋदोरप् ।३।३।५।७।’ वह संपादय । विधौ लोद् । एवं वचः रामेण कनीयान् अनुजो भ्राता भरतः आभाषि भाषितः । कर्मणि लुङ् । ब्रू इत्यर्थं-हणात् द्विकर्मकता । अल्पशब्दादीयसुनि ‘युवात्पयोः कनन्यतरस्याम् ।५।३।६।४।’ इति कनादेशः ॥ ५१ ॥

कृती श्रुती वृद्धमतेषु धीमांस्त्वं पैतृकं चेद्वचनं न कुर्याः ।

विच्छिद्यमानेऽपि कुले परस्य पुंसः कथं स्यादिह षुत्रकाम्या॥५२॥

कृतीत्यादि—वृद्धानां पण्डितानां मतेषु श्रुतानि कृतानि चानुषितानि येनेति। ‘श्राद्धमनेन मुक्तमिनिठनौ ५।२।८५।’ इत्यधिकृत्य ‘इष्टादि भ्यश्च ।५।२।८८।’ इतीनिः । कस्ये निवयस्ये०’ इत्यादिना कर्मणि सप्तमी । स्वमते भावकान्तादस्यर्थे इत् । स त्वमेवंविधः धीमान् पैठुकं पितुरागतम् । ‘पितुर्यच्च । ४। ३। ७९।’ इति चकाराहतष्ट्विं ‘इसुसुक्तान्तात्कः ३।३।५१।’ चेद्वाहिं वचनं न कुर्याः । मध्यमपुरुषैवचने लिङ्गं रूपम् । तदा विच्छिद्यमाने कुले वंशे परस्यापि अन्यस्यापि पुंसः । अपिशब्दो भिन्नक्रमः । कथं स्यादिह लोके पुत्रकाम्या । आत्मनः पुत्रेच्छा नैवेत्यर्थः । पुत्रशब्दात् ‘का-म्यैच्च । ३।१।५४।’ इति कास्यच् । तदन्तादप्रत्ययः । टाप् ॥ ५२ ॥

अस्माकमुक्तं वहु मन्यसे चेद् यदीशिष्ये त्वं न मायि स्थिते च ।

जिहेष्यतिष्ठन्यदि तातकाक्ये जहीहि शङ्कां ब्रज शाधि पृथ्वीम् ।५।३।

अस्माकमित्यादि—अस्माकमुक्तम् अस्मत्सम्बन्धिं वचनं चेद् यदि वहु मन्यसे अदिश्यसे । पितृतुल्यो आता अस्यानुमतः कथमेवं न कुर्यामिति यदि च मयि स्थिते नेशिष्ये न प्रभुत्वं करोषि । प्रभुत्वमहं त्वदाज्ञाकर इति इंशेरादादिकस्य ‘ईशः से ।३।२।७७।’ इतीडागमः । गुरुवचनमनतिक्रमणीयं विशेषतस्तातवान्यं तस्मिन्नतिष्ठन् वचनमकुर्वाणः यदि जिहेषि लज्जसे । ‘इलौ ।६।१।१०।’ इति द्विवचनम् । एतत्रिश्चित्याह—जहीहि शङ्कां त्यज विकल्पम् । ब्रज गच्छ अयोध्याम् । शाधि पालय पृथ्वीम् । ‘जहातेश्च । ।६।४।१।६।’ इति इत्वे विकल्पिते । ‘ईं हल्यधोः ।६।४।१।३।’ इतीत्वम् । शासेः ‘शा हौ ।६।४।३।५।’ इति शाभावः । तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वात् ‘हु-श्लभ्यो हैर्विः ।६।४।१०।१।’ ॥ ५३ ॥

वृद्धैरसां राज्यधुरां प्रवोद्धुं कथं कनीयानहमुत्सहेय ।

मा मां प्रयुक्थाः कुलकीर्तिलोपे प्राह स्म रामं भरतोऽपि धर्म्यम् ॥५४॥

वृद्धैरसामित्यादि—भरतः प्राह । धूर्वहनशीला । धूनयनशीला इत्यर्थः। अनेकार्थत्वाद्वाप्नाम् ‘श्राजभासधूर्विद्युतोर्जपूजुग्रावस्तुवः किंप् ।३।२।१७७।’ इति किंपूरालोपः ।६।४।२।१।’ इति वलोपः।राज्यस्य सप्ताङ्गस्य धूर्धात्री।प्रकृतिरिति विगृहै ‘ऋक्पूर्व्यःपथामानक्षे ।५।४।७४।’ इत्यकारप्रत्ययः । ‘परवलिङ्गं द्वन्द्वत्पुरुष्योः ।२।४।२।६।’ इति धूरिति शीलिङ्गम् । ततष्टाप् । कीदर्शी वृद्धैरसां वृद्धो ज्येष्ठः औरसः पुत्रो यस्याम् । उरसा निर्मित इति छन्दसो ‘निर्मिते’ इत्यनुवृच्चौ ‘उरसोऽण् च ।४।४।९४।’ इत्यण् । तां तिष्ठति रामे प्रवोद्धुं कथमु-

१ सुन्दरीस्त्वं वीर्येदात्मवं च सूचितम् ।

त्सहेय । कनीयान् सन् । नैवेत्यर्थः ‘शकधुषज्ञागलाघटरभलभक्षमसहा-
हीस्त्यथेषु तुमुन् ।३।४।६५।’ इति वहेः सहावुपदेष्टुमुन् । ‘गर्हायां लडपि-
जात्वोऽइत्यनुवृत्तौ ‘विभाषा कथमि लिङ् च ।३।३।१४३।’ इति लिङ् ।
संहेरुत्पूर्वस्य आत्मनेपदित्वात् सीयुद् । इटोऽन् ‘३।४।१०६।’ लिङः स-
लोपोऽनन्तस्य ।७।२।७१।’ अतो मा मां प्रयुक्त्याः मा नियोजय ‘माङ्गि-
लुङ् ।३।३।१७५।’ ‘झलो झलि ।८।२।२६।’ इति सिंचो लोपः । कुलकी-
र्तिलोपे । लोपयतीति लोपः पचायच् । रघुवंशस्य या कीर्तिः तस्या लोप
इति समाप्तः । पूर्वैरनाचरितत्वात् । एवं च धर्म्य धर्मादनपेतं भरतोऽपि
प्राह स्म उक्तवान् ॥ ५४ ॥

पुनश्चाह—

ऊर्जस्वलं हस्तितुरङ्गमेतद्मूनि रत्नानि च राजभाज्जि ।

राजन्यकं चैतद्दृं स्थितीन्द्रस्त्वयि स्थिते स्यामिति शान्तमेतत् ॥५५॥

ऊर्जत्यादि—एतद्वस्तितुरङ्गं सेनाङ्गत्वादेवकद्वावः । ऊर्जस्वलं बलवत् ।
उर्जनमूर्क् । संपदादित्वात् किप् । सा विद्यते यस्येति । ‘ज्योत्सनातमिष्ठा-
शृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलग्नोभिन्नालिनमलीमिसाः ।५ । २।११४।’ इति बलच्,
असुगागमश्च । अमूनि च रत्नानि राजभाज्जि राजगृह्याणि । एतच्च राजन्यकं
शत्रियसमूहः । क्षितीन्द्रो राजा अहं त्वयै स्थिते स्यामिति भवामीति शा-
न्तमेतत् । स्यामिति निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् ॥ ५५ ॥

इति निगदितवन्तं राघवस्तं जगाद् व्रज भरत! गृहीत्वा पादुके त्वं मदीये।

च्युतनिखिलविशङ्कः पूज्यमानो जनौघैः

सकलभुवनराज्यं कारयाऽस्मन्मतेन ॥ ५६ ॥

ऊर्जत्यादि—इति एवं निगदितवन्तं उक्तवन्तं तं भरतं राघवो रामो जगाद्
उक्तवान् । किमित्याह—हे भरत मदीये पादुके उपानहौ गृहीत्वा त्वं व्रज गच्छ ।
‘विधौ लोहा अस्मदस्त्यदादित्वे ‘त्यदादीनि च ।१।१।७४।’ इति वृद्धसज्जायां तस्ये-
द्दर्शये ‘वृद्धाच्छः ।४।२।११४।’ ‘प्रत्ययोक्त्रपद्योश्च ।७।२।९८।’ इति मदादेशः ।
ततश्च पूज्यमानो जनौघैर्जनसमूहैः । च्युतनिखिलविशङ्कः अपगताशेषविकल्पः
सकलभुवनराज्यं सर्वत्र भूमण्डले राज्यं कारय अनुष्ठापय । पादुके इति योज्यम् ।
अस्मन्मतेन अस्माकमिप्रायेण । अत्र मदादेशो न भवति । अस्मद्वो बहुवच-
नान्तस्य विवक्षितत्वात् । तत्र ह्येकवचन इति वर्तते । ननु कर्थं मदीय इत्यत्र

^१ अत्र ‘मालिनी’ वृत्तं तलक्षणं चोकं प्राक् ।

मदादेशः बहुवचनान्तत्वादिति विरोधः । पादुके रामस्यैव तर्हस्मन्मतेन इत्य-
त्रापि एकवचनम् । आवयो रामलक्ष्मणयोर्मतेनेति षष्ठीसप्तमासे न दोषः ॥

इति श्रीजयमङ्गलाऽख्यया व्याख्यया समलङ्घकृते श्रीभट्टिकाव्ये
प्रथमे प्रकीर्णकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे
कथानके श्रीरामप्रवासो नाम तृतीयः सर्गश्च ।

चतुर्थः सर्गः ।

निवृत्ते भरते धीमानत्रे रामस्तपोवनम् ।
प्रपेदे पूजितस्तस्मिन्दण्डकाऽरण्यमीयिवान् ॥ १ ॥

निवृत्त इत्यादि—धीमान् बुद्धिमान् अत्र स्थिते मयि कदाचिद्भूतः पुनरेन
अर्थत्येवं बुद्धिमान् रामः अत्रेमहर्षेस्तपोवनं प्रपेदे गतः । तस्मिंश्च तपोवने
अर्थपाद्यादिभिः पूजितः । दण्डक्यो नाम भोजो भारगवकन्यामहरत् । तच्छाः
पात् पांसुवर्षेणाक्रान्तः सबन्धुराष्ट्रविनाशो यस्मिन् स्थाने तत्त्वोपलक्षितम्
अरण्यममूर्त् । तदीयिवान् गतवान् । ‘उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ।३।२।१०९।’
इत्यत्र उपसर्गस्यातन्त्रत्वात्केवलादपीणः कसुः ॥ १ ॥

अटाट्यमानोऽरण्यानीं ससीतः सहलक्ष्मणः ।

बलाद्बुभुक्षुणोक्षिप्य जहे भीमेन रक्षसा ॥ २ ॥

अटाट्यत्यादि—महदरप्यमरण्यानी । ‘इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्य-
यवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ।४।१।४९।’ इति हिमारण्ययोर्महत्वे डीषानुकौ ।
ताम् अटाट्यमानः अत्यर्थमटन् रामः । ‘सूचिसूत्रिमूळयटथर्यशूणीतिभ्यो यङ्
वाच्यः’ इति यङ् । ससीतः सहलक्ष्मणः ‘वोपसर्जनस्या ।५।३।८२।’ इति विकल्पेन
समावः । क्लृत् बलवत्तथा जहे हतः गृहीत इत्यर्थः । कर्मणि लिद् ।
उत्क्षिप्य उत्थाप्य हस्ताभ्यां केनापि रक्षसा । वैश्रवणशापात् तुम्बुरुनाम्ना
गन्धर्वेण राक्षसीभूतेन विराधाख्येन बुभुक्षुणा भोक्तुमिच्छुना । भीमेन भयान-
केन । ‘भियः शुक्’ इत्यौणादिकषुगभावपक्षे रूपम् ॥ २ ॥

अवाकिञ्चिरसमुत्पादं कृतान्तेनाऽपि दुर्दमम् ।

भद्रकल्पा भुजौ विराधाऽख्यं तं तौ भुवि निचक्षतुः ॥ ३ ॥

अवागित्यादि—तं विराधाख्यं राक्षसं कृतान्तेनापि यमेनापि । दुर्दमं
दुखेन दम्यत इति खङ् । तौ रामलक्ष्मणौ भुवि निचक्षतुर्तीन्खातवन्तौ । कीहू

शम् अवाक्षिरसं अधोमस्तकम् अवाक्ष शिरो यस्येति । ऊर्ध्वं पादौ यस्येति उत्पादम् । मुजौ . भड्कत्वा मोटायित्वा । ‘जान्तनशां विभाषा ।६।४।३२।, इत्यनुनासिकलोपाभावपक्षे रूपम् ॥ ३ ॥

आंहिषातां रघुव्याघ्रौ शरभङ्गाऽश्रमं ततः ।

अध्यासितं श्रिया ब्राह्म्या शरण्यं शरणैषिणाम् ॥ ४ ॥

आंहित्यादि—ततो विराघवधानन्तरं रघुव्याघ्रौ शरभङ्गनाम्नो मुनेराश्रमं आंहिषातां गतवन्तौ । अंहेरुद्धिं रूपम् । अध्यासितं आश्रयीकृतम् । श्रिया लक्ष्म्या ब्राह्म्या ब्रह्मसम्बन्धिन्या । ब्रह्मण इयमित्यण् । ‘ब्राह्मोऽजातौ ।६।४।३७।’ इति निपातनात् टिलोपः । ‘ठिड्ढाणव्यद्वयसज्जद्वच्चमात्रचूतयमठकृठ-च्छकच्छकरपः ।४।१।१५।’ इति डीप् । शरणे अवस्थाने साधु अनुकूलं शरण्यम् । ‘तत्र साधुः ।४।४।९।८।’ इति यत् । शरणैषिणां शरणं त्राणमेष्टुं शीलं येषाम् ॥४॥

पुरो रामस्य जुहवाच्चकार ज्वलने वपुः ।

शरभङ्गः प्रदिश्याऽरात्सुतीक्ष्णमुनिकेतनम् ॥ ५ ॥

पुर इत्यादि—शरभङ्गो रामस्य पुरः अप्रतः वपुः शरीरं ज्वलने अग्नौ जुहवाच्चकार कुष्ठित्वात्तस्य । ‘भीहीभृहुवां श्लुवच्च ।३।१।३।९।’ इति आम् । आमि श्लुभावे द्विर्वचनम् । किं कृत्वेत्याह—प्रदिश्य कथयित्वा । किम् आरात् समीपे सुतीक्ष्णनाम्नो मुनेः केतनम् आश्रमम् । तत्र वासमुपकल्पयेति ॥ ५ ॥

तत्र किमत्रावस्थानमिति चेदाह—

यूर्यं समैष्यथेत्यस्मिन्नासिष्महि वर्यं वने ।

दृष्टाः स्थ स्वस्ति वो यामः स्वपुण्यविजितां गतिम् ॥ ६ ॥

यूर्यमित्यादि—आपि नाम यूर्यं समैष्यथ आगमिष्यथ । आङ्गूर्ध इण् आग-मने वर्तते । ‘एलेघत्यूद्धु ।६।१।१८।’ इति वृद्धिः । इत्यस्मात्कारणात् । अस्मि-न्वने वयमासिष्महि स्थिताः । आसेरुद्धिं रूपम् । ‘अस्मदो द्वयोश्च ।१।२।५।९।’ इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयत्वादेकत्वं बहुवचनम् । अस्मदागमने किं ते फल-मिति चेदाह—दृष्टाः स्थ अधुना दृष्टा भवथ । अस्तेर्मध्यमपुरुषबहुवचने ‘शसो-रक्षोपः ।६।४।१।१।’ इत्यकारलोपः । स्वस्ति कल्याणम् । वः युष्मभ्यम् । ‘नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषहयोगाच्च ।२। ३।१।६।’ इति चतुर्थी । ‘बहुवचनस्य वस्त्रसौ ।८।१।२।१।’ स्वपुण्येन विजितां लब्धां गर्ति जन्म । यामः ब्रजामः । रामरूपेण विष्णुरवतीर्णः तं दृष्टा यास्याम इत्यत्र वर्यं स्थिता इति ॥६॥

तस्मिन्कृतानुसाराद्भूते सुतीक्ष्णमुनिसन्निधौ ।

ॐ श्रीवास पर्णद्वालायां भ्रमन्ननिश्चमात्तश्रमान् ॥ ७ ॥

तस्मिन्नित्यादि—तस्मिन् शरभज्जे कृशनुसादभूते कात्स्वर्णेनाभीभूते
 “विभाषा साति कात्स्वर्णे ।५।४।५२।” इति सातिः । रामः सुतीश्णस्य मुनेः
 सञ्चिदौ समीपे पर्णशालायां पर्णकुट्टयामुवास उषितवान् । तत्र कृतधिवासस्य
 बच्चिमाह ब्रह्मन्निशमाश्रमान् पर्यटन् सदा तपोवनानि मुनीन् उपासितुम्॥७॥

वनेषु वासते येषु निवसन्पर्णसंस्तरः ।

शर्ययोत्थायं मृगान्विद्यन्नातिथेयो विचक्रमे ॥ ८ ॥

वनेष्वित्यादि—वासतेरेषु वसतौ साधुषु । ‘पश्यतिथिवसतिस्वपत्तेर्द्ब्
१४।४।१०४’ इति ढब् । निवसन् शयानः । संस्तीर्यत इति संस्तरः । ‘ऋदो-
रण् ।३।३।६०’ पर्णानि संस्तरो यस्योति पर्णसंस्तरः । शश्योत्थायं शश्याया
उत्थाय । उत्पूर्वांकिष्ठते: ‘अपादाने परीप्सायां ।३।४।५२’ इति णमुल् । शश्यत
अस्यामिति शश्या । ‘संज्ञायाम् ।३।३।९१’ इति क्यथ् । त्वरया मुखधावना-
दीन्यपि न कृत्वा । मृगान्विध्यन् ताडयन् । ‘ग्रहिज्यावयिन्यधिविष्टिविचति-
वृत्तिपृच्छतिभृजीनां डिति च ।६।१।१६।’ इति सम्प्रसारणम् ‘तत्रापि
नात्मार्थं लुब्ध इत्याह आतिथेयः अतिथौ साधुः । पूर्ववत् ढब् । विचक्षमे विहृ-
रति स्म । ‘वैः पादविहरणे ।१।३।४।१’ इति तड़ ॥ ८ ॥

ऋग्यजुषमधीयानान् सामान्यांश्च समर्चयन् ॥

बुभुजे देवसात्कृत्वा शूल्यमुख्यं च होमवान् ॥ ९ ॥

ऋग्यजुषमित्यादि—ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम् । ‘अचतुरविचतुरसु-
चतुरस्त्रीपुंसथेन्वनदुहक्सर्सामवाहूमनसाक्षिभुवदारगवोर्ष्टीवपदष्टीविनक्तंदिवरात्रि-
निद्वाहार्दिवसरजंसनिश्रेयसपुरुषायुषद्वयायुषवर्यजुषातोक्षमहोक्षवृद्धे—
क्षोपशुनगोष्ठश्चाः । ५ । ४ । ७७ ।’ इति निपातितम् । ‘द्वन्द्वाच्चुदिष्टहाऽन्तात
समाहारे । ५ । ४ । १०६ ।’ इति दत्त् । ऋग्वेदं यजुवेदं च अधीयानान्
पठतः । इडोऽविष्वर्षस्य लंटि शानचि रूपम् । ‘न लोकाव्ययनिष्टाखलर्थतृनाम
। २।३।६१ ।’ इति पष्ठीप्रतिषेधः । सामान्यांश्च सामसु साधून् द्विजान् । ‘तत्र
साधुः । ४।४।९८ ।’ इति यत् । ‘ये चाभावकर्मणोः । ६।४।६८ ।’ इति प्रकृ-
तिसामादः । समर्चयन् पूजयन् । शूल्यमुख्यं च मांसं बुभुजे भुक्तवान् । शूले
स्यात्यां च स्यात्यां संस्कृतम् । ‘शूलोखाद्यत् । ४।२।१७ ।’ । ‘भुजोऽनवने । १।
३।६६ ।’ इति तद् । किं कृत्वा—देवेसात्कृत्वा देवेभ्यो दत्त्वा । तदधीनं कृत्वा

‘देये त्रा च ।५।४।५५।’ इति चकारान् सातिश्च । होमवान् होमो विद्यते यस्येति कृताग्निकार्यं इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

वसानस्तन्त्रकनिभे सर्वाङ्गीणे तरुत्वचौ ॥

काण्डीरः खाङ्गिकः शाङ्गीं रक्षन् विप्रांस्तनुत्रवान् ॥ १० ॥

वसान इत्यादि—असौ रामो वनेष्वानभ्र भ्रान्तवानिति वक्ष्यमाणेन श्लोकेन सम्बन्धः । वसानः परिद्यानः । ‘वस आच्छादने ।’ इत्यस्मात् शानच् । तरुत्वचौ वलक्ष्ले प्रत्यप्रे । तन्त्रकः ‘तन्त्रादचिरापहते । ५।२।७०।’ इति कन् । तन्त्रिभे तजुत्ये । सर्वाङ्गीणे सर्वाङ्गाणि व्याप्नुवत्यौ । ‘तत्सर्वादेः पश्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ।५।२।७०।’ इति खः । काण्डीरः काण्डोऽस्यास्तीति । ‘काण्डाण्डादीरनीरचौ ।५।२।१११।’ खाङ्गिकः खङ्गोऽस्यास्तीति । ‘अत इनिठनौ ।५।२।११५।’ ‘खाङ्गिकः’ इति पाठान्तरम् । तत्र खङ्गः ‘प्रहरणम् ।४ ।४ ।५७।’ इति ठक् । शाङ्गीं सधनुः । तनुत्रवान् तनुं शरीरं त्रायत इति तनुत्रम् । ‘आतोऽनुपसर्गेन कः ।३।२।३।५ संसर्गे मतुप् । पिनद्वकवच इत्यर्थः । स एवं विधो विप्रान् ब्राह्मणान् रक्षन् ॥ १ ॥

हित्वाऽशितङ्गवीनानि फलैर्घेष्वाशितम्भवम् ॥

तेष्वसौ दन्दशूकाऽर्पिर्वेष्वानभ्र निर्भयः ॥ ११ ॥

हित्वेत्यादि—आशितास्त्रूपां गावो येषु भवन्ति तृणप्रायत्वात् । ‘अषडक्षा-शितङ्गवलङ्गमर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात् खः ।५।४।७।’ इति खः । पूर्वपदस्य च मान्तव्ये निपात्यते । तान्यरण्यानि हित्वा येषु वनेषु फलैराशितम्भवमाशितस्य भवनं तृपिर्वर्तते । ‘आशिते सुवः—।३।२।४।५।’ इति भावे खच् । तेष्वानभ्र । ‘अभ्र, वभ्र’ इति गत्यर्थो धातुः । लिटि ‘अत आदेः ।७।४।७।’ इति दीर्घे ‘तस्मान्तुङ्गद्विह्लः ।७।४।७।१।’ इति तुट् । दन्दशूकारिः व्यालानां हन्ता । ‘लुपसदचरजपजभदंहदशगृभ्यो भावगर्हयाम् । ३ । १ । २।४।’ इति दंशेर्यङ् । तदन्तात् ‘यजजपदशां’ यङ्गः ।३।२।१६।६।’ इति ऊकः ॥१०-११॥

ब्रातीनव्यालदीप्राऽङ्गः सुत्वनः परिपूजयन् ॥

पर्षद्वलान् महाब्रह्मैराट नैकटिकाऽश्रमान् ॥ १२ ॥

ब्रातीनेत्यादि—तेषु वनेषु भ्रमन् नैकटिकाश्रमानाट गतवान् । अटेरभ्यासस्य ‘अत आदेः ।७ । ४ । ७।०।’ इति दीर्घत्वम् । ग्रामस्यान्तिके, क्रोशमात्रं

^१ ‘द्वाभ्यामेकत सम्बन्धे युग्मकं परिकीर्त्यते । त्रिभिर्विशेषकं ग्रोकं चतुर्भिर्विशेषकं कलापकम् ॥ कुन्तकं चाधिकैस्तेभ्यः इति वचनात् । एवं परतापि ।

त्यक्त्वा यत्यो भिक्षवो ये निवसन्ति ते नैकटिकाः । ‘निकटे वसति । ४।४।७३।’ इति ठङ् । तेषामाश्रमांस्तपोवनानि । कीदृशः । ब्रातीनव्यालदीप्राक्षः । नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरमायास्य ये जीवन्ति ते ब्रातास्तेषां यत्कर्म तदपि ब्रातं तेन जीवन्ति इति ब्रातीनाः । ‘ब्रातेन जीवति । ५।२।२१।’ इति स्वत् । तेषां व्याला हिंसाः उपधातकाः तेषु दीप्राक्षः बलदायुधः । सप्तमीति योगविभागात्सः । सुत्वनः सुतवतः परिपूजयन् । सोमपायिन इत्यर्थः । ‘सुय-जोड्हनिपु । ३।२।१०३।’ तुक् । ‘न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३।’ इत्यल्लोपो न । पर्षद्वलानिति । ‘पर्ष स्मेहने’ अस्मात्पर्षते स्तिव्यतीति । शृण्णसोदिरित्यत्र पर्ष-बाहुलकादौणादिको दिः पर्षत् । तत्व यदि ‘रजःकृष्णासुतिपर्षदौ वलच् । ५।२।१२।’ इति तदा पर्षत् विद्यते येषां सुत्वनामिति वलच् । अत्र परिषीदतीति परिषत् किबन्तो यथा ‘परिषदप्येषा गुणप्राहिणी’ तदा परिषद्वले सहायो येषामिति बहुत्रीहिः । महाब्रह्महद्विर्ब्रह्मणैः ‘कुमहङ्गयामन्यतरस्याम् । ५ । ४ । १०५।’ इति ठच् । तैः सहाट ॥ १२ ॥

युग्मकम् (२)—

परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युर्व्यच्चापि चिन्तयन् ॥

वृद्धिक्षयौ मुनीन्द्राणां प्रियम्भावुकतामगात् ॥ १३ ॥

परेद्यवीत्यादि—परेद्यवि परस्मिन् आगामिनि दिवसे इत्यर्थः । अद्यैतस्मिन्हनि । पूर्वेद्युः पूर्वमिन्नहनि अन्येद्युरन्यसिमिन्नहनि चिरातिक्रान्ते चिरगामिनि दिवसे परेद्यवीत्यादिषु दिवसेषु मुनीन्द्राणां वृद्धिक्षयौ उदयापचयौ चिन्तयन् । प्रियम्भावुकतां पूर्वं प्रियाप्रियस्वभावनिर्मुक्तवादतथाभूतः सन् प्रियो भवतीति प्रियम्भावुकः । आहयसुभगेत्यधिकृत्य ‘कर्तारे भुवः खिण्णुच् खुकचौ । ३।२।५७।’ इति खुकच् । तद्वावः । तामगात् गतः । अर्थान्मुनीन्द्रामावेव । परेद्यव्यादयः शब्दाः ‘सद्यः परुतपरार्थैषमः परेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरपरेद्युरधेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः । ५ । ३ । २२।’ इति निपातिताः ॥ १३ ॥

आतिष्ठद्गु जपन् सन्ध्यां प्रकान्तामायतीगवम् ॥

प्रस्तस्तरां पतञ्चिभ्यः प्रबुद्धः प्रणमन् रविम् ॥ १४ ॥

आतीत्यादि—जपन्मन्त्रमिति सामर्थ्यलभ्यम् । सन्ध्याकालोऽधिकरणम् । तेन अत्यन्तसंयोगे ‘कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २ । ३ । ५।’ इति द्वितीया । सन्ध्यकृ व्याख्यन्त्यस्यामिति । ‘आतश्चेष्टसर्गे । ३ । ३ । १०६।’ इत्यङ् । किम-

वर्धिं सन्ध्यामित्याह—प्रक्रान्तामायतीगवम् । आयत्यः आयान्त्यो भवन्ति अस्मिन् काले गावः अस्मिन्नायतीगवम् आरब्धाम् । ‘‘ तिष्ठदुप्रभृतीनि च । २।१।१७।’ इत्यव्ययीभावसमासत्वात्साधुः । नाव्ययीभावादतोऽम०—१।४।८।२।’ इत्यादिना सप्तम्या अम्भावः । आङ्गूर्वादिणेः शतारि ‘ इणो यण् । ६।४।८।१।’ इति यणि छापि च रूपम् आयतीति । गावोऽपि गोचरात् गोष्ठमायान्त्वं दिवसस्यार्धनाडिकावशेषे सन्ध्यापि तदैव प्रवर्तते । कियन्तमेवं जपन्नित्याह—आतिष्ठद्गु इति । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहाया । गावो हि रात्रिप्रथम-यामस्य नाडिकायामतीतायां विश्रान्ताः सत्यः उत्थाव्य दुद्यन्ते । आतिष्ठदिति ‘आङ्गूर्वामीविविष्योः । २।१।१३।’ इत्यव्ययीभावः । ‘तिष्ठदुप्रभृतीनि च । २।१।१७।’ इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादव्ययीभाव एव । पुनः समासान्तरं न भवति । प्रातस्तरामिति । प्रातरित्यव्ययं प्रभातवाचि । प्रकर्ष-विवक्षायां तरपू । तदन्तात् ‘ किमेत्तिष्ठद्वययधादाम्बद्रव्यप्रकर्षे । ५।४।१।१। इत्यनेन आम् अतिप्रभाते । पत्रिभ्यः कुकुटादिभ्यः प्रथमं प्रबुद्ध उत्थितः । ‘पञ्चमी विभक्ते । २।३।४२।’ इति पञ्चमी । रविमोदित्यं प्रणमन् यदा चरति तदा प्रियम्भादुकतामगादिति पूर्वेण योज्यम् ॥ १३ ॥ १४ ॥

दद्वशे पर्णशालायां राक्षस्याऽभीक्याऽय सः ।

भायोंदं तमवज्ञाय तस्ये सौमित्रयेऽसकौ ॥ १५ ॥

दद्वशे इत्यादि—पर्णनां शालायां शितः स रामः राक्षस्या दद्वशे हृष्टः । कीदृश्या । अभीक्या कामुक्या । ‘ अनुकाऽभिकाऽभीकः कमिता । ५।२।७४।’ इति निर्पातितः । दृशः कर्मणि लिट् । अथ दर्शनानन्तरं भायोंदं ऊढभार्यमूढा भार्या यस्येति । आहितागन्यादिषु दर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः । अवज्ञाय अनाहत्य । सद्गार्थत्वात् । असकौ राक्षसी पापासौ । कुत्सायाम् ‘अव्ययसर्वनाम्रामकच् प्राक् टेः । ५।३।७।’ सौमित्रये लैक्षण्याय । ‘श्लाघ्नुङ्गस्थाशपां ज्ञीप्यमानः इति । ४।३।४।’ सम्प्रदानसंज्ञा । तस्ये स्वाभिप्रायं मैथुनायाविष्कृतवती । ‘ प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च । १।३।२३।’ इति प्रकाशने तङ् ॥ १५ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

दधाना वलिमं मध्यं कर्णजाहविलोचना ।

वाकृत्वचेनाऽतिसर्वेण चन्द्रलेखेव पक्षतौ ॥ १६ ॥

१ पर्णकुट्यामित्यर्थः । २ सुमित्राया अपत्यं उमानिति सौमित्रिलक्षणः ।
‘अत इज् श।१५।’ इतीज् ।

दधानत्यादि—सौ तं प्रार्थयाच्चके इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कीदृशी
मध्ये स्तनजघनयोरन्तरम् । वलिभं वलयोऽस्मिन् सन्तीति । ‘तुन्दिवलिवटेभं
। ५ । २ । १३९ ।’ दधाना धारयन्ती । कर्णजाहविलोचना । कर्णजांहं
कर्णमूलसमीपसित्यर्थः ‘तस्य पाकमूले पीत्वादिकर्णादिभ्यः कुणबृजाहचौ । ५
। २ । २४ ।’ इति जाहचू । कर्णजाहयोर्विश्रान्ते विलोचने यस्या इति सप्त-
म्बुपमानेत्यादिना उपपदलोपी बहुब्रीहिः । वाक्त्वचने वाक् च त्वक् चेरि
प्राण्यज्ञत्वादेकवद्वावः । ‘द्वन्द्वाच्छुद्धष्टान्तात् समाहारे । ५।४।१०६ ।’ इति
टच् । अतिसर्वेण अतिक्रान्तेन सर्वम् । अत्यादय इति समाप्तः । ‘एकविभक्ति
चार्वनिपाते । । २ । ४४ ।’ इति सर्वशब्दस्योपसर्जनत्वेऽपि पूर्वनिपातो
न भवति अपूर्वनिपात इति प्रतिवेधान् । वाक्त्वचेन वाङ्मयेन माधुर्य-
र्णेण मार्दवेन चासाधारणेनोपलक्षितेनत्यर्थः । इत्थम्भूते दृतीयै ।
चन्द्रलेखेव पक्षतौ तनुत्वात् । पक्षोऽत्रार्थमासः तस्य मूले प्रतिपादि ॥
‘पक्षान्तिः । ५ । २ । २५ ।’॥

सुपादिद्विरदनासोरुम्भृदुपाणितलाङ्गुलिः ।

प्रथिमान् दधानेन जघनेन घनेन सा ॥ १७ ॥

सुपादित्यादि—शोभनौ पादौ यस्याः असौ सुपात् । ‘सङ्ख्यासुपूर्वस्य
। ५।४ । १४० ।’ इति पादान्तलोपः ‘पादोऽन्यतरस्याम् । ४।१ । ८ ।’ इति
यदा डीप् नास्ति तदेत्यं रूपम् । द्विरदनासोरुम्भृद्विरदनासे इव करिपोतकरावि-
व ऊरु यस्याः उपमानपूर्वो बहुब्रीहिः । ‘उरुत्तरपदादौपम्ये । ४ । १ । ६९ ।’
इति ऊरु । रुद्यते अनेनेति रदः इन्तः । ‘पुंसि संज्ञायां धः— श।३।११८।’ इति
धः करणे । द्वौ रुदौ यस्येति द्विरदः । मृदुपाणितलाङ्गुलिः तलं च अङ्गुलिश्चोति
द्वन्द्वः । कत्र घ्यन्तालपाच्चतरयोः अल्पाच्चतरस्य पूर्वनिपातः । पाण्योस्तलाङ्गुलिः
पक्षितलाङ्गुलिः । मृदु पाणितलाङ्गुलि यस्य । इति योज्यम् । प्रथिमान्
प्रथुतां दधानेन घरयता । घनेन उपचितेन जघनेनोपलक्षिता सा राक्षसी ॥

उच्चसं दधती वक्त्रं शुद्धदल्लोलकुण्डलम् ।

कुर्वणा पश्यतः शंयून् स्त्रिवणी सुहसाङ्गना ॥ १८ ॥

उच्चसमित्यादि—उच्यते अनेनेति वक्त्रम् । सर्वधातुभ्य औणादिकः ष्टून् ।
वक्त्र वक्षशब्दो मुखैकदेशे वर्तमानोऽपि कविभिः समुदाये प्रयुज्यते । वक्त्रं
मुखमुच्चसं दधती । ‘नाभ्यस्ताच्छतुः । ७ । १ । ७८ ।’ इति नुम् न भवति ।

‘मृदुस्त्रक्षसी, तं सौमित्रिमित्यर्थः । २ ‘मङ्गलादिभ्य उपसङ्ख्यानम्’ द्वयनेन
‘जटाभिस्तापसः’ इतिवहुब्रीयेति भावः ।

उच्चता नासिका यस्मिन्निति । 'अब्दनासिकायाः संज्ञायां न सं च' इत्यधिकृत्य
 'उपसर्गाच्च । ५ । ४ । ११९ ।' इत्यच् । नासिका च न सादेशमापद्यते । शुद्ध-
 दत् शुद्धः शुक्ला दन्ता यर्स्मस्तच्छुद्धवत् । 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च
 । ५ । ४ । १४५ ।' इति ददादेशः । लोले च च्छ्ले कुण्डले यस्मिन् तत् लोल-
 कुण्डलम् । पश्यतो जनान् शंयून् विद्यमानसुखान् कुर्वाणा शं सुखं तदस्या-
 स्तीति । 'कंशभ्यां बभयुस्तितुतयसः । ५ । २ । १३८ ।' इति युस् ।
 सित्वात्पदसंज्ञा । अनुस्वारः । अपश्यतो वा शंयून् कुर्वाणा पश्यतां तु मीडां-
 करी । स्त्रिवणी मालावती । 'अस्मायामेधास्त्रजो विनिः । ५ । २ । १२१ ।'
 इति विनिः । सुहसानना हसनं हसः । 'स्वनहसोर्वा । ३।३ । ६२ ।' इत्यपु ।
 शोभनहसनमाननं यस्याः सा ॥

प्राप्य च च्छूर्यमाणासौ पतीयन्ती रघूत्तमम् ।

अनुका प्रार्थयाच्चके प्रियाकर्तुं प्रियंवदा ॥ १९ ॥

प्राप्येत्यादि—प्राप्य दौकित्वा । चच्छूर्यमाणा गर्हितमाचरन्ती । प्राणिनो
 हन्तव्या इति । चरेः 'लुपसदचरंजपजभददशगृभ्यो भावगर्हीयाम् । ३ । १ ।
 । २४ ।' इति भावगर्हीयां यद् । 'चरफलोच्च । ७ । ४ । ८७ ।' इत्यभ्या-
 सस्य नुक् । 'उत्परस्यातः । ७ । ४ । ८८ ।' इत्युत्त्वम् । 'हलि च । १।२।७७ ।'
 इति दीर्घत्वम् । पतीयन्ती आत्मनः पतिमिच्छन्ती । 'सुप आत्मनः क्यैच्
 । ३ । १ । ८ ।' अनुका अभिलाषुका । 'अनुकाभिकाभीकः कमिता । ५ ।
 । २ । ७४ ।' इति चिपातितः । रघूत्तमं लक्ष्मणं प्रार्थयाच्चके प्रार्थितवती ।
 प्रियाकर्तुमनुलोमयितुम् । पतिमें स्या इति । 'सुखप्रियादानुलोम्ये । ५।४।६३ ।'
 इति ढाच् । प्रियंवदा प्रियवादिनी । 'प्रियवशेऽवदः खच् । ३।२।३।८ ।' । १६—१९॥

तां प्रार्थनामाह— ।

सौमित्रे ! मामुपायंस्थाः कम्भामिच्छुर्वशंवदाम् ।

त्वद्भोगीनां सहचरीमशङ्कः पुरुषाऽयुषम् ॥ २० ॥

सौमित्रे इत्यादि—हे सौमित्रे इच्छुरेषणशीलः । बिन्दुरिच्छुः । ३ । २ ।
 १६१ ।' इत्यादिना निपातितः । अशङ्कः निर्विकल्पः सन् । किं मां वच्चयिष्य-
 तीति । मामुपायंस्थाः परिणय । 'आशंसाश्यां भूतवच्च । ३ । ३ । १३२ ।' इति
 लुङ्क । 'उपाद्यमः स्वकरणे । १ । ३ । ५६ ।' इति तद् । 'विभाषोषयमने ।
 । १ । २ । १६ ।' इत्यकित्वपक्षे रूपम् । कम्भाम् । 'नमिकमिपस्म्यजसकमहिंस-
 दीपो रः । ३ । २ । १६७ ।' इति रः । वशंवदाम् । अहं ते वश्येति वदन्तीम् । त्वद्भोगीनाम्

त्वच्छरीराय हिताम् । अवैथव्यादिलक्षणयोगात् । ‘आत्मनिवशजनभोगोचर-
पदात् खः । ५ । १ । ९ ।’ इति खः । सहचरीं सहगमिनीप् ‘भिक्षासेनादा-
चेषु च ३।१७।’ इति चकारस्यानुकसमुच्चार्थत्वात् ट्रप्त्ययः। कियन्तं कालम्
पुरुषायुषं पुरुषस्यायुर्यावृत् । ‘अचतुरविचतुर०-५।४।७।’ इत्यादौ निपातितः ।
‘कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।१।२।’ इति द्वितीया । चरणक्रियायाः कृत्स्न-
संयोगात् । यथा मासमुषित इति ॥ २० ॥

तामुवाच स गौष्ठीने वने खीपुंसभीषणे ॥

असूर्येष्यरूपा त्वं किमभीरुररार्थसे ॥ २१ ॥

तामित्यादि—तां राक्षसीं स लक्षणं उवाच उक्तवान् । किमित्याह—गौष्ठीने
वने गोष्ठं भूतपूर्वं यस्मिन्वने । इदानीं नामापि न ज्ञायते । ‘गोष्ठात् खब्ल्
भूतपूर्वे । ५ । २ । १७ ।’ इति खब्ल् । खीपुंसभीषणे । खीं च पुमांश्चेति
खीपुंसौ । ‘अचतुरविचतुरसुचतुर०-५।४।७।’ इत्यादौ निपातितः । तयो-
र्भीषण इति षष्ठीसमाप्तः । विभेतोर्णिचि हेतुभये शुक् । तदन्तात् ‘कृत्यल्युटो
बहुलम् । ३ । ३ । ११३ ।’ इति कर्तीर ल्युट् । तरिमन्त्रभीरुः निर्भया सती
किमित्यरार्थसे अत्यर्थमटसि । अतेऽः ‘सूचिसूत्रिमत्र्युट्यर्थयश्चर्णोत्तिभ्यो यड्
वाच्यः’ इति यड् । ‘यडि च । ७।४।३०।’ इति गुणः । ‘न न्द्राः संयोगाद्यः’
। ६ । १ । ३ ।’ इति प्रतिषेधस्य प्रतिषेधो यकारपरस्य न द्वित्विषेध इति
रेको द्विरूप्यते । भयशीला भीरुः । ‘भियः कुक्कुकनौ । ३ । २ । १७४ ।’
कियाशब्दत्वात् ‘ऊङ्गुतः । ४ । १ । ६६ ।’ इति ऊङ्गुन भवति । अमनुष्य-
त्वाच । तथाहि लक्षणेनामानुषीयमिति ज्ञाता । तथाच भङ्गथा दर्शयन्नाह—
असूर्यम्पश्यरूपा । अतिगोपनीयतया सूर्यमध्यनिषिद्धदर्शनं न पश्यतीति ।
‘असूर्यलाटयोर्दृशितपोः । ३ । १ । ३६ ।’ इति खश् । ‘पादाध्वास्थानादाण्डू-
श्यर्त्वासीर्विशदसदां पिबजिव्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्थैशीर्यसीदाः । ७।३।७।’
इति पश्यदेशः । असूर्यम्पश्यं रूपं यस्या इति समाप्तः । सा न पश्यतीति
रूपमपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥ २१ ॥

मानुषानभिलक्ष्यन्ती रोचिष्णुर्दिव्यधर्मिणी॥

त्वमप्सरायमाणेह स्वतन्त्रा कथमञ्चासि ॥ २२ ॥

मानुषानित्यादि—मनोरपत्यानि मानुषाः । ‘मनोर्जातावद्यतौ शुक् च
। ४ । १ । १६१ ।’ तानभिलक्ष्यन्ती कामयन्ती रन्तुमिच्छन्ती । ‘वा आशा-
स्त्रास्त्रभ्रम्मुक्तमुत्रसित्रुटिलः । ३।१।७०।’ इति श्यन् । रोचिष्णुः रोचन-
स्वभावा । ‘अलङ्कृत्यनिराकृत्यप्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृत्तवृष्टुसहचरः

इष्णुच् । ३ । २ । १३६ ।' इति इष्णुच् । अत एव दिव्यधर्मणी । दिवि
भवा दिव्याः देवा राक्षसा अपि देवयोनित्वात् । तेषां धर्मः स्वभावः सोऽस्माः
अस्तीति । 'धर्मशीलवर्णन्ताच्च । ५ । २ । १३२ ।' इति इनिः । अप्सरायमाणा
अप्सरा इवाचरन्ती । राक्षसभावं गोप्तुमिति भावः । 'उपमानादाचारे' इत्य-
विकारे 'करुःक्यद्भू सलोपश्च । ३।१।१।' 'ओर्जसोऽप्सरसो नित्यम्' इति वच-
नात् । इह वने स्वतन्त्रा कथमच्चसि अमसिः । स्व आत्मा तन्त्रः प्रधानं यस्याः ।
अपराधीनत्वात् । अनयोक्त्या राक्षसीत्वं दर्शयति ॥ २२ ॥

उग्रम्पश्याऽऽकुलेऽरण्ये शालीनत्वं विवर्जिता ।

कामुकप्रार्थनापद्मी पतिवती कर्थं नवा ॥ २३ ॥

उग्रमित्यादि—उग्रम्पश्यन्तीत्युग्रम्पश्याः । पापाशयत्वात् । शबराद्यः ।
'उग्रम्पश्येरस्मदपाणिन्धमाश्च । ३ । २ । ३७ ।' इति स्वश् निपात्यते । तैरा-
कुले व्याप्ते अरण्ये । पतिवती जीवत्पतिः कथं केन प्रकारेण न वा नैवं भव-
सीत्यर्थः । 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्त् । ४ । १ । ३२ ।' इत्यत्र पर्तिर्विद्यते अस्या
इति मतुप् सिद्धः । जीवत्पत्यां मतुपो वत्वं निपात्यते । नुक् सूक्षेणैव विधी-
यते । डीप्तत्यस्तूगित्वादेव सिद्धः । शालीनत्वविवर्जिता । अधृष्टतया वर्जिता ।
शालाप्रवेशमर्हतीति 'शालीनकौपीने अद्वृष्टकार्ययोः । ५ । २ । २० ।' इति
खब् निपात्यते । अधृष्टेऽभिघेये प्रवेशशब्दस्य लोपः । तस्य भावः शाली-
नत्वम् । कामुकः कामशीलः । 'लघपतपदस्थाभूवृष्टहनकमगमशूभ्य उक्त्य
। ३ । २ । १५४ ।' इत्युक्त्य । तस्य प्रार्थनायां पद्मी चतुरा । 'वौतो गुणव-
चनात् । ४ । १ । ४४ ।' इति डीष् ॥ २३ ॥

राघवं पर्णशालायामिच्छाऽनुरहसं पतिम् ।

यः स्वामी मम कान्तावानैौपकर्णिकलोचनः ॥ २४ ॥

राघवमित्यादि—रामं पर्णशालायामवस्थितं पतिमिच्छ । अनुरहसं विवेक-
प्राप्तमनुगतो रह इति विगृह्य 'अन्ववत्प्रद्रहसः । ५।४।८१।' इत्यच् । यो
राघवो ममापि स्वामी प्रभुः । 'स्वामिन्नैश्वर्ये । ५।२।१२६।' इति निपातिवम्
कान्तावान् सभार्यः । प्रवृत्तसम्भोगोऽसौ नाहमिति दर्शयति । तमेव रूप-
शौर्याभ्यां वर्णयन्नाह—औपकर्णिकलोचनः । कर्णयोः समीपमुपकर्णम् ।
समीपार्थे अव्ययीभावः । तत्र प्रायभव इति । 'उपजानूपकर्णोपनीवेष्टक्
। ४।३।४०।' शेषमपि शब्दद्वयं प्रयोक्त्यते । औपकर्णिके लोचने यस्य कर्णान्
न्तायतलोचन इत्यर्थः ॥ २४ ॥

वपुश्चान्दनिकं यस्य कार्णवेष्टकिकं मुखम् ।
सङ्ग्रामे सर्वकर्मणौ पाणी यस्यैपजानुकौ ॥ २५ ॥

बषुरित्यादि—यस्य राघवस्य वपुः शरीरं चान्दनिकं चन्दनेन सम्पद्यते
ग्रामशोभं भवति । मुखं च कार्णवेष्टकिकम् । कर्णवेष्टकाभ्यां कर्णालङ्काराभ्यां
कार्णवेष्टकिकम् । तत्रोभयत्र ‘सम्पादिनि । ५।१।१९।’ इति ठक् । पाणी हस्तौ
संग्रामे युद्धे सर्वकर्मणौ धनुःखङ्गादिव्यापारकर्मणि व्याप्नुतः । ‘तत्सर्वादिः
पव्यङ्गकर्मणपत्रपात्रं व्याप्रोते । ५।२।७।’ इति ख्वः । औपजानुकौ आजानुकौ ।
आजानुलम्बावित्यर्थः । अत्र ठक् । ‘इसुसुक्तान्तात्कः । ७।३।५।१।’ २५ ॥

बद्धो दुर्बलरक्षार्थमसिर्येनौपनीविकः ।

यद्यचापामाइमनप्रख्य सेषु धत्तेऽन्यदुर्वहम् ॥ २६ ॥

बद्ध इत्यादि—येन असिः खङ्गः औपनीविकः । नीविसमीपे प्रायेण भवतीति ।
स हि नीर्वी प्राप्य वर्तमानः पार्श्व्योश्चोर्ध्वं निबद्धः । किमर्थे—दुर्बलरक्षार्थे दुर्बल-
रक्षायै इदमित्यस्मिन्नर्थे ‘चतुर्थी तदर्थार्थ०—२।१।३।६।’ इत्यादिना सः । तत्रार्थेन
नित्यः समाप्तः सर्वलङ्घता च । यथापं धनुधत्ते धारयति । आशसनप्रख्यम् ।
अश्मनो विकार इत्यण् । ‘अन् । ६।४।१।६।७।’ इति प्रकृतिभावे प्राप्ते ‘अश्मनो
विकारे०—०’ इति टिलोपः पाक्षिकः । विभावजोरित्यतो मण्डूकलुत्या
विभाषाप्रहणानुवृत्तेविकारे वाच्ये । अन्यत्राश्मन एव भवति । आश्मनेन
प्रख्या सादृश्यमस्य तदाश्मनप्रख्यमुपलघटितमिव । सेषु सशरम् । अन्यदुर्वहं
दुःखेनोहत इति खल् । रामादन्येन दुर्वहमित्यर्थः ॥ २६ ॥

जेता यज्ञद्रुहां संरुये धर्मसन्तानसूर्वने ॥

प्राप्य दारगवानां यं मुनीनामभयं सदा ॥ २७ ॥

जेतेत्यादि—यज्ञाय द्रुहन्तीति यज्ञद्रुहो राक्षसाः । ‘सत्सूद्विषद्रुहदुहयुज-
विदिप्रिदिच्छदजिरीजामनुपसर्णेऽपि किप् । ३।२।६।१।’ इति किप् । तेषां सङ्ग्रामे
जेता । रुजन्तोऽयम् । ततश्च कूलयोगे कर्मणि षष्ठी । धर्मसन्तानसूः पूर्ववत्
किप् । धर्मरत इत्यर्थः । वने वर्तमानानां मुनीनां वानप्रस्थादीनामित्यर्थः ।
तेषां भार्यामिपरिप्रहात् यानि दारगवानि । दाराश्च गांवश्चेति दारगवानि
‘अचतुरविचतुर-५।४।७।७।’ इत्यादिना निपातितानि । दारयन्तीति दाराः ।
‘दृष्टजायै कर्तरि पिलुक् च’ इति ख्व । तेषां च येनाभयं सदा दत्तमिति
योज्यम् । चैषसेव प्राप्तिकिया तेषामेवाभयमिति समानकर्त्तव्यम् ॥ २७ ॥

ततो वावृत्यमानाऽसौ रामशालां न्यविक्षत ॥

मामुपायंस्त रामेति वदन्तो साऽऽदरं वचः ॥ २८ ॥

तत इत्यादि---ततो लक्ष्मणवचनानन्तरमसौ राक्षसी वावृत्यमाना रामं
बृण्वाना । 'वृतु वरणे' । इति दैवादिकः आत्मनेपर्दी । रामशालां रामस्य
शाला पर्णकुटीरं ताम् न्यविक्षत प्रविष्टा । विशेः 'शल इगुपधादनिटः क्सः
। ३ । १ । ४५ ।' 'नेर्विशः । १ । ३ । १७ ।' इति तद्दृ । मामुपायंस्त रामेति
राम अहं प्रार्थये भवान् मामुपायंस्त परिणयत्विति वाक्यमेदेन योज्यम् ।
'आशंसायां भूतवच ।३।१३२।' इति लुड्ड । 'उपाद्यमः स्वकरणे ।१।३।५६।'
इति तद्दृ । 'विभावोपथमने ।१।२।१६।' इत्यकिञ्च्चपक्षे रूपम् । इतेवं वचः
सादरं वदन्ती ॥ २८ ॥

अस्त्रीकोऽसावहं स्त्रीमान् स पुष्यतितरां तव ॥

पतिरित्यब्रदीद् रामस्तमेव ब्रज मा मुचः ॥ २९ ॥

अस्त्रीत्यादि---असौ लक्ष्मणोऽस्त्रीकः । न विद्यते अस्य खीति । 'नद्यूतश्च
।५।४।१५३।' इति कप् । 'न कपि ।७।४।१४।' इति हस्वप्रतिषेधः । अहं
पुनः स्त्रीमान् सभार्यः । प्रशंसायां मतुप् । स एव लक्ष्मणः । पुष्यतितराम्
अतीव पुष्यति लक्ष्मणस्तव पतिः । 'तिङ्गश्च ।५।३।५६।' इति तरप् । 'किमेति-
छन्दव्ययदादाम्बद्रव्यप्रकर्वे ।५।४।११।' इत्याम् । तस्मात्तमेव लक्ष्मणं ब्रज
गच्छ । मा मुचः मा त्याक्षीः मुचेर्लङ्घ । लदित्त्वादङ्घ । इति एकमब्रवीद्रामः
ब्रक्तवान् । आदादिकस्य ब्रुओ लङ्घि 'ब्रुव ईद॑ ।७।३।१३।' इति
ईटि रूपम् ॥ २९ ॥

लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवाऽगमत् ।

मन्मथाऽऽयुधसम्पातव्यथ्यमानमतिः पुनः ॥ ३० ॥

लक्ष्मणमित्यादि---लक्ष्मणं पुनर्भूयोऽगमत् । लक्ष्मणं प्रति गता । यथा
गौर्वृषस्यन्ती मैथुनेच्छावती महोक्षं महावृषम् । वृषस्यन्तीत्युपमानविशेषणमे-
त्तत् । तेन वृषं लब्ध्युमिच्छतीति क्यच् । 'अश्रश्वीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ
क्यचि ।७ । १ । ५१ ।' इति असुक्ष । तद्वयश्ववृषयोमैथुनेच्छायामिति ।
'तद्वदागमत् । महोक्षमिति 'अचतुरविच्छुरसुचतुर-।५।४।७७।' इत्यादिसूत्रेण
निपतितम् । मन्मथस्यायुधानि शराः । आयुधयन्ते एभिरित्यायुधानि ।
घवर्थं कविधानमिति कः । तेषां सम्पातः । संक्लेषः । तस्मात् व्यथ्यमानाः
पीड्यमाना मतिर्मनो यस्याः ॥ ३० ॥

तस्याः सासद्यमानाया लोलूयावान् रघूत्तमः ।

असिं कौशेयमुद्यम्य चकाराऽपनसं मुखम् ॥ ३१ ॥

तस्या इत्यादि—सासद्यमानायाः समीपे गाहैतं सीदन्त्याः प्रविशन्त्याः ।
 ‘लुपसद्चरजपजभद्दशाभ्यो भावगर्हायाम् । ३ । १ । २४ ।’ इति यड् ।
 रघूत्तमो लक्षणः । मुखमपनसमपगदनासिकं चकार । ‘उपसर्गाच्च ।५।४।
 १११’ इत्यच् । नासिका च नसादेशमापद्यते । तत्र संज्ञायामिति नानुवर्तते ।
 किं कृत्वा कौशेयमसिमुद्यम्य उत्क्षिप्य । कुक्षौ भव इति ‘द्वितिकुक्षिकलशी-
 बस्त्यस्त्यहेद्व ।४।३।५६।’ इति दव् । कौशेयः । लोलूयावान् अत्यर्थं लवन-
 क्रियायुक्तः । लुनातीति लोलूया । यदन्ताद् ‘अप्रत्ययात् ।३।३।१०२।’ इत्य-
 कारः । सा विद्यते यस्येति मतुप् ॥ ३१ ॥

अहं शूर्पणखा नाम्ना नूनं नाऽज्ञायिषि त्वया ।

दण्डोऽयं क्षेत्रियो येन मर्यपातीति साऽब्रवीत् ॥ ३२ ॥

अहमित्यादि—सा राक्षसीत्यब्रवीत् । अहं शूर्पणखेति नाम्ना नूनमवश्यं त्वया
 नाज्ञायिषि न ज्ञातास्मि । ज्ञा इत्यस्मात्कर्मणि लुड् । ‘स्यासि—६।४।६२। इत्यादिना-
 अजन्तत्वात् चिणवदिट् । ‘आतो युक्त चिणकृतोः ।३।३।३।’ इति युक्त् । ‘स्वाङ्गा-
 श्वेपसर्जनात्—४।१।५५।’ इति डीषि प्राप्ते ‘नखमुखात् संज्ञायाम् ।४।१।५८।’
 इति प्रतिवेदः । ‘पूर्वपदात्संज्ञायामगः ।८।४।३।’ इति णत्वम् । अज्ञाने कारण-
 माह—येनायं दण्डो नासाच्छेदनलक्षणो मर्यपाति पावितः । पातेः कर्मणि लुड् ।
 चिणादेशः ‘अत उपधायाः ।७ । २ । ११६।’ इति वृद्धिः । ‘चिणो लुक् ।६।४।
 १०४।’ श्वेत्रियः परक्षेत्रे चिकित्स्यः परक्षेत्रे जन्मान्तरशरीरे यदि शक्यश्चि-
 कित्सितुं तदा नासिकायाः सम्भवात् । ‘क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः । ५ । २।
 ९२।’ इति तिपावनम् ॥ ३२ ॥

पर्यशाप्सीद्विविष्टाऽसौ संदर्श्य भयदं वपुः ।

आपिस्फवच्च बन्धुनां निनङ्कुर्विकर्मं मुहुः ॥ ३३ ॥

पर्यशाप्सीदित्यादि—असौ राक्षसी पर्यशाप्सीत् आकुष्टवती । शपेरनिटः
 सित्ति हलन्तलक्षणा वृद्धिः । शप उपालम्भन इति तद् न भवति उपालम्भनं हि
 वाचा शरीरस्पर्शनम् । दिविष्ठा नभसि वर्तमाना । ‘तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।६।
 ३ । १४।’ इति सप्तम्या अलुक । ‘अम्बान्वगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्-
 क्कलशमुपज्ञिपुञ्जिपरमेवर्हर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ।८।३।१७।’ इति षष्ठ्यम् । भयदं रौद्रं

३ मर्यं ददातीति तदद्वम् । ‘आतोऽनुपसर्मेकः ।३।३।१०६।’ इति कः ।

वपुः शरीरं संदर्शय दृश्यित्वा बन्धूनां विक्रमं शौर्यं मुहुः पुनः पुनः ।
अपिस्फवत् स्फीतीचकार । 'आर्तिहीवलीरीक्नूयीह्माय्यातां पुड्णौ ।७।३।३६।'
इति णावित्यनुवृत्तौ 'स्फायो वः । ७।३।४१ ।' इति वकारः । स्फाय-
तेश्चाङ्गे गिलोपः । हस्तद्विवेचनादि । अभ्यासस्य ख्यः शेषः । चत्वर्मित्वं च
सन्वद्धावे । निनङ्क्षुः नष्टुभिच्छुरित्यर्थः । नशेः सनि 'मर्जिनशोऽङ्गलि । ७ ।
१।६०।' इति तुम् ॥ ३३ ॥

खरदूषणयोर्भात्रोः पर्यदेविष्ट सा पुरः ।

विजिग्राहयिषु रामं दण्डकाऽरण्यवासिनोः ॥ ३४ ॥

खरेत्यादि—खरदूषणयोर्भात्रोर्दण्डकारण्यवासिनोः पुरः अग्रतः पर्यदेविष्ट
परिदेवनं कृतवतीति । 'देवृ देवने ।' इत्यस्यादात्मनेपदिनः सेटो लुङ्गे रूपम् ।
परिदेवने कारणमाह—विजिग्राहयिषुः रामं विग्राहयितुं योधयितुभिच्छुः ।
ग्रहेष्यन्तस्य सन्नन्तस्य रूपम् । 'रोरे ।८।३।१४।' इति रेफलोपः । 'दू-
लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।६।३।११।' इति दीर्घत्वम् ॥ ३४ ॥

किं पर्यदेविष्ट इत्याह—

कृते सौभागिनेयस्य भरतस्य विवासितौ ।

पित्रा दौर्भागिनेयौ यौ पश्यतं चेष्टितं तयोः ॥ ३५ ॥

कृतेइत्यादि—भरतस्य कृते कार्यनिमित्तं राज्ये अभिषेकव्यामिति । सुभगा
केक्यी तस्या अपत्यं सौभागिनेयः । 'स्त्रीभ्यो ढका ।१।२०।' 'कल्याण्यादीना-
मिनङ् ।४।१।१२६।' तत्र सुभगा दुर्भगा चेति पठ्यते 'हङ्गसिन्वन्ते पूर्वपदस्य
च ।७।३।११।' इत्युभयपदव्युद्धिः । पित्रा यौ विवासितौ निष्कासितौ दौर्भागिनेयौ
कौसल्या सुभित्रा च दुर्भगे तयोरपत्ये रामलक्ष्मणौ तयोश्चेष्टितं नासाच्छेदनं
पश्यतम् । विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । थसस्तम् ॥ ५ ॥

मम रावणनाथाया भगिन्या युवयोः पुनः ।

अयं तापसकाद् ध्वंसः क्षमध्वं यदि वः क्षमम् ॥ ३६ ॥

ममेत्यादि—रावणो नाथः प्रसुर्यस्याः मम विशेषणम् । युवयोर्भगिन्या अयं
तापसकात् कुतापसात् । कुत्सायां कन् । ध्वंसो नासिकाविनाशः यदि वः
युष्माकं गुरुणां क्षमं युक्तम् क्षन्तुभित्यर्थात् । युष्मादि गुरावेकेषामिति बहु-
वचनं तयोर्ज्येष्टत्वात् । तर्हि क्षमध्वम् उपेक्षध्वम् । रावण एव ज्ञास्यतीति
भावः ॥ ३६ ॥

पुनरज्येजयितुमाह—

असंस्कृतिमसंव्यानावनुपिमफलाशिनौ ।

अभृतिमपरीवारौ पर्यभूतां तथापि माम् ॥ ३७ ॥

असमित्यादि—संस्कारेण वोपेन भरणेन च निर्वृत्तं संस्कृतिम् । उपिक्षमं भूत्रिमं च । ‘द्वितः क्लिः ३।३।८८’ क्रेमम् नित्यम् ४।२।२०। ‘संपर्युपेभ्यः दा १५ १३७।’ इति सुद् । सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपीष्यते । संस्कृतिमं न विद्यते येषामिति नव्यसमासः । असंस्कृतिमाणि संव्यानानि परिधानानि उत्तरीयाणि ययोः । वल्कलवाससावित्यर्थः । अनुपिक्षमाणि फलानि अशनमा-हारो ययोः तौ वन्यफलाहारौ न तु शालिभोजनौ । परिब्रियतेऽनेति घब् । उपिसर्गस्य घड्यमनुष्ये बहुलम् । दा ३।१२२।’ इति दीर्घः । मृगाणाममनुष्य-त्वात् । अभृतिमः परीवारोऽनुजीविलोको ययोस्तौ मृगपरीवारौ । तथाऽपि मां पर्यभूतां परिभूतवन्तौ । लुडि रूपम् ॥ ३७ ॥

श्वश्रेयसमवाप्तासि भ्रातृभ्यां प्रत्यभाणि सा ।

प्राणिवस्तव मानाऽर्थं ब्रजाऽश्वसिहि मा रुदः ॥ ३८ ॥

श्वश्रेयसमित्यादि—श्वशब्दः प्रशंसासाह । शोभनं श्रेय इति वाक्ये ‘श्वसो वसीयः श्रयसः ५।४।८०।’ इत्यच् । मयूरवर्यसकादित्वात् समासः । श्व-श्रेयसं कल्याणमवाप्तासि प्राप्त्यसि । भविष्यदनव्यतने लुद् । मारयावस्तावि-त्युक्तं भवति । ताभ्यां भ्रातृभ्यां प्रत्यभाणि प्रतिभाणिता सा । कर्मणि लुड् । प्राणिवस्तव मानार्थम् । तव मानवण्डनं मा भूदिति जीवावः । ‘श्वस प्राणने, अन च’ । ‘रुदादिभ्यः सार्वधातुके ७।२।७६।’ इति इद् । ‘अनितेः १।४।१९।’ इति णत्वम् । तस्माद् ब्रज । यथास्थानं गच्छ । आश्रसिहि । उद्गें त्यज । विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । मा रुदः । ‘माडि लुड् । ३।३।१७५।’ ‘इरितो वा ५।१।५७।’ इत्यङ् । यदा जास्ति तदा मा रोदीरिति ॥ ३८ ॥

जक्षिमोऽनपराधेऽपि नरान् नक्तंदिवं वयम् ।

कुतस्त्वं भीरु ! यत्तेभ्यो द्रुद्यज्ञोऽपि क्षमामहे ॥ ३९ ॥

जक्षिम हत्यादि—वयम् अनपराधेऽपि । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । ‘अचतुरविचतुरसुचतुर-५।४।७।’ इत्यादौ निपातितम् । नरान् जक्षिमो भक्षयामः । ‘जक्ष भक्षहसनयोः ।’ इति भक्षार्थस्य । ‘रुदादिभ्यः सार्व-धातुके ७।२।७६।’ इतीट् । ‘अस्मद्वो द्रुयोश्च १।२।५९।’ इति द्वित्वे वयमिति बहुक्षनम् । यत एवं हे भीरु ! संबुद्धौ गुणो न भवति ‘संज्ञापूर्वको विघर-

नित्यः' इति । कुतस्त्वम् कुत एतदागतम् । 'अव्ययात् त्वप् । ४।२।१०४।'

'अमेहकर्तिस्त्रेभ्य एव' इति त्यप् । तेभ्योऽनरेभ्यो द्वृद्ध्वोऽपि द्वौहं कुर्वणेभ्योऽपि क्षमामहे । नैवेत्यर्थः । 'कुधदुहेष्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः । १।४।३७।' इति सस्प्रदामत्वम् । क्षमर्गस्यमानां नवर्थस्तस्यासूयार्थत्वात् 'क्षमधर्वं यादि वः क्षमम्' इत्यस्य प्रतिवचनम् ॥ ३९ ॥

तौ चतुर्दशसाहस्रबलौ निर्यथुस्ततः ।
पारश्वधिकधानुष्कशाक्तीकप्रासिकाऽन्वितौ ॥ ४० ॥

तावित्यादि—ततो निगदनादुत्तरकालं निर्यथुर्निर्गतवन्तौ । चतुर्दशसहस्राणि परिमाणं यस्य बलस्य । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये 'शतमानविंशतिकसहस्रवसनादृण् ५।१।२७।' प्राग्वतेः 'सङ्ख्यायाः संवत्सर सङ्ख्यस्य च । ७।३।१५।' इत्युत्तरपद्मवृद्धिः । चतुर्दशसाहस्रं बलं ययोः तौ । तथा 'पारश्वधिकधानुष्कशाक्तीकप्रासिकाऽन्वितौ । परश्वधः प्रहरणमेषाम्' इति 'परश्वधात् ठञ्च । ४।४।५८।' तथा धनुः प्रहरणमेषां शक्तिः प्रहरणमेषामिति 'शक्तियष्ट्योरीककूङ् । ४।४।५९।' प्राप्तः कुन्तः प्रहरणमित्यौत्सर्गिकष्टकूङ् । तत्र धनुषष्टकूङ् । 'इसुसुक्तान्तात्केः । ७।३।५१।' ततः सेनाङ्गत्वात्कृतैकवद्धावः । तेनान्वितावनुगतौ ॥ ४० ॥

अथ सम्पततो भीमान् विशिखै रामलक्ष्मणौ ।

बहुमूर्ध्रों द्विमूर्ध्राश्च त्रिमूर्ध्राश्चाऽहतां मृधे ॥ ४१ ॥

अथेत्यादि—अथ एतस्मिन् प्रस्तावे रामलक्ष्मणौ मृधे संप्राप्ते विशिखैः शौरैः रहतां हतवन्तौ । हनितः परस्मैपदी तस्माल्लिङ्गं तस्स्ताम् । तस्य छित्रेण 'अनुदातोपदेशवनतिवनोत्यादीनामनुनासिकलोपो ज्ञालि कृषिति । ६।४।३७।' इति अनुनासिकलोपः । कान् राक्षसान् । विशेषणोपादानात् विशेष्यप्रतिपत्तिः । प्रकृतत्वाद्वा । सम्पततोऽभिपततः । बहुमूर्ध्रों बहुशिरसः । तथा द्विमूर्ध्राश्चि मूर्ध्राश्च । 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्धः । ५।४।१।१५।' इति समाप्तान्तः षः । अत एव भीमान् भयानकान् । त्रिमूर्ध्राश्चेत्यत्र 'नश्छव्यप्रशान् । ८।३।७।' इति रुहः । पूर्वस्य त्वनुनासिकः । 'विर्सजनीयस्य सः । ८।३।३४।' इति सत्त्वम् ॥ ४१ ॥

तैर्वृक्णरुग्णसम्मुग्रक्षुणाभिन्नविपन्नकैः ।

निमग्नोद्विमसंहीणैः पप्रे दीनैश्च मेदिनी ॥ ४२ ॥

तैरित्यादि—तैः शक्षसैर्मेदिनी पप्रे पूरिता । 'प्रा पूरणे ।' इत्यस्मात्कर्मणि लिङ् । वृक्षणैः छिन्नैः । रुग्णैः भग्नहस्तपादैः । सम्मुग्नैः वक्त्रीकूतदेहैः ।

सुण्णैः सन्मिष्टशरीरैः । भिन्नैः विद्वारितैः । विपन्नकैः नष्टैः । ‘अनुक-
स्मायां कन् । १३।७६।’ निमग्नैः परिमूर्तैः । उद्विग्नैर्भीर्तैः । संहीणैर्ल-
ज्जितैः । वयमपीदशी दशां प्राप्ता इति । दीनैः ‘हा मातः हा आतः’ इत्येवं
आपसाणैः । तत्र वृश्चिरलिमुजिमास्तिविजभ्योः निष्ठायाम् ‘ओदितश्च । ८ ।
२।४५।’ इति नत्वम् । ‘चोः कुः । १३।२०।’ इति कुः । क्षुदिभिदिपदिभ्यो
निष्ठायां ‘रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । १३।४२।’ इति दस्य च नः ।
संहीण इति ‘नुदविदोन्दवाग्राहीभ्योऽन्यतरस्याम् । १३।५६।’ इति नः ।
‘दीदूक्ष्ये ।’ इत्यस्य ‘स्वादय ओदितः’ इति ‘ओदितश्च । ८ । २ । ४५ ।’
इति नत्वम् ॥ ४२ ॥

केचिद्वेष्युमासेदुरन्ये दवथुमुत्तमम् ।

सरक्तं वमर्थुं केचिद्ब्राजथुं न च केचन ॥ ४३ ॥

केचिदित्यादि—तेषां मध्ये केचित् वेष्युं कम्पम् । ‘दुवेषु कम्पने’
आसेदुः प्राप्ताः । अन्ये दवथुमुपतापम् उत्तमं महान्तम् । ‘दुदु उप-
तापे ।’ केचिद्विमुखं छर्दनं सरक्तं सशोणितम् । उवम् उद्विरणे । आजथुं
शोभां नैव केचन न केचिदपि आसेदुरिति पूर्वेणान्वयः । ‘दुब्राजृ दीप्तौ ।’ स-
र्वत्र ‘द्वितोऽशुच् । ३ । ३ । ८९।’ इत्यथुच् ॥ ४३ ॥

मृगयुमिव मृगोऽथ दक्षिणेर्मा दिशमिव दाहवर्तीं मरावुदन्यन् ।

रघुतनयमुपाययौ त्रिमूर्धों विषभृदिवोग्रभुखं पतत्रिराजम् ॥ ४४ ॥

मृगयुमित्यादि—अथैतस्मिन् राक्षसविघ्वं सनप्रस्तावे त्रिमूर्धः त्रिशिरा नाम
राक्षसः रघुत रघुमुपाययौ उपागतः । मृगयुमिव लुब्धकमिव । मृगान् यातीते
मृगयुः ‘मृगव्यादयश्च’ इत्यौणादिकुप्रत्ययान्तः । दक्षिणेर्मा दक्षिणे ईर्म ब्रह्म
यस्योति । ‘दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे । ५ । ४ । १२६।’ इत्यनिच् । यथा मृगो लुब्धक-
ब्राणितदक्षिणाङ्गः तमेव मरणायोपयाति । दिशमिव दाहवर्तीं यथा दिशं
दावाभियुतां मरौ निर्जले देशे मृग उदन्यन् उदकपानाभिलाष उपयागति । उद-
कमिच्छति । ‘सुप आत्मनः क्यच् । ३ । १ । ८।’ इति क्यच् । उदकस्योदन्य-
मावः । ‘अशनायोदन्यघनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु । ७ । ४ । ३४।’ इति
निपातितः । तदन्तवाल्प शत्रुप्रत्ययः । विषभृदिव यथा विषघरः सर्पं उग्रमुखं
भीषणमुखं पतत्रिराजं गरुडमुपयाति तद्वत्तमिति । ‘राजाऽहः साधि-
म्यैष्टच् । ५ । ४ । ९१।’ ॥ ४४ ॥

* अत्र ‘पुष्पितामा’ छन्दः । ‘अयुजि नयुरारेकतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च
पुष्पितामा’ इति वस्त्रक्षणात् ।

शितविशिखनिकृत्तकृत्त्ववक्त्रः
क्षितिभृदिव क्षितिकम्पकीर्णशूङ्गः ।

भयमुपनिदधे स राक्षसाना-

मखिलकुलक्षयपूर्वलिङ्गतुल्यः ॥ ४५ ॥

थितेत्यादि—त्रिमूर्धों राक्षसानां भयमुपनिदधे उपनिहितवान् । कीदृशः
शितविशिखैस्तीक्ष्णविशिखैः निकृत्तानि छिन्नानि कृत्त्वानि सर्वाणि वक्ताणि
मुखानि यस्य सः । क्षितिभृदिव भूधर इव । कीदृशः क्षितिकम्पकीर्णशूङ्गः
क्षितेर्भूमेः कम्पेन कीर्णानि क्षिसानि शूङ्गाणि यस्य क्षितिभृतः । अखिलस्य
सर्वस्य कुलस्य क्षये विनाशे यत् पूर्वलिङ्गं तेन तुल्यः असावप्याखिलराक्षस-
क्षयस्य पूर्वलिङ्गतुल्यः ॥ ४५ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरीविरचितया जयमङ्गलाऽल्यया व्याख्यया

समलंकृते श्रीभट्टिकाव्ये प्रथमे प्रकीर्णकाण्डे लक्षणरूपे चतुर्थः

परिच्छेदः । तथा लक्ष्यरूपे कथानके श्रीरामप्रवासो

नाम चतुर्थः सर्गश्च ।

पञ्चमः सर्गः ।

निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परितो रणम् ।

उत्पतिष्णू सहिष्णू च चेरतुः खरदूषणौ ॥ १ ॥

निरेत्यादि—खरदूषणौ रणं परितः समन्तात् । ‘अभितःपरितःसमया-
निकषाहाप्रतियोगेऽपि’ इति द्वितीया । चेरतुः आन्तौ । निराकरिष्णू शक्तु-
निराकरणशीलौ । वर्तिष्णू अभिमुखं वर्तनशीलौ, न तु पलायनशीलौ । वर्धिष्णू
मायथा महाप्राणोद्घावनशीलौ । उत्पतिष्णू नभ उत्पवनशीलौ । सहिष्णू
शंखप्रहारसहनशीलौ । सर्वत्र ‘अलंकृत्वनिराकृत्प्रजनोत्पचातेपतोन्मदरुच्यप-
त्रपवृत्तुष्टुप्तुसहचर इष्णुन् । ३ । २ । १३६ ।’ इति इष्णुन् ॥ १ ॥

तौ खड्मुसलप्रासचक्कवाणगदाकरौ ।

अकार्षमायुधच्छायं रजःसन्तमसे रणे ॥ २ ॥

तावित्यादि—रणे रणभूमौ रजःसन्तमसे । सङ्गतं तमः सन्तमसम् । अव-
समन्धेभ्यस्तमसः । ५ । ४ । ७९ ।’ इत्यच् । रजसा सन्तमसम् अस्मिन् इति
रजःसन्तमसं तस्मिन् रजसा कृतान्धकारे तौ खरदूषणौ आयुधच्छायंमायुधवा-

१ अत्रापि तदेव छन्दः । उपमाऽलङ्कारः ।

हुत्यमकार्षम् कृतवन्तौ । आयुधानां छायेति ‘छाया बाहुल्ये । २ । ४ । २२ ।’
इति नपुंसकत्वे हस्तवत्वम् । खड्गादीनां बाणान्तानां द्वन्द्वैकवद्भावं कृत्वा पश्चात्तेन
सहितां गदेति शाकपार्थिवादित्वात् समासः । अन्यथा ‘समुदायस्य जातिर-
आणिनाम् । २ । ४ । ६ ।’ इत्येकवद्भावेन नपुंसकलिङ्गता स्यात् बाणगदमिति ।
खड्गमुसलप्रासचकबाणगदाः करे येषामिति समासे ‘प्रहरणार्थेभ्य’ इत्यादिना
करशब्दस्य परनिपातः ॥ २ ॥

अथ तीक्ष्णाऽऽयसैर्बाणैरधिर्मर्म रघूतमौ ।

व्याधं व्याधमभूदौ तौ यमसाच्चकर्तुर्दिष्टौ ॥ ३ ॥

अथेत्यादि—अथैतस्मिन् सङ्गमे रघूतमौ रामलक्ष्मणौ कर्तुर्भूतौ । कर्मभूतौ
द्विषाविति । ‘सत्सूद्विषद्वृह्युजिविदभिदच्छिदजिनीराजामनुपसर्गेऽपि किप् ।
। ३ । २ । ६१ ।’ इति किप् । यमसाच्चकतु; यमाधीनौ कृतवन्तौ । ‘तद-
धीनवचने । ५ । ४ । ५४ ।’ इति सातिः । तीक्ष्णायसैर्बाणैः । तीक्ष्णमायसं फलं
येषामिति । व्याधं व्याधं विढ्वा विढ्वा । ‘आभीक्षण्ये णमुख्च । ३ । ४ । २२ ।’
तत्र ‘समानकर्तृक्योः पूर्वकाले । ३।४।२१।’ इति अनुवर्तते । ‘आभिक्षणे द्वे
भवतः’ इति द्विवचनम् । अधिमर्मेति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अमूढौ साव-
धानौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३ ॥

सर्ववेदमेवाह—

हतबन्धुर्जगामाऽसौ ततः शूर्पणखा वनात् ।

परेसमुद्रं लङ्घायां वसन्तं रावणं पतिम् ॥ ४ ॥

हतेत्यादि—असौ शूर्पणखा हतबन्धुः व्यापादितभ्रातुर्द्वया ततोः वनादण्ड-
कारप्यात् रावणं पर्ति प्रसुं शरणं जगाम गतवती । पारेसमुद्रम् । समुद्रस्य पारं
इति ‘पारे मध्ये षष्ठ्या वा । २।१।१८।’ इत्यव्ययीभावः । तत्संत्रियोगेन
पूर्वपदस्यैकरान्तत्वम् । पश्चात्सप्तमी । ‘नाव्ययीभावात् २।४।८।’ इत्यन्भावः ।
समुद्रस्य पारे स्थितायां लङ्घायां वसन्तं रावणमिति ॥ ४ ॥

सम्प्राप्य राक्षससम्बं चक्रन्द क्रोधविह्ला ॥

नामग्राहमरोदसिसा आतरौ रावणाऽन्तिके ॥ ५ ॥

सम्प्राप्येत्यादि—सा शूर्पणखा राक्षससम्बं संप्राप्य दौकित्वा । राक्षसानां
समेति ‘समा राजामतुष्यपूर्वा । २।४।२।३।’ इति नपुंसकता । चक्रन्दं चक्रन्दं
कृत्वती । क्रोधविह्ला क्रोधवेदशा । आतरौ खरदूषणावरोदीत् रुदितवती ।
नामग्राहं नाम गृहीत्वा । आतरौ खरदूषणाविति । ‘नाम्यादिशीघ्रहोः । ३।४।

५८।' इति णमुल् । अत्र नामग्रहणविशिष्टाया रोदनक्रियाया व्याप्तुमिष्ट-
त्वाद्वदिः सकर्मकः । रावणान्तिके रावणसमीपे । सप्तम्यधिकरणे च।२।३।६।'
इति चकाराद्ग्रान्तिकार्थेभ्य इति सप्तमी ॥

तयोः किं जातमिति रावणेन पृष्ठाह—

दण्डकानव्यवात्तां यौ वीर ! रक्षःप्रकाण्डकौ

नृभ्यां सङ्ख्येऽकृषातां तौ सभृत्यौ भूमिवर्धनौ ॥ ६ ॥

दण्डकानित्यादि—हे वीर दण्डकान् दण्ड कारण्यसन्निवेशान् अध्यवाचाम्
अध्युषितवन्तौ । ‘वस निवासे ।’ इत्यस्माल्लुड् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः ।
‘सः स्यार्थंधातुके।७।४।१।’ इति धातुसकारस्य तत्वम्।‘ज्ञलो ज्ञलिः।८।२।६।’
इति सिंचो लोपः।रक्षःप्रकाण्डकौ प्रशस्तौ राक्षसौ । ‘प्रशंसावचनैश्च।२।१।६।’
इति समाप्तः । ततः स्वार्थं कन्तु ‘स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्वन्ते’
इति नपुंसको न भवति । अन्यथा रुठिशब्दाः प्रशंसावचना आविष्टिलिङ्गस्वा-
दन्यलिङ्गेऽपि जातिशब्दे स्वलिङ्गोपादानादेव समानाधिकरणाः स्युः । यथा गोप्र-
काण्डमिति । तौ नृभ्यां मनुष्याभ्यां सङ्ख्ये युद्धे भूमिवर्धनावकृषाताम् कृतौ ।
कर्मणि लुड् । अविष्वद्वावे रूपम् । वर्धेते इति वर्धनौ । ‘कृत्यल्युटो बहुलम्
।३।३।१।३।’ इति कर्तरि ल्युट् । भूमेवर्धनाविति स० । भस्मकृतशरीरस्य
भूमौ लीयमानत्वात् । सभृत्यौ नैकाकिनौ ॥ ५ ॥

विग्रहस्तव शक्रेण बृहस्पतिपुरोधसा ।

सार्थं कुमारसेनान्या शून्यश्चाऽसीति को नयः ॥ ७ ॥

विग्रह इत्यादि—बृहस्पतिः पुरोधा मन्त्री यस्य शक्रस्य तेन।कार्येषु पुरो
धीयत इति पुरोधाः । पुरःपूर्वाद्वाजः सर्वधातुभ्य असुन् । तथा कुमारः कार्तिं-
केयः सेनानीर्यस्य । सेनां नयतीति ‘सत्सूद्धिषद्ब्रह्मयुजविदभिद्विजिनीरा-
जामनुपसर्गेऽपि।३।२।६।१।’ इति किष् । तेन शक्रेण सार्थं सह तव विग्रह-
आसीत् । इदानीं कार्यनिपुणाभावात् शून्यश्चासि । ‘तासस्त्योलौपः।७।४।५।०।’
इति सकारलोपः । तस्मात्को नयः । नय एव न भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

तदेव दर्शयन्त्याह—

यद्यहं नाथ ! नाऽप्यास्यं विनासा हतवान्धवा ।

नाऽज्ञास्यस्वमिदं सर्वं प्रमाद्यंश्चारुर्वलः ॥ ८ ॥

यदीत्यादि—विनासा विगता नासा यस्याः । नासैव नासिकेति‘केऽणः।७।४
।१।३।’ इति हस्तवे रूपं, तस्या नसादेशस्य विधीयमानत्वादत्र सम्भव एव नास्ति,

विनसेति पाठान्तरम् । तत्र विगता चासौ नासिका च विनासिका तत्र इत्थम्भूलतक्षणायां तृतीयायां ‘पहोमासहन् निशासन्यूषन्दोषन्यकच्छु-कन्तुदन्त्रासच्छस्पभृतिषु । ६।१। ६३।’ इति नसादेशः । विगतया नासिकयोपलक्षितेत्यर्थः । विगता नासिका अस्या इति बहुव्रीहिणा व्याख्याते ‘अस्य-नासिका-’ इत्यादिना अच्च नसादेशश्च प्राप्नुतः । तस्य संज्ञाविषयत्वात् ‘उपसर्गाच्छ-चलसंज्ञायां विधीयमानो न भवति ‘वेग्रो वक्तव्यः’ इति प्रादेशो बाधकः । हे नाथ यद्यहं विनासा हतवान्त्ववा नायास्यं न याताऽभविष्यम्, तदा तदिदं सर्वे अत्रोर्वर्धं नासाच्छ्वेदं च नाज्ञास्यः न ज्ञातोऽभविष्यः । कियातिपत्तौ लङ् । अज्ञाने कारणमाह—प्रमाद्यन् विषयेषु प्रमादं गच्छन् । चारदुर्धलः चारहीनः । चारा हि चक्षु राज्ञां कार्यकार्यज्ञानाय लोके । चरतीति चरः पचाद्यच् । चर एव चारः ‘प्रज्ञादिष्यश्च । ५।४।३८।’ इत्यण् ॥ ९ ॥

करिष्यमाणं विज्ञेयं कार्यं किं नु कृतं परैः ।

अपकारे कृतेऽप्यज्ञो विजिगीषुर्न वा भवान् ॥ ९ ॥

करिष्यमाणमित्यादि—परैः शत्रुभिरपचयचिकीर्षया करिष्यमाणं कार्यं विज्ञेयम् । किं नु कृतमेव यत्तदवश्यमेव विज्ञेयमित्यर्थः । त्वं पुनः परैरपकूतोऽपि अज्ञोऽविदितत्वरूपः । अतो विजिगीषुर्न वा भवान् । अतो न राज्यं संभावयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

बृतस्त्वं पात्रेसमितैः खटाऽरुढः प्रमादवान् ।

पानशौण्डः श्रियं नेता नाऽत्यन्तीनत्वमुन्मनाः ॥ १० ॥

बृत इत्यादि—अत्यन्तं गामिनीति ‘अवारपारायन्तानुकामंगामी । ५।२। ११।’ इति खः । तस्य मावोऽत्यन्तीनत्वम् । नैवात्यन्तीनामत्यन्तगामिनी श्रियं नेता न प्रापणशीलः । ‘तृन् । ३।२।१३५।’ इति ताच्छोलिकस्तृन् । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलऽर्थतृनाम् । २।३।६९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः । यद्यपि महोदयं राज्ये प्राप्तवानासि तथापि न चिरकालमित्यर्थः । यतस्त्वमुन्मनाः भ्रान्ताचित्तः । यतः पानशौण्डः पात्रे प्रसक्तः । ‘सप्तमी शौण्डैः । २।१।४०।’ इति स० । अत एव प्रमादवान् । अतोऽपि खटारुढः उत्पथप्रस्थितः । ‘खटा क्षेपे । २।१।२६।’ इति द्वितीया स० । तत एव पात्रेसमितैः भोजन एव सत्विहितैः अनुजीविभिर्वृतः । ‘पात्रेसमितादयश्च । २।१।४८।’ इति क्षेपे स० ॥ १० ॥

अध्वरेष्यग्निचित्वसु सोमसुत्वत आश्रमान् ।

अर्जुं महेन्द्रियं भागमेति दुश्च्यवनोऽधुना ॥ ११ ॥

अध्वरेष्वित्यादि—त्वयेयवस्थूतेऽधुना दुश्यवन् इन्द्रः आश्रमानैति अस्मच्छति । आङ्गपूर्वस्येणः ‘एत्येष्वत्यूहसु ।६।१८९।’ इति वृद्धिः । सोमसुत्वतः सोमं सुनोतीति ‘सोमे सुवः ।४।२।९०।’ इति क्रिप् । सोमसुतः सन्ति येष्वाश्रमोष्विति मतुप् । ‘तसौ मत्वर्थे ।१।४।१९।’ इति भत्वे तकारस्य जश्वत्वं न भवति । ‘झयः ।१।२।१०।’ इति मतोर्वत्वम् । किमर्थमैतीत्याह—अतुं भक्षयितुं महेन्द्रियं भागम् । महेन्द्रो देवता अस्येति । ‘महेन्द्राद्धाराणौ च ।४।२।२९।’ इति घः । क अध्वरेषु यज्ञेषु । अग्निचित्वत्सु । अग्निं चित्वन्तोऽभिन्निचितः आहिताग्नयः । ‘अग्नौ चेः ।३।२।९।१।’ इति क्रिप् । ते सन्ति येष्विति पूर्ववन्मतुप् ॥ ११ ॥

आमिक्षीयं दधिक्षीरं पुरोडाश्यं तथौषधम् ।

हविर्हेयङ्गवीनं च नाप्युपग्रन्ति राक्षसाः ॥ १२ ॥

आमीत्यादि—दग्ना सहितं शृतं पय आमिक्षा । तस्मै हितमामिक्षीयम् । ‘विभाषा हविरपूपादिभ्यः ।५।१।४।’ इति छयतौ । दधि च क्षीरं चेति । ‘विभाषा वृक्षसृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडपूर्वापराघरोत्तराणाम् । २।४।१।२।’ इति व्यञ्जनत्वादेकवद्ग्रावः । पुरोडाशाय हितमौषधं नीवारत-ण्डुलादि पुरोडाश्यम् । अपूपादित्वाद्यत् । ओषधिरकौषधम् । ‘ओषधेरजातौ ।५।४।२।७।’ इत्यण् । तण्डुलानामजातित्वात् । ‘खार्थिकाश्व प्रकृतितो लिङ्ग-वचनान्यतिवर्तन्ते’ इति नपुंसकलिङ्गता । हविः हूयत इति हविः । ‘आर्च-शुचिहुस्त्रिष्ठिद्विष्ठाद्यभ्यः’ इत्येणादिक इस् । हैयङ्गवीनं घृतम् । ह्योगोदोहस्य विकार इत्यर्थे ‘हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ।५।२।२।३।’ इति निपातनात् खब्, हैयङ्गवादेशश्च । तानि नाप्युपग्रन्ति राक्षसाः त्वय्युदासीने सति ॥ १२ ॥

इदानीं कार्यप्रदर्शनेन प्रोत्साहयितुमाह—

युवजानिर्धनुष्पाणिर्भूमिष्ठः खविचारिणः ।

रामो यज्ञद्वुहो हन्ति कालकल्पशिलीमुखः ॥ १३ ॥

युवेत्यादि—युवतिः यौवनवती जाया यस्य युवजानिः । ‘जायाया निष्ठ ।६।१।७।६।’ वल्लि लोपः । ‘खियाः पुंवद्ग्राषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे खियामपूरणीप्रियादिषु ।६।२।२।४।’ इति पुंवद्ग्रावात् खीप्रत्ययो निवर्तते । धनुष्पाणिः पाणौ धनुर्यस्य । प्रहरणेत्यादिना परनिपातः । भूमिष्ठः भूमौ तिष्ठतीति भूमिष्ठः । नाकाशचरः । ‘सुषि स्थः ।३।२।४।’ इति कः । ‘अस्त्रास्त्रगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्गुमाजिपुञ्जिपरमेवार्हद्वयमिभ्यः ।

स्थः । ८।३।५७।' इति षत्वम् । कालकल्पशिलीमुखः मृत्युतुल्यशरः । रामो
चक्रद्वाहो राक्षसान् हन्ति । खविन्वारिणः आकाशचरणशीलान् । 'मुप्यजातौ
गिनिनिस्ताच्छील्ये । ३।२।७।' इति गिनिः ॥ १३ ॥

मांसान्योष्टाऽवलोप्यानि साधनीयानि देवताः ।

अश्रन्ति रामाद् रक्षांसि विभ्यत्यश्नुवते दिशः ॥ १४ ॥

मांसेत्यादि—ओष्टावलोप्यानि ओष्टाभ्यां छेदार्हणि शक्यानि वा
अर्हार्थं शक्यार्थं वा कृत्यः । 'कृत्यैरधिकार्थवचने । ३।१।३२।' इति समाप्तः ।
साधनीयानि यज्ञस्य साधनाय हितानि । 'तस्मै हितम् । ५।१।५।' इति छः ।
साधनीयानीति पाठान्तरम् । तत्र सवनं स्नानं तद्योगात्स्नातकोऽपि तथोच्यते
तत्र भवः सावनो यज्ञः । 'तस्मै हितम् । ५।१।५।' इति छः । तानि मांसानि
देवता अश्रन्ति भुजते न राक्षसा रक्षांसि किन्तु रामाद्विभ्यति ।
'वा नपुंसकस्य । ७।१।७।' इति शतुर्नुभावपक्षे रूपम् । दिशोऽश्नुवते
च्याप्नुवन्ति ॥ १४ ॥

कुरु बुद्धिं कुशाऽग्रीयामनुकामीनतां त्यज ।

लक्ष्मीं परम्परीणां त्वं पुत्रपौत्रीणां नय ॥ १५ ॥

कुर्वित्यादि—कुशाग्रीयां कुशाग्रमिक्ष सूक्ष्माम् । 'कुशाग्राच्छः । ५।३।१०५।'
इति इवार्थं छः । स्थूलबुद्धिमां भूरित्यर्थः । अनुकामीनतां त्यज यथेच्छगा-
मितां त्यज । 'अवारपारात्यन्तानुकामं गामी । ५।२।११।' इति खः ।
परम्परीणां परांश्च परतरांश्च अनुभवतीत्यर्थं परशब्दात् 'परोवरपरम्परपुत्र-
पौत्रमनुभवति । ५।२।१०।' इति खः परंपरादिशेश्च । तां लक्ष्मीं क्रमायातां त्वं
पुत्रपौत्रीणां नय पुत्रांश्च पौत्रांश्चानुभवतीति खः । तस्य भावः । पुत्रपौत्रानु-
गामिनीं कुर्वित्यर्थः ॥ १५ ॥

सहायवन्त उद्युक्ता वहवो निपुणाश्च याम् ।

श्रियमाशासते लोलां तां हस्तेकृत्य मा श्वसीः ॥ १६ ॥

सहेत्यादि—यां च श्रियं त्वदीयां शौर्योपात्तां सहायवन्तः ससहाया-
उद्युक्ता उत्साहवन्तो निपुणाः कुशला आशासते इच्छन्ति । 'आङः शामु
इच्छायाम्' इत्यादादिकस्यात्मनेपदिनो रूपम् । 'आत्मनेपदेष्वनतः । ७।१।५।'
इत्यदादेशः । तां हस्तेकृत्य स्वीकृत्य । मा श्वसीः आश्वासं भा कार्षीः ।
चच्छलत्वात् । यदाहं लोलामिति । 'हस्तेकृत्यसजागृणिश्चयोदिताम् । ७।२।५।'
श्चयि वृद्धिप्रतिषेधः । 'इट ईटि । ८।२।२८।' इति सिंचो लोपः ।
'किंलं हस्तेपाणातुपयमने । १।४।७७।' इति गतिसंज्ञायां समाप्ते
स्वयादेशः ॥ १६ ॥

तां लोलतां दर्शयन्त्याह—

लक्ष्मीः पुंयोगमाशंसुः कुलटेव कुदूहलात् ।

अन्तिकेऽपि स्थिता पत्युश्छलेनाऽन्यं निराक्षते ॥ १७ ॥

लक्ष्मीरित्यादि—त्वयैवं न मन्तव्यम् अन्यैः प्रार्थ्यमानापि न मां परित्यजतीति । यतः छलेन व्याजेन अन्यं निरीक्षते । किमर्थे—पुंयोगमाशंसुः । अभिलषन्ती । ‘सनाशंसभिक्ष उः । ३ । २ । १६८ ।’ कुतूहलात् कोऽस्य विशेष इति । स्तेहादन्तिके अदूरेऽपि स्थिता पत्युः । ‘दूराऽन्तिकाऽर्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । २ । ३ । ३४ ।’ इति षष्ठी । कुलटेव बन्धकीव । शकन्धवादिषु दर्शनात्पररूपम् ॥ १७ ॥

युवजानिरित्युक्तं तद्योषित्प्रलोभनायाह—

योषिद्वृन्दारिका तस्य दयिता हंसगामिनी ।

द्वूर्वाकाण्डमिव इयामा न्यग्रोधपरिमण्डला ॥ १८ ॥

योषिदित्यादि—योषिच्चासौ वृन्दारिका चेति ‘वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूजयमानम् । २ । १ । ६२ ।’ इति समाप्तः । रूपेण प्रियेत्याह—दयिता प्रिया । प्रशस्तत्वे कारणमाह—हंस इव गन्तुं शीलं यस्याः । ‘कर्त्तर्युपमाने । ३ । २ । ८९ ।’ इति णिनिः । द्वूर्वाकाण्डमिव इयामा द्वूर्वास्तम्बं तदिव इयामा । न्यग्रोधपरिमण्डला । ‘उपमानानि सामान्यवचनैः । २ । १५५ ।’ इति समाप्तेः ॥ १८ ॥

नाऽस्यं पश्यति यस्तस्या निंस्ते दन्तच्छदं न वा ।

संशृणोति न चोक्तानि मिथ्यासौ विहितेन्द्रियः ॥ १९ ॥

नास्यऽमित्यादि—तस्या आस्यं मुखं यो न पश्यति । दन्तच्छदं ओष्ठम् । छायते अनेनेति घः । ‘छादेऽर्धेऽद्युपसर्गस्य । ६४ । १६ ।’ इति हस्तः । दन्ताचाँ छेदं न वा निंस्ते न चुम्बति । ‘णिसि चुम्बने ।’ इत्यादादिक आत्मनेपदी । ‘इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।’ उक्तानि उदितानि न संशृणोति । ‘स्मो गम्यूच्छिभ्याम् । १ । ३ । २९ ।’ इति तद्व न भवति । अकर्मका दित्यधिकारात् । मिथ्यासौ विहितेन्द्रियः । वृथैव तस्य वेधसा विहितानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ॥ १९ ॥

१ अन्नेपमा, दुष्टा च, द्वयोर्लिङ्गमेदात् । न्यग्रोधपरिमण्डला नाम ‘स्तनौ तु कठिनौ यस्या नितम्बे च विशालता । मध्ये तु सुक्षशा या सा न्यग्रोधपरिमण्डला ॥’ इत्युक्ता ब्रायिका ।

सारोऽसाविन्द्रियाऽर्थानां यस्याऽसौ तस्य नन्दशुः ।

तल्पे कान्ताऽन्तरैः सार्वं मन्येऽहं धिङ् निमज्जथुम् ॥ २० ॥

सार इत्यादि—इन्द्रियार्थानां मध्ये सारोऽसौ दियता इन्द्रियार्थः । रूपाद्यविशययोगात् । यस्यासौ संपद्यते तस्य नन्दशुः आनन्दश्वेतसः । तल्पे शयनीये यस्य कान्तान्तरैरन्यखीभिः सार्वं निमज्जथुं शयनम् । सर्वत्र ‘दितोऽशुच् । ३ । ३ । ८९’ तस्य धिक् कुत्सितमहं मन्ये । ‘उभसर्वतसोः—’ इत्यादिना धियोगे द्वितीया । तथा सार्वं शोभनमित्यर्थादुक्तं भवति ॥ २० ॥

न तं पश्यामि यस्याऽसौ भेन्नोदेजया मंतेः ।

त्रैलोक्येनाऽपि विन्दस्त्वं तां क्रीत्वा सुकृती भव ॥ २१ ॥

न तमित्यादि—सर्वथा न तं पश्यामि जानामि जगति यस्य सम्बन्धिन्या भेत्तश्वेतसः उद्देजया उक्तस्मिकासौ न भवेत् । चित्तक्षोभजनिकेत्यर्थः । उद्देजयतीति ‘अनुपसर्गादिष्पविन्दधारिपारिवेशुदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १।१३८।’ इति कर्त्तरि शः । कृद्योगे कर्मणि षष्ठी । तस्मात् त्रैलोक्येनापि । त्रयश्च ते लोकाश्च त्रिलोकाः । त एव त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्णादित्वात् स्वार्थं प्यव् । ‘स्वार्थका अतिर्वतन्ते’ इति नपुंसकत्वम् । तेनापि तां क्रीत्वा लब्धवा विन्दस्त्वं सुकृती भव पण्डितो भव । आढ्यो वा भव । पाण्डित्यमस्य त्रैलोक्यमात्रेणापि खीरलं क्रीत्वा लब्धमिति । चिन्दतीति तेनैव सूक्षेण शः ॥ २१ ॥

अन्या आपि ख्ययः सन्तीति चेदाह—

नैवेन्द्राणी न रुद्राणी न मानवी न रोहिणी ।

वरुणानी न नाऽग्रामी तस्याः सीमन्तिनी समा ॥ २२ ॥

नैवेत्यादि—तर एस्तु सीतायाः । ‘तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम् । २।३।७२।’ इति षष्ठी । न काचित् सीमन्तिनी षष्ठी समा तुल्या । ‘सीमन्तः केशवेशो’ इति परकृपस्त्वम् । अन्यत्र सीमन्तः स विद्यते यस्या इति, इन्निः । इन्द्राणी इन्द्रभार्या । न सम्यक् किं पुनरन्या । तथा रुद्राणी रुद्रभार्या । वरुणभार्या । ‘इन्द्रवरुणभवर्शर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामातुक् । ४।१।४५।’ इत्यातुक् । मानवी मनुभार्या । ‘मनोरो वा । ४।१।३८।’ इत्योकारः । अग्रामी अग्रिभार्या । ‘वृषाकप्यमिकुसितकुसिद्वान्नामनुदात्तः । ४ । १ । ३७।’ इति ऐरिति सर्वत्र ‘पुंयोगादाल्यायाम् । ४ । १ । ४८।’ इति छीप् । रोहिणी चन्द्रभार्या । रोहितशब्दात् ‘वर्णादिनुदात्तात्तोपधात्तो नः । ४ । १ । ३९।’ इति छीप् नकारश्च । वरुणानी न नाग्रामीत्यत्र प्रतिषेधः एकः पूर्वेण योद्धयः द्वितीयः फेरणेति । चाग्रामीति पाठान्तरम् ॥ २२ ॥

प्रत्यूचे राक्षसेन्द्रस्तामाशसिहि विभेषि किम् ।

त्यज नक्तच्चरि ! क्षोभं वाचाटे ! रावणो ह्यहम् ॥ २३ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—राक्षसेन्द्रो रावणः । राक्षसीं प्रत्यूचे । प्रतिवचनमुक्तं वान् । आश्वसिहि खेदं त्यज । ‘ रुदादिभ्यः सार्वघातुके । ७ । २ । ७६ । ’ इतीद् । विभेषि किमर्थं तापसकात् । हे नक्तच्चरि मध्विषये क्षोभं रोषं त्यज । वाचाटे बहुभाषिणि । ‘ आलज्जाटचौ बहुभाषिणि । ५ । २ । १२५ । ’ यस्माद्रावणोऽहम् । अनेनात्मोत्कर्षमावेदयति ॥ २३ ॥

तमेव स्फुटयन्नाह—

मासुपास्त दिव्यावान् याष्टीकव्याहतो हरिः ।

आज्ञालाभोन्मुखो दूरात् काङ्क्षेणाऽनादरेक्षितः ॥ २४ ॥

मामित्यादि—मासुपास्त सेवितवान् । हरिरिन्द्रः । दिव्यावान् द्रष्टुमिच्छावान् । आत्मदर्शनेच्छावानित्यर्थः । दूरादेव याष्टोकैः वेत्रग्राहिभिर्व्याहृतोऽपसारितः । ‘ कर्तुकरणे कृता बहुलम् । २ । १ । ३२ । ’ इति स० । यष्टिः प्रहरणमेषामिति ‘ शक्तियष्टयोरीकक् । ४ । ४ । ५९ । ’ आज्ञालाभे किमभिः धास्यतीत्युत्सुक उन्मुखः तत्परः । सप्तमीति योगविभागात् स० । अनादरेक्षितः अवज्ञाविलोकितः । काङ्क्षेण कुदृष्ट्या । ‘ का पथ्यक्षयोः । ६ । ३ । १०४ । ’ इति कुशब्दस्य कादेशः । यदि तत्पुरुष इत्यनुवर्तते तदा कुत्सितमक्षिमिति विग्रहः । अक्षशब्दस्येन्द्रियसामान्याभिधायित्वेऽपि ईक्षितशब्दोपपदत्वाच्चक्षुषिः वर्तते । अथ तत्पुरुष इति नानुवर्तते सामान्येनादेद् तदा कुत्सितमक्षिः यस्येति । ‘ बहुत्रीहौ सकथ्यक्षणोः स्वाज्ञात् षच् । ५ । ४ । ११३ । ’ इति षच् । काङ्क्षेण सयेत्यर्थः ॥ २४ ॥

विरुणोद्ग्रधाराऽग्रः कुलिशो मम वक्षसि ।

अभिन्नं शतधाऽत्मानं मन्यते बलिनं बली ॥ २५ ॥

विरुणेत्यादि—विरुणानि अवसन्नानि कृष्टितानि उद्ग्राणि महान्ति राग्राणि यस्य स कुलिशो वज्रः मम वक्षसि पतितः सन् बली । आत्मानं भिन्नं शतधा शतप्रकारम् । ‘ सङ्क्षयाया विधार्थं धा । ५ । ३ । ४२ । ’ लिनं मन्यते । अहो बलवान्ह न येन शतधा भग्न इति । तस्य देवतास्त्वात् उमस्त्येव । आत्मानं बलिनं मन्यत इवत्युत्प्रेक्षा ॥ २५ ॥

कृत्वा लङ्घाद्गुमाऽलानमहैरावतं गजम् ।

बन्धनेऽनुपयोगित्वान् नतं तृणवदत्यजम् ॥ २६ ॥

कृत्वेत्यादि—एष्वालीयत इत्यालानम् । अधिकरणे ल्युह । ‘विभाषा
लीयतेः । ६ । १ । ५१।’ इत्यात्मम् । लङ्घाङ्गमा आलानानि यस्यैरावताऽ
स्थ॒स्य गजस्य तं कृत्वा । नन्तं नश्रुमुखम् । तृणमिव मत्वा । सोऽहमत्यजं
त्यक्तवान् । वन्धनेऽनुपयोगित्वात् प्रयोजनाभावात् ॥ २६ ॥

आहोपुरुषिकां पश्य मम सद्रक्कान्तिभिः ।

ध्वस्तान्धकारेऽपि पुरे पूर्णेन्द्रोः सन्निधिः सदा ॥ २७ ॥

आहो इत्यादि—अहोपुरुषस्य भावः । मनोङ्गादित्वाङ्गुच् । आहोपुरुषिका
कार्यसिद्धावपि तत्साधने वृत्तिः । तां मम शूर्णंखे पश्य । सद्रत्नकान्तिभिः
ध्वस्तान्धकारेऽपि पुरे पूर्णेन्द्रोः पूर्णचन्द्रस्य सन्निधिः सदा सन्निधानम्, न
पुनस्तेन कृत्यं रत्नप्रभामिरेव तत्कृत्यस्य कृतत्वात् ॥ २७ ॥

हृतरलैच्युतोद्योगो रक्षोभ्यः करदो दिवि ।

पूतक्रतार्थीमभ्येति सत्रपः किं न गोत्रभित् ॥ २८ ॥

हृतेत्यादि—हृतोच्चैः श्रवादिरत्नो गोत्रभिदिन्द्रः । अत एव च्युतोद्योगः ।
दिवि वर्तमानोऽपि रक्षोभ्यः करदः । राजग्राह्ण वित्तं प्रयच्छन् । पूतक्रतार्थी
शर्ची ‘पूतक्रतोरै च । ४ । १ । ३६।’ इति जीष् । पुंयोगादाख्यायामिति ।
सत्रपः सत्रीढः । किं नाभ्येति न ढौकते ॥ २८ ॥

अतुल्यमहसा सार्धं रामेण मम विग्रहः ।

त्रपाकरस्तथाप्येष यतिष्ये तद्विनियहे ॥ २९ ॥

अतुल्येत्यादि—तदेवंविधस्य मम अतुल्यमहसा अतुल्यतेजसा रामेण सह
स्वभक्षणपाकरः । ‘कृनो हेतुताच्छीलयानुलोम्येषु । ३ । २ । २०।’
इति टः। तथापि त्वत्प्रार्थनया । एष च यतिष्ये तद्विनियहे विविधनिग्रहविषये
तस्य यतिष्ये ग्रन्तं करिष्यामि । ‘वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३।३ । २१।
श्विर्विकल्पेन लटो लिघानात् लृङ्गदाहतः ॥ २८ ॥

उत्पत्य सं दशग्रीवो मनोयायी शिताऽङ्गभृत् ।

समुद्रसविधाऽङ्गसं मारीचं प्रति चक्रमे ॥ ३० ॥

उत्पत्येत्यादि—उक्त्वैव खमाकाशमुत्पत्य मारीचं प्रति चक्रमे । यत्र मारा-
चो राक्षसस्तत्र गत इत्यर्थः । ‘अनुपसर्गाद्वा ।१।३।४।३।’ इति क्रमेस्तद् ।
मनोवदाशु यातुं शौलमस्येति । ‘कर्तव्युपमाने ।३।३।७।१।’ इति पिणिनः ।
शिताङ्गभृत् गृहीततीक्षणचन्द्रहासः । समुद्रस्य सविष्ये समीपे आवासो यस्य
जारीचस्य । सद्विषेव सविष्यमिति व्युत्पत्तिमात्रं शब्दस्तत्समीपवाची ॥ ३० ॥

सम्पत्य तत्सनीडेऽसौं तं वृत्तान्तमशिश्रवत् ।

त्रस्तुनाऽथ श्रुतार्थेन तेनाऽगादि दशाऽननः ॥ ३१ ॥

सम्पत्येत्यादि—असौ दशशीवः तत्सनीडे मारीचस्य समीपे । अत्रापि सह नीडेनेति व्युत्पत्तिमात्रम् । सम्पत्य यात्वा । तं वृत्तान्तम् शूर्पनखाकथि-
तमशिश्रवत् श्रावितवान् । शृणोतेर्णन्तस्य लुड्डि रूपम् । अथ तेन मारीचेन
श्रुतार्थेन त्रस्तुना त्रसनशीलेन दशाननः अगादि उक्तः । कर्मणि लुड्डि ॥३१॥

अन्तर्धर्त्स्व रघुव्याघ्रात्तस्मात्वं राक्षसेश्वर ? ।

यो रणे दुरुपस्थानो हस्तरोधं दधद्धनुः ॥ ३२ ॥

अन्तरित्यादि—इे राक्षसेश्वर त्वं तस्माद्रघुव्याघ्रादनर्थर्त्स्व अन्तर्हितो भवत्
व्यवहितो भवेति यावत् । दधातेल्लौटि ‘शाभ्यस्तयोरातः ।६ । ११२।’
इत्याकारलोपः । अभ्यासस्य ‘दधस्तथोश्च ।८।२।३।’ इति भष्मोवः ।
‘अन्तर्धै येनादर्शनमिच्छति ।१।४।२।’ इत्यपदानसंज्ञा । यस्मात् स रामः रणे
दुरुपस्थानः दुःखेन उपस्थीयते उपगम्यत इति । ‘आतो युच् ।३।३।१।२।५।’ यतो
हस्तरोधं दधद्धनुः हस्तेन रुद्ध्वा सदैव यो धनुर्धते स कथं दुरुपस्थानो न
‘भवति । हस्तशब्दे तृतीयान्त उपपदे ‘सप्तम्यां चौपीडसूधकर्षः ।३।४।४।’
इति णमुल् । चकारेण तृतीयायाः समुच्चितत्वात् । ‘तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्या-
म् ।२।२।२।’ इति समाप्तः ॥ ३२ ॥

तदेव दुरुपस्थानत्वं स्फुटयन्नाह—

भवन्तं कार्तवीर्यों यो हीनसन्धिमर्चीकरत् ।

जिगाय तस्य हन्तारं स रामः सार्वलौकिकम् ॥ ३३ ॥

भवन्तमित्यादि—यःकार्तवीर्यःकुतवीर्यस्यापत्यं सहस्रबाहुःभवन्तं हीनसन्धि-
मर्चीकरत् । हन्तेन दुर्बलेन यः सन्धिः तं भवन्तं कारितवान् । तेन हीनत्वम् ।
बलान्तर्जित्य कारित इति दुरुपस्थानत्वमुक्तम् । ‘हक्रोरन्यतरस्याम् । १ । ४ ।..
५।३।’ इति द्विकर्मकता । तस्य कार्तवीर्यस्य यो हन्ता परशुरामः । कृतप्रयोगे
कर्मणि षष्ठी । तेन हि तस्यामिहोत्रघेनुमपहृत्य गच्छतः परशुना बाहुसहस्रं
छिन्नम् । तस्य हन्तारं स रामो जिगाय जितवान् । जयतेर्लिटि धातुजकारस्य
‘सँल्लिटोर्जः । ७ । ३ । ५।७।’ इति कुत्वम् । सार्वलौकिकं सर्वलोके विदितम् ।
‘लोकसर्वलोकाभ्यां ठब् । ५ । १ । ४।४।’ ‘अनुशतिकादीनां च ।७।३।२।०।’
इत्युभयपदद्विद्धिः । सार्वलौकिक इति पाठान्तरम् । अत्र राम इति योज्यम् ॥३३॥

यमाऽस्यहश्वरी तस्य ताडका वोति विक्रमम् ।

शूरममन्यो रणाद्वाऽहं निरस्तः सिंहनर्दिना ॥ ३४ ॥

यमेत्यादि—तस्य रामस्य विक्रमं ताडका वेत्ति ज्ञातवती । ‘वर्तमानसा-
मीप्ये वर्चमानवद्वा ।३।३।१३।’ इति भूते लट् । कीदृशी यमास्यहश्वरी ।
तच्छरताडिता यममुखं दृष्टवती मृतेत्यर्थः । ‘हशेः कनिप् ।३।२।९४।’ ‘वनो
र च ।४।१।७।’ इति डीब्रेकौ । अहमपि शूरममन्यः शूरमात्मानं मन्यमानः
‘आत्ममाने खश्च ।३।२।८३।’ सिंहनर्दिना रामेण सिंह इव नर्दतीति ‘कर्तर्यु-
पमाने ।३।२।७९।’ इति पिण्डिः । रणान्निरस्तः बहिष्कृत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

न त्वं तेनाऽन्वभाविष्ठा नाऽन्वभावि त्वयाऽप्यसौ ।

अनुभूतो मया चाऽसौ तेन चाऽन्वभाविष्यहम् ॥ ३५ ॥

न त्वमित्यादि—तेन रामेण त्वं नान्वभाविष्ठाः । त्वमनेन नानुभूतः ।
कर्मणि लुड् । थासि ‘स्यसिच्चसीयुद्गतासिषुभावकर्मणोरुपदेशोऽज्जनग्रहदुशां वा
चिष्वदिदृच्च ।६।४।६२।’ इति चिष्वदिदृच्च षुत्वम् । नान्वभावि त्वयाऽप्यसौ
नानुभूतः । येनैवमुच्यते । अत्र ‘चिष्वभावकर्मणोः । ३।१।६६।’ इति
चिष्व । अनुभूतो मया चासौ । चशब्दः पुनरित्यर्थे । मया पुनरसावनुभूतः
न शक्यो जेतुयिति । तेन रामेण चान्वभविष्यहमनुभूतोऽहम् । तेन सह यो-
द्गुमक्षम इति । अत्र चिष्वद्गावो न कृतः किन्तु लुडि उत्तमपुरुषैकवचने वला-
दिलक्षण इद् । तेन वृद्धयभावात् गुण एवेति ॥ ३५ ॥

अध्यङ्गशास्त्रभूतां रामो न्यञ्चस्तं प्राप्य मद्विधाः ।

स कन्याशुल्कमभनङ्गमिथिलायां मखे धनुः ॥ ३६ ॥

अध्यङ्गशास्त्रादि—शास्त्रभूतां मध्ये रामोऽप्यङ्गमिथिलायाः । अध्यञ्चत्याधिक्ये
न वर्तत इति ‘ऋतिविगद्धृक्षसादिगुणिणगच्चयुजिकृच्चां च ।३।२।५१।’ इति
किन्त तस्मिन् लुप्ते अनुनासिकलोपे ‘उगीदचां सर्वनामस्थाने धातोः ।७।१।७०।’ इति तुम् । तस्यानुस्वारपरसर्वर्णत्वे कृते च हलङ्गादिसंयोगान्तलोपौ ।
नक्षरस्य ‘किन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२।’ इति कुत्वेन डकारः । तं तादृशं
प्राप्य मद्विधा न्यज्ञो हीनाः । निशब्दोऽत्राधोभावे वर्तते । न्यञ्च इति पूर्ववत् ।
किन् । अनुनासिकलोपे । तुम् । अल्लोपो नास्ति अहल्कत्वात् कुत्वं च नास्ति
अपद्वसंबन्धत्वात् । यो मिथिलायां महद्वनुभनकू भग्नवान् सोऽस्मादपि कार-
पात् शशभूतामध्यङ्ग । भज्जेर्लडि ‘शान्नलोपः ।६।४।२३।’ हलङ्गादिलोपः ।
कुत्वं च । कन्याशुल्कं कन्यामूल्यम् । तद्विद्वयो रौद्रै धनुरारोपितगुणं करोति
अस्मै कन्या दीयत इति मूल्योकृत्य स्थापितम् ॥ ३६ ॥

संवित्तः सहयुध्वानौ तच्छक्ति खरदूषणौ ।
यज्वानश्च समुत्तानो यानगोपीन्मखेषु सः ॥ ३७ ॥

संवित्त इत्यादि—नाहमेव रामशक्तिमवैमि अपि तु खरदूषणावपि संवित्तः ज्ञातवन्तौ । ‘वर्तमानसामीये वर्तमानवद्वा ।३।३।१३१’ इति भूते लङ् । सकर्मकत्वात् ‘समो गम्यृच्छभ्याम् ।१।३।२९१’ इति तङ् न भवति । तत्राकर्मकादिति वर्तते । सहयुध्वानौ सह तेन युद्धवन्तौ । ‘सहे च ।३।२।१६६’ इति युधेः क्वनिप् । यज्वानश्चाहितमनयः । समुत्तानः सोमयाजिसाहिताः । ‘सुयजोड्डनिप् ।३।२।१०३’ संविदन्तीति वचनविपरिणामेन योज्यम् । यानगोपीत् अरक्षीत् मखेषु स रामः । लुङ्के रूपम् । तथा मखदुहो राक्षसान् न्तो रामस्य शक्तिं ज्ञातवन्तः ॥ ३७ ॥

सुखजातः सुरापीतो नृजग्धो माल्यधारयः ।
अधिलङ्कं स्थियो दीव्य माऽऽरब्धा बलिविग्रहम् ॥ ३८ ॥

सुखेत्यादि—यत एवं दुरुपस्थानः स तस्माद्विलिना रामेण विग्रहं माऽऽरब्धाः मा कार्षीः । रभेराङ्गपूर्वात् ‘माङ्गि लुङ् ।३।३।१७५’ थास् । ‘श्लोङ्गलि ।४।२।२६’ । इति सिज्ज्लोपेः । ‘ज्ञष्टस्तथोर्धोऽधः ।४।२।४०’ झलां जश् झशि ।४।४।५३’ । किं कार्यमित्याह—अधिलङ्कं लङ्कायामधि । विभक्तघर्थेऽव्ययीभावः । स्थियो दीव्य क्रीडः । लोटि रूपम् । ‘दिवः कर्म च ।४।४।४३’ इति कर्मसंज्ञायां ‘वाऽमृशसोः ।६।४।८०’ इतीयङ् । कीदृशः सुखजातः । जातं सुखमस्येति बहुत्रीहिः । कृतासवपानत्वात् । यदाह—सुरापीतः पीतमादिरः । नृजग्धः सुक्रमानुषः । निष्ठायामदो जग्धिः । पूर्वबद्धत्वम् । एषु वाहिताङ्गयादिर्दर्शनात् परनिपातः । माल्यं धारयतीति माल्यधारयः । ‘अनुपसर्गाङ्गिम्पिविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहित्यश्च ।३।१।१३८’ इति शः ॥३८॥

तं भीतंकारमाकुश्य रावणः प्रत्यभाषत ।

यातयामं विजितवान् स रामो यदि किं ततः ॥ ३९ ॥

तमित्यादि—तं मारीचं पूर्वोक्तं निराकुर्वन् रावणः प्रत्यभाषत प्रत्युक्तावान् । लङ्के रूपम् । भीतङ्कारमाकुश्य । भीतं कृत्वा भीतोऽसीति । ‘कर्मण्यक्रोशो ।४।४।२५’ कृञ्जः खमुञ्जः । यातयाम गतवयसम् । यदि विजितवान् रामो दाशरथिः । किं ततः किं तापसः शूरः ॥३९॥

अधानि ताडका तेन लज्जाभयविभूषणा ।

स्त्रीजने यदि तच्छ्लाघ्यं धिग् लोकं क्षुद्रमानसम् ॥ ४० ॥

घानीत्यादि—तेन रामेण ताडका अधानि व्यापादिता । हन्तेः, कर्मणि-
लुह् । लज्जा च भयं च विभूषणं यस्याः । खत्वान्न शौर्यम् । एवंविद्याया
अनेन रामेण यदि गर्हयापि हननं स्त्रीजने श्लाघ्यं श्लाघनीयम् । 'कृत्यानां कर्तारि
वा । २।३।७१।' इति तृतीया । तं धिक् लोकं क्षुद्रमानसं हीनमानसम् ॥ ४० ॥

यद् गहनोद्दिनं मसौ शैरभर्हिमभायथत् ।

कुब्रह्यज्ञके रामो भवन्तं पौरुषं न तत् ॥ ४१ ॥

यद्वाह इत्यादि—असौ रामो यद्वन्तं भीरुं शैरभायथत् भायितवान् ।
पुगात्मनेष्ठे न भवतः भयहेतोरभावात् । अत्र हि शैरभ्यो भयम्; नतु रामात् ।
तत् किम् । पौरुषकारः किमसौ । युवादित्वादृश् । गेहेनैदिनं गेह एव नैदिन-
म् । 'पात्रेसमिताद्यश्च । २।१।४८।' इति समाप्तः कुब्रह्यज्ञके । कुत्सिता
त्रह्याणः कुब्रह्याः । 'कुगतिप्रादयः । २।२।१८।' इति समाप्तः । 'कुमहङ्ग्यामन्यतरा
स्याम् । ५।४।१०५।' इति समाप्तान्तर्ष्टच् । तेषां कुत्सितो यज्ञः । तस्मिन् सति
कुस्त्रायां कन् । तेन शूरम्मन्योऽहं रणात्तेन निरस्तः इत्यपुष्कलमुक्तम् ॥ ४१ ॥

:चिरकालोषितं जीर्णं कीटनिष्कुषितं धनुः ।

ईकं चित्रं यदि रामेण भग्नं क्षत्रियकाऽन्तिके ॥ ४२ ॥

चिरत्यादि—यदि रामेण क्षत्रियकान्तिके । कुत्सितक्षत्रियसमीपे । भग्नं
धनुः किं तच्चित्रमाश्रयम् । क्षत्रिया जनकादयः तस्य कुत्सायां कन् । क्षत्रियक-
स्यान्तिके । दूरान्तिकार्थयोगे षष्ठीसमासं विधाय पश्चात् 'सप्तम्यधिकरणे
चारा३।३६।' इति चकारादूरान्तिकार्थेभ्यश्चेति सप्तमी । किमिति न चित्र-
त्रमित्याह—चिरकालमुषितमिति । 'कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २।३।५।' इति
तद्वितीयां विधाय 'अत्यन्तसंयोगे च । २।१।२९।' इति द्वितीयासमाप्तः ।
जीर्णं चिरकालोषितत्वात् । 'जृष्ट वयोहानौ' । निष्ठा । 'ऋत इद्वातोः
। ५।१।१००।' इकः । 'हलि च । ८।२।७।' इति दीर्घः । 'रदाभ्यां
रेनिष्ठातोनः पूर्वस्य च दः । ८।२।४।' इति निष्ठानत्वम् । कीटैर्द्युर्णीर्निष्कुषितं
खादितम् । 'निरः कुषः' इत्यनुवर्तमाने 'इण्निष्ठायाम् । ७।२।४।' इतीदा४३॥

वनतापसके वीरो विपक्षे गलिताऽदरौ ।

ईकं चित्रं यदि सावज्ञौ मग्नतुः खरदूषणौ ॥ ४३ ॥

वनेत्यादि—वने तापसो वनतापसः । कुत्सायां कन् । वसिन् वनतापसके मे सावज्ञत्वाद्गलितादरौ विपक्षे किमयं करिष्यतीत्यशब्दयैव योधितवन्तौ खरदूषणौ वीरौ यदि मग्नतुः मृतौ, को होषः किं चित्रम् । ‘ग्रियतेर्लुभ्यलिङ्गोऽश्च ॥१३॥१॥’ इति नियमात् लिङ्गात्मनेपदं न भवति ॥ ४३ ॥

त्वं च भीरुः सुदुर्बुद्धे ! नित्यं शरणकाम्यसि ।

गुणांश्चापहुषेऽस्माकं स्तौषि शर्वंश्च नः सदा ॥ ४४ ॥

त्वं चेत्यादि—हे दुर्बुद्धे त्वं पुनः भीरुश्च भवसि । नित्यं शरणकाम्यसि । आत्मनोऽनिशं शरणसिच्छासि । आत्मेच्छायां काम्यच् । अस्माकं च सतो गुणानपहुषे अपनयसि । ‘हुङ् अपनयने’ आदादिकः । छित्वात्तङ् । शर्वंश्च नोऽस्माकं स्तौषि । स्तौते: ‘उतो वृद्धिर्लक्षि हलि । ७।३।८९॥’ ॥ ४४ ॥

शीर्षच्छेद्यमतोऽहं त्वा करोमि शितिवर्धनम् ।

कारथिष्यामि वा कृत्यं विजिघृतुर्वनौकसौ ॥ ४५ ॥

शीर्षेत्यादि—यत एवंविघस्त्वं दुष्टः अतोऽहम् । ‘त्वामौ द्वितीयाया । ८।१ १२।३॥’ इत्याष्टमिकलक्षणेन त्वादेशः । शीर्षच्छेद्यं शीर्षच्छेदार्हम् । ‘शीर्षच्छेदाद्यत् १५।१।६॥’ क्षितिवर्धनं करोमि । शिरश्चित्तवा व्यापाद्यामीत्यर्थः । अथवा कृत्यं करणीयम् । ‘विभाषा कृवृषोः । ३।१।१२०॥’ इति क्यप् । कारथिष्यामि । ‘ह—क्रोरन्यतरस्याम् । १।४।५॥३॥’ इति द्विकर्मकता । विजिघृक्षुः विग्रहीतुमिच्छुः । ‘सनि ग्रहगुहोश्च । ७।२।१॥२॥’ इतीत्प्रतिषेधः । ‘रुदविद्मुषप्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च । १।२।१॥’ इति सनः कित्वे ‘ग्रहित्यावयिव्यविषिटीवचीत्वृश्च तिष्ठच्छति—भूज्जतनीं डिति च । ६।१।१॥’ इति संप्रसारणम् । ‘हो ढः । ८।२।३॥१॥’ । एकाचो बशो भव् ज्ञपन्तस्य स्ववेः । ८।२।३॥७॥। ‘षडोः कः सि । ८।२।४॥१॥’ वन्नौ—कसौ रामलक्ष्मणौ । वनमोक्तो गृहं यथोः । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखल्यत्वनाम् ॥२।३।६॥९॥’ इति कर्मणिषष्ठ्याः प्रतिषेधः ॥ ४५॥

तमुद्यतनिशाताऽसें प्रत्युवाच जिजीविषुः ।

मारीचोऽनुनयस्त्रासादभ्यमित्र्यो भवामि ते ॥ ४६ ॥

तमित्यादि—ते रावणं एवमुक्तवन्तम् । निशात इति ‘शान्तोरन्यतरस्याम् । ७।४।४॥१॥’ इतीत्वाभावपक्षे रूपम् । उद्यतः उथापितः निशातसंतीक्षणोऽसियेन ते मारीचश्चासात् प्रत्युवाच वचनमुक्तवान् । अभ्यमित्र्यो भवामि ते । अभ्यमित्रस्याभिमुखमभ्यमित्र्यमिभमुख्येऽव्ययोभावः । अभ्यमित्रमलंगामीत्य—इस्मन्तर्थे ‘अभ्यमित्राऽठ च । ५।२।१॥’ इति चकाराद्यत्वौ चेति यत् । तद्वामि

न्राभिमुखं गच्छामीर्थाः । अनुनयन् अनुकूलयन् । किमर्थं जिजीविषुः जीवि-
तुमिच्छुः ॥ ४६ ॥

हरामि रामसौमित्री मृगो भूत्वा मृगद्युवौ ।

उद्योगमभ्यमित्रीणो यथेष्ट त्वं च संतनु ॥ ४७ ॥

हरेत्यादि—अहं मृगो भूत्वा रामसौमित्री हरामि । देशान्तरं प्रापयामि ।
आखेटकाभिरतत्वात् । यदाह मृगद्युवौ मृगैर्वित्य इति क्रिप् । ‘च्छोः शुडनु-
नासिके च ।६।४।११।’ इति चकारात् कौ च ऊद् । यणाक्षेशः । उवङ् ।
मृगद्युताविति पाठान्तरम् । तत्रैं ‘द्यु अभिगमने’ मृगान् द्यौति अभिगच्छतीति
क्रिप् । त्वं च यथेष्ट यथाहचि । तस्मिद्योगं संतनु विस्तारं कुर्वत्यर्थः । तनोते-
लोंटि ‘उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ।६।४।१०६।’ इति हेर्लुक् । अभ्यमित्रीणः
अमित्राभिमुखमलंगामी । ‘अभ्यमित्राच्छ च ।५।२।१७।’ इति चकाराद्यत्वौ
चेति खः ॥ ४७ ॥

ततश्चित्रीयमाणोऽसौ हेमरत्नमयो मृगः ॥

यथामुखीनः सीतायाः पुष्पलुवे बहु लोभयन् ॥ ४८ ॥

तत इत्यादि—उक्तानन्तरमसौ मारीचो मायामृगीभूतः सन् हेमरत्नमयः
एतेऽचेति विगृह्य । ‘भयद्वृतयोर्भाषायामभक्षयच्छादनयोः ।४।३।१४।३।
पृष्ठे-विकारे मयद् । मिर्मलत्वात् । सीताया अग्रतो यथामुखीनः प्रतिबिम्बाश्र-
ण इव भूत्वा पुष्पलुवे भ्रमति स्म । इवशब्दलोपो द्रष्टव्यः । ‘यथामुखसंमुखस्य
दर्शनः खः । ५।२।६।’ बहु लोभयन् सुष्टु स्पृहां जनयन् । यतश्चित्रीय-
माणः आश्र्यं भवन् । हेमरत्नमयत्वात् । ‘नमोविरिवशिचत्रङ्गः क्यच् ।३।१।१।’
इति क्यच् । ‘चित्रङ्ग आश्रयेऽ । डकारस्यात्मनेपदार्थत्वात् शानच् ।
अवयवकृतं लिङ्गं समुदायस्य भवतीति ॥ ४८ ॥

तेनाऽदुद्यूषयद्रामं मृगेण मृगलोचना ॥

मैथिली विपुलोरस्कं प्राबुवूषुर्मृगाऽजिनम् ॥ ४९ ॥

तेनत्यादि—तेन मृगेण मैथिली सीता राममदुद्यूषयत् क्रीडितुमिच्छन्तं प्रयु-
क्तो गृहत्वमयमिति । इवन्तस्य दिवे: ‘सनीवन्तर्धं ब्रह्मस्त्रिस्त्रियूर्णुभरद्व-
स्त्रिसनाम् । ७।२।४९।’ इति यदा नेट् तदा ‘च्छोः शुडनुनासिके च । ६।
४।४।१।’ हिर्वचनम् । तस्मात् सन्नन्तप्यन्तात् लङ्घे रूपम् । मृगलोचना मृगस्य
लोचनैर्मृगः लोचने यस्याः । मध्यमपदलोपी समाप्तः । विपुलोरस्कं विस्तीर्णवक्षस्थ-
लम् । ‘उसःप्रभृतिभ्यः कर्म् ।५।४।१५।१।’ किमर्थमदुद्यूषयत् मृगाजिनं मृगचर्म

प्रावुर्वुरुः प्रावरीतुभिच्छुः । प्राङ्गपूर्वस्य 'इट सनि वा । ३।२।४१' इत्यनिटपक्षे
‘अज्जनगमां सनि । ६।४।१६’ इति दीर्घः । ‘उदोष्टुष्टुपूर्वस्य । ३।१।१०२’
इत्युत्तम् । रपरत्वम् । ‘वोहपथाया दीर्घ इकः । ८।२।७६’ द्विर्वचनम् ।
‘इणकोः । ८।३।५७’ इति वत्वम् । रेख्येण्याहणेन ग्रहणाहन्त्योष्टुष्टुपिपि
वकार ओष्टुष्टुप्रहणेन गृह्णते ॥ ४९ ॥

योगक्षेमकरं कृत्वा सीताया लक्ष्मणं ततः ।

मृगस्यानुपदी रामो जगाम गजविक्रमः ॥ ५० ॥

योगेत्यादि—ततो दुदूषानन्तरं रामो जगाम । योगक्षेमौ शरीरस्थितिपा-
लने करोतीति ‘कृत्वो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु । ३।२।२०’ इति हेतौ टः ।
ग्रहणवता तदन्तविवेरभावात् ‘क्षेमप्रियमद्रेण् च । ३।२।४४’ इत्यण्खचौ
न भवतः । सीतायाः स्थितिपालनहेतुभूतं लक्ष्मणं कृत्वा रामः मृगस्यानुपदी
अन्वेष्टा ‘अनुपद्यन्वेष्टा । ५।२।९०’ इति निपातनात् सायुः । गजविक्रमः ।
गजगमनमिव गमनं यस्येत्यर्थः ॥ ५० ॥

स्थायं स्थायं कवचिद्यान्तं क्रान्त्वा क्रान्त्वा स्थितं कवचित् ।

वीक्षमाणो मृगं रामश्चित्रवृत्तिं विसिष्यिये ॥ ५१ ॥

स्थायमित्यादि—मृगं चित्रवृत्तिमद्भुतशरीरचेष्टं वीक्षमाणो रामो विसि-
ष्यिये विसितः । षिठो छित्वादादात्मनेपदम् । षोपदेशत्वाच्चाभ्यासेणः परस्य
सस्य षः । चित्रवृत्तितां दर्शयन्नाह—स्थायं स्थायं स्थित्वा स्थित्वा कवचित् प्रदेशे
यान्तम् । क्रान्त्वा क्रान्त्वा कवचित्प्रदेशे उत्पलुत्योत्पलुत्य स्थितम् । आभीक्ष्ये
णमुलि कृत्वाणमुलौ द्विर्वचनं च ॥ ५१ ॥

चिरं क्षिणित्वा मर्माविद् रामो विलुभितप्लवम् ।

शब्दायमानमव्यात्सीद् भयदं क्षणदाचरम् ॥ ५२ ॥

चिरमित्यादि—रामः क्षणदाचरं मारीचमव्यात्सीन् विद्ववान् । व्यधेर्ल-
डि हलन्तलक्षणा वृद्धिः । मर्माविद्रामः मर्माणि विध्यतीति किम् । ‘नहिवृति-
वृत्तिव्याधिरुचिसहितनिषु कौ । ६।३।१६’ इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । चिरं
क्षिणित्वा महान्तं कालमायस्य अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ‘क्षिणः कृत्वा-
निष्टयोः । ३।२।५०’ इति विकल्पेनेद । तत्र ‘र्लो व्युपधाङ्गलादेः संश्च
। १।२।२६’ इति कित्त्वविकल्पे ‘मृडमृदगुणधकुषिण्णिशवद्वशः । १।२।७’ इति
कित्त्वम् । विलुभितप्लवं व्याकुलितगमनम् । ‘लुभो विमोहने । ३।३।५४’
इतीदै । विमोहनं व्याकुलीकरणम् । शब्दायमानं शब्दं कुर्वायम् । ‘शब्दवैर-

कलहात्रकप्पमेघेभ्यः करणे ।३।१।१७।' इति क्यद् । भयदं निशाचरम् ।
शब्दविशेषणं वा ॥ ५२ ॥

श्रुत्वा विस्फूर्जथुप्रख्यं निनादं परिदेविनी ।

मत्वा कष्टश्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत् ॥ ५३ ॥

श्रुत्वेत्यादि—विस्फूर्जथुप्रख्यं वज्रनिर्घोषतुल्यम् । ‘टुओस्फूर्जौं वज्र-
निर्घोषैः’ । ‘ट्रितोऽथुच् ।३।३।८९।’ निनादं शब्दम् । ‘नौ गदनदपठम्बनः
।३।३।६४।’ इति विकल्पनात् पक्षे व्य् । श्रुत्वा मैथिली कष्टश्रितं
कृच्छ्रासं रामम् । ‘द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्रापत्तैः ।२।१।२४।’
इति समाप्तःमत्वा बुद्ध्वा । कृच्छ्रप्राप्तेन रामेण मृतमिति परिदेविनी परिदेवन-
शीला शङ्कमाना । ‘संपृचानुरुधा—।३।२।१४२।’ इत्यादिना घिनुण् । सौमित्रिं
गन्तुमैजिहत् । ईहां कारितवती । ईर्ष्यन्तात् लुडि द्विर्वचनेऽचीति
स्थानिवद्वावादजादेद्वितीयत्थेति हिशब्दस्य द्विर्वचनम् । अभ्यासकार्यं च ॥५३॥

एष प्रावृषिजाऽभोदनादी आता विरौति ते ।

ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ॥ ५४ ॥

एष इत्यादि—एष ते आता रौति । ‘उतो वृद्धिर्लुकि हलिष ।३।८९।’
‘त्यैकारःप्रावृषिजातः प्रावृषिजः। सप्तस्यां जनर्देषः ।३।२।९।७।’ प्रावृट्शशत्कालदि-
त्यांजे ।३।३।१५।’ इति सप्तस्या अलुक् । स चाम्भोदश्चेति ‘विशेषणं विशेष्येण
कृत्वा ।३।१।५७।’ इतिं समाप्तः । तद्वद्वदतीति ‘कर्तर्युपमाने । ३।२।७।५।’
इति णिनिः । समात् सौमित्रे ज्ञातेयं ज्ञातिभावं तत्कर्म वा कुरु । ‘कपि-
त्यर्थेष्टु ।५।१।१२।७।’ तेन भयात्रायस्व राघवम् ॥ ५४ ॥

रामसंघुषितं नैतन्युगस्यैव विवर्जिषोः ।

रामस्वनितसङ्काशः स्वान, इत्यवदत् स ताम् ॥ ५५ ॥

रामेत्यादि—रामसंघुषितं रामशब्दितमेतत्र भवति । ‘घुषिरविशब्दार्थः।’
कृत्वा निष्ठायां ‘रुष्यमत्वरसङ्खघुषास्वनाम् ।७।२।२८।’ इति विकल्पनेऽ ।
स्मात् विवर्जिषोः छलयितुमिच्छोः । ‘वच्नु गतौ ।’ भौवादिकः । तस्या-
चेकार्थत्वात् । प्रलभ्नन इति चौरादिकस्याण्यन्तत्य वा प्रयोगः । येषामनित्याण्य-
त्यामस्तुरादय इति दर्शनं तेषां मतेनात्रापि सिद्ध्यति । एष स्वानो ध्वानः
पूर्वमहसोर्वा ।३।३।६।२।’ इति पक्षे व्य् । कीदृशः रामस्वनितसङ्काशः । राम-
शब्दसुखरीति । तां सीताय एवमवदन उक्तवान् । एव न्यश्चाण ॥ ५५ ॥

आप्यानस्कन्धकण्ठांसं रुषितं सहितुं रणे ।

प्रोर्णुवन्तं दिशो बाणैः काकुत्स्थं भीरुं कः क्षमः ॥ ५६ ॥

आप्येत्यादि—‘च्यैङ् वृद्धौ’ अस्मादाङ्गपूर्वात् संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः । ८।२।४३।^१ इति निष्ठातो नः । ‘ओप्यायी वृद्धौ’ इत्यस्य वा रूपम् । ‘ओदितश्च दा।२।४५।^२ इति निष्ठानत्वम् । पीभावस्तु आङ्गपूर्वस्यः त्वन्वृधसोरिति वचनात् । इह न भवति आप्यानस्कन्ध इति । आप्यानं स्थूलं स्कन्धकण्ठांसं यस्य काकुत्स्थस्य । बाहुशिखरमंसः । तस्य पश्चिमो भागः स्कन्धः । तं रुषितं कुद्धम् । रणसंग्रामे सहितुं हे भीरुं कातरे कः क्षमः शक्तः । अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । क्षमेः शक्तोत्यर्थत्वात् तदुपपदे ‘शक्तधृषज्ञागलाघटरभलभक्तमसहाहर्वस्त्यर्थेषु तु मुन् । ३।४।६।५।^३ इति तु मुन् । ‘तीषसहलुभरषरिषः । ७।२।४।८।^४ इति वेद । ककुत्स्थापत्यं काकुत्स्थः । ‘शिवादिभ्योऽण् । ४।१।१।१।२।^५ कस्मात्र क्षम इत्याहर्वप्रोर्णुवन्तं दिशो बाणैः । यतः सर्वाः दिशः बाणैः छादयन्तव् । ऊर्णेत्सः शतरितवङ् । क्षमत इति क्षमः । पचाद्यच् ॥ ५६ ॥

देहं विभ्रश्चुरस्वामौ मृगः प्राणैर्देविषन् ।

ज्याषुष्टकठिनाऽङ्गुष्ठं राममायान्मुर्षव्या ॥ ५७ ॥

देहमित्यादि—एष मृगो राममायात् आगतवान् । यातेर्लङ्घि रूपम् । किमत्तदेहं शरीरम् अब्राम्मौ अस्ते अप्राविव । विभ्रश्चुः भ्रष्टुमिच्छुः । भ्रस्जे: ‘सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रित्वयूर्णभरज्ञपिसनाम् । ७।२।४।९।^६ इत्यत्रेदभावपक्षे ‘स्कोः संयोगाद्योरन्ते च । ८।२।२।९।^७ इत्यनेन सलोपे षत्वकुत्वयोश्च रूपम् । प्राणैर्देविषनक्रीडितुमिच्छन् । ‘दिवः कर्मच । १।४।४।३।^८ इति चकारात् करणसंज्ञा । ‘सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रित्वयूर्णभरज्ञपिसनाम् । ७।२।४।९।^९ इतीटपक्षे रूपम् । ज्यया गुणैन घुष्टै निघृष्टै अत एव कठिनौ अङ्गुष्ठौ सव्यापसव्यकषणादस्य । घुषिरविशब्दाने । ७।२।२।३।^{१०} इति निष्ठायामनिट् । मुर्षव्या मर्तुमिच्छया । मृडः सानि ‘उदोष्टथपूर्वस्य । ७।१।१०२।^{११} इत्युत्तम् । ‘अ प्रत्ययात् । ३।३।१०२।^{१२} ॥ ५७ ॥

शत्रून् भीषयमाणं तं रामं विस्मापयेत् कः ।

मा स्म भैर्वीस्त्वयाऽद्यैव कृताऽर्थो द्रश्यते पतिः ॥ ५८ ॥

शत्रूनित्यादि—तं रामं शत्रून् भीषयमाणं भीतान् कुर्वाणम् । ‘भियो हेतुभये शुक् । ७।३।४।०।^{१३} भीस्योहेतुभये । १।३।६।८।^{१४} इति तङ् । विस्मापयेत् कः क्षुभितचित्तं कुर्यात् । नैवेत्यर्थः । ‘नित्यं स्पृयते: । ६।१।५।७।^{१५} इति णावात्वम् । ‘अर्तिहीक्लीरीक्लूयीद्विमाय्यातां पुङ्गौ । ३।३।६।^{१६} इति पुक् । निमन्त्रणे

नियोगे वा लिङ् । पूर्ववदात्मनेपदम् । तस्मान्मा स्म भैषीः मा भूर्भीताऽस्मोत्तरे
लङ् च । ३।३।१७६।' इति चकारात् लुङ् । सिञ्चि वृद्धिः । त्वया अद्यैव
कृतार्थः पूर्णमनोरथः परिद्रष्ट्यते । दृशेः कर्मणि लङ् ॥ ५८ ॥

यायास्त्वमिति कामो मे गन्तुमुत्सहसे न च, ।

इच्छुः कामयितुं त्वं मामित्यसौ जगदे तथा ॥ ५९ ॥

याया इत्यादि—तदन्वेषणाय यायास्त्वमिति कामोऽभिलाषः । ‘कामप्रवे-
दनेऽक्षिचित्वति । ३।३।१५३।’ इत्यक्षिचित्युपपदे लिङ् । न च गन्तुमुत्सहसे ।
‘शक्वृष्टज्ञागलाघटरभलभक्तमसाहार्हस्त्यर्थेषु तुमुन् । ३।४।६५।’ इति तुमुन् ।
तस्मान्नूनं मां कामयितुमिच्छुः एषणशीलः ‘समानकर्तृकेषु तुमुन् । ३।३।१५८।’
‘विन्दुरिच्छुः । ३।२।१६१।’ इति निपातनात्साधुः । इत्येवमसौ लक्षणो जगदे
गिदित्सत्या सीतया ॥ ५९ ॥

मृषोद्यं प्रवदन्तीं तां सत्यवद्यो रघूत्तमः ।

निरगात् शत्रुहस्तं त्वं यास्यसीति शपन्वशी ॥ ६० ॥

मृषोद्यमित्यादि—मां कामयितुमिच्छारित्येतन्मृषोद्यम् मृषावादम् ।
‘राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्य कृष्टपच्याव्यथ्याः । ३।१।१४।’ इत्यनेन भावे
क्यप् । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । प्रवदन्तीं तां सीताम् । रघूत्तमो लक्षणः
शपन् शत्रुहस्तं त्वं यास्यसीति शापं प्रयच्छन् भौवादिकोऽत्र शपिन् दैवादि-
कः । निरगात् निर्गतः । तस्माद्गुटजादित्यर्थात् । कथं मृषोद्यमित्याह—वशी
बशनं वशः इन्द्रियसंयमनम् । ‘वशिरण्योरुपसंख्यानम्’ इत्यपू । स यस्य
स वशी जितेन्द्रियः । अत एव सत्यवद्यः । अवितथवादी । शत्रुहस्तं यास्यसीति
सत्यं वदतीति ‘कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।१३।’ इति कर्त्तरि यत् । ‘वदः
सुपि क्यप् च । ३।१।१०६।’ इति चकाराद्यत् । भावे वा यतं विधायाच्
अर्शवादित्वात् ॥ ६० ॥

अथ, चतुर्भिः कलापकम् ।

गते तस्मिन्जलशुचिः शुद्धदन् रावणः शिखी ।

जञ्जपूकोऽक्षमालावान् धारयो मृदलाबुनः ॥ ६१ ॥

गत इत्यादि—तस्मिन् लक्षणे गते सति रावणः सीतामूच इति वक्ष्यमाणेन
संख्यः कीदृशः जलशुचिः स्नात इत्यर्थः । शुद्धदन् निर्मलदशनः शुद्धा दन्ता
यस्य ‘अग्रान्तमुद्धुम्बृष्टवराहेभ्यश्च । ५।४।१४५।’ इत्यनेन दन्तस्य

ददादेशः । शिखा अस्यास्तीति शिखी परिब्राजकः । बाह्मादित्वादिनिः । जञ्जपूकः पापाशयत्वात् गर्हितं जपतीति । 'लुपसदचरजपजभदहृशगृभ्यो भावगर्हायाम् । ३।१।२४ ।' इति यङ् । 'जपजभ-॥४॥८६॥' इत्यम्यासस्य तुक् । 'यज-जपदशां यङः । ३ । २ । १६६ ।' इत्यूकः । अक्षमालावान् अक्षमूत्रयुक्तः । संसर्गे मतुप् । धारयतीति धारयः । 'अनुपसर्गालिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजि-चैतीतिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ ।' इति शः । कस्य मृदलाबुनः । 'नवि लम्बेर्नलोपश्च' इत्यौणादिक ऊकारे प्रत्यये अलाबूः । तस्य विकारः फलमिति 'ओरव् । ४ । ३ । १३९ ।' तस्य फले लङ्, नपुंसकहस्तत्वम् । मृत्पूर्ण-मलाबु इति मध्यमपदलोपी समाप्तः । कृत्रयोगे कर्मणि षष्ठी । 'इकोऽचि-विमक्तौ । ७ । १ । ७३ ।' इति तुम् ॥ ६१ ॥

कमण्डलुकपालेन शिरसा च मृजावता ।

संवरुय लाक्षिके वस्त्रे मात्राः सम्भाण्डय दण्डवान् ॥ ६२ ॥

कमेत्यादि—कमण्डलुना कपालेन च 'जातिरपाणिनाम् । २ । ४ ६ ।'

इति द्वन्द्वैकवद्वावः । मृजावता निर्मलेन शिरसा च उपलक्षित इत्थम्भूते तृतीया संवरुय परिवाय । 'वस्त्रात्समाच्छादने' इति 'मुण्डमिश्रश्लक्षणलवणब्रत-वस्त्रहल्कलकृततूस्तेभ्यो णिच् । ३ । १ । २१ ।' इति णिच् । लाक्षिके वस्त्रे । लाक्षया रक्ते । 'लाक्षा रोचनात्-॥४॥२१॥' इति ठङ् । मात्राः कमण्डलवादि-कं सम्भाण्डय समाचित्य राशीकृत्येत्यर्थः । 'भाण्डात् समाचयने' इति 'पुच्छभाण्डच्चीवराणिङ् । ३।१।२०।' इति णिङ् । दण्डवान् गृहीतदण्डः । संसर्गे मतुप् ॥ ६२ ॥

अधीयनात्मविद् विद्यां धारयन् मस्कारिव्रतम् ।

वदन् बहुङुलिस्फोटं ध्रूक्षेपं च विलोकयन् ॥ ६३ ॥

अधीत्यादि—मा कुरुत कर्मणि शान्तिर्बः श्रेयसीत्येवं घोषयन्ति ये ते मस्कारिणः परिब्राजकाः । तेषां ब्रतमकृच्छ्रमसौ धारयन् । 'मस्करमस्कारि-णौ—१।६।१५४।' इत्यादिना परिब्राजके सुद् । आत्मविदां योगिनाम् । विद्या-सुपनिषद्गवीयन् जपम् 'इङ् धांयोः शत्रकृच्छ्रिणि । ३।२।१३०।' इतीडो धारेश्च अकृच्छ्रवति कर्तारि शत्रप्रत्ययः । अन्तरा बहु प्रभूतं वदन् । अंगुलि-स्फोटं पुनः पुनः स्फोटिकान्दत्वा ध्रूक्षेपं च विलोकयन् ध्रुवावृत्क्षप्योत्क्ष-प्य विलोकयन् । उभयत्रापि 'स्वाङ्गेऽध्रुवे । ३।४।५४।' इति णमुङ् ॥ ६३ ॥

संदिदर्शयिषुः साम निजुहूषुः क्षपाटताम् ।

चङ्कमावान् समागत्य सीतामूर्चे 'सुखाभव' ॥ ६४ ॥

संदीत्यादि—इहा भयं मा भूदिति साम सान्त्वं संदिदर्शयिषुः संदर्शयितुमिच्छुः । वदन बहूण्गुलिखोटमिति योज्यम् । हशेर्णन्तसअन्तत्वे रूपम् । क्षपाटतां राक्षसत्वं निजुहूषुर्नेहोतुमिच्छुः । धारयन्मस्करित्रतमिति योज्यम् । होतेः ‘अज्जनगर्मा सनि ।३।४।१६।’ इति दर्थिः । कुटिलं क्रमणं चक्षुकमा । क्रमे: ‘नित्यं कौटिल्ये गतौ ।३।१।२३।’ इति यद् । ‘नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ।७।४।८५।’ इत्यभ्यासस्य तुकृ । ‘अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२।’ इत्यकारः । ‘अतो लोपः ।६।४।४।८।’ । ‘यस्य हलः ।६।४।४।९।’ टापू । सा वसास्ति स चक्षुकमावान् । कुटिलागतिमौनित्यर्थः । समागत्य ढौकित्वा । सीतामूर्चे । किमित्याह—सुखाभवोति अनुकूला भवेत्यर्थः । यदहं प्रार्थये तत्र ग्रतिकूला न भवेति भावः । ‘सुखप्रियादानुलोम्ये ।५।४।६।३।’ इति कृभवस्तियोगे डाच् ॥ ६४ ॥

अथ द्वाभ्यां युगमम्—

सायन्तर्नां तिथिप्रणयः पङ्कजानां दिवातनीम् ।

कार्णित कान्त्या सदातन्या हेपयन्ती शुचिस्मिता ॥ ६५ ॥

सायमित्यादि—का त्वमिति वश्यमाणेन सम्बन्धः । सायं दिनावसानं तत्र भवां कान्तिम् । यदा षोऽन्तकर्मणीत्येतसात् वशप्रत्ययान्तः तदा ‘सायं-चिरंशाहेप्रगेऽव्ययेभ्यष्टुष्टुयुलौ तु च ।४।३।२३।’ इति मकारान्तत्वं च निपात्यते । यदा सायंशब्दो मकारान्तः तदाप्यव्ययत्वादेव प्रत्ययागमौ सावाम् । कस्येत्यपेक्षायां तिथिप्रणयः चन्द्रमसः पञ्चदश कलाः तासां वृद्धिहासाभ्यां पञ्चदश तिथीः प्रणयति प्रवर्तयति । ‘सत्सूद्धिष्ठुह-दुहयुजविद्यभिदिन्दिन्दिनीराजामुपसगेऽपि किपू ।३।३।६।१।’ इति किपू । ‘उपसर्गादिसमासेऽपि णोपदेशस्य ।८।४।१४।’ इति णत्वम् । ‘एरनेकाचः-६।४।८।२।’ इत्यादिना यणादेशः पङ्कजानां च कार्णित कीदृशीं दिवातनीं दिवाभवाम् । कान्त्या त्वदीयया सदातन्या सदाभवया हेपयन्ती लज्जयन्ती । दिवातन्याः सायन्तन्याश्च सदाभवत्वात् । जिहेते: ‘अर्तेहीब्लीरीकन्त्यी त्याग्यातां पुड्णौ—।७।३।३।५।’ इति णौ पुकृ । शुचिस्मिता शुभ्रहासा ॥ ६५ ॥

का त्वमेकाकिनी भीरु ! निरन्वयजने वने ।

शुद्धयन्तोऽप्यवसन् व्यालास्त्वामपालं कर्यं न वा ॥ ६६ ॥

कात्वमित्यादि—का त्वं देवी मानुषी राक्षसी वेति । एकाकिनी अस-
ह्याया । ‘एकादाकिनिच्चासहाये ।५।३।५२।’ इति आकिनिच् । भीरु
इत्यामन्त्रणं भयप्रकृतिवात् खीणाम् । निरन्वया निरनुगमा जना यस्मि-
न्वने यत्र न कथंचिन्मनुज्याणां सम्भवः । शुद्धन्तोऽपि बुझक्षमाणा अपि ।
दिवादित्वात् श्यन् । व्याला हिंसा व्याग्रादयः कथं वा त्वां नाघसन् न
भक्षितवन्तः । अदेः ‘लुड्सनोर्धस्त्व ।२।४।३७।’ लदित्वात् च्छेरड् ।
शुद्धन्तो नाघसन्निति पाठान्तरम् । तत्र कथं न वा अपरिचितानेवाघसन्
इति थोज्यम् । अपालां सर्तीं अविद्यमानः पालो यस्या इति । ‘पाल रक्षणे’
इति चौरादिकः । पालयतीर्ति पालः । पचाद्यच् । यदा प्रयोजकविवक्ष्य
तदा ‘पातेणौ लुग् वक्तव्यः’ इति लुक् । ततः पचाद्यच् ॥ ६६ ॥

हृदयंगममूर्तिस्त्वं सुभगम्भावुकं वनम् ।

कुर्वाणा भीममप्येतद् वदाऽभ्यैः केन हेतुना ॥ ६७ ॥

हृदयमित्यादि—केन हेतुना इदं वनमभ्यैः अभिगतासि वद् कथय ।
अभिपूर्वादिणो लङ् । मध्यमपुरुषैकवचनम् । ‘आडजादीनाम् ।६।४।७२।’
आटश्च ।६।१।९०।’ इति वृद्धिः । हृदयं गच्छति या मूर्तिः शरीरमत्यन्तसौ-
न्दर्यात् । ‘गमश्च ।३।२।४७।’ इति खच् । सा एवंविधा मूर्तिर्यस्याः सा त्वं
भीममप्येतद्वनं सुभगम्भावुकं सर्वस्यैवाप्रियं प्रियं कुर्वाणा । असुभगं भूत्वा
सुभगं भवतीति ‘कर्तारि सुवः सिष्णुच्छुक्ष्मौ ।३।२।५७।’ इति खुक्ष्म ॥ ६७॥

सुकृतं प्रियकारी त्वं कं रहस्युपतिष्ठसे ।

पुण्यकृच्छाटुकारस्ते किङ्करः सुरतेषु कः ॥ ६८ ॥

सुकृतमित्यादि—सुकृतं पुण्यकारिणं शोभनं कृतवानिति ‘सुकर्मपापमन्त्रपु-
ण्येषु कृबः ।३।१।८८।’ इति किंप् । कं रहसि विजने त्वमुपतिष्ठसे उपश्लिष्यसि ।
संगतकरणे तङ् । प्रियकारी अनुकूलवर्तीनी सती । प्रियमनुकूलं करोतीति
‘क्षेमप्रियमद्रेष्ट् च ।३।२।४४।’ इति अण् । ‘टिङ्डाणन्दृद्यसज्जद्व्रव्यमात्रचूतयपू-
ठकृठच्छक्षकरपः ।४।१।५।’ इति डीप् । पुण्यकृत् कृतपुण्यः । तस्य पूर्ववत्
किंप् । चाटुकारः प्रियवाक्यकरः । ‘न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटु-
सूत्रमन्त्रपदेषु ।३।२।२३।’ इति टे प्रतिषिद्धेणेव भवति । इदंशस्ते किङ्करः
दासः । ‘दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिविलिभ-
किकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घावाहृर्यत्तद्वनुरुरुषु ।३।२।२।’ इति टः । ‘किंय-
चद्वहुषु कृबोऽज्ञिधानम्’ इति तत्त्वाविषये द्रष्टव्यम् । सुरतेषु शोभनरतेषु ।

‘नपुसंके भावे क्तः ।३।३।१४।’ । ‘अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुना-
सिकलोपो ज्ञालि छिकति ।६।४।३।’ इत्यनुनासिकलोपेः । अनेनोभयरुचि-
राल्याता ॥ ६८ ॥

परिपर्युदधे रूपमाद्युलोकाच्च दुर्लभम् ।

भावत्कं दृष्टव्येतदस्मास्वधि सुजीवितम् ॥ ६९ ॥

परोत्यादि—एतद्वूर्णं भावत्कं भवत्या इदमिति ‘भवतष्ठक्षल्लसौ । ४।२।
१।१४।’ इति ठक्षल्लसौ । ‘ठक्षल्लसोऽचोपसंख्यानम्’ इति पुंवद्वावः । ‘इसुसुक्ता-
न्तात्कः ।७।३।५।१।’ दुर्लभं परिपर्युदधे: ‘अपपरी वर्जने ।१।४।८।’ इति
कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीयायां प्राप्तायां ‘पञ्चम्यपाङ्गपरिमिः ।२।२।१०।’
इति पञ्चमी । ‘अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ।२।१।१२।’ इति विभाषास-
मासश्च । असमासपक्षे ‘पेरवर्जने ।८।१।५।’ इति द्विर्वचनम् । उद्धिं वर्ज-
यित्वा चतुरुदधिमेखलायां भुवि दुर्लभमाद्युलोकाच्च स्वर्गलोकान्तं च यावत्
दुर्लभमत्रापि पूर्ववत्पञ्चमी । ताहशं दृष्टव्येतदस्मासु अधिसुजीवितमस्म-
द्विषये आधिक्येन सुजीवितम् । अहो वा सुजीवितमिति अहोशब्दार्थे
अविशब्दो वर्तते ॥ ६९ ॥

आपीतमधुका भृङ्गैः सुदिवेवाऽरविन्दिनी ।

सत्परिमललक्ष्मीका नाऽपुरुस्काऽसीति मे मतिः ॥ ७० ॥

आपीतेत्यादि—परि सर्वतो मार्जनमिति परिमलः । कलत्रपश्चेत्यधिकृत्य
‘भृजेष्ठिलोपश्च’ इति कलप्रत्यय औणादिकः। इह सुरतोपभोगविमर्दः परिमलोऽ-
भिषेतः । तस्य लक्ष्मीः । तत्कृतत्वात् । सती विद्यमाना परिमलशोभा यस्याः
‘उरःप्रसूतिभ्यः कप् ।५।४।१५।१।’ सा त्वमपुंस्का अविद्यमानभर्तुका ना-
सीति मे मतिः । पूर्ववत्कप् । किमिव सुदिवेवारविन्दिनी पद्मिनी । शोभनं
दिवा नीहाराद्यावाद्वाद्विवा दिवसं यस्याः । ‘सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुञ्चचतुर-
शैणीपदाजपदप्रोष्पदाः ।५।४।१२।०।’ इत्यत्र । आपीतमधुका भृङ्गैः आपीतं
मधु यस्याः । ‘शेषाद्विभाषा ।५।४।१५।४।’ इति कप् । यथेयं सत्परिमल-
लक्ष्मीका तथा त्वमपीति ॥७०॥

मिथ्यैव श्रीः श्रियम्मन्यो श्रीमन्मन्यो मृषा हरिः ।

साक्षात्कृत्याऽभिमन्येऽहं त्वां हरन्तीं श्रियं श्रियः ॥ ७१ ॥

मिथ्यैवेत्यादि—श्रियः श्रियं रूपसम्पदं हरन्तीमिभवन्तीं त्वां साक्षा-
कृत्य प्रत्यक्षीकृत्य । विभाषा कूजीत्यनुवर्तमाने ‘साक्षात्प्रभृतीनि च ।१।

४।७४।' इति गतिमासः । गतिसमासे ल्यवादेशः । अहमभिमन्ये किं मिथ्या श्रीः श्रियंमन्या अहमेव श्रीर्नान्येति मन्यमाना श्रीमिथ्या नैव श्रीः किन्तु त्वमेवेति । 'आत्ममाने सज्ज । ३।२।८३।' 'दिवादिभ्यः श्यन् । ३।१।६९।' 'इच एकाचोऽप्त्ययवच्च । ६।३।६८।' इत्यम्भावः । तस्यामः प्रत्ययत्वान्मलोपाभावः । 'न विभक्तौ तु स्माः । १।३।४।' इति वचनान् । अचीतीयडादेशः । किवन्ता धातुत्वं न जहतीति किवचीत्यादिना श्रयतेरौणादिकः किम् । हरिश्चात्मानं श्रीमन्तं मन्यमानो मृषा न श्रीमानित्यहमभिमन्ये ॥७१॥

नोदकण्ठिष्यताऽत्यर्थं त्वामैक्षिष्यत चेत् स्मरः ।

खेलायन्ननिशं नापि सज्जःकृत्य रर्ति वसेत् ॥ ७२ ॥

नोदेत्यादि—स्मरभार्या रतिः सापि रूपेण निकृष्टेति दर्शयति । चेत् यदि स्मरः त्वामैक्षिष्यत दृष्टवानभिष्यत् तदा अत्यर्थं नोदकण्ठिष्यत रर्ति श्रति भृशमुक्तितो नाभिष्यत् । 'ईक्ष दर्शने' इति, 'कठि शोके' इति भौवादिकात् क्रियातिपत्तौ लङ् । नापि रर्ति स्वभार्या सज्जःकृत्य सहायीकृत्य वसेत्, अपि तु परित्यजेत् । अत्र क्रियातिपत्तिर्न विवक्षिता किन्तु हेतुहेतु-मझावः । नापि रर्ति सज्जःकृत्य वसेत् यदि त्वामीक्षेतेति हेतुपदमभ्युद्धा हेतुमझावदर्शनात् । ऊर्ध्वादिषु 'सज्जः सहार्थः' इति वचनात् गतिसंज्ञा । खेलायन् अनिशं क्रीडन् सर्वदा । खेलाशब्दात् कण्डादित्वात् यक्ष ॥७२॥

वल्गूयन्तीं विलोक्य त्वां स्त्री न मन्तूयतीह का ।

कान्ति नाऽभिमनायेत को वा स्थाणुसमोऽपि ते ॥ ७३ ॥

वल्वित्यादि—त्वां वल्गूयन्तीं शोभमानां विलोक्य न मन्तूयति स्त्रीह का । इह जगति का स्त्री न मन्तूयेत् कुप्येत् । सर्वदा कुप्यत्येव ईर्यायु-क्तत्वात् स्त्रीणाम् । असम्भावने लिङ् । वल्गुमन्तुशब्दाभ्यां कण्डदित्वायक्ष । को वा को नाम स्थाणुसमोऽपि काष्ठतुल्योऽपि मुण्दोषानभिज्ञत्वा-त्ते तव कान्ति विलोक्य नाभिमनायेत् पूर्वमद्वृत्वादनभिमनाः सन् अभिमनाः सचेता न भवेत् । पूर्ववालिङ् । अभिमनसो भृशादित्वात्क्यङ् सलो-पश्च । महादेवतुल्यो वा आस्तामन्यः सोऽपि तावदभिमनायेत ॥ ७३ ॥

दुःखायते जनः सर्वः स एवैकः सुखायते ।

यस्योत्सुकायमाना त्वं न प्रतीपायसेऽन्तिके ॥ ७४ ॥

दुःखेत्यादि—स एवैको जनः सुखायते सुखं वेदयते । यस्यान्तिके समीपे न त्वं प्रतीपायसे न प्रतिकूलवर्तिनी भवसि । उत्सुकायमाना सती । यस्य

पुनरन्ति के उत्सुकाय माना प्रतीपाय से स सर्वों जनः दुःखायते दुःखं वेद-
यते । सुखदुःखशब्दाभ्यां ‘सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् ।३।१।१८।’ इति
क्यद्दृ उत्सुकप्रतीपशब्दाभ्यां भृशादित्वात् ॥ ७४ ॥

कः पण्डितायमानस्त्वामादायाऽमिषसन्निभाम् ।

त्रस्यन् वैरायमाणेभ्यः शून्यमन्ववसद्वन्म् ॥ ७५ ॥

क इत्यादि—पण्डितायमानः अपण्डितः कथमपि पण्डितो भवन् । मृशा-
दित्वात् क्यद्दृ । त्वामामिषसन्निभां सर्वजनप्रार्थनीयत्वात् । आदाय गृहीत्वा
कः शून्यं बनमन्ववसत् । शून्ये वने अवसादित्यर्थः । ‘उपानवध्याङ्गवसः
।१।४।४।८।’ इति कर्मसंज्ञा । कीदृशः । त्रस्यन् विभ्यत् । वैरायमाणेभ्यः
वैरं कुर्वणेभ्यः । ‘शब्दवैरकलहात्रकष्ठमेवेभ्यः करणे ।३।१।१७।’ इति
क्यद्दृ । ‘भीत्रार्थनां भयहेतुः ।१।४।२५।’ इत्यपादानसंज्ञा ॥ ७५ ॥

ओजायमाना तस्याऽर्घ्यं प्रणीय जनकाऽत्मजा ।

उवाच दशमूर्धानिं साऽदरा गद्ददं वचः ॥ ७६ ॥

ओजेत्यादि—एतमुक्तवति रावणे जनकसुता दशमूर्धानमुवाच । दश
मूर्धानिः शिरांसि यस्य तस्यार्घ्यं प्रणीय दत्त्वा अतिथिरयमिति । सम्प्रदानस्य
शेषत्वेन विवक्षितत्वात् षष्ठी । ‘ओजायमाना ओज इवाचरन्ती ‘कर्तुः
क्यद्दृ सलोपश्च । ३।१।१।१।’ ‘ओजसोऽप्सरसो नियम्’ इति वचनात् । मां
माभिभूदित्यतिवेजस्त्वनी भवन्तीत्यर्थः । किमुवाच वचो वक्ष्यमाणम् ।
सादरा सतो । परित्राजक इति । गद्ददमनभिव्यक्तमसंस्कृतत्वात् ॥ ७६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

महाकुलीन ऐक्षवाके वंशे दाशरथिर्मम ।

पितुः प्रियंकरो भर्ता क्षेमकारस्तपस्विनाम् ॥ ७७ ॥

महेत्यादि—यदुकं तेन कं रहस्यपतिष्ठास इति । अस्य प्रतिवचनं मम भर्ता
महाकुलीनः महाकुलस्यापत्यमिति । ‘महाकुलादवृत्खवौ ।४।१।१४।१।’
इति स्वत् । किमादित्यवंशसंभवः । किं सोमवंशसंभवो वा महाकुलस्यापत्य-
मित्याह । ऐक्षवाके वंशे इक्ष्वाकूणामयमैक्षवाकः । ‘दाण्डिनायनहारितनाय-
नाथर्वणिकजैहाशिनेयवाशिनायनिश्रौणहृत्यधैवत्यसारवैक्षवाकमैत्रेयहिरण्मया-
नि ।६।४।१७।४।’ इति टिलोपनिपातनम् । अन्ये तत्र सन्तीत्याह दाशरथिः
दशरथस्यापत्यं यः स मम भर्ता । महाकुलीनः । कीदृशः । पितुः प्रियंकरः
अनुकूलकारी । तपस्विनां च क्षेमकारः । ‘क्षेमप्रियमद्रेष्ण च ।३।२।४।४।’ इति
चक्ररात् स्वत् ॥ ७७ ॥

निहन्ता वैरकाराणां सतां बहुकरः सदा ।

परश्वविकरामस्य शक्तेरन्तकरो रणे ॥ ७८ ॥

निहन्तेत्यादि—वैरकाराणां शत्रूणाम् । वैरपूर्वात् कृबः ‘न शब्दश्लोके—१३।२।२३’ इत्यादिना टे प्रतिपिष्ठे अणेव भवति। निहन्तेति त्रजन्तस्य प्रयोगः। तत्र कर्मणि षष्ठी । सतां धर्मे स्थितानां बहुकरः बहुकार्यं करोतीति । ‘द्विवा-विभा—१३।२।२१’ इत्यादिना टः । श्रीविवक्षायां तु ‘किंयच्छद्गुषु’ इत्यादिनां करोतेरच् । आङ्गपरयोः ‘खनिशृङ्ख्यां डिच्च’ इत्यौणादिकः कुः । परशुशब्दः । तत्पर्यार्थं एवाव्युत्पन्नः परश्वधशब्दः । स प्रहरणं यस्य ‘परश्वधातुच्च । ४।४।५।८’ तस्य परशुरामस्य सम्बन्धिन्याः शक्तेः सामर्थ्यस्यान्तकरो विनाश-यिता अन्तं करोतीति पूर्ववटः । रणे संग्रामे ॥ ७८ ॥

अध्वरेष्विष्टिनां पाता पूर्तीं कर्मसु सर्वदा ।

पितुर्नियोगाद्वाजत्वं हित्वा योऽभ्यागमद्वन्म् ॥ ७९ ॥

अध्वरेष्विष्टियादि—इष्टमेभिरिति इष्टिनो यज्वानः । ‘इष्टादिभ्यश्च । ५।२।८।१’ इतीनिः । किमिष्टवताम्—अध्वरान् कर्मणि तत्र ‘क्षत्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्’ इति कर्मणि सप्तमी । अध्वरेष्विष्टिनामिति कर्मणि षष्ठी कृद्योगे । पाता रक्षिता । पूर्तीं कर्मसु सर्वदा । पृष्ठोर्तेनप्तार्या ‘उदोष्टयपूर्वस्य । ४।१।१०।२’ इत्युत्त्वम् । ‘न ध्याख्यापूर्मूर्च्छमदाम् । ८।२।५।७’ इति निष्ठा-नत्वप्रतिषेधः । पूर्तमनेनेति पूर्ववदिनिः । किं पूर्तमिति सर्वदा श्राद्धादिकर्मणि । पूर्ववत्सप्तमी । स राजत्वं राज्यम् । हित्वा तत्कत्वा । वनमभ्यागमन् । आभि-सुख्येन आगतवान् । लुड् । च्लेरङ्गि रूपम् । पितुर्नियोगात् । नायोग्यत्वात् । स मे भर्तेति योज्यम् ॥ ७९ ॥

पतञ्जिक्रोष्टुजुष्टानि रक्षांसि भयदे वने ।

यस्य बाणनिकृत्तानि॑ श्रेणीभूतानि॒ शेरते ॥ ८० ॥

पतञ्जीत्यादि—यस्य बाणनिकृत्तानि छिक्षानि॑ रक्षांसि॒ भयदे॑ भयवर्धके॑ चने॑ दीर्घनिद्रया॑ शेरते॑ स्वपन्ति॑ स मम॑ भर्तेति॑ योज्यम् । शेरत॑ इति॑ ‘शीङ्गे॑ रुद् । ७।१।६।१’ । कीदृशानि॑ । अश्रेणयः॑ श्रेणयो॑ भूतानि॑ । ‘ऊर्धादि-च्चिवडाचश्च । १।४।६।१’ इति॑ च्चयन्तानां॑ ‘कुगातिप्रादयः । २।२।१।८’ इति॑ समाप्तः । ‘च्छ्रौ॑ च । ७।४।२६।१’ इति॑ दीर्घः । च्चयर्थानां॑ तु॑ ‘श्रेण्या-

^१ शेरते दीर्घनिद्रालीढाभवन्तीत्यर्थः । त्रियन्ते, न पुनरवशिष्यन्त इत्यभिग्रायः ।

दयः कृतादिभिः । २ । १ । ५९ ।' इत्ययं विषयः । पतित्रिभिः क्रोष्टुभिश्च
जुष्टानि परिवृतानि ॥ ८० ॥

दीव्यमानं शितान् बाणानस्यमानं महागदाः ।

निन्नानं शात्रवान् रामं कथं त्वं नाऽवगच्छसि ॥ ८१ ॥

दीन्येत्यादि—शितांस्तीक्ष्णान् बाणान् । दीव्यमानं क्षेप्तुं शक्तं तच्छीलं
वा । अनेकार्थत्वाद्ग्रातूनां दिवेः ‘ताञ्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । ३ ।
१ । २ । १२९।’ इति चानश् । ‘दिवादिभ्यः श्यन् । ३।१।६९।’ इति श्यन् । यद्वा
शत्रूणामिमे समूहास्तानिति भावः । ‘तस्येदम् । ५ । ३ । १२०।’ इत्यण् । महा-
गदाः अस्यमानं क्षेप्तुं शक्तं तच्छीलं वा । पूर्ववच्चानश् । शात्रवान् शत्रून् ।
‘प्रज्ञादिभ्यश्च । ५ । ४ । ३८।’ इत्यण् । निन्नानं हन्तुं शक्तं तच्छीलं वा ।
पूर्ववत् प्रत्ययः । हन्तेः ‘गमहन्— ६ । ४ । ९८।’ इत्यादिनोपधालोपः । ‘हो
हन्तोर्णिणेषु । ७ । ३ । ५४।’ इति कुत्वम् । एवंविधं रामं कथं नावगच्छसि ।
तेन कर्मणा सर्वलोकविदित्वादिति भावः ॥ ८१ ॥

आतरि न्यस्य यातो मां मृगाविन् मृगयामसौ ।

एषितुं प्रेषितो यातो मया तस्याऽनुजो वनम् ॥ ८२ ॥

भ्रातरीत्यादि—यद्येवं कासावित्याह । असौ रामो मां भ्रातरि न्यस्य अर्प-
यित्वा मृगयामाखेटकं यातः । मृगोः स्वार्थिको णिच् । अदन्तत्वाच्च गुणो
न स्वति । तदन्तात् ‘कृबः श च । ३ । ३ । १००।’ इत्यधिकृत्य ‘परि-
चर्यापरिसर्यामृगयाटाटथानामुपसंख्यानम्’ इति भावे शप्रत्ययः, यक्, अल्लो-
पाभावश्च । ततः परम् ‘अजाद्यतष्टाप् । ४ । १ । ४०।’ इति टाप् । मृगान्वि-
द्यरीति मृगावित् । ‘नहिवृतिवृष्टिव्यधिक्षिणिषु क्षौ । ९ । ३।१।११।’
इति दीर्घः । कासौ भ्रातेति चेदाह । तस्याऽनुजः कनिष्ठो मया प्रेषितः सन्
यातो वनम् । अनु पश्चाज्जायत इति । ‘अन्येभ्योऽपि हृश्यते । ३ । ३।१३०।’
इति जनेहः । अनौ कर्मण्युक्तमकर्मण्यपि भवति । किमर्थम्प्रेषितुम् । तमेव
ज्ञातुम् । ‘इष गतो’ इत्यस्य तुमुनि पर इदं रूपम् । ज्ञानार्थत्वात् । प्रेषित
इति तस्यैव रूपम् ॥ ८२ ॥

अथाऽयस्यन् कषायाऽक्षः स्यन्नस्वेदकणोल्बणः ।

संदाशैताऽन्तराऽकूतस्तामवादीहशाननः ॥ ८३ ॥

अथेत्यादि—अथैवमुक्ते जानक्या दशाननस्तामवादीत् उक्तवान् । आय-
स्यन् क्रोधाविष्टवान् शरीरं खेदयन् । ‘यसु प्रयते’ इति दैवादिकः पर-

१ मृगालैरित्यर्थः । ‘मृगालवज्ञककोषुफेलफेरवज्ञमुकाः’ इत्यमरः । २ भृगा-
वित्याधः । ३ सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थकताङ्गीकारात् ।

स्मैपदी । क्रोधादेव कषायाक्षैः । ‘बहुत्रिहौ सकृद्यक्षणोःस्वाङ्गात्पच् । ५ ॥
४ । ११३ ।’ इति पच् । स्यज्ञैः सृतैः स्वेदकण्ठैरुल्बणः उद्भृतः व्यासः
द्रुत्यर्थः । स्यन्देनिष्ठायां रूपम् । संदर्शितमान्तरमन्तर्गतमाकृतमभिप्रायो येन
स एवंविधः ॥ ८३ ॥

कृते कानिष्ठिनेयस्य ज्यैष्ठिनेयं विवासितम् ।

के नग्रमुषितप्रख्यं बहु मन्येत राघवम् ॥ ८४ ॥

कृत इत्यादि—कनिष्ठाया अपत्यं व्येष्टाया अपत्यमिति ‘स्त्रीभ्यो ढक् ॥
४ । १ । १२० ।’ कल्याण्यादीनामिड् । ४ । १ । १२६ ।’ तयोः कल्या-
ण्यादिषु पठितत्वात् । कनिष्ठासुतस्य भरतस्य कृते निमित्ते । ज्येष्ठायाः सुतः
निरूपयोगितया विवासितः विसर्जितः । विपूर्वस्य वसतेहेतुमण्ड्यन्तस्य
निष्ठायां रूपम् । तं नग्रमुषितप्रख्यं यथा कश्चिन्मुषितो नग्रो भवति वद्दृ
भूतम् । ‘पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन । २ । १ । ४९ ।’
इति समाप्तः । तयोः पूर्वापरकालत्वात् । ‘राजदन्तादिषु परम् । २ । २ । ३१ ।
इति परनिपातः । ईदर्शं राघवं को बहु मन्येत, श्वाघेत नैवंत्यर्थः ॥ ८४ ॥

राक्षसान् वदुयज्ञेषु पिण्डीशूरान् निरस्तवान् ।

यद्यसौ कूपमाण्डूकि ! तवैतावति कः स्मयः ॥ ८५ ॥

राक्षसानित्यादि—अध्वरेष्विष्ठिनामित्यस्योत्तरमाह । यद्यसौ राक्षसान्
पिण्डीशूरान् पिण्डयामेव शूरान् । भोजने एव शूरान् । ‘पात्रेसमितादयश्च ।’
२ । १ । ४८ ।’ इति समाप्तः । वदुयज्ञेषु कुञ्चाह्वाणयज्ञेषु । निरस्तवान् तिर-
स्कृतवान् । ‘निष्पूर्वादसुक्षेपणे क्वचतुः । हे कूपमाण्डूकि कूपे माण्डूकिव पूर्ववत्
‘पात्रेसमितादयश्च । २ । १ । ४ ।’ इत्यनेन समाप्तः । ‘ढक् च मण्डूकात् ।
४ । १ । ११९ ।’ इति चकारादप् । ‘तस्यापत्यम् । ४ । १ । ९२ ।’ इत्यपत्ये-
उर्थं वाऽप्त् । एतावति स्वल्पे वस्तुनि तव कः स्मयः विस्मयः ? अपि तु न
त्वया विस्मयः कर्तुं युक्त इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

मत्पराक्रमे तु त्वया स्मयः कर्तुं युक्तः । तत्रापि न मया युक्तम्

इति वक्तुमित्याह—

१ क्रोधे हि नेत्ररक्षिमा जायते तद्विशये पुनः कषायत्वम् । गाढो रक्षिम् कषाय
इति प्रोच्यते । ‘निर्यासेऽपि कषायः’ इत्यमरः । यद्वाऽत्र कषशब्दः शोणवाचक एव
‘कषायो रसमेवेऽपि निर्यासेऽपि विलेपने । अङ्गरागे च न स्त्री स्यात् सुरभौ लोहिते
विषु ।’ इति मेदिनी ।

मत्पराक्रमसंक्षेपराज्यभोगपरिच्छिदः ।

युक्तं नमैव किं वरुं दरिद्राति यथा हरिः ॥ ८६ ॥

मत्परेत्यादि—राज्यभोग एव परिच्छिदो हस्तयश्वादिरूपराजाहंसुपकरणम् स मत्पराक्रमेण सङ्खिप्तोऽपहृतो यस्य हरेरन्द्रस्य स यथा दरिद्राति निर्थको भवति तन्ममैव किं वरुं युक्तमात्मगुणवादस्य लज्जाकरत्वान् दरिद्रातेरादादिकत्वाच्छिपो लुक् ॥ ८६ ॥

निर्लङ्घो विमदः स्वामी धनानां हृतपृष्ठकः ।

संगच्छ पौंसि खेण मां युवानं तरुणी शुभे ! ॥

अव्यास्तेऽन्तार्गीर्यं यस्मात् कस्तन्नावैति कारणम् ॥ ८७ ॥

निर्लङ्घ इत्यादि—यस्मात्कारणात् धनानां स्वामी धनदः । अन्तार्गीरम् च्यास्ते अध्यासितवान् । गिरेः कैलासस्थान्तर्मध्ये । विभक्त्यर्थे ‘अव्ययं दिभिमिमोप—२ । १ । ६ । इत्यादिनाऽन्ययोभावः । ‘गिरश्च सेनकस्य । ४४। ११२।’ इति टच् । ‘अधि शीङ्कस्थाऽसां कर्म्मे । १ । ४ । ४६।’ इति कर्मसंज्ञा । तेन ‘तृतीयासप्तम्योवृहुलम् । २ । ४ । ८४।’ इत्यन्नभावो न भवति । ‘नाव्ययीभावादतोऽम् । २।४।८३।’ इत्यमेव भवति । चत्कारणं मम पराक्रमं मां वा को नावैति न जानाति । कोहशः । निर्ठङ्कः लङ्घुतो निष्कान्तः । ‘निराद्यः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या’ इति समाप्तः । ‘एकविमाकि चापूर्वानिपाते । १ । २ । ४४।’ इत्युपसर्जनसंज्ञायां हस्तत्वम् । हृतपृष्ठकः हृतम् आच्छिन्नं पुष्पकारुणं विमानं यस्य । अत एव विमदोऽपेतदर्पः । छङ्का पुष्पकं च धनदस्यासीत् तदाच्छित्त्वा अनेन गृहीतम् । अस्ति ॥ ८७ ॥

भिन्ननौकै इय ध्यायन् मत्तो विभ्यद् यमः स्वयम् ।

कृष्णमानं दधानेन मुखेनाऽस्ते निरुद्यतिः ॥ ८८ ॥

भिन्नेत्यादि—स्वयं साक्षात्मतो विभ्यत् त्रस्यन् यमो वैलक्षण्यात् मुखेन कृष्णमाने कृष्णवर्णत्वम् । ‘वण्हदादेभ्यश्च । ५। १। १२३।’ इति चकारादेमनिच्च । दधानेन धारयत । ‘इत्यम्भूतलभूणे । २। ३। २।’ इति तृतीया । निरुद्यतिः निरुद्यमः अस्ते । उत्पूर्वादमेः । त्रियां चित् । ३। ३। ९४।’ इति भाव किं अतु गसिकलोऽपः ।

१ निर्धनो भवति निर्धनवद्यकर्मचयो भवतीति वक्षब्यम् ।

कीदृशः। ध्यायन् चिन्तयन् । किं ममापतितं यदहमनेन हृतसर्वस्वः? इति । भिन्न-
नौक इव विपन्नोत्तरणीगीव । 'धरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४। ५।१' इति कप् ॥८८॥

एवं स्वपौरुषं प्रदद्यं स्वीकर्तुं माह—

समुद्रोपत्यका हैमी पर्वताऽधित्यका पुरी ।

रत्नपारायणं नाम्ना लङ्घेति मम मैथिलि ! ॥ ८९ ॥

समुद्रेत्यादि—हे मैथिलि लङ्घेति नाम्ना प्रसिद्धा मम पुरी । कीदृशी ।
समुद्र एवोपत्यका आसन्ना भूमिः यस्याः सा समुद्रोपत्यका समुद्रस्य
पर्वतोपत्यकात्वात् समुद्रोपत्यकेति समासे साधुत्वं न भवति । यतः
संज्ञाधिकारात् पर्वतस्यासन्ने अधिरुद्दे उपाधिभ्यां स्यकन्प्रत्ययान्तयोरुप-
त्यकाशब्दयोः साधुत्वमुक्तम् । 'प्रतिषेधे त्यक्न उपसंख्यानम्' इति 'प्र-
त्ययस्थान् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः । ३।३।४।४।' इतीकारो न भवति ।
हैमी हेमविकारा । 'प्राणिरजतादेभ्याऽच् । ४।३।१।५।४॥' पर्वताधित्यका ।
त्रिकूटपर्वतस्योपरि स्थिता । रत्नगारैर्यणं यत्र रत्नानां पारमवसानमयन्ते
बुद्ध्यन्ते तत्परीक्षकाः । सर्वरत्नस्थानमित्यर्थः ॥ ८९ ॥

दुर्गविश्वित्यानभिभवनीयतां रत्नोपचयात्समृद्धरां कथयन् प्रलोभयति—
आवासे सिक्कसंमृष्टे गन्धैरस्त्वं लिप्तवासिता ।

आर्पितोरुमुगन्धिक्षक् तस्यां वस मया सह ॥ ९० ॥

आवास इत्यादि—तस्यां पुर्याम् आवासे गृहे । आवसत्यस्मिन्निति अ-
धिकणे वन् । मया सह त्वं वस । श्राद्धनायां लोद् । सिक्कसंमृष्टे
पूर्वे सिक्के पश्चात्संमृष्टे । गन्धैर्लिप्तवासिता सतीं पूर्वे लिप्ता चन्दनादि-
भिर्गन्धैः पश्चाद्वासिता धूपिता । संमृष्टादिभिः पूर्वकालैकसर्वजरस्युरा-
णनवकेवलाः समानाधिकरणेन । २।१।४।५।' इति समाप्तः । आर्पिदा-
न्तस्ता उर्वीं महती सुगन्धिक्षक् सुराभिमाला यस्यां सा त्वम् ॥ ९० ॥

किमिति त्वया सह वसामीति चेदाह—

१ विषिग् हि प्रायो नावि वस्तुनि निधाय देशान्तरे विक्रेतुं प्रयाति, इति तस्य सर्व-
स्वभूताया नावो नावे यादृशी चिन्ता तादर्शीचिन्तामधिगच्छद्विवेत्युपमा । २ श्रीकृष्ण
कृटानि शिखराणि यस्येति त्रिकूटनाम्ना प्रसिद्धः । एतेनास्य दुर्गमत्वमायतत्वमुश्वत्वं च
स्वाध्यात्म । 'शृङ्गे सीराङ्गे कूटमधियाम्' हत्यमरः । इ रत्नानां पारायणं साकल्यमुख-
दिवस्थानभूमिवादेति भावः । रत्नानां पारायणमिति विग्रहः । 'साकल्यासङ्कृद्वच्छद्व-
पारायणपरायणे' हत्यमरः । यथाके व्यास्याने तु हीवत्वं दुःसम्भवम् ।

संगच्छ पौस्त्रि ! स्नैण मां युवानं तरुणी शुभे !

राघवः प्रोष्यपापीयान् जहीहि तम किञ्चनम् ॥ ९१ ॥

संगच्छेत्यादि—हे पौस्त्रि मुमांसमर्हति तद्विता वा । अर्हार्थं हितार्थं वा ‘छीयुंसाख्यां नव्स्नवी भवनात् । ५।१।८७।’ छीप्रत्यये ‘नव्स्नवी-कक्ल्युंसरणतलुनानामुपसंख्यानम्’ इति । मां युवानं तरुणं संगच्छ अङ्गीकुरु । गमे: प्रार्थनायां लोट । ‘इषुगमियमां छः । ७।३।७७।’ इति छत्रम् । ‘समो गम्यृच्छिभ्याम् । १।३।२१।’ इति तज्जन भवति सकर्मकत्वात् । विशेषतः स्नैणं खियै हितमर्हन्तं वा । पूर्ववत्प्रत्ययः । तरुणी युवती सती शुभे कल्याणि शोभत इति ‘इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । ३।१।१३५।’ इति इगुपधलक्षणः कः । ममापि तादशो भर्तास्तीति चेऽद्याह राघवः प्रोष्यपापीयानिति । पापशब्दात् ‘विन्मतोरुक् । ५।३।६।५।’ इति ईयसुन् लुक्च मतुपः । प्रोष्यपापीयानिति ‘भयूरव्यंसकाद्यश्च । २।१।७२।’ इति समाप्तः । देशान्तरं यात्वा पापवत्तरः । स्वदेशत्यागदिना दुष्कृतपरिपाकभोक्तृत्वमिति यथोक्तम् । अत एव तमकिञ्चनं दरिद्रम् । न विद्यते किंचन यस्येति । ‘सर्वनामाव्ययसंज्ञाया उपसर्जनप्रतिषेधः’ इति वचनान्नाव्ययसंज्ञा । तेन न विभक्तिलोपः । जहीहि त्यज । इत्व-स्य जहातेत्र । ६।४।१।६।’ इति वा वचनाद्विकल्पः ॥ ९१ ॥

अश्रीतपिबतीयन्ती प्रसिता स्मरकर्मणि ।,

वशेकृत्य दृश्याविं मोदस्व वरमन्दिरे ॥ ९२ ॥

अश्रीतेत्यादि—अश्रीतपिबतेति ‘भयूरव्यंसकाद्यश्च । २।१।७२।’ इति व्यंसकादित्वात् समाप्तः । तत्र हि ‘आस्यातामास्यातेन क्रियासातत्ये’ इति पठथेते । स्वतरमनीत यिवतेतेवं भूत्यजनानादेष्टुमिच्छतीति ‘सुप आत्मनः क्यच् । ३।१।८।’ अश्रीतपिबतीयन्ती । प्रसिता स्मरकर्मणि सुरतव्यापरे आ-मिक्येन ग्रवृत्ता च । मव्यापारेऽनुरतेत्यर्थः ‘प्रसितोत्सुकाख्यां तृतीया च । २।३।४।४।’ इति चकारात् सप्तमी । वशेकृत्यानुवर्तिनं दशामीवं कृत्वा । ६। ‘साक्षात् प्रभृतीनि च । १।४।७।४।’ इति गतिसंज्ञा । मोदस्व हर्षं जनर्थं वरमन्दिरे श्रेष्ठगृहे सुरतोचितसर्वोपकरणसम्पन्ने इत्यर्थः । स्थितां ॥ ९२ ॥

१ एतेन गुरुपसम्बन्धमन्तरा तस्या अवस्थानायोग्यत्वं सूचितम् । २ एतेन स्वत्मनः स्त्रीभोगक्षमत्वं सम्भावितम् । ३ इदं परलोकदृष्ट्या रामस्य त्याज्यत्वं अव्याप्तितुम् । ४ इदमेतत्त्वोक्तदृष्ट्यां रामस्य त्याज्यत्वं सम्भावयितुम् । ५ अत्र परिक्लीड़कङ्गारः सष्टः; ‘अलङ्गारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे’ इत्यभियुक्तोक्ते । ६ हृषा अवैकर्यं इति भावः, मोदेरकर्मकत्वात् । यद्वाऽन्तर्भावितणिजन्तत्वात्तथावचनम् । ७ अन्त्रावि पंसिकरेऽलङ्गारः ।

मा स्म भूर्गाहिणी भीरु गन्तुमुत्साहिनी भव ।
उद्घासिनी च भूत्वा मे वक्षःसंमर्दिनी भव ॥ ९३ ॥

मा स्मेत्यादि—हे भोरु मा स्म भूर्गाहिणी प्रतिकूला मा भूः । त यास्या-
मीद्यमुर्ध्य गृह्णामीति कृत्वा । ‘स्मोत्तरे लङ् च । ३ । ३ । १७६ ।’
इति चकारात् लुङ् । गन्तुमुत्साहिनी उद्युक्ता भव । ‘शकवृषज्ञामलाघट-
रमलभक्तमसद्वार्हस्त्यर्थेषु तुमुच् । ३ । ४ । ६५ ।’ इति तुमुच् । उत्साहिनी-
ति सहोपपदत्वात् । तत्त्वालंकृतशरीरत्वादुद्घासिनी शोभमाना भूत्वा नो-
डस्माकं वक्षःसंमर्दिनी स्तनाभ्यामुरःस्थलस्य पीडिका भव । ग्रहोत्सा-
द्वोद्घाससंमर्दानां ग्रहादिषु पठितत्वात् कर्तरि पिणिः । ‘ऋग्नेभ्यो छीप्
। ४।१५।’ ॥ ९३ ॥

तां प्रातिकूलिकां मत्वा जिहर्षिभीमविग्रहः ।
बाहूपर्णीडमाश्लिष्य जगाहे द्यां निशाचरः ॥ ९४ ॥

तामित्यादि—यदैवमभिवीयेयमाना न प्रतिपन्ना तदा तां प्रातिकूलिकां
प्रतिकूलवर्तीनीं मत्वा ज्ञात्वा । ‘ओजःसहोभ्यसा वर्तते’ इत्यधिकृत्य प्रक्षि-
कूलं वर्तत इत्यस्मिन्नर्थे ‘तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् । ४।४।२८।’ इति ठङ् ।
जिहर्षिः हर्तुमिच्छुः । भीमविग्रहः भीषणशरीरः । दृश्याक्षसशरीररूपः ।
सुखेन हियत इति बाहूपर्णीडमाश्लिष्य बाहूभिरुपर्णीडथ । ‘सप्तम्यां दोप-
षीडरूपकर्षः । ३।४।४९।’ इति चकारात् तृतीयान्त उपपदे प्रमुच् । जगाहे
रथेनोत्पत्य द्यामाकाशं निशाचरो गाहते स्मै । दिवशब्दसमानार्थो दोशब्द
औणादिकः । ‘गमेडोः’ इत्यौणादिके ‘उणादघो बहुलम् । ३।३।१।’ इति बहु-
लग्रहणाद् शुतेरपि डोः । इति वचनात् डोः । ‘औतोऽमृशसोः । ६।१।९३।’
इत्यात्वम् । कालाधिनस्तु दिवशब्दादेव व्युत्पादयितुं सूत्रमधीयते वास्येति ।
दिवः अमि विकल्पेनाकारादेश इति ॥ ९४ ॥

त्रस्यन्तीं तां समादाय यातो रात्रिंचराऽङ्गलयम् ।
तृष्णींभूय भयादासांचक्रिरे मृगपक्षिणः ॥ ९५ ॥

१ ‘सुन्दरि’ इत्यर्थः । ‘विशेषास्त्वङ्ना भीरुः कामिनी वामलोचनाः ।’ २ अभि-
धीयमाना । उच्यमानेत्यर्थः । ३ न प्रतिपन्ना नानुकूलतां प्रासेत्यर्थः । ४ आकाशमेव
पन्थानमकरोदिति भावः ।

त्रस्यन्तीमित्यादि——त्रस्यन्ती च तां तदूपदर्शनात् समादाम्प गृहीत्वा यातो
गच्छतो रावणात् । याते: शतरि पञ्चम्या रूपम् । किं यातो रात्रिचरालयं
लङ्घाम् । रात्रौ चरतीति ‘चरेष्टः ।३।७।१६’ । ‘रात्रेः कृति विभाषा ।६।३।
७।२’ इति सुम् । तस्माद्रावणाद्यद्यत्यं ततो भवात् तूष्णीम्भूय । ‘तूष्णीमि
भुवः ।३।४।६।३’ इति ‘कत्वा च ।२।२।२।२।’ इति समाप्ते त्यादेशः ।
आसांचकिरे आसिताः । ‘दबायासश्च ।३।१।३।७’ इत्याम् । मृगपक्षिणः
मृगाश्च पक्षिणश्च । समानजातीयानामिति वचनादेकवद्वावोऽत्र न
भवति प्र ॥ ९५ ॥

उच्चैरारस्यमानां तां कृपणां रामलक्ष्मणौ ।

जटायुः प्राप पक्षीन्द्रः परुषं रावणं वदन् ॥ ९६ ॥

(इति प्रकीर्णकाण्डं प्रथमम्)

उच्चैरस्त्यादि——तां सीतं जटायुः फल्मीन्द्रः । रावणं परुषं निष्ठुरं वदन्
प्राप प्रापवान् । कीदृशीम् । उच्चैरारस्यमानाम् । ‘हा राम, हा लक्ष्मण’
इति शब्दौ (द्वौ) उच्चैर्महता ध्वनिनां पुनः पुना रसन्तीमित्यर्थः । रसे:
शब्दकर्मकत्वात् धातोरेकाचो हलादेः कियासमभिहारे यद् ।३।१।२।२’ इति
कियासमभिहारे यद्, नतः शानन् । कृपणां दीनाम् ॥ ९६ ॥

(इति प्रकीर्णकाण्डम्)

अतः परमधिकारकाण्डम् ।

तत्र प्रथमं द्यधिकारः—

इतः परमधिकारकाण्डमुच्यते । यत्र प्राधान्येनैकैकमधिकृत्य लक्षणं प्रद-
र्शितं वद्यधिकारकाण्डम् । शेषलक्षणेषु प्रकीर्णकमेव द्रष्टव्यम् । एवं च
कृत्य अन्तरान्तरा तत्सूचनार्थं प्रकीर्णकश्लोकमिधानम् । अत्र च काण्डे
निर्विष्टसंक्षकाञ्चत्वं वरः परिच्छेदाः । तत्र प्रथमे आद्य टप्रत्ययमधिकृत्यो-
च्यते, सर्गार्थस्य विवक्षितस्यापरिसमाप्तत्वात्, तमेवाभिसन्वायाह—

द्विष्ट वने चराञ्जयाणां त्वमादाय चरो वने ।

अप्रेसरो जघन्यानां मा भूः पूर्वसरो मम ॥ ९७ ॥

द्विष्टत्रित्यादि—एव च कृत्वा मिश्रक उच्यते द्वयोरप्यत्र श्राधान्येन विव-
क्षित्वात् । परुषं वदन् । कीदृशम् । हे द्विष्टन् मा भूः पूर्वसरो ममेति ।

१ अप्रेसरं विवक्षित्याम् । ‘रस शब्दे’ इत्यस्येदं रूपम् । २ शत्रो इत्यर्थः । ‘रिषो
वैरिषण्यं विवक्षित्याम् । हे द्विष्टः ।’ इत्यमरः ।

भगवतो भूत्वा मा गा इत्यर्थः । पूर्वं सरतीति ‘पूर्वं कर्तरि । ३ । २ । १९
 १’ इति टः । यतस्त्वमग्रेचरो जघन्यानाम् । अग्रेसरतीति ‘पुरोऽप्रतोऽग्रेषु सर्ते-
 १ ३ । २ । १८ ।^१ इति टः । जघन्य इति ‘शाखादिभ्यो यः । ५ । ३ । १० ३ ।^२
 इतीवार्थे यः । पापानां प्रथमस्त्वम् । कुतः आदायचरो वने । आदाय
 चरतीति ‘भिक्षासेनादायेषु च । २ । २ । १७ ।^३ वने चरन्तीति वनेचराः । आधि-
 करणे चरेष्टः । लेषामउयाः प्रधाना क्षयः । तानादाय चरसि भक्षयसि ।
 कर्मणि पष्टो ॥ १७ ॥

यशस्करसमाचारं रुयातं भुवि दयाकरम् ।
 पितुर्वाक्यकरं रामं धिक्षत्वां दुन्वन्तमत्रपम् ॥ ९८ ॥

यशस्करेत्यादि—रामं दुन्वन्तमुपतापयन्तमत्रपं निर्लज्जं धिक्षत्वाम् ।
 अर्हा । ‘दुदु उपबापे’ इत्यस्य सौवादिकस्य शतरी ‘हुङ्गुवोः सार्वधातुके
 ॥ ६ । ४ । ८७ ।^१ इति यणादेशो रूपम् । कीदृशं रामम् । यशस्करसमाचा-
 रम् । समाचरणं समाचारः चरितं भावे घट् । यशस्करोतीति यशस्करः ।
 ‘कृबो हेतुताच्छील्यातुलोम्येषु । ३ । २ । २० ।^२ इति टः । ‘विसर्जनीयस्व सः
 । १ । ३ । ३४ ।^३ । यशस्करणहेतुभूतः समाचारो यस्य । रुयातं भुवि प्रसिद्धं
 दयाकरं करुणाकरस्याशीलम् । ताच्छील्ये टः । पितुर्वाक्यकरं पितुर्वचना-
 नुष्ठाने अनुकूलम् । आनुलोम्ये टः ॥ ९८ ॥

अहमन्तकरो नूनं ध्वान्तस्येव दिवाकरः ।
 तव राक्षस रामस्य नेयः कर्मकरोपमः ॥ ९९ ॥

अहमित्यरादि—दे राक्षस, अहं तव नूनमवश्यमन्तकरः किनाशयिता ।
 कीदृशः—रामस्य नेयो वश्यः ।^१ अचो यत् । ३ । १ । १७^२ कर्मकरो-
 पमः भृतकतुल्यः । ‘कर्मणि भृतौ । ३ । २ । २२^३ इति टः । ध्वान्तस्येव
 दिवाकरः । यथान्वकारस्यान्तकरो दिवाकरः सूर्यः तथा । अन्तकरदिवाकरौ ।
 ‘दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्ताचन्तादिवहुनान्दीकिंलिपिलिविलिभक्तिकर्त्तु-
 चित्रक्षेत्रसङ्गाजङ्गवावाहर्यचद्भुररुषु । ३ । २ । २१ ।^४ इति टप्रत्य-
 यान्तौ । एवमुक्त्वा खं गगनं पश्यतेरि सम्बन्धः ॥ ९९ ॥

^१ पामशणीमित्यर्थः । ‘जघन्योऽन्त्योऽन्तमेऽपि च ।’ इत्यमरः । २ पापानां
 पापकारिणाभित्यर्थः । अत्राश्च आदित्याद्वा । ३ ‘प्रभाकरदिवाकरः’ इत्यमरः

सतामरुष्करं पक्षी वैरकारं नराऽशिनम् ।

हन्तुं कलहकारोऽसौ शब्दकारः पपात खम् ॥ १०० ॥

सतामित्यादि—एवमुक्त्वा असौ जटायुः पक्षी खमाकाशं पपात पतितः ।
किमर्थं नराशिनं नरान् मनुष्यान भ्राति भक्षयतीत्येवंशीलम्, राक्षसमित्यर्थः ।
‘मुष्यजातौ णिनिस्ताच्छीलये । ३ । २ । ७८ ॥’ इति णिनिः । हन्तुं हनिष्या-
मीति । कीदृशं राक्षसं सतामरुष्करम् । धर्मे स्थितानां पीडाकरम् । अहः-
शब्दः पीडोपलक्षणपरः । ‘दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिवहुना-
न्दीकिंलिपिलिविवलिभक्तिर्त्यच्छेत्रसङ्घाजङ्घवावाह्वर्यत्तद्वनुरुष्मु । ३ ।
२ । २१ ॥’ इति टः । वैरकारं वैरकरणशीलम् कलहकारः पक्षी
कलहयितुमनुकूलः । अनयोः ‘न शब्दश्लोककलहगाथैवैरचादुत्तमन्त्र-
ष्टेषु । ३ । २ । २३ ॥’ इति टे प्रतिषेद्वेऽणेव भवति । कर्मण्यः ग्रासिर-
स्तीति टाधिकार उद्वाहृतः । कियत्खं पपात । यावति दूरे शब्दपातस्ता-
वत्सैमिति ॥ १०० ॥

॥ टाधिकारः समाप्तः ॥

इतः पर पुनः प्रकीर्णकश्लोकानाह—

धुन्वन् सर्वपथनिं खे वितानं पक्षयोरसौ ।

मांसशोणितसंदर्शं तुण्डघातमयुद्यत ॥ १०१ ॥

धुन्वन्नित्यादि—असौ जटायुः पक्षी अयुद्यत युद्यते स्म । युद्येवा-
दिकस्य लङ्घ रूपम् । तुण्डघातमिति क्रियाविशेषणम् । तुण्डेन चब्दच्च ।
शातो हननं यस्मिन् युद्ध इति । ‘करणे हनः । ३ । ४ । ३७ । इति न णमुखः
‘कषादिषु यथाविद्यनुप्रयोगः । ३ । ४ । ४६ ॥’ इति वचनान् अहिसार्थ-
त्वाच तदारम्भस्य यथा पादधारं भूमिं हन्तीति । ‘हिंसार्थानां च समानकर्म-
काणाम् । ३ । ४ । ४८ ॥’ इत्यनेनापि न भवति समानकर्मकताभावात् ।
अर्कमेकत्वाद्युयेः । तेन भावे धूम् । धुन्वन् कम्मयन् खे आकाशे पक्षयो-
र्वितानम् । सर्वपथीने ‘सर्वे पन्था इति’ ‘पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनव-
केवलाः समानाधिकरणेन । २ । १ । ४९ ॥’ इति समाप्तः । ‘ऋक्पूरव्यूः पथामानक्षे-
ष्टम् । ५ । ४ । ७४ ॥’ इति समाप्तान्तोऽकारः । सर्वपथान् व्याप्रोतीति ‘तत्सर्वादे-

१ (पीडाकरो ऋणकरोऽहुष्करो भर्मचातकः ।) इति गोपालः । २ ‘अनन्तं सुरवर्त्म-
म्’ इत्यसंरः । ३ अश्च परिकरः ।

‘पैथ्यज्ञकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति । ५ । २ । ७ ।’ इति॑ खः । मांसशोणितसन्दर्श॑
कास्त्व्येन मांसं शोणितं च दृष्ट्वा । ‘कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये । ३ । ४ । २९ ।’
इति॑ णमुङ् । ‘अमैवाव्ययेन । २ । २ । २० ।’ इति॑ समाप्तेः ॥ १०१ ॥

न विभाय न जिहाय न चक्षाम न विव्यथे ।
आग्नानो विध्यमानो वा रणान्निवृते न च ॥ १०२ ॥

नेत्यादि॑—पक्षी जटायुरिति॑ प्रकृतम् । आग्नानः आहत इति॑ प्रहरन्नित्यर्थः ।
‘ओ यमहनः ॥ १ । ३ । २० ।’ इति॑ तङ् । अत एत शानत्वः । न विभाय न भीतः ।
तस्मान्न जिहाय न लज्जितः । सम्युद्धं मया न हत इति॑ न चक्षाम न कुन्तः ।
न विव्यथे । ‘व्यथो लिटि॑ । ७ । ४ । ६८ ।’ इति॑ सम्प्रसारणम् । जितश्रम-
त्वात् । विध्यमानो वा । वाशदद्वार्थे । परेण हन्यमानश्च न विव्यथे न पीडां
भेजि॑ । सत्त्वाधिकत्वात् । रणाच्च न निवृते न निवृत्तः, अभमोत्साह-
त्वात् ॥ १०२ ॥

पिशाचमुखधौरैर्यं सच्छब्दकवचं रथम् ।

युधि॑ कद्रथवद्वीमं बभञ्ज ध्वजशालिनम् ॥ १०३ ॥

पिशाचेत्यादि॑—युधि॑ सङ्ग्रामे पक्षी रथं बभञ्ज भग्नवान् । तथ तुष्पका-
दन्यत्वात् । तथा हि॑ कद्रथवत् कुत्सतरथमिव॑ । ‘रथवद्योश्च । ६ । ३ । १०२ ।’
इति॑ कदादेशः । धुरं वहन्ति॑ धौरेया अश्वाः । ‘धुरो यहृदकौ॑ । ४ । ४ । ७७ ।’
इति॑ ढकौ॑ । पिशाचस्येवं मुखं येषां ते धौरेया यत्र रथे तं पिशाचमुखधौरेयम् ।
सच्छोभनं छत्रं कवचं च यस्मिन् । तं भीमं भयानंकं तथा धुर्यत्वात् । ध्वज-
शालिनं ध्वजवन्तम् । शालिनशब्दः किन्त्रित्ययान्वस्तद्वन्तमाह । अन्यस्त्वाह ।
ध्वजेन शालितुं श्लाघयितुं शलिमस्येति॑ णिनिः । अनेकार्थत्वाद्वातूनामिति॑ ॥
एते प्रकीर्णकाः ॥ १०३ ॥

अतः परं आमधिकारः ।

इतः प्रसृत्यामसधिकृत्याह—

‘संत्रासयाच्चकाराऽरि॑ सुरान् पिप्राय पश्यतः ।

स त्याजयाच्चकाराऽथ सीतां विशातिवाहुना ॥ १०४ ॥

१ अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । २ अत्र दीपकम् । ३ ‘धुर्वहे धुर्यधौरेयधुरणिः
सधुरन्धराः ।’ इत्यमरः । ४ अत्र व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । ५ भीमं भयङ्गुर-
मित्यर्थः । ‘वोरं मर्मिं भयानकम्’ इत्यमरः । ६ शालयितुमिति॑ वाच्यम् ।

सन्नासयामित्यादि—अथैतस्मिन् युद्धप्रस्तावे स पक्षी सीतां विशति-
बोहुना रवजेन त्याजयाचकार त्याजितवान् । गत्यादिषु त्यजेरसंग्रहात् तृती-
यैव भवति । कस्मात्त्वाजितवानित्याह । सन्नासयाचकारार्द्धं यस्मादर्द्धं शतुं
रावणं त्रासितवान् । अर्कमंकत्वात् त्रासेष्यन्तावस्थाशामरोः कर्मत्वम् । आभ्यां
हेतुवाण्यन्ताभ्याम् ‘काल्यत्ययादामन्त्रणे लिटि । ३ । १ । ३५ ।’ इत्याम् ।
आमोऽस्मित्वमदन्तत्वात् । ‘आमः । २ । ४ । ८१’ इति लुक् । ‘अयामन्ताल्वा-
च्येत्त्वच्छुषु ६ । ४ । ५५ ।’ इत्यादेशः । आमकारान्तस्य कृतसंज्ञायां प्रातिप-
कल्वे प्रथमैकवचनम् । तस्य ‘अव्ययादाप्सुपः । २ । ४ । ८२ ।’ इति लुक् ।
स्वरादिषु ‘अम् आम्’ इति पठितवादव्ययत्वम् । आमन्तस्यानभिव्यक्तपदार्थ-
त्वात् ‘कृच्चानुप्रयुज्यते लिटि ३ । १ । ४०’ इति लिदपरस्य कृजोऽनुप्रयोगः । ‘कर्त्र-
भिप्रायाभावाभावेऽनुप्रयोगे तङ् न भवति । सुरांश्च पश्यतो युद्धं जटा-
युः पिप्राय प्रीणितवान् । शत्रुत्रासनं सीतात्याजनं च देवानां प्रीतेः
करणम् । १०४ ॥

असीतो रावणः कासां चक्रे शशैर्निराकुलः ।

भूयस्तं बेभिदाच्चके नखतुण्डाऽयुधः खगः ॥ १०५ ॥

असीत हत्यादि—असीतः परित्यकसीतो रावणः आकाशस्थः कासा-
चक्रे कुत्सितमभिहितवान् । एहोहीति विहगाधिषेति । ‘कासु शब्द-
कुत्सायाम्’ इत्यनुदातेत् । ‘कास् प्रत्ययादामन्त्रणे लिटि । ३ । १ । ३५ ।’
इत्याम् । शखैः इत्यस्मूते तृतीया । निराकुलः पूर्वं बाहुभिः सीताप्र-
प्रहणे व्याकुलत्वात् । भूयः पुनरपि । खगैः पक्षी । डप्रकरणे ‘अन्ये
प्यपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।’ इति वचनात् गमर्देः । तं निशाचरं
रावणं राक्षसमित्यर्थः । बेभिदाच्चक्रे । अत्यर्थं भिन्नवान् । बेभिद्यतेर्थङ-
न्ताम् । नखतुण्डान्येवायुधानि यस्य ॥ १०५ ॥

हन्तुं क्रोधवशादीहाच्चकाते तौ परस्परम् ।

न वा पलायाच्चके विर्द्याच्चके न राक्षसः ॥ १०६ ॥

हन्तुमित्यादि—तौ पक्षिरावणौ जटायू रावणश्चत्यर्थः । क्रोधवशान्
क्रोधाधीनतया उद्विक्क्रोधतयेत्यर्थः । परम्परमन्योन्यं हन्तुमीहाच्चकाते चेष्टां
कृतवन्नौ । ‘इजादेश्च गुरुमत्तोऽनृच्छः । ३ । १ । ३६’ इत्याम् । विः पक्षी ।

१ ‘कासाऽर्बं विहगाः खगाः ।’ इत्यस्तः । २ पतञ्जिपत्रितगमतसपत्ररथा-
उष्ठजाः । व्याकुलवाजितिकिरचिविभिरपतत्रजाः ॥’ इत्यस्तः ।

जनिघसिभ्यामित्याधिकृत्य ‘वेष्मो दिव्य’ इत्यैषादिक इह । न वा नैव । वाक्षब्द एवार्थे । पलायाच्चके पलायितः । ‘उपसर्गस्वायती । १२।१९।’ इति लत्यम् । रक्षसश्च न दयांचके न दयते स्म । पक्षिणं स्वत्वं कथं व्यापाद्यामीर्थः । किंतु निष्ठुरतयाऽऽहन्तुमूष्ठत एवामूदिति भावः । उभयत्रापि ‘दयायासश्च ।३।३७।’ इत्याम् ॥ १०६ ॥

उपासांचकिरे द्रष्टुं देवगन्धर्वकिन्नराः ।

छलेन पक्षौ लोल्युपाच्चके क्रव्यात् पतञ्जिणः ॥ १०७ ॥

उपेत्यादि—देवगन्धर्वकिन्नरा द्रष्टुं ‘युद्धं द्रक्ष्याम्’ इति उपासाच्चकिरे उपगताः । पूर्ववदाम् । क्रव्यात् रावणः । क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यात् । ‘अदोऽनन्ने ।३।२।६८।’ इति विद् । पतञ्जिणः पक्षिणः पक्षौ लोल्युपाच्चके अत्यर्थं लूनवान् । यज्ञप्रत्ययान्तत्वादाम् । छलेन मायया प्रसङ्ग जेतुं न शक्यत इति । भलेनोति पाठान्तरम् ॥ १०७ ॥

प्रलुठितमवनौ विलोक्य कृतं दशवदनः खचरोत्तमं प्रहृष्यन् ।

रथवरमधिरुह्य भीमधुर्य स्वपुरमगात् परिगृह्य रामकान्ताम् ॥ १०८ ॥

प्रलुठितमित्यादि—खचराः पक्षिणः । खे चरन्तीति अधिकरणे ‘चरेष्टः ।३।२।५६।’ तेषामुत्तमं जटायुं कृतं छिँड्रं लूनपक्षत्वात् । अवनौ मुवि प्रलुठितं विलोक्य प्रहृष्यन् हर्षं प्रान्तुवन् निवृत्तो विनाकारीति दशाननो रथवरं स्मरणात् प्राप्तं पुष्पकास्त्वयमारह्य भीमधुर्य रामकान्तां सीतां तथैव परिगृह्य स्वपुरमगात् गतवान् ॥ १०८ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽस्त्वया व्याख्यया

समलङ्कृते श्रीभट्टिकाच्चे द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे

पञ्चमः परिच्छेदः लक्ष्यरूपे कथानके सीताहरणः श्रीराम-

प्रवासो नाम पञ्चमः सर्गश्च ।

१ ‘राक्षसः कौणपः क्रव्यात् क्रव्यादोऽत्यप आशरः ।’ इत्यमरः । २ लुक्ष्मेने इत्यतो लिटि ‘धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यज् ।३।१२।’ इति मृष्टार्थे यज् । ३ तेषुत्तममिति वाच्यम् ‘न निर्वारणे ।३।१।’ इति निर्वारणार्थायाः पञ्चायाः समाप्तनिषेधाद् । ४ ‘कृतं दातं दितं छिंतं बृकणम्’ इत्यमरः ।५ ‘क्षमाऽवनि-मेदिनी मही’ इत्यमरः । ६ लङ्कापुरीमित्यर्थः ।

पृष्ठः सर्गः ।

अत्रादीकारस्थापरिसमाप्त्वात्तमेवासमाधिकृत्याह—

ओषांचकार कामाश्रिदंशंवक्रमहर्निशम् ।

विदांचकार वैदेही रामादन्यनिरुत्सुकाम् ॥ १ ॥

ओषांचकारेत्यादि—अथशब्दो वद्यमाणतृतीयश्लोके यः सोऽत्र द्रष्टव्यः । अथ तस्मिन् सीतापरियहे जाते कामाप्तिः कामोऽभिरिव दशवक्रं दशाननमोषांचकार ददाह । ‘उप दहे’ । ‘उषविद्जागृभ्योऽन्यतरस्याम्’ । ३।१३८। इत्याम् । अहर्निशं अहश्च निशा च । ‘सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्वावति’ इत्येकवद्वावान् । ‘कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे’ । २।३।५। इत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अहो नकारस्य ‘रोऽसुपि’ । ८।२।६९।१। इति रत्वम् । कस्माहदाह इत्याह । रावणो वैदेहीमन्यनिरुत्सुकां रामादन्यस्मिन् सर्वत्र निरभिलाषां विदांचकार अगुणत्वं विदेश्येति विदेरकारान्ननिपातनात् गुणाभावः ॥ १ ॥

प्रजागरांचकारेरीहास्यनिशमादरात् ।

प्रविभयांचकाराऽसौ काकुस्थादभिशङ्कितः ॥ २ ॥

प्रजागरांचकारेत्यादि—भ्रे रामस्य ईहासु चेष्टासु । ‘गुरोश्च हलः’ । ३।३।१०३। इत्यकारः । आद्रादादरेण प्रजागरांचकार जागरितवान् । शचित्रुकीर्तिज्ञानपरो बभूवेत्यर्थः । पूर्ववदाम् । अनिशम् अविच्छेदेन । अनिशमिति निशाक्रियाविच्छेदो नामित् यस्मिन् प्रजागरण इति । निशेति क्रियविच्छेदोपलक्षणम् । प्रायेण हि निशायां क्रियाणामप्रवर्तनम् । किंमिति जागरितवानित्याह । काकुस्थादसौ प्रविभयांचकार प्रभीतवान् । ‘भीङ्गीश्वृहवां श्लुवक्ष’ । ३।१।३९। इत्याम् । श्लुवत्कर्त्यं धातोर्गुणायादेशो । अभिशङ्कितः किमयं करिष्यतीति ॥ २ ॥

न जिह्याच्चकाराऽय सीतामध्यर्थं तर्जितः ।

नाप्यूर्जी विभरामास वैदेह्यां प्रसितो भृशम् ॥ ३ ॥

न जिह्याच्चकारेत्यादि—सीतामध्यर्थं याचित्वा न जिह्याच्चकार न लज्जितः । तर्जितः भर्त्सतोऽपि तयैवेत्यर्थात् । नाप्यूर्जी वलं विभरामास

^१ न विशालक्षणया निदेतरतो विरामो यत्र कर्मणि तद यथा तथेत्यर्थः ।

धारितवान् । ‘ कृच्चानुप्रयुज्यते लिटि । ३।१४०।’ इति प्रत्याहारप्रहणादस्त्वेर-
प्यनुप्रयोगः । हीथातोर्णुणायोदेशौ । ‘ उभ्यश्च धारणपोषणयोः’ उभयत्रा-
पि पूर्ववदाम् इलुवच्च । कथं न धारितवान् इत्याह । वैदेहां प्रसिद्धैः
प्रसक्ततः । भूशमत्यर्थम् ॥ ३ ॥

विदांकुर्वन्तु रामस्य वृत्तमित्यवदत् स्वकान् ।

रक्षांसि रक्षितुं सीतामाशिषच्च प्रयत्नवान् ॥ ४ ॥

विदांकुर्वन्तिवत्यादि—स्वकानात्मीयान् शुकसारणादीन् अवददुक्तवान् ।
किमित्याह—रामस्य वृत्तमनुष्ठितं किं तस्येहागन्तुमुद्यमोऽस्ति न वेति विदां-
कुर्वन्तु । ‘विदांकुर्वन्तिवत्यन्यतरस्याम् । ३।१४१।’ इति निपातितम् । सीतां
रक्षितुं रक्षांसि आशिषदादिष्टवान् । शासः ‘ सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च । ३।१४
५६।’ इत्यङ् । ‘ शास इदङ्ग्हलोः । ६।४।३४।’ इति शासेरुपधाया इत्वं ‘शा-
सिवसिधीसीतां च । ८।३।६०।’ इति षत्वम् । प्रयत्नवान् प्रयत्नपरः ४
आमधिकारो गंतः ॥ ४ ॥

अथ प्रकीर्णश्लोकानाह—

रामोऽपि हतमारीचौ निवत्स्यन् खरनादिनः ।

क्रोष्टून् समशृणोत् क्रूरान् रसतोऽशुभशंसिनः ॥ ५ ॥

राम इत्यादि—हतमारीचो रामोऽपि निवत्स्यन् प्रत्यागमिष्यन् । वला-
दिलक्षण इटि प्राप्ते ‘न वृद्धयश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।’ इतीणिषेधः । क्रोष्टून्
शृगालान् । रसतः शब्दायमानान् । समशृणोत् संश्रुतवान् । सकर्मकत्वान्
‘अर्तिश्चुदाशिभ्यश्चेतिवक्तव्यम् ।’ इत्यात्मनेपदं न भवति । लङि रूपम् ।
क्रूरान् भीषणान् । यतः खरनादिनः खरवन्नदन्ति । ‘ कर्तव्युपमाने । ३।२।
७९।’ इति णिनिः । अशुभशंसिनः अनिष्टसूचनशीलान् ॥ ५ ॥

आशङ्कमानो वैदेहीं खादितां निहतां मृताम् ।

स शत्रुघ्नस्य सोदर्ये दूरादायान्तमैक्षत ॥ ६ ॥

आशङ्कमान इत्यादि—तथाविधाशुभश्रवणादाशङ्कमानो वितर्कयन् वैदेहीं
किं खादितां निशाचरादिना । ततः निहतां त्यक्तप्राणाम् । अहो स्वयमेवा-

१ ‘तत्परे प्रसितासक्तौ’ इत्यमरः । २ रक्षसानिति शब्दः । ३ विदाङ्कुर्वन्तु जानन्तु
शुभतया ज्ञात्वा मां बोधयन्तु चेति भावः । ४ कथञ्चिद्रामचारैश्चोरिता न स्यादिति
मथि च यथाऽनुरक्ता स्यादिति समाहिततयोद्यम्य चेष्टितुमिति भावः ।

युक्ष्यान्मृतां वा । स रामः शत्रुघ्नस्य सोदर्यं भ्रातरम् । ‘सोदराद्यः ।६।४।१०१’ आयान्तमागच्छन्तमारादेश्वर दृष्टवान् । ईक्षर्लिङ्गे रूपम् ॥ ६ ॥

सीतां सौभित्रिणा त्यक्तां सधीर्चीं त्रस्तुमेकिकाम् ।

विज्ञायाऽमंस्त काकुत्स्थः क्षये क्षेमं सुदुर्लभम् ॥ ७ ॥

सीतामित्यादि— सौभित्रे काकिनो दृष्टवान्नियतमनेन त्यक्तेति तां विज्ञाय ज्ञात्वा काकुत्स्थो रामः । क्षये गृहे । क्षीयते इसिमिति अधिकरणेऽच् । क्षेमं कल्याणम् । सुदुर्लभं सुदुःखेन लभ्यत इति । ‘ईषद्दुःसुषु कृच्छाकृच्छा-र्थेषु खल् ।३।३।१२६’ इति खल् । अमंस्त ज्ञातवान् । कथं क्षये क्षेमं सुदुर्लभमिति आह-वधीर्चीं सहचारिणीं न कविदेकाकिनीं तिष्ठन्तीम् । सहाच्चतीति ‘अतिवग्दधृक्स्वर्गादेगुणिणगव्युजिकृच्छां च ३ । २ । ५९।’ इति किन् । ‘सहस्र्य समिः ।६।३।१५।’ इत्यच्चती वप्रत्यये-सहस्र्य सम्यादेशः । ‘अच्छतेश्व्रोपसंख्यानम्’ इति डीप् । ‘अच्चः ।६।४।१३।८।’ इत्यकारलोपः । ‘चौ ।६।३।१३।८।’ इति दीर्घः । कुतः त्रस्तुं त्रसनशीढाम् । कियाशब्दत्वादूङ् न भवति । एकिकामेकाकिनीम् ‘असहायामित्यर्थः । लक्ष्मपेनापि त्यक्तवात् । ‘एकादाकिनिज्ञासहाये ।५।३।५।२।’ इति चकारात्कन् । ‘प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्थात् इदाप्यसुपः वृश्च ।३।४।४।’ इतीत्वम् ॥ ७ ॥

(एते प्रकीर्णकाः)

अतः परं दुहादिः,

इतो द्विकर्माविकारः—

सोऽपृच्छलक्ष्मणं सीतां याचमानः शिवं सुरान् ।

रामं ‘यथास्यितं सर्वं भ्राता ब्रूदे स्म पिहङ्गः ॥ ८ ॥

सोऽपृच्छदित्यादि— ‘अकायेतं च ।१।४।५।१।’ इत्यत्र दुहियाचीत्य-विद्यस्त्रेकस्थान धातून् प्रयुक्ते कविः । तत्र रामोऽपृच्छत् सीतामिति प्रधानं कर्म लक्ष्मणमित्यकवितं कर्म । याचमानः प्रार्थयमानः । शिवं कल्याणम् ।

१ लक्ष्मणमित्यर्थः ‘समानोदयसोदयसगम्यसहजाः समाः ।’ इत्यमरः । २ ‘किलयापचयौ क्षयो ।’ हस्यमरः । ३ ‘दुहियाच्च गच्छ दण्डस्थिपन्तिविज्ञासु जिमयसु च । कर्मसुकृतादकवितं तथा स्पासीहकृष्णहाम् ।’ इत्यकामित्यर्थः । ४ ‘क्षयसं शिवं बद्दयै इत्यमरः ।

अर्थात् सीतायाः दिवं प्रधानं कर्म सुरान् द्वान् इत्यकथितं कर्म । आता लक्षणः सर्वं यथावत् स्थितं ब्रूते स्म उक्तवान् । सर्वमिति प्रधानं कर्म राममित्यकथितम् ॥ ८ ॥

संदृश्य शरणं शून्यं भिक्षमाणो वनं प्रियाम् ।

प्राणान् दुहन्निवऽस्त्मानं शोकं चित्तमवाहयत् ॥ ९ ॥

संदृश्येत्यादि—रामः शरणं गृहं शून्यं संदृश्य दृष्टा । शोकं चित्तम-वाहयत् चित्तं शोकं प्रावेशयत् । अन्तः शोकाकुलोऽभूदित्यर्थः । कीटशः प्रियां जानकीं वनं भिक्षमाणः ‘यदि अश्वत्थ त्वया सीता दृष्टा तर्हि वोथय’ यदि गोपिता तर्हि देहि, इत्येवं प्रतिवृक्ष याचमान इत्यर्थः । प्राणान् दुहन्निव त्यजैन्निव । प्राणानिति प्रधानं कर्म आत्मानमित्यकथितम् । आत्मनः प्राणान् त्यजन्निव ॥ ९ ॥

गता स्पादवचिन्वाना कुसुमान्याश्रमद्वामान् ।

आ यत्र तापसान् धर्मं सुतीक्ष्णः शास्ति तत्र सा ॥ १० ॥

गतेत्यादि—यत्र यस्मिस्तपांवने सुतीक्ष्णो नाम ऋषिः धर्मं शास्ति द्योक्ष-यति । धर्ममिति प्रधानं कर्म, तापसानित्यकथितम् । तत्रै तपोवने गता स्यात् । सम्भावने छिङ् । ‘आ’ इति आकारो निपातः स्मरणे । किं कुर्वती कुसुमान्यवचिन्वाना । कुसुमानीति प्रधानं कर्म आश्रमद्वामानि-त्यकथितम् । अवचिन्वानेति चिनोतेः कर्त्रभिप्राये वह । दुहादि-दण्डको गतः ॥ १० ॥

इति दुहादिद्विकर्मकः ।

प्रकीर्णकानाह—

आः कष्टं वत ही-चित्रं हूं मार्त्तैवतानि धिक् ।

द्वा पितः ! काऽसि हे सुभृ ! वहेवं विललाप सः ॥ ११ ॥

आः कष्टमित्यादि—शोकेनाकान्तमना विलपन्नाह—आः पीडायाम् । पितृ-वियोगपीडितः आः इत्याह । अत्मद्वियोगेन पिता प्राणांस्त्यक्तवानित्यभिग्रायः । कष्टमित्याह । कष्टं कृच्छ्रम् । भर्तृमरणादस्मद्वियोगात् मातुः कावत्येत्यभिप्राये-

१ ‘शरणं गृहरक्षित्रोः’ इत्यमरः । २ जनकनन्दिन्या रहितमिति भावः । ३ लाक्षणिकोऽयमर्थः । ४ अत्र सर्वत्रेवेतिपदमुद्योक्षायाम् । ५ सुतीक्ष्णाश्रम इति वक्तव्यम् । ६ ‘आसु स्यात्कोषपीडितोः’ इत्यमरोक्तेः ।

पाह बत इति । बतशब्दः खेदैः । सौमित्रिरपि तथा सीतया अन्याहशः सम्भावित इति विस्मितो हीत्याह । हीशब्दो विस्मये । यदि नाम खिया मूर्खतया तथाभिहृतं सौमित्रिणा विदुषा कथं ताहशः शापो दत्त इत्यभिप्रायेणाह चित्रमाश्रये । यदेवंविधोऽपि स्वल्लतीति । सर्वमेव दुर्जातं कैकेयीप्रभवभिति कुच्यन् हूँ मातारित्याह । हूँशब्दः क्रोधैः । अथवा सर्वमेतत् दैवतचेष्टितं न समानुष्टितमित्यभिप्रायेणाह खिग्दैवतानीति । खिक्कुत्सायाम् । प्राणांस्त्यकवन्तमपि पितरं पुनरहं इष्टास्मीत्यभिप्रायेणाह । हा पितः क द्रष्टव्योऽसीति । हा शोके । हे सुञ्जु सुमूः(सीते) क गतासीति । श्रूशब्दात् ‘अप्राणिजातेश्वारज्जवादीनामुपसंख्यानम्’ इत्यूङ् । उवणान्तमात्रस्य विधानाद्वहुत्रीहिः । उपसर्जनत्वं च । पुनः खियामूङ् । ‘अन्ताद्विवश ॥१॥८५॥’ इति पूर्वे प्रत्यन्तवत्त्वान् प्रातिपदिकत्वम् । अतः सम्बुद्धौ हस्तत्वम् । विललाप स एवं कृत्वा बहुनेकप्रकारं विलापं कृतवान् ॥ ११ ॥

इहाऽऽसिष्टाऽशयिष्टेह सा सखेलमितोऽगमत् ।

अग्लासीत् संस्मरन्नित्यं मैथिल्या भरताऽग्रजः ॥ १२ ॥

इहत्यादि-हृह आस्मिन् प्रदेशे आसिष्ट उपविष्टा । ‘इदमो हः । ५।३।११’ । ‘इदम इश । ५।३।३।’ इह । अशयिष्ट शयितवती । आसेः शीङ्गश्च लुङ् । सखेलं सलीलम् । इतः प्रदेशादगमत् गतवती । इत्थमेवंप्रकारम् । मैथिल्याः स्मरन् । ‘अवधीर्थदयेशां कर्मणि । २।३।५२।’ इति कर्मणि षष्ठी । भरताग्रजो रामोऽग्लासीत् ग्लानिं गतः । ग्लायतेर्लुङ् । ‘यमरमनमातां सक्त च । ७।२।७३।’ इति सगिटौ ॥ १२ ॥

इदं नक्तंतनं दाम पौष्णमेतदिवातनम् ।

शुचेवोद्धृथं शाखायां प्रग्लायति तथाविना ॥ १३ ॥

इदमित्यादि-नक्तंतनं निशाभवं इदं दाम पुष्णमाला पुनादेवातनं दिवसभवम् । ‘सायंचिरंप्राह्वगेऽव्ययेभ्यष्टुष्टुलौ तुद् च । ४। ३।२।३।’ इति टप्पुष्टुलौ तुद् च । पौष्णं पुष्पाणाभिति तस्येदमित्यण् । शुचेव शोकेनेव । ‘सम्पदादिभ्यः किप्’ इति किप् । शाखायां वस्त्रादिनोद्धृथं ।

१ ‘खेदातुकम्पासन्तोषविस्मयामन्बणे बत’ इत्यमरः । २ सौमित्रिः लक्षणः । ३ ‘अहो ही च विस्मये’ इत्यमरोक्ते । ४ हूँ ‘हुनाहरचेटिके’ इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । ५ ‘द्विष्टरयेत्यर्थः । ६ ‘आस उपवेशने’ लुङ् । ७ ‘परिहाससूहपखेलं पूर्वमित्यर्थः । इदंकिया विशेषम् ।

आत्मानभित्यर्थात् । प्रग्लायति प्रक्रेषण ग्लानि गच्छति । ग्लायते: शित्यायादेशः । शास्वायां प्रलम्बमानं ग्लानि गच्छन्तं वीक्ष्येदमुत्प्रोक्षि- तम् । कुतः शोकात्तया विना सीताविच्छेदेन ॥ १३ ॥

ऐक्षिष्महि मुहुः सुप्तां यां मृताऽशङ्क्या वयम् ।

अकाले दुर्मरमहो यज्जीवामस्तया विना ॥ १४ ॥

ऐक्षिष्महीत्यादि—यां वयमौक्षिष्महि ईक्षितवन्तः । ईक्षेः सेटो लुङ् । मुहुः सुप्तां अविन्छन्ननिद्रत्वात् । मृताशङ्क्येति अनिष्टशंसित्वात् प्रिय- जनहृदयस्य । इदानी तया सीतया विना अहो वयं यज्जीवामस्तद- काले दुर्मरणमिति विललाप । जोवितस्यापूर्णकाले । दुःखेन मरणमि- ति भावे खल् ॥ १४ ॥

अक्षेमः परिहासोऽयं परीक्षां मा कृथा मम ।

मत्तो मा अन्तर्धिथाः सीते! मा रंस्था जीवितेन नः॥ १५ ॥

अक्षेम इत्यादि—परिहासनं पारहासः क्रीडा । अयमक्षेमो न कल्याण- करः । मम परीक्षां किं मौमपश्यन् दुःखित आस्ते न वेति मा कृथाः मा कार्षीः । अपि तु दर्शयत्मानम् मा निलीयस्व । ‘उच्च । १।२।१२।’ इति कित्त्वादुणाभावः । ‘हस्वादङ्गात् । १।२।२७।’ इति सिचो लोपः । तस्माद्वेतोः सीते मान्तर्हिथाः । अन्तर्हिता मा भूः । ‘अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति । १।४।२।’ इत्यपादानसंज्ञायां ‘पञ्चम्यास्तसिः’ । ‘प्रत्य- योत्तरपद्योच्च । ७।२।९।’ इति मदादेशः । लुङि, ‘स्थाव्यो- रिच्च । १।२।१७।’ इति सिचः कित्त्वमित्वं च । ‘हस्वादङ्गात् । ८।२।२७।’ इति सिचो लोपः । नोऽस्माकं जीवितेन मा रंस्थाः क्रीडां मा कार्षीः । रमेरात्मनेपदित्वात्तद् ॥ एते प्रकीर्णकाः श्लोकाः ॥ १५॥

अतः परं सिजधिकारः ।

सिचं सापवादमधिकृत्याह—

अहं न्यवधिषं भीमं राक्षसं क्रूरविक्रमम् ।

मा घुक्षः पत्युरात्मानं मा न श्लिष्मः प्रियं प्रिये ॥ १६ ॥

अद्वित्यादि—यतोऽहं राक्षसं मारीचं क्रूरविक्रमं भीमं भयानकं न्यवधिषं निहतवानस्मि । हन्ते:, ‘लुङि च । २।४।४३।’ इति वधादेशः । अदन्त- त्वादृदृष्ट्यभावः । तस्मान्मा घुक्षः न गोपय पत्युरात्मानम् । ‘अन्तर्धौ येनादर्श-

रुदतोऽशिष्यच्छुरामयं इतोस्तवाथयीत् ।
म्रियेऽहं मां निरास्थश्चेन्मा न वोचश्चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

रुदत इत्यादि—तदायें त्वां पश्यामीति रुदतो मम चक्षुरशिष्यित् उच्छू-
नम् । अस्य मुखं चाश्वयीत् । 'विभाषा धेटश्च्योः । ३ । १ । ४९ ।' इति
चङ्गसिचौ । चडीयङ् । 'हयन्तक्षणधसजागृणिश्व्येदिताम् । ७ । २ । ५ ।'
इति न वृद्धिः । 'इटे इटि । ८ । २ । २८ ।' इति सिचो लोपः । गुणायादेशौ।
मां निरास्थश्चेद्यादि मम दर्शनं निरस्तवती त्वं तदा म्रियेऽहम् । ' छ्रियतेर्लुङ्-
लिङ्गेश्च । १ । ३ । ६१ ।' इति चकाराच्छित्यात्मनेपदम् ' रिङ्शयगिलङ्गसु
। ७ । ४ । २८ ।' इति रिङ् । अतो यत्त्वया चिक्षीर्षितं कर्तुमिष्टं तन्मा
न वोचः मा न भाषिष्ठाः अपि तु ब्रूहि । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । ३ ।
१ । ५२ ।' इत्यङ् । 'वच उम । ७ । ४ । २० ।' ॥ १९ ॥

लक्ष्मणाऽवक्ष्व यद्याख्यत् सा किञ्चित् कोपकारणम् ।

दोषे प्रतिसमाधानमज्ञाते क्रियतां कथम् ॥ २० ॥

लक्ष्मणत्यादि—हे लक्ष्मण योदि सा किञ्चित्कोपकारणमाख्यदुक्तवती ।
इदं तेनाप्रियमाचरितम् । पूर्ववदङ् । तदाचक्ष्व कथय । अज्ञाते दोषे अनिर्धा-
रिते प्रतिसमाधानं कथं क्रियताम् । अनुष्ठीयतां नेवेति भावः । कर्मणि लोट् ।
'रिङ्शयङ्गलिङ्गसु । ७।४।२१।' इति रिङ् ॥ २० ॥

इह सा व्यालिपदन्वैः स्नान्तीहाऽभ्यषिचज्जलैः ।

इहाऽहं द्रष्टुमादं तां स्मरन्नेवं मुमोह सः ॥ २१ ॥

इहेत्यादि—इह प्रदेशे सा सीता गन्धैर्वलिपत् समालिप्तवती ।
मामात्मानं चत्यर्थात् । इह स्नान्ती क्रीडापूर्वकमभ्यषिचत् । हस्तयन्त्रमुक्तस-
लिलेन मास्तमिमुखं सिक्तवतीत्यर्थः । 'प्राक्षिसताङ्गव्यायेऽपि । ८।३।६३।'
इति षतम् । इह द्रष्टुं तामाहम् आहूतवान् । 'लिपि सिचि हश्च । ३ । १ । ५३।'
इति च्छ्लेङ् । एवं स्मरन् मुमोह मोह गतवान् ॥ २१ ॥

तस्यालिपत शोकाऽग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन् ।

अलिसेवानिलः शीतो बनेतं न त्वजिह्वदत् ॥ २२ ॥

१ 'वक्षास्ये वदने तुष्णे' इत्यमरः । २ मां राममिति भावः । ३ सीतामित्यर्थः ।

तस्येत्यादि—तस्य रामस्य स्वान्तं मनः । ‘क्षुब्धस्वान्तद्वान्तलम्-
स्त्रिलघुविरिवधफ्लाण्टबाढानि मन्थमनस्तमःसत्का विस्पष्टस्वरानायासभूशेषु
। ७ । २ । १८ ।’ इति निपातितम् । शोकाभिः शोको उभिरिवै । अलिपत
दीपितवान् । परस्मैपदेषु ‘लिपि सिचिह्नम् । ३ । १ । ५३ ।’ इति निलेषे
प्राप्ते ‘आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४ ।’ इति विकल्पेनाङ् ।
‘स्वरितवित्तः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले । १ । ३ । ७२ ।’ इति क्रिया-
फलविवक्षायामात्मनेपदम् । काष्ठाभिव स्वान्तं ज्वलन् अभिवर्धमानः ।
अनीलो वायुः शीतोऽपि सन् वने तं राममालित्रेव दीपितवानिव । अङ्गभा-
वपद्मे ‘शलो शलि । ८ । २ । २६ ।’ इति सिचो लोपः । नतु नैवाजि-
हृदत् ह्वादितवान् । शोकाम्रेलहुद्धत्वात् । ह्वादेष्वन्तात् । ‘णिश्रिदुसुभ्यः
कर्त्तरि चङ् । ३ । १ । ४८ ।’ इति चङ् ॥ २२ ॥

स्नानभ्यषिचताम्भोऽसौ रुदन्दयितया विना ।

तथाभ्यषिक्त वारीणि पितृभ्यः शोकमूर्छितः ॥ २३ ॥

स्नानित्यादि—असौ रामो दयितया सीतया विना । शोकमूर्छितः
शोकेन मोहं नीतः । ल्लातुमारब्धः । मूर्छेहेतुमण्णन्तस्य रूपम् । ‘णा शौचे’
सतृप्रत्ययः । रुदन् अश्रु विमुच्चन् । अस्मः सलिलं अभ्यषिचत शिप्तवान् ।
शिरस्यञ्जलिना । तथा स्नातः पितृभ्यो वारीणि अभ्यषिक्त दत्तवान् ।
सिचे: पूर्ववद्विभाषाऽङ् । सिचिरत्रोत्सर्गे वर्तते । ततश्चार्थान्तरवृत्तित्वा-
जलस्य कर्मत्वम् । अभ्युक्षणे तु करणत्वं यथा जलेन सिच्चतीति ॥ २३ ॥

तथातोऽपि क्रियां धर्म्यां स काले नामुचक्त्वचित् ।

महतां हि क्रिया नित्या छिद्रे नैवावसीदति ॥ २४ ॥

तथेत्यादि—स रामस्तेन प्रकारेणातोऽपि कचिदपि धर्म्यां क्रियां काले
नामुक्षत न त्यक्तवान् । यतो महतां सत्यापि छिद्रे व्यसने नित्यां क्रिया
न्नेवसीदति नापर्याप्ति । आङ्गपूर्वादितर्त्त्वाणोर्तेवा निष्ठायाम् ऋति धातौ वृद्धिः ।
मुचे: लदनुवन्धत्वादङ् । ‘कृषः श च । ३ । ३ । १०० ।’ रिङ्गियङ्गौ ॥ २४ ॥

आद्वास्त स मुहुः शूरान् मुहुराहृत राक्षसान् ।

एत सीताद्वृहः संख्ये, प्रत्ययथत राघवम् ॥ २५ ॥

१ ‘स्वान्तं हन्मावसं मनः ।’ इत्यमरः । २ शोक एवाभिरिति वा । ३ सन्ध्यो-
पासनादिरूपमित्यर्थः । ४ अत्रार्थान्तरन्यासः सामान्येन विशेषसमर्थनात्मा ।

आहास्तेत्यादि—पुनः पुनरभिभवितुं शूरानाहास्त आहूतवान् वथा
राक्षसानाहृत । पूर्ववद्विकल्पः । 'स्वर्धायामाडः । १ । ३ । ३१ ।' इत्यात्मने-
पदम् । कथमाहूतवानित्याह हे सीताद्वृहः सीताहिंसकाः शूरा राक्षसा वा
एत आगच्छत । आढपूर्वादिणो लोट । संख्ये संग्रामे । राघवं प्रत्यर्थं-
यत प्रत्यर्थिनं कुरुत । प्रत्यर्थिनशब्दात्तकरोतीत्यर्थं गिर्व । तदन्तालोटः
परस्मैपदम् । 'अर्थं याच्चायाम्' इत्यस्य तु स्वार्थीकण्यन्तस्य सर्वदाऽत्मनेष-
दित्वात् प्रत्यर्थयध्वभिति स्यात् ॥ २५ ॥

स्वपोषमपुषद्वृष्टमान् या पक्षिमृगशावकाः ।

अद्युत्तेन्दुना सार्वं तां प्रब्रूत गता यतः ॥ २६ ॥

स्वपोषमित्यादि—हे मृगपक्षिणां शावकाः पोताः या सीता युष्मान्
स्वपोषमपुषत् पुष्टवती । 'स्वे पुष. । ३ । ४ । ४० ।' इति णमुल् । 'यथा-
विद्यनुग्रयोगश्च । ३ । ४ । ४ ।' । 'पुषादित्युताद्युलदितः परस्मैपदेषु
। ३ । १ । ५५ ।' इत्यङ् । तां प्रब्रूत कथयत । यत्ते यत्र आद्यादित्वात्तसिः ।
गता सत्यशृतत् चोतते स्म । पूर्ववदङ् । इन्दुना सार्वम् । चन्द्रससा
तुल्यकान्तित्वात् ॥ २६ ॥

गिरिमन्वसृपद्रामो लिप्सुर्जनकसम्भवाम् ।

तस्मिन्नायोधनं वृत्तं लक्ष्मणायाशिषन्महत् ॥ २७ ॥

गिरिमित्यादि—गिरिमन्वसृपत् लक्ष्यीकृत्य गतः । लदित्वादङ् । किं-
मर्थं लब्धुमिच्छुः 'सनिमीमाघुरभलभशकपतपदामच इम् । ७ । ४ । ५४
इति इस्, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७ । ४ । ५८ ।' इत्यभ्यासङ्गोपः ।
'खरि च । ८ । ४ । ५५ ।' इति चत्वर्म् । जनकसम्भवाम् ।
सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः । 'ऋदोरप् । ३ । ३ । ५७ ।' ।
जनकः सम्भवो यस्यास्तमादा सम् भवो यस्यास्तां सीताम् । तस्मिन् गिरौ
आयोधनं युद्धं मंहदतिशयत्वात् वृत्तं लक्ष्मणायाशिषत्कथितवान् । क्रियायामि
चतुर्थी । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च । ३ । १ । ५६ ।' इत्यङ् । 'शास इदङ्गलोः
। ६ । ४ । ३४ ।' इतीत्वम् । 'शासिवसि । ८ । ३ । ६० ।' इत्यादिना षत्वम् ॥ २७ ॥

कथमकथयदित्याह—

१ 'मृघमास्कन्दनं सङ्ख्यम्' इत्यमरः ।

सीतां जिवांसु सौमित्रे ! राक्षसावारतां ध्रुवम् ।

इदं शोणितमध्यग्रं सर्पहरेऽच्युततयोः ॥ २८ ॥

सीतामित्यादि—इत्येवं लक्षणायाशिषदिति श्लोकचतुष्टयं यावत् सम्बद्धते । हे सौमित्रे सीतां हन्तुमिच्छन्तौ राक्षसावारतामागताविति ध्रुवं निश्चितम् । अतेऽराङ्गपूर्वात्पूर्ववदङ् । ‘ऋद्धशोऽडिं गुणः । ७।४।१६।’ इति गुणः । कीदृशौ सीतां जिवांसु हन्तुमिच्छ । हन्तेः सनि ‘अज्ञनगमां सनि । ६।४।१६।’ इति दीर्घः । ‘अभ्यासाच्च । ७।३।५५।’ इति कुत्वम् । तथा हि—तयोः सीताद्वेषानुनयाभ्यां संप्रहारे युद्धे इदं शोणितम् अच्युतत गलितम् । ‘च्युतिरक्षरणे’ । अकर्मकोऽत्र । ‘इरितो वा । ३।१५७।’ इत्यह । अभ्यग्रं प्रत्यग्रम् ॥ २८ ॥

इदं कवचमच्योतीत् साऽश्वोऽयं चूर्णितो रथः ।

एद्यमुं गिरिमन्वेष्टुमवगाहावहे द्रुतम् ॥ २९ ॥

इदमित्य दि—इदं कवचमच्योतीत् अष्टम् । अङ्गभावे सिजेव भवति । अवं रथः सौश्रूष्यचूर्णित आस्ते । यतश्चैवं तस्मादेहि आगच्छ द्रुतम् । किं पश्चाद्विलम्बसे । अमुं गिरिमवगाहावहे विलोडयावः । अन्वेषावहै इत्यर्थः । किमर्थम् अन्वेष्टुम् । सीतामित्यर्थात् । एतत्सर्वं पर्वतसमीपे कथ्यते ॥ २९ ॥

मन्युर्मन्ये ममा ऽस्तम्भीद् विषादो ऽस्तभदुद्यतिम् ।

अजारीदिव च प्रज्ञा बलं शोकात् तथाजरत् ॥ ३० ॥

मन्युरित्यादि—मन्युः शोकः । मन्ये सम्भावये मम क्रन्दतो रामस्य उच्छृतेनेत्रे इति शेषः । अस्तम्भीत् स्तब्धवान् । तथा विषाद् उद्यतिम् उद्यम-मित्यर्थः । अस्तभत् । अत्र पक्षे अनुनासिकलोपः । प्रज्ञा च तत्त्वविवेकिनी बुद्धिः अजारीत् विवेकवैकल्यात् । जीर्णेव । तथाशब्दः समुच्चये । बलं शोकादजरत् जीर्णम्, स्वकार्यांकरणात् । ‘ऋद्धशोऽडिं गुणः । ७।४।१६।’ इति गुणः । ‘जृस्तम्भुच्छुम्लुच्छुग्लुच्छ्यश्च । ३।१५८।’ इति सिजडौ ॥ ३० ॥

गृध्रस्येहाश्वतां पक्षी कृत्तौ वीक्षस्व लक्षणम् ।

जिघसोर्नूनमापादि ध्वंसोऽयं तां निशाचंगत् ॥ ३१ ॥

३ यथापि रथस्यैव चूर्णितम्भम्, न तु तदीयानाम् अश्वानाम्, अथापि ग्राधान्यादि-दमुक्तम् । एवं च ० रथश्चूर्णितोऽश्वा हताश्रेति वक्तव्यम् ।

गृघ्रत्येत्यादि—हे लक्ष्मण ! इह प्रदेशे गृघ्रस्य पक्षौ कृत्तौ छिन्नौ । अश्वतां शूनौ । पूर्ववदङ्कि ‘श्वयतेरः ।३।४।१८’ इति । वीक्षस्व नूनमवश्यं सीतां जिघत्सोरनुभिच्छोर्गैर्घस्य । अदेः ‘लुङ् सनोर्धस्ल ।२।४।३७’ निशाचरादयं ध्वंसः पक्षच्छेद आपादि उत्पन्नः । कर्तरि लुङ् । ‘चिण् ते पदः ।३।१।६०’ इति च्छेश्चिणादेशः । तशब्दस्य ‘चिणो लुङ् ।६।४।१०४’ ॥ ३१ ॥

कुद्धोऽदीपि रघुव्याघ्रो रक्तनेत्रोऽजनि क्षणात् ।

अबोधि दुःस्थं त्रैलोक्यं दीप्तैरापूरि भानुवत् ॥ ३२ ॥

कुद्ध इत्यादि—तदेवं रघुव्याघ्रो रामः कुद्धोऽदीपि दीप्तवान् । क्षणाच्च रक्तनेत्रोऽजनि जातः । ‘जनिवद्योश्च ।३।३।३५’ इति न वृद्धिः । त्रैलोक्यं निहन्मि यस्मिन् हन्यमाने सीतादुहोऽपि नश्यन्ति इत्यभिप्रायेण दुःस्थम-बोधि बुध्यते स्म । किंवा रामस्य दारा हियन्ते तदान्येषु का कथा, इति दुःस्थं त्रैलोक्यमबोधि । दीपैरत्तेजोभिर्हेतुभिरापूरि वर्धते स्म । भानुवदादित्य-वत् । दीपैरिति, भावे निष्ठा । सर्वत्र कर्तरि लुङ् । ‘दीपजनबुधपूरितायिप्यायिन्योऽन्यतरस्याम् ।३।१।६१’ इति चिण् ॥ ३२ ॥

अतायस्योत्तमं सत्त्वमप्यायि कृतकृत्यवत् ।

उपाचार्यष्ट सामर्थ्यं तस्य संरभिषणो महत् ॥ ३३ ॥

अतायीत्यादि—अस्य रामस्य उत्तमं सत्त्वमभिप्रायः शोकव्यसनयोरविकारित्वात् अतायि सन्ततं नान्तरा विच्छिद्यते स्मेत्यर्थः । अप्यायि बृहितम् । कृतकृत्यवत् समाप्तक्रियवत् । हस्ततलस्थं शत्रुवधं मन्यमानस्यास्य रामस्ये-त्यर्थः । उभयत्रापि पूर्ववाचिच्छण् । तस्य रामस्य संरभिषणः शत्रुविषये क्षुभितचित्तस्य सामर्थ्यं बलं महदुपाचार्यष्ट स्वयमेवोपचीयते स्म । वर्धते स्मेत्यर्थः । चिनोते: ‘अचः कर्मकर्तरि ।३।१।६२’ इति वा चिण् । पक्षे चिण्वादिद् ॥ ३३॥

अदोहीव विषादोऽस्य समरुद्धेद विक्रमः ।

समभावि च कोपैन न्यश्चसीचाऽऽयतं मुहुः ॥ ३४ ॥

अदोहीत्यादि—अस्य रामस्य विषादः प्रागुत्पन्नोऽदोहीव स्वयं क्षरित इव । अथवा अदोहीव प्रपूर्यते स्मेव । ‘दुहश्च ।३।१।६३’ इति णिच् । विक्रमः पुरुषकारः समरुद्धेव स्वयं संहृद्यते सम इव । ‘कर्मवत् कर्मणा तुल्य-

१ रघुश्रेष्ठ इत्यर्थः । ‘स्युरुच्चरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभक्तज्ञराः । सिंहशार्द्दलनागाद्याः युंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥’ इत्यमरः । २ ‘आवेशारोषसंसर्भाः’ इति त्रिकाण्डशेषः ।

३ ‘विक्रमस्त्ववतिशक्तिता ।’ इत्यमरः ।

क्रियः । ३।१।८७।' इति कर्मवद्वावेन प्राप्तस्य चिणः 'न रुधः । ३।१।६४।' इति निषेधः । तेन सिजेव भवति । 'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोऽः । 'झपस्तथोर्धोऽवः । ८।२।४०।' । झलां जश् झशि । ८।४।५३।' इति धत्वजश्वे । कोपेन च समभावे सम्भूतम् । 'चिण् भावकर्मणोः । ३।१।६६।' इति भावे चिण् । त्रैलोक्यदौःस्थ्यावबोधाज्ञातवेदः सन् आयतं दीर्घं न्यश्वसीत् निःश्वसितवान् । 'ह्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्वेदिताम् । ७।२।५।' इति वृद्धिर्न भवति । मुहुरिति सर्वत्र योज्यम् ॥ ३४ ॥ इति सिजिधिकारः ॥

अयाऽलम्ब्य धनू रामो जगर्ज गजविक्रमः ।

रुणधिम सवितुर्मार्गं भिनङ्गि कुलपर्वतान् ॥ ३५ ॥

इतः प्रभृति अम्प्रकरणमधिकृत्याह—

अथेत्यादि—अथानन्तरं गजस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य तादृशो रामो धनुरालम्ब्य गृहीत्वा जगर्ज विस्मूर्जितवान् । धनू राम इति 'हूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । ६।३।१।१।' इति दीर्घः । 'गर्ज गर्जने' । किं जगर्ज । सवितुः सूर्यस्य मार्गं पन्थानं रुणधिम आवृणोमि । शैररित्यर्थात् । 'हथादिभ्यः श्रम् । ३।१।७।८।' तथा भिनङ्गि विदारयामि कुलपर्वतान् ॥ ३५ ॥

रिणच्चिम जलधेस्तोयं विविनच्चिम दिवः सुरान् ।

क्षुणङ्गि सर्पान् पाताले छिनङ्गि क्षणदाचरान् ॥ ३६ ॥

रिणच्चिमीत्यादि—जलधेस्तोयं रिणच्चिम रिक्तीकरोमि । रिचिर् विरेचने । दिकः स्वर्गात् सुरान् विविनच्चिम पृथकरोमि । विचिर् पृथग्भावे ।' क्षु-
णङ्गि चूर्णयामि सर्पान् पाताले । 'क्षुद्विर् पेषणे ।' अटकुञ्चाङ्गुमल्य-
वायेऽपि । ८।४।२।' इति णत्वम् । छिनङ्गि क्षणदाचरान् राक्षसान्
द्विष्णा करोमि । 'छिदिर् द्वैघीकरणे' ॥ ३६ ॥

यमं युनजिम कालेन समिन्धानोऽख्कौशलम् ।

शुष्कपेषं पिनष्मुर्वीमस्विन्दानः स्वतेजसा ॥ ३७ ॥

यममित्यादि—यममपि कालन तदधीनेन मृत्युना युनजिम सम्बद्धामि ।
अख्कौशलं समिन्धानः संवर्धयन् । विहन्वी दीसौ ।' आत्मनेपदेनो लटः

१ महेन्द्रादीन् पर्वतानित्यर्थः । 'महेन्द्रो मलयः सहः शक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्द्यश्च पारियात्रश ससैते कुलपर्वताः ॥' इत्युक्तेः । २ क्षणदायां रात्रौ
चर्चन्तीति वान् ।

शानच् ।' आन्नलोपः । ६ । ४ । २३ ।' 'असोरल्लोपः । ६ । ४ । १११ ।' उवौ
षुथिवीम् शुप्कां कृत्वा चूर्णयामि । पिष्ठ संचूर्णने ।' शुप्कचूर्णहक्षेषु पिषः
। ३ । ५ । ३५ ।' इति णमूल । अखिन्दनः स्वतेजसा स्वैपराक्रमेण दैन्यम-
भजन् अपरिश्रान्यन् । 'लिद दैन्ये ।' पूर्ववलोपः ॥ ३७ ॥

भूर्तिं तृणद्वियक्षाणां हिनस्मीन्द्रस्य विक्रमम् ।

भनजिम सर्वमर्यादास्तनचिम व्योम विस्तृतम् ॥ ३८ ॥

भूतिमित्यादि—यक्षाणां भूर्ति सम्पदं तृणद्वियक्षाणां उत्सादयामि । 'उत्तृदिर्
हिंसाऽनादरयोः ।' इन्द्रस्य विक्रमं हिनस्मि अपनयामि । 'हिसि हिंसा-
याम् ।' 'इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ९८ ।' तस्य इनान्नलोपः । सर्व-
मर्यादाश्च व्यवस्थाः सर्वेषां भनजिम मर्दयामि । 'भजो आमर्दने ।' 'इना-
न्नलोपः । ६ । ४ । २३ ।' तनचिम व्योमेण विस्तृतं सङ्कोचयामि । 'स्तृच् आच्छाद-
नने' सौवादिकस्य रूपं न 'स्तृच् आच्छादने' इति कैवादिकस्य । तनचू
सङ्कोचने ।' 'इनान्नलोपः । ६ । ४ । २३ ।' ॥ ३८ ॥

कस्मादेवं प्रवृत्तस्त्वमिति चेदाह—

न तृणेहीति लोकोऽयं मां विन्ते निष्पराक्रमम् ।

एवं वदन् दाशरथिरपृणग् धनुषा शरम् ॥ ३९ ॥

न तृणेहीत्यादि—न तृणेहीन मारयामि इति कृत्वा । 'तद् हि सि
हिंसायाम् ।' इनम् । 'तृणह इम् । ७ । ३ । ९२ ।' अयं लोको मां नि-
ष्पराक्रमं निर्वीर्यं विन्ते विचारयति । 'विद विचारणे' इत्यस्मादात्मनेप-
दिनः इनम् । अलोपः । एवमुकेन प्रकारेण वदन् दाशरथः धनुषा शरम् ।
अपृणक् पृणक्ति स्म । संयोजयामासेत्यर्थः । 'पृ ची संपर्के ।' लङ्घ इनम् हल्डधा-
दिलोपः कुत्वम् ॥ इति इनम् विकरणनिर्दर्शनम् ॥ ३९ ॥

इतः प्रकीर्णकश्लोकानाह—

न्यवर्तयत् सुमित्रामूसं चिकीर्षु जगतक्षयम् ।

ऐक्षेतामाश्रमादाराद गिरिकल्पं पतत्रिगम् ॥ ४० ॥

न्यवर्तयदित्यादि—तं रामं जगतक्षयं चिकीर्षु कर्तुमिच्छुम् । सुमित्रामू-
लक्ष्मणो न्यवर्तयत् निवर्तितवान् । 'भ्रातः अलं कोपेन, त्वया सार्थकः

१ दसुधोर्वीं व सुन्वरा ।' इत्यमरः । २ 'तेजः प्रभोवे दीपौ च बले शुके'
इत्यमरः । ३ 'विभूतिर्भूतिर्वर्ष्यम्' । इत्यमरः । ४ व्योम आकाशमित्यर्थः ।
'व्योम पञ्चरम्यम्बरम् ।' इत्यमरः ।

संग्रामे युद्धं दातु समर्थः ? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः यदत्र युक्तं तत्प्रतिविधीयताम्^१ इति । भवनं भूः । ' सम्पदादिभ्यश्च' इति किप् । सुभित्राणां भूर्यस्य । ऐक्षेतां रामलक्ष्मणौ दृष्टवन्तौ । ' ईश दर्शनाङ्गनयोः' इत्यस्य लुङ्कं रूपम् । पश्चिं गिरिकल्पं महाप्रमाणत्वात् । आश्रमादारात् समीपे । 'दूरान्तिकार्थिः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । २ । ३ । ३४ ।' इति पञ्चमी ॥ ४० ॥

तं सीताधातिन मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत ।

मा विष्णा जटायुं मां सीतां रामाऽहमैक्षिषि ॥ ४१ ॥

तमित्यादि—तं सीताधार्तिन सीता हताऽनेनेति मत्वा रामो हनिष्यामीत्यभ्यधावत । 'धावु गति-शुद्धयोः' इत्यस्माङ्गिं स्वरितेत्वादात्मनेपदम् । तं हन्तुमुद्यतं रामं जटायुराह मा विष्णा इति । 'हे राम मां जटायुं मां विष्णा मा वधीः' । 'बध बन्धने' इत्यस्मादनेकार्थत्वादात्मनेपदिनः सेटो लुङ्कं रूपं, न हन्ते: तस्य परमैपदित्वान् । सस्यज्याङ्गि 'आङ्गो यमहनः । १।३।२८।' इत्यात्मनेपदं न भवति, तत्राकर्मकादित्यनुवृत्तेः । स्वनामपरिकीर्तनं तत्र पितुरहं सखेति रूपापनार्थम् । सीतामैक्षिषि दृष्टवानहम् । लुङ्कत्तमैकवचने रूपम् । अतो मां मा विष्णाः ॥ ४१ ॥

अथ सार्थेनान्वयः—

उपास्थितैवमुक्ते तं सखायं राघवः पितुः ।

पग्रच्छ जानकीवार्ता संग्रामं च पतात्रिणम् ।

ततो रावणमारुयाय द्विषन्तं पततां वरः ॥ ४२ ॥

उपास्थितेत्यादि—पश्चिणवमुक्ते सति राघवस्तं ब्रणभङ्गाद्यनुष्ठानेन उपास्थित परिचरितवान् । सङ्गतकरणे आत्मनेपदम् । स्थाध्वोरिच्च । १ । २ । १७ ।' इतीत्वम् । 'ह्वस्वादङ्गात् । ८ । २ । २७ ।' इति सिचो लोपः । पितुः सखायमिति सखिशब्दस्य द्वितीयैकवचने रूपम् । 'सख्युरसम्बुद्धौ । ७ । १।९२। इति पित्वाद् वृद्धिरायादेशः । पग्रच्छ पृष्ठवान् तं पश्चिणं जटायुम् । किं जानकीवार्ता संग्रामं च । तत उपस्थानानन्तरं रावणं द्विषन्तं शत्रुम् 'द्विषो-

१ 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । २ सीताहन्तारामित्यर्थः । ३ मित्रम् ।
‘अथ मित्रं सखा सुहृत्’ इत्यमरः ।

अमित्रे । ३२।१३१' इति शतप्रत्ययः । आख्याय सीता रावणेन हतोति कथयित्वा । पततां पक्षिणां वरो जटायुर्मरेति परेणान्वयः ॥ ४२ ॥

त्रणवेदनया ग्लायन्ममार गिरिकन्दरे ।

तस्याश्यम्बुक्रियां कृत्वा प्रतस्थाते पुनर्बनम् ॥ ४३ ॥

ब्रणेत्यादि—त्रणकृता वेदना पीडा । मध्यमपदलौपी समासः । तथा ग्लायन् ग्लानिं गच्छन् । शतर्यायादेशः । ममार मृतः । क गिरिकन्दरे यं गिरिमन्वसुपत् तस्य निन्नप्रदेशे । कन्दं रातीति कं दारयतीति वा व्युत्पत्तिमात्रम् । तस्य जटायोरन्यम्बुक्रियां दाहमुदकदानं च कृत्वा पुनर्भूयो वनमरणं प्रतस्थाते प्रस्थितौ । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १३।२२' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४३ ॥

सत्त्वानजस्य घोरेण बलाऽपकर्षमश्रता ।

क्षुद्धयता जगृहाते तौ रक्षसा दीर्घवाहुना ॥ ४४ ॥

सत्त्वानित्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ रक्षसा राक्षसेन जगृहाते गृहीतौ । कर्मणि लिट् । किंनान्ना दीर्घवाहुना । अन्वर्था चेयं सञ्ज्ञा । एक एकेन बाहुना द्वितीयो द्वितीयेनेति । क्षुद्धयता बुभुक्षमाणेन घोरेण भीमेन । सत्त्वान् प्राणिनः अजस्यं सदा । नव्यपूर्वाङ्गसः 'नमिकम्पिस्म्यजसकहिंसदीपोरः । ३।२।१६७' इति रः । अश्रुता सुञ्चानेन । किं कृत्वा बलापकर्ष बल । दाकृष्येव पाकादिकमनपेद्य । 'अपादाने परीप्सायाम् । ३।४।५२' इति णमुल ॥ ४४ ॥

भुजौ चकृततुस्तस्य निर्खिंशाभ्यां रघूत्तमौ ।

स च्छिन्नबाहुरपतद्विह्लो ह्लयन्भुवम् ॥ ४५ ॥

(इत्येते प्रकीर्णकाः इलोकाः) ।

भुजावित्यादि—रघूत्तमौ रामलक्ष्मणौ तस्य योजनबाहोः बाहू यथास्थानमागतौ चकृतवतुः च्छिन्नवन्तौ । 'कृती छेदेने' । इत्यस्य रूपम् । काभ्यां निर्खिंशाभ्यां खङ्गाभ्याम् । निर्गतं निर्खिंशतोऽङ्गुलिभ्य इति वाक्ये 'डच्चप्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसङ्घयानम्' इति त्रिशच्छब्दाङ्गुजिविधिः । 'निरादयः क्रान्ता द्यर्थं पञ्चम्या' इति समासः । टिलोपः । स छिन्नबाहुः कृत्तमुजः सन् अपतत्

१ पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्रत्वाण्डजाः ।' इत्यमरः । २ शाकपार्थिवादेत्वादिति शेषः । ३ अजस्यं निरन्तरमित्यर्थः । 'अजस्तानारताश्रान्तः' इत्यमरः ।

४ 'खङ्गे तु निर्खिंशचन्द्रहासासिरिष्यः ।' इत्यमरः ।

पतितः पतेलिं रूपम् । विहळो व्याकुलः भुवं भूमि ह्लयन् । ‘ह्ल चलने’ ।
‘घटादित्वे हस्तवत्वम् ॥ ४५ ॥ इति प्रकीर्णकाः ॥

इतः परं कृत्याधिकारः—

प्रष्टव्यं पृच्छतस्तस्य कथनीयमवीचत् ।

आत्मानं वनवासं च जेयं चाऽरिं रघुत्तमः ॥ ४६ ॥

प्रष्टव्यमित्यादि—स योजनवाहुः निहतो रामं पप्रच्छु ‘को भवान्’ कस्य
पुत्रः, कथं तव वनवासः, कस्माच्चोद्दिमः सन् भ्रमासे’ इति । प्रष्टव्यं प्रश्नार्हं
पृच्छतस्तस्य ‘तव्यत्तव्यानीयरः ३।१९६’ इति तत्त्वत् । ‘ब्रश्शश्रस्त्वं सूजमूजयज-
राजभ्राजच्छशां षः । ४।२।३६’ इति षष्ठ्यम् । षुत्वं च । रघुत्तमस्तदानीमि । कथ-
नीयं कथनार्हं प्रश्नानुरूपम् । ‘तव्यत्तव्यानीयरः ३।१९६’ इत्यनीयर् । अवी-
वचद्वक्ति स्म । वच भाषणे ।’ चौरादिकः । स्वार्थिको णिच्च लुङ् चङ् । णि-
लोपः हस्तः । द्विर्वचनसन्वद्धावेत्वदीर्घत्वानि । किं तदित्याह—आत्मानैः अहं
रामो दाशरथिरिति । वनवासं पितुरादेशात् वनवासः इति । जेयं जेतव्यं
चारिं यः कनकमृगच्छलेन सुवर्णकारस्य मृगरूपधारिणो मारीचस्य व्याजे-
नेत्यर्थः । रावणः सीतामप्नृतवानिति ॥ ४६ ॥

लभ्या कथं नु वैदेही, शक्यो द्रष्टुं कथं रिपुः ।

सहाः कथं वियोगश्च गद्यमेतत्त्वया मम ॥ ४७ ॥

लभ्येत्यादि—कथं केन प्रकारेण उपायेन लभ्या वैदेही ग्राप्या लब्ध्युं शक्ये-
त्यर्थः । ‘पोरदुपधात् । ३।१९८’ इति यत् । रिपुः शत्रुः कथं केन प्रकारेण द्रष्टुं
शक्यः ‘शक्वृषज्ञागलावटरभलभक्रमसहार्दास्त्यर्थेषु तुमुन् । ३।४।६५’ इति तुमुन्
वियोगश्चार्यं सीतायाः कथं केन प्रकारेण सहाः सोढव्यः ‘शकिसहोश्च । ३।१९९’
इति यत् । गद्यमेतत् कथनीयमेतत् । ‘गद्मदचर्यमश्चानुरासर्गे । ३।१।१००’
इति यत् । ममेतिविवक्षायां षष्ठी ॥ ४७ ॥

त्वं पुनः कः इति पृष्ठ आह—

अहं राम ! श्रियः पुत्रो मद्यपीत इव भ्रमन् ।

पापचर्यो मुनेः शापाज्जात इत्यवदत्स तम् ॥ ४८ ॥

अद्वित्यादि—हे राम अहं श्रियः पुत्रः मद्यपीतं इव । ‘वाहिताग्न्यादि-
तु । २।२।३७’ इति निष्ठान्तस्य परनिपातः । कार्यकार्यविवेकाभावात्पाप-

१ चालयश्चित्यर्थः । २ योजनायत्तमुज्ज इति भावः । ३ आत्मानं स्वामित्यर्थः ।
४ शीर्ँ मर्त्यं खेनांति तयोक्तः ।

चर्यैर्यो राक्षसः सुनेः स्थूलशिरसैः शापाज्ञात उत्पन्नः । माद्यत्यनेनेति मद्यम् ।
चरितव्यमिति चर्यमैतौ पूर्ववद्यत्ययान्तौ । पापं चर्ये यस्येत्यवदत् स योजन-
बाहुः तं रामम् । वाक्यार्थोऽत्र कर्म ॥ ४८ ॥

प्रयातस्तव यम्यत्वं शस्त्रपूतो ब्रवीमि ते ।
रावणेन हृता सीता लङ्घां नीता सुरारिणा ॥ ४९ ॥

प्रयात इत्यादि—इदानीं तव यम्यत्वं वशत्वं प्रयातः । यमेः पूर्ववत् यत् । शस्त्र-
पूतस्तव शखेण पावितः सन् ब्रवीमि ते तुभ्यं कथयामि । युष्मदश्चतुर्भ्ये-
कवचनस्य ‘तेमयोवेकवचनस्य ।८।१२२।’ इति ते आदेशः । ‘क्रियाऽर्थोप-
पदस्य च कर्मणि स्थानिनः २।६।१४।’ क्रियायागे चतुर्थी । कथनीयमाह—
रावणेन सुरारिणा देवशकुणा हृता सीता लङ्घां नीता प्रापिता ॥ ४९ ॥
वैदेही प्राप्या कथमिति यमुपायं पृष्ठवान् तं कथयन्नाह—

ऋष्यमूकेऽनवद्योऽस्ति पण्यञ्चातृवधः कपिः ।
सुग्रीवो नाम वर्णोऽसौ भवता चारुविक्रमः ॥ ५० ॥

ऋष्यकमूक इत्यादि—ऋष्यमूके पर्वते सुग्रीवो नाम कपिः चारुविक्रमोः
महापराक्रमोऽस्ति । चारुः शोभनः प्रशंसनीय ईत्यर्थः । विक्रमः महस्वेन यस्य
सः असौ भवता वर्णो वरणीयः प्रार्थनीयः ‘वर ईप्सायांप्’ इति चौरादिकात्स्वा-
र्थिकण्यन्तात् ‘अचो यत् ।३।१९७।’ इतियत् । यद्वा ‘अवद्यपण्यवर्च्या गर्हणाणि-
तव्यानिरोधेषु । ३ । १ । १०१।’ इत्यत्र वृडो वर्येति खियामनिरोधे अप्रति-
वन्धे निपातितव्यात् । सततप्रवर्तिनी आनेरोऽव्या वर्या प्रीतिर्यस्येति ‘अर्शआदि-
भ्योऽच् ५।२।११७।’ इत्यत्र स च भवता सह वर्यः प्रीतिमान् समानव्यसनत्वात्
यतः पण्यञ्चातृवधः सः पण्यो विक्रेतव्यो भ्रातुर्बलिनो वधो येन । यदि सीताम-
न्वेद्यसि तदा वालिनमहं हनिष्यामीति, वालिनं यदि हनिष्यसि तदा सीता-
न्वेद्यामीति वाचा विहिताभिसन्धिः । यदेवं तदा कथं मया पापीयान् वर्य
इत्यत आह—अनवद्यः अर्ग्हणीयः । दारापहारित्वेन आतायिनो भ्रातुर्बधेन
निर्दोषत्वादिति भावः ॥ ५० ॥

१ पापवर्यः पापकारी । २ स्थूलं शिरो यस्येति, तत एव तथा रुद्यातस्य ।
३ नावर्थं-गर्हा, दोषो वा, यस्य तादृश इतीदिमुक्तम् । ‘कुपूयकुत्सितावच्छेद-
गर्हणकाः समाः ।’ इत्यमरः ।

तेन वह्येन हन्तासि त्वमर्थं पुरुषाऽशिनाम् ।
राक्षसं क्रूरकर्माणं शकाऽर्दि दूरवासिनम् ॥ ५१ ॥

तेनेत्यादि—तेन सुधीवेण त्वं राक्षसं हन्तासि निहनिष्यसि । वह्येन वह्यमिप्रेतमनेनेति, ‘वह्यं करणम् । ३ । १ । १०२ ।’ इति यत् । कीदैश्चर्मर्थं स्वामिनम् । पुरुषाशिनां राक्षसानाम् । ‘अर्थः स्वामिवैश्ययोः । ३ । १ । १०३ ।’ इति यन्निपात्यते । क्रूरकर्माणं पापाचारं शकार्दि रावणम् । यद्येवम-हमेव हन्तुं समर्थं इत्यभिप्रायेणाह—दूरवासिनं समुद्रान्तरितवासित्वात् एका-किना हन्तुं न शक्यत इति भावः ॥ ५१ ॥

यद्यनवद्यस्तदा कथमस्य पण्यो भ्रातृवय इत्याह—

आस्ते स्मरन् स कान्ताया हृताया वालिना कपिः ।
बृषो यथोपसर्याया गोष्ठे गोर्दण्डताङ्गितः ॥ ५२ ॥

आस्ते इत्यादि—वालिना हृतायाः कान्तायाः स्मरन्नास्ते कोऽन्यः सम्भ-
वेत् यस्तं हत्वा त्वया मां योक्ष्यते, ‘अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।’
इति कर्मणि षष्ठी । कस्येव बृषो यथा उपसर्याया आसन्नगर्भकालायाः गोः स्मरन्
गोष्ठे आस्ते । ‘उपशर्यां काल्या प्रजने । ३ । १ । १०४ ।’ इति निपातितम् ।
दण्डताङ्गितः सन् दण्डस्थानीयोऽन्न वाली ॥ ५२ ॥

तेन सङ्घतमार्येण रामाऽजर्यं कुरु द्रुतम् ।

लङ्घां प्राप्य ततः पापं देशग्रीवं हनिष्यसि ॥ ५३ ॥

तेनेत्यादि—हे राम तेन वानेरेण हनुमतेत्यर्थः संगतं सख्यं अजयम् अनपा-
पम् । न जर्थित इत्यमिन् वाक्ये‘अजर्यं संगतम् । ३ । १ । १०५ ।’ इति निपातितम् ।
आदौ विशेष्यत्वेनोपात्तं संगतं तद्विशेषणमजर्यं कुरु द्रुतं यावत्तस्यानेन युष्म-
द्विधेन संगतं न भवति । आर्येण सदाचारेण पापप्रधानत्वात् ‘ऋहलोर्यत् । ३ । १ ।
१२४ ।’ ततः सङ्घंतात् लङ्घां प्राप्य गत्वा पापं पापीयांसं रावणं हनिष्यसि ॥ ५३ ॥
ननु यावत्कार्यं न सिद्ध्यति तावत्संगतं गच्छति कृतकृत्यस्तु नैवेद्यत आह-

अनृतोद्यं न तत्रांस्ति सत्यवद्यं ब्रवीम्यहम् ।

मित्रभूयं गतस्तस्य रिपुहत्यां करिष्यसि ॥ ५४ ॥

१ अतएव ‘त्यादर्थः स्वामिवैश्ययोः ।’ इत्यमरः सङ्घच्छते । २ कूरं प्रधानं
कर्म यस्य तम्, निर्देशत्वं हि पापमूलमिति तथोक्तम् । ३ हननाम्न्या इति शेषः ।

अनृतोद्यमित्यादि—सत्यमुद्यत इति कर्मणि यत् । अहं सत्यं वचो ब्रवी-
मीत्यर्थः, अनृतोद्यं तत्र सुग्रीवे नास्ति अनृतमसत्यं उद्यं वचनं अनृतोद्यम् ।
भावे क्यप् । यजादित्वात्संप्रसारणम् । उभयत्रापि ‘वदः सुषि क्यप् च । ३।१
१०६।’ इति चकारादृत् । यस्मादेवं तस्मान्मित्रभूयं मित्रभावं गतः । ‘‘सुवो
भावे ॥३।१०७।’ इति क्यपूँ । रिपुहत्यां शत्रुवधमित्यर्थः। करिष्यसि, ‘हनस्त च
॥३।१।१०८।’ इति क्यप् तकारश्चान्तादेशः ॥ ५४ ॥

आहृत्यस्तेन वृत्येन स्तुत्यो जुष्येण संगतः ।
इत्यः शिष्येण गरुदद्वृद्ध्यमर्थमवाप्स्यसि ॥ ५५ ॥

आहृत्य इत्यादि—तेन सङ्गतः सन् गृद्यमभिलषणीयमवाप्स्यसि ।
‘ऋदुपधाच्चाक्षूपि चृतेः ॥३।१ । ११०।’ इति क्यप् । कीदृशः कीदृशेनेत्याह-
आदृत्यः आदरणीयः । वृत्येन वरणीयेन स्तुत्यः स्तवाहः । जुष्येण सेव्येन
जुषीप्रीतिसेवनयोः हनूमतप्रभृतनाम् । क इव शिष्येण गुरुरिव यथोपाध्यायः
शिष्येण शासनीयेन इत्यः अनुगम्यस्तद्विदिति । एतिस्तुशास्वद्वजुषः क्यप् । ३।
१। १०९।’ इति क्यप् । ‘हस्तस्य पिति कृति तुक्षद्वा ॥३।७।’ इति ॥ ५५ ॥

नाखेयः सागरोऽप्यन्यस्तस्य सद्भृत्यशालिनः ।
मन्युस्तस्य त्वया मार्गयो मृज्यः शोकश्च तेन ते ॥ ५६ ॥

नाखेय इत्यादि—तस्य सुग्रीवस्य ‘सद्भृत्यशालिनः हनूमदादिभृत्ययुक्त्या
भृत्योऽसंज्ञायाम् । ३।१। ११२।’ इति क्यप् । अन्यो द्वितीयः सागरो
अपि नाखेयो न खननीयः अपि तु खननीय एव । अपिशब्दः सम्भावनौयाम्
तस्य कारणं सद्भृत्यशालित्वम् । ‘ईच खनः ॥३।१।११।’ इति क्यबीकारौ ।
तस्य मन्युस्तवया मार्गयोऽपनेयः । ते तव तेन च शोको मृज्यः ‘मृजेर्विभाषा
॥३।१।११३।’ इति यद्विकल्पे एष्टत् ॥ ५६ ॥

स राजसूययाजीव तेजसा सूर्यसन्निभः ।
अपृष्ठोद्यं वदन् रुच्यो जगाहे द्यां निशाचरः ॥ ५७ ॥

स इत्यादि—स निशाचरो द्यामाकाशं जगाहे गतः राजसूययाजीव ।
राजा सूर्यते राजा वा अनेन सूत इति राजसूयः क्रतुः । तेनेष्टवान् स राज-
सूययाजी । ‘करणे यजः ॥३।१।८५।’ इति णिनिः । रुच्यः

१ अत्रोपमा । २ ‘शङ्कासम्भावनास्वीपि ।’ इत्यमरः ।

प्रियो जागे रामस्येत्यर्थात् । ‘राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यध्याः । ३।१।१४।’ इति क्यवन्ना राजसूयादयः ॥ ५७ ॥

अकृष्टपच्याः पश्यन्तौ ततो दाशरथी लताः ।

रनाऽन्नपानकुप्यानामाद्युर्नष्टसंस्मृती ॥ ५८ ॥

अकृष्टपच्या इत्यादि—ततो निशाचरगमनानन्तरं दाशरथीं रामलक्ष्मणावाटतुर्गतवन्तौ । कीदृशौ । नष्टा संस्मृतिः योः । केषां संस्मृतिः रत्नान्नपानकुप्यानाम् । रत्नान्नपानानि प्रसिद्धानि । कुप्यं स्वर्णरजताभ्यामन्यत् वस्तु तन् ‘र्यात् कोशश्च हिरण्यं च हेमरूपे कृताकृते । ताभ्यां यदन्यन् तत् कुप्यम् ।’ इत्यमरः संज्ञायां क्यप् । गुपेरादेः गकारस्य ककारः । कर्मणी षष्ठी लताः पश्यन्तौ । कृष्टे पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः । पूर्ववत् क्यप् । पश्चान्नब्रह्ममासः । स्वयमेव पच्यन्ते यास्ता इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

समुत्तरन्तावव्यथ्यौ नदान् भिद्योद्धृत्यसन्निभान् ।

सिद्ध्यतारामिव ख्यातां शबरीमापतुर्वने ॥ ५९ ॥

समुत्तरन्तावित्यादि—तौ तस्मिन् वने शबरीमापतुः शबरीनाश्रीमित्यर्थः । प्राप्तवन्तौ । अव्यध्यौ न व्यथेते इति पूर्ववत् क्यप् । पारिश्रमवर्जितावित्यर्थः । नदान् समुत्तरन्तौ । कीदृशान् भिद्योद्धृत्यसन्निभान् । भिद्योद्धृथौ नदविशेषौ । ‘भिद्योद्धृथौ । ३।१।१५।’ इति पूर्ववत् निपातितम् । भिनत्ति कलमिति भिद्यः । उज्ज्ञात्युद्धकमिति उद्धवः । ‘उज्ज्ञ उत्सर्गं’ । दकारात्परस्य धकारो निपात्यते । उत्सर्गशान् नदान् । सिद्ध्यतारामिव ख्याताम् । सिद्ध्यन्त्यस्मिन्निति सिद्ध्यः । ‘पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे । ३।१।१६।’ इति निपातनात् । पुष्याख्यां तारामिव ख्यातां शबरीम् ॥ ५९ ॥

वसानां वल्कले शुद्धे विपूर्यैः कृतमेखलाम् ।

क्षामामञ्जनपिण्डाऽऽभां दण्डिनीमजिनाऽऽस्तराम् ॥ ६० ॥

वसानामित्यादि—वसानां पारिदधानां वस्कले त्वचौ । विपूर्यैर्मुञ्जैः कृतमेखलां कृतकटिसूत्राम् । यद्यपि विपूर्वस्य पवतेः । ‘विपूर्यविनीयजित्यामुञ्जकलकहलिषु । ३।१।१७।’ इति मुञ्जे निपातितं, तथोपि मुञ्जानामनुपहतत्वं ज्ञापयितुं विपूर्यैरिति विशेषणं, पवित्रैरित्यर्थः । मुञ्जशब्दस्तदानीं ज्ञापान्यमाह । विपूर्यैरित्युके मुञ्जैरित्युपादानमनर्थकम् । एवं कृत्वा पाठा-

१ उत्सर्गस्त्यागः । २ ‘सर्वसिद्धिकरः पुर्यः’ इति दैवज्ञेऽकः

न्तरमुच्यते वसानां वल्कले शुद्धे विष्णौर्यैरिति । क्षामां कृशाम् ॥
१०२०५३॥ इति निष्ठामत्वम् । अञ्जनफिण्डस्येवाभा यस्या अस्तीति तां
कृष्णाम् । दण्डिनीं गृहीतदण्डाम् । आस्तीर्यत इति आस्तरः ‘ऋदोरप् ॥३॥३॥
५७॥’ अजिनेमास्तर उत्तरासङ्गो यस्यास्तामजिनास्तराम् ॥ ६० ॥

प्रगृह्यपदवत् साध्वीं स्पष्टरूपामविक्रियाम् ।

अगृह्यां वीतकामत्वादेवगृह्यामनिन्दिताम् ॥ ६१ ॥

प्रगृह्यत्यादि—अविक्रियामजातविकाराम् अत एव स्पष्टरूपाम् । एवं च
साध्वीं साधुचरिताम् । किमिव प्रगृह्यपदवत् । यस्य पदस्य प्रगृह्यसंज्ञा तत् पदं
प्रगृह्यम् । ‘प्रत्यपिभ्यां प्रहेः ॥३॥१११८॥’ इत्यनुवृत्तौ ‘पदास्वैरिबाह्यापक्षेषु च
॥३॥१११९॥’ इति प्रपूर्वाद् प्रहेः पदेऽभिव्यये क्यप् । यथा तत्पदमविकाररूप-
त्वात् स्पष्टं साधु च । ‘प्लुतप्रगृह्या अविनित्यम् ॥६॥११२५॥’ इति प्रकृतिभावेन
स्वरसन्ध्यभावादित्यर्थः । कथमजातविविक्रियेति चेदाह—अगृह्यां प्रहेरस्त्रैरविव-
षये क्यप् । गृह्या अस्वैरिणी अस्वतन्त्रा न भवतीत्यगृह्या । कस्मात् वीतकाम-
त्वात् । वीतरगगा हि स्वतन्त्रा भवन्ति । देवगृह्यामपक्षाम् । पक्षविषये क्यप्
एवं चानिन्दितामर्गाहिताम् ॥ ६१ ॥

धर्मकृत्यरतां नित्यमवृष्ट्यफलभोजनाम् ।

दृष्टा ताममुच्द्रामो युग्याऽयात इव श्रमम् ॥ ६२ ॥

धमकृत्यरतामित्यादि—धर्मकृत्यरतां पवित्रकर्मचरण एव परायणाम् ।
धर्मकृत्ये धर्मवर्धके कर्मणि रता ताम् । नित्यं निरन्तरमिति भावः । अवृष्ट्य-
फलभोजनाम् । अवृष्ट्याणीन्द्रियाविकारनिमित्तानि फलानि भोजनं यस्याः ।
ताम् । तपश्चयेचित्तभोजनकारिणीमितिभावः । ‘विभाषा कृवृषोः॥३॥१२०॥’ इति
क्यप् । दृष्टा तां तथाविधाम् । श्रममुच्चत् मुक्तवान् । तदर्शनाह्वादितत्वात् ।
युग्यायात इवं वाहनं प्राप्त इव क्यप् । ‘युर्यं च पैत्रे॥३॥१२१॥’ इति
निपातितम् ॥ ६२ ॥

१ ‘अजिनं चर्मेत्यर्थः । ‘अजिनं चर्मं कृतिः स्त्री’ इत्यमरः । २ यथा
बहिः तथाऽन्तरात्मन्यपि शुद्धामिति भावः । अन्यथा तु स्वरूपज्ञानासम्भव एव ।
३ युर्यं वाहनम् आयातः प्राप्त इति तथोक्त इव । अत एवाह वाहन-
मित्यादि । ‘इवेन समासो विभक्त्यश्लोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च’ इति
समाप्तः । ४ ‘सर्वे स्याद्वाहनं यानं युर्यं पत्रं च धोरणम्’ इत्यमरः ।

स तामृचेऽथ कच्चित् त्वममावास्यासमन्वये ।

पितृणां कुरुषे कार्यमपावैः स्वादुभिः फलैः ॥ ६३ ॥

स इत्यादि—अथानन्तरं ख्यक्तश्रमः स रामः तां शबरीमूचे उक्तवान् ।
कचित्तर्वं किं त्वं पितृणां कुरुषे कार्यम् । क्यवभावपक्षे ‘कहलोर्णय्त् ॥३॥१२४॥’
॥३॥१२५॥ कदा अमावास्यासमन्वये अमावास्यायाः सम्प्राप्तौ अमावास्या-
यैभित्यर्थः । ‘अमावस्यदन्यतरस्याम् ॥३॥१२२॥’ इति निपातनम् । तत्र
हि अमाशव्दे उपपदे वसेव्यतोरमा सह वसतो यस्मिन्काले सूर्याचन्द्रमसौ
इति कालेऽधिकरणे प्यत् । तस्मिन्नन्यतरस्यां वृद्ध्यभावः । कैः फलैः ।
स्वादुभिः स्मृष्टैः । अपचनीयैः अनुपहतत्वात् ‘कहलोर्णय्त् ॥३॥१२४॥’ ॥६३॥

अवड्यपाव्यं पवसे कञ्चित् त्वं देवभाग्यविः ।

आसाव्यमध्वरे सोमं द्विजैः कवचिन्मस्यासि ॥ ६४ ॥

अवश्यपाव्यमित्यगदि—देवभाक् देवान् भजत इति ‘भजो धिः १३।१६३।’ तद्विः कच्चित् किं पवसे पवित्रोकरोषि मन्त्रादिनौ । ‘झयो हो-उन्यतरस्याम् । १४।६२।’ इति हकारस्य पूर्वसर्वणः । ‘पूङ् पवने’ इति भौवादिकः । कीदृशमपश्यपाव्यमवश्यम्भौवेन पावयितव्यमित्यर्थः । ‘ओराव-इयके । ३।१।१२५।’ इति प्यत् । ‘मयूरव्यंसकादयश्चर । १।७२।’ इति समासः । ‘लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तु काममन्तसोरापि’ इति मकारलोपः । सोममोषेधिवि-शेषम् । आसाव्यमभिषवार्हम् । आङ् प्रूर्वात्सुनोतेः ‘आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च । ३।१।१२६।’ इति प्यत् । अध्वरे यज्ञे द्विजैः सह कठिचन्त्वं नमस्यसि नमस्करोषि ॥ ६४ ॥

आचाम्य सन्धययोः कञ्चित् सम्यक् ते न प्रहीयते ।

कच्चदग्धिमिवानाद्यं काले सम्मन्यसेऽतिथिम् ॥ ६५ ॥

आचाम्यमित्यादि—प्रभौतपराहे च सन्ध्ययोर्यदाचाम्यमुपस्पर्शनम् ।
पूर्ववर्त् ष्यत् । कच्चित्सम्यक् यथावत्तव तत्र न प्रहीयते न तस्य हातिर्भवति ।

१ 'कथित्कामप्रवेदने ।' इत्यमरोक्तयऽस्मिभतार्थप्रदनार्थकमिदमव्ययम् ।
 २ अद्रामावस्थेतिपदं आद्यार्थहकालोपलक्षणम् । ३ यथार्विधि कथित्क्रचनमपि
 कुरुष्ट इति भावः । ४ आवश्यकत्वं तापसाश्रमाहृत्वात् । ५ 'इयं कारिका 'पूषो-
 दरादीनि यथोपदिष्टम् ६ । ३ । १०३ ' इति व्याख्यायां इत्यते । 'यज्ञःसदो-
 दध्वरो यागः' इत्यमरः । ६ ब्राह्मणैरित्यर्थः । 'दन्तविप्राणदजा द्विजाः' इत्यमरः ।
 ७ अत्र 'नमोविरिवश्चिवडः क्यच् ३ । १ । १९' इति क्यच् । ८ 'ओरावश्यके ते ११।
 १२२४ इत्यवेचेवत्यर्थः ।

काले आतिथ्योचिते काले कच्चित् अतिरीं संभन्यसे पूजयसि । अग्निमि-
वानाच्यम् यथा अग्निम् आनाच्यम् । दक्षिणाग्निं मन्यसे तद्वत् । ‘आनाच्यो
नित्ये । ३।१।२७।’ इति नयतेराङ्गपूर्वस्य ष्णदायादेशौ निपातयेते ॥ ६५ ॥

न प्रणाययो जनः कञ्चिन् निकायं तेऽवितिष्ठति ।

देवकार्यविधाताय धर्मद्रोही महोदये ! ॥ ६६ ॥

न प्रणायय इत्यादि—महानुदयः स्वर्गपवर्गाणां यस्याः सा तथा हे महो-
ये देवकार्यविधाताय देवकार्यं विहनिष्यामीति । ‘भाववचनाच्च । ३।३।११।’
ति भविष्यति वृश्च । ‘तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५।’ इति चतुर्थी ।
णाच्योऽसंमतो जनः । ‘प्रणाययोऽसंमतौ । ३।१।२८।’ इति निपातितम् ।
अच्चित् निकौच्यं गृहं ते तव नाधितिष्ठति नाधिवसति । ‘पाञ्चसात्राच्य-
रकाच्यधाच्यया मानहविनिवाससामिधेनीषु । ३।१।२९।’ इति निवासे चिनोते-
पूर्वात् ष्णदायादेशौ आदेः कुत्वं च । ‘अधिशीङ्गस्थाऽसां कर्म । १।४।४६।’
ति कर्मसंज्ञा । धर्मद्रोही धर्मद्रोहशीलः ॥ ६६ ॥

कुण्डपाच्यवतां कच्चिदग्निचित्यावतां तथा ।

कथाभी रमसे नित्यमुपचाच्यवतां शुभे ! ॥ ६७ ॥

कुण्डपाच्यवतामित्यादि—कुण्डेन पीयते उत्र क्रतौ कुण्डपाच्यः क्रतुः ।
क्रतौ कुण्डपाच्यसंचाच्यौ । ३।१।१३०।’ इति निपातितम् । कच्चित्कथाभी
मसे । ‘द्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽङ्गः । ३।१।११।’ इति दीर्घः । तथाग्निचित्यावताम्
गाहिताग्निकानां कथाभी रमसे । ‘चित्यग्निचित्ये च । ३।१।१३२।’ इति
तेपात्यते । अग्निचयनमग्निचित्या । भावे क्यप् तुक् च । तद्वतां तथोपचाच्यवतां
पचीयते इत्युपचाच्योऽग्निः । ‘अग्नौ परिचाच्युपचाच्यसमूहयाः । ३।१।१३१।’
ति निपातितः । उपपूर्वाच्चिवनांतेष्णदायादेशौ । तद्वतां कथाभी रमसे शुभे
इत्याणि ॥ ६७ ॥

इति कृत्याधिकारः ॥

१ ‘यो गार्हपत्यदानीये दक्षिणाग्निः प्रणीयते । तस्मिन्नानाच्यः’ इत्यमरः ।
२ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६ । ३ । ४६’ इत्याकरान्तादेशः । ३ ‘शुहा:
शुसि च भूम्येव निकाच्यनिलयालयाः’ इत्यमरः । ४ पिठरेत्यर्थः । ‘पिठरः
शाल्युखा कुण्डम्’ इत्यमरः । ५ तपस्विनीति भावः ।

अतः परं प्रकीर्णकाः—

वर्धते ते तपो भीरु ! व्यजेष्टा विघ्ननायकान् ।

अजैर्षीः कामसम्मोहौ संप्राप्था विनयेन वा ॥ ६८ ॥

वर्धत इत्यादि—हे भीरु कातरचित्तं तव तपो वर्धते तस्य च ये विश्वास्त्वेषां ये नायकाः प्रणेतारस्तान् व्यजेष्टाः जितवत्यसि । लुडि ‘विपराभ्यां जेः । १३।११’ इत्यात्मनेपदम् । कौमसंमोहौ कच्छिद्जैषीः जितवत्यसि । ‘सिचि बृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।१’ विनयेन वा संप्राप्थाः संप्राप्तांसि । कर्मणि लुड । ‘झलो झलि । ८।२।२६’ इति सिचो लोपः । अत्रानुक्तमपि कच्छिदिति पदमर्थाद्योज्यम् ॥ ६८ ॥

नायस्यसि तपस्यन्ती गुरुन् सम्यगतृष्णः ।

यमान्नोदविजिष्टास्त्वं निजाय तपसेऽतुषः ॥ ६९ ॥

नायस्यसीत्यादि—तपस्यन्ती तपश्चरन्ती कश्चिद्वायास्यासि न विद्यसे तपश्चरणशीलीभूतेत्यर्थः । ‘कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः । ३।१।१५’ इति क्यङ् । ‘तपसः परस्मैपदं च ।’ इति वार्तिकेनात्मनेपदम् । गुरुन् आचार्यादीन् सम्यक् यथावदनुवृत्त्याऽतृष्णः तोषितवत्यसि । तुष्यर्णन्तस्य लुडि रूपम् । चडि णिलोपादि । यमान्मृत्योनेदाविजिष्टाः नाभैषीः । पुण्यकृतां न मृत्युभयमित्यर्थः । ओविजेरात्मनेपदम् । लुडि सिच इट । ‘विज इट । १।२।२’ इति सिचो डिन्चे न गुणः । निजायात्मीयाय तपसे । अतुषः तुष्टवत्यसि । ‘पुषादिव्युताद्यूलदितः परस्मैपदेषु । ३।१।५५। इत्यङ् ॥ ६९ ॥

अथार्थं मधुपकार्यमुपनीयादरादसौ ।

अर्चयित्वा फलैरर्चयैः सर्वत्राख्यदनामयम् ॥ ७० ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरमसौ शबरी अर्ध्यमर्घार्थम् । ‘पादार्घाभ्यां च । ५।३।२५’ इति यत् । मधुपकार्यम् । दाखिमधुभिश्रुदकं मधुपर्कः तदान्वं आदौ भवसादं तदुपनीयादरात् फलैरर्चयित्वा । अच्यौ अर्चनाहौ

१ अत्रैकातरचित्तत्वं पापोदवेति बोध्यम् । तथा च पापकर्मत उद्विज्य धर्मकर्मणि निरत इति भावः । २ कामकोधादयः इति भावः । ३ उक्तभेदार्थं स्पष्टितिरुमेत्वश्चारम्भः । ४ कोधं हु माकार्षीर्णिति तात्पर्यम् । ५ ‘गुरुर्गीर्णतितिनादौ’ इत्यमराशुकरिति शेषः । ६ ‘अहं कूर्यतच्च च । २।३।१६९’ इति सूत्रेणोति शेषः ।

यत् । रामलक्ष्मणौ सर्वत्रोक्तेषु अनामयं कल्याणं आख्यत्कथितवती ।
‘अस्यतिवक्तिल्यातिभ्योऽङ् । ३।१५२।’ इत्यह् ॥ ७० ॥

इति प्रकीर्णकाः ।

अथ कृदधिकारमाह—कृत्यात्मा कृदन्तभावेऽपि भावकर्मणोः कृत्या
इति विशेषप्रतिपादनार्थः पृथगधिकारः । शेषास्तु कृतः कर्त्तरि भवन्ति तत्रो-
पपदं सप्तमीस्थम् । ३।१९२।’ इत्येतदधिकृतम् । यत्रैतत्रावतिष्ठते तान्-
कृतो दर्शयन्नाह—

सख्यस्य तव मुग्रीवः कारकः कपिनन्दनः ।

द्रुतं द्रष्टासि मैथिल्याः सैवमुक्त्वा तिरोऽभवत् ॥ ७१ ॥

सख्यस्येत्यादि—सा शबरी तिरोऽभवदन्तर्मूता । एवमुक्त्वा । किं
तदित्याह—तव सख्यस्य सखित्वस्य । ‘सख्युर्यः । ५।१।२६।’ इति
यः । कर्मणि षष्ठी । कारकः सुम्रीवः । ‘युवुल्लच्छौ । ३।१।३३।’ इति
युवुल् । ‘युवोरनाकौ । ३।१।१।’ इत्यकादेशः । त्वया सह मैत्री करिष्य-
ति । कपिनन्दनः कपीनां नन्दयिता । ‘नन्दिग्रहिः । ३।१।३४।’ इत्यादिना-
ल्युः । अनादेशस्तु ‘युवोरनाकौ । ७।१।१।’ इत्यनेनैव । कृद्योगे षष्ठी ।
ततो द्रुतं द्रष्टासि मैथिल्याः । पूर्ववत्कर्त्तरि दृच् कर्मणि षष्ठी । असीति
वर्तमाने लट् ॥ ७१ ॥

नन्दनानि मुनीन्द्राणां रमणानि वनौकसाम् ।

वनानि भेजतुर्वीरौ ततः पाम्पानि राघवौ ॥ ७२ ॥

नन्दनानीत्यादि—तत उक्तादनन्तरं वीरौ राघवौ रामलक्ष्मणा वना-
नि भेजतुः सेवितवन्तौ । एत्वाभ्यासलोपौ ‘तृफलभजत्रपश्च । ६।४।१।१२।’
इति । पाम्पानीनि । पम्पाया अदूरम् । ‘अदूरभवश्च । ४।२।७०।’
इत्यवृण् । मुनीन्द्राणां नन्दनानि प्रमोदकारीणि । वनौकसां वनेचराणाम् । ‘उच्च
समवाये ।’ अस्मादौणादिकोऽसुम् । पृष्ठोदरादित्वाद्वर्णविपर्ययः । वनमोऽको येषां
तेषां रमणानि रतिजनकानि । ‘नन्दिग्रहिपचादिभ्यो लयुणिन्यचः । ३।१।
१३४।’ इति लयुः । कर्मणि षष्ठी ॥ १२१ ॥

१ ‘अनामयं स्यादारोग्यम्’ इत्यमरः । २ शीघ्रमित्यर्थः । ‘लघुक्षिप्तमरं
कृतम् ।’ इत्यमरः । ३ अन्यानि वनानि गाहते स्मेत्यर्थः । ४ ओकः स्थानमित्यर्थः ।
‘ओकः सदाश्रयश्चौकाः’ इत्यमरः ।

भृङ्गालीकोकिलकुड्भिर्वर्द्धनैः पश्य लक्ष्मण ।

रोचनैर्भूषितां पम्पामस्माकं हृदयाविधम् ॥ ७३ ॥

भृङ्गालीत्यादि—हे लक्ष्मण पम्पां पश्य । अस्माकं हृदयाविधम् । चेतःपीडयन्तीम् । हृदयं विद्यतीति क्रिप् । ‘प्राहिज्याविविव्यधि-वष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृजतीनां डिति च । ६ । १।११६।’ इति सम्प्रसा-रणम् । ‘नहिवृतिवृष्टिव्यधिहृचिसहितनिषु क्वै । ६।३।११६।’ इति पूर्व-पदस्य दीर्घः । भूषितां काभिः भृङ्गालीभिः भ्रमरपङ्किभिः । कोकिलैः कुड्भिः श्रौच्चैः । वाशनैः कूजद्धिः । रोचनैः शोभनैः । कुड् इति ‘क्रतिवद्धृक्खण्डिगृणिगञ्जनुयुजिकुच्चां च । ३।२।५१।’ इति क्रिप् । निपा-तनसामर्थ्यादनुनासिकलोपाभावः । ‘संयोगान्तस्य लोपः । ८।२।२३।’ ‘क्रिन्पत्यवस्थ कुः । ८।२।६२।’ इति कुत्वम् ॥ ७३ ॥

परिभावीणि ताराणां पश्य मन्थीनि चेतसाम् ।

उद्धासीनि जलेजानि दुन्वन्त्यदयितं जनम् ॥ ७४ ॥

परिभावीणीत्यादि—जलेजानि पद्मानि पश्य । ‘तत्पुरुषे कृतिबहुलम् । ६ । ३ । १४।’ इत्यलुक् समस्याः । उद्धासीनि भासमानानि । अत एव ताराणां परिभावीणि तिरस्कर्तृणि । ततश्चेतसां मन्थीनि पीडाकरा-णि । अतो जनमदयितं दुन्वान्ते । ‘दुदु उपतापे’ सौवादिकः । मन्थो-द्वासपरिमूर्ख्यो ग्रहादित्वाणिनैः ॥ १४ ॥

सर्वत्र दयिताधीनं सुव्यक्तं रामणीयकम् ॥

येन जातं प्रियापाये कद्रदं हंसकोकिलम् ॥ ७५ ॥

सववत्यादि—हे लक्ष्मण सर्वत्रै यत्किञ्चिद्रामणीयकं रामणीयस्य भावः । ‘योपथाद् गुरुपोत्तमाद्बुद्धू । ५।१।१३।’ इति बुद्धू । तत्सर्व दयिताधी-नं दयितायचम् । ‘अषड्क्षाशितङ्गवलङ्गमालंपुरुषाध्युत्तरपदात्त्वः । ५ । ४ । ७।’ इत्यध्युत्तरपदात्त्वः । सुव्यक्तं स्पष्टम् । कुतः येन प्रियाया अभावे सति हंसकोकिलं हंसाश्च कोकिलश्चेति शकुनित्वात् द्वन्द्वैकत्वम् । कद्रदं कुत्सितप्रलपितं वदतीति पचादित्वादत् । कुत्सितं वदतीति

१ पीडयन्ति मन्थोत्तेजकत्वादिति भावः । २ ‘नन्दिग्रहिपचादिश्चयो ल्युणिन्यचः ३ । १।१३।’ इत्यनेनेति शेषः । ३ गृहे वने चेत्यभिप्रायः । ४ प्रिया-मात्रार्थीनिमय्याः । प्रियासङ्ग एवैषां रामणीयत्वम्, प्रियासङ्गाभावे तु रम-णीयानामपि भीषणत्वमिति वक्तव्यम् ।

‘रथवदयोश्च । ६ । ३ । १०२ ।’ इति कोः कदादेशः । इयिताथां सत्यां
मधुरप्रलापमासीदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

पक्षिभिर्विवृद्धैर्यूना शाखिभिः कुसुमोत्किरैः ।

अज्ञो यो यस्य वा नास्ति प्रियः प्रग्लो भवेत् सः ॥ ७६ ॥

पक्षिभिरित्यादि—‘उत्तृदिर् हिंसानादरयोः ।’ इत्यस्मात् ‘इगुपथज्ञाप्रीकिरः
कः ३ । १ । १३५ ।’ इतीगुपथलक्षणः कः । यूनां विवृद्धैः हिंसकैः पक्षिभिः
शाखिभिर्वृक्षेश्च । ‘त्रीहादिभ्यश्च । ५।२।११६ इतीनिः । कुसुमोत्किरैः । उत्करन्ति
उत्क्षपन्तीत्युत्किराः । पूर्ववत्कः । कुसुमानामुत्किराः । कृद्योगलक्षणां
षष्ठीं विधायै समाप्तः । तैर्हत्तुभूतैः करणभूतौर्वा । स प्रग्लो न भवेत् ।
प्रकर्षेण ग्लायते प्रग्लः । ‘आतश्चोपसर्गे । ३ । १ । १३६ ।’ इति कः ।
योऽज्ञः गुणदोषानभिज्ञः । जानातीति इः पूर्ववत्कः । यस्य वा प्रियो जनां
नास्ति तस्य प्रयोजनाभावः सर्वत्र विवेकित्वात् । प्रीणातीति प्रियः ।
पूर्ववत् कः ॥ ७६ ॥

ध्वनीनामुद्धैर्भिर्मधूनामुद्धैर्भृशम् ।

आजिद्वः पुष्पगन्धानां पतञ्जैर्गर्लपिता वयम् ॥ ७७ ॥

ध्वनीनामित्यादि—पतञ्जैर्गर्लपिताः पीडिताः वयम् । ‘ग्लाम्नाव-
नुवमां च’ इति मित्वाद्वस्यः । ‘पतेरञ्जन् पक्षिणि’ इत्यौणादिकोऽञ्जन् ।
कीहशैः ध्वनीनामुद्धैःैः ध्वनीन् कुर्वद्धिः । ‘पाद्राध्मास्थान्नादाणदश्यर्ति-
सर्विसदसदां पिबजिद्वधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छधौशयिसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।’
इति धमादेशः । मधुनामुद्धैःैःैः मधुनि पुनः पुनः पिबाद्धिः । ‘धेद् पाने’ इत्य-
स्यायादेशः । आजिद्वः पुष्पगन्धानां पुष्पगन्धान् जिद्वद्धिः । पूर्ववज्जिद्वा-
देशः । सर्वत्र ‘पाद्राध्माधेद्वशः शः । ३ । १ । १३७ ।’ इति शः । कृद्यो-
गलक्षणां षष्ठी ॥ ७७ ॥

१ ‘वृक्षो महीरुहः शाखी’ इत्यमरः । २ विधायैवेति वाच्यम्, अन्यथा
‘कर्मण्य् ३ । २ । १ ।’ इत्यण् प्रसन्नेत । ३ अत्र सर्वत्र पूर्ववदिति
‘इगुपथज्ञाप्रीकिरः कः ३ । १ । १३५ ।’ इति शाखसमारकम् । ४ पाद्राध्मा-
स्थान्ना-७ । ३ । ७८ । इत्यादिनेनैवेति भावः । ५ ‘कृत्यानां कर्तरि वा २ । ३
७१ ।’ इति सूत्रेणैति भावः ।

धारयैः कुसुमोर्मीणां पारथैर्बाधितुं जनान् ।

शाखिभिर्हा हता भूयो हृदयानामुदेजयैः ॥ ७८ ॥

धारयैरित्यादि—हा कष्टं शाखिभिर्दुमर्भूयोऽत्यर्थं वर्णं हताः । कीदृशैः हृदयानामुदेजयैः चेतसामुक्तम्पकैः । धारयैः कुसुमोर्मीणां कुसुमनिचयान् धारयद्धिः । जनान् मादिधान् बाधितुं पीडियितुं पारथद्धिः समर्थैः । ‘धृव् धारणे’ ‘पृ पालनपूरणयोः’ ‘एज कम्पने च’ एभ्यो गिजन्तेभ्यः अनुपसर्गालिम्पविन्दधारिपरिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ ।
इति शः ॥ ७८ ॥

ददैर्दुःखस्य मादग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ।

लिम्पैरिव तनोर्वातेश्वेतयः स्याज्ज्वलो न कः ॥ ७९ ॥

ददरित्यादि—वातैर्दुःखस्य ददैः दुःखं ददाद्धिः । केभ्यो मादग्भ्यः । अस्माहेषेभ्यो विरहिभ्यः । ‘त्यदादिषु दशो ऽनालोचने कञ्च । ३ । २ । ६० ।’ इति किन् । ‘दग्धशब्दुषु । ६ । ३ । ८९ ।’ इत्याकारः । धायैरामोदमुत्तमम् आमोदं प्रियासङ्गमेन हृषे यावद्विरहिभ्यो दत्तस्य दुःखस्य धायैः पोषकैरित्यर्थः । उत्तमभिति क्रियाविशेषणम् । उत्तममामोदं धायैः कुसुमानां परिमलं धारयद्धिरिति व्याख्याने अनित्यत्वात् कृतप्रयोगे कर्मषष्ठ्यभावः । लिम्पैरिव तनोः शरीरं लिम्पद्धिरिव । वातैहेतुभिः । को नाम विरहाभिना यंश्वेतयमानः ज्वलन्नामिरिव न स्यात् । किन्तु भवेदेवेति भावः । ददैर्धाशैरिति ‘श्याद्वयधाम्भुसंरूपतीणवसावद्वलिहशिषश्वसश्च । ३ । १ । १४१ ।’ इत्याकारान्तलक्षणे श ग्रासे ‘ददातिदधात्योर्बिभाषा । ३ । १ । १३९ ।’ इति शास्त्रौ भवतः । श आतो लोपः । गे चातो युक् । लिम्पश्वेतय इति ‘अनुष्ठासर्गालिम्पविन्दधारिपरिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ ।’ इति अः, अवल इति ‘ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः । ३ । १ । १४० ।’ इति काम्भुविकल्पचत्वार्याद्यन् ॥ ७९ ॥

अवश्यायकणामावाश्रामुत्ताफलत्विषः ।

कुर्वन्ति चित्तसंस्नावं चलत्पर्णीयसम्भृताः ॥ ८० ॥

अवश्यायेत्यादि—अवश्यायत इत्यवश्यायैः तस्य कणा विन्दवः । अ-

१ ‘स्कारं भूयश्च भूरेच’ इत्यमरः । २ ‘अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्’ इत्यमरः ।

स्ववन्तीत्यास्तावः क्षरन्तः । ‘श्याद्वद्यधास्तु संख्यतीणवसावहृलिहृश्लिष्टवस्तच्च
। ३ । १ । १४१ ।’ इति णः कर्तरे । तयोर्विशेषणसमासे राजदन्तादित्वा-
त्परनिपातः । ते कुर्वन्ति चित्तसंस्कावम् । संस्कृतीति संस्कावः । पूर्ववत्
णः । चित्तं संस्कावं चलत्कुर्वन्ति इत्यर्थः । पूर्ववत् समासपरनिपातौ ।
कीदृशाश्रलत्पर्णाप्रसंभृताः संगिलिताः । अत एव चारुमुक्ताकलत्विष्वः दर्शनी-
यमुक्ताकलानुकारिणः । सीताहारस्थमक्ताकलानि स्मारयन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥

अवसायो भविष्यामि दुःखस्याऽस्य कदाऽन्वहम् ।

न जीवस्यावहारो मां करोति सुखिनं यमः ॥ ८१ ॥

अवसाय इत्यादि—कदा तु कस्मिन्ननु काले अहं दुःखस्यानुभूयमानस्य सन्ता-
पस्य अवसायोऽन्तकरो भविष्यामि येन जीवस्यावहारोऽवहर्ता यमो मां
सुखिनं न करोति मारयतीत्यर्थः । अवस्याति इति अवसायः । षोडन्तकर्मणि ।
अवहरतीत्यवहारः । ‘श्याद्वद्यधास्तु संख्यतीणवसावहृलिहृश्लिष्टवस्तच्च । ३ ।
१ । १४२ ।’ इति सर्वत्र णः । युक् ॥ ८१ ॥

दद्ये ऽहं मधुनो लेहैदौघैरुग्रैर्थथा गिरिः ।

नायः कोऽत्र स येन स्थां बताऽहं विगतज्वरः ॥ ८२ ॥

दद्ये इत्यादि—मधुनो लेहैर्भूङ्गैः अहं दद्ये । ‘श्याद्वद्यधास्तु संख्यतीणवसा-
वहृलिहृश्लिष्टवस्तच्च । ३ । १ । १४१ ।’ इति णः । दावैर्वनामिभिरुग्रैः प्रचण्डैर्यथा
गिरिर्दद्यते तद्वत् । अत्र को नायः नयतीति नायः उपायः ईप्सितप्रापकः ।
उभयत्र ‘दुन्योरनुपसर्गे । ३ । १ । १४२ ।’ इति णः । येन नायेन विगतज्वरः
विगतपीडः स्यामिति । आशंसायां लिङ् । बत खेदे ॥ ८२ ॥

समाविष्टं ग्रहेणोव ग्राहेणोवाऽत्तमण्वि ।

दद्वा गृहान् स्मरस्येव वनान्तान् मम मानसम् ॥ ८३ ॥

समाविष्टमित्यादि—वनान्तान् वनपर्यन्तान् । स्मरस्य कामस्य गृहमिव ।
उन्मादकत्वात् । ‘गैहे कः । ३ । १ । १४४ ।’ इति प्रहेः कः । अर्धचार्दिपाठात्
पुँलिङ्गता । दद्वा मम स्थितस्येत्यर्थात् योज्यम् । अन्यथा कथं समानकर्त्तव्यम् ।
मानसं चेतः ग्रहेणाङ्गारकादिना । समाविष्टमिव निगृहीतमिव । ‘विभाषा
ग्रहः । ३ । १ । १४३ ।’ इति प्रत्ययः । अचोऽपवादः । तत्र व्यवस्थितविभाषा-
विज्ञानात् जलचरे ग्राहः ज्योतिषि ग्रह इति जलचरे वाच्येऽचोपवादो

१ चारुणि सुन्दराणि यानि मुक्ताकलानि तेषां त्विदिव त्विद् येषां ते ।

णप्रत्ययः, ज्योतिषि वाच्येऽच् प्रत्ययः । ग्राहेणवात्तमर्णवे । अर्णः पानीयं यत्रास्तीति । 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । ५।२।१०९।' इत्यत्र 'अर्णसो लोपश्च' इति भूम्नि नित्ययोगेऽतिशायने वा वः सलोपश्च । अर्णवे समुद्रे वर्तमानेन ग्राहेन नक्षादिना आत्मं गृहीतम् । आङ्गपूर्वस्य दावः 'अच उपसर्गात्तः । १।४।७।' इति तादेशः ॥ ८३ ॥

वाताऽऽहतिचलच्छाखा नर्तका इव शाखिनः ।

दुःसहा ही परिक्षिपाः कणद्विरलिगाथकैः ॥ ८४ ॥

वातेत्यादि—ही कष्टम् एते शाखिनः नर्तका इव । 'शिल्पिनि ष्वन् १।३।१।१४५।' दुःसहा दुःखेन सहन्त इति 'ईष्वद्वुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रायेषु खल् १।३।३।१२६।' इति खल् । नर्तकैः साधम्यमाह । वाताहतिचलच्छाखा वाताहतिभिः चलन्त्यः शाखा वाहुलता इव येषां ते । अलैयो अमराः क्वन्तः गाथका गायना इव । 'गस्थकन् १।३।१।१४६।' इति कन् । तैश्च परिक्षिपा परिवेष्टिता इति ॥ ८४ ॥

एकहायनसारङ्गती रघुकुलोत्तमौ ।

लवकौ शत्रुशक्तीनामृष्यमूकमगच्छताम् ॥ ८५ ॥

एकहायनत्यादि—रघुकुलोत्तमौ रामलक्ष्मणौ । ऋष्यमूकमगच्छतां गत-वन्तौ । लडि रूपम् । हायनः संवत्सरैः स एको यस्य सारङ्गस्य मृगस्य तस्यैव गतिर्थयोः शीघ्रगामित्वात् । 'हश्च त्रीहिकालयोः । ३।१।१४८।' इति हाघातोर्णश्वृद् । आतो युक् । तौ शत्रुशक्तीनां लवकौ अपनेतारौ । 'प्रुसूल्वः समभिहारे तुन् । ३।१।१४९।' इति तुन् । तत्र समभिहारप्रहणं साधुका-रित्वोपलक्षणार्थम् ॥ ८५ ॥

तौ वालिप्रणिधी मत्वा सुग्रीवो ऽचिन्तयत्कपिः ।

बन्धुना विगृहीतोऽहं भयासं जीवकः कथम् ॥ ८६ ॥

१ 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।' इति मत्वर्थीयः २ 'ही विस्मये ग्रमोदे च' इति विकाण्डशेषव्याख्यायार्यं चकारेण खेदे च इत्युक्त्वात्, 'ही कान्तार-गमनम्' इत्युदाहतत्वाच । ३ 'द्विरेकपुष्पालिङ्गमुख्यात्पदभ्रमरालयः ।' इत्यमरः ४ 'हातवोऽस्त्री शरद समाः 'इत्यमरः । ५ 'चातके हरिणे पुंसि सारङ्गे शब्दे त्रिषु ।' इत्यमरः ।

तादित्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ वालिनः प्रणिधी चरौ मत्वा सुग्रीवः कपिरचिन्तयत् चिन्तितवान् । प्रणिधीयते नियुज्यते कार्येषु प्रणिधिः । ‘उपसर्गं घोः किः । ३।३।१९२।’ इति किः । बन्धुना भ्रात्रा विगृहीतो विरोधितः सन् कथं जीवको भूयासमिति । आशंसाशां लिङ् । जीवेः ‘आशिषि च । ३।३।१५०।’ इति तुन् ॥ ८६ ॥

इति निरूपपदकुद्धिकारः ।

इतः प्रभृति ‘तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३।३।१९२।’ इति अस्योपस्थापनेन कृतो दर्शयन्नाह—

स शत्रुलावौ मन्वानो राघवौ मलयं गिरिम् ।

जगाम सपरीवारो व्योममायामिवोत्थितम् ॥ ८७ ॥

स इत्यादि—स सुग्रीवः सपरीवारः सपरिकरः । ‘उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । ३।३।१९२।’ इति दीर्घः । कपीनाममनुष्यत्वात् । मलयं गिरिं जगाम । राघवौ शत्रुलावौ शत्रून् लुनीत इति ‘कर्मण्यण् । ३।३।१।’ शत्रूणामु-न्मूलकाविति मन्वानोऽवगच्छन् । ‘मनु अवबोधने’ इत्यस्मादात्मनेपदिनः ‘तनादिकृञ्जभ्य उः । ३।३।७९।’ व्योममायमिवोत्थितं व्योम आकाशं मिमीत इति ‘ह्वामश्च । ३।३।२।’ इत्यण् । नमः परिच्छेतुमिवोत्थितं कियत्प्रमाणमस्येति ॥ ८७ ॥

शर्मदं मारुतिं दूरं विषमस्थः कपिद्विषम् ।

शोकाऽपनुदमव्ययं प्रायुङ्कं कपिकुञ्जरः ॥ ८८ ॥

शर्मदमित्यादि—कपिकुञ्जरः सुग्रीवः हनूमन्तं दूरं प्रायुङ्कं प्रस्थापितवान् । ‘वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् । २।३।६२।’ इति कर्मधारयः समासः । वृत्तान्तं ज्ञातुमित्यर्थात् । प्रायुङ्कं इति ‘प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञप्रत्रेषु । १।३।६४।’ इत्यात्मनेपदम् । ‘रुद्धादिभ्यः इन्म् । ३।३।७८।’ कपिकुञ्जरः । किञ्चूतः विषमे दुर्गमपर्वते तिष्ठतीति विषमस्थः । ‘सुपि स्थः । ३।३।४।’ इति कः । मारुतिं मारुतनन्दनं हनुमन्तमित्यर्थः । कीदृशं शर्म कल्याणं ददतीति शर्मदः । ‘आतो-उनुपसर्गेः कः । ३।३।३।’ इति कः । श्रेष्ठत्वमाह कपिद्विँपं कपिश्रेष्ठम् । द्वाभ्यां पिबतीक्ष्णं द्विपः कपिरयं द्विप इव । ‘उपमितं व्याङ्गादिभिः सामान्याप्रयोगे ।’ २।३।५६।

१ ‘यथाऽर्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः । चारश्च गूढपुरुषः’ इत्यमरः ।

२ ‘शर्मशात्सुखानि च, इत्यमरः । ३ द्विपो हस्ती । ‘द्विरदोऽनेकपो द्विपः’ इत्यमरः ।

इति कर्मधारयः । पुनः कीदृशं शोकापनुदं शोकमपनुदाति । ‘तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः । ३ । २ । ५ ।’ इति कः । अव्यग्रं सुचित्तमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

विश्वासप्रदवेषोऽसौ पथिप्रज्ञः समाहितः ।

चित्तसंख्यो जिरीषूणामुत्पपात नभस्तलम् ॥ ८९ ॥

विश्वासेत्यादि—असौ मारुतिर्भस्तलमुत्पपात । विश्वासं प्रददातीति विश्वासप्रदः । ‘प्रे दाज्ञः । ३ । २ । ६ ।’ इति कः । विश्वासप्रदो वेषो यस्य भिक्षुवेष इत्यर्थः । वेष्यते आत्माऽनेनेति, ‘अकर्तारि, च कारके संज्ञायाम् । ३ । ३ । १९ ।’ इति घञ् । ‘विष्णु व्यासौ’ इत्यस्य रूपम् । पन्थानं प्रजानोतीति पथिप्रज्ञः । समाहितः अप्रान्तचित्तः ‘इदमादिष्टम्, इदं च मया तत्र वक्तव्यम्’ इति । जिरीषूणां जेतुमिच्छत्ताम् । चित्तसंख्यः चित्तं संख्याति परिच्छिनत्तीति, ‘समिख्यः । ३ । २ । ७ ।’ इति कः ॥ ८९ ॥

सुरापरिव धूर्णद्विः शास्त्रिभिः पवनाऽहृतैः ।

ऋष्यमूकमगादृ भृङ्गैः प्रगीतं सामगैरिव ॥ ९० ॥

सुरापैरित्यादि—मारुतिर्झ्यमूकमगात् । शास्त्रिभिरुपलक्षितम् । धूर्णद्विः कम्पमानैः पवनाहृतत्वात् । अत एव सुरापैरिव भृत्यैरिव । ‘गापोष्टक् । ३ । २ । १ ।’ इत्यत्र ‘पिबते: सुराशीध्वोरिति वाच्यम्’ इति टक् । प्रगीतं प्रगीयतेऽत्रैति अधिकरणे क्तः । कैरिव भृङ्गः सामगैरिव सामवेदपाठकैरिव । साम गायन्तीति ‘गापोष्टक् । ३ । २ । ८ ।’ इति टक् ॥ ९० ॥

तं मनोहरमागत्य गिरिं वर्महरौ कपिः ।

वीरौ सुखाऽहरोऽवोचद्विक्षुर्भिक्षार्हविग्रहः ॥ ९१ ॥

तमित्यादि—तस्मृष्यमूकं गिरिमागत्य कपिर्वरौ रामलक्ष्मणौ अवोचत् उक्तवान् । कीदृशं मनोहरं रम्यत्वात् । मनो हस्तीति, हरतेरुन्द्यमनेऽच् । ३ । २ । १५ ।’ इत्यच् । वर्महरौ कवचं हर्तुं क्षमौ । संभावयमानवयसावित्यर्थः । वयसि च । ३ । २ । १० । इत्यच् । सुखाहरः सुखाहरणशीलः, ‘आङ्गि ताञ्छील्ये । ३ । २ । ११ ।’ इत्यच् । भिक्षुः परिज्ञावेषः न कपिरूपः यतो विश्वा-सश्रदवेष । इत्युक्तम् । भिक्षार्हविग्रहः भिक्षायोग्यशरीरः कूशल्वादित्यर्थः । भिक्षामर्हतीति, ‘आहः । ३ । २ । १२ ।’ इत्यच् ॥ ९१ ॥

१. ‘तुन्दशोकयोऽसौ लंगावद्’ इत्यमृदः । २ अत्र पचादित्वादच् ।

बलिनावमुमद्रीन्द्रं युवां स्तम्बेरमाविव ।

आचक्षाथामिथः कस्माच्छङ्करेणापि दुर्गमम् ॥ ९२ ॥

बलिनावित्यादि—युवाम् अमुम् अद्रीन्द्रम् । कस्मात् कारणादिथः प्राप्तौ । ‘इषु गतौ’ इत्यस्मात् ‘वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । १३१’ इति थापि रूपम् । भूते लट् थस् । एतदाचक्षाथां कथयतम् । लोटि रूपम् । बलिनौ बलवन्तौ । यतः शङ्करेणापि महादेवेनापि दुर्गमम् दुःखेन गम्यते । काविव स्तम्बेरमाविव यथा मत्ताद्वौपि प्रानुतस्तद्वत् । ‘स्तम्बकर्णयो रमिजपोः । ३ । २ । १३ ।’ इत्यत्र कर्तारि हस्तिन्यमिधेये ‘हस्ति-सूचकयोः’ इति वचनात् । शंकर इति ‘शमि धातोः संज्ञायाम् । ३ । २ । १४ ।’ इत्यत्र ॥ ९२ ॥

दुर्गमत्वदर्शनायाह—

व्याप्तं गुहाशयैः कूरैः क्रव्याद्द्विः सनिशाचरैः ।

तुङ्गशैलतरुच्छन्नं मानुषाणामगोचरम् ॥ ९३ ॥

व्याप्तमित्यादि—कीदृशमद्रीन्द्रं क्रव्यमैपक्षमांसं भक्षयद्विः । क्रव्योपपदाद्देः ‘क्रव्ये च । ३ । २ । ६९ ।’ इति विद् । क्रौरैः हिंसकैः सिंहादिभिः सनिशाचरैः राक्षससहितैव्याप्तम् । गुहाशयैः गुहायां शेरते इति शीडः ‘आधिकरणे शेते । ३ । २ । १५ ।’ इत्यत्र । तुङ्गाः उच्चाः शैलाः शिलायां भवा ये तरवस्तैश्छलन्नं व्याप्तम् । अतः एव मानुषाणामगोचरम् अगम्यम् । ‘गोचर-सञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्र । ३ । ३ । ११९ ।’ इति निपातितः ॥ ९३ ॥

इति प्रागुक्तष्टाधिकारः । इत ऊर्ध्वं खशादिप्रत्ययानाह—

सत्त्वमेजयसिंहाढ्यान् स्तनंधयसमिविषौ ।

कथं नाडिन्धमान्मार्गानागतौ विषमोपलान् ॥ ९४ ॥

सत्त्वमित्यादि—युवामिमान् मार्गान् कथमागतौ । सत्त्वमेजयसिंहाढ्यान् सत्त्वमेजयन्ति ये सिंहाः, ‘एजेः खश् । ३ । २ । २८ ।’ ‘अर्हद्विषदजन्तस्य मुम् । ६ । ३ । ६७ ।’ इति मुम् । तैराढ्यान् व्याप्तान् । सिंहप्रहणं तद्वद्विस्तोपलक्षणार्थम् । हिनस्तीति सिंहः । पृषोदरादित्वाद्वर्णविपर्ययः । नाडिन्धमान्तिः । उच्चनीचाधिरोहणात् हुर्मुहुर्निःश्वासैर्नाडिं धमन्तीति ‘नाडीमुष्टयोश्च ।

१ ‘इभः स्तम्बेरमः पच्ची’ इत्यमरः । २ ‘पिशितं तरसं मांसं पल्लं क्रज्यमन्ति-याम्’ इत्यमरः ।

३।२।३ ।' इति खश् । 'खित्यनव्ययस्य । ६ । ६६ ।' इति हस्तः । विषमोप-
लान् उन्नतपाषाणयुक्तान् । स्तनन्धयसमत्विष्वा बालवस्तुकुमारौ । सामर्थ्यं पुन-
र्युवयोरचिन्त्यम् । स्तीनं ध्यतः पित्रतः । 'नासिकास्तनयोधर्माधेटोः । ३।२।२९।
इति खश् । 'अर्हद्विषदजन्तस्य मुम् । ६ । ३ । ६७ ।' इति मुम् ॥ ९४ ॥

उत्तीर्णौ वा कथं भीमाः सरितः कूलमुद्ध्रहाः ।

आसादितौ कथं ब्रूतं न गजैः कूलमुद्ध्रजैः ॥ ९५ ॥

उत्तीर्णवित्यादि—कथं वा केनोपायेन युवां सरितो नदीहत्तीर्णौ । भीमा-
खासकरीः । यतः कूलमुद्ध्रहाः कूलमापूर्य वहन्त्यः । 'उदि कूलं रुजिवहोः
। ३।२।३१ ।' इति खश् । गजैः कूलमुद्ध्रजैः कूलं भिन्दाद्विः कथं नासादितौ न
व्यापादितौ इति ब्रूतं कथयतम् ॥ ९५ ॥

रामोऽवोचद्धनुमन्तमावामञ्चलिहं गिरिम् ।

ऐव विद्वन् पितुः कामात्पान्तावलंपचान्मुनीन् ॥ ९६ ॥

राम इत्यादि—हनुर्वदनैकदेशः स निन्दितोऽस्यास्तीति निन्दायां मतुप् ।
'अन्येषामपि दृश्यते । ६।३।१३७' इति दीर्घः । 'हनूमान् हनुमानोप'
इति विश्वदर्शनात् । तस्य किल जातमात्रस्य आदित्यरथं गृहतो हनुद्वयं भग्न-
मिति श्रूयते । तं रामोऽवोचत् उक्तवान् । तत् किमित्याह—हे विद्वन् यदमु-
गिरिमादामैव आगतौ तत् पितुः कामैदभिप्रायात् । आङ्गूष्ठादिपालो लड्डि
रूपम् । अञ्चलिहमुच्चैस्तरम् । अञ्च लेडीति, 'वहाभ्रे लिहः । ३।२।३२।' इति
स्तश् । किं कुर्वाणौ पान्तौ रक्षन्तौ । मुनीन् अल्पस्पचान् अल्पसन्तुष्टान् ।
अलंपं पचन्तीति 'मितनखे च । ३।२।३४।' इति मितेत्यर्थग्रहणात् खश् ।
चकारस्यानुकसमुच्चयार्थत्वाद्वा ॥ ८६ ॥

कः मुनः पिता यदोदशादागतावित्यत आह—

अमितंपचमीशानं सर्वभोगिणमुत्तमम् ।

आवयोः पितरं विद्धि ख्यातं दर्शरथं भुवि ॥ ९७ ॥

अमितस्पचमित्यादि—आवयोः पितरं दर्शरथनामानं भुवि ख्यातं विद्धि
जानीहि । 'हुशल्म्यो हेर्विः । ६।४।१०१।' अमितस्पचं महासत्रिणं पूर्ववत्

१ स्तनन्धयाम्यां बालाम्यां समा त्विद् ययोस्तौ । २ आदित्यस्य सूर्यस्य
रथमित्यतः । 'सूरसूर्यार्थमादित्यद्वादशतमिद्वाकराः ।' इत्यमरः । ३ 'इच्छामनो-
मद्वै कामै' इत्यमरः ।

खश मुम च। ततो नव्समासः॥३॥२॥१२९॥ इति चानश् । सर्वभोगीणं सर्वसत्त्व-भोगाय हितम् । ‘आत्मनिवश्वाजनभोगोत्तरपदात्त्वः ॥५॥१॥९ ॥’ इति खः । भोग-शब्दोऽत्र शरीरवाची । ‘अट्कुप्वाङ्नुमृत्यवायेऽपि ॥ ८ ॥ ४ ॥ २’ इति पत्त्वम् ॥ ९७ ॥

यदि पितुरादेशादागतौ किमत्रामनेनान्वेषयथ इत्याह—

छलेन दयिताऽरण्याद्रक्षसाऽरुन्तुदेन नः ।

असूर्यपश्यया मूर्त्या हृता तां मृगयावहे ॥ ९८ ॥

छलेनेत्यादि—नोऽस्माकं दयिता अरण्याद्रक्षसा हृता । कीदर्शेन अरु-न्तुदेन मर्मसृशा । ‘विघ्वरुषोस्तुदः ॥३॥२॥३५॥’ इति खश् । ततो मुम् । असूर्यपश्यया आदित्यगोप्यया मूर्त्या शरीरेणोपलक्षिता । ‘असूर्यललाटयोर्द्वैशितपोः ॥३॥२॥३६॥’ इति खश् । तां हृतां मृगयावहे गवेषयावः । ‘मृग अन्वेषणे’ स्वार्थकण्यन्तः । युवर्णः पौरुषान्वितत्वात् कर्थं हृतेत्याह—छलेन छड्डना ॥ ९८ ॥

त्वं पुनः कस्य वेत्यत आह—

प्रत्यूचे मारुती राममस्ति वालीति वानरः ।

शमयेदपि संग्रामे यो ललाटन्तपं रविम् ॥ ९९ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—रामं मारुतिः प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान् । अस्ति वालीति नान्ना कपीश्वरः यः संग्रामे युद्धे ललाटन्तपं सर्वेषामुपरि वर्तमानं रूपं पूर्ववन् ‘असूर्यललाटयोर्द्वैशितपोः ॥३॥२॥३६॥’ इति खश् । शमयेत् पराजयेदिति सम्भावने लिङ् । वालिशब्दो नान्तः, इदन्तश्च । तथा च ‘वाली वालिश्च कर्षयते’ इति शब्दभेदः ॥ ९९ ॥

उग्रम्पश्येन, सुग्रीवस्तेन भ्राता निराकृतः ।

तस्य मित्रीयतो दूतः सम्प्राप्तोऽस्मि वशंवदः ॥ १०० ॥

उग्रम्पश्येनेत्यादि—तेन भ्राता उग्रम्पश्येन पापं विजानता । ‘उग्रम्पश्य-रस्मदपाणिन्वमाश्च ॥३॥२॥३७॥’ इति निपातितम् । यश्च सुग्रीवो निराकृतोऽभिभू-तस्तस्य हि दूतः प्राप्तोऽस्मि । वशंवदः । वशमनुकूलं वदतीति वशंवदः । ‘प्रिय-वशो वदः खच् ॥३॥२॥३८॥’ कीदर्शस्य मित्रीयता मित्रमिच्छतः । ‘सुप आत्मनः क्यच् ॥३॥१॥८॥’ इति क्यच् ॥ १०१ ॥

किं तेन सख्येति चेदाह—

प्रियंवदोऽपि नैवाऽहं शुभे मिथ्या परन्तप ।

सख्या तेन दशश्रीवं निहन्तासि द्विषन्तपम् ॥ १०१ ॥

प्रियवद इत्यादि—प्रियंवदतया लोको मिथ्या वदति अहं प्रियंवदोऽपि नैव मिथ्या श्रुते वदामि । पूर्ववत् खच् । परन्तप शत्रूणामुपतापयितः । द्विष-
तपरयोस्तपिः । ३।२।३१। इति खच् । तेन सुश्रीवेण सख्या मित्रेण दशश्रीवं
निहन्तासि हनिष्यासि । हन्तेर्लुटि रूपम् । कीदृशं द्विषन्तपम् शत्रूणामुप-
तापयितारम् । पूर्ववत् खच् ॥ १०१ ॥

वाच्यमोऽहमनृते सत्यमेतद्वीभि ते ।

एहि सर्वसहं भित्रं सुश्रीवं कुरु वानरम् ॥ १०२ ॥

वाच्यम इत्यादि—वाच्यमः मनिरित्यर्थः । ‘वाच्यमपुरन्दरौ चा । ३।२।६१।’
इति मुम्पामो निपातते । तस्मात् सत्यमेतत् पूर्वोक्तम् । ब्रवीमि ते तु भ्यम् ।
तादृथ्ये चतुर्थी । यत एवं तस्मादेहि आगच्छ । सुश्रीवं वानरं भित्रं कुरु । कीदृशं
सर्वसहं सर्वं सहत इति ‘पूः सर्वयोर्दारिसहोः । ३।२।४१।’ इति खच् ॥ १०२ ॥

सर्वङ्गवयशःशाखं रामकलपतरुं कपिः ।

आदायाऽब्रह्मङ्गर्वं प्रायान्मलयं फलशालिनम् ॥ १०३ ॥

सर्वङ्गवेत्यादि—रामः कलपतरुरिव यस्तमादाय गृहीत्वा कपिः प्रायात्
गतः । कीदृशं रामम् सर्वङ्गवयशःशाखं सर्वं कषनित व्याप्तुवन्ति यानि
यशांसि । ‘सर्वकूलाब्रकरीरेषु कषः । ३।२।४२।’ इति खच् । तान्येव शाखा
यस्य । फलशालिनमभिमतफलसम्पादनात् । अब्रह्मङ्गमुच्चस्तरं मलयम् । पूर्वं
वत् खच् ॥ १०३ ॥

मेघङ्गरमिवायान्तमृतुं रामं कुमान्वितः ।

दृष्टा मेने न सुश्रीवो वालिभानुं भयंकरम् ॥ १०४ ॥

मेघङ्गरमित्यादि—राममायान्तं दृष्टा । सुश्रीवो वालिनं भानुमिव भयं-
रं भीतिलंनकं न मेने न चुद्धवान् । मेघार्तिभयेषु कुञ्जः । ३।१।४८। इति खच्

१ मुरमाषणकर्तृतयेत्यर्थः । ‘सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं वानृतं ब्रूयादेष धर्मं सनातनः ॥’ इति मनुवचनंस्मरतेदमुक्तम् । २ ‘तपस्वी
पास. पारिकाङ्क्षी वाच्यमो मुनिः ।’ इत्यमरः । ३ सर्वसहम् अतिधीरमित्यर्थः
विचलस्वभावमिति भावः । ४ लाक्षणिकोयमर्थः ।

हुमान्वितो गळानो वालिभानुना पीडितवात् । कीदृशं रामं सेद्धङ्करमृतुमिव
प्रावृट्कालमिव । 'मेर्घर्तिभयेषु कृञ्जः । ३।२।४३।' इति खच् ॥ १०४ ॥

उपाग्न्यकुरुतां सख्यमन्योन्यस्य प्रियङ्करौ ।

क्षेमङ्कुराणि कार्याणि पर्यालोचयतां ततः ॥ १०५ ॥

उपाश्रीत्यादि—उपासि अग्निसमीपे 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्धय-
र्थभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽनुपूर्वयैपद्यसाहश्यसम्पत्ति- ।
साकल्यान्तवच्चनेषु २।१।६।' इति समाप्तः । (रामसुग्रीवौ) सख्यमकुरुताम् ।
'इतः प्रभृत्यावयोः सख्यम्' इति । अन्योन्यस्य प्रियङ्करौ । 'क्षेमप्रियमद्रे-
ष्ण च । ३।२।४४।' इति चकारात् खच् । ततः सख्यकरणानन्तरं क्षेमङ्कु-
राणि हितजनकानि । यथास्वं कार्याणि प्रत्यालोचयतां निरूपितवन्तावि-
त्यर्थः । पटपुटेत्यत्र चुरादिकाण्डे धातौ 'लोङ्गू'पठथते तस्य लङ्गि रूपम् ॥ १०५ ॥

आशित्सम्भवमुत्कुष्टं वलिगतं शयितं स्थितम् ।

वह्न्यमन्यत काकुत्स्थः कपीनां स्वेच्छया कृतम् ॥ १०६ ॥

आशित्सम्भवमित्यादि—आशित्सम्भवमशनम् । 'आशिते भुवः करणभा-
वयोः । ३।२।४५।' इति खच् । उत्कुष्टं किलकिलायितम् । वालिगतं वाव-
नम् । तथा शयितं स्थितं च । कपीनां स्वेच्छया कृतम् एतत्काकुत्स्थो वह्न्यम-
न्यत श्लाघितवान् । पुण्यभाज इसे यदेवां स्वेच्छाविहारिणां चेष्टितम् । अस्माकं
तु शोकसन्तप्तानां न किञ्चिद्दस्तीति । सर्वत्र 'नपुंसके भावे कः । ३।३।१।४।'
इति सूत्रेण भावे निष्ठा ॥ १०६ ॥

ततो बलिन्दमप्रख्यं कपिविश्वम्भराऽधिपम् ।

मुग्रीवः प्राब्रवीद्रामं वालिनो युधि विक्रमम् ॥ १०७ ॥

तत इत्यादि—ततः कार्यालोचनानन्तरं सुग्रीवः प्राब्रवीत् । लङ्गि 'त्रुव-
ईद्वा । ३।३।१३।' इतीट् किमुक्तवान्-वालिनो युधि विक्रमं शौर्यमिति प्रधानं कर्म
राममित्यकथितम् । कीदृशं रामम् बलिन्दमप्रख्यं विष्णुतुल्यम् । बलिन्दमयतीति
'संज्ञायां भृत्यृजित्वारिसाहितपिदमः । ३।२।४६।' इति खच् । अमन्तस्य मित्व-
ह्वस्वत्वे । तथा विश्वं विभर्तीति विश्वम्भरा तस्या अधिपम् अधिपातीत्याधिप-
संम् 'आतश्रोपसर्गेः कः । ३।१।१३।६।' इति कः ॥ १०७ ॥

१ वसुन्धराऽधिपं राजानमित्यर्थः ।

वसुन्धरायां कृत्स्नायां नाऽस्ति वालिसमो बली ।

हृदयङ्गममेतत्त्वां ब्रवीमि न पराभवम् ॥ १०८ ॥

वसुन्धरायामित्यादि—वसुन्धरायां पूर्ववन् खच् । वालिना समोऽन्यो बलो बलयुक्तो नास्तीति हृदयङ्गममेतत्त्वां भवति । स्वानुभवं है वस्तु हृदयङ्गममित्युच्यते । तेन संज्ञायामित्यधिकृत्य ‘गमश्च ।३।२।४७।’ इति खच् । न पुनर्त्त्वां पराभवमभिभवं ब्रवीमि ॥ १०८ ॥

इति खजघिकारः ।

एवंपराक्रमोऽसौ तत्र किं त्वं करिष्यसीखाह—

दूरगैरन्तगैर्बाणैर्भवानत्यन्तगः श्रियः ।

अपि संक्रन्दनस्य स्यात् कुद्धः किमुत वालिनः ॥ १०९ ॥

दूरगैरित्यादि—न्यतो भवात् कुद्धः सन् सङ्क्रन्दनस्यापि शक्तस्यापि । ‘ननिदिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ।३।१।१३।’ इति ल्युः । बाणैः करणभूतैः । दूरगैः दूरं गच्छन्तीति । अन्तर्गैः कार्यसमापैकैः । ‘अन्तात्यन्ताध्वदूरपार-सर्वानन्तेषु डः ।३।२।४।’ इति डः । श्रियो लक्ष्म्याः अत्यन्तगः विनाश-यिता स्यात् । अत्यन्तं पर्यवसानं गच्छतीति । किं पुनर्वालिनो राजलक्ष्म्या अत्यन्तगो भवान्विनाशयितेति ॥ १०९ ॥

वरेण तु मुनेर्वाली संजातो दस्युहो रणे ।

अवार्यप्रसरः प्रातरुद्यन्निव तमोऽपहः ॥ ११० ॥

वरेणेत्यादि—मुनेस्तु वरेण दस्युहः दस्युन् शत्रून् वध्यादिति । ‘आशिषि हनः ।३।२।४।’ डः । अतो रणे अवार्यप्रसरोऽनभिभवनीयगतिः सञ्जातः । क इव तमोऽपह इव । तमोऽपहः आदिर्त्यैः । तमोऽपहन्तीति । ‘अपे क्षेत्र-क्षमयोः ।३।२।५।’ इति डः । प्रातः प्रभाते उद्यन् उद्यच्छन् । उत्पूर्वादिणः शक्तरि ‘इणो वृष्टू’ । अवार्यप्रसरस्तद्वद्दसावापि । ‘सर्वे वाक्यं सावधारणं भवति’ इति न्यायेन प्रातरस्युद्यन्नवार्यप्रसर एवेति भावः । तेन सर्वकाले अस्यावार्यप्रसरत्वं सिद्धं, न तु प्रातरेकोद्यन्नवार्यप्रसर इति बोध्यम् ॥ ११० ॥

१ ‘सङ्क्रन्दनो दुश्यवनस्तुषाराणप्रेषवाहनः ।’ इत्यमरः । २ कार्यसाधकैरिति अतः । ३ ‘द्विद्विपक्षाहितामित्रदस्युशाव्रवशत्रवः ।’ इत्यमरः । ४ सूर्य इति यावत् । ५ न वार्यः वारयितुं (निवारयितुं) शक्यः प्रसरः प्रभवाविकारो यस्य स इति ।

अतिप्रियत्वा नहि मे कातरं प्रतिपद्यते ।

चेतो वालिवर्वं राम ! क्षेशापहमुपस्थितम् ॥ १११ ॥

अथीत्यादि—हे राम ! मदीयं चेतो वालिवर्वं कर्माभूतमुपस्थितं प्राप्तं नहि प्रतिपद्यते नैव प्रत्येति निश्चिनोति इत्यर्थः । यस्मात् कातरं व्याकुन्धम्, वालिनोऽतिवलयुक्तत्वात् । कीदृशं वर्वं क्षेशापहं दुःखस्योन्मूलकम् । पूर्ववर्हः । अतिप्रियत्वाद्वालिवधस्य । यस्य हि यत्प्रियं तत्सद्गम्भीरं असौ न प्रत्येति ॥ १११ ॥

इति डायिकारः ।

उपस्थितोऽस्य वधं इति कथं ज्ञायत इत्याह—

शीर्षवातिनमायातमरीपां त्वां विलोकयन् ।

पतिनीलक्षणोपेतां मन्येऽहं वालिनः श्रियम् ॥ ११२ ॥

शीर्षेत्यादि—अरीणां शत्रूणां शीर्षघातिनं मस्तकच्छेत्तारभित्यर्थः । ‘कुमारशीर्षयोर्णितिः । ३ । २ । ५१’ इति लिपततनात् शिरसः शीर्षभावः । आयातं विलोकयन् वालिनः श्रियं पतिनीलक्षणोपेतामहं मन्ये । पर्वते हन्ति यहक्षणं तेनोपेताभिवेतीवार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । ‘अमनुष्यकर्तुके च । ३ । २ । ५३’ इति टक् । ‘गमहनजनखत्वसां लोपः क्षिडित्यनन्डि द१४।९८’ इत्युपधालोपः । ‘हो हन्तेऽर्णिणेषु । ७।३।५४’ इति कुत्वम् ॥ ११२ ॥

शत्रुग्नान्युधि हस्तिनो गिरीन्धिप्यन्नकुत्रिमान् ।

शिलिपभिः पाणिवैः कुद्धस्त्वया जययोऽभ्युपायवान् ॥ ११३ ॥

शत्रुग्नानित्यादि—किञ्च युधिं संग्रामे वाली त्वया जय्यः जेतुं शक्यो यदि युष्मद्वाणां शक्तिर्षष्टा तां च द्रष्टुमिच्छामीति वक्ष्यमाणाभिप्रायः । ‘क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । ६ । १।८१’ इत्ययादेशनिपातनम् । कीदृशः अभ्युपायवान् युद्धोपाययुक्तः । किं कुर्वन् क्रुद्धः क्षिप्यन् गिरीन् । ‘दिवादिभ्यः श्यन् । ३।१।६१’ इति श्यन् । अकृत्रिमान् देवनिर्भितान् । शत्रुग्नान् शत्रून् हन्तीति

१ ‘चित्तं तु चेतो हृदयम्’ इत्यमरः । २ आहादकमिति भावः ।

३ ‘अपे क्षेशतमसोः । ३ । २ । ५०’ इति शाखेणेति शेषः । ४ ‘संयत्समित्याजिसमिद्युधः’ इत्यमरः । ५ पर्वतानित्यर्थः । ‘अद्विगोत्रगिरिशावाचलशैलशिलोचयाः ।’ इत्यमरः ।

‘अमनुष्यकर्तृके च । ३।२।५३।’ इति टक् । हस्तिन्न इव हस्तिन्नः हन्तुं शकः । ‘शक्तौ हस्तिकपाटयोः । ३।२।५४।’ इति सूत्रस्य मनुष्यकर्तुकार्थारम्भकत्वात् । वाली चामनुष्यः । शिल्पभिर्युद्धकुशलैः वानरैः सह क्षिप्यन् । सहार्थस्य गन्यमानत्वात् सहयोगे त्रुतीया । पाणिवैः पाणिवादैकैः । ते हि हस्तियुद्धेऽन्यस्य वाद्यस्यासंभवात् हस्तिमुखमेव वादयित्वा गिरीन् प्रहरणान् क्षिप्यन्ति । ‘पाणिघताङ्गौ शिल्पनि । ३।२।५५।’ इति कर्तृरि निपातनम् ॥ ११३ ॥

आढचङ्करणविकान्तो महिषस्य सुरद्विषः ।

प्रियङ्करणमिन्द्रस्य दुष्करं कृतवान्वधम् ॥ ११४ ॥

आढचमित्यादि—अनाढयमाढयं करोत्यनेनेति । ‘आढयसुभग-स्थूलषलितनग्रान्वप्रियेषु चब्बर्थेष्वचौ कृबः करणे ख्युन् । ३।२।५६।’ इति करणे ख्युन् । आढचङ्करणं विक्रान्तं यस्य वालिनः । अनाढयः सन् विक्रान्तेनाढयो भूत इत्यर्थः । महिषस्य सुरद्विषो दुन्दुभेर्वं मरणं यः कृतवान् दुष्करं कृच्छ्रसाध्यं प्रियंकरणमिन्द्रस्य तुष्टिकरम् । अप्रियं प्रियं करोत्यनेनेति पूर्ववद् ख्युन् ॥ ११४ ॥

प्रियम्भावुकतां यातस्तं क्षिप्यन्योजनम्पृतम् ।

स्वर्गे प्रियम्भविष्णुश्च कृत्स्नं शक्तोऽप्यवाधयन् ॥ ११५ ॥

प्रियमित्यादि—तमेवं सुरद्विषं मृतं पादाङ्गगुष्ठेन योजनमध्वानं क्षिप्यन् प्रेरयन् । क्षिपेस्तौदादिकस्योभयषदिनो रूपम् । प्रियम्भावुकतां यातस्तथा स्वर्गे प्रियम्भविष्णुश्चासीत् । ‘कर्तृरि भुवः खिष्णुच्छुकचौ । ३।२।५७।’ इत्यनेनाढयादिषूपदेषु खिष्णुच्छुकचौ । शक्तोऽपि समर्थोऽपि कूसनं लोक-मित्यर्थात् । अबाधयन् अपीडयन् । ‘बध संयमे’ इति चौरादिकः तस्य शतरि रूपम् । स ईदृशस्त्वया शक्यो जेतुं यदि त्वदृष्टाणां सामर्थ्ये दृष्टमित्यभिप्राप्तेऽन्नवान् सुप्रीवः ॥ ११५ ॥

रामोऽपि तदभिप्राप्यं विद्न यत् कृतवान् तदाह—

जिज्ञासोः शक्तिमस्त्राणां रामो न्यूनविषयः कपेः ।

अभिनत्प्रतिपत्त्यर्थं सप्तव्योमस्पृशस्तरून् ॥ ११६ ॥

१. हस्तिनं गजमपि हन्तुं क्षमः सिंह इवेति वक्तव्यम् । २. हस्ततालशब्दका-भिरिति मादः । ३. महिषकारस्येत्यर्थः ।

जिज्ञासोस्त्रियादि—अखाणां शखाणां शरणामिति यावन् । ‘आयुं तु प्रहरणं शशमष्टम्’ इत्यमरः । शक्ति॑ जिज्ञासोः ज्ञातुमिच्छोः कपे॒ः सुग्रीवम् न्यूनविधिः स्वल्पबुद्धेः । यतः प्रमाणान्तरेणापरिज्ञानान् प्रत्यक्षेण ज्ञातुमिच्छतीति प्रतिपत्त्यर्थं सम्प्रत्ययार्थं रामः सप्त तरुन् तालानै पड़त्तेथा स्थितान् एकेन शरेणाभिनत् । व्योमस्पृशेः । ‘स्पृशोऽनुदिकं किन् । ३।२।५८।’ ॥ ११६ ॥

ततो वालिपशौ वध्ये रामार्त्तिंजितसाध्वसः ।

अभ्यभूत्तिलयं भ्रातुः सुग्रीवो निनदन्दधृक् ॥ ११७ ॥

तत इत्यादि—ततस्तरुमेदनादनन्तरं सुग्रीवो भ्रातुर्निलयं किञ्चिन्दां पुरीमध्यभूत अभिभूतवान् । कीदृशः दधृक् धृष्टः । ‘ऋत्विग् दधृक्लग्निदि॒ गुणिगञ्ज्युयुजिकुञ्चां च । ३।२।५९।’ इति निपातितम् । धृष्टेः किन् । द्विवचनम् । ‘किन्प्रत्ययस्य कुः । ८।२।६२।’ इति कुर्वं खकारः चर्तवै ककारः । यस्माद्वालिने पशाविव वध्ये वधाहें । रामेण ऋत्विजा याजकेन जितसाध्वसः अपनीतसाध्वसः । तस्मादधृक् । ऋतौ वजति ऋतुं वा यजति ऋतुप्रयुक्तो वा यजतीरिति ऋतुपूर्वाद्यजेः किन् । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् ! इदमृत्विक्लशब्दनिर्वचनम् । रुढितस्तु याजयि॒ त्यु ब्राह्मणेषु किन्प्रत्ययस्य कुः । निनदन् किलकिलाशब्दं कुर्वन् ॥ ११७ ॥

गुहाया निरगाद्वाली सिंहो मृगमिव द्युवन् ।

भ्रातरं युद्ध भियः सङ्घये घोषेणाऽपूरयन्दिशः ॥ ११८ ॥

गुहाया इत्यादि—तस्य शब्दमाकर्ण्य गुहाया निरगाद्वाली निर्गतः । ‘इणो गा लुडि॑ । २।४।४५।’ ‘गातिस्थाद्युपामूर्भ्यः सिच्चः परस्मैपदेषु । २।४।७७।’ इति सिचो लुक् । भ्रातरं द्युवन् अभिगच्छन् । ‘द्यु अभिगमने’ अस्यादादि॒ कस्य वरेमानसामीच्ये लटः शतरि उवडादेहो रूपम् । सङ्घरथे युद्धे । भियो युक् भीतेयोक्ता । कर्मणि षष्ठी । भीर्ति युज्जन्तित्यर्थः । युजेः पूर्ववत् किन् । ‘युजेरसमासे । ७।१ । ७।१।’ इति नुम् । संयोगान्तर्लोपः । ‘किन्प्रत्ययस्य कुः । ८।२।६२।’ इति डकारः । कः कमिव । सिंहो मृगमिव द्युवन् । घोषेण दिशः आपूरयन् । दिशन्ति इति दिशः । पूर्ववत् किन् ॥ ११८॥

१ अत्र ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखर्थतुनाम् २ । ३ । ६९’ इति बहुतीनिषेधात् कर्मचिवक्षणा द्वितीया । २ तालवृक्षान् । ३ एकपङ्क्तिरूपेण स्थितावित्यर्थः । ४ अत्युच्चानित्यभिप्रायः । ५ अत्रोपमारूपकयोः सन्देहसङ्कूरः । ६ ‘मृघगास्तन्दनं संख्यं समकिं साम्परायिकम्’ इत्यमरः ।

व्यायच्छमानयोर्भूदो भेदे सहशयोस्तयोः ।
भाणमुद्यतमायंसीदिक्षाकु कुलनन्दनः ॥ ११९ ॥

व्यायच्छेत्यादि-तयोर्वालिसुप्रीवयोर्व्यायच्छमानयोः कलहायमानयोः
सहशयोः समानयोः भेदे पृथक्त्वे मूढो आन्तः सन् इक्षवाकुलनन्द-
नो रामो बाणमुद्यतं सज्जीकृतमायंसीत् उपसंहृतवान् । ‘समुदाङ्गभ्यो
यमो ग्रन्थे ।१।३।७५।’ इति तद्दन भवति । अकर्त्रभिप्रायत्वात् । तत्र
‘कर्त्रभिप्राये’ इति वर्तते । ‘आङ्गो यमहनः ।१३।२८।’ इत्यनेनापि न
स्यात् सकर्मकत्वात् । तत्र ‘अकर्मकात्’ इति वर्तते । समानपूर्वस्य
दृशेः ‘समानान्ययोश्च’ इत्युपसंख्यानात् ‘त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ।
३।२।६०।’ इति कव् । ‘द्यग्दशवतुषु ।६।३।८९।’ इति समानस्य
सभावः ॥ ११९ ॥

ऋष्यमूकमगाङ्कान्तः कपिर्मृगसहग्र द्रुतम् ।

किष्किन्धाऽद्रिसदाऽत्यर्थं निषिष्ठः कोणमुच्छ्वसन् ॥ १२० ॥

कुण्डमूकमित्यादि-कपिः सुप्रीवः किष्किन्धाऽद्रिसदा किष्किन्धाऽद्रिनि-
वासिना वालिना किं किं दधातीति किष्किन्धाऽद्रिविशेषस्य गुहा ।
‘आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।’ इति कः । ‘पारस्करप्रभूतीनि च सब्जायाम् ६।१।१५७।’ इति पूर्वस्य सुडागमो मलोपः घत्वं च निपात्यते ।
तद्वपलक्षितोऽद्रिः किष्किन्धाऽद्रिः । तत्र सीदतीति ‘सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजाविदभिद-
च्छदजिनीराजामुपसर्गेऽपि किप् ।३।२।६।१।’ इति किप् । तेनात्यर्थं निषिष्ठः
पीडितः । निषिष्ठत्वात् ह्वान्तः सन् ऋष्यमूकं मृगसहक् द्रुतमगात् ।
समानोपदात् दृशेः पूर्ववत् किन् । कोणमीषदुष्णमुच्छ्वसन् । ‘कवं
चोष्णे ।६।३।१०।’ इति चकारात् कोः कादेशः ॥ १२० ॥

कृत्वा वालिद्रुहं रामो मालया सविशेषणम् ।

अङ्गदसं पुनर्हन्तुं कपिनाऽद्वाययद्रणे ॥ १२१ ॥

कुत्वत्यादि-कालिद्रुहं सुप्रीवम् । वालिने द्रुहतीति ‘सत्सूद्विषदहद्रुह-
युजाविदभिदच्छदजिनीराजामुसपर्गेऽपि किप् ।३।२।६।१।’ इति किप् ।
मालया सविशेषणं सचिहं कृत्वा मेदपरिज्ञानार्थं रामः अङ्गदसं वालि-
वम् । अङ्गदं सूत इति पूर्ववत् किन् ‘ओः सुपि ।६।४।८।३।’ इति

१ तदात्यर्थं पूर्वतम् । २ मृगसहक् मुगवदिति भास्तः ॥

यणदेशः । तं रणे हन्तुं कपिना सुग्रीवेणाह्नायथत् अभिभवं कारितवान् ।
हयतेहेतुमणिचि 'शाच्छासाह्नाव्यावेपां युक्त ।७।३।३७।' इति युक्त ॥ १२१ ॥

तयोर्वानरसेनान्योः सम्प्रहारे ततुच्छिदम् ।

वालिनो दूरभाग्रामो वाणं प्राणा दमत्यजत् ॥ १२२ ॥

तयोरित्यादि—वानरसेनान्योः वानरस्वामिनोः वालिसुग्रीवयोरित्यर्थः ।
'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ।६।४।८२।' इति यण् । संप्रेहारे युद्धे प्रवृत्ते रामो
वाणमत्यजत् । वालिनस्ततुच्छिदं ततुं शरीरं छिनतीति पूर्ववत् किप् । 'छे
च । ६ । १ । ७३ ।' इति तुक्त । प्राणादं प्राणापहारिणम् । प्राणानतीति
प्राणादम् । 'अदोऽनन्ते ।३।२।६८।' इति विट् । दूरभाङ् दूरमवस्थितो
रामो दूरं भजत इति 'भजो षिवः ।१।२।६२।' इति षिवः ॥ १२२ ॥

वालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा रिपुघातिनम् ।

बान्धवाऽऽक्रोशिनो भेजुरनाथाः ककुभो दश ॥ १२३ ॥

वालिनमित्यादि—रिपुघातिनं रिपून् हन्तुं शीलमस्येते 'सुप्यजातौ
णिनिस्ताच्छीलये । ३ । २ । ७८ ।' । तं वालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा दश
ककुभो दश दिशो भेजुः । अनाथाः सन्तः स्वामिनो हतत्वात् ।
बान्धवाक्रोशिनो बान्धवा इव आक्रोशन्तीति 'कर्तर्युपमाने ।३।२।७९।'
इति णिनिः ॥ १२३ ॥

धिगदाशरथिमित्यूचुर्मुनयो वनवर्तिनः ।

उपेयुर्मधुपायिन्यः क्रोशन्त्यस्तं कपिखियः ॥ १२४ ॥

धिगित्यादि—येषां सत्यन्यस्थाने वृत्तौ च वन एव वर्तितुं शास्त्रातो
नियमः ते वनवर्तिनो वानप्रस्थाश्रमधर्मपालनपरा मुनयः । 'क्रते
।३।२।८०।' इति णिनिः । धिगिमं दाशरथिमित्यूचुः उक्तवन्तः । दशर-
थस्यापत्यं पुमानिति ताहशं राममित्यर्थः । 'अत इच्छ ।४।१।९५।' इति इच्छ ।
येनानपराघेऽपि वालिनीहशं कृतमिति । कपिखियश्च वालिनमुपेयुः ।
मधुपायिन्यः आभीक्षण्येन मधु पिबन्त्यः । 'बहुलभाभीक्षण्ये ।३।२।८१।'
इति णिनिः । क्रोशन्त्यः 'हा नाथ !' इति रुदन्त्यः ॥ १२४ ॥

१ वानराणां सेनापत्ययोरित्यर्थः । 'सेनानीर्वाहनीषतिः' हस्यमरः । लक्षणया
पुनर्वानराधीशयोरित्यमिप्रायः । २ युद्धमूर्मावित्यर्थः । ~ 'सम्प्रहारामिसम्पातकाले-
संस्कृटेसंयुगाः' इस्यमरः ।

राममुच्चैरुपालब्ध शूरमानी कपिप्रभुः ।
ब्रणवेदनया ग्लायनसाधुं मन्यमसाधुवत् ॥ १२५ ॥

राममित्यादि—कपिप्रभुवाली राममुच्चैर्हता शब्देनोपालब्ध उपालब्ध-
वान् । लभिरात्मेनेपद्यानिद् । तस्य लुडि ‘झलो झलि ।८।२।२६’ इति
'सिचोः लोपः । 'झषस्तथोधेऽधः । ८।२।४०' । ज्ञानं जश झाश
टाठात्तदा' शूरमानी शूरमात्मानं मन्यमानः ‘आत्माने खश्च । ३ ।
२ । ८३ ।’ इति चकाराणिणानिः । ब्रणवेदनया ग्लायन् । ग्लानिमुपगच्छन् ।
साधुमन्यं साधुमात्मानं मन्यमानं रामम् । तेनैव खश् । तस्मिन् सार्व-
धातुके परतो दिवादित्वात् श्यन् । पूर्वपदस्य मुम् । असाधुवद्साधुभिव ।
असाधुना तुल्यं वर्तते इति वतिः ॥ १२५ ॥

मृषाडसि त्वं हविर्यजी राघव ! छ्डद्वतापसः ।

अन्यव्यासक्तवातित्वाद्वह्न्नां पापसमितः ॥ १२६ ॥

मृषेत्यादि—हे राघव त्वं छ्डद्वना तापसः । सः त्वं मृषैव मिश्यैव हवि-
योजी हविषा करणेनेष्वानसि न परलोकप्राप्तस्ये इत्यभिप्रायः । ‘करणे
चजः । ३ । २ । ८५ ।’ इति भूते णिनिः । अस्मात्सूत्रादारभ्य ‘भूते’ इत्य-
विकारात् । यतो ब्रह्मनां पापसंमितः ब्रह्म हन्तवन्त इति । ‘ब्रह्मभूणवृत्रेषु
किप् । २ । ३ । ८७ ।’ इति किप् । तेषां पापेन तुल्यः । कुरुः अन्यव्यासक्त-
वातित्वात् अन्यसिन् सुग्रीवे व्यासकं मां हतवान् । ‘कर्मणि हनः । ३ । २ ।
८६ ।’ इति णिनिः । तत्र ‘कुत्सितमहणं कर्तव्यम्’ इत्युक्तम् । यदि सुग्रीवेण
यम विरोधः किं तवायातमिति कुत्सितहननम् ॥ १२६ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

पापकृत्सुकृतां मध्ये राज्ञः पुण्यकृतः सुतः ।

मामपापं दुराचार ! किं निहत्याऽभिधास्यसि ॥ १२७ ॥

पापकृदित्यादि—हे दुराचार ! मामपापं निहत्य पापकृत् कृतकिल्बिषः
एत्तो दशरथस्य पुण्यकृतः सुतः सुकृतां मध्ये किमभिधास्यसि वद्वसि ।
किं क्षेपे । न किंचिदभिधातव्यमस्तीति भावः । सर्वत्रं ‘सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु
कृतः । ३ । ३ । ८५ ।’ इति किप् ॥ १२७ ॥

आश्रिचित्सोमसुद्राजा रथचक्रचिदाऽदिषु ।

अनलेष्विष्वान्कस्मान् त्वयाऽपेक्षितः पिता ॥ १ ॥

अग्निचिदित्यादि—कस्मात्त्वया पिता नापेक्षितः नानुवृत्तः । येनैवं कृतवानसीति । कीदृशः अग्निचित् आहिताग्निः । अग्निं चितवानिति ‘अग्नौ चेः । ३ । २ । ९१ ।’ इति क्रिप् । सोमसुत् सोमं सुतवान् सोमयाजी ‘सोमे सुजः । ३ । २ । ९० ।’ इति क्रिप् । अनलेषु अग्निषु इष्टवान् । रथच-क्रचिदादिषु रथचक्रवच्चीयत इति ‘कर्मण्यम्याख्यायाम् । ३ । २ । ९२ ।’ इति क्रिप् । आदिशब्दाच्छ्लेषेनचिदादिग्रहणम् । अद्यथा हि तदाकार इष्ट-काचय इत्युच्यते तद्वारेणाग्निरपि ॥ १२८ ॥

मांसविक्रियिणः कर्म व्याधस्यापि विगर्हितम् ।

मां ग्रता भवताऽकारि निःशङ्कं पापद्वन्ना ॥ १२९ ॥

मांसेत्यादि—मांसविक्रियिणः कुत्सितकर्मकारिणो व्याधस्यापि विगर्हितं निन्दितम् । ‘कर्मणीनिर्विक्रियः । ३ । २ । ९३ ।’ इति इनिः । तत्र ‘कुत्सित-ग्रहणं कर्तव्यम्’ इत्युक्तम् । निकृष्टकर्मकरणेति यद्वता पापद्वन्ना पापं दृष्टवता । ‘हृशेः कनिप् । ३ । २ । ९४ ।’ ‘न संयोगाद्वमन्वात् । ६ । ४ । १३७ ।’ इति अलोपप्रतिषेधः । कर्म अकारि कृतम् । कर्मणि लुड् । निःशङ्कं शङ्कां त्वक्त्वा । किं कुर्वता मां ग्रता मारयता । हन्तेः शतरि ‘गमहनजनखनघसां लोपः क्लित्यनङ्गि । ६ । ४ । ९८ ।’ इत्युपधालोपः । ‘हो हन्तर्विष्णश्चेषु । ७ । ३ । ५४ ।’ इति कुत्वम् ॥ १२९ ॥

बुद्धिपूर्वं ध्रुवन् त्वा राजकृत्वा पिता खलम् ।

प्रहयुधवानमन्येन योऽहिनो मामनागसम् ॥ १३० ॥

बुद्धिपूर्वमित्यादि—त्वतिपता त्वां खलम् असाधुचरितं ध्रुवन् गच्छन् ‘ध्रु गतिस्थैर्ययोः’ इति तुदादौ पठथते । तस्य गतौ ज्ञानर्थे वर्तमानस्य शतरि रूपम् । यत्र राजकृत्वा । ‘राजनि युधि कृबः । ३ । २ । ९५ ।’ इति कनिप् । तत्स्य बुद्धिपूर्वम् । ध्रुवमवश्यं तस्येति व्याख्याने कृतयोगे कर्मणि षष्ठ्या भवितव्यम् । यस्त्वं मां वालिनं वानरमनग्नेसमपापमन्येन सह-युधानम् अन्येन सुप्रीवेण सह योद्धुं प्रवृत्तम् । ‘सहे च । ३ । २ । ९६ ।’ इति कनिप् । अहिनः हिसितवान् । हिसेलाङ्गि मध्यमपुरुषैकवचने श्रामि इनश्च-लोपे हल्लड्यादिलोपे हत्वे च रूपम् ॥ १३० ॥

मांसार्थं हत इति चेदाह—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ये प्रोक्ताः कृतजैर्द्धिजैः ।

कौशल्याज ! शशाऽदीनां तेषां नैकोऽप्यहं कपिः ॥ १३१ ॥

पञ्च पञ्चत्यादि—हे कौशल्याज कौशल्याजात, । कौशल्यायां जायत
इति तत्सम्बुद्धौ ‘सप्तम्यां जनेऽः । ३ । २ । १७।’ इति डःःये पञ्च पञ्चनखाः ।
‘शशकः शल्की गोधा खड्डी कूर्मश्च पञ्चमः’ इति । कृतजैः कृतयुगजातैः ।
पूर्ववत् डःः । द्वौजैर्द्धिर्जातैः । ‘अन्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१।’ इति डःः ।
सप्तम्यामित्युपलक्षणम् । असप्तम्यामपि डो दृश्यते इत्यर्थः । भक्षणी-
याः प्रोक्ताः । तेषाम्पञ्चनखानां भक्ष्याणाम्मच्य इत्यर्थः । अहमेकोऽपि न
भविता । आहं कपिः । तत्किमिति हतोऽहं त्वयोति भावः ॥ १३१ ॥

कथं दुष्टुः स्वयं धर्मे प्रजास्त्वं पालयिष्यसि ।

आत्माऽनुजस्य जिहेषि सौमित्रेस्त्वं कथं न वा ॥ १३२ ॥

कथमित्यादि—स्वयमात्मना धर्मे दुष्टुः दुःस्थः सन् । ‘अपदुःसुषु स्थः’
इत्यौणादिकः कुप्रत्ययः । कथं प्रजाः पालयिष्यसि नैव पालयितुं क्षमोभावे-
प्यसीत्यर्थः । प्रजापालनं हे धर्मवर्तिनैव कर्तुं शक्यं नतु त्वादूरेति भावैः । ‘उप-
सर्गं च संज्ञायाम् । ३।२।१९।’ इति जनेऽः । कथं वा सौमित्रेभ्रातुरात्मानु-
जस्य स्वकर्तीयसो भ्रातुर्लक्षणस्येत्यर्थः । आत्मानमनुजात इति ‘अनौ कर्मणि ।
३।२।१०।’ इति डःः । न जिहेषि न लज्जसे ॥ १३२ ॥

मन्ये किंजमहं ग्रन्तं त्वामक्षत्रियजे रणे ।

लक्ष्मणाऽधिज ! दुर्वृत्त ! प्रयुक्तमनुजेन नः ॥ १३३ ॥

मन्ये इत्यादि—त्वामहं किंजं कुतोऽपि जातं न राजजातं मन्ये । ‘पञ्च-
म्यामजातौ । ३।२।१८।’ इति डःः । ग्रन्तं मारयन्तम् । अक्षत्रियजे रणे क्षत्रि-
यादजाते । हे लक्ष्मणाधिज लक्ष्मणप्रज दुर्वृत्तं नोऽस्माकमनुजेन भ्रात्रा
प्रयुक्तं प्रेरितम् । तत्र ‘पञ्चम्यामजातौ’ इत्युक्तं जातावपि दृश्यते । अक्ष-
त्रियज इति । ‘उपसर्गं च संज्ञायाम् । ३।२।१९।’ इत्युक्तम् असंज्ञायामपि
दृश्यते । लक्ष्मणाधिज इति । ‘अनौ कर्मणि । ३।२।१०।’ इत्युक्तम् । अकर्मण्यपि
दृश्यते । अनुज इति । सर्वत्र ‘अन्येष्वपि दृश्यते । ३।२।१०।’ इति डःः ॥ १३३ ॥

इत्युपपदाधिकारः ।

१ ‘स्वयमात्मना’ इत्यमरोऽपि । २ ‘ब्राह्मं प्रासेन संस्कारं क्षत्रियेण यथा-
विष्यि । सर्वस्यास्य यथान्यार्थं कर्तव्यं वरिरक्षणम् ॥’ इति मनुस्मृतिः ।
३ हुएं कृत्वं करितं यस्य लक्ष्मणुद्धौ तथोक्त ।

प्रत्यूचे वालिनं रामो नाऽकृतं कृतवानहम् ।

यज्यभिः सुत्वभिः पूर्वैर्जरद्धिश्च कपीश्वर ! ॥ १३४ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—रामोऽपि वालिनं प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान् । किमित्याह । हे
कपीश्वर ! पूर्वैर्जरद्धिर्द्वृद्धैः । ‘जीर्यतेरत्न् । ३।२।१०४।’ यज्वेभिः याह्निकैः
सुत्वभिः सोमयज्ञं कृत्वा देवांस्तर्पितवद्धिरितिं भावः। ‘सुयजोर्द्वृ-
निष् । ३।१।१०३।’ नाकृतं कृतवानहम् अपि तु कृतमेव कृतवानहम् । ‘निष्ठा
। ३।२।३६।’ इति भूते कक्षवत् ॥ १३४ ॥

ते हि जार्लैर्गले पाशैस्तरश्चामुपसेदुषाम् ।

ऊषुषां परदारैश्च सार्धं निधनमैषिषुः ॥ १३५ ॥

त इत्यादि—यस्मात्ते पूर्ववृद्धाः जार्लैर्गले पाशैश्च तिरश्चां मुगपश्चिसरीस्तुपा-
णां तिरोऽच्चतीति ‘ऋत्विग्रदधृक्स्वर्गदिगुणिगच्छुयुजिक्रुञ्चां च । ३।२।५९।’
इति किन् । आमि ‘अचः । ६।४।१३८।’ इत्यलोपः । तेषां निधनं विनाशमै-
षिषुः इष्टवन्तः । इषेलुर्णिं रूपम् । कीदृशाम् उपसेदुषां समीपमुपगतवतां
तेषां समीपवर्तिनामुपद्रवकारित्वात् । ‘भाषायां सदवसश्रुवः । ३।३।१०८।’
इति क्षुः । परदारैश्च सार्धमूषुषाम् उषितवताम् । पूर्ववत्क्षुः । वसेर्यजा-
दित्वात्संप्रसारणम् ॥ १३५ ॥

अहं तु शुश्रवान्भ्रात्रा ख्यियं भुक्तां कनीयसा ।

उपेयिवाननूचानैर्निन्दितस्त्वं लतामृग ! ॥ १३६ ॥

अहमित्यादि—हे लतामृग हे शाखामृग ! वालिन् इत्यर्थः । अहं पुनः
शुश्रवान् श्रुतवान् । ‘भाषायां सदवसश्रुवः । ३।२।१०८।’ इति क्षुः । यदुतैँ
भ्रात्रा कनीयसा भुक्तां ख्यियं त्वमुपेयिवान् सन् अनूचानैर्वेदविद्धिनिन्दित-

१ ‘यज्वा तु विधिनेष्वान्’ इत्यमरः । २ ‘यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डये-
ष्वतनिद्रितः । शुले मत्स्यानिवापक्षयन् दुर्बलान् वलवत्तराः ॥’ इति मन्वाद्युक्तया
परदारादिदूषकस्य त्वादशस्य हनन एव माद्यां सुकृतिवं स्थात्, न त्वन्यये-
त्यभिप्रायेणेदं वचनम् । उरस्ताक्षायम्भावः स्फुटो भाष्वेव । ३ यदुतेति यत्पुन-
रित्यर्थः । ४ कनीयसेति कनिष्ठेन भ्रात्रा सुग्रीवेणत्यर्थः । ‘कनीयांस्तु युवा
ड्यप्योः ।’ इत्यमरः ।

स्ततो मे मम राज्ञो रामचन्द्रस्येत्यर्थः । नैव दोषः । 'उपेयिवान्नाश्वाननूचानश्च
। ३।२।१०१।' इति उपेयिवाननूचानशब्दौ निपातितौ ॥ १३६ ॥

अन्वनैषीत्ततो वाली त्रपावानिव राघवम् ।

न्यक्षिपन्नाऽङ्गदं यतात्काकुत्स्ये तनयं प्रियम् ॥ १३७ ॥

अन्वित्यादि—ततो रामवचनादनन्तरं वाली राघवमन्वनैषीत् अनुनीत-
वान् । 'दिवं क्षम्यतां यदजानता मयोक्तम्' इति । नयते: 'लुङ् । ३।२।११०।'
इत्यनेन भूतसामान्ये लुङ् । त्रपावानिव यथा लज्जावान् कश्चिदनुनयति
तद्वन् । अङ्गदं च प्रियं तनयं काकुत्स्ये रामे न्यक्षिपत् न्यस्तवान् । यत्रादा-
दरान् । क्षिपेरनन्दतने लुङ् ॥ १३७ ॥

त्रियमाणः सं सुग्रीवं प्रोचे सद्ग्रावमागतः ।

सम्भविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि ॥ १३८ ॥

त्रियमाण इत्यादि—स वाली त्रियमाणः सन् सद्ग्रावं शोभनभावमागतः
सन् सुग्रीवं प्रोचे । किमित्याह । अभिजानासि स्मरसि । एकस्यां मातरि
सम्भविष्यावः । समभवाव इत्यस्मिन्नर्थे 'अभिज्ञावचने लुङ् । ३।२।११२।'
इत्यनन्दतने लुङ् । अभिजानासीत्यभिज्ञावचनस्योपदृत्वात् ॥ १३८ ॥

अवसाव नगेन्द्रेषु यत्पास्यावो मधूनि च ।

अभिजानीहि तत्सर्वं बन्धूनां समयो ह्ययम् ॥ १३९ ॥

अवसावेत्यादि—अभिजानीहि स्मर । यन्नगेन्द्रेषु, अवसाव उषितवन्तौ ।
पत्राभिज्ञावचनस्य यच्छब्दसहितत्वात् 'न यदि । ३।२।११३।' इत्यनेन
दण्डि प्रतिषिद्धे लडेव भवति । अत्र वास्तमात्रं स्मर्यते । मधूनि च यत्पा-
स्यावः तत्र पीतवन्तौ । तत्सर्वमभिजानीहि । अत्र 'विभाषा साकाङ्क्षे
। ३।२।११४।' इति पक्षे लुङ् । साकाङ्क्षता च प्रयोकुर्लक्ष्यलक्षणयोः
सम्बन्धे । तत्रे वासो लक्षणं पानं च लक्ष्यमिति । कस्माद्बृन्धूनामयमेष
प्रमयः काळः ॥ १३९ ॥

दैवं न विद्वे नूनं युगप्तसुखमावयोः ।

शशद्भूव तदुःस्थं यतो न इतिहाऽकरोत् ॥ १४० ॥

दैवमित्यादि—नूनमवश्यं दैवमावयोः सुखं युगपदेककालं न विद्ये नहि विहितवत् । ‘हुधाव् धारणपोषणयोः’ परोक्षे लिद् । वित्वात्तद् आतो लोपः । यतो यस्मात्तद् दैवं शश्वत् नित्यं दुःस्थमनुकूलं नोऽस्माकं बभूव तस्मादिति ह एवमकरोत् इत्येवं कृतवान् । यद्युगपदावयोः सुखविधानं तहुःस्थं शश्वद्भूव । हाकरोदिति भूतानव्यतनपरोक्षे लिटि प्राप्ते ‘हशश्वतोर्लङ्घ् च ३ । २। ११६।’ इति लङ्घ् । चकारात् लिद् । तत्र शश्वच्छङ्खदे उपपदे लिङ्गवोदाहृतः न लङ्घ् । हशञ्च लङ्घे न लिङ्गपीति बोध्यम् ॥ १४० ॥

ददौ स दयितां भ्रात्रे मालां चाऽऽयां हिरण्मयीम् ।

राज्यं संदिश्य भोगांश्च ममार व्रणपीडितः ॥ १४१ ॥

ददावित्यादि—स वाली दयितां ताराख्यां भ्रात्रे सुग्रीवाय ददौ, मालां चाऽयां श्रेष्ठां हिरण्मयीं सुवर्णघटितां ददौ । राज्यं सूमात्यादिद्रव्यप्रकृतिम् । संदिश्य दत्त्वा । भोगांश्च राज्याङ्गानि संदिश्य । ममार प्राणास्त्यक्तवान् । व्रण-पीडितः । अत्रापि परोक्षे लिद् ॥ १४१ ॥

तस्य निर्वर्त्य कर्तव्यं सुग्रीवो राघवाऽङ्गया ।

किष्किन्धाऽदिगुहां गन्धं मनः प्रणिदधे द्रुतम् ॥ १४२ ॥

तस्येत्यादि—तस्य मृतस्य कर्तव्यं पिण्डोदकादिकरणीयं कृत्वा सुग्रीवो राघवाङ्गायां गच्छ वर्षासमयमतीसि शरद्यागमिष्यसि’ इति आङ्गदा किष्किन्धा-दिगुहां गन्तुं मनः प्रणिदधे कृतवान् । अत्रापि परोक्षे लिद् ॥ १४२ ॥

नामग्राहं कपिभिरशनैः स्तूयमानः समन्ता-

दन्वगभावं रघुवृषभयोर्वानरेन्द्रो विराजन् ।

अभ्यणेऽम्भः पतनसमये पर्णलीभूतसानुं

किष्किन्धादिं न्यविशत मधुक्षीबुगुआद्विरेफम् ॥ १४३ ॥

नामेत्यादि—वानरेन्द्रः सुग्रीवः किष्किन्धादिं न्यविशत निविष्टवान् । ‘नैविशः । १ । ३ । १७।’ इति तङ् । अशनैः सुष्टुः कपिभिः स्तूयमानः । वर्तमाने लङ्घ् । तस्य कर्मणि विहितवात् ‘लक्षणहेत्वोः क्रियायाः । ३ । १ । २ । १२६।’ इति शानच् । नामग्राहं नाम गृहीत्वा । ‘नाम्न्यादिशिप्रहोः

१ शश्वज्ञिरन्तरमित्यर्थः । ‘अभीक्षणं शश्वदनारते ।’ इत्यमरः । २ राम-चन्द्रस्याङ्गया । यद्यप्यसौ बानरः, तथाऽपि तस्य देवांशत्वाद् देवप्रभाबत्वाच्च राजान्तरवदन्तिमः संस्कारः साम्रतमेवाङ्गसं रामेण । अन्यथाऽनुजपत्रिगमन-दोषाभिन्नानमप्यपार्थमेवाभविष्यदिति तत्त्वम् ।

। ३ । ४ । ५८ ।' इति णमुळ । समन्तात्सर्वतः विराजन् शोभमानः । अत्र परस्मैपदसंज्ञकः शत्रूप्रत्ययः । किं कृत्वा रघुवृषभयो रामलक्ष्मणयोरित्यर्थः । रघुषु रघुवंशेषु वृषभौ श्रेष्ठौ तयोः । अन्वग्भावं अनुकूलो भूत्वा । अन्वक्षूर्वाद्वत्तेः ‘अन्वच्यानुलोम्ये । ३ । ४ । ६४ ।’ इति णमुळ । तदनुकूलवर्तित्वाद्विरजन् । कदा न्यविशत । अभ्यर्थे निकटे । अम्भःपतनसमये प्रावृषीत्यर्थः । पर्णलीभूतसानुं पर्णानि सन्ति येषामिति ‘सिघ्रादिभ्यश्च । ५ । २ । । ९७ ।’ इति लच्छ । तदन्वादभूतदङ्गावे चिवः । पर्णलीभूताः सानव एकदेशा यस्याद्रेः । मधुक्षीबा मधुमत्ता गुञ्जन्तो द्विरेका यत्र । क्षीब इति ‘अनुपसर्गात् फुलक्षीबकृशोलाघाः । ८ । २ । ५५ ।’ इति निपातितः । ‘क्षीब मदे ।’ इत्यस्मात् कप्रत्ययस्य लोप इडभावश्च निपातयते । गुञ्जेल्द । क्षचित् शथमासमानाधिकरणेऽपि शत्रूप्रत्ययः ॥ १४३ ॥

इति सोपपदकृतः ।

इति श्रीजयमङ्गलमूरिविरच्चितया जयमङ्गलाख्यया व्याख्यया समलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरितकाव्ये द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे प्रथमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नाम षष्ठः सर्गश्च ।

सप्तमः सर्गः ।

इतम्ताच्छीलिकं कृतमधिकृत्योच्यते । ताच्छीलिकमित्युपलक्षणम् । तद्भूमतसाधुकारिष्वपि द्रष्टव्यम् । यतः ‘आकेस्तच्छील-तद्भूम-तत्साधुकारिषु ३ । २ । १३४।’ इति तत्राधिक्रियते—

ततः कर्ता वनाऽकम्पं ववौ वर्षाप्रभञ्जनः ।

न॒भूपूरपितामश्च समुन्नेसुः पयोधराः ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रवेशानन्तरं वर्षाप्रभञ्जनः प्रावृद्धातो ववौ वाति स्म । ‘वा गतिगन्धनयोः’ इति । कर्ता वनाकम्पं साधु कुर्वन् । ‘तृन् । ३।२।१३५।’ इति तृन् । ‘न लोकान्यनिष्ठाखलर्थतृनाम् । २।३।६९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः । पयोधरा मेघाश्च समुन्नेसुः समुन्नताः । कीदृशा नभःपूरयितारः । तृन् ॥ १ ॥

^१ अत्र मन्दाकान्ता छन्दः । ‘मन्दाकान्ता जलधिषडौम्भौ नतौ ताद् गुरुचेत्’ इति लक्षणात् ।

तर्पणं प्रजनिष्णूनां सस्यानाममलं पयः ।

रोचिष्णवः सविस्फूर्जा मुमुचुभिन्नवद्वनाः ॥ २ ॥

तर्पणमित्यादि—घनौ अमलं पयो मुमुचुः । भिन्नवत् भिन्ना इव । कीदृशं पयः । तर्पणं सस्यानां तर्पणं तर्पयतीति ‘कृत्यल्लुटो बहुलम् ।३।२।११३।’ इति कर्तीर ल्युट् । प्रजनिष्णूनां साधु प्रादुभेवताम् । **रोचिष्णवः साधु दीप्यमानाः । सविस्फूर्जाः सवज्ञनिस्वनाः ।** ‘अलंकृत्यनिराकृत्यप्रजनो-त्पचोन्मदरुच्यपत्रपृष्ठुद्धुसहचर इष्णुच् ।३।२।१३६। इतीष्णुच् ॥ २ ॥

निराकरिष्णवो भानुं दिवं वर्तिष्णवोऽभितः ।

अलंकरिष्णवो भान्तस्तडित्वन्तश्चरिष्णवः ॥ ३ ॥

निरेत्यादि—भानुं निराकरिष्णवो निराकरणशीला घनाः पयो मुमुचु-रिति योज्यम् । दिवेभितो वर्तिष्णवं आकाशमभितो वर्तनस्वभावाः । पूर्व-पञ्चमयोर्वर्तेनहेतुत्वात् । पर्यभिम्यां सर्वेभयार्थं तसिः । ‘अभितःपरितः-समयानिकषाहप्रतियोगेऽपि’ । इति द्वितीया । तडित्वन्तः सविंशुतः । अत एव भान्तो दीप्यमानाः । एवं च कृत्वा अलंकरिष्णवोऽलंकरणशीला इव । दिशश्चरिष्णवः इतस्ततो गमनशीलाः । पूर्वविष्णुच् ॥ ३ ॥

तान्विलोक्याऽसहिष्णुः सन् विललापोन्मदिष्णुवत् ।

वसन्माल्यवति ग्लास्नु रामो जिष्णुरधृष्णुवत् ॥ ४ ॥

तानित्यादि—तान् धनान्विलोक्य असहिष्णुरसहनशीलो रामः माल्य-वति एतदाख्ये पर्वते वसन्विललांपैः । उन्मदिष्णुवत्तं उन्मदनशीलः उन्मत्त-स्तद्वत् । पूर्वविष्णुच् । ग्लास्नुः ग्लानशीलः । जिष्णुर्जयशीलः । अधुष्णुवद-प्रगल्भ इव । शोकाभिमूलत्वात् । ‘ग्लानिस्थश्च ग्लुः ।३।२।१३९।’ धृष्णुरिति ‘त्रिसिंगृष्टिवृषिक्षिपेः क्लुः ३।२।१४०।’ इति क्लुः ॥ ४ ॥

१ घना भेदाः । ‘घनजीमूलसुदिरजलसुरधूमयोनयः ।’ इत्यमरः ।

२ फलोन्मुखानां धान्यादीनामित्यर्थः । यद्वा—फलानामित्येवार्थः । ‘वृक्षादीनां फलं सस्यम्’ इत्यमरोक्ते । ३ ‘विआङ्ग्राजिष्णुरोचिष्णू’ इत्यमरः । ४ ‘निरा-करिष्णुः क्षिष्णुः स्यात्’ इत्यमरः । ५ दिवं स्वर्गमित्यर्थः । ६ ‘वर्तिष्णुवर्तेनः समौ’ इत्यमरः । ७ भेदा इति शेषः । ‘तडित्वान् वारिदोऽम्बुद्वत्’ इत्यमरः । ८ ‘चरिष्णु जङ्गमचरम्’ इत्यमरः । ९ भेददर्शनादेमदुनोद्देगवर्धकत्वादाह । १० सम-यक्षयणक्षम इत्यर्थः । ‘सहिष्णुः सहनः क्षन्ता’ इत्यमरः । ११ ‘हा प्रिये जनकवन्द्रिनि’ इत्यादि परिदेवितवान् । १२ ‘सोन्मादस्तूमदिष्णुः स्यात्’ इत्यमरः । १३ ‘जिता जिष्णुश्च जित्वरः’ इत्यमरः । १४ ‘धृष्णुर्धृष्णुरधृष्टः’ इति त्रिकाण्डशेषः ।

(१७६) भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमेते—

किं तद्विलपनमित्याद् ॥

अमी कदम्बसम्पन्नः पवनः शमिनामपि ।

कुमित्वं कुरुतेऽत्यर्थं मेघशीकरशीतिलः ॥ ५ ॥

भ्रमोत्यादि—अमी भ्रमणशीलः । कदम्बसांभिन्नः कदम्बगन्धसंक्षिष्ठः। शमिनामपि शमनशीलानामपि कुमित्वं कुरुते अत्यर्थं ग्लानिं कुरुते। ‘शमित्यष्टाभ्यो विनुण् ।३।२।१४१।’ । ‘नोदातोपदेशस्य मान्तस्यानाषमः ।३।३।३४।’ इत्युपधावृद्धिप्रतिषेधः । मेघानां शीकरां जलकणारातः शीतिलः शीतलत्वं कुर्वणः । ॥ ५ ॥

संज्वारिणेव मनसा ध्वान्तमायासिना मया ।

द्रोहि खद्योतसम्पर्कं नयनाऽमोषि दुःसहस्र ॥ ६ ॥

संज्वारिणेत्यादि—मयैतत् ध्वान्तं तमो दुःसहं दुःखेन सद्यत इति । ‘ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ।३।३।१२६।’ इति खल् । मनसा करणभूतेन कीदेशेन । संज्वारिणेव रोगशीलेनेव । आशासिना आयासशलिन मयेति । द्रोहि अपकारशीलम् । ध्वान्तं खद्योतसम्पर्कं ज्योतिरिङ्गणसंसर्गं शीलम् । नयनामोषि चक्षुर्मौषिणशोलम् । ‘संपृचानुरुद्धाड्यमाड्यसपरिसृसंसृज-परिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिसुहदुषद्विषदुहदुहयुजाक्रीडविविचत्यजरजभयातिचराप चरामुषाभ्याहनश्च ।३।२।१४२।’ इति सर्वं विनुणन्ताः ।६।

कुर्वन्ति परिसारिण्यो विद्युतः पस्तिविनम् ।

अभ्याघातिभिरामिश्राश्रातकैः परिराटिभिः ॥ ७ ॥

कुर्वन्तीत्यादि—एता विद्युतः परिदेविनं परिदेवनशीलं कुर्वन्ति । मामित्यर्थात् । कीदृश्यः । परिसारिण्यः परिसरणशीलाः । चातकैः पक्षिविशेषैः परिराटिभिः परिरटनशीलैः । एवं चाभ्याघातिभिः अभिहननशीलैः । दुःखोत्सद्वन्नात् । आमिश्रा युक्ता विद्युतः । पूर्ववद्विनुण् ॥ ७ ॥

संसर्गी परिदाहीव शीतोऽप्याभाति शीकरः ।

सुदुमाक्रीडिनोऽशक्याः शिखिनः परिवादिनः ॥ ८ ॥

१ कुमोऽस्यास्तीति तस्य भावस्तत्त्वम् तद् । ‘कुमथः कुमे’ इत्यमरः।
२ ‘शीक्रोऽसुकणाः स्मृताः।’ इत्यमरः। ३ ‘खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः।’ इत्यमरः।
४ विलापकस्मित्यर्थः । ‘विलापः पस्तिवनम्।’ इत्यमरः।

संसर्गोत्पादि—संसर्गीं संसर्जनशीलः । शीतोऽपि शीकरो विन्दुः । परे
दाहीवं परिदहनशील इवाभाति । शिखिनैश्च मयूराः सोहुमशक्या । आक्री-
डिनो नर्तनशीलाः । पीरवादिनः परिवदनशीला इव । इवशब्दश्चात्राँथो
द्रष्टव्यः । पूर्ववत् ‘संपृचा-३।२।१४२।’ इत्यादिना घिनुण् ॥ ८ ॥

एता दैवानुरोधिन्यो द्वेषिण्य इव रागिणम् ।

पीडयन्ति जनं धाराः पतन्त्योऽनपकारिणम् ॥ ९ ॥

एता इत्यादि—एता धाराः पतन्त्यो द्वेषिण्य इव द्वेषणशीला इव जनं
रागिणं रागशीलम् । अनपकारिणमनपराधशीलं पीडयन्ति । दैवानुरोधिन्यः
दैवमनुरुद्धन्ति इति तेभ्यः, भाग्यानुरोधात् प्रवर्तनशीलेभ्यः । पूर्ववत् घिनुण् ।
घिनुणि च ‘रज्जेहपसंख्यानम्’ इत्यनुनासिकलोपः । कृताननुनासिकनिदेशाद्वा
लोपनिपातनम् ॥ ९ ॥

कुर्याद्योगिनमप्येष स्फूर्जावान्परिमोहिनम् ।

त्यागिनं सुखदुःखस्य परिक्षेप्यम्भसामृतुः ॥ १० ॥

कुर्यादित्पादि—एष ऋतुरम्भसां जलानां परिक्षेपी परित्यजनशीलः ।
कर्मणि सम्बन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी । योगिनमपि योगशीलमपि ।
सुखदुःखस्य त्यागिनं त्यागशीलम् । कर्मणि षष्ठी । पीरमोहिनं परिमोहिन-
शीलम् । कुर्यात् । कीदृशः स्फूर्जावान् वज्रानिधोर्षयुक्तः । पूर्ववद्
घिनुण् ॥ १० ॥

विकर्त्थी याच्चे प्रत्तमविश्रम्भी मुहुर्जलम् ।

पर्जन्यं चातकः पक्षी निकृन्तनिव्रिव मानसम् ॥ ११ ॥

विकर्त्थीत्पादि—चातको मानसं निकृन्तनिव्रिव खण्डयन्निव । प्रत्तं प्रदृक्तम् ।
‘अच उपसर्गात्तः ३।४।४७।’ जलं याचत इति प्रधानं कर्म । पर्जन्य-
भित्यकथितम् । विकर्त्थी विकर्त्थनशीलं इव पर्जन्योऽपि महां जलं ददाति ।
इवशब्दो गम्यो—(लुप्तो)३त्र द्रष्टव्यः । अविश्रम्भी अविथासशीलः । मान-
सखण्डनात् । ‘वौ कषलसक्तस्यम्भः ३।४।१४३।’ इति घिनुण् ॥ ११ ॥

१अत्रोत्पेक्षा, न तूपमा । २ ‘शिखावलः शिखी केकी’ इत्यमरः । ३ अर्थः
प्रकरणा उसन्वामवलादृथावंगम्यः । ४ ‘अम्भोऽर्णस्तोयपानीय—’ इत्यमरः । ५ इदं
तु ‘अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि । सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति-
कथ्यते ॥’ इत्युक्तदिशाऽऽदिकर्मणि विहितक्षप्रत्ययान्तर्त्वं एव साधु स्यादिति
वितीर्णमिति पर्यायान्तरं वाच्यम् । ६ विकर्त्थनं बहुर्गजनम् ।

प्रलापिनो भविष्यन्ति कदा न्वेतेऽपलाषिणः ।

प्रमाथिनो वियुक्तानां हिंसकाः पापदर्दुराः ॥ १२ ॥

प्रलापिन इत्यादि—एते पापदर्दुराः पापाश्च ते दर्दुराश्चेत्याक्रोशाभिधानम् ।
दर्दुरा मण्डूकाः कदा 'नु अपलाषिणो भविष्यन्ति । अपलषणशीलाः व्यपगत-
कामा इत्यर्थः । 'लष कान्तौ ।' 'अपे च लषः । ३।२।१४४।' इति विनुण् ।
प्रलापिनः प्रलपनशीलाः । प्रमाथिनः प्रमथनशीलाः । चेतसामित्यर्थात् । 'प्रे लप-
सृदुमथवद्वसः ३ । २ । १४५।' इति विनुण् । अत एव वियुक्तानां मादशां
हिंसकाः हिंसनशीलाः । इत्येवं विलाप । 'निन्दाहिंसक्षिशखादविनाशपरि-
क्षिपपरिरटपरिवादिव्याभाषादूचो तुच् । ३ । २ । १४६।' इति तुच् ॥ १२ ॥

निन्दको रजनिम्मन्यं दिवसं क्लेशको निशाम् ।

प्रावृष्यनैषीत्काकुत्स्थः कर्थचित्परिदेवकः ॥ १३ ॥

निन्दक इत्यादि—काकुत्स्थो दिवसं रजनिम्मन्यं रजनीमात्मानं मन्यमानं
घनान्धकारित्वात् । 'आत्ममाने खश्च । ३ । २ । ८३।' 'खित्यनव्ययस्य ।
६ । ३ । ३६।' इति हस्तत्वम् । निशां प्रावृष्य कर्थमप्यनैषीत् नीतवान् ।
निन्दकः निन्दनशीलः । नक्तिदिनस्त्यर्थात् । क्लेशकः क्लेशनशीलः । परिदेवकः
परिदेवनशीलः । आत्मन इत्यर्थात् ॥ १३ ॥

अथोपशरदेऽपश्यत्कौञ्चानां चेष्टनैः कुलैः ।

उत्कण्ठावर्धनैः शुभ्रं रवणैरम्बरं ततम् ॥ १४ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरमुपशरदे शरत्समीपे इति 'अव्ययीभावे शर-
त्प्रमृतिभ्यः । ५। ४ । १०७।' 'इति समासान्तष्टुच् ।' वृत्तीयासप्तम्योर्बुद्धलम् ।
२ । ४ । ८४।' इत्यमभावः । क्रौञ्चानां कुलैस्ततं व्याप्तमम्बरं शुभ्रं शुक्ळ-
मपश्यत् दृश्वान् । चेष्टनैः व्यापारशीलैः । रवैणैः शब्दनशीलैः । अनयोश्चल-
नशब्दार्थत्वात् 'चलनशब्दार्थादिकमर्मकाद्युच् । ३ । २ । १४८।' इति युच् ।
उत्कण्ठावर्धनैः उत्कण्ठावर्धनशीलैः उत्कण्ठा वर्धयन्तीति तैः, मदनोहीपक्तया
जल्लकनन्दन्याः स्मारकैरित्यर्थः । 'अनुदाचेततश्च हलादेः । ३।२।१४९।' इति
युच् । क्रौञ्च इति किनप्रत्यायमन्तत्वात् प्रज्ञादित्वादृश् ॥ १४ ॥

विलोक्य द्योतनं चन्द्रं लक्ष्मणं शोचनोऽवदत् ।

पश्य दन्द्रमणान्हमानरविन्दसमुत्सुकान् ॥ १५ ॥

चिलोक्येत्यादि—चन्द्रं विलोक्य द्योतनं साधु द्योतमानम् । ‘अनुदात्तेतश्च हलादेः । ३।२ । १४९ ।’ इति युच्च शोचनः शोचनशीलः । ‘जुच्छम्यदन्दम्य-सुगृधिज्वलशुचलपतपदः । ३।२। १५० ।’ इति युच्च । रामो लक्षणमवदत् । पश्य हंसान् दन्दमणान् शनैर्दभणशीलान् । द्रमैर्नित्यं कौटिल्य एव भवते नतु क्रियासमभिहार इत्युक्तम् । तदन्ताच्युच्च । ‘अतो लोपः । ६ । ४ । ४८ ।’ इत्यतो लोपः । ‘थस्य हलः । ६।४४।’ इति यस्य लोपः । अराविन्दसमुत्सुकान् ‘प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च । २।३।४४।’ इति सप्तमी विधाय ‘सप्तमी शौण्डैः ३।१।४०।’ इत्यत्र ‘सप्तमी’ इति योगविभागात् समाप्तः ॥ १५ ॥

कपिश्छङ्कमणोऽद्यापि नासौ भवति गर्धनः ।

कुर्वन्ति कोपनं तारा मण्डना गगनस्य माम् ॥ १६ ॥

कपिरित्यादि—नासौ कपिः सुग्रीवोऽद्यापि चङ्कमणः शनैर्गमनशीलो न भवति । यतो गर्धनोऽभिलापशीलः स्त्रीभित्यर्थात् । पूर्ववद्युच्च । ताराश्च मां कोपनं कोपनशीलं तद्विषय एव कुर्वन्ति । कीदृश्यः गगनस्य मण्डना भूषणाः । ‘क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च । ३।२।१५१।’ इति युच्च ॥ १६ ॥

नावैत्याप्यायितारं किं कमलानि रविं कपिः ।

दीपितारं दिनारम्भे निरस्तद्वान्तवस्त्रयम् ॥ १७ ॥

नावैतीत्यादि—किमसौ कपिः रविं नावैति नावगच्छति । कमलान्याप्य-यितारं साधु वर्धयन्तम् । ‘अनुदात्तेतश्च हलादेः । ३ । २ । १२९।’ इति प्राप्ते । नयः । ३।२।१५२।’ इति प्रतिषिद्धे तत्रेव भवति । ततश्च ‘न लोकाव्यानिष्ठाः खलर्थतुनाम् । २।३।६९।’ इति पष्ट्रीप्रतिषेधः । दिनारम्भे प्रातः काल इत्यर्थः । दीपितारं साधु दीप्यमानम् । पूर्ववद्युच्च प्राप्ते सूदीपदीक्षरच । ३।२।१५३।’ इति प्रतिषेधः । निरस्तद्वान्तसंचयम् अपनीतान्धकारसंहतिकं किमसौ शस्त्र-मर्य नावैतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अतीते वर्षुके काले प्रमत्तः स्थायुको गृहे ।

गामुको ध्रुवमध्वानं सुग्रीवो वालिना गतम् ॥ १८ ॥

अतीत इत्यादि—वर्षुके वर्षणशीले काले अतीतेऽपि गृहे स्थायुकः स्थिते-शीलः शरदि नागतत्वात् प्रमत्तः सन् सुग्रीवो वालिना गतम् अध्वानं प्राप-

१ ‘गृध्नुस्तु गर्धनः । लुब्धोऽभिलापुकस्तृष्णकृ’ इत्यमरः । २ हइ क्रियाविशेषणम्

मार्गी ध्रुवमवश्यं गामुकः साधु गैन्जा । ‘लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमश्चम्भ्य उक्त् । ३ । २ । १५४ ।’ इत्युक्त् । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थत्वनाम् । २ ।

१६९ ।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

जलपाकीभिः सहासीनः स्त्रीभिः प्रजविना त्वया ।

गत्वा लक्ष्मणं वक्तव्यो जयिना निष्ठुरं वचः ॥ १९ ॥

जलपाकीभित्यादि—हे लक्ष्मण ! त्वया प्रजविना प्रकृष्टगमनशीलेन । ‘प्रजोरिनिः । ३ । २ । १५६ ।’ इतीनिः । जयिना अभिभवनशीलेन । ‘जिद्विश्विश्रीण्व-मध्यवथाभ्यपरिभूप्रसूभ्यश्च । ३ । २ । १५७ ।’ इतीनिः । सुप्रीको निष्ठुरं वचो वक्तव्योऽभिघातव्यः । जलपाकीभिः जल्पनशीलाभिः स्त्रीभिः सहासीनैः । ‘जल्पभिक्षकुद्गुणठवृङः षाकन् । ३ । २ । १५८ ।’ इति षाकन् । षित्त्वात् हीँ । तन्मध्ये हि परुषमभिवीयमानः परिभवं मन्यत इति भावः ॥ १९ ॥

शैले विश्रयिणं क्षिप्रमनादरिणमभ्यमी ।

न्यायं परिभवी ब्रूहि पापमव्यथिनं कपिम् ॥ २० ॥

शैल इत्यादि—किं प्रकृत्यं गत्वा ब्रूहि इत्यकथितं कर्म । न्यायं वच इति प्रधानं कर्म । अस्य चातिस्पष्टार्थत्वादिदं तदिति संदिष्टम् । अनादरिण-मनादरशीलं किं । काळातिक्रमणात् । आङ्गपूर्वो दृढ़ । अत एव पापं दुराचारम् । अव्यथिनं निर्भयशीलम् । नवपूर्वो व्याधिः । शैले विश्रयिणं तत्र स्थितिशीलम् । विपूर्वः श्रयतिः । त्वं चाभ्यमी अभिमुखगमनशीलः । अभिपूर्वोऽम गत्यादिषु । फरिभवी साधु परिभवं जनयन् । फरिपूर्वो भवतिः । अत्र सर्वत्र ‘जिद्विश्विश्री-व्यवधार्थ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च । ३ । २ । १५७ । इतीनिः ॥ २० ॥

स्पृहयालुं कर्पि स्त्रीभ्यो निद्रालुमदयालुवत् ।

श्रद्धालुं भ्रामरं धारुं सद्गुमद्रौ वद द्रुतम् ॥ २१ ॥

स्पृहयालुमित्यादि—स्त्रीभ्यः स्पृहयालुं कर्पि साधु स्पृहयन्तम् । स्पृहिः स्वार्थिकण्णन्तोऽद्यन्तश्च । ‘अयामन्ताल्वाय्येतिन्वण्णुषु । ६ । ४ । ५५ ।’ इत्ययादेशः । ‘स्पृहेरीमिसतः । १ । ४ । ३६ ।’ इति सम्प्रदानसंज्ञा । द्रुतं वद । ब्रूहि । अदयालुवत् अदयनशील इव । निद्रालुं निद्राशीलम् अस्मत्कार्येष्व-

१ यथा मम शराहतो वाली परलोकं प्राप्सत्त्वैवायमपि प्रैष्यतीति वक्तव्यम् ।

२ ‘स्वाज्ज्वाकस्तु वाचालः, इत्यमरः । ३ आसीन उपविषः । ४ ‘स्पृही कामी साभि-

लाषः स्पृहयालुम्भ सस्त्वहः ।’ इति गोपालः । ५ ‘स्वप्नकृ शब्दालुविद्वालुः ’इत्यमरः

नवधानत्वात् शयनीय एव सर्वदा स्थितत्वात् ष्ठीमिः सह
श्रद्धांलुं साध्वभिलब्धन्तम् । किम् । भ्रामरं भ्रमैः कृतम् । ‘सुद्राभ्र-
भरवटरपादपादच् । ४ । ३ । ११९ ।’ इत्यव् । मधित्यर्थात् ।
‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थहन्नाम् । २ । ३ । ६९ ।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः । ‘स्तुहि-
गृहिपौतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् । ३ । २ । २५८ ।’ इत्यालुच् ।
श्रद्धालुत्वादेव धारुं साधु पिबन्तं भ्रामरमेव । सदुं साधु सीदन्तम् क अद्वौ ।
‘दाघेद्विशदसदो रुः । ३ । २ । १५९ ।’ इति रुः ॥ २१ ॥

सूमरो भड्गुरप्रज्ञो गृहीत्वा भासुरं धनुः ।

विदुरो जित्वरः प्राप लक्ष्मणो गत्वरान्कपीन् ॥ २२ ॥

सूमर इत्यादि—लक्ष्मणः कपीन् प्राप । कीदृशः—सूमरः साधु गन्ता ।
‘सूघस्यदः कमरच् । ३ । २ । ६० ।’ भड्गुरा ये स्वयमेव भज्यन्ते । ‘भज्ज-
भासिमिदो धुरच् । ३ । २ । १६१ ।’ इति धुरच् । तान् प्रजानातीति भज्ज-
गुरप्रज्ञः ‘प्रे दाङ्गः । ३ । २ । ६ ।’ इति कः । विदुरैः साधुवेदी । ‘विदिभि-
दिच्छिदेः कुरच् । ३ । २ । १६२ ।’ जित्वरः साधु जयशीलः । ‘इण्नभज्ज-
जिसर्तिभ्यः करप् । ३ । २ । १६३ ।’ इति करप् । गृहीत्वा धनुभासुरं भासन-
शीलम् । गत्वरान् गमनशीलान् कपीन् अस्थिरप्रकृतीनित्यर्थः । ‘गत्वरश्च’
३।२।१६४।’ इति निपातितम् । गमेः करप्यनुनासिकलोपेः ॥ २२ ॥

तं जागरूकः कार्येषु दन्दशूकरिपुं कपिः ।

अकम्प्रं मारुतिदीपं नम्रः प्रावेशयद्गुहाम् ॥ २३ ॥

तमित्यादि—तं लक्ष्मणं कपिर्मारुतिः गुहां प्रावेशयत् । विशेहेतुमण्ण-
न्तात् लङ्घि रूपम् । कार्येषु कृत्येषु जागरूकः सावधानः । ‘जागरूकः
। ३ । २ । १६५ ।’ इति जागरूकः । दन्दशूकरिपुं हिंसारिम् । ‘धज्जस-
दशां यडः । ३।२।१६६।’ इति दंशोर्यज्ञन्तादूकः । ‘लुपसदचरजपजभद्वदश-
गृभ्यो भावगद्वायाम् । ३ । १ । २४ ।’ इति यडः । दीपं साधु दीप्यमानम् ।

१ ‘श्रद्धालुः श्रद्धया युक्ते इत्यमरः । २ प्राप्तराज्याइत्यात् निहतशत्रुत्वाच
निर्भयं निरद्वेगं च विराजमानमिति भावः । ३ ‘ज्ञाता तु विदुरो विनुः’ इत्यमरः ।
४ ‘ज्ञेता जिष्णुश्च जित्वरः’ इत्यमरः । ५ ‘जागरूको जागरिता’ इत्यमरः । ६ ‘दन्दशूको
विलेशयः’ इत्यमरोक्त्या दन्दशूकाः सर्पाः, लक्षणया तद्वप्यप्राणानां भयावहा अठ
एव हिंसास्तेचं रिपुमित्यमिप्रायः ।

अकम्प्रम् अकम्पनशीलम् अभीरुमित्यर्थः । नग्रः साधु प्रहीभूतः । सर्वत्र
‘नमिकस्मित्यजसकमहिंसदीपोरः । ३।२।१६७।’ इति रः ॥ २३ ॥

कम्भाभिरावृतः स्त्रीभिराशंसुः क्षेममात्मनः ।

इच्छुः प्रसादं प्रणमन्सुशीवः प्रावदन्तृपम् ॥ २४ ॥

कम्भाभिरित्यादि—सुशीवः प्रावदत् नृपं लक्षणम् । स्त्रीभिरावृतः परिवृतः सन् प्रणमन् । ताभिः सहेत्यर्थः । १।कम्भाभिमः कमनशीलाभिः । पूर्ववद्रः । आत्मनः क्षेमं कल्याणमौशंसुः प्रार्थयमानः । ‘सनाशंसभिक्ष उः । ३।२।१६८।’ इत्युः। ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । २।३।६९।’ इति वष्टीप्रतिषेधः । इच्छुः। प्रसादं प्रसादयिषणशीलः । ‘अपि मे स्वामी प्रसन्नः स्वान्’ इति । ‘बिन्दुरिच्छुः । ३।२।१६९।’ इति निपातनम् ॥ २४ ॥

अहं स्वप्नकप्रसादेन तव वन्दासुभिः सह ।

अभीरुवरसं स्त्रीभिर्भासुराभिरहेश्वरः ॥ २५ ॥

**अहमित्यादि—अहं तव प्रसादेन इह गुहायां स्वप्रक् निद्रालुः शयितवा-
तीत्यर्थः । चिन्ताभावात् । ‘स्वपितृष्ठोर्नेजिङ् । ३।२।१७२।’ इति नजिङ् ।
वन्दासुभिर्वन्दनशीलाभिः सह । ‘शूवन्द्योराहः । ३।२।१७३।’ इत्याहः ।
अभीरुः अभयशीलः । ‘भियः कुक्लुक्कनौ । ३।२।१७४।’ इति कुः । भासुराभिः
भासनशीलाभिः । ईश्वरः ईशनशीलः । ‘स्थेशभासपिसकसो वरच् । ३।२।१७५।’
इति वरच् ॥ २५ ॥**

विद्युन्नाशं रवेभासं विद्राजं शशलाञ्छनम् ।

रामप्रत्तेषु भोगेषु नाहमङ्गासिवं रतः ॥ २६ ॥

**विद्युदित्यादि—रामप्रत्तेषु रामेण दत्तेषु भोगेषु रतः सक्तः । नाहमङ्गासिवं
माहं ज्ञातवानस्मि । लुडि ‘यमरमनभातां सक्त च । ४।२।७३।’ इति सगिटौ ।
विद्युन्नासं द्योतनशीला विद्युतः तासां नाशम् । रवेभाः भासनशीला दीसिः ।
त्प्राप्तम् । विद्राजं साधु दीप्यमानं शशलाञ्छनं चन्द्रम् । प्रावृडतिक्रान्ता शरदाया-
द्वेति नाङ्गासिवमित्यर्थः । सर्वत्र ‘आजभासधुर्विद्युतोर्जपूजुगावस्तुवः किप्
। ३।२।१७७।’ इति किप् ॥ २६ ॥**

१ ‘कन्त्रः कामयित्ताऽभीमः कमनः कामनोऽभिकः ।’ इत्यमरः ।

२ ‘आशंसुराशंसितरि ।’ इत्यमरः । ३ प्रसञ्चतयेत्यर्थः । ‘प्रसादस्तु त्रसञ्चता ।’
इत्यमरः । ४ ‘वन्दासुभिरिवादके ।’ इत्यमरः । ५ भीरोर्विल्लदोऽभीरुः । ‘अधीरे
क्षत्तुक्षत्ते भीरुभीरुक्षभीलुकाः ।’ इत्यमरः । ६ उज्जवलाभिरित्यर्थः । ७ राम-
प्रसादं लक्ष्येत्यर्थः ।

एष शोकच्छिदो वीरान्प्रभो सम्प्रति वानरान् ।
धराशैलसमुद्राणामन्तगान् प्रहिणोम्यहम् ॥ २७ ॥

एष इत्यादि—हे प्रभो ! एषोऽहं सम्प्रति वानरान् प्रहिणोमि प्रस्थापनं यामि । कीदृशान् शोकच्छिदः शोकपनोदेनशीलान् । ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यते’ इति किम् । वीरान् शूरान् । धराशैलसमुद्राणाम् अन्तं गच्छन्ति ये तानन्तगान् । ‘अन्ताद्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः । ३।२।४८।’ इति डः । धरा पृथ्वी । ‘धरासमुद्रशैलानाम्’ इति पाठान्तरम् । अत्र ‘बहुष्वानेयमः’ इति पूर्वनिपातः । यथा वीणाशङ्कडुन्दुभयः ॥ २७ ॥ इति ताच्छीलिककृतः ॥

इतो विशेषाधिकाराभ्यात् निर्विशेषकृतो दशयन्नाह—

राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुङ्गवः ।

सर्ववानरसेनानामाश्वागमनमादिशत् ॥ २८ ॥

राघवस्यैत्यादि—ततोऽभियानानन्तरं वानरपुङ्गवः सुप्रीवः सर्ववानरसेनानामाश्व शीघ्रमागमनमादिशत् आदिष्वान् । पुमांश्चासौ गौश्चेति । ‘गोरतद्वितलुकि । ५।४।९२।’ इति समासान्ताष्टच् । व्युत्पत्तिमात्रमेतत् । पुङ्गवशब्दस्तु प्रधानमाचष्टे । कालः करोतीति ‘उणादयो बहुलम् । ३।३।१५।’ इत्यौणादिकः । ‘कृवापाजिभिस्वदिसाश्यशूभ्य उण्’ इत्युण् । एवमाश्व । कर्त्तव्यकर्तेत्याह—राघवस्य कार्यम् ॥ २८ ॥

वयमद्यैव गच्छामो रामं द्रष्टुं त्वराऽन्विताः ।

कारका मित्रकार्याणि सीतालाभाय सोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

वयमित्यादि—आगमनमादिश्य सुप्रीवोऽब्रवीत् उक्तवान् । वयमद्यैव गच्छाम इति । रामं द्रष्टुं रामं द्रक्ष्याम इति । त्वरान्विताः त्वरिता इत्यर्थः । कीदृशा वयम् । सीतालाभाय सीतां प्राप्त्याम इति । कारकाः कर्त्तारः मित्रकार्याणि रावणवधादः कार्यस्य । भविष्याम इति शेषः । गच्छाम इति क्रिया । तस्यां क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुमुन्णवुलौ भविष्यति काले स्याताम् । मित्रकार्याणीतिं । ‘अकेनोर्भविष्यदावमर्थयोः । २।३।७०।’ इति षष्ठीप्रतिषेधे द्वितीयैव स्यात् । सीतालाभायेति ‘भाववचनाच्च । ३।३।११।’ इति क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे भविष्यति घच् । ‘तुमर्थाच्च भाववचनात् । ३।३।१५।’ इति चतुर्थो ॥ २९ ॥

१ वानरेषु पुङ्गवः श्रेष्ठ इत्यर्थः । २ आज्ञापितवानिति भावः ।
३ रामस्य सीताहृत्यानवेषणरूपम् ।

ततः कपीनां सङ्घाता हर्षद्राघवभूतये ।

पूर्यन्तः समाजग्मुर्भयदाया दिशो दश ॥ ३० ॥

तत इत्यादि—तत आदेशादनन्तरं कपीनां संघाताः समाजग्मुः । हर्षात् हैण । आदेशादानमेव हर्षहेतुः । राघवभूतये रामचन्द्रस कार्यसम्पत्यर्थभित्यर्थः । कृषि नाम राघवस्य संपत्स्यादिति समाजग्मुरित्यस्यां क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे ‘भाववचनाच । ३ । ३ । ११ ।’ इति भविष्यति किन् । चतुर्थी च पूर्ववर्त् । पूर्यन्तो व्याप्तुवन्तः । दश दिशः । भयदायाः भयं दास्याम इत्यस्यां क्रियायामुपपदे ‘अण् कर्मणि च । ३ । ३ । १२ ।’ इत्यण् । ‘आतो युक्त चिण्कृतोः । ७ । ३ । ३३ ।’ इति युक्त ॥ ३० ॥

सुग्रीवाऽन्तिकमासेदुः सादयिष्याम इत्यरिम् ।

करिष्यन्त इवाकस्माङ्गुवन निर्दशाननम् ॥ ३१ ॥

सुग्रीवेत्यादि—अंरिं शत्रुं सादयिष्यामो व्यापादयिष्याम इति सुग्रीवाऽन्तिकमासेदुः आगताः । ‘लृ शेषे च । ३ । ३ । १३ ।’ इति चकारात् क्रियार्थायामुपपदे भविष्यति लृ । आसेदुरिति क्रिया क्रियार्था । अकस्मादतर्किंचं भुवनं भुवनत्रयं निर्दशाननं रावणरहितं करिष्यन्त इव तथाविघमहासंरम्भदर्शनादुत्पेक्ष्यते ‘लृ शेषे च । ३ । ३ । १३ ।’ इति लृ । अत्र क्रियायाः क्रियार्थाया अन्यः शुद्धो भविष्यत्कालः शेषः ॥ ३१ ॥

कर्ताऽस्मि कार्यमायातैरेभिरित्यवमम्य सः ।

काकुत्स्थपादपच्छायां शीतस्पशासुपागमत् ॥ ३२ ॥

कर्तास्मीत्यादि—एभिरायातैवानरैः कार्यं सीतान्वेषणादि कर्ताऽस्मि करिष्यामीति अवगम्य । अनश्चतने भविष्यति लृ । सुग्रीवः काकुत्स्थपादपच्छायां शुपागमत् । पद्यन्त इति ‘पादः ।’ ‘पदरुजविशस्पृशो घब् । ३ । ३ । १६ ।’ इति कर्तारि शब् । तत्र भविष्यतीति निवृत्तम् । पादैः पिबतीति शार्दपो वृक्षः । ‘आतोऽनुपसर्गे कः । ३ । २ । ३ ।’ काकुत्स्थः पादप इव समाश्रयणीयत्वात् । तस्य छायां शीतस्पशासु अनुद्रेजनकरीम् । स्पृशन्त इति स्पर्शस्तन्मात्र उच्यते । ‘अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् । ३ । ३ । १९ ।’

१ ‘स्तोमैवनिकरवातवारसङ्घातसङ्घायाः ।’ इत्यमरः । २ जात्यभिश्चयैकवचनमिति सम्भास्योक्तम्भुवनत्रयमिंति । ३ आयातैः प्राप्तैरित्यर्थः । ४ ‘विदपः पादपस्तरः’ इत्यमरः । ५ काकुत्स्थस्य वंशभवत्वादाम इत्यर्थः ।

इति घब् न तु 'पदरुजविषस्पृशो घब् । ३ । ३ । १६ ।' इति । तत्र हि 'स्पृश उपताप इति वक्तव्यम्' इत्युक्तं स्पृशतीति स्पर्शं उपतापेः ॥ ३२ ॥

कार्यं सारनिभं दृष्टा वानराणां समागमम् ।

अवैन्नाशं दशाऽस्यस्य निर्वृत्तमिव राघवः ॥ ३३ ॥

इति निरधिकारकृत् ।

कार्यमित्यादि—राघवो वानराणां समागमं दृष्टा कार्यं सारनिभं सीताला-भतुल्यम् । सरति कालान्तरे तिष्ठतीति कर्तरि कारके 'सृ । स्थिरे । ३ । ३ । १७ ।' इति घब् । दशास्यस्य राघणस्य नाशं विनाशं निर्वृत्तमिव निष्पत्तमिव अवैत् ज्ञातवान् । अवपूर्वादिणो लङ्घि रूपम् ॥ ३३ ॥

इति निरधिकाराः कृतः ॥

अतः परं भावेऽकर्तरि च कारक इत्यधिकृत्य कृदुच्यते—

ततः कपिस्माहारमेकनिश्चायमागतम् ।

उपाध्याय इवाऽयामं सुग्रीवोऽध्यापिषहिशाम् ॥ ३४ ॥

तत इत्यादि—ततः कपिस्मागमनानन्तरं सुग्रीवः कपिस्माहारं कपिस्मूहं दिशामायामध्यापित् बोधितवान् । अमुका अमुका दिक् ईद्वशीति । 'गतिबुद्धि-प्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणमणि कर्त्ता स औ । १।४।५२।' इति समाहारं स्य कर्मसंज्ञा । आयामपरिज्ञानं चास्य वालिमया द्वूरप्रभ्रमणात् । एकनिश्चायमागतम् एकराशितां प्राप्तम् आयाममित्यर्थः । निश्चायमिति 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः । ३।६।२०।' इति घब् । पश्चादेकशब्देन 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवं-केवलाः समानाधिकरणेन । २।१।४९।' इति समाप्तः । क इव । उपाध्यायं इवेति । उपेत्याधीयते अस्मादिति 'इहश्च । ३।३।२१।' इति घब् ॥ ३४ ॥

सजलाऽम्भोदसंरावं हनुमन्तं सहाऽङ्गदम् ।

जाम्बवं नीलसहितं चारुसन्द्रावमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

सजलेत्यादि—सुग्रीवो हनुमन्तमब्रवीत् । सजलाम्भोदसंरावं सजलमेभ्ये संरावो यस्य हनुमतः । 'उपसर्गे रुवः । ३।३।२२।' इति घब् । सहाङ्गदं

१ 'उपाध्यायोऽध्यापकः' इत्यमरः । २ अम्भोदो मेघः । संरावः शब्दः । 'आरवारावसं-रावविरावा ।' इत्यमरः । सजलमेवशब्दो हि धीरो महांश्च भवति । ३ अत्र 'सहस्रं सः सञ्जायाम् दा । ३।४।७८।' इत्यतो न सहस्रं सादेशः, सञ्जायामेव तत्प्रवृत्तेः ।

अङ्गदसहितम् । तथा जाम्बवम् ऋक्षाधिपर्ति नीलसहितमन्वीत् । जाम्बवशब्दो
उकारान्तो द्रष्टव्यः चारुसन्द्रावं चारुगतिम् ‘सामि युद्धुद्वः । ३ । ३ । २३ ।’
इति घब् ॥ ३५ ॥

अथ पञ्चमिः कुलकम् ।

यात यूर्यं यमश्रायं दिशं नायेन दक्षिणाम् ।

विक्षावैस्तोयविश्रावं तर्जयन्तो महोदधेः ॥ ३६ ॥

यातेत्यादि—यूर्यं यात गच्छत । यमश्रायं यमस्थानम् । श्रयलेनमिति
‘अणिमुवोडनुपसर्गे । ३ । ३ । २४ ।’ इति घब् कर्मणि । काम् दक्षिणां
दिशम् । सामान्याभिधानाद्विशेषाभिधानम् । नायेन नीत्या सामादिना । नीय-
तेऽनेतति पूर्ववक्तरणे घब् । महादधेस्तोयविश्रावं तोयध्वनि तर्जयन्तो न्यक्कुर्वा-
णाः । कैः विक्षीवैः स्वैः शब्दैः । उभयत्रापि ‘वौ क्षुश्रवः । ३।३।२५’ इति
कर्मणि घब् ॥ ३६ ॥

उत्तायानविगच्छन्तः प्रद्रावैर्वसुधाभृताम् ।

वनाडभिलावान्कुर्वन्तः स्वेच्छया चारुविक्रमाः ॥ ३७ ॥

उत्तायानत्यादि—वसुधाभृतां पर्वतानाम् । वसुधां विभ्राति-धारयन्तीति
तेषाम् । ‘उत्तायाऽनुच्चयानुच्चत्वान्यविगच्छन्तः जानन्तः । ‘अवोदोर्णनयः
। ३।३।२६।’ इति भावे घब् । कैः अङ्गवैः प्रकृष्टगतिभिः । ‘प्रे हुस्तुस्तुवः । ३।
३।२।७।’ इति घब् । वनाडभिलावान् वनविघ्वंसान् । निरभ्योः पूल्वोः । ३।३।
२।८।’ इति भावे घब् । स्वेच्छया कुर्वन्तः । चारुविक्रमाः असाधारण-
पराक्रमाः । यात यूर्यमिति संवन्धः ॥ ३७ ॥

सदोङ्गारसुगन्धीनां फलानामलमाशिताः ।

उत्कारेषु च धान्यानामनभीष्टपरिग्रहाः ॥ ३८ ॥

सदेत्यादि—सदा सर्वदा उडारे भक्षणानन्तरं श्वसनपूर्वके शब्दोचारणे
यानि सुगन्धीनि तेषामलं पर्याप्तमाशिताः । ‘गृ शब्दे’ इत्यस्मादुत्पूर्वात्
‘उन्न्योर्मः । ३।३।२९।’ इति घब् । आङ्गपूर्वादभोतेः ‘आदिकर्मणिं कः

१ जाम्बव इति जाम्बकत एव सञ्जान्तरम् । २ सुन्दरगमनकारिणमित्यर्थः ।
‘सुन्दरं रुचिरं चारु’ इति ‘प्रद्रावोङ्गावसन्द्रावसन्द्रावा विद्रवो द्रवः ।’ इति चामरः ।
३ ‘आयः श्रयणे’ इत्यमरः । ४ ‘निकारोङ्गात्मविक्षात्कोङ्गाहास्तु गरणादिषु’ इत्यसरः ।
५ ‘अश्रये’ इत्यमरः । ६ ‘प्रद्रावोङ्गावसन्द्रावसन्द्रावाः’ इत्यमरः ।
७ ‘क्षोडभिलावा लवने’ इत्यमरः ।

कर्तरि च । ३ । ४ । ७१ ।' इति कर्तरि कः । कृत्प्रयोगे कर्मणि षष्ठी 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थरुनाम् । २ । ३ । ६९ ।' इति निषिद्धाऽतः शेषे षष्ठी । उत्कारेषु च राशिषु धान्यानाम् । 'कृ विश्वेषे' इत्यस्मादुत्पूर्वात् 'कृ धान्ये । ३ । ३ । ३० ।' इति कर्मणि घब् । अनभिष्टपरिग्रहाः अनभिलासुका इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

संस्तावमिव शृण्वन्तश्छन्दागानां महाध्वरे ।

शिञ्जितं मधुलेहानां पुष्पप्रस्तारशायिनाम् ॥ ३९ ॥

संस्तावमित्यादि—मधुलेहानां भ्रमराणां पुष्पप्रस्तारशायिनाम् । 'प्रेषो ऽयज्ञे । ३ । ३ । ३२ ।' इति घब् । शिञ्जितं शृण्वन्तः यूर्यं यात । छन्दोगानां महाध्वरे संस्तावमिव सम्भूय स्तवनमिव पाठ्वर्णनविशेषमिव वा 'यज्ञे समि स्तुवः । ३ । ३ । ३१ ।' इति घब् ॥ ३९ ॥

आलोचयन्तो विस्तारमम्भसां दक्षिणोदधेः ।

स्वाद्यन्तः फलरसं मुष्टिसंग्राहपीडितम् ॥ ४० ॥

आलोचयन्त इत्यादि—दक्षिणोदधेद्विष्णिदिगुपलक्षकस्य समुद्रस्येत्यर्थः । अम्भसां विस्तारं विस्तीर्णताम् । विपूर्वात् स्तुणाते: 'प्रथने वावशब्दे । ३ । ३ । ३ । ३२ ।' इति घब् । आलोचयन्तो निरूपयन्तः । इयानस्ये विस्तार इति । फलरसमास्वादयन्तः । मुष्टिसंग्राहपीडितम् । मुष्टेः संग्रहेण हस्तेन पीडितम् । ग्रहेः 'समि सुष्ठौ । ३ । ३ । ३६ ।' इति घब् । भावे मुष्टिविषये व्युत्पादितत्वात् । मुष्टिग्रहणमभिव्यक्तयेऽज्ञातव्यम् ॥ ४० ॥

न्यायर्थं यदत्र तत्कार्यं पर्यायेणाऽविरोधिभिः ।

निशोपशायः कर्तव्यः फलोच्चायश्च संहृतैः ॥ ४१ ॥

न्यायमित्यादि—यदत्र न्यायादनपेतं तत्कार्यमविरोधिभिर्युभ्याभिः । 'परिन्योर्नीर्णोद्यूताभ्रेषयोः । ३ । ३ । ३७ ।' इति घब् । पदार्थानामनपचारेणेत्यर्थः । 'व्युपयोः शेतेः पर्याये । ३ । ३ । ३९ ।' इति घब् । मपर्यायेण परिपाण्या । 'परावनुपात्यय इणः । ३ । ३ । ३१८ ।' इति भावे घब् । अनुपात्ययः पर्यायः । निशोपशायः कर्तव्यः । युभ्याभिर्निशाया-

१ 'उत्कारश्च निकारश्च द्वौ धाम्योत्क्षेपणार्थकौ' इत्यमरः २ यद्यपि 'भूषणानां तु शिञ्जितम् ।' इत्यमरावृक्त्या भूषणानामेव शब्दस्य वाचकः शिञ्जितशब्दः । तथाऽपि भ्रमराणां तदुपमत्वं सम्भाव्य समर्थनीयम् ।

मुपशाये: पर्यायशशनं कर्तव्यम् । ‘व्युपयोः शेतेः पर्याये । ३ । ३ । ३९ ।’
इति घञ् । फलोच्चायश्च संहतैः युष्माभिः कर्तव्यः ‘हस्तादाने चेरस्तेये
। ३ । ३ । ४० ।’ इति घञ् । हस्तादानं चादेयस्य प्रत्यासत्तिः ॥ ४१ ॥

सीतारक्षोनिकायेषु स्तोककायैश्छलेन च ।
मृग्या शत्रुनिकायानां व्यावहासीमनाश्रितैः ॥ ४२ ॥

स्तोतेत्यादि—छलेन युष्माभिः सीता मृग्या । रक्षोनिकायेषु राक्षस-
प्रायेषु निवासेषु इत्यथः । विवसन्त्यस्मिन्निति अधिकरणे ‘निवासचिदि-
शरीरापसमाधानेष्वादेश्च कः । ३ । ३ । ४१ ।’ इति घञ्, आदेश
ककारः । स्तोककायैर्युष्माभिः । चिन्वन्त्यस्माच्छुभमिति कायः । शरीरे
घञ् । शत्रुनिकायानां अरिसमूहानाम् । निचीयत इति निकायः । ‘संये
चानोत्तरायर्थे । ३ । ३ । ४२ ।’ इति कर्मणि घञ्, आदेश ककारः । तेषां
संबन्धिनां व्यावहासीं परस्परहसनम् । अनाश्रितैः । व्यवपूर्वाद्वसः कर्म-
व्यतिहारे ‘णवः खियामञ् । ५ । ४ । १४ ।’ इति शीलिङ्गे भावे पञ्च
विधाय णवः खियामञ् । ‘न कर्मव्यतिहारे । ७ । ३ । २६ ।’ इति वृद्धित्रति-
वेदः ॥ ४२ ॥

सांराविणं न कर्तव्यं यावन्नाऽयाति दर्शनम् ।
संदृष्टायां तु वैदेशां निग्राहो वोऽर्थवानरेः ॥ ४३ ॥

सांराविणमित्यादि—सांराविणमभिव्याप्त्या भाषणं न कर्तव्यं युष्माभिः
यवान्नायाति दर्शनं सीतेत्यर्थात् संपूर्वाद्रौतैः ‘अभिविधौ भाव इनुण् । ३ ।
३ । ४४ ।’ तदन्तात् ‘अणिनुणः । ५ । ४ । १५ ।’ इत्यण् । तस्मिन् ‘इनण्यनपत्ये । ६ । ४ ।
१६४ ।’ इति प्रकृतिभावः । यस्मात्संदृष्टायां चैतसां वैदेशां अरेन्निग्राहः
आक्रोशोऽभिभवलक्षणः वो युष्माकमर्थवान् । ‘आक्रोशोऽवन्योर्महः । ३ । ३ ।
४५ ।’ इति भावे घञ् ॥ ४३ ॥

पग्रहैरिव पात्राणामन्वेष्या मैथिली कृतैः ।
त्रातव्या चेङ्गितैर्धर्मैर्धर्यायन्ती राघवाऽगमम् ॥ ४४ ॥

१ ‘पश्यायो विशायश्च पर्यायशशयनार्थकौ ।’ इत्यमरः । २ रक्षसां निकायाः समूहाः तेषु
‘अथ सधर्मिणाम् । स्याद्विकायः’ इत्यमरः । ३ अदीर्घशरीरैरिति भावः । स्तोका अवपा
शुद्धा इति यावत् शायाः शरीराणि येषां तैः ‘स्तोकालपशुलकाः सूक्ष्मम्’ इत्यमरः ।

प्रग्राहैरित्यादि—पात्राणां भिक्षाभाजनानां प्रप्राहैरिव न तु समृद्धैरिवे-
त्यभिप्रायः । कृतैरन्वेष्या मैथिली । भिक्षुकवेषैरिव युष्माभिरित्यर्थः । ग्रहः
‘प्रे लिप्सायाम् । ३।३।४६।’ इति भावे घब् । कर्मणि षष्ठी । इज्जितैर्धम्यैः-
धर्मादनपेतैः । चेष्टितैः कुलाङ्गनोचितैः धर्मदनपेतानीति धर्म्याणि तैः ।
‘धर्म्यपर्यथर्थन्यायादनपेते । ४।४।९२।’ इति यत् । ज्ञातव्या सा ध्यायन्ती
रामागमम् । कुलाङ्गना हि प्रोपितभर्तुका सर्वदा भर्तुरागमनं
ध्यायति ॥ ४४ ॥

वेदिवत्सपरिग्राहा यज्ञियैः संस्कृता द्विजैः ।
हृश्या मासमतादद्वः प्रागनिन्दितवेशभृत् ॥ ४५ ॥

वेदिवदित्यादि—वेदिवद्वः सपरिग्राहाः यथा यज्ञियैर्यज्ञकर्माहैंद्विजैः-
ब्राह्मणैः । वेदिः वज्ञस्थली । सपरिग्राहाः परिगृहीता संस्कृता तथा सा-
उपि अतिपंचित्रत्वात् । ग्रहे: ‘परौ यज्ञे । ३।३।४७।’ इति यज्ञविषये
घब् । मासतमादद्वः प्रागहृश्या दर्शनार्हाः । मासस्य पूरणं यदहः ।
‘नित्यं शतादिमासर्चमाससंवत्सराच्च ५ । २।५७।’ इति तमडागमः ।
अस्मादेव निपातनात् मासस्यासंख्यावाचित्वे डद् । मासतमेऽहीति
हेतुं दर्शयन्नाह । तस्याः पूतत्वाच्चद्वनिन्दितवेशभृत् मैथिली मङ्गलमात्रा-
भरणा दर्शनार्हा । तां द्रष्टुं भवतां न चिरकालो भवतीति मासावधिना
प्रेषिताः ॥ ४५ ॥

नीवारफलमूलाशानृषीनप्यतिशेरते ।
अस्या गुणा निरुद्ग्रावास्तां द्रुतं यात पश्यत ॥ ४६ ॥

नीवारेत्यादि—यस्या गुणा ब्रह्मचर्यादयः ऋषीनप्यतिशेरते न्यक्कुर्वते तां
द्रुतं यात पश्यत । तत्र नीवारः अकृष्टपञ्चधान्यम् । ‘नौ वृ धान्ये । ३
। ३।४८।’ इति घब् । ‘उपसर्गस्य घञ्यमनुज्ये बहुलम् । ६।३।१२२।’ इति
दीर्घत्वम् । फलं मोचादि । मूलं शाल्कादि । एतान्यभून्ति वे क्रषयः ।
कीदृशा गुणाः । निरुद्ग्रावाः स्थिराः । ‘उदि श्रंयतियौतिद्रुवः । ३।३।
४९।’ इति घब् ॥ ४६ ॥

१ ‘वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थणिलचत्वरे ।’ इत्यमरः । २ समानः परिग्राहः
परिग्रहो येषां ते सपरिग्राहाः । परिग्राहो वेषादिः । ३ ‘तृणधान्यानि नीवाराः’ इत्यमरः ।
अत्र बहुवचनमविवक्षितम् ‘अमरा निर्जरा देवाः’ इत्यादिवत् ।

मुपशायैः पर्यायशयनं कर्तव्यम् । ‘व्युपयोः शेतेः पर्याये । ३ । ३ । ३९ ।’
इति घब् । फलोच्चायश्च संहतैः युष्माभिः कर्तव्यः ‘हस्तादाने चेरस्तेये
। ३ । ३ । ४० ।’ इति घब् । हस्तादानं चादेयस्य प्रत्यासत्तिः ॥ ४१ ॥

सीतारक्षोनिकायेषु स्तोककायैश्छलेन च ।
मृग्या शत्रुनिकायानां व्यावहासीमनाश्रितैः ॥ ४२ ॥

स्तोतेत्यादि—छलेन युष्माभिः सीता मृग्या । रक्षोनिकायेषु राक्षस-
प्रायेषु निवासेषु इत्यथः । विवसन्त्यस्मिन्निति अधिकरणे ‘निवासचिति-
शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः । ३ । ३ । ४१ ।’ इति घब्, आदेश
ककारः । स्तोककौर्यैर्युष्माभिः । चिन्वन्त्यस्माच्छुभमिति कायः । शरीरे
घब् । शत्रुनिकायानां अरिसमूहानाम् । निचीयत इति निकायः । ‘संये
चानोत्तरायर्थे । ३ । ३ । ४२ ।’ इति कर्मणि घब्, आदेश छकारः । तेषां
संबन्धिनीं व्यावहासीं परस्परहसनम् । अनाश्रितैः । व्यवपूर्वाद्विसः कर्म-
व्यतिहारे ‘णचः खियामब् । ५ । ४ । १४ ।’ इति शीलिङ्गे भावे णचं
विधाय णचः खियामब् । ‘न कर्मव्यतिहारे । ७ । ३ । २६ ।’ इति वृद्धिन्नति-
वेदः ॥ ४२ ॥

सांराविणं न कर्तव्यं यावन्नाऽयाति दर्शनम् ।
संदृष्टायां तु वैदेहां निग्राहो वोऽर्थवानरेः ॥ ४३ ॥

सांराविणमित्यादि—सांराविणमभिव्याप्त्या भाषणं न कर्तव्यं युष्माभिः
यवान्नायाति दर्शनं सीतेत्यर्थात् संपूर्वाद्रौतेः ‘अभिविधौ भाव इन्दुण् । ३ ।
३ । ४४ ।’ तदन्तात् ‘अणिनुणः । ५ । ४ । १५ ।’ इत्यण् । तस्मिन् ‘इनण्यनपत्ये । ६ । ४ ।
१६४ ।’ इति प्रकृतिभावः । यस्मात्संदृष्टायां चैतसां वैदेहां अरोर्निग्राहः
आक्रोशोऽभिभवलक्षणः वो युष्माकमर्थवान् । ‘आक्रोशोऽवन्योर्महः । ३ । ३ ।
४५ ।’ इति भावे घब् ॥ ४३ ॥

प्रग्रहैरिव पात्राणामन्वेष्या मैथिली कृतैः ।
ज्ञातव्या चेङ्गितैर्वर्मैर्घ्यायन्ती राघवाऽगमम् ॥ ४४ ॥

‘उपशायो विशायश्च पर्यायशयनार्थकौ ।’ इत्यमरः । २ रक्षसां निकायाः समूहाः तेषु
भव संधर्मिणाम् । स्वाक्षिकायः ‘इत्यमरः । ३ अदीर्घशरीरैरिति भावः । स्तोका अवपा
शुद्रा इति यावत् शायाः शरीराणि तेषां तैः ‘स्तोकाल्पशुल्काः सूक्षमम्’ इत्यमरः ।

प्रग्राहैरित्यादि—पात्राणां भिक्षाभाजनानां प्रप्राहैरिव न तु समृद्धैरिवे-
त्यभिप्राप्तः । कृतैरन्वेष्या मैथिली । भिक्षुकवेषैरिव युष्माभिरित्यर्थः । ग्रहः
‘प्रे लिप्सायाम् ।३।३।४६।’ इति भावे घब् । कर्मणि षष्ठी । इज्जितैर्धर्मयैः
वर्मादनपेतैः । चेष्टितैः कुलाङ्गनोचितैः धर्मादनपेतानीति धर्म्याणि तैः ।
‘धर्मपृथ्यर्थन्यायादनपेते ।४।४।९२।’ इति यत् । ज्ञातव्या सा ध्यायन्ती
रामागमम् । कुलाङ्गना हि प्रोषितभर्तृका सर्वदा भर्तुरागमनं
श्यायति ॥ ४४ ॥

वेदिवत्सपरिग्राहा यज्ञियैः संस्कृता द्विजैः ।

दृश्या मासमतादद्वः प्रागनिन्दितवेशभृत् ॥ ४५ ॥

वेदिवदित्यादि—वेदिवद्विः सपरिग्राहाः यथा यज्ञियैर्यज्ञकर्माहैर्द्विजैः
ब्राह्मणैः । वेदिः बद्धस्थली । सपरिग्राहाँ परिगृहीता संस्कृता तथा सा-
इपि अतिपंचित्रत्वात् । ग्रहः ‘परौ यज्ञे ।३।३।४७।’ इति यज्ञविषये
घब् । मासतमादद्वः प्रागदृश्या दर्शनार्हाः । मासस्य पूरणं यदहः ।
‘नित्यं शतादिमासर्चमाससंवत्सराच्च ५ । २।५७।’ इति तमडागमः ।
अस्मादेव निपातनात् मासस्यासंख्यावाचित्वे डट् । मासतमेऽहीति
हेतुं दर्शयन्नाह । तस्याः पूतत्वात्तद्वनिन्दितवेशभृत् मैथिली मङ्गलमात्रा-
भरणा दर्शनार्हा । तां द्रष्टुं भवतां न चिरकालो भवतीति मासावधिना
प्रेषिताः ॥ ४५ ॥

नीवारफलमूलाशानृषीनप्यतिशेरते ।

अस्था गुणा निरुद्ग्रावास्तां द्रुतं यात पश्यत ॥ ४६ ॥

नीवारेत्यादि—यस्या गुणा ब्रह्मचर्यादयः ऋषीनप्यतिशेरते न्यकुर्वते तां
द्रुतं यात पश्यत । तत्र नीवारः अकृष्टपच्यधान्यम् । ‘नौ वृ धान्ये ।३
।३।४८।’ इति घब् । ‘उपसर्गस्य घव्यमनुप्ये बहुलम् ।६।३।१२२।’ इति
दीर्घत्वम् । फलं मोचादि । सूलं ज्ञाल्कादि । एतान्यभन्ति ये ऋषयः ।
कीदृशा गुणाः । निरुद्ग्रावाः स्थिराः । ‘उदि श्रयतियौतिद्रुवः । ३।३।
४९।’ इति घब् ॥ ४६ ॥

१ ‘वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थिष्ठलचत्वरे ।’ इत्यमरः । २ समानः परिग्राहः
परिग्रहो येषां ते सपरिग्राहाः । परिग्राहो वेषादि । ३ ‘तृणधान्यानि नीवाराः’ इत्यमरः ।
अत्र बहुवचनमविवक्षितम् ‘अमरा निर्जरा देवाः’ इत्यादिवत् ।

उच्छ्रायवान्धनाऽरावो वानरं जलदाऽरवम् ।

दूराऽप्लावं हनुमन्तं रामः प्रोचे गजाऽप्लवः ॥ ४७ ॥

उच्छ्रायवानित्यादि-रामो हनुमन्तं प्रोचे । कीदृशः । उच्छ्रायवानुन्नतियुक्तः । पूर्ववद् घञ् । घनस्येवारावो यस्य । ‘विभाषाऽङ्गिरुप्लवः । ३।३।५०।’ इति भावे घञ् । गजाप्लवः गजगमनः । पक्षे पूर्ववदप् । कीदृशम् । दूराप्लावं दूरमाप्लाव उद्गमनं यस्य । पूर्ववत् घञ् ॥ ४७ ॥

अवग्राहे यथावृष्टिं प्रार्थयन्ते कृषीवलाः ।

प्रार्थयध्वं तथा सीतां यात सुग्रीवशासनात् ॥ ४८ ॥

अवग्राह इत्यादि-अवग्राहो वर्षप्रतिबन्धः । ‘अवे प्रहो वर्षप्रतिबन्धं । ३।३।५१।’ इति पक्षे अप् । यथा अवग्राहे कृषीवला वृष्टिं प्रार्थयन्ते तथा सीतां यूर्यं प्रार्थयध्वम् । तस्य दुर्लभत्वादत्यन्तादरणीयत्वाच् । यात सुग्रीवशासनात् ॥ ४८ ॥

वणिकप्राहवान्यद्वकाले चरति सिद्धये ।

देशापेक्षास्तथा यूर्यं याताऽदायाङ्गुलीयकम् ॥ ४९ ॥

वणिगित्यादि-तुला प्रगृह्यते येन सूक्रेण स प्रग्राहः । ‘प्रे वणिजाम् । ३।३।५२।’ इति करणे घञ् । स तुलासंबन्धी विद्यते यस्य वणिजः । संसर्गे मतुप् । यथा तुलाप्राहवान् तदुपलक्षितो वणिकं काले उचिते क्रयसिद्धये चरति तथा यूर्यं अङ्गुलीयकं तुलासूक्रस्थानीयं चिह्नमादाय देशापेक्षाः तत्तदेशस्थितास्तत्र हि चिह्नेन रामदूता इति लक्ष्यन्ते ॥ ४९ ॥

अभिज्ञानं गृहीत्वा ते समुत्पेतुर्नभस्तलम् ।

वाजिनः स्यन्दने भानोर्विमुक्तप्रग्रहा इव ॥ ५० ॥

अभिज्ञानमित्यादि-ते वानरा नभस्तलमुत्पेतुः । वाजिन इव विमुक्तप्रग्रहाः । विमुक्तः प्रग्रहो नियमरज्जुर्थेषामिति । ‘रझमौ च । ३।३।५३।’ इति विभाषाप्रहणमनुवर्तते । घवभावपक्षे ‘प्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३।३।५८।’ इत्यप् । स्यन्दने रथे भानोरादित्यस्य । किं कृत्वा । अभिज्ञानं गृहीत्वा चिह्नमङ्गुलीयकमादाय ॥ ५० ॥

१ ‘नयाधारोह उच्छ्राय दस्तेवश्चोच्छ्रयश्च सः ।’ इत्यमरः । २ ‘तद्विवातेऽवग्राह-
प्रग्रहौ संमौ’ इत्यमरः । ३ ‘तुला सूक्रेऽवादिरझमौ प्रग्रहः प्रग्रहोऽपि च ।’ इत्यमरः ।

उद्वच्छतवर्णिं कोट्या सुषेणं पश्चिमां तथा ।

दिशं प्रास्थापयद्राजा वानराणां कृतत्वरः ॥ ५१ ॥

उद्गित्यादि—वानराणां राजा सुग्रीवः शतवर्णि नाम वानरं वानराणां कोट्या सह उद्गुदीर्चीं दिशं प्रास्थापयत् । तिष्ठतेर्णन्तस्य लङ्घि रूपम् । उदीचीशब्दात् प्रथमान्तादिशि वर्तमानादस्तातिः । तस्याच्चवेलुक् । 'लुक् तद्वित्तलुकि' १२।४९।' इति खीप्रत्ययस्य लुक् । तसिनिवृत्ते भसंज्ञा-भावादीत्वमपि निर्वर्तते । तसिलादिस्तद्वित एवाच्चर्पयन्त इत्यव्ययस्वे द्विती-यालुक् । तथैव सुषेणं वानरं पश्चिमां दिशं प्रास्थापयन् । कृतत्वरः-त्वरितः ॥ ५१ ॥

प्राचीं तावद्विरव्यग्रः कपिभिर्विनतो ययौ ।

अप्रग्राहैरिवाऽऽदित्यो वाजिभिर्दूरपातिभिः ॥ ५२ ॥

प्राचीमित्यादि—कपिभिस्तावद्विरित्यैककोटिसंघातैः सह विनतः प्रणतः सुग्रीव इत्यर्थात् । अव्यग्रः अनाकुलः । प्राचीं पूर्वी दिशं ययौ । यथ आदित्यो वाजिभिरप्रप्राहैः मुक्तवन्धनैः करणमूर्तैः । 'रक्षमौ च' ३।३।५३।' इति घञ्च दूरयायिभिः ॥ ५२ ॥

ययुर्विन्द्यं शरन्मेधैः प्रावारैः प्रवरैरिव ।

प्रच्छन्नं मारुतिप्रष्टाः सीतां द्रष्टुं प्लवङ्गमाः ॥ ५३ ॥

ययुरित्यादि—मारुतिप्रष्टाः हनूमदग्नेसराः सीतां द्रष्टुं विन्द्यपर्वतं ययुः । शरन्मेधैः प्रावारैरिव प्रच्छन्नम् 'वृणोतेराच्छादने । ३।३।५४।' इति घञ्च । प्रवरैः श्रेष्ठैः । अनाच्छादने ग्रहेत्यादिना अप् ॥ ५३ ॥

परिभावं मृगेन्द्राणां कुर्वन्तो नगमूर्धसु ।

विन्द्ये तिग्मांशुमार्गस्य चेहुः परिभवोपमे ॥ ५४ ॥

परीत्यादि—मृगेन्द्राणां सिंहानां परिभावमभैभवं कुर्वन्तः । विन्द्ये चेहः श्रान्ताः । 'परौ भुवोऽवज्ञाने' ३।३।५५।' इति घञ्च । कीदृशे तिग्मांशु-मार्गस्य परिभवोपमे । 'आदित्यमार्गस्य परिभवनम् । अत्युच्चत्वात् । घञ्च-भावपक्षे अप् ॥ ५४ ॥

१ कृतात्वरो येन सः । २ अत्रोपमां । ३ 'परीभावम्' इति पांडान्तरम् । ४ विन्द्ये एतदाल्ये पर्वते ।

भ्रेमुः शिलोच्चयांस्तुङ्गानुत्तेरुद्वरान्नदान् ।

आशंसवो लवं शत्रोः सीतायाश्च विनिश्चयम् ॥ ९५ ॥

भ्रेमुरित्यादि—उत्पूर्वाच्चिनोते: ‘एरच् । ३ । ३ । ५६ ।’ इत्यच् । शिला-
मिहुच्चयो वेषां तान् शिलोच्चयान् । भ्रेमुः भ्रमणकियाया व्याप्त्यत्वात्
मुक्तमंकता । नदान् अतरात् तरितुमशक्यान् उत्तेऽः उत्तीर्णवन्तः । शत्रो-
र्लवमुच्छेदनम् । सीतायाश्च विनिश्चयं विनिर्णयम् । आशंसवः आशंसनशिलाः ।
‘सनाशंसभिक्ष उः । ३।२।१६८।’ इत्युः । तरलवौ ‘क्रदोरप् । ३।३।५७।’ इति
अपूरत्ययान्तौ । विनिश्चयमिति ग्रहेत्यप् ॥ ५५ ॥

आदरेण गमं चकुर्विषमेष्वप्यसङ्घसाः ।

व्याप्तुवन्तो दिशोऽन्यादानकुर्वन्तः सव्यधान्हरीन् ॥ ९६ ॥

आदरेणेत्यादि—विषमेष्वपि प्रदेशेषु गमं गमनं चक्रुः । आदरेणानवज्ञया
गमम् ‘ग्रहवृद्धनिश्चियमश्च । ३।३।५८।’ इत्यप् । असंघसाः त्यक्ताहाराः ।
‘उपसर्गेऽदः । ३।३।५९।’ इत्यपि ‘घबपोश्च । २।४।३८।’ इति अदेव्यस्लादेशः ।
हरीन् चिह्नान् । सव्यधान् सप्रहारान् । ‘व्यधजपोरनुपसर्गे । ३ । ३ । ६१।’
इत्यप् । सप्रहारत्वादन्यादान् परित्वक्ताहारान् कुर्वन्तः । ‘नौ ण च । ३।३।६०।’
इति निपूर्वाददोऽण् प्रत्ययः । तस्मिन्नदेन घस्लादेशः । चकारादपि तत्र
निघसः । दिशो व्याप्तुवन्तः सर्वव्यापिनः ॥ ५६ ॥

सञ्चेरुः सहसाः केचिदस्वनाः केचिदादिषुः ।

संयामवन्तो यतिवन्निगदानषेरुमुच्चन् ॥ ९७ ॥

सञ्चेहरित्यादि—सहसाः सहासाः । अस्वनौस्तुष्णीकाः । ‘स्वनहसोर्वा
। ३।३।६२।’ इत्यप् । यतिवत् संयामवन्तः नियमवन्तः ‘यमः समुपनिविषु
च । ३।३।६३।’ इति घब् । आदिषुः अटिवन्तः । अटेर्लुङ्गि रूपम् ।
अपरे निगदान् कलकलरवान्मुच्चन् । ‘नौ गद् नदपठस्वनः । ३।३ । ६४।’ इति
विकल्पेनापो विद्यानात् घब् ॥ ९७ ॥

अथ कुमादनिःक्षाणा नराः क्षीणपथा इव ।

अमदाः सेदुरेकस्मिन्नितम्बे निखिला गिरेः ॥ ९८ ॥

१ पर्वतानिति यावद् । २ अपीति शेषः । ३ इदं स्वेषां ग्रहग्रस्तत्वं योत्थितुम् ।
४ इदम्मूकत्वं योत्थितुम् । ५ ‘यमः सन्यामसंयमौ’ इत्यमरः । ६ इदं विद्वत्वं सम्भाव-
यितुम् । ‘विगादो निगदे’ इत्यमरः ।

अथेत्यादि—अथ परिभ्रमणादनन्तरं कुमेन परिश्रेण अमदाः गतप्रभादाः ‘मदोऽनुपसर्णे । ३ । ३ । ६७।’ इत्यप् । निःक्लाणाः निशशब्दाः मूकीभूता इति भावः । ‘कणो वीणायां च । ३ । ३ । ६८।’ इत्यो विकल्पेन घब् । वीणादिविषयमेतत् । कणेर्निष्पूर्वाद्बुपसर्गाद्वीणादिविषयाच्च विकल्पेनाप्प्रत्यय इत्युक्तम् । एकस्मिन् गिरेर्नितम्बे सेदुः निषणाः । निखिलाः समस्ता वानराः । शीणपणा इव अर्थरहिता नरा इव । पञ्चन्त इति पणाः । व्यवहाराय कृते पणे व्यवस्थाप्यन्ते । ‘नित्यं पणः परिमाणे । ३ । ३ । ६९।’ इत्यप् ॥ ५८ ॥

ततः ससम्भद्रास्तत्र निरेक्षन्त पतत्रिणः ।

गुहाद्वारेण निर्यातः समजेन पश्चनिव ॥ ५९ ॥

तत इत्यादि—ततो विश्रामानन्तरं ते तत्र तस्मिन् पर्वते पतत्रिणः पश्चिमो निरैक्षन्त ईक्षितवन्तः । ईक्षेर्लङ्कि रूपम् । कीदृशान् गुहाद्वारेण निर्यातः निर्गम्यच्छतः । निष्पूर्वाद्याते शत्रन्तस्य शसि रूपम् । ससम्भद्राः सहर्षाः ‘प्रमदसंभद्रौ हर्षे । ३ । ३ । ६८।’ इति निपातितम् । समजेन वृन्देन पश्चनिव निर्यातः । ‘समुद्रोरजः पशुषु । ३ । ३ । ६९।’ इत्यप् ॥ ५९ ॥

वीनामुपसरं दृष्टा तेऽन्येन्योपहवा गुहाम् ।

प्राविशन्नाहवप्रज्ञा आहावमुपलिप्सवः ॥ ६० ॥

वीनामित्यादि—वीनां पश्चिमामुपसरं नैरन्तर्येण निर्गमनं दृष्टा । उपसर इव उपसरः नैरन्तर्यमात्रेणोपलक्षितवात् । उपसंरो हि शीणवीषु पुङ्गवानामभिगमनमुच्यते । स च नैरन्तर्येण भवति । ‘प्रजने सर्तेः । ३ । ३ । ७१।’ इत्यप् । ते वानरा अन्योन्योपहवाः परस्परमाङ्गानं येषाम् आगच्छंतागच्छत प्रविशाम इति । ‘हः सम्प्रसारणम् । ६ । १ । ३२।’ इत्यप् संप्रसारणं च । गुहां प्राविशन् प्रविष्टवन्तः । आहवप्रज्ञाः युद्धप्रज्ञाः । आहूयते युद्धय स्पर्धतेऽत्र । ‘भाङ्गि युद्धे । ३ । ३ । ७३।’ इत्यप् संप्रसारणं च । आहाँमुपलिप्सवः उदकावारमुपलब्धुमिच्छवः । ‘निपानमाहावः । ३ । ३ । ७४।’ इति घटि सम्प्रसारणं निपात्यते । वृद्धिरस्त्येव । अप्रत्यये त्ववृद्धिः ॥ ६० ॥

१ यतहर्षां इति पाठान्तरं तु न प्रकृते युक्तम् । २ ‘निकणो निकाणः काणः’ इत्यमरः । ३ अत्र जात्यभिप्रायेणैकवचनं तेन नितम्बेष्वित्यर्थः । ‘कटकोऽशी नितम्बोऽद्देः’ इत्यमरः । ४ ‘पश्चानां समजोऽन्येषां समाजः’ इत्यमरः । ५ ‘प्रजवः स्यादुपसरः’ इत्यमरः । ६ सङ्ग्रामाभिलाषिणः । ‘अभ्यामर्दसमावातसङ्गामाभ्यागमाहवाः’ । इत्यमरः । ७ जलपानस्थलम् । ‘आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजकाशये’ इत्यमरः ।

कुर्वन्तो हवमाप्नानां पिपासावधकाङ्गिणः ।
द्वारं तमोघनप्ररुयं गुहायाः प्राविशन्दुतम् ॥ ६१ ॥
कुर्वन्त इत्यादि—गुहां प्रविश्य तस्याः द्वारमपरं प्राविशन् । आप्नानां
स्तिंग्नानां हवमाहानं कुर्वन्तः । ‘भावेऽनुपसर्गस्य । ३ । ३ । ७५ ।’ इत्यपूर्व
संप्रसारणं च । पिपासा पातुभिञ्छात तस्या वथोऽप्नयनम् । ‘हनश्च वधः
। ३ । ३ । ७६ ।’ इत्यपूर्वधादेशश्च । तं काङ्गिक्षतुं शीलं येषामिति । ‘काङ्गिक्ष
माङ्गिक्ष काङ्गिक्षायाम्’ इत्यसात् ‘सुप्यज्यातौ पिनिस्ताच्छीलये । ३ । २ । ७८ ।’
‘इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।’ साधुकारिणि वा । कीदृशं द्वारं तमो-
घनप्ररुयं तमसो घनः मूर्तैः काठिन्यं तेन सदृशम् । ‘मूर्तैः घनः ३ । ३ । ७७ ।’
इति हन्तेरपूर्वत्ययो घनादेशश्च निपात्यते । मूर्तिमत्तम् इव द्वार-
मित्यर्थः ॥ ६१ ॥

ब्रास्मन्नन्तर्धणेऽपश्यन्प्रधाणे सौधसद्गनः ।

लौहोदूधनघनस्कन्धा ललिताऽपघनां ख्यियम् ॥ ६२ ॥

तस्मिन्नित्यादि—द्वारमतिक्रम्य यः सावकाशप्रदेशः सोऽन्तर्धण इत्यु-
च्यते । तथाश्वन्तर्वन्यते क्रोडीभवत्यस्मिन्निति अनुगतार्थत्वम् । ‘अन्तर्धणो देशे
। ३ । ३ । ७८ ।’ इत्यन्तःपूर्वाङ्गुल्नेत्रपूर्व घनादेशः । घणादेशो वा ये णकारं
पठन्ति । यतु संज्ञीभूतो वाहकेषु देशविशेष इत्युक्तं तत् संज्ञाशब्दमाश्रित्य ।
ज्ञस्मिन्नत्वे यत् सौधसद्ग धवलगृहं तस्य प्रैधाणे एकदेशे । ‘प्रधणः
प्रधाणश्च । ३ । ३ । ७९ ।’ इति निपातितम् । ख्यियं ललितापर्वैनां ललिताङ्गीम-
षवद्यन् । ‘अपघनोऽङ्गम् । ३ । ३ । ८१ ।’ इति निपातनम् । लौहोदूध-
नघनस्कन्धाः । लौहो लोहमयो य उद्धनः यस्मिन् स्थापयित्वा काष्ठादीनि
शंस्क्रियन्ते तद्वद् घनः स्कन्धो येषामिति । उद्धनोऽल्यावानम् । ३ । ३ । ८० ।
इति निपातनम् ॥ ६२ ॥

सां स्तम्बन्धपदन्यासान्विविनेन्दुसमयुतिः ।

परिघोरभुजानाह हसन्ती स्वागतं कपीन् ॥ ६३ ॥

१ ‘प्रधाणप्रधणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके’ इत्यमरः । २ ललिताः सुन्दरा अप-
घना अङ्गालि यस्यास्ताम् । अङ्गं प्रतीकोऽवश्यवोऽपघनः । इत्यमरः । ३ ‘निधाय तक्षयते
यत्र काष्ठे काष्ठे स उद्धनः’ इत्यमरः । लौहेतिविशेषामिघानेन तस्य काष्ठप्रस्तुतर्वं
निरस्तम् ।

सेत्यादि—सा खी हसन्ती कपीत् स्वागतं वच आह । कीदृशी विघ्नेन्दुसमव्युतिः विहन्यते अभिभूयते अन्या द्वितियेन स विघ्नः ‘करणेऽयोविद्रषु । ३ । ३ । ८२ ।’ इत्यए घनांदेशश्च । स चेन्दुश्चेति सः । तत्समा द्वितीयस्याः । स्तम्बो हन्यते येन पादन्यासेन स स्तम्बेन्नः । तृणकाष्ठादिः । ‘स्तम्बे क च । ३ । ३ । ८३ ।’ इति करणे कः । ‘गमहनजनखनघसां लोपः द्वित्यनंडिः । ६ । ४ । ९८ ।’ इत्युपधालोपः । ताटृशः पादन्यासो येषां कपीनामिति । परिहन्यते येन । ‘पटौ वंः । ३ । ३ । ८४ ।’ इत्यपूद्वादेशश्च । परिघोऽर्पिलः तद्दुकारिणो विपुला बाहौ येषामिति ॥ ६३ ॥

पिप्रायाद्रिगुहोपन्नानुद्घान्सङ्गसपागतान् ।

फलैर्नारसैश्चित्रैः स्त्रादुशतिश्च वारिभिः ॥ ६४ ॥

पिप्रायेत्यादि—तान्विविधैः फलैर्वरिभिश्च पिप्राय तर्पितवती । अद्रिगुहोपन्नान् । अद्रिगुहैव उपच्छ आश्रयो येषां कपीनाम् । ‘उपन्न आश्रये । ३ । ३ । ८५ ।’ इत्यपूद्वपधालोपश्च निपात्यते । संघसमागतान्समूहेनागतान् । उद्घान् प्रशस्तान् । ‘संघोदृढौ गणप्रशस्योः । ३ । ३ । ८६ ।’ इति समुदोरुपपदयोः व्यन्तेरपि टिलोपश्च निपात्यते ॥ ६४ ॥

निधानिधतरुच्छन्ने तस्मिस्ते लब्धिमैः फलैः ।

तृप्तास्तां भ्राजथुमर्तीं पप्रच्छुः कस्य पूरियम् ॥ ६५ ॥

विदेत्यादि—तस्मिन्प्रधणे निधानिधीर्नमितानिमितैत्तहभिश्छन्ने । ‘निधो निमितम् । ३ । ३ । ८७ ।’ इति निपूर्वाद्वन्तेरपि टिलोपे निपात्यते । समारोह-परि णाहाभ्यां निमितमित्युच्यते । ते कपयः । लब्धिमैर्लभनिवृत्तैः । ‘हृततः किः । ३ । ३ । ८८ ।’ इति किः । ‘खेर्मनित्यम् । ४ । ४ । ३० ।’ इति मप् । फलैस्त्रप्ताः सन्तस्तां खियं भ्राजथुमर्तीं शोभावतीम् । पप्रच्छुः पृष्ठवन्तः कस्येयं पूरिति । ‘द्वितोऽथुच् । ३ । ३ । ८९ ।’ तद्वान्मतुपू ॥ ६५ ॥

रक्षणं करोवि कस्मात् त्वं यत्नेनाऽऽरुद्यायतां शुभे ।

स्वप्ने निधिवदाभाति तव संदर्शनं हि नः ॥ ६६ ॥

१ ‘स्तम्बवस्तु स्तम्बवनः स्तम्बो येन विहन्यते ।’ इत्यमरः । २ ‘स्यादुपन्नो-
ऽन्तिकाश्रये ।’ इत्यमरः । ३ ‘मतल्लिकामचर्चिकाप्रकाण्डमुद्रतद्वजौ । प्रशस्तवाचका-
यमूनि’ इत्यमरः ।

रक्षणमित्यादि—हे शुभे ! कर्त्याणि करमाद्वा रक्षणं रक्षां करोषि । एतद्य-
लेनवादरेण नोऽस्माकमाख्यायताम् । उभयब्राह्मि ‘यजयाचयतविरुद्धप्रचल्लक्षो नक्ष् । ३।३।९०’ इति नक्ष् । यस्मात्स्वप्ने निधिवत् निधिरित तत्र संदर्शनमाभाति ।
नोऽस्माकवातिदुर्लभत्वात् । स्वप्न इति ‘स्वप्ने नन् ३।३।९१’ निधिरिति
‘धृपसर्वे धाः किः ३।३।९२’ इति किः ॥ ६६ ॥

ततो जलधिगम्भीरान् वानशन् प्रत्युवाच सा ।

इयं दानवराजस्व पूः सृष्टिर्क्षकर्मणः ॥ ६७ ॥

तत इत्यादि—ततस्तस्मादृक्षतरं सा प्रत्युवाच । जलं धीयते अस्मिन्निति
‘कर्मण्याधिकरणेच ३।३।९३’ इत्याधिकरणेऽर्थे किः जलधिः समुद्रः । तद्द्व-
म्भीरानक्षोभ्यत्वात् । इयं पूः दानवराजस्य विश्वकर्मणः सृष्टिः । सृज्यत
इति सृष्टिः । कर्मणि ‘विद्यां किंन् ३।३।९४’ इति किंन् ॥ ६७ ॥

इतः परं ऋग्वेदामधिकृत्यमेवत्यते—

निहतश्च स्थिरिं विन्दन्क्षान्वोऽसौ बलद्विषा ।

दुहिता मेरुसावर्णेभृं ह नाम्ना स्वयम्प्रभा ॥ ६८ ॥

निहत इत्यादि—असौ दूसरं दैत्यमाजः स्थिरिं मर्यादां भिन्दन् ।
‘स्थागापापचो भावे ३।३।९५’ इति किंन् । बलद्विषा इन्द्रेण निहतः । यस्य
चाहं दुहिता । स पिता । नाम्ना मेरुसावर्णः अहं च नाम्ना स्वयम्प्रभेति ॥ ६८ ॥

जूतिमिच्छत चैत्तूर्णं कीर्तिं वा पातुमात्स्यनः ।

करोमि वो बहिर्यूतिमिन्दिवध्वं पाणिभिर्दशः ॥ ६९ ॥

जूतिमित्यादि—यदि तूर्णं श्वस्त्रं जूतं गमनमिच्छथ । कीर्तिं वा आत्मनः
पातुं रक्षितुम् ‘पात्रक्षम्’ तुमुक्तः । वः युम्मान् बहिर्यूतीन् बहिर्भूतान् । ‘ऊति-
यूतिजूतिमातिहेत्तीत्यमङ्ग ३।३।९६’ इत्याहित्ता लिप्यातित् । तत्र यौते-
जप्तवेद्य तिन् दीर्घित्वं च निपात्यते । कीर्तिरपि ‘कूत संशब्दवे’ स्वाधिको गिन्
‘उपवायाश्च ३।३।९०१’ इतीत्वं तस्मात् तिन् । अतः प्रपणैभिः दृशो-
दृष्टीः पिघध्वं आच्छ्रव्यक्षम् । अस्मैमूर्वद्वात् त्योदि द्विर्वचने ‘दधस्तथोश्च
३।३।९१’ इति अभ्यस्मद्य भज्ञत्वः । आभ्यस्तयोरप्तः ३।४।१२। इत्याका-
रलोपे ‘श्वलां जशु श्राणि । ३।४।५३।’ इति धातोर्दकारे ‘धृष्टे भागुरिरलोप-
मव्याप्योक्तप्रसारयोः । इत्युपसर्गाक्षरत्वोपेच रूपम् ॥ ६९ ॥

ब्रज्यावती निरुद्धाऽक्षान् विद्येवाऽनुष्ठितक्रियान् ।

निरचिकमदिच्छातो वानरांश्वर्कमावतः ॥ ७० ॥

ब्रज्येत्यादि—सा ब्रज्यावती प्रशस्तगमनवती । ‘ब्रजयजोर्जवे कथप् ।३।३।१८।’ प्रशंसायां भृत्युप् । वानरान्निरुद्धाक्षान् निरचिकमत् निष्कासित-वती । क्रमेर्यन्तस्य लुडि ‘सन्वल्लघुनि चहृपरेऽनग्लोपे ।३।४।१३।’ इति सन्व-द्वावात् ‘सन्यतः ।३।४।७।’ इतीत्वम् । ‘दीर्घों लघोः ।३।४।१४।’ इति न दीर्घत्वं संयोगपरस्य गुरुत्वात् । अनुष्ठितक्रियानाचरितदुपादिष्टव्यापारान् । ‘कृचः श च ।३।३।१००।’ इति शाः । ‘सार्वधातुके यक्ष ।३।३।६।’ रिङादे-शश । चहृमावतः कुटिलगतिमतः । ‘अः प्रत्ययात् ।३।३।१०२।’ इत्यकारः । इच्छात इति वानरणामिच्छायाः । ‘इच्छा ।३।३।१०१।’ इति निपातितम् इष्वः शप् प्रत्ययः छभावश्च निपात्यते । विद्या । ‘संज्ञायाम् ।३।३।११।’ इति च्यप् । यथा विद्या अनुष्ठितक्रियान् कृतपुरश्चरणान् पुरुषानिच्छातोऽभीष्टं सम्पा द्यति तद्वस्त्वेति ॥ ७० ॥

निष्क्रम्य शिक्षया तस्याद्वपावन्तो रसातलात् ।

ज्ञात्वा मासमतिक्रान्तं व्यथामवललस्त्रिरे ॥ ७१ ॥

निष्क्रम्येत्यादि—तस्याः शिक्षया उपदेशेन शुरोभ्व हलः ।३।३।१०३।’ इत्यकारः । तस्माद्रसातलान्निष्क्रम्य निर्गम्य त्रपावन्तः लम्जिता इति भावः । खिया उपदेशेन निष्कान्ता वयमिति त्रयेति । ‘विद्विद्विद्विभ्योऽङ् ।३।३।१०४।’ मास-मतिक्रमन्ते ज्ञात्वा बहिर्निर्गताः सन्तः व्यथां पीडां, लक्षणया भयमित्यर्थः । ‘विद्विद्विभ्योऽङ् ।३।३।१०५।’ अवललस्त्रिरे वयं मासावधिना प्रेषिताः स च मासो विनैव कार्येणातिक्रान्त इति स्वामिनो भयम् ॥ ७१ ॥

चिन्तावन्तः कथां चकुरुपथाभेदभीरवः ।

अकृत्वा नृपतेः कार्यं पूजां लप्स्यामहे कथम् ॥ ७२ ॥

चिन्तनेत्यादि—उपधानमुपधा पराक्षिः । ‘आतश्चोपसर्गे ।३।३।१०६।’ इत्यङ् । तत्परिशुद्धो हि भृत्यः कार्येषु नियुज्यते । तदकरणादुपैवया भेदोऽभावः तस्मा-द्वीरवः । चिन्तावन्त इति कर्तव्यतामूढाः कथां चक्रः कृतवन्तः । कीदृशीमित्यान् ह । अकृत्वा नृपतेः कार्यं पूजां लप्स्यामहे कथमिति नैवेत्यर्थः । चिन्तादयः । ‘चिन्तिपूजिकथिकुस्त्रिवच्चश्च ।३।३।१०५।’ इति अङ्गन्ताः ॥ ७२ ॥

१ ‘भेदोपजातावृपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम् ।’ इत्यमरः । २ कार्येषु भृत्यानि-योजनादित्यर्थः ।

प्रायोषासनया शार्नित मन्वानो वालिसम्भवः ।

युक्त्वा योगं स्थितः शैले विवृण्णंश्चित्तवेदनाम् ॥ ७३ ॥

प्रायेत्यादि—उपासनेति । ‘प्यासश्नन्थो युच् । ३ । ३ । १०७ ।’ प्रयोग अविच्छेदेन उपवासेनोपासना अनशनेनासनमित्यर्थः । तया शार्नित कल्याणं मन्वानोऽवगच्छन् उपयान्तरभावात् । वालिसम्भवोऽङ्गदः । ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।’ इत्युक्तस्तं युक्त्वा सम्बद्य शैले स्थितः । चित्त-वेदनां चित्तपीडां विवृण्णन् । ‘घट्टिविदिवन्दिभ्यो युज् वक्तव्यः’ इति वार्तिकेन युच् ॥ ७३ ॥

प्रस्कन्दिकामिव प्राप्तौ ध्यात्वा ब्रूते स्म जाम्बवान् ।

विकृ शालभञ्जिकाप्रख्यान् विषयान् कल्पनाहृचीन् ॥ ७४ ॥

प्रस्कन्दिकामित्यादि—त्वया का क्रिया कर्तव्येत्यन्यः पृष्ठः सन् जाम्बवान् ध्यात्वा विचिन्त्य ब्रूते स्म । प्रस्कन्दिकामिव रोगविशेषमिव प्राप्तो यतः उत्साहाभावात् । ‘रोगाख्यायां ष्वुल् बहुलम् । ३ । ३ । १०८ ।’ शालभञ्जिका क्रीडाविशेषः । ‘सञ्ज्ञायाम् । ३ । ३ । १०९ ।’ इति ष्वुल् । ‘नित्यं क्रीडा-जीविकयोः । २ । २ । १७ ।’ इति समाप्तः । तत्प्रख्या विषया रूपादयः अदितुच्छत्वात् । अतस्तान् विकृ । किम्भूता कल्पनाहृचीन् कल्पनीयान् ॥ ७४ ॥

यां कारिं राजपुत्रोऽयमनुतिष्ठति तां क्रियाम् ।

अहमप्यनुतिष्ठामि सोऽप्युक्त्वैवमुपाविशत् ॥ ७५ ॥

यामित्यादि—अर्यं राजपुत्रोऽङ्गदो यां कारिं क्रियामनुतिष्ठति तां क्रियाम् अहमप्यनुतिष्ठामि । ‘विभाषाऽख्यानपरिप्रश्योरिच्च । ३ । ३ । ११० ।’ इति करोतेरिच्च । पक्षे ‘कृचः श च । ३ । ३ । १०० ।’ इति शः । सोऽये-मुक्त्वा उपाविशत् अनशनेन स्थितः ॥ ७५ ॥

उवाच मारुतिर्वृद्धे संन्यासिन्यत्र वानरान् ।

अहं पर्यायसम्प्राप्तां कुर्वे प्रायोपवेशिकाम् ॥ ७६ ॥

उवाचत्यादि—मारुतिः पवननन्दनो हनुमानित्यर्थः नरानुवाच वृद्धे ताम्बवति संन्यासिनि अनशनेवति अहमप्यत्र शैले पर्यायेण परिपाठ्या त्रिप्राप्तां प्रायोपवेशिकाम् अनशनं कुर्वे ‘पर्यायार्हणोत्पात्तिषु ष्वुल् च । ३ । ३ । १११ ।’ इति ष्वुच् ॥ ७६ ॥

१ भोजनपरित्यागेन । २ भोजनमकुर्वाण इत्यर्थः ।

अभावे भवतां योऽस्मिञ्जीवेत्स्याऽस्त्वजीवनिः ।

इत्युक्त्वा सर्वं एवास्थुर्बद्धा योगासनानि ते ॥ ७७ ॥

अभाव इत्यादि—अभावे विनाशे भवतां योऽस्मिन् लोके जीवेत् तस्या-स्त्वजीवनिः विज्ञीवितम् । ‘आक्रोशे नव्यनिः । ३।३।११२।’ एवमुक्त्वा सर्वं एव अस्थुः स्थिताः । तिष्ठते: ‘गाविस्थाषुपामूर्भ्यः परस्मैपदेषु २।४।७।’ इति सिंचो लुक् । योगासनानि पद्मासनादीनि बद्धाव विरचय्य ॥ ७७ ॥

इतः परं छीलिङ्गभावं निवेत्यं कृदुषाहिते—

अङ्गेश्यमसिनाइयन्तं कवन्धवधमभ्यधुः ।

धिङ् नः प्रपतनं घोरं ह्लेदान्तत्वमनाथवत् ॥ ७८ ॥

अङ्गेश्यमित्यादि—कवन्धस्य योजनबाहोर्वधमभ्यधुः अभिहितवन्तः । अभिषूर्वे धावभिधाने वर्तते । कीदृशम् अङ्गेश्यं प्रयासरहितम् । कस्मात् असिना सुखमरणात् तं चाद्यन्तम् अन्ते तस्याग्निरभूत् । अस्माकं धिङ् प्रपतनं विनाशम् । दुःखेन घोरत्वात् । ह्लेदान्तत्वम् अन्ते पूर्तीभावं क्षयत्राप्ति । अर्श आदित्वादच् । अनाधानामिव । अङ्गेश्यप्रपतनशब्दो भावसाधनौ । ‘कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।’ इति ल्युट् ॥ ७८ ॥

ततो मन्दगतः पक्षी तेषां प्रायोपवेशनम् ।

अशनीयमिवाशंसुर्महानायादशोभनः ॥ ७९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽभिधानादनन्तरं महान् पक्षी सम्पादिनामा जटायु-आता । आयात् आगतवान् । मन्दगतो मन्दगमनः । ‘नपुंसके भावे कः । ३।३।११४।’ आहिताग्नित्वात् परनिषापातः । तेषां यत्प्रायोपवेशनं तदशनीय-मिव भोजनीयमिव । ‘कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।’ इति कृत्यः । आशंसुः आशंसनशीलः । अशोभनः शोभारहितः । दावाग्निना प्लुषशरीरत्वात् । ‘ल्युट् च । ३।३।११५।’ इति भावे ल्युट् । ‘कर्मणि च येन संपर्शात् कर्तुः शरीरसुखम् । ३।३।११६।’, इत्येतत्परहित्योदाहृतत्वात् ॥ ७९ ॥

देहब्रश्नतुण्डाग्रं तं विलोक्याशुभाकरम् ।

पापगोचरमात्मानमशोचन् वानरा मुहुः ॥ ८० ॥

देहत्यादि—वृश्चयते येन तुण्डग्रेण । ‘करणाधिकरणयोश्च । ३।३।११७।’ इति करणे ल्युट् । देहस्य ब्रश्नमिति कृद्योगे षष्ठी । देहब्रश्नं तुण्डाग्रं यस्म-

तं विलोक्य । वानरा अशुभाकरं पापस्तोत्पत्तिशानम् । आकर इवाकरः ।
‘मुंसि संज्ञायां धः प्रायेण ।३।३।११८’ । तत्र हि करणाधिकरणयोरिति वर्तते ।
इवम् उत्तरत्रापि चात्मानं पापगोचरं पापविषयं पापविषये पतिता वयमिति
भुद्धुरशोचन शोचितवन्तः । ‘गोचरसञ्चरवहृजव्यजापणनिगमाश्च । ३ । ३ ।
३।१९’ इत्यधिकरणे निपातितः ॥ ८० ॥

जटायुः पुण्यकृत्पक्षी दण्डकाऽरण्यसञ्चरः ।

कृत्वा राघवकार्यं यः स्वराऽरुद्धोऽभिसंस्कृतः ॥ ८१ ॥

जटायुरित्यादि—राघवकार्यकृत्वा । अभिसंस्कृतः अभिना कृतसंस्कारः ।
कृतान्त्यसंस्कार इत्यर्थः । स्वं: स्वर्गमारुद्धः । जटायुः पुण्यकृत्पक्षी । संचरत्य-
सिनिति संचरः । पूर्ववत् निपातितः । दण्डकारण्यं संचरोऽवस्थानं यस्येति ॥ ८१ ॥

नरकस्थावतारोऽर्थं प्रत्यक्षोऽस्माकमागतः ।

अचेष्टा यदिहान्यायाद्वनेनात्स्यामहे वयम् ॥ ८२ ॥

नरकस्थेत्यादि—अवतीर्यते येन कर्मणेति । ‘अवे तृष्णोर्धव् ।३।३।
३।२०।’ इति वच् । स एवायं नरकस्थावतारः प्रत्यक्षोऽस्माकमागतः । यद्यस्माद्व-
यमचेष्टाः निश्चलाः अनेन पक्षिणा अन्यायादयुक्त्या । नीयते अनेनेति
निपूर्वादिणः ‘अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च । ३ । ३ । १२२।’ इति निपातनात्
वच् । अत्स्यामहे भक्षयिष्यामहे । कर्मणि लद्द ॥ ८२ ॥

हृदयोदद्वंसंस्थानं कृतान्ताऽनायसनिभम् ।

शरीराऽखलनतुण्डाऽप्रं प्राप्याऽमुं शर्म दुर्लभम् ॥ ८३ ॥

हृदयेत्यादि—अमुं सम्पातिनं पक्षिणं प्राप्य । कीदृशं हृदयोदद्वंसंस्था-
म् उद्भवते आकृष्यते अनेनेति उत्पूर्वादञ्चते: ‘उदद्वोऽनुदके ।३।३।
१२३।’ इति वच् निपात्यते । हृदयस्योदद्वः संदंशः तत् संस्थानं तत्स-
द्वशम् । कृतान्तानायसनिभं यमजालतुल्यम् । तत्प्रविश्वस्य दुःखेन निर्गमत्वात् ।
जालमानायः ।३।३।१२४। इति नयतेराङ्गपूर्वात्करणे वच् निपात्यते । आखन्यते
येन तुण्डाग्रेण । ‘खःनो ध च । ३ । ३ । १२५।’ इति धः । शरीरस्याखलं
गद्वक् तुण्डाप्रं यस्येति । प्राप्य शर्म सुखं दुर्लभं कृच्छ्रलभयम् । ‘ईष-
द्वःसुषु कृच्छ्रकृच्छ्रार्थेषु खल् । ३ । ३ । १२६।’ इति खल् । अत्र करणाधि-
करणयोश्चेति निवृत्तम् । तथोरेव कृत्यक्खलर्थाः । ३ । ४ । ७०।’ इति

३ ‘स्वस्त्रवर्णं स्वर्गमारुद्धिविक्रिदशालयाः ।’ इत्यमरः ।

योन्यम् । ‘उपसर्गात् खलूभ्योः । ७ । १ । ६७ ।’ इति प्राप्तस्य नुमः ‘नं सुदुर्भ्यो कवेलाभ्याम् । ७।१।६८।’ इति प्रतिषेधः ॥ ८३ ॥

ईषदाढ्यङ्गरोऽप्येव न परत्राऽग्नुभक्षियः ।

अस्मान्तुमित्रोऽभ्येति परिग्लानो बुभुक्षया ॥ ८४ ॥

ईषदित्यादि—य एष अस्मान्तुमितः प्रैदेशादभ्येति आगच्छति । स परत्र परलोके ईषदाढ्यङ्गरोऽपि अनादधीरीषदाढ्योऽपि न कृतः । अशुभेन कर्मणेत्यर्थात् । ‘कर्तृकर्मणोश्च भूकृत्वोः । ३।३।१२७।’ इति चत्वर्थे कर्मणे-पपदात्करोते । खल् । यतः परिग्लानो बुभुक्षया । यो हि कर्मणा शुभेन ईषदाढ्यङ्गरोऽपि न कृतः स कथं न बुभुक्षया पीड्यते । परिग्लायतीति कर्तारि वहुलवचनात् ल्युट् । निष्ठान्तो वा । ‘संयोगादेरातो धातोर्यणवतः । १।२।४३।’ इति त्रिष्टानत्वम् । अशुभक्षियः सत्त्वद्रोहाभिरतत्वात् ॥ ८४ ॥

संप्राप्य वानरान्पक्षी जगाद् मधुरं वचः ।

के यूर्यं दुरुपस्थाने मनसाऽप्यद्रिमूर्धनि ॥ ८५ ॥

इति कृदिधिकारः ।

संप्राप्तेत्यादि—वानरान् संप्राप्य पक्षी जगाद् गदितवान् । के यूर्यं अद्विमूर्धने पर्वतशिरसि हुरुपस्थाने दुःखेनोपस्थातुं शक्ये मनसापि किं पुनः शरीरेण । आतो युच् । ३।३।१२८।’ इति युच् । तत्रापि ईषदाढ्योऽनुवर्तन्ते । कर्तृकर्मणोऽपि न स्मर्यते ॥ ८५ ॥

इति कृदिधिकारः ॥

इतः परं प्रकीर्णकश्लोकानाह—

आत्मनः परिदेवध्वे कुर्वन्तो रामसंकथाम् ।

समानोदर्यमस्माकं जटायुं च स्तुथाऽऽदरात् ॥ ८६ ॥

आत्मन इत्यादि—आत्मनः परिदेवध्वे शोचथ‘देवृ देवैने’ इति भौवादिकः शासि ‘न संयोगाद्भवन्तात् । ६।४।१३७।’ इत्यल्लोपो न भवति । जटायुं च समानोदर्यं भ्रातररमस्माकम् । ‘समानोदरे शयित ओ चोदात्तः । ४।४।१०८।’ इति यत् । आदरात् प्रस्तुथं प्रस्तुतिं कुरुथ । जटायुः पुण्यकृदित्यादिना समसत्कथां च कुर्वन्तः अतः के यूर्यमिति ॥ ८६ ॥

१ अतुं—भक्षितुम् । २ अस्मादित्यर्थः । ३ दुष्कृतीत्यर्थः । ४ देवनमन्त्र विलापः ।

शङ्काधवित्रवचनं प्रत्युचुर्वानरा खगम् ।

वयं शत्रुलवित्रेषोर्दूता रामस्य भूपतेः ॥ ८७ ॥

शङ्केत्यादि—धुनोत्पपनयत्यनेनेति धवित्रम् । ‘अर्तिल्लयूसुखनसहचर इत्रः । ३।२।१४४’ इति करणे इत्रः । किमयं करिष्यतीति शङ्काधवित्रं वचनं यस्य तं स्वं वानराः प्रत्युचुः । शत्रुलवित्रा इष्वो बाणा यस्य तस्य रामस्य भूपतेः वयं दूताः पूर्ववदित्रं कृत्वा समासाः ॥ ८७ ॥

केनाऽपि दौष्कुलेयेन कुल्यां माहाकुर्लीं प्रियाम् ।

हृतां माहाकुर्लीनस्य तस्य लिप्सामहे वयम् ॥ ८८ ॥

केनेत्यादि—तस्य रामस्य प्रियां केनापि दौष्कुलेयेन हृताम् । दुष्कुलस्या—पत्यमिति ‘दुष्कुलाङ्गदक् । ४।१।१४२।’ इति दक् । कुल्यां कुले साध्वीम् ‘तत्र साधुः । ४।१।१४१।’ इति यत् । माहाकुर्लीं माहाकुर्लीनस्येति महाकुलस्यापत्यमिति ‘महाकुलाङ्गदव्युखबौ । ४।१।१४१।’ इति अव्युखबौ । लिप्सामहे वयं लब्धु—मिच्छामः ॥ ८८ ॥

त्रिंशत्तममहर्यतिं मत्वा प्रत्यागमाऽवधिम् ।

अकृताऽर्था विषीदन्तः परलोकमुपास्महे ॥ ८९ ॥

त्रिंशदित्यादि—त्रिंशतः पूरणम् । ‘त्रिंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् । ५।२।५६।’ इति तमट् । त्रिंशत्तमं यदहः तत् प्रत्यागमावधिं प्रत्यागमनस्या—वर्धिं यातं अतीतं मत्वा अकृतार्था अनिष्पादितप्रयोजना विषीदन्तो विषादं गच्छन्तो व्याकुलीभवन्त इत्यर्थः । वयं परलोकमुपास्महे प्रायोपवेशने न शनेन प्रियामहे ॥ ८९ ॥

त्रियामहे न गच्छामः कौशल्यायनिवल्लभाम् ।

उपलभ्यामपश्यन्तः कौमारां पततां वर ॥ ९० ॥

त्रियामह इत्यादि—हे पततां पश्यनां वरै त्रियामहे प्राणांस्यजाम । न गच्छामः न प्राप्नुमः । किमिति कौमारीम् अकृतपूर्वदारपर्ति लब्धवतीम् । ‘कौमारापूर्ववचने । ४।२।१३।’ इति साधुः । कौशल्यायनिवल्लभाम् । कौशल्याया अपत्यं कौशल्यायनी रामः ‘कौशल्यकामीर्याभ्यां च । ४।

१ यद्यपि रावणवंशप्रवर्त्तकः पुलस्त्यो न स्वयं दुष्टः, किंतु तस्य दुष्टत्वे युलस्यामि दुष्टत्वमिति वेष्ठोक्तस् । २ सम्भातित्रिल्यर्थः ।

११।५५।' इति किंव् । फस्यायनादेशः । तस्य वङ्गभाम् इष्टामुपलम्भयां प्रश्न-
स्ताम् । 'पोरुपवात् । ३।१९।' इति यत् । 'उपात्प्रशंसायाम् । ७।१६।'
इति यत्प्रश्ने नुम् । [अपश्यन्तोऽनुपलभमानाः ॥ १० ॥ एते प्रकीर्णकाः ॥]

इतः क्षिद्दितिशेषमधिकृत्याह—

जगाद् वानरान् पक्षी नाथ्यगीढुं ध्रुवं स्मृतिम् ।

यूथं सङ्घ-कुटितुं यस्मात् कालेऽस्मिन्नध्यवस्थय ॥ ११ ॥

जगदेत्यादि-च्छ्रुतम् अवश्यं स्मृतिशास्त्रं नाथ्यगीढुं नाथीतवन्त इति पक्षी
वानरान् जगाद् 'विभाषा लुड्लज्जोः । २।४।५०।' इति विभाषा गाङ्गादेशः ।
'गाङ्गकुटादिभ्यः डिणन्डित् । १।२।१।' इति सिचो डिन्त्वम् । 'चुमास्था-
गापाजहातिसां हलि । ६।४।६६।' इतीत्वम् 'धि च । ८।२।२५।' इति सिचो
लोपः । 'इणः षीघ्रम् । ८।३।७।' इतीत्वाना मृधन्यः । यस्माद्युयमसिन् काले
संकुटितुम् अवसातुमध्यवस्थय अभिप्रायं कुरुथ । कुटादित्वात् डिन्त्वम् ॥ ११ ॥

अयमेवावसांतु काल इति चेदाह—

नाम्नमुद्दिजितुं कालः स्वामिकार्यादू भवाद्वशाम् ।

हृतभार्ये च्युते राज्याद्वामे पर्युत्सुके भृशम् ॥ १२ ॥

नायमित्यादि—भवाद्वशां युष्मद्विधानां स्वामिकार्यादुद्दिजितुं नायं कालः ।
'विज इद् । १।२।२।' इति डिन्त्वम् । किमिति न भवतीति चेदाह राज्याच्च्युते
अष्टे रामे निर्वासितत्वात् तत्रापि हृतभार्ये भृशमत्यर्थः पर्युत्सुके सीतायाम् ॥ १२ ॥

यत्नं प्रोर्णवितुं तूर्णं दिशं कुरुत दक्षिणाम् ।

प्रोर्णवित्रीं दिवस्तत्र पुरीं द्रक्ष्यथ काञ्चनीम् ॥ १३ ॥

यत्नमित्यादि—दक्षिणां दिशं प्रोर्णवितुम् आच्छादयितुं छादयिष्याम् इति
तुमुन् । तूर्णं शीघ्रं यत्नं कुरुत । तस्यां दिशं पुरीं द्रक्ष्यथ । काञ्चनीं सुवर्ण-
सम्बन्धीनीमित्यर्थः । 'प्राणिरजतादिभ्योऽवृ । ४।३।१५४।' प्रोर्णवित्रीम् अभिव्या-
पिनीम् । तृचि रूपम् दिव आकाशस्य । कर्मणि षष्ठी । 'विभाषोर्णोः । १।२।३।'
इति डिन्त्वपक्षे उवङ् । अडिन्त्वपक्षे च गुणः । कुरुतेति 'सार्वधातुकमपित्
। १।२।४।' इति डिन्त्वे विकरणस्य गुणो न भवति । तस्य चार्धधातुकत्वात्
अडिन्त्वे धातोर्गुणः 'अत उत्सार्वधातुके । ६।४।११०।' इति उत् ॥ १३ ॥

त्रिभिः कालापकम् ।

लङ्घां माम्ना गिरेर्मूर्द्धि राक्षसेन्द्रेण पालित्वाम् ।

निर्जित्य शक्रमानीता दद्युर्यां सुरखियः ॥ १४ ॥

लङ्घामित्यादि—यां पुरीं नामा लङ्घां सुरक्षियो ददृशुः दृष्टवत्यः । ‘असं-
योगालिलद् कित् ॥१२।५॥’ इति कित्त्वम् । तां यातोति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।
गिरेः सुवेलनाम्नः पर्वतस्य मूर्ध्नि शिखरे स्थितां राक्षसेन्द्रेण पालिताभिति
दुर्गमत्वमाल्यातम् । शक्रं निर्जित्य सुरक्षिय आनीता इति च रावणस्य
माहात्म्यम् ॥१४॥

बभूव याऽधिश्लेन्द्रं शृदित्वेवेन्द्रगोचरम् ।

कुषित्वा जगतां सारं सैका शङ्के कृता भुवि ॥ १५ ॥

बभूवेत्यादि—अधिश्लेन्द्रं शैलेन्द्रस्य सुमेरोहपरि । ‘अव्ययं विभक्तिसमीप-
र्ण ॥१६॥’ इत्यादिना समर्थ्येऽन्ययीभावः । इन्द्रगोचरमिन्द्रनिलयममरावत्याख्य
शृदित्वेव तिरस्कृत्येव बभूव । ‘इन्विभवतिभ्यां च ॥१२।६॥’ इति कित्त्वम् ।
जगतां सारं कुषित्वा निष्कृत्य । सैका भुवि कृता निर्मितेत्यहं शङ्के । तां
चात । शृदित्वा कुषित्वेति ‘न क्त्वा सेऽ । ? ॥१२।८॥’ इति कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते
‘शृदमृदगुघकुषक्षिशवदवसः क्त्वा ॥१२।७॥’ इति कित्त्वम् ॥१५॥

अमृडित्वा सहस्राक्षं क्षिशित्वा कौशलैर्निजैः ।

उदित्वालं चिरं यत्नात्सैका धात्रा विनिर्मिता ॥ १६ ॥

अमृडित्वेत्यादि—सहस्राक्षमिन्द्रममृडित्वा असुखिनं कृत्वा । निजः
आत्मीयैः कौशलैश्चात्मैर्यैः चिरं क्षिशित्वा प्रथलं कृत्वा । उदित्वा अभिधायालं
पर्याप्तमेवं करिष्यामीति । यद्वात् महता प्रयासेन । सैका धात्रा विनिर्मिता ।
पूर्ववक्तिक्त्वम् ॥१६॥

मुषित्वा धनदं पम्पो यां गृहीत्वावसाद्विषन् ।

तां रुदित्वेव शङ्केण यात् लङ्घामुपेक्षिताम् ॥ १७ ॥

मुषित्वेत्यादि—मुषित्वा धनदं बैश्रवणं तस्मात्पुरं पुष्पकं च विमानमपहृतम् ।
पापात्परणात् यां पुरीं गृहीत्वा अवसत् उषितः । द्विषन् शत्रुः । शङ्केण
शृदित्वेवोपेक्षित्वामवशीरिताम् । ‘रुदिविदमुषप्रहिस्वपिप्रच्छः संश्र । १ ॥२।८॥’
इति कित्त्वम् । तत्र चक्रारेण क्त्वेत्यनुकर्त्ते ॥१७॥

विदित्वा शक्तिमात्मीयां रावणं विजिघृक्षवः ।

उक्तं पिपृच्छूणां वो मा स्म भूत सुषुप्तवः ॥ १८ ॥

१ ‘मसुर्यधसरैश्चतुर्दो राजराजो धनाधिपः ।’ इत्यमरः । अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्घारः ।

विद्वत्वेत्यादि—आत्मयां स्वसम्बन्धिनीं शक्ति सामर्थ्यं विदित्वा । पूर्ववत्कित्वम् । रावणं विजिवृक्षवः विमहीतुमिच्छवः । सुषुप्तस्वद् शथितुमिच्छवो मा स्स भूत । न प्रमन्ता भवतेर्त्यर्थः । रावणस्य बलीयस्त्वा दिदमुक्तं मया वो युष्माकं पिपुच्छिष्ठूणां प्रष्टुमिच्छूनाम् । अत्र ‘रुदविदु-सुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ।१२।८।’ इति सनः कित्वे सम्प्रसारणम् । प्रच्छेः ‘किरञ्च पञ्चम्यः ।७।२।७५।’ इतीडागामः ॥ ९८ ॥

नाऽविविदिषुमभ्येति सम्पदुरुदिषुं नरम् ।

किं सुमुषिषुवद्यात् द्विषो नाऽपचिकीर्षया ॥ ९९ ॥

नेत्यादि—वेदितुं ज्ञातुमिच्छुयों न भवति तं नरमविविदिषुं रुदिषुं दोदितुमेषणस्वभावं सम्पदिमूर्तिनाभ्येति नागच्छतीति वो मयोक्तमिति योग्यम् । किं न यात न गच्छत । सुमुषिषुवत् चौरवदित्यर्थः । पूर्ववत्कित्वम् । द्विषः शत्रोः । ‘द्विडिपक्षाहिताभित्रदस्युशात्रवशत्रवः ।’ इत्यमरः । अपचिकीर्षया अपकर्तुमिच्छया । ‘इको झल् ।१२।९।’ इति कित्वे गुणो न भवतीति ‘अन्धनगमां सनि ।३।४।१६।’ इति दीर्घः । ‘ऋत इद्वातोः ।७।४।१००।’ ॥ ९९ ॥

बुमुत्सवो द्रुतं सीतां भुत्सीष्वं प्रब्रवीमि वः ।

मा च भुद्धं मृषोक्तं नः कृषीद्रवं स्वामिने हितम् ॥ १०० ॥

बुमुत्सव इत्यादि—बुमुत्सवो ज्ञातुमिच्छवः यदि सीताम् । बुधेः सन्नन्तात् ‘हलन्ताङ्ग ।१।२।१०।’ इति कित्वम् । ‘एकाचो बशो भषृज्वन्तस्य स्ववोः ।८।२।३।७।’ इति भष्मावः । तदा द्रुतं तां भुत्सीष्वं जानीतेति वो युष्मान् ब्रवीमि । ‘लिङ् सिचावात्मनेपदेषु ।१।२।१।१।’ इति कित्वम् । मृषोक्तं मिथ्योक्तं नोऽस्माकं मा च भुद्धवं न जानीत, अपि तु सत्यम् । ‘झलो झलि ।८।२।२।६।’ इति झिचो लोपः । ‘झलं जय झशि ।३।४।५।३।’ इति जस्त्वम् । कित्वं पूर्ववत् । अतो यूयं स्वामिने रामाय हितं कृषीद्रुं कुरुत । ‘उञ्च ।१।२।१।२।’ इति कित्वम् । ‘इणः षीष्वंलुङ्गलिटां धोऽङ्गात् ।८।३।७।८।’ इति मूर्धन्यः ॥ १०० ॥

समग्रध्वं पुरः शत्रोमांदयध्वं रघूत्तमम् ।

नोपायध्वं भर्यं सीतां नोपायंस्त दशाननः ॥ १०१ ॥

^१ बुधेः ‘बुध अवगमने’ इत्यसमांद्रातोः ।

समग्रध्वमित्यादि—इदमहमाशंसे यदुत शत्रोः रावणस्य पुरः अग्रतः समग्रध्वं संगता भवत । ‘आशंसायां भूतवच्च ।३।३।१३२।’ इति लुङ् । ‘स्मो गम्यच्छिभ्याम् ।१।२।३।’ इति तड् । ‘वा गमः ।१।३।२।१।’ इति सिचः कित्वे ‘अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो ज्ञाले क्षुति । ६ । ४ । ३७ ।’ इत्यनुनासिकलोपः । ‘ह्वसादङ्गात् ।१।२।२।७।’ इति सिचो लोपः । मोदयध्वं रघूतम् हर्षयत । तत्कार्यकरणात् । मा च भयमुपायध्वं सूचयत भयं मा कार्षेत्यर्थः । ‘आङो यमहनः ।१।३।२।८।’ इति तड् । ‘यमो गन्धने ।१।२।१।५।’ इति तड् । यमो गन्धन इति सिचः कित्वे अनुनासिकलोपः । गन्धनं सूचनम् । अन्यथा उप्मासु गन्धितनयेषु नियतमसौ दशाननः सीतामुपायस्त स्वीकृतवान् स्थात् । तस्ये दुर्वृत्तत्वात् । ‘आशंसायां भतवच्च ।३।३।१३२।’ इत्यनिष्ठाशंसायां लुङ् । ‘उपाद्यमः स्वकरणे । १।३।५६।’ इति तड् । स्वकरणं चात्र विवाहमुक्तम् । ‘विभाषोपयमने । १।२।१।६।’ इति अकित्वपक्षे रूपम् ॥ १०१ ॥

ततः प्रास्थिषताऽद्रीन्द्रं महेन्द्रं वानरा द्रुतम् ।

सर्वे किलकिलायन्तो धैर्यं चाऽधिष्ठाऽधिकम् ॥ १०२ ॥

ततः इत्यादि—ततः तदनन्तरम् सम्पातिवचनानन्तरं सर्वे वानरा महेन्द्रं पर्वतं प्रास्थिषत प्रास्थितवन्तः । धैर्यं चाधिकमाधिषत आहितवन्त आत्मनि । तिष्ठतेद्वयातेश्च ‘स्थावेगिरच्च ।१।२।१।७।’ इति कित्त्वमित्त्वं च । तिष्ठतेः ‘समवप्रविभ्यः स्थः ।१।३।२।२।’ इति तड् । किलकिलायन्तः किलकिलाव्यन्ति कुर्वाणाः । ‘अव्यक्तानुकरणस्थात इतौ ।६।१।९।८।’ इतिडाच्च तदन्तात् ‘लोहितादिडाज्जभ्यः क्यष् ।३।१।१।३। वा क्यषः ।१।३।१।०।’ इति परस्मैपदम् ॥ १०२ ॥

अथ पञ्चमिः कुलकम् ।

निकुञ्जे तस्य वर्तित्वा रम्ये प्रक्षेपिताः परम् ।

मणिरत्नाविशयितं प्रत्युदैक्षणत तोययिम् ॥ १०३ ॥

निकुञ्ज इत्यादि—उस्य पर्वतस्य निकुञ्जे लतादिपिहितस्थाने वर्तित्वा स्थित्वा । ‘न क्त्वा सेद् ।१।२।१।८।’ इति कित्त्वप्रतिषेधः । परं प्रक्षेपिताः उच्चैरञ्चक्ष-

१ तस्य रावणस्य । २ ‘निकुञ्जकुञ्जौ वा क्षीबे लताऽदिपिहितोदरे ।’ इत्यमरोक्तेः ।

शब्दं कुर्वणा: । निष्ठा शीङ्गस्त्रिदिमिदिवदिवृष्टः । १।२।१९। इति कित्त्वप्रतिषेधः । तोयधि प्रत्युदैक्षन्त दृष्टवन्तः । लङ्घि रूपम् कीदृशं मणिरत्नाधिशायितम् । ‘को-
ऽधिकरणे च । ३।४।७६।’ इति कः पूर्ववस्तिक्तव्यप्रतिषेधः । मणिर्यद्रत्नमिति खीर-
लादावपि रत्नशब्दस्य दृष्टत्वात् एकपदव्यभिचारे विशेषणविशेष्यभावः ।
तस्याधिशयितमवस्थानमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

अर्मीष्टतमिव ग्रन्तं तटाद्रीन् सलिलोर्मिभिः ।

श्रिया समग्रं द्युतिं मदेनेव प्रलोठितम् ॥ १०४ ॥

अर्मीष्टतमिव इत्यादि—सलिलोर्मिभिः कल्पोऽहैः । तटाद्रीन् तटस्थान् पर्वतान्
ज्ञन्तं प्रत्युदैक्षन्त । अर्मीष्टतमिव ‘मृषस्तितिक्षायाम् । १।२।२०।’ इति कित्त्व-
प्रतिषेधः । पश्चात् नव्यसमासः । श्रिया हेतुभूतया समग्रं संपूर्णं । द्युतिं
मिति कर्तृरि निष्ठा । यदि वा श्रिया कर्तृभूतया द्युतिं शोभितम् । यत्रेत्य-
ध्याहृत्य तमैक्षन्तोति योज्यम् । एवं च कृत्वा उद्गुपताद्रावादिकर्मणोरन्यतर-
स्याम् । १।२।२१।’ इति भावे निष्ठायां विकल्पेन कित्त्वप्रतिषेधात् कित्त्वमुदाह-
तम् । मदेनेव मत्ततयेव । श्रिया हेतुभूतया प्रलोठितं धूर्णितुमारब्धम् । ‘अदि-
कर्मणि कः कर्तृरि च । ३।४।७१।’ निष्ठायामकित्त्वमुदाहतम् ॥ १०४ ॥

पूर्तं शीतैर्नभस्वद्विग्रन्थित्वेव स्थितं रुचः ।

गुम्फित्वेव निरस्यन्तं तरङ्गान् सर्वतो मुहुः ॥ १०५ ॥

पूर्तमित्यादि—नभस्वद्विग्रन्थियुभिः शीतैः पूर्तं पवित्रीकृतम् । ‘पूर्ज्ञा७।२।५१।’
इति विकल्पेनेद् । अत एव पक्षे पूर्वः कृत्वानिष्ठयोः कित्त्वप्रतिषेधोऽत्र न
भवति । तत्र सेवित्यनुवर्तते । रुचो दीप्तीर्णन्थित्वेव संदर्भेव स्थितम् । ‘नोपधात्थ-
फान्ताद्वा । १।२।२३।’ इति कित्त्वप्रतिषेधपक्षे रूपम् । सर्वतस्तरङ्गान् गुम्फित्वेव
निरस्यन्तं क्षिपन्तम् । नोपधात्थिति विकल्पेन कित्त्वप्रतिषेधः । यत्रेत्यध्या-
हृत्य तमैक्षन्तोति योज्यम् ॥ १०५ ॥

वञ्चित्वाप्यम्बरं दूरं स्वरिंमस्तिष्ठन्तमात्मनि ।

तृष्णित्वेवानिशं स्वादु पिबन्तं सरितां पथः ॥ १०६ ॥

वञ्चित्वेत्यादि—स्थित्यनतिक्रमादम्बरं दूरं वञ्चित्वातिक्रम्य । ‘वञ्चित्वलुब्ध्य-
तश्चा१।२।२४।’ इति कित्त्वप्रतिषेधः स्वस्मिन्नात्मनि स्वरूपे तिष्ठन्तम् । अत्र
‘नश्छव्यप्रशान् । ८।३।७।’ इति नकारस्य रूत्वम् । पूर्वस्य त्वनुनासिका-
देशः । तृष्णित्वेव तृष्णित इव भूत्वा । ‘तृष्णिमृषिकृशः काश्यपस्म

। १।२।२५॥' इति कित्त्वविकल्पः । तत्सलिलस्य स्वादुत्वात् । सरितां पयः स्वादु पिबन्तं अनिशमजसम् ॥ १०६ ॥

द्युतित्वा शक्षिना नक्तं रशेमभिः परिवर्धितम् ।

मेरोजेतुमिवाभोगमुच्चैर्दिव्योतिषुं सुहुः ॥ १०७ ॥

द्युतित्वेत्यादि—शशिना नक्तम् रत्रौ द्युतित्वा दीप्तिमता भूत्वा । रात्रेमभिः परिवर्धितं वृद्धिं नीतं सन्तं तोयधिं मेरोराभोगं महत्वं जेतु-
मिव सुहुरुच्चैर्विद्योतिषुं वर्धितुमिच्छुमित्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्वातूनाम् । द्युतित्वा दिव्योतिषुभिति 'रलो व्युपथाद्वलादेः संश्च । १।२।२६॥' इति कित्त्वा-
कित्त्वे । तत्र द्युकारोपधादिकारोपधाच्च रलन्ताद्वलादेधार्तोः परौ क्त्वा-
सनौ वा न कितौ भवत इति सूत्रार्थः ॥ १०७ ॥

विलोक्य सलिलोच्यथानधिसमुद्रमञ्चिलिहान्

अमन्मकरभीषणं समधिगम्य चावः पयः ।

गमागमसहं द्रुतं कपिवृषाः परिप्रैषयन्

गजेन्द्रगुरुविक्रमं तरुमृगोत्तमं मारुतिम् ॥ १०८ ॥

विलोक्येत्यादि—कपिवृषाः कपिमुख्या मारुतिं हनूमन्तं द्रुतं परिप्रै-
षयन् व्यसर्जयन् । परिप्रैष्वात् 'इष गतौ' इत्यस्मात् हेतुमण्ण्यन्तात्
लङ्घि रूपम् । किं कृत्वेत्याह । विलोक्य सलिलोच्यथान् सलिलोमीन् ।
ऊर्च्च चीयत इति 'एरच् । ३।३।५६॥' इत्यचूर्ण अधिसमुद्रं समुद्रस्योपारि । अञ्च-
लिहान् दूरसुच्छ्रुतान् । अधश्च पयः समधिगम्य ज्ञात्वा । कीदृशम्
अमदिर्मकैर्भीषणं भयानकम् । भीषयतीति नन्द्यादित्वाल्लयुः । गमागम-
सहं गमनागमनयोग्यं मारुतिम् । गजेन्द्रस्येव गुरुविक्रमो यस्य । तरुमृ-
गेषु वानरेषुत्तमग्निति । 'सप्तमी शौण्डैः । २।१।४।' इत्यत्र सप्तमीति
योगविभागात् समाप्तेः ॥ १०८ ॥

॥ इति डित्त्वाधिकारः ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूर्यविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्याख्यया समलं-

कृते श्रीभट्टिकैर्णीते श्रामचरितकाव्ये द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे

द्वितीयः परिच्छेदः; लक्षणरूपे कथनके सीताऽन्वेषणं नाम

सप्तमः सर्गः ।

१ इदं रत्रावित्यर्थकमव्ययम् 'नकं च रजनावपि' इत्यमरः ।

२ श्रुत्युप्त्वात्मकः 'जसौ जसूयता वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरः' इति तत्त्वक्षणात् ।

अष्टमः सर्गः ।

आत्मनेपदमधिकृत्याह—

अगाधत ततो व्योम हनूमानुरुविग्रहः ।

अत्यशेरत तद्वेगं न सुपर्णाऽक्मारुताः ॥ १ ॥

अगाधते ति—ततो विसर्जनानन्तरं हनूमान् समुद्रलङ्घनाय व्योमाकाश-
मगाधत प्रस्थितवान् । ‘गावृप्रतिष्ठालिप्सयोः’ इत्यसमालङ्घ् । ‘अनुदात्त-
जित आत्मने पदम् ॥१३॥१२॥’ इत्यनुदात्तेत्वादात्मनेपदम् । उरुविग्रहः काम-
खपित्वात् तदानीमुत्पादितविपुलकायः । तस्य चोत्पततो वेगं गरुडादित्यपवनाः
नात्यशेरत नातिशयितवन्तः । जित्वात्तङ् । ‘शीङ्गे रुद् ॥७॥१६॥’ । ‘शीङ्गः
सार्वधातुके गुणः ॥७॥४॥२१॥’ ॥ १ ॥

अभायत यथाऽर्केण सुप्रातेन शरन्मुखे ।

गम्यमानं न तेनाऽसीदिगतं क्रामता पुरः ॥ २ ॥

अभायतेत्यादि—यथा अर्केण सुप्रातेन सुप्रभातेन तीहाराद्यभावात्
शोभनं प्रातरनेनेति । ‘सुप्रातसुश्चसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठ-
पदाः ॥५॥४॥१२०॥’ इति समासान्तनिपातनम् । शरन्मुखे शरदारस्मे ।
अभायत दीप्त्यते स्म । ‘भावकर्मणोः ॥१॥३॥१३॥’ इति भावे तङ् । तद्वत्ते-
नाभायत । पुरोऽप्रतो यदर्केण गम्यमानमवृष्ट्यमानं वर्त्मेत्यर्थात् ।
कर्मण्यात्मनेपदम् । तेन हनूमता क्रामता गच्छता । शिति ‘क्रमः परस्मैपदेषु ।
श् ॥७॥७॥’ इति दीर्घत्वम् । नागतमासीत् अपि तु सर्वमेव गतमिति ॥ २ ॥

वियति व्यत्यतन्वातां मूर्तीं हरिपियोनिधी ।

व्यत्यैतां चोत्तमं मार्गमकेन्द्रेन्दुनिषेवितम् ॥ ३ ॥

वियतीत्यादि—हरिपियोनिधी हनूमतस्मुद्रो मूर्तीं स्वदेहौ वियत्याकाशे
व्यत्यतन्वातां व्यतिविस्तारितवन्तौ । तनोत्तरेण् । ‘कर्तरे कर्मव्यतिहारे
॥१॥३॥१४॥’ इत्यात्मनेपदम् । उत्तमं च मार्गं अर्केन्द्रेन्दुनिषेवितं व्यत्यैतां
व्यतिगतवन्तौ । इणः परस्य लङ्घः कर्मव्यतिहार इत्यात्मनेपदं प्राप्तं ‘न गति-
हिंसार्थम्यः ॥१॥३॥१५॥’ इति गतर्थत्वात् प्रतिषिद्धं, तेन तस्स्तामादेशः । तत्र
हरेर्गच्छतः पुरतो यस्मान्वियत्प्रदेशे स्वमूर्तिं विस्तारितुमवसरो भवितां, तत्र

१ यद्वा शोभनं प्रभातमस्येति तेन तथोक्तेन । शोभनत्वं च तस्य प्रकृत्यो-
जज्वलस्य भेदाद्यावरणाभावादेवेति बोध्यम् ।

पयोनिधिर्मिभिः स्वमूर्ति वितस्तार । पयोनिधेश्व वेला तटं गच्छतो यत्र स्वमूर्ति विस्तारावसरो भावी तत्र हरिः स्वमूर्ति वितस्तार । तथा पयोनिधेश्व मार्गे गन्तुमवसरो भविता, हरिठपत्य तं मार्गे गन्तुमैच्छत् । यं च हरेमार्गे गन्तुमवसरो भविता तं मार्गे पयोनिधिर्भ्रंश्लहौस्तुर्मिभरैच्छत् । यत्र यस्तिक्यावसरे क्रियां करोति स तत्र तस्तिक्याकारीत्युपचर्यते । यथा देवदत्तसाध्यां क्रियां यज्ञदत्तः कुर्वन् तत्कारीत्युच्यते । ततश्चेतेणेतरसंबन्धिन्याः क्रियायाः करणात् अन्यतरसंबन्धिन्याश्चेतरकरणात् सम्भवति कर्मव्यतिहारः ॥ ३ ॥

व्यतिजिग्ये समुद्रोऽपि न धैर्यं तस्य गच्छतः ।

व्यत्यगच्छन् न च गतं प्रचण्डोऽपि प्रभञ्जनः ॥ ४ ॥

व्यतीत्यादि—जस्य हरेर्गच्छतः स्वदेहस्याल्पसां कर्तुं योऽवसरो भावी तत्र समुद्रो नातिशयधैर्यं कृतवान् । तेन तस्य धैर्यं न जितं, तदानीं तस्योद्भृतकलोलत्वात् । अपिशब्दाद्य हनूमानपि समुद्रस्य शान्तत्वं कर्तुं योऽवसरो भावी तत्र नातिशयधैर्यं कृतवान् । तेन तस्य धैर्यं वा न जितं, तदानीं तस्य विपुलकायत्वात् । तदेवं हनूमतः समुद्रो हनूमानपि समुद्रस्य धैर्यं न व्यतिजिग्ये नाभिरभूव । एकवचनस्य प्रत्येकाभिसंबन्धात् । कर्मव्यतिहारे पूर्ववदात्मनेपदम् । ‘सन्निलोर्जेः । ७।३।५७।’ इति कुत्वम् । तस्य हनूमतो गतं गमनं प्रचण्डोऽपि महान् प्रभञ्जनो वायुने व्यत्यगच्छत् प्राप्नवान् ॥ ४ ॥

तस्यातिजवेन गच्छतः पथि राक्षसी संप्राप्ता तामसौ व्यापादितवानित्याह-

व्यतिग्रन्थां पथि ग्रन्थं राक्षसीं पवनाऽऽत्मजः ।

जघानाऽविश्य वदनं निर्यान् भित्त्वोदरं द्रुतम् ॥ ५ ॥

व्यतीत्यादि—हनिष्यान्येनमिति राक्षस्या यो वधकरणावसरः तत्र व्यतिग्रन्थं व्यतिग्रन्थां तस्यैनां हनिष्यामीति यो वधकरणावसरः तत्र ग्रन्थां चैदैवमितरेतरक्रियाकरणेन व्यतिग्रन्थां राक्षसीपूर्वार्थेभ्यः १।३।१५। ‘हिंसार्थात्वादात्मनेपदप्रतिषेधः । तां पवनात्मजो हनूमान् जघान । कर्थ वदनमाविश्य उदरं भित्त्वा द्रुतं निर्यान् निर्गच्छन् । यातेः शतरि रूपम् ॥५॥

अन्योन्यं स्म व्यतियुतः शब्दान् शब्दैरुहु भीषणान् ।

उदन्वांशानिलोऽतो ग्रियमाणा च राक्षसीं ॥ ६ ॥

अन्योन्यमित्यादि—अन्योन्यमित्यान्योन्यस्येत्यर्थः । ‘कर्मव्यतिहारे सर्वानाशो द्वे भवतः खीनपुंसक्योरामभाव इति वक्तव्यम् ।’ अन्योन्यस्य

संबन्धिभिः शब्दैः उद्वन्द्राक्षस्यौ शब्दान् भीषणानात्मीयान् व्यतियुतः स्म
भिश्चित्वन्तौ । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इत्यसामात् 'लट् स्मैऽर॑११८' इति भूते
लट् । 'इतरेतरान्योपपदाच्च १ । ३१६ ।' इति कर्मव्यतिहार आत्मनेपदप्र-
स्थिषेधः । तत्रोदन्वचतः शब्दकरणाद्यो भीषणशब्दभिश्रणावसरो भावी तत्र
राक्षसी त्रियमाणा शब्दान् भीषणानुद्वच्छब्दर्युयात् । राक्षस्याः शब्दकर-
णाद्यो भीषणंशब्दभिश्रणावसरो भावी तत्रोदन्वाननिलोद्भूतः शब्दान् भीषणान्
राक्षसीशब्दर्युयावेति भावः ॥ ६ ॥

न्यविक्षत महाग्राहसङ्कुलं मकराऽलयम् ।

सैका बहूनां कुर्वणा नकाणां स्वाऽशित्तमभवम् ॥ ७ ।

न्यविक्षतेत्यादि—महद्विश्रैः संकुलं मकरालयं समुद्रं न्यविक्षत प्रदि-
ष्टवती । 'नेर्विशः ११३१७' इत्यात्मनेपदम् । 'शल इगुपधादनिटः क्सः
१३१४५' बहूनां नकाणामेकापि सती स्वाशित्तमभवं सुष्ठु दृष्टिं कुर्वणा ।
'आशिते सुवः करणभावयोः १३२१४५' इति भावे खच् ॥ ७ ॥

कृतेनोपकृतं वायोः परिक्रीणानसुत्तितम् ।

पित्रा संरक्षितं शक्रात् स मैनाकाऽद्रिमैक्षत ॥ ८ ॥

कृतेनेत्यादि—स हनूमान् समुद्रादुत्थितं मैनाकाद्रिमैक्षत । वायोरुपकृत-
मुषकारं कृतेन प्रत्युपकारेण परिक्रीणानं परिक्रयं विचिन्वन्तम् । 'परिक्रयवेभ्यः
क्रियः ११३१८' इत्यकर्त्रभिप्रायविषयमात्मनेपदम् । पित्रा वायुना रक्षितं
शक्रात् । तेन हि पक्षच्छेदकाले महता वेगेन समुद्रं नीत्वा रक्षित इति
श्रूयते ॥ ८ ॥

खं पराजयमानोऽसाधुनत्या पवनाऽत्मजम् ।

जगादाऽद्रिर्विजेषीष्ठा मरीय विश्रम्य वैरिणम् ॥ ९ ॥

खमित्यादि—असावद्रिः उन्नत्या उन्नततया खं पराजयमानोऽभिभवन् पव-
नात्मजं जगाद् । मरीय विश्रम्य स्थित्वा वैरिणं शत्रुं विजेषीष्ठाः त्वमभिभूयाः ।
आशिषि लिङ् । उभयत्रापि 'विपराभ्यां जे: ११३१९' इति वड ॥ ९ ॥

फलान्यादत्स्व चित्राणि परिक्रीडस्व सानुषु ।

साधुनुक्रीडमानानि पश्य वृन्दानि पक्षिणाम् ॥ १० ॥

फलानोत्यादि—चित्राणि नानाविधानि फलानि आदत्स्व गृहाण । ‘आजो दोऽनास्यविहरणे । १ । ३ । २०’ इत्यात्मनेपदम् । सानुषु मैमकेशेषु परिक्री-
डत्व विहर । पक्षिणां च वृन्दानि साधु शोभनं अनुक्रीडमानानि विह-
रन्ति सन्ति पश्य । उभयत्र ‘क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च । १।३।२१’ इति तद् ॥ १० ॥

क्षणं भद्राऽवतिष्ठस्व ततः प्रस्थास्यसे पुनः ।

न तत् संस्थास्यते कार्यं दक्षेणोरीकृतं त्वया ॥ ११ ॥

क्षणमित्यादि—हे भद्रं कल्याण ! क्षणमवतिष्ठस्व ! ततः पश्चात्प्रस्थास्यसे
यास्यसि । यच्च कार्यं करणीयं दक्षेणानलसेन अप्रमत्तेनेति भावः । त्वया ऊरी-
कृतमङ्गीकृतं न च संस्थास्यते अपि तु निष्पत्स्यत एवेत्यर्थः । सर्वत्र ‘समवप्र-
विभ्यः स्थः । १।३।२२’ इति तद् ॥ ११ ॥

त्वयि नस्तिष्ठते प्रीतिस्तुभ्यं तिष्ठामहे वयम् ।

उत्तिष्ठमानं मित्राऽर्थं कस्त्वां न बहु मन्यते ॥ १२ ॥

त्वयीत्यादि—त्वयि विषये अस्माकं प्रीतिरस्ति । तेन संशये अस्माभि-
रन्यो निर्णेता भान्वेषणीयः । किंतु नोऽस्माकं प्रीतिरेव निर्णयं पश्यन्ती त्वयि
तिष्ठते । ‘प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च । १।३।२३’ इत्यात्मनेपदम् । विवादपदनि-
र्णेता स्थेय उच्यते । तु भ्यं तिष्ठामहे वयमिति त्वयि विषये अस्माकं चेतो
वर्तत इति स्वाभिप्रायम् । तु भ्यं तिष्ठामहे स्वाभिप्रायं निवेदयाम इत्यर्थः ।
अत्र प्रकाशनं च स्वाभिप्रायकथनम् । ‘श्लाघहृदस्थाशपां झीप्यमानः । १।४।
३४’ इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । कस्मादेवं मां श्लाघस इति चेदाह । उत्ति-
ष्ठमानं यतमानम् । ‘उदोऽनूर्ध्वकर्मणि । १।३।२४’ इत्यात्मनेपदम् । कस्त्वां
न बहु मन्यते न श्लाघते ॥ १२ ॥

ये सूर्यमुपतिष्ठन्ते मन्त्रैः संध्यात्रयं द्विजाः ।

रक्षोभिस्तापितास्ते ऽपि सिद्धिं ध्यायन्ति तेऽधुना ॥ १३ ॥

य इत्यादि—ये द्विजा मन्त्रैः करणभूतैः सूर्यमुपतिष्ठन्ते ग्रत्युपासते । ‘उपान्म-
न्त्रकरणे । १।३।२५’ इत्यात्मनेपदम् । संध्यात्रयं त्रिसंध्यम् । ‘कालाध्वनोरत्यन्त-
संयोगे २।३।५’ इत्यनेनात्यन्तसंयोगे द्वितीया । तेऽपि रक्षोभिस्तापिताः उप-
द्गुताः अधुना ते सिद्धिं ध्यायन्ति । किं पुनरहं यत्ते पितुः सुहृत् ॥ १३ ॥

१ ‘शः श्रेयसं शिवम्भद्रम्’ इत्यमरः । २ ‘अस्मद्दो द्वयोश्च । ३।५९’
इति बहुवचनम् । एवं पुरस्तादुपि प्रस्तेतत्यम् ।

तदेव दर्शयन्नाह—

अव्यग्रमुपतिष्ठस्व वीर ! वायोरहं सुहृत् ।
रवीर्वितपतेऽत्यर्थमाश्वस्य मयि गम्यताम् ॥ १४ ॥

अव्यग्रमित्यादि—हे वीर ! अव्यग्रमनाकुलं यथा स्यात्तथा मच्युपतिष्ठस्व सन्निहितो भव । ‘अकर्मकाच्च । १।३।२६।’ इत्यात्मनेपदम् । यतो वायोस्त्व विनुरहं सुहृत् । रविरत्यर्थं वितपते दीप्यते । ‘उद्विभ्यां तपः । १।३।२७।’ इत्यात्मनेपदम् । तत्राकर्मकादिति वर्तते । तस्मादाश्वस्य विश्रान्त्य गम्यताम् ॥ १४ ॥

तीव्रमुक्तपमानोऽयमश्चक्यः सोऽुमातपः ।

आज्ञान इव संदीप्तैरलातैः सर्वैर्तो मुहुः ॥ १५ ॥

तीव्रमित्यादि—तीव्रं सुष्टु अतिशयितं वा यथा उच्चपमानो दीप्यमान आतपः सोऽुमशक्यः । पूर्ववदात्मनेपदम् । अलातैः उत्सुकैः संदीप्तैः सर्वत आज्ञान इवं ताडयन्निव । ‘आज्ञे यमहनः । १।३।२८।’ इत्याविवक्षितकर्मकत्वादात्मनेपदम् ‘गम्यनजनखनघसां लोपः किङ्गत्यनङ्गि । ६।४।९।’ इत्युपधालोपः ‘हो हन्तेऽङ्गिण्डेषु । ७।३।५।’ इति कुत्वम् ॥ १५ ॥

संशृणुष्व कपे ! मत्कैः संगच्छस्व वनैः शुभैः ।

समारन्त ममाऽभीष्टाः सङ्कल्पास्त्वयुपागते ॥ १६ ॥

संशृणुष्वेत्यादि—हे कपे ! संशृणुष्व आकर्णय । ‘समो गम्यृच्छिभ्याम् । १।३।२९।’ इत्यत्र अर्तिशुद्धशिभ्यश्चेति वक्तव्यम् । इत्याविवक्षितकर्मकत्वादात्मनेपदम् । शुभैः शोभमानैः । इगुपथलक्षणः कः । वनैर्मत्कैः मत्स्वाभिकैः । अहं स्वामी येषामिति । ‘स एषां आमणीः । ५।२।७।’ इति कः । ‘प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।३।९।’ इति मदादेशः । संगच्छस्व संगतो भव । पूर्ववदात्मनेपदम् । समारन्त ममाभीष्टा इति ममाभिप्रेता ये संकल्पा अभिप्राणाः ‘कदा तु मे सुहृत्या वा कश्चिदेष्यति यस्याहमुपयोगी स्याम्’ इति ते समारन्त आगताः त्वयुपागते सति । अर्तेर्लुङ्किः पूर्ववदात्मनेपदम् । ‘सर्तिशास्त्वर्तिभ्यश्च । ३।१।५।’ इत्यङ्कि ‘ऋद्वशोऽङ्कि गुणः । ७।४।१।’ आडजादीनाम् । ६।४।७।’ भाषाविषयस्य प्रयोगः ॥ १६ ॥

१ ‘इवेन समासो विभक्तयलोपः । पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरत्वं च’ इतीवेन समासः ।

न चैवं मिथ्या वायुर्मे सुहृदित्याह—

के न संविद्रते वायोर्मैनाकाऽद्विर्यथा सज्जा ।

यत्नादुपाह्ये प्रीतः संहृयस्व विवक्षितम् ॥ १७ ॥

क इत्यादि—वायोर्मैनाकाऽद्विर्यथा सखेति के न संविद्रते जानन्ति । वेच्चेः पूर्ववदात्मनेपदम् । ‘वेच्चेविभाषा । ७ । १ । ७ ।’ इति रुद् । तस्मात् प्रीतः सन् अहं यत्नादुपाह्ये भवन्तसाह्यामि । ततः संहृयस्व कथय विवक्षितमभिप्रतम् । ‘निसमुपविभ्यो ह्वः । ३ । ३ । ३० ।’ इत्यकर्त्रभिप्राये लट्ठलोटोरोत्सनेपदम् । ततोऽकर्मकादिति निवृत्तम् । सामान्येन विधानम् ॥ १७ ॥

द्यामिवाह्ययमानं तमवोचद्भूरं कपिः ।

उपकुर्वन्तमत्यर्थं प्रकुर्वाणोऽनुजीविवत् ॥ १८ ॥

द्यामित्यादि—द्यामिवाकाशभिवाह्ययमानं महत्तया स्पर्धमानम् । ‘स्पर्द्ध-यामाडः । १ । ३ । १ ।’ इत्यात्मनेपदम् । अत्यर्थमुपुर्वन्तं आपतिथ्येन तमी-हशं भूधरमबोचत् । कपिः प्रकुर्वाणः सेवमानोऽनुजीविवत् भूत्यवत् । ‘गन्धनावक्षेपणसेवनसाहस्रिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञ्जः । १ । ३ । ३३ ।’ इति सेवने तड़ ॥ १८ ॥

कुलभार्या प्रकुर्वाणमहं द्रष्टुं दशाननम् ।

यामि त्वरावान् शैलेन्द्र ! मा कस्यचिदुपस्कृथाः ॥ १९ ॥

कुलभार्यामित्यादि—अहं दशाननं द्रष्टुं यामि कुलभार्या प्रकुर्वाणं कुल-नारीमभिगच्छन्तम् । तस्यां सहसा प्रवर्तमानमित्यर्थः । साहसिक्ये तड़ । त्वरा-वान् त्वरायुक्तः । अतः हे शैलेन्द्र ! मा कस्यचिदशनपानादिकस्य उपस्कृथाः अतिशयवन्तं मा कार्षीरित्यर्थः । ‘माडि लुड़ । ३ । ३ । १७५ ।’ प्रातियत्ने तड़ । ‘तनादिभ्यस्तथासोः । २ । ४ । ७९ ।’ इति सिचो लुक्क । ‘उपात्प्रतियत्न-वैकूतवाक्याध्याहोरेषु च । ६ । १ । १३९ ।’ इति सुट् । कस्यचिदिति ‘कूनः प्रतियत्ने । २ । ३ । ५३ ।’ इति कर्मणि षष्ठी ॥ १९ ॥

योऽपचक्रे वनात् सीतामाधिचक्रे न यं हरिः ।

विकुर्वाणः स्वरानद्य बलं तस्य निहन्म्यहम् ॥ २० ॥

य इत्यादि—यः सीतामपचक्रे आभिवभूव । अवक्षेपणे तड़ । वनादिति वनमुपगम्य ‘ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च’ इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी ।

हारीरिन्द्रो नाधिचक्रे न प्रसेहे । 'अदेः प्रसहने । १ । ३ । ३३ ।' इति तड़ । तस्य वलं दशाननस्य सामर्थ्यम् । कीदृशं स्वरान् विकुर्वाणं विविधान् स्वरान् कुर्वाणम् । 'वेः शब्दकर्मणः । १ । २ । ३४ ।'^१ इति तड़ । तस्य दशाननस्य वलं निहन्मि ॥ २० ॥

विकुर्वे नगरे तस्य पापस्याऽय रघुद्विषः ।

विनेष्ये वा प्रियान् प्राणानुदानेष्येऽथवा यशः ॥ २१ ॥

विकुर्व इत्यादि—तस्य रघुद्विषो रामशत्रोः पापस्य नगरे पुर्या अहमद्य विकुर्वे विविधं चेष्टे । 'अकर्मकाच्च । १ । ३ । ४५ ।'^१ इति तड़ । इति तत्र विकुर्वाणो यदि वा प्रियानपि प्राणान् स्वाम्यर्थं विनेष्ये अपनेष्यामि । 'सम्माननोत्स-ज्ञानाचार्यकरणज्ञानभूतिविगणनव्ययेषु नियः । १ । ३ । ३६ ।'^१ इति व्यये तड़ । यतो धर्मादिषु विनियोगो व्ययः । यशो वा उदानेष्ये ऊर्ध्वं नेष्यामि तस्यापकारकणात् । अत्रोत्सञ्जने तड़ । उत्सञ्जनमुत्क्षेपणम् ॥ २१ ॥

विनेष्ये क्रोधमथवा क्रममाणोऽरिसंसादि ।

इत्युक्त्वा खे पराक्रंस्त दूर्णं सुनुर्नभस्वतः ॥ २२ ॥

विनेष्य इत्यादि—यदि वा क्रोधमात्मनो विनेष्ये अपनेष्यामि । 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि । १ । ३ । ३७ ।'^१ इति तड़ । कर्तृस्थस्य क्रोधंकर्मणो-ऽशरीरत्वात् अत्र व्ययो न सम्भवतीति । अरिसंसादि शत्रुसभायां क्रममाणः अप्रतिबन्धेन प्रवर्तमानः । 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः । १ । ३ । ३८ ।'^१ इति वृत्तौ तड़ । वृत्तिरप्रतिबन्धः । इत्येवमुक्त्वा सूनुर्नभस्वतः वायोस्तनयः खे दूर्णं पराक्रंस्त शीघ्रमुत्सेहे । 'उत्पराम्याम् । १ । ३ । ३९ ।'^१ इत्यनेन सर्गे तड़ । सर्ग उत्साहः ॥ २२ ॥

परीक्षितुमुपाक्रंस्त राक्षसी तस्य विक्रमम् ।

दिवमाक्रममाणेव केतुतारा भयप्रदा ॥ २३ ॥

परीत्यादि—तस्य हनूमतो विक्रमं शौर्यं परीक्षितुं राक्षसी उपाक्रंस्त उत्सेहे । पूर्ववत्तड़ । दिवमाक्रममाणेव । यथा केतुः स्वर्भानुः तारा नभस्युद्गच्छति भयंकरा । 'आङ उद्गमने । १ । ३ । ४० ।'^१ इति तड़ । तत्र हि 'ज्योतिरुद्गमन—' इत्युक्तम् । केतुताराबाच्च ज्योतिःस्वभावत्वात् ॥ २३ ॥

^१ 'अत्र रघुशब्दो लक्षणया राघवपरः ।

जले विक्रममाणाया हनूमाङ् शतयोजनम् ।

आस्यं प्रविश्य निरगादणूभूयाऽप्रचेतितः ॥ २४ ॥

जल इत्यादि——विक्रममाणायाः पद्मयां विचरन्त्याः । ‘वैः पादविहरणे १।३।४१’ इति तड़ । जलमृहणात् गतिविशेषं दर्शयति । आस्यं शत-योजनं शतं योजनानि यस्य ब्रमणतः । अत्र शतयोजनपदं लक्षणया बहुयो-जनपरमेव ब्रोध्यम् , अन्यथा शतयोजनावधावुदयौ तस्या एकदेशोऽवस्थानं न सङ्गच्छेत् । तदण्मूय सूहमीभूय प्रविश्य निरगात् निर्गतः । उदंर विद्युये-त्यर्थात् । अप्रचेतितः अविज्ञातः ॥ २४ ॥

द्रष्टुं प्रक्रममाणोऽसौ सीतामभ्योनिधेस्तटम् ।

उपाक्रंस्ताऽऽकुलं घोरैः क्रमाण्जीनशाचरैः ॥ २५ ॥

द्रष्टुमित्यादि——असौ हनूमान् सीतां द्रष्टुं प्रक्रममाणः आरभमाणः आदिकर्मणि यथा भोक्तुं प्रक्रमते इति । उद्येस्तटमुपाक्रमते गन्तुं प्रारब्धवा-नित्यर्थः । ततश्च प्रोपयोरादिकर्मणि समानार्थत्वात् ‘प्रोपाभ्यां’ समर्थाम्याम् । १।३।४२’ इति तड़ । घोरैः रौद्रैः । निशाचैरराकुलं व्याप्तम् । तदं क्रममाणैः इतस्ततो गच्छद्धिः । ‘अनुपसर्गाद्वा । १।३।४३’ इति तड़ ॥ २५ ॥

आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद्विनम् ।

ज्ञास्ये रात्राविति ग्राहः प्रत्यज्ञास्त त्रियापदुः ॥ २६ ॥

आत्मानमित्यादि——मौ कश्चिद्द्राक्षीदिति तथाविधमात्मानं ज्ञारीरमव-जाननः अपवह्नानः ‘आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मनः’ इत्यमरः । ‘अपहवे ज्ञः । १।३।४४’ इति तड़ । यो हि शशमात्रो भूत्वा स्थितः तेन कथमात्मा लोके नापलपितः स्यात् । अनयद्विनम् अगमयद्विवसम् । ज्ञास्ये रात्राविति प्रत्यज्ञास्त प्रतिज्ञातवानित्यर्थः । ‘सम्प्रतिभ्यामनाद्यान्ते । १।३।४६’ इत्यात्मनेपदं लुडो भवति । आद्यानं चोत्कण्ठनम् । ज्ञास्ये इत्यर्कमकाच्चेत्यर्कर्मकमिक्यावच्चनत्वादात्मनेपदम् । शाहः क्रियापदुरिति बुद्धिकौशलं कर्मकौशलं च दर्शयति ॥ २६ ॥

संजानानान् परिहरन् रावणाऽनुचरान् वहन् ।

लङ्घां समग्रविशद् रात्रौ वद्मानोऽरिदुर्गमाम् ॥ २७ ॥

१ अब ‘मा’ इत्येव निषेधार्थकमन्ययम्, न तु ‘मालू’ अन्यथाऽटो ल्लेखः प्रसरक्षेत् ।

संजानानानित्यादि—रावणस्यार्थेषु कार्येषु ये चरन्तीति ‘चरेष्टः । ३१
२।१६।’ तान् बहून् संजानानान् चतयतः परिहरन् । अनाध्याने तद् । रात्रौ
लङ्घां समाविश्वा ग्रविष्टवान् । अरिदुर्गमां राक्षसदुर्गमाम् । वदमानो
भासमानः । ‘भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः । १।३।४७।’
इत्यात्मनेपदम् ॥ २७ ॥

कंचिन् नोपावदिष्टाऽसौ केनचिद् व्यवदिष्ट न ।

शृण्वन् संप्रवदमानाद् रावणस्य गुणान् जनात् ॥ २८ ॥

कंचिदित्यादि—असौ प्रविष्टः सन् न कंचिदुपावदिष्ट उपसान्त्वत-
चान् । उपसम्भाषायां तड् । केनचिद्व्यवदिष्ट न, न भाषितवान्
विमतो तड् । विमतिर्नामतिः । शृण्वन् आकर्णयन् । जनात् संप्रव-
दमानात् संभूय भाषमाणात् । रावणस्य संबन्धिनो गुणान् । ‘व्यक्त-
वाचां समुच्चारणे । १।३।४८।’ इत्यात्मनेपदम् । जनानां व्यक्तवाक्त्वान् ॥२८॥

जलिपतोऽक्षसंगीतप्रनृत्तस्मितवल्लितैः ।

घोषस्यान्ववदिष्टेव लङ्घा पूतकतोः पुरः ॥ २९ ॥

जलिपतेत्यादि—पूतकतोरिन्द्रस्य या पूः पुरीत्यर्थः । ‘पूः छी पुरी
नगर्यो व्य’ इत्यमरः । तस्या अमरावत्याः सम्बन्धिनो घोषस्यान्ववदिष्टेव
लङ्घा । पूताः क्रतवो यस्येति तस्य । अनुशब्दः सादृश्ये । सदृशं वादं कृतं-
वती । तैर्जलिपतादिभिः । उभयत्रापि जलिपतादिघोषस्य तुल्यत्वात् । लङ्घेति
तस्यो जन उच्यते । तेन व्यक्तवाग्निषयत्वात् । ‘अनोरकम्भकात् । १।३।
४९।’ इति तड् । तत्र व्यक्तवाचाभित्यनुवर्तते न समुच्चारण इति ॥२९॥

ऐदं विप्रवदमानैस्तां संयुक्तां ब्रह्मराक्षसैः ।

तथाऽवगिरमाणैश्च पिशाचैर्मासशोणितम् ॥ ३० ॥

ऐदित्यादि—तां ब्रह्मराक्षसैः भयङ्गैर्निशाचरैः संयुक्तां हनूमान् ऐदं
जगाम । इणो लङ्घि रूपम् । विप्रवदमानैः परस्परविरुद्धार्थाभिधायिभिः ।
विप्रलापात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणे ‘दिभाषा विप्रलापे । १।३।५०।’
इति तड् । तथा पिशाचैर्मासशोणितमवगिरमाणैः भक्षयोद्दिः संयुक्ताम् ।
गिरतेरभ्यवहारार्थत्वात् ‘अवादू मः । १।३।५१।’ इति तड् । मांसशोणितमिति
‘जप्तिरप्राणिनाम् । २।४।६।’ इत्येकवद्ग्रावः ॥ ३० ॥

१ भाषणादिभिरित्यर्थः । अत्र भावे कः ।

यथास्वं संगिरन्ते स्म गोष्ठीषु स्वामिनो गुणान् ।

पानशैण्डाः पथः क्षीवा वृन्दैरुदचरन्त च ॥ ३१ ॥

यथास्वमित्यादि—ब्रह्मराक्षसाः पिशाचाश्च यथास्वमात्मीयस्य स्वामिनो गुणान् गोष्ठीषु गोष्ठीमध्ये संगिरन्ते स्म अभ्युपगतवन्तः । ‘समः प्रतिज्ञाने ११।३।५२’ इति तङ् । पानशैण्डाः पानसक्ताः क्षीवा मत्ताः सन्तः पथो मार्गानुदौर्चरन्त उत्क्रम्य गच्छन्ति स्म । ‘उदश्वरः सकर्मकात् ११।३।५३ ।’ इति तङ् । वृन्दैरिति सम्भूयेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

यानैः समचरन्ताऽन्ये कुञ्जराऽश्वरथाऽदिभिः ।

सम्प्रायच्छन्त वन्दीभिरन्ये पुष्पफलं शुभम् ॥ ३२ ॥

यानैरित्यादि—अये यानैः कुञ्जराऽदिभिः समचरन्त संचरन्ते स्म । ‘समस्तृतीयायुक्तात् ११।३।५४’ इति तङ् । अन्ये वन्दीभिरानीताभिः । सम्प्रदाने तृतीया । अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति इति वचनाद्बुन्दीश्वै इत्यर्थः । पुष्पफलं शोभनं संप्रायच्छन्त ददति स्म । ‘दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ११।३।५५’ इति तङ् । पुष्पफलमिति जातेरेकवद्धावः ॥ ३२ ॥

कोपात् काश्चित् प्रियैः प्रत्तमुपायंसत नाऽप्नवम् ।

प्रेम जिज्ञासमानाभ्यस्ताभ्योऽप्नप्सत कामिनः ॥ ३३ ॥

कोपादित्यादि—काश्चित् क्षियः कोपात् अन्यरूपगमनजनितात् आसेवं मध्यविशेषं नोपायंसत न स्वीकृतवत्यः । ‘विभाषोपयमने ११।३।१६’ इत्यकित्वपक्षे रूपम् । ‘उपाद्यमः स्वकरणे ११।३।५६’ इति तङ् । पाणिमहणपूर्वस्य स्वीकरणस्य तत्र स्थितत्वादैपचारिकमत्र स्वीकरणं द्रष्टव्यम् । ‘समुदाङ्गभ्यो यमोऽप्रन्थे ११।३।७५’ इति वा तङ् । उदाङ्गपूर्वस्य यम आदानार्थत्वात् । अवसरप्राप्तं सूत्रद्वयमुपाहृतं स्यात् । प्रियैः प्रत्तं दत्तम् । ‘अच उपसर्गात्तः ७।३।४७’ इति ददातेः । प्रेम जिज्ञासमानाभ्यः किमस्मासु प्रेमास्ति वा न वेति कृतकोप्रकाशेन ज्ञातुभिर्च्छन्तीभ्यः । ‘ज्ञाश्रुस्मृद्दशां सनः ११।३।५७’ इति तङ् । वाभ्यो योषिद्धयः । कामिनः अशप्सत न मे त्वदन्या प्रियास्तीति तदीयशरीरस्पर्शनेन शपथं चक्रुः । ‘शप उपालम्भने’ इत्यात्मने-

१ उत्पूर्वकस्य चरते रुचारणार्थकस्वमलोत्सर्गार्थकत्वं वा प्रसिद्धम् । २ ‘सर्वे स्फङ्गद्वाहने यानं युखं पश्च च धोरणम् ।’ इत्यमरः । ३ ‘वन्दिनः स्तुति-शास्त्राः ।’ इत्यमरः । ४ मैरेयमासवः सीघुः’ इत्यमरः ।

रदम् । वाचा उपलभ्नं शरीरस्पर्शनम् ‘श्लाघहुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः । १४
३४’ इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । तासां ज्ञापयेतुमिष्यमाणत्वात् ॥ ३३ ॥

ग्रादिद्वक्षत नो नृत्यं नाऽशुश्रूषत गायनान् ।
रामं सुस्मृष्टमाणोऽसौ कपिर्विरहदुःखितम् ॥ ३४ ॥

ग्रादिद्वक्षतेत्यादि—असौ कपिर्लङ्कायां नो नृत्यं ग्रादिद्वक्षत । गायनान् गायकान् । ‘गस्थकन् । ३।१।१४६०’ एयुद्द च । नाशुश्रूषत न श्रोतुमिष्टवान् किमिति रामं विरहदुःखितं सुस्मृष्टमाणः स्मर्तुमिष्टन् । सन्नन्तेभ्यः पूर्व-बद्धात्मनेषदम् । ‘अञ्जनगमां सनि । ६।४।१६०’ इति दीर्घत्वम् । ‘उदोष्टुष्टुपूर्वस्य । ७।१।१०२१’ इत्युत्त्वम् ॥ ३४ ॥

अनुजिज्ञासतवाऽथ लङ्कादर्शनमिन्दुना ।
तमोऽपहविमुक्ताऽशु पूर्वस्यां दिश्युदैयत ॥ ३५ ॥

अन्वित्यादि—अथैतस्मिन् प्रस्तावे इन्दुना चन्द्रेण उदैयत उदितम् । इणो भावे लङ्कि रूपम् । पूर्वस्यां दिशीति पूर्णनेति दर्शयति । हृश्यते यत् दर्शनं रूपम् । लङ्काया रूपमनुजिज्ञासतेव । पूर्वेण प्राप्स्यात्मनेषदस्य ‘नानोऽर्हः । १।३।५८।’ इति प्रतिषेधः । तमोपहास्तमोविध्वंसमानाः विमुक्ताः प्रेरिता अंशवो यस्मिन् उदये । ‘अये क्षेत्रमसोः । ३।२।१४४।’ इति हन्तेऽः । ‘अग्निन्द्रिकास्तमोऽपहाः ।’ इत्यमरः इति ॥ ३५ ॥

आशुश्रूषन् स मैथिल्या वार्ता हर्म्येषु रक्षसाम् ।
शीयमानाऽन्धकारेषु समचारीदशङ्कितः ॥ ३६ ॥

आशुश्रूषन्नित्यादि—स कपिमैथिल्याः सीताया वार्तामाशुश्रूषन् श्रोतुमिष्टन् । ‘प्रत्याङ्गभ्यां श्रुवः । १।३।५९।’ इत्यात्मनेषदप्रतिषेधः ।, रक्षसां हर्म्येषु गृहेषु । समचारीत् संक्रान्तवान् । ‘अतो लरान्तस्य । ७।२।२।’ इति वृद्धिः । शीयमानान्धकारेषु अपगच्छत्तमःसु । ‘शदूद शातने’ । ‘शुदेः शितः । १ । ३ । ६०।’ इति तत् । ‘पाद्राव्मास्थादाणदृश्यर्तिसर्विशद-सदां पिबजिघवमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छधौसीयसीदाः । ७।३।७८।’ इति शीयादेशः । अशङ्कितः शङ्काग्रहितः ॥ ३६ ॥

१ नो नैवेत्यर्थः । ‘अभावे नद्यनो नापि’ इत्यमरः । २ प्रस्तावे प्रकरणे ।

शतसाहस्रमारक्षं मध्यगं रक्षसां कपिः ।

ददर्श यं कृतान्तोऽपि ग्रियेताऽसाद्य भीषणम् ॥ ३७ ॥

शतेत्यादि—मध्यगं मध्यप्रकोष्ठगतम् आरक्षं गोपकं शतसाहस्रं रक्षसां लक्ष्मात्रं ददर्श विलोकितवान् । शतसहस्रं परिमाणमस्येति प्राग्बतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तप्रहणमलुकीति वचनात् । ‘शतमानविंशतिकसहस्र-वसनादृण् । ५ । १ । २७ ।’ इति अणि ‘संख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च । ७ । ३ । १५ ।’ इत्युच्चरपदवृद्धिः । भीषणं भयानकम् आसाद्य प्राप्य । कृतान्तोऽपि यमोऽपि ग्रियेत प्राणान् संत्यजेत् । ‘कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराङ्गयमः ।’ इत्यमरः । ‘ग्रियतेर्लुडलिङ्गोश्च । १ । ३ । ६ ।’ इति तङ् । तत्र हि शित इत्यनुवर्तते ॥ ३७ ॥

अध्यासिसिष्माणेऽथ वियन्मध्यं निशाकेर ।

कासांचक्रे पुरी सौधैरबीबोद्धातिपिः सितैः ॥ ३८ ॥

अधीत्यादि—अथ निशाकरे चन्द्रमसि वियन्मध्यं अध्यासितुमारोदुमि-च्छति सति । ‘पूर्ववस्त्रमः । १ । ३ । ६ ।’ इत्यात्मनेपदम् । अस्तेरनुदात्तेत्त्वमात्म-चेपदनिमित्तम् । तैनैव सन्नन्वादपि भवति । अत्र सनि इटि कृते अजादेद्वितीष्ट-स्येति द्विर्वचनम् । पुरी लङ्घा कासांचक्रे शोभते स्म । सौधैः सौधानां ज्योत्सन-या चोद्धास्यमानत्वात् । ‘आम्प्रत्ययवत् कृजोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६ ।’ इति तङ् ॥ ३८ ॥

इन्दुं चषकसंक्रान्तमुपायुङ्क यथाऽमृतम् ।

प्रयुज्ञानः प्रिया वाचः समाजाऽनुरतो जनः ॥ ३९ ॥

इन्दुमित्यादि—एवं शोभिवायां लङ्घायां समाजानुरतः पानगोष्ठीरतो जनः चषकसंक्रान्तं मध्यभोजने प्रतिविम्बेन संक्रान्तमिन्दुमुपायुङ्क उपभुक्तवान् । प्रतिविम्बावच्छिन्नस्य मध्यस्योपलक्ष्यमाणत्वादेवमुक्तम् । यथाऽमृतं अमृतामिव । प्रिया अनुकूला वाचः प्रयुज्ञानः अभिद्वानः । ‘प्रोपाभ्यां रथज्ञगत्रु । १ । ३ । ६ । ४ ।’ इति तङ् ॥ ३९ ॥

संहण्वान इवोत्कण्ठामुपायुङ्क सुरामलैम् ।

ज्युक्त्वायां विगलन्मानस्तरुणो रक्षसां गणः ॥ ४० ॥

सक्षुवान् इत्यादि—सक्षसां तस्यो गणः उत्कण्ठां प्रियासु संस्मरणं
संक्षुवान् इव समुत्तेजयन्निव । ‘समः क्षुवः । १ । ३ । ६५ ।’ इति तड़ ।
ज्योत्सनायां सुराम् अलं पर्याम्भुपामुद्गत अभ्याहृतवान् । ‘भुजोऽनवने । १ । ३ ।
६६ ।’ इति तड़ । विगङ्गन्मानः ॥ ४० ॥

मध्वपाययत स्वच्छं सोत्पलं दयिताऽन्तिके ।

आत्मानं सुरताऽभोगविश्रम्भोत्पादनं सुहुः ॥ ४१ ॥

मध्वित्यादि—कीदृशं मधु स्वच्छत्वात् सोत्पलतया सुरभित्वात् शोभनं
जातं यतः स्वयमात्मानं मुहुरपाययत पायितवत् । ‘णरणौ यत्कर्म जौ चैत्स
कर्तीनाध्याने । १ । ३ । ६७ ।’ इति तड़ । दयितान्तिके दयितस्य समीपे ।
सुरताभोगः सुरताविमर्दः तत्र विश्रम्भः तस्योत्पादनं जनकम् । उत्पादयतीति
‘कृत्यल्युटो बहुलम् । ३ । ३ । ११३ ।’ इति कर्तीर ल्युट् ॥ ४१ ॥

अभीषयन्त ये शक्रं राक्षसा रणपणिताः ।

अविस्मा पथमानस्तान्कपिराटीद् गृहाद् गृहम् ॥ ४२ ॥

अ भीषयन्तेत्यादि—एवं रक्षःसु यथायथं चेष्टमानेषु ये राक्षसा रणपणिताः
संग्रामविज्ञाः शक्रमभीषयन्त भीषितवन्तः । ‘भीस्म्योहैतुभये । १ । ३ । ६८ ।’ इति
तड़ । ‘भियो हेतुभये षुक् । ७ । ३ । ४० ।’ इति षुक् । भयग्रहणमुपलक्षणं तेन स्मयतेरपि
भवति । तानसौ कपिरविस्मापथमानः विस्मयमकारयन् । ‘नित्यं स्मयतः । ६ ।
१ । ५७ ।’ इत्यात्वम् । गृहाद् गृहमाटीत गतवान् । लुङ्कं रूपम् ॥ ४२ ॥

सीतां दिद्वक्षुः प्रच्छन्नः सोऽगर्धयत राक्षसान् ।

अवच्छयत मायाश्च स्वमायाभिर्नरद्विषाम् ॥ ४३ ॥

सीतामित्यादि—स कपिः सीतां दिद्वक्षुः सीतां द्रष्टुमिच्छुः प्रच्छन्नः राक्ष-
सानगर्धयत व्यामोहयत् । स्वमायाभिश्च नरद्विषां मायाश्च अवच्छयत आतिसांहि-
तवान् । ‘गृधिवक्त्योः प्रलम्भने । १ । ३ । ६९ ।’ इति तड़ ॥ ४३ ॥

अपलापयमानस्य शत्रूस्तस्याऽभवन्मातिः ।

मिथ्या कारयते चारैघोषणां राक्षसाऽधिपः ॥ ४४ ॥

अपेत्यादि—तस्य कपे: शत्रून् राक्षसान् अपलापयमानस्य न्यक्कुर्वतः ।
‘विभाषा छीयते: । ६ । १ । ५१ ।’ इत्यात्वे । ‘लियः सम्माननशालिनी-

करणयोश्च । १ । ३ । ७० ।' इति शालिनीकरणे न्यगभावने आत्मनेपदम् । मतिरभवत् । कीदृशीत्याह—मिथ्या कारयत इति । अये राक्षसाधिपतिश्चैर्दृष्टिवाहकैः यां घोषणां पुनः पुनः कारयति जागृतं जागृतोति तां मिथ्याकारयते येनाहमविज्ञात एव प्रविष्टः । 'मिथ्योपदात् कुबोऽभ्यासे । २ । ३ । ७१ ।' इति तड् । अभ्यासश्च पुनः पुनःकरणम् ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चमिः कुलकम् ।

गूहमानः स्वमाहात्म्यमठित्वा मन्त्रिसंसदः ।

नृभ्योऽपवदमानस्य रावणस्य गृहं यथौ ॥ ४९ ॥

गूहमान इत्यादि—स्वमाहात्म्यं स्वपराक्रमं गूहमानः आवृण्वन् । ऊँ-पधाया गोहः । ६।४।८१।' इत्यूत्त्वम् । 'स्वरितत्वितः कर्त्रभिप्राये क्रियाकले । १।३।७२।' इति तड् । अठित्वा मन्त्रिसंसदैः शुकसारणादिगृहाणी गत्वा रावणस्य गृहं यथौ । कीदृशस्य । नृभ्योऽपवदमानस्य कुप्यतः असूयतो वा । 'अपाच्छदः । १।३।७३।' इति तड् । नृभ्य इति 'कुद्रुहेष्वासूयार्थानां यं प्रति कोपः । १।४।३७।' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी ॥ ४५ ॥

कीदृशं गृहमित्याह—

दिशो घोतयमानाभिर्दिव्यनारीभिराकुलम् ।

श्रियमायच्छमानाभिरुत्तमाभिरुत्तमाम् ॥ ४६ ॥

दिश इत्यादि—दिशः घोतयमानाभिः भासयमानाभिः । 'णिचश्च । २ । ३ । ७४ ।' इति तड् । दिव्यनारीभिः उत्तमाभिः प्रधाननायिकाभिः राकुर्लं व्याप्तम् । श्रियमहुत्तमामतिशयवतीं आयच्छमानाभिः स्वीकुर्वाणाभिः । 'समुदाङ्गभ्यो यमोऽप्रन्थे । १ । ३ । ७५ ।' इति तड् ॥ ४६ ॥

नित्यमुद्यच्छमानाभिः स्मरसम्प्योगकर्मसु ।

जानानाभिरलं लीला किलोक्तिविभ्रमान् ॥ ४७ ॥

यमित्यादि—स्मरसंभोगकर्मसु कासोपभोगक्रियासु । नित्यमुद्यच्छमानाभिः उत्सहमानाभिः । पूर्ववत्तड । लीला जानानाभिः । 'अनुपसर्गार्जङ्गः । ३ । ३ । ७६ ।' इति तड् । लीलाः खीणां शृङ्गारचेष्टाविशेषाः । तथा

* १ परोदन्तमवगन्तु लियुक्तैः । 'वारश्च गृदधुरुषः' इत्यमरः । २ 'उद्दैर्षुष्टं तु वोष्टम् ।' इत्यमरः । ३ 'मन्त्री धीसचिच्छोऽमरत्वः' इत्यमरः ।

चोक्तम्—‘विलासलीलाः किलिंचितानि विवोक्मोद्दृश्यतविभ्रमाणि । विच्छित्तमाकुट्टिमितेक्षितानि योज्यानि तज्जैः सुकुमारनृत्ये ॥’ इति । लक्षणं
चैवां नृत्यशब्दे ॥ ४७ ॥

स्वं कर्म कारयन्नास्ते निश्चिन्तो या ज्ञपृथ्वजः ।
स्वार्थं कारयमाणाभिर्यूनो मदविमोहितान् ॥ ४८ ॥

स्वमित्यादि—स्वमात्मीयं मोहनादिकर्म यादिव्यनारीः कारयन् अनुष्ठापयन् ।
एष ज्ञपृथ्वजः कामदेवः निश्चिन्त आस्ते । ताभिराकुलमिति योज्यम् । ‘हको-
रन्यतरस्याम् । १।४५३।’ इति द्विकर्मकता । यूनः स्वार्थं स्वप्रयोजनं मैथुनास्त्वं
कारयमाणाभिः आकुलम् । ता हनूमानिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः कीटशान्
मदविमोहितान् भव्युपानमदपरवशान् । ताभिः ॥ ४८ ॥

कीटशीभिरित्याह—

कान्ति स्वां वहमानाभिः स्वविग्रहान् ।
नेत्रैरिव पिबन्तीभिः पश्यतां चित्तसंहतीः ॥ ४९ ॥

कान्तिमित्यादि—स्वां कान्ति शोभां वहमानाभिः । यजन्तीभिः स्वविग्र-
हान् ददीरीभिः कामिभ्यः । तत्र स्वं कर्मेति ‘णिचश्च । १।३।७४।’ इत्यस्य
विषयः । कान्ति स्वां स्वविग्रहानिति स्वरितविं १।३।७२।’ इत्यस्य
विषयः । ‘विभाषोपपदेन प्रतीयमाने । १।३।७७।’ इति विभाषा आत्मनेपदम् ।
‘इत्यात्मनेपदाधिकारः । शेषभूतत्वात् परस्मैपदविवानमाह—नेत्रैरिति । पश्यतां
चित्तसंहतीः । चित्तसंदोहान् पिब न्तीभिरिव गृह्णन्तीभिरिव । ‘शेषात्कर्त्तरि
परस्मैपदम् । १।३।७८।’ ॥ ४९ ॥

ता हनूमान् पराकुर्वन्नगमत्पुष्पकं प्रति ।

विमानं मन्दरस्याद्रेत्तुकुर्वदिव श्रियम् ॥ ५० ॥

ता इत्यादि—ता दिव्यनारीः पराकुर्वन्नपक्षिपन् अगमत् । पुष्पकं प्रति
कुबेरस्य पुष्पकविमानं प्रति । ‘विमानं तु पुष्पकम् ।’ इति कुबेरविमानाभिघा-
नोक्तेः । येन पुष्पकविमानेन जगाम । कीटशं मन्दरस्याद्रेः श्रीयमनुकुर्वदिव ।
‘अनुपराभ्यां कृञ्जः । १।३।७९।’ कर्त्रभिप्राये चात्मनेपदस्य प्राप्तत्वात् ॥ ५०॥

१ कान्तेर्वहनायोगेऽपि वहनोक्त्या तथा निविडत्वाद्यतिशयं शोतयते ।
२ देवकुलोत्पन्ना रमणीरित्यर्थः । श्रियं शोभाम् ।

अथ युग्मम् ।

तस्मिन् कैलाससंकाशं शिरःशृङ् भुजद्रुमम् ।

अभिक्षिपन्तमैक्षिष्ठ रावणं पर्वतश्रियम् ॥ ५१ ॥

तस्मिन्नित्यादि—तस्मिन् विमाने रावणमैक्षिष्ठ । कैलाससंकाशं कैलास-
तुल्यम् । शिरःशृङ् शिरांसि शृङ्गाणीव यस्य । भुजद्रुमं भुजा द्रुमा इव यस्य । तं
पर्वतस्य श्रियनभिक्षिपन्तम् आभिभवन्तम् । ‘आभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः । १३।८०’
इति परस्मैपदम् । तस्य स्वरितेत्वात् कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदं प्राप्तम् ॥ ५१ ॥

प्रवहन्तं सदामोदं सुतं परिजनाऽन्वितम् ।

मधोने परिमृष्यन्तमारमन्तं परं स्मरे ॥ ५२ ॥

प्रवहन्तमित्यादि—सदैमोदं कस्तूरिकादिपरिमलं प्रवहन्तम् । ‘प्राद्वहः
१३।८१’ इति परस्मैपदं स्वरितेत्वात् । सुतं शयने संविष्टम् । परिजनान्वितं
पारिपार्श्विकाधिष्ठितम् । मधोने इन्द्राय परिमृष्यन्तं असूयन्तम् । ‘परेर्षेः
१३।८२’ इति परस्मैपदं मृषेः स्वरितेत्वात् । ‘कुवद्रुहर्ष्योऽसूयार्थानां यं
प्रति कोपः । १४।३।७’ इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । स्मरे कामे परमत्यर्थम्
आरमन्तं विश्रमं कुर्वाणम् । ‘व्याङ्गपरिभ्यो रमः । १३।८३’ इति परस्मैपदम् ।
रमेनुदाचेत्वात् ॥ ५२ ॥

व्यरमत्प्रवनाद्यस्मात् परित्रस्तः सहस्रद्वक् ।

क्षणं पर्यरमत्तस्य दर्शनान्मारुताऽत्मजः ॥ ५३ ॥

व्यरमदित्यादि—यस्माद्रावणात् सहस्रद्वगिन्द्रः । परित्रस्तः ‘भीत्रार्थानां
भयहेतुः । १४।२५’ इत्यपादाने पञ्चमी । प्रधनात् युद्धात् । व्यरमत् उप-
रतव्यापारोऽभूत् । ‘व्याङ्गपरिभ्यो रमः । १३।८३’ इति परस्मैपदम् । ‘वा
जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्’ इत्यपादाने पञ्चमी । तस्य दर्श-
नान्मारुतात्मजः हनूमान् क्षणं पर्यरमत् तुष्टिमानभवदित्यर्थः । ‘साधु
रावण’ इति । पूर्ववल्लङ्घः परस्मैपदम् ॥ ५३ ॥

उपारंसीच्च संपश्यन् वानरस्तं चिकीर्षितात् ।

रम्यं मेरुमिवाऽधूतकाननं श्वसनोर्मभिः ॥ ५४ ॥

१ ‘निमसदूर्लक्ष्मीकाशप्रतीकाशोपमादयः ।’ इत्यमर. । २ सज्जामोदस्तम् । ‘आ-
मोदः सोऽतिनिर्हसी’ इत्यमर. ।

उपेत्यादि-तं रावणं पश्यन् वानरः चिकीर्षितात्कर्तुं मिष्टात् सीतान्वे-
षणादुपारंसीत् निवृत्तः । उपाच्चेत्यधिकृत्य ‘विभाषाऽकर्मकात् । १।३।८५।’
इति लुडः परस्मैपदम् । तस्य मेरोरिव रम्यत्वात् तदाह भेदमिव । श्वस-
नोर्मिभिः वातसमूहैः । आधूतकाननं प्रचलितवैनं मेरुम् । तथा श्वसनो-
र्मिभिः श्वसितकलेष्टः आधूतानि कानि शिरांस्याननानि च यस्योति ॥५४॥

द्वृष्टा दयितया साकं रहीभूतं दशाननम् ।

नाऽत्र सीतैत्युपारंस्त दुर्मना वायुसम्भवः ॥ ५५ ॥

द्वृष्टेत्यादि-रहीभूतं विजनस्थं दशाननम् । ‘अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां-
लोपश्च । ५।४।५।१।’ इति च्वौ सलोपः । दयितया साकं द्वृष्टा नात्र सीतेति कृत्वा
उपारंस्त विमना निवर्तते स्म । ‘विभाषाऽकर्मकात् । १।३।८५।’ इति तडः ।
वायुसंभवो वायोः सम्भवो यस्य स हनुमान् ॥ ५५ ॥

ततः प्राकारमारोहत् क्षपाटानविवोधयन् ।

नाऽयोधयत् समर्थोऽपि सीतादर्शनलालसः ॥ ५६ ॥

तत इत्यादि-तत उच्चरकाळं प्राकारमारोहत् आरुद्वान् । क्षपाटान् राक्ष-
सान् अविवोधयन् अचेतयन् । ‘णिचश्च । १।३।८४।’ इत्यात्मनेपदे प्राप्ते ‘बुधयुधनश-
जनेऽप्सुदुषुभ्यो जेः । १।३।८६।’ इति लटः परस्मैपदम् । बुधेरणौ सकर्मकरथ
चित्तवत्कर्तृकृत्वात् हनुमतश्चित्तवत्त्वात् । तत्र हर्कर्मका ये तेषामाचित्त-
वत्कर्तृत्वार्थमुपादानामित्युक्तम् । तान्नायोधयत् समर्थोऽपि न संग्रामितवान् ।
यतः सीतादर्शनलालसः लम्पटः । ‘अणावर्कर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् । १।३।८८।’
इत्यनेन उभयत्रापि लडः परस्मैपदम् । युधेरेकस्याचित्तवत्कर्तृकृत्वात् ॥५६॥

अध्यासीद्राघवस्याऽहं नाशयेयं कर्थं शुचम् ।

वैदेह्या जनयेयं वा कथमानन्दमुत्तमम् ॥ ५७ ॥

अध्यासीदित्यादि—राघवस्याहं कर्थं केन प्रकारेण शुचं शोकं नाशयेयम् ।
प्रश्नमयेयम्, कर्थं वा वैदेह्याः सीताया आनन्दं जनयेयमिति हनुमानध्यासीत्
चिन्तितवान् । ‘धैर्य चिन्तायाम्’ इत्यस्य लुडः रूपम् । नशिजन्योरकर्मकत्वात्
‘अणावर्कर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् । १।३।८८।’ इत्यनेन लिडः परस्मैपदम्, न तु ‘बुध-
युधनशजनेऽप्सुदुषुभ्यो जेः । १।३।८६।’ इत्यनेन परस्मैपदम् । जनीजृष्ठक्षुरज्ञो-
अमन्ताश्च । इति जनेऽर्मतसंज्ञायां हस्तत्वम् ॥ ५७ ॥

१ कम्पिताशोकोद्यानमिति भावः । ‘गहनं काननं वनम् ।’ इत्यमरः ।

दृष्टा राघवकान्तां तां द्रावयिष्यामि राक्षसान् ।

तस्या हि दर्शनात्पूर्वं विक्रमः कार्यनाशकृत् ॥ ५८ ॥

द्वैषुत्यादि—इयमसाविति राघवस्य कान्तां दृष्टा द्रावयिष्यामि राक्षसान् लाययिष्यामि । अत्र ‘अणावर्कर्मकाचित्तवत्कर्तृकात् । १ । ३ । ८८ ।’ इत्यनेन परमैपदं, न तु ‘बुधयुधनशजनेङ्ग्रुद्गुम्यो णः । १ । ३ । ८६ ।’ इत्यनेनेति बोध्यम् । तस्याकर्मकस्य चित्तवत्कर्तृकत्वात् । हि यस्मात् तस्याः सीताया दर्शनात्पूर्वं विक्रमः कार्यस्य सीतादर्शनरूपस्य नाशकृत् ॥ ५८ ॥

जिन्तयचित्थमुक्तुङ्गैः प्रावयन्तीं दिवं वनैः ।

अशोकवनिकामारादपश्यत् स्तबकाऽचिताम् ॥ ५९ ॥

चिन्तयन्नित्यादि—इत्थं पूर्वेक्षयकारेण चिन्तयन्नारात्समीपे अशोकवनिकामपश्यत् । उनुङ्गैरुच्छैर्वैनादेवमाकाशं प्रावयन्तीं व्याप्नुवानाम् । दिवं यावदुन्नर्तैर्वृक्षैः पूर्णामित्यर्थः । ‘बुधयुधनशजनेङ्ग्रुद्गुम्यो णः । १ । ३ । ८६ ।’ इति तिप् । प्रवतेरकर्मकस्याचित्तवत्कर्तृकत्वात् । अशोकवनिकायाश्चाचित्तवृत्तीत्वात् । स्तबकाचिताम् अशोकपुष्पस्तबकैश्छलन्नाम् ॥ ५९ ॥

अग्नं पञ्चमिः कुलकम् ।

तां प्राविशत् कपिव्याघ्रस्तरूनचलयज्ञशनैः ।

अत्रासयन्वनशयान्मुसाभ् शाखासु पक्षिणः ॥ ६० ॥

तामित्यादि—तामशोकवनिकां कपिव्याघ्रः कपिःव्याघ्र इवं शनैर्मन्दं विशत् । तरुनेचलयन् अकम्पयन् । चलेरकर्मकत्वाचित्तवत्कर्तृकादणाविनिन च लटः परमैपदं न तु ‘निगरणचलनार्थम्यश्च । १ । ३ । ८७ ।’ इत्यनेनेति देह्यम् । तद्विं तत्र सर्कर्मकार्थं अचित्तवत्कर्तृकार्थं चेत्युक्तम् । वनशन् एव पक्षिणः शाखासु सुप्तायन् अत्रासन् । ‘अणौवर्कर्मकाचित्तवत्कर्तृकात् । ३ । ८८ ।’ इत्यनेन परमैपदम् । वने शेरत इति ‘अधिकरणे शेतः । ३ । २ । ५ ।’ इत्यच् । ‘शयवासवासिष्वकालात् । ६ । ३ । १८ ।’ इति सप्तम्या भाषा अलुक् ॥ ६० ॥

अवाद्वायुः शनैर्यस्यां लतां नर्तयमानवत् ।

नाऽयासयन्त संत्रस्ता ऋतवोऽन्योन्यसम्पदः ॥ ६१ ॥

अवादित्यादि—यस्यामशोकविनिकायां वायुर्बातः शनैर्मन्दमवत् वाति स्म । तामाटेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । लतां नर्तयमानवत् नृत्यमिव कारयन् । नृतिश्चलने वर्तते । ततश्च । ‘निगरणचलनार्थेभ्यश्च । १।३।८७’ इति परस्मै-पदं प्राप्तं ‘न पादम्याड्यमाड्यसपरिमुहरुचिनृतिवद्वसः । १।३।८९’ इति प्रतिषिद्धम् । ऋतवोऽन्योन्यसंपदः परस्परस्य विभूतीः नायासयन्त नोप-पीडयन्ति स्म । संत्रस्ता रावणात् । आङ्गपूर्वाद्यसेः चिच्चवत्कर्त्कत्वात् ‘अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्त्कान् । १।३।८८’ इति परस्मैपदं प्राप्तं ‘न पाद-म्याड्यमाड्यसपरिमुहरुचिनृतिवद्वसः । १।३।८९’ इति प्रतिषिद्धम् ॥ ६१ ॥

ज्योत्स्नाऽमृतं शशी यस्यां वापीर्विकसितोत्पलाः ।

अपाययत सम्पूर्णः सदा दशमुखाऽज्ञया ॥ ६२ ॥

ज्योत्स्नेत्यादि—यस्यां रावणाङ्गया शशी सदा संपूर्णः सन् ज्योत्स्नामृतं चौपीरपाययत् पायितवान् । निगरणार्थत्वाच्चिपि प्राप्ते ‘न पादम्याड्यमाड्य-सपरिमुहरुचिनृतिवद्वसः । १।३।८९’ इति प्रतिषिद्धे णिच्चत्वेति तङ् ॥ ६२ ॥

प्रादमयन्त पुष्पेषु यस्यां बन्द्यः समाहताः ।

परिमोहयमाणाभी राक्षसीभिः समावृताः ॥ ६३ ॥

प्रादमयन्तेत्यादि—यस्यां बन्द्यः समाहताः समानीताः पुष्पेषु कामं प्राद-मयन्त शमितवत्यः । तन्मतस्याचरणात् । कीदृश्यः । परिमोहयमाणाभिः व्यामोहयन्तीभिः राक्षसीभिः परिवृताः । ग्रांदमिपरिमुह्योः ‘अणावकर्म-काच्चित्तवत्कर्त्कात् । १।३।८८’ इत्यनेन प्राप्तस्य परस्मैपदस्य ‘न पादम्याड्य-माड्यसपरिमुहरुचिनृतिवद्वसः । १।३।८९’ इति प्रतिषेदे ‘णिच्चश्च । १।३।८९’ इत्यात्मनेपदम् ॥ ६३ ॥

यस्यां वासयते सीतां केवलं स्म रिषुः स्मरात् ।

न त्वरोचयताऽत्मानं चतुरो वृद्धिमानपि ॥ ६४ ॥

यस्यामित्यादि—रिपुर्दशाननः स्मरात् कामाद्वेतोः केवलं निष्फलं यस्यां सीतां वासयते स्म वासितवान् । न त्वरोचयत आत्मानं नैवात्मानमुपरोचितवान् । चतुरोऽपि योषिदागाधनकुशलोऽपि । वृद्धिमानपि संपद्युक्तोऽपि

१ ‘वा गतिगन्धनयोः’ लुङ् । २ वापीः दीर्घिकाः । ‘वापी तु दीर्घका’ इत्यमरोक्तेः । ३ प्रपूर्वाद् ‘द्यु उपशमे’ इत्यस्य, परिपूर्वकात् ‘स्मह वैचित्ये’ इत्यस्य चत्यर्थः ।

शोचिवास्योः ‘अणावकर्मकाच्चिच्चत्तवत्कर्त्तकात् । १ । ३ । ८८। इति प्राप्तस्यापि च परस्मैपदस्य‘न पादस्याड्यमाड्यसपरियुहरुविनृतिवदवसः । १ । ३ । ८९।’
इति प्रतिवेषे गिर्चंश्वेति तद् ॥ ६४ ॥

मन्दायमानगमनो हरितायत्तरुं कपिः ।

दुमैः शकशकायद्विर्मारुतेनाऽऽट सर्वतः ॥ ६५ ॥

मन्देत्यादि—कपिः सर्वतः सर्वत्र तामाट विजहार । यत्तदोर्नित्यसंबन्धा-त्ताभिति गम्यते । मन्दायमानगमनः मन्दीभवद्भूतः । कीदृशीम् । हरिताय-त्तरुं शाद्लीभवद्भूताम् । अप्राणिजातेश्वत्यूड् । दुमैरुपलक्षिताम् । कीदृशैः । शकशकायद्विः शकस्वभावैः शकीभवद्विः । केन मारुतेन । अत्रामन्दं मन्दं भवति अहरिता हरिता भवन्तीति लोहितादित्वात् क्यप् । अशकाः शका भवन्तीति वाक्ये ‘अव्यक्तानुकरणाद्वृथजवराधादनितौ डाच् । १५।४।५७।’ इति डाच् । तस्मिन्विषयभूते ‘डाचि वहुर्ल ष्टे भवतः ।’ ‘नित्यमात्रेडिते डाचीति वक्तव्याम्’ इति पररूपत्वम् । डाजन्तात् शकशकाशब्दात् क्यप् । ‘वा क्यवः । १ । ३ । ९०।’ इति परस्मैपदम्, आत्मनेपदं च ॥ ६५ ॥

अस्यन्दग्निन्दुमणयो व्यरुचन् कुमुदाऽऽकराः ।

अलौठिषत वातेन प्रकीर्णाः स्तवकोच्चयाः ॥ ६६ ॥

अस्यन्दग्नित्यादि—चन्द्रोदयादिन्दुमणयः अस्यन्दन् स्यन्दन्ते स्म । तामाटेति योज्यम् । व्यरुचन् कुमुदाकराः कैरववनानि विराजितवन्तः । स्तवकोच्चयाः गुच्छराशयः । वातेन प्रकीर्णाः इतततो विक्षिप्ताः सन्तः अलौठिषत लुठन्ते स्म । सर्वत्र ‘दुद्धयो लुडि। १।३।९।१।’ इति विभाषा परस्मै-पदम् । द्युतादयश्च कृपूर्यन्ताः ॥ ६६ ॥

सीताऽन्तिके विवृत्सन्तं वत्स्थितिसिद्धं पुवङ्गमम् ।

पतत्रिणः शुभा मन्द्रमानुवानास्त्वजिह्वदन् ॥ ६७ ॥

सीतेत्यादि—सीतायाः अन्तिके समीपे विवृत्सन्तं वर्ततुमिच्छन्तं पुवङ्गमं वत्स्थितिसिद्धं वत्स्थन्ती भविष्यन्ती सिद्धिः सीतादर्शनलक्षणा यस्य । ‘वृद्धयः स्यसनोः । १।३।५।३।’ इति विभाषा तिपु । तं पतत्रिणः पक्षिणः शुभाः

१ चन्द्रकान्तापरनामानि रत्नानीति भावः । २ प्लवङ्गमं वानरम्, हनुमन्तं मित्यर्थः ।

सर्गः]

अधिकारकाण्डम् ।

प्रशस्ता अजिह्वदन् सुखयन्ति स्म । षिंचि लुडि चडि रूपम् । कीदृशाः
मन्दं गम्भीरं मधुरभानुवानाः वाश्यमानाः । ‘आडि नुप्रच्छथोरूपसंख्या-
नम्’ इति तड़ । ‘षु स्तुतौ’ इत्यादादिकस्य परस्मैपदित्वात् ॥ ६७ ॥

वर्तिष्यमाणमात्मानं सीता पत्युरिवाऽन्तिके ।

उदपश्यत्तदा तथ्यैर्निमित्तैरिष्टदर्शनैः ॥ ६८ ॥

वर्तिष्यमाणमित्यादि—सीताऽपि तदा तस्मिन् काले पत्यु रामस्यान्तिके
आत्मानं वर्तिष्यमाणमिव उदपश्यत् उत्प्रेक्षते स्मै । ‘बृद्धयः स्यसन्नोः ।
।१३।१२।’ इति विभाषावचनाचड़ । निमित्तैश्चस्तुःस्पन्दनादिभिः । तथ्यैर-
विसंवादिभिः इष्टदर्शनैः इष्टार्थप्रकाशकैः । दर्शनमिति ‘कृत्यल्युटो बहुलम् ।
।३।३।११३।’ इति कर्तरि ल्युट ॥ ६८ ॥

निरवत्स्थैर्व चेद्वार्ता सीताया वित्यैव नः ।

अकल्पस्यदुद्यतिः सर्वा हनूमानित्यचिन्तयत् ॥ ६९ ॥

इत्यात्मनेपदाधिकारः ।

निरवत्स्थैर्वियादि—चेदिति यद्यर्थे । यदि सीताया वार्ता न निरवत्स्थैर्
निवृत्तिं नायास्यत्, तदा वृथैव निष्फलैव नोऽस्माकमुद्यतिः सर्वा । अयमुद्यमः
समुद्रलङ्घनादिकः । अकल्पस्यत् अभिष्यत् । इत्येवं हनूमानचिन्तयत् । क्रिया-
तिपत्तो लड़ । तत्र निरवत्स्थैर्दिति ‘बृद्धयः स्यसन्नोः।१३।१२।’ इति विभाषा-
परस्मैपदम् । अकल्पस्यदिति ‘लुटि च कृपः ।१३।१३।’ इति चकारात् स्य-
सनेतरपि भवति विभाषापरस्मैपदम् । उद्यतिरिति यमोः‘क्रियां किन् ।३।३।१४।’
इतिक्षिनि, ‘अनुदाच्चोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो ज्ञालि क्षुति ।
६।४।३।७।’ इत्यनेन अनुनासिकलोपः ॥ ६९ ॥ इत्यात्मनेपदाधिकारः ॥

इतःप्रेमृति कारकमधिकृत्याह—

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

वृशादृक्षं परिक्रामत्रावणाद्विभ्यर्तीं भृशम् ।

शत्रोस्त्राणमपश्यन्तीमहश्यो जनकाऽत्मजाम् ॥ ७० ॥

१ सम्भावयति स्मेवेति भावः । २ सत्यैरित्यर्थः । ३ वार्ता वृत्तान्तः । ‘वार्ता
प्रवृत्तिर्वृत्तान्त’ इत्यमरः । ४ इदमारस्येत्यर्थकमन्ययम् ‘कार्त्तिक्याः प्रभृतिः’ इति
भाव्योक्त्यैतत्त्वाणोगे पञ्चमी च ।

वृक्षादित्यादि—सां जनकात्मजां सीतां स कपिकुञ्जरोऽपश्यदिति वश्य-
प्राप्नेन संबन्धः । वृक्षात् वृक्षं परिक्रामन् गच्छन् । ‘ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥१॥
४।२४।’ इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी । रावणात् विभ्यतीं भृशं त्रस्यन्तीम् अत्यर्थं
शत्रो रावणाद्रक्षामपश्यन्तीं यतो भयं ततः कुतो रक्षेति ‘भीत्राथीनां भयहेतुः ।
१।४।२५।’ इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी । अहश्यः प्रच्छन्नो भूत्वा । ‘ऋदुपधाच्चा-
कृपिचृतेः । ३।१।१०।’ इति क्यपू ॥ ७० ॥

तां परमजयमानां स प्रीते रक्ष्यां दशाऽननात् ।

अन्तर्दधानां रक्षोभ्यो मलिनां म्लानमूर्धजाम् ॥ ७१ ॥

तामित्यादि—प्रीतेः रावणसंबन्धिन्याः पराजयमानां विमुखीभवन्तीम् ।
‘पराजेरसोढः ॥१।४।२६।’ इत्यपादानत्वम् । असोढोऽर्थः प्रीतिः । रक्ष्यां
दशाननात् रावणविषये स्वयं निवार्यप्रसराम् । ‘वारणार्थीनामीप्सितः ॥१।४।
३७।’ इत्यपादानत्वम् । प्रवृत्तिविधातलक्षणया रक्षणक्रियया आत्मसंबन्धिन्या
दशाननस्य व्याप्तुमभिप्रतेत्वात्, अन्तर्दधानां रक्षोभ्यः मा मां रक्षांसि द्राक्षु-
रिति । ततश्च ‘अन्तर्धीं येनादर्शनमिच्छति ॥१।४।२८।’ इत्यपादानसंज्ञा ।
अन्वर्धनमित्तं हि रक्षेभिरात्मनो दर्शनस्यानीप्सितत्वात् । मलिनां शरीरेण
म्लानमूर्धजां मलिनकेशां बद्धवेणीत्वात् ॥ ७१ ॥

रामादधीतसंदेशो वायोर्जातश्च्युतस्मिताम् ।

प्रभवन्तीमिवादित्यादपश्यत्कपिकुञ्जरः ॥ ७२ ॥

रामादित्यादि—सत्कृत्य अधीतसंदेशो गृहीतसंदेशः कपिकुञ्जरः । ‘आख्या-
क्षोपयोगे ॥१।४।२९।’ इत्यपादानसंज्ञा । रामस्याख्यातृत्वात् । सावधानतया
संदेशप्रहणात् नियमपूर्वकविद्यावत् संदेशप्रहणम् । वायोर्जात इति ‘जनिकर्तुः
श्रृङ्खतिः ॥१।४।३०।’ इत्यपादानसंज्ञा । जन्यर्थस्य जन्मनः कर्त्ता हनुमान् तस्य
वायुः प्रकृतिः कारणम् । च्युतस्मितां शोकाकान्तत्वात् । प्रभवन्तीमिवादि-
त्यात् । ‘भुवः प्रभवः ॥१।४।३१।’ इत्यनेन भवत्यर्थस्य सीतायाः कर्तुभूतायाः
प्रथमत उपलभ्यमानत्वात् । अतः प्रभव आदित्यः तस्यास्तेजस्वित्वात् ॥ ७२॥

रोचमानः कुदृष्टिभ्यो रक्षोभ्यः प्रत्तवाच्चित्रयम् ।

स्त्राघमानः परम्पर्यस्तत्राऽग्राक्षसाऽधिपः ॥ ७३ ॥

रोचमान इत्यादि—तत्र तस्यामशोकवनिकायां राक्षसाधिपो रावणः आगात् आगतवान् । रोचमानः कुदृष्टिभ्यः त्वक्त्रैयीर्थमत्वात् । ये कुदृष्टयः कुवृद्धयः तान् स्वविषये स्पृहावतः कारयन्त्रित्यर्थः । ‘रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥१४॥३३॥’ इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । रुचेरभिलाषस्य तत्रावस्थानात् । कुदृष्टयः प्रीयमाणः । रक्षोभ्यः श्रियं विभूतिं प्रत्तवान् । ‘कर्मणा यमभित्रैति स सम्प्रदानम् ॥१५॥३४॥’ इति सम्प्रदानम् । ददातिक्रिया राक्षसानामभिप्रीयमाणत्वात् । श्लावमानः परखीभ्यः युष्मद्विषयेऽस्माकं श्लावेति परकलत्राणि ज्ञापयितुमेष्यन् । ‘श्लाघबुद्धस्थाशपां ज्ञीप्यमानः ॥१६॥३४॥’ इति सम्प्रदानत्वम् । श्लाघयां बहुमानेन ज्ञापयितुमिष्यमाणत्वात्तासाम् ॥७३॥

अशास निहृवानोऽसौ सीतायै स्मरमोहितः ।

धारयन्निव चैतस्यै वसूनि प्रत्यपद्यत ॥ ७४ ॥

अशसेत्यादि—सीतायै निहृवानः क्रौर्यादिकं न भेदस्तीति सीतां ज्ञापयितुमेष्यन्तर्यर्थः । तस्यै सीतायै अशपत् । शपथं सीतां ज्ञापयितुमेष्यदित्यर्थः । किमित्येवमाह । स्मरमोहितः । अत्र शपथापहुतिक्रिया सीतामांज्ञापयितुमिष्यमाणत्वात् पूर्ववत् सम्प्रदानसंज्ञा । किं चास्यै सीतायै स्वामिनीभूतामै वसूनि द्रव्याणि प्रत्यपद्यत अङ्गीकृतवान् । धारयन्निव गृहीतवित्त इव । अत्र ‘धारेहत्तमर्णः ॥१४॥३५॥’ इति सीतायाः कदाचिदुत्तमर्णया तुर्यत्वात् ॥७४॥

तस्यै स्पृहयमाणोऽसौ बहु प्रियमभाषत ।

सानुनीतिश्च सीतायै नाऽकुद्धयनाप्यसूयत ॥ ७५ ॥

तस्यायित्यादि—असौ राक्षसाधिपः स्पृहयमाणः सीतामाप्नुमिच्छन् बहुप्रियमभाषत वक्ष्यमाणम् । ‘स्पृहेरोप्सितः ॥१॥४॥३६॥’ इति स्पृहयते स्वार्थिकण्यन्तस्य प्रयोगे सीताया इप्यमानत्वात् । सानुनीतिश्च सानुनयः सीतायै नाकुद्धयत् तां प्रति कोपं न कृतवान् । नाप्यसूयत दोषाविष्करणलक्षणामसूयां न कृतवान् । कुदृष्टिसूयत्योदैवादिकगोरुदात्तेन डितोर्लिङ्गं प्रयोगे ‘कुदृष्टिसूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥१॥४॥३७॥’ इति सम्प्रदानम् ॥७५॥

संकुद्धयसि मृषा किं त्वं दिव्यकुं मां मृगेक्षणे !

ईक्षितव्यं परखीभ्यः स्वधर्मो रक्षसामयम् ॥ ७६ ॥

१ व्रयीति—पदमूर्यजुः सामाख्यवेदव्रयपरम् । तथा च वैदिकमार्गतो विमुखत्वादित्यर्थः ।

संकुध्यसीत्यादि—किं त्वं शुभाशुभे दिव्यक्षु द्रष्टुमिच्छुं मां हे मृगेक्षणे ! संकुध्यसि । ‘कुध दुहोरपसृष्टयोः कर्म । १।४।३८।’ इति कर्मसंज्ञा । कुधेरपसर्गेण युक्तत्वात् । कुतस्ते परिज्ञानं यत्परब्रीषु शुभाशुभं निरूपयसि अन्यत्र दुष्टाशयस्वात् । अथ कथं मृषा संकुध्यामीति चेदाह—इक्षितव्यं परब्रीभ्यः का शुभा न शुभेति यदीक्षितव्यमीक्षणीयं तद्यथं स्वधर्मो रक्षसाम् । ‘राधीक्षयोर्यस्य विप्रब्रह्मः । १। ४। ३९।’ इति सम्प्रदानसंज्ञा । यतः स्त्रीविषये विविभस्य प्रभस्य क्रियमाणत्वात् ॥ ७६ ॥

शृणवद्वयः प्रतिशृणवन्ति मध्यमा भीरु नोत्तमाः ।

गृणद्वोऽनुगृणन्त्यन्येऽकृतार्था नैव मद्विधाः ॥ ७७ ॥

शृणवद्वय इत्यादि---अनेनात्मनः प्रभावं दर्शयति । शृणवद्वयः प्रार्थयमानेभ्यः स्वामिनिदं क्रियतामिति मध्यमाः प्रभवः प्रतिशृणवन्ति ओमित्युपगच्छन्ति । हे भीरु ! नोत्तमा माहशाः । ते हि स्वातन्त्र्यात्स्वयमेव हितं प्रतिपद्यन्त इति भावः । ‘प्रत्याङ्गभ्यां श्रुवः पूर्वम्य कर्त्ता । १।४।४०।’ इति सम्प्रदानसंज्ञा । पूर्वस्याः प्रार्थनक्रियायाः प्रार्थयितुः कर्तृत्वात् । अन्ये प्रभवोऽकृतार्थाः अलब्धलाभाः गृणद्वयः अनुग्राहस्य शृत्यस्य कस्यचिन्न स्तुतिं कुर्वद्वयो मन्त्रिभ्यः अनुगृणन्ति तान् प्रोत्साहयन्ति । अनुगृणीत अनुगृणीतेति ममानुगतो भवतीति नैव मद्विधा अनुगृणन्ति कृतार्थत्वात् । ‘गृ शब्दे’ इत्यस्य प्रयोगे ‘अनुप्रतिगृणश्च । १।४।४१।’ इति सम्प्रदानसंज्ञा । गृणातेः स्तुतिक्रियापेक्षया कर्तृत्वात् ॥ ७७॥

इच्छ स्नेहेन दीव्यन्ती विषयान्मुवेश्वरम् ।

संभोगाय परिक्रीतः कर्तास्मि तव नाऽप्रियम् ॥ ७८ ॥

इच्छेत्यादि—ईदृशं पूजितं भुवनेश्वरं त्रिलोकविजयिनमिच्छु अङ्गकुरु । आत्मानमुद्दिश्य स्नेहेन प्रेम्या । ‘साधकतमं करणम् । १।४।४२।’ इति करण-संज्ञा । दीव्यन्ती क्रीडन्ती विषयान् शब्दादिभिरत्यर्थः । ‘दिवः कर्म च । १।४।४३।’ इति करणसंज्ञापवादात् कर्मसंज्ञा । संभोगाव परिक्रीतः त्वद्विषयमधोन परिक्रीत इत्यर्थः । ‘परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् । १।४।४४।’ इति सम्प्रदानत्वम् । तव नाश्रियं कर्तास्मि न करिष्यामि ॥ ७८ ॥

आस्त्व साकं मया सौधे माऽधिष्ठा निर्जनं वनम् ।

माऽधिवात्सीभुवं शश्यामधिशेष्व स्मरोत्सुका ॥ ७९ ॥

१ हे वामलोचने इत्यर्थः । ‘भीह्वराते त्रिलिङ्गः स्याद्वरयोषिति योषिति ।’ एव मेदिकी ।

आस्वेत्यादि—मया साकं सार्वं सौवे ध्वलगृहे आस्व तिष्ठ । आसे—
लोटि रूपम् । ‘आधारोऽधिकरणम् ।१।४।४५।’ इत्यधिकरणसंज्ञायां सप्तमी ।
माऽधिष्ठा निर्जनं वनम् । ‘अधिशीङ्गस्थासां कर्म ।१।४।४६।’ इत्यधिकरणे
कर्मसंज्ञा । लुडि रूपम् । माऽधिवासीः भुवे भूमौ मा शशिष्ठाः । माडि लुडि
रूपम् । ‘उपान्वध्याङ्गवसः ।१।४।४८।’ इति अधिकरणे कर्मसंज्ञा । किंतु
शशिष्ठामधिशेष्व । शीढो लोटि रूपम् । ‘अधिशीङ्गस्थासां कर्म ।१।४।४६।’ इति
कर्मसंज्ञा । स्मरोत्सुका कामार्थिनी ॥ ७९ ॥

अभिन्यविक्षथास्त्वं मे यथैवाऽव्याहता मनः ।

तवाऽप्यध्यावसन्तं मां मा रौत्सीहृदयं तथा ॥ ८० ॥

अभीत्यादि—यथैव त्वमव्याहता अनिवारिता सती मे मम मनः अभि-
न्यविक्षथाः अभिनिविष्टासि । लुडि रूपम् । ‘नेर्विशः ।१।३।१७।’ इति तड् ।
‘अभिनिविशश्च । १।४।४७।’ इत्यधिकरणे मनसः कर्मसंज्ञा । तथा
त्वमपि त्वद्धृदयमध्यावसन्तं मां मा रौत्सीः मा निवारय । रुधेलुडि रूपम् ।
‘उपान्वध्याङ्गवसः । १।४।४८।’ इति हृदयस्य कर्मसंज्ञा ॥ ८० ॥

माऽवर्मस्था नमस्यन्तमकार्यज्ञे जगत्पतिम् ।

संदृष्टे मयि काकुत्स्थमधन्यं कामयेत का ॥ ८१ ॥

मेत्यादि—हे अकार्यज्ञे ! अविशेषज्ञे ! मां जगत्पतिं नमस्यन्तं माऽवर्मस्थाः ।
लुडि रूपम् । ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।१।४।४९।’ इति कर्मसंज्ञा । अवमानक्रियया
कर्तुसंबन्धिन्या जगत्पतेराप्तुमिष्टवात् । संदृष्टे मयि काकुत्स्थमधन्यं मन्दभाग्यं
का कामयेत का इच्छेत् । नैवेत्यर्थः । ‘तथायुक्तं चानीप्सितम् ।१।४।५०।’ इति
कर्मसंज्ञा । येनैव प्रकारेण कर्तुरीप्सिततमं क्रियया युक्तं तेनैवेप्सिताद्यन्यस्य
रामस्य प्रयुज्यमानत्वात् ॥ ८१ ॥

यः पयो दोरिधि पाषाणं स रामाङ्गुतिमाप्नुयात् ।

रावणं गमय प्रीतिं बोधयन्तं हिताऽहितम् ॥ ८२ ॥

य इत्यादि—यथा पाषाणात् पयो न संभवति तथा रामादपि विभूतिं-
रिति नैराश्यं दर्शयति । पयसः पूर्वेणैव कर्मसंज्ञा । पाषाणस्य ‘अकथितं च ।
१।४।५१।’ इत्यनेन कर्मसंज्ञा । रावणं गमय प्रीतिं भवत्या सह प्रीतिं गच्छन्तं
गमय प्रीतिम् । स्वयमेव हिताऽहितं भवतीं बुध्यमानां बोधयन्तम् । ‘गतिबुद्धिप्रत्यव-

^१ विभूतिरैश्वर्यम्, ‘विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्’ इत्यमरः ।

सानार्थशब्दकमर्मिकमर्मकाणामणिकर्ता स औ । १।४।५।२।' इति कर्मसंज्ञा ।
गतिबुद्धयोरप्यन्तावस्थायां तयोः कर्तृत्वात् ॥ ८२ ॥

प्रीतोऽहं भोजयिष्यामि भवतीं भुवनत्रयम् ।

किं विलापयसेऽत्यर्थं पाश्चें शायय रावणम् ॥ ८३ ॥

प्रीत इत्यादि—अहं प्रीतः सन् भुवनत्रयं तत्समुत्थं, भोज्यं भोकुं योग्यं
भवतीं भोजयिष्यामि । प्रत्यवसानार्थत्वात्कर्मसंज्ञा । प्रत्यवसानमध्यवहारः ।
अकर्त्रभिप्राये ‘णिचश्च । १ । ३ । ७४।’ इत्यात्मनेपदं न भवति । विलपन्तं
विविधं भाषमाणं किं विलापयसेऽत्यर्थं नाहं त्वामिच्छामीति ब्रुवाणा । अत्र
शब्दकर्मकत्वात् कर्मसंज्ञा । कर्त्रभिप्राये णिचश्चेत्यात्मनेपदम् । तस्मादिदं प्रार्थये
पाश्चें रावणं शायय । अत्राकर्मकत्वात्कर्मसंज्ञा ॥ ८३ ॥

आज्ञां कारय रक्षोभिर्मा प्रियाण्युपहारय ।

कः शक्रेण कृतं नेच्छेदधिमूर्धानिमञ्जलिम् ॥ ८४ ॥

इति कारकाधिकारः ।

आज्ञामित्यादि—रक्षांसि त्वदाज्ञां कुर्वन्त्येव । कारय प्रियाणि च तत्सम्ब-
न्धीनि मामुपहरन्तमुपहारय उत्पादय । ‘हक्रोरन्यतरस्याम् । १ । ४ । ५३।’
इति कर्मसंज्ञा । शक्रेण कृतं विरचितं अञ्जलिमधिमूर्धानं अधिगतः प्राप्तो मूर्धा
येनेति । को नेच्छेत् ‘स्वतन्त्रः कर्त्ता । १ । ४ । ५४।’ इति कर्तृसंज्ञा । शक्रेण
प्रणतोऽहमित्यर्थः । प्रयोज्यकर्ता नोदाहृतोऽप्यन्तावस्थायामुदाहृतत्वात् ॥ ८४ ॥

इति कारकाधिकारः ॥

इतः प्रसृति कर्मप्रवचनीयमधिकृत्याह—

व्रचनं रक्षसां पत्युरनु कुद्धा पतिप्रिया ।

पापानुवसितं सीता रावणं प्राब्रवीद्वचः ॥ ८५ ॥

वचनमित्यादि—रक्षसां पत्यू रावणस्य वचनमनु लक्ष्यीकृत्य ।
प्रनुर्लक्षणे । १ । ४ । ८४।’ इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीया । कुद्धा सती
तिता । पतिप्रिया पतिः प्रियो यस्या इति । रावणं प्राब्रवीद्वचो वक्ष्यमाणम् ।
पापानुवसितं पापेन संयुक्तम् । ‘चतीयार्थे । १ । ४ । ८५।’ इत्यनेन कर्मप्रवच-
नीयसंज्ञायां द्वितीया । पापमनुवसित इति । द्वितीयेति योगविभागात्समाप्तः ।
प्रसुपेति वा ॥ ८५ ॥

१ शक्रेपेन्द्रेष्टर्थः । जिष्णुलेखर्थमः शक्रः इत्यमरः । २ पतिरेव प्रियो यस्या
इति पतिप्रिया पतिवक्तुवर्थः ।

न भवाननु रामं चेदुप शूरेषु वा ततः ।

अपवाह्यच्छलाद्वीरौ किमर्थं मामिहाऽहरः ॥ ८६ ॥

नेत्यादि—यदि भवान्ननु रामम् रामान् हीन इत्यर्थः । ‘हीने । १ । ४।८६।’
इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । अनुशब्दश्च स्वहीनार्थद्योतकः । हीनश्चोत्कृष्टा-
पेक्षः । उपशूरेषु वा शूरेभ्यो वा यद्यधिको भवान् । ‘उपोऽधिके च । १ । ४ ।
८७ ।’ इति चकाराद्वीबे उपशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । ‘यस्माद्यधिकं
यत्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी । २ । ३ । ९ ।’ इत्यनेन सप्तमी । उपशब्दस्या-
धिकद्योतनात् । किमर्थं कनकमृगच्छलेन । वीरै रामलक्ष्मणौ अपवाह्य
अन्यतो नीत्वा । मामिहाऽहरः लङ्कामानीतवान् ॥ ८६ ॥

उप शूरं न ते वृत्तं कर्थं रात्रिंचराऽधम ।

यत्संप्रत्यप लोकेभ्यो लङ्कायां वसतिर्भयात् ॥ ८७ ॥

उपेत्यादि—हे रात्रिंचराऽधम ! कथं ते वृत्तं चरितं नोप शूरं शूरेभ्यो न
हीनम् । ‘उपोऽधिके च । १ । ४ । ८७ ।’ इति चकाराद्वीने उपशब्दस्य कर्म-
प्रवचनीयसंज्ञा । यद्यस्मात् संप्रत्यधुना भयालङ्कायां जलपर्वतदुर्गायां वस्तिः ।
वसेरतिः ‘वहिवस्यार्तभ्यदिचत्’ इत्यौणादिकः । अप लोकेभ्यो लोकान् वर्ज-
यित्वा । ‘अपपरी वर्जने । १ । ४ । ८८ ।’ इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायाम्,
पञ्चम्यपाङ्गपारीभिः । २ । ३ । १० ।’ इति पञ्चमी ॥ ८७ ॥

आ रामदर्शनात्पाप विद्योतस्व खियः प्रति ।

सदवृत्ताननु दुर्वृत्तः परस्त्रीं जातमन्मथः ॥ ८८ ॥

आ रामेत्यादि—हे पाप ! आ रामदर्शनात् रामदर्शनं यावत् । ‘आङ्
मर्यादावचने । १।४।८९।’ इति पूर्ववत्पञ्चमी । खियः प्रति योषितो लक्ष्यीकृत्य ।
विद्योतस्व स्थिरो भव । खिय इति । ‘वाऽमूर्शसोः । ६।४।८०।’ इति इयंड ।
‘लक्षणेत्यम्भूताख्यातभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः । १ । ४ । ९० ।’ इति कर्म-
प्रवचनीयत्वम् । सदवृत्ताननु दुर्वृत्तः सदाचारिणामुपरि दुर्वृत्त इत्यर्थः । इत्थंभू-
ताख्यानेऽनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । परस्त्रीं जातमन्मथः । अत्र वीप्सायां कर्म-
प्रवचनीयत्वम् ॥ ८८ ॥

अभिद्योतिष्ठते रामो भवन्तमचिरादिह ।

उद्दर्णिवाणः संग्रामे यो नारायणतः प्रति ॥ ८९ ॥

अभीत्यादि—भवन्तमभि भवन्तं लक्ष्यीकृत्य । ‘अभिरभागे । १।४।९१।’
इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । अचिरादिह लङ्कायां रामो योतिष्ठते असृष्टेजाः

भविष्यति । य उदूर्णवाणः संग्रामे नारायणतः प्रति तेन तु ल्यः । ‘प्रतिः प्रति-
निधिप्रतिदानयोः ।१ । ४ । ९२ ।’ इति प्रतिनिधौ कर्मप्रवचनीयत्वम् । ‘प्रति-
निधिप्रतिदाने च यस्मात् । २ । ३ । ११ ।’ इति पञ्चमी । प्रतियोगे पञ्च-
म्यास्त्सिः । मुख्यसद्वाशः प्रतिनिधिः ॥ ८९ ॥

कुतोऽधि यास्यसि कूर निहतस्तेन पञ्चिभिः ।

न सूक्तं भवताऽत्युग्रमतिरामं मदोद्धत ॥ ९० ॥

कुत इत्यादि—हे कूर ! तेन रामेण उद्गर्णवाणेन पञ्चिभिः शैरः निहतः सन्
कुतोऽधियास्यसि केन प्रकारेण निःसरिष्यसि । ‘अधिपरी अनर्थकौ । १ ।
४ । ९३ ।’ इति अधेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । धात्वर्थव्यतिरेकेणार्थस्यानभिधाना-
दनर्थकत्वम् । संज्ञा च गत्युपसर्गसंज्ञाबाधनार्था । तेन ‘तिङ्गि चोदात्-
वति । १।७।१’ इति निधाताभावो द्रष्टव्यः । पञ्चमी च ‘प्रश्नाल्या-
नयोः’ इत्युपसंख्यानाद्वत्ति । किमिति हनिष्यतीति चेत्—यतो भवता
न सूक्तं प्रशस्तमुक्तम् । ‘सुः पूजायाम् । १।४।४।’ इति कर्मप्रवचनीय-
त्वम् । ‘गतिरनन्तरः । ६।२।४।१’ इति स्वराभावः । अत्युग्रमतिराद्रम् ।
आतिरामं राममधिक्षिण्य । काकुतस्थमधन्यमिति । ‘अतिरतिक्रमणे च । १
४।५।’ इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । चकारात्पूजायां च तत्र चाप्युक्तमिति
प्रयोगः । हे मदोद्धत ! ॥ ९० ॥

परिशेषं न नामाऽपि स्थापयिष्यति ते विभुः ।

अपि स्थाणुं जयेद्रामो भवतो ग्रहणं कियत् ॥ ९१ ॥

परीत्यादि—रामो विभुः प्रभुः ते परिशेषं नामापि संज्ञामपि न
स्थापयिष्यति, किमु देहम् । ‘अपि: पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगहासमुच्च-
येषु । १।४।७।६.’ इति पदार्थं कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पदस्य देहस्याप्रयुज्य-
मानसार्थं अपिशब्दो वर्तते । अपि स्थाणुं जयेद्रामो यमागाध्याधिपत्यं
प्राप्तवानसि तमपि स्थाणुं महादेवं जेतुं संभाव्यते भवतो ग्रहणं कियत् ।
यस्त्वेवं न भवति । अत्र संभावनायां कर्मप्रवचनीयत्वम् । संभावने लिङ् ।
उपसर्गबाधनत्वात्संज्ञायाः ‘उपसर्गात्सुनोति—। १।३।६।५ ।’ इत्यादिना षत्वं न
भवति ॥ ९१ ॥

अपि स्तुह्यपि सेधाऽस्मांस्तथ्यमुक्तं नराऽशन ।

अपि सिञ्चेः कृशानौ त्वं दर्पे मर्यपि योऽभिकः ॥ ९२ ॥

१ ‘पञ्चिणौ शरपक्षिणौ ।’ इत्यमरः ।

अपीत्यादि—हे नराशन ! मया तथ्यमुक्तं यज्ञामापि न स्थापयिष्यतीति । अस्मानपि स्तुहि साधूकमिति प्रशंस । ‘सेहांपिच्च । ३।४।८७।’ इति अपिति डित्वाद्गुणभावः । अपि सधं निगृहाण यथेच्छं तथा क्रियताम् । मया तु सत्यमेवोक्तमिति भावः । अत्रान्ववसर्गे कामचारानुज्ञाने कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । किंच कृशानावग्नौ दर्पम् अपि सिञ्चेः क्षरेस्त्वम् । अत्र गर्हायां लिङ्गं रूपम् । योऽयं मध्यपि मद्विषयेऽपि अभिकः कामयिता । ‘अनुकाभिकाभीकः कमिता ५।२।७४।’ इति निपातितः । उपसर्गसंज्ञावाधनार्थत्वात् स्तौतिसेधिसिचां षत्वं न भवति ॥ ९२ ॥

आधिरामे पराक्रान्तमधिकर्ता स ते क्षयम् ।

इत्युक्त्वा मैथिली तूष्णीमासांचक्रे दशाऽननम् ॥ ९३ ॥

अधीत्यादि—पराक्रान्तस्य शौर्यस्य राम ईशितेत्यस्मिन्नर्थे अधिरामे पराक्रान्तम् । ‘नभुंसके भावे कः । ३।३।११४।’ इति कः । ‘अधिरीश्वरे १।४।९७।’ इति ख्यामिभावसंबन्धे अधेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । ‘यस्माद्विकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी । २।३।९।’ इति सप्तमी । यश्वैवं स रामले क्षयमधिकर्ता करिष्यति । अत्र कर्मण्येव द्वितीया । न तु ‘कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८।’ इत्यनेन । ‘विभाषा कृत्वा । १।४।१२।’ इति या संज्ञा तस्या गत्युपर्सांसंज्ञावाधनार्थत्वात् । संज्ञापक्षे ‘तिङ्गि चोदान्तवति । ८।१।७।१।’ इति निधाताभावो द्रष्टव्यं इति । एवमुक्त्वा दशाननं मैथिली तूष्णीमासांचक्रे तूष्णीं स्थितवती । ‘आस उपवेशने’ लिद् ॥ ९३ ॥

इति कर्मप्रवचनीयाधिकारः ।

इतः प्रभृति ‘अनभिहिते’ इत्याधिकृत्य विभक्तिविधानमाह—

ततः खड्गं समुद्यम्य रावणः क्रूरविग्रहः ।

वैदेहीमन्तरा कुद्धः क्षणमूचे विनिश्चसन् ॥ ९४ ॥

तत इत्यादि—ततः सीतावचनादुत्तरकालं रावणः खड्गं समुद्यम्य उत्क्षिप्य । कर्मणि द्वितीया । क्रूरविग्रहः दुष्प्रोद्यत्वात् । वैदेहीमन्तरा कुद्धः वैदेहा वधे कुपितः । ‘अन्तराऽन्तरेण युक्ते । २।३।४।’ इति षष्ठ्यप्रवादाद्वितीया । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रवानमाचष्टे, आधेयश्चात्र वधः ।

१ भयद्वाराकार इत्यर्थः । क्रूरो भयावहो विग्रहः शरीरं स्वरूपमिति यावद्, यस्य सः । ‘शरीरं वर्ज्म विग्रहः’ इत्यमरः ।

क्षणमूर्चे उक्तवान् । उक्तक्रियया क्षणस्य कालस्य साकल्येन संबन्धात्
‘कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३ । ५ ।’ इति द्वितीया । विनिश्च-
सन् क्रोधात् ॥ १४ ॥

चिरेणाऽनुगुणं प्रोक्ता प्रतिपत्तिपराङ्गमुखी ।

न मासे प्रतिपत्तासे मां चेन्मर्तासि मैथिलि ॥ १५ ॥

चिरेणेत्यादि—हे मैथिलि ! चिरेणापि कालेनानुगुणमनुकूलं मया
प्रोक्तापि सती प्रतिपत्तिपराङ्गमुखी । उक्तस्यार्थस्यानुष्ठानं प्रतिपत्तिः तस्यां
पराङ्गमुखी । इदानीं यदि त्वं मासे त्रिंशद्विसलक्षणे मां न प्रतिपत्तासे
नाङ्गीकरिष्यसि तदा मर्तासि मरिष्यसि । उभयमपि लुटि रूपम् ।
तत्र चिरेण प्रोक्ता इति । ‘अपवर्गं तृतीया । २ । ३ । ६ ।’ विवक्षितार्थप्रका-
शनं फलं तस्य प्राप्तौ तत्क्रियापरिसमाप्तिरपवर्गं इति । मां मासे न प्रति-
पत्तास । इति ‘सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये । २ । ३ । ७ ।’ इति सप्तमी । कर्मकर्त्रोः
कारकयोर्मध्यत्वात् मासस्य ॥ १५ ॥

प्रायुङ्ग राक्षसीर्भीमा भन्दिराय प्रतिब्रजन् ।

भयानि दत्त सीतायै सर्वा यूर्यं कृते मम ॥ १६ ॥

प्रायुङ्गेत्यादि—रावणो राक्षसीर्भीमा भयानकाः प्रायुङ्गक समादिष्टवान् ।
लङ्घि रूपम् । मन्दिराय प्रतिब्रजन् गृहाय प्रतिब्रजन् । ‘गत्यर्थकर्मणि
द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि । २ । ३ । १२ ।’ इति तु चतुर्थी । कर्म-
प्रवचनीयादेसूत्रचतुष्येनोदाहृतं कर्मप्रवचनीयाधिकार एव दीर्शितत्वात् ।
किंमादिशदित्याह—सर्वा यूर्यं सीतायै भयानि दत्त । लोटि रूपम् ।
‘चतुर्थी संप्रदाने । २ । ३ । १३ ।’ इति चतुर्थी । संपूज्याद्यत्र प्रकर्षेण दीयत
इति संप्रदानम् । मम कृते मदनुग्रहनिमित्तम् ॥ १६ ॥

गते तस्मिन्समाजगमुर्भयाय प्रति मैथिलीम् ।

राक्षस्यो रावणश्चित्वै कूरं चोचुरलं मुँहुः ॥ १७ ॥

गत इत्यादि—तस्मिन् रावणे गते सति राक्षस्यः समाजगमुः सम्मू-
यागताः । ‘समो गम्युच्छित्याम् । १ । ३ । २९ ।’ इत्यात्मनेपदं न भवति, आङ्ग
व्यवहितत्वात् । मैथिलीं प्रति लङ्घयीकृत्य भयाय सीतायै भयं दातुम् ।
‘क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । २ । ३ । १४ ।’ इति चतुर्थी । ददातेः
क्रियार्थोपपदस्य स्थानिनः प्रयुज्यमानस्य भयं कर्म । क्रिया चात्र समा-
गमः । तत्रोपपदं क्रियार्थस्मिति कूरं भयानकम् । मुँहुः प्रतिक्षणम् अस्तु पर्याप्तमूच्चुः

उक्तवत्यः । रावणप्रीत्यै रावणस्यैवं प्रीतिः स्यादिति । ‘तुमर्थाच्च भाव-
वचनात् । २।३।१५’ इति चतुर्थी । क्रियायां क्रियार्थायाभिति तुमुना
समानार्थत्वात् । ‘भाववचनाश्च । ४।३।११’ इत्यनेन विहितस्य किनः क्रियार्थम् ।
उपपदं क्रूराभिधानम् ॥ ९७ ॥

रावणाय नमस्कुर्याः स्यात्सीते स्वस्ति ते ध्रुवम् ।

अन्यथा प्रातराशाय कुर्याम त्वामलं वयम् ॥ ९८ ॥

रावणायेत्यादि—हे सीते ! रावणौय नमस्कुर्या रावणं नमस्कुरु । एवं च
सति तुम्यं स्वत्ति कल्याणं ध्रुवं स्यात् । युप्मच्छब्दस्य चतुर्थेकवचनान्तस्य ते
अद्वेशः । ‘नमस्कृत्वा’ इति पाठान्तरम् । तत्र नमस्कृत्वा स्थितायै तुम्यमित्यव्या-
हृत्य योज्यम् । अन्यथा ह्यसमानकर्तृत्वात् कृत्वा प्रत्ययो न घटते । ‘नमस्कृत्य’
इति पाठान्तरम् । साक्षात्प्रश्नातिषु नमःशब्दस्य विकल्पेन गतिसंज्ञा । गत्यभावपक्षे
नित्यं गतिसमासाभावे ल्यबादेशः । ‘नमस्पुरसोर्गत्योः । ८ । ३ । ४०’ इति
विसर्जनीयस्य सकारादेशश्च न संभवतीति । अन्यथेति यदि न नमस्कुर्याः तदा
अलं प्रातराशाय प्रातर्भेजनाय त्वां कुर्याम वयमित्यूचुः । ‘नित्यं छित्तः
. ३।४।१९।’ इति सलोपः । रावणायेत्यादिषु ‘नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्-
योगाच्च । २।३।१६।’ इति चतुर्थी ॥ ९८ ॥

तृणाय मत्वा ताः सर्वा वदन्तीस्त्रिजटावदत् ।

आत्मानं हत दुर्वृत्ताः स्वमांसैः कुरुताशनम् ॥ ९९ ॥

तृणायेत्यादि—अथानन्तरं राक्षसीर्वदन्तीः त्रिजटा रावणस्वसा अवदत्
उक्तवती । तृणाय मत्वा तृणमिव संगणत्य । ‘मन्यकर्मण्यनादरे विभाषा-
प्राणिषु । २।३।१७।’ इति चतुर्थी । तत्र ‘कुस्तिस्तमहणं कर्वन्यम्’ इत्युक्तम् ।
इह मा भूत् तृणं मत्वेति । किमवदत् आत्मानं हत मारयत । दुर्वृत्ताः दुरा-
च्चाराः । स्वमांसैः कुरुताशनभिति करणे तृतीया ॥ ९९ ॥

१ अत्र ‘उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी ।’ इति कर्मणि द्वितीयैव
यद्यपि प्राप्ता, तथाऽपि तस्यापवादभूतेन ‘क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थिरनितः ॥
२ । ३ । १४’ इति शास्त्रेण चतुर्थेव । तथा च ‘नृसिंहाय नमस्कृत्य’ इत्यादिवद् ।
‘रावणाय’ हृत्यत्रापि रावणं प्रसादायेत्युमिलर्थविवक्षया तुमर्था चतुर्थी । न तु यथा
याव्याप्ता ‘नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ॥ २ । ३ । १६’ इति शास्त्रेण
चतुर्थीमभिप्रयतोक्ता चतुर्थीति बोध्यम् । २ एतदिमन् पक्षे ‘नमः’ इति पृथक्,
‘कृत्वा’ इति च पृथक् पदम् । ३ ‘नमस्कृत्य’ इति पाठान्तरेऽपि तुमर्थैव चतुर्थी ।

किमर्थमेवमाहेत्याह—

अद्य सीता मया दृष्टा सूर्यं चन्द्रमसा सह ।

स्वप्ने स्पृशन्ती मध्येन तनुः इयामा सुलोचना ॥ १०० ॥

अद्येत्यादि—स्वप्ने मया अद्य सीता दृष्टा । कर्तरि तृतीया । सूर्यं स्पृशन्ती चन्द्रमसा सह । सहयोगे ‘सहयुक्तेऽप्रधाने२।३।१५’ इति तृतीया । सूर्याचन्द्रमसाविति रामलङ्घणाविति भावः । मध्येन तनुः तन्वी । ‘इत्थंभूतलक्षणे२।३।१३।१’ इति तृतीया । ‘वोतः गुणवचनात्२।३।१४४’ इति डीबभावपक्षे रूपम् । इयामा वर्णेन । सुलोचना शोभननेत्रा ॥ १०० ॥

तास्तथा तर्जिताः सर्वा मुखैर्भीमा यथागतम् ।

ययुः सुषुप्तस्वस्तल्पं भीमैर्वचनकर्मभिः ॥ १०१ ॥

ता इत्यादि—ता राक्षस्यस्तथा त्रिजटया तर्जिता भर्त्सिताः । सुषुप्तस्वः इत्पुमिच्छुवस्तल्पं शयनीयं युर्गताः । यथागतं यतो यतस्तल्पादुत्थायागताः ‘यथाऽसादृश्ये । २। १। ७।’ इति वीप्सायामव्ययीभावः । मुखैर्भीमा रौद्राः मुखानां विकृतत्वात् । ‘येनाङ्गविकारः । २।३।२०।’ इति तृतीया । भीमैर्वचनकर्मभिः उपलक्षिताः । इत्थंभूते तृतीया ॥ १०१ ॥

गतासु तासु मैथिल्या संजानानोऽनिलात्मजः ।

आयातेन दशाऽस्यस्य संस्थितोऽन्तर्हितश्चिरम् ॥ १०२ ॥

गतास्त्रिवत्यादि—तासु राक्षसीषु गतासु । अनिलात्मजो हनूमान् ‘राम-संकथां प्रास्तावीत’ इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । मैथिल्यां संजानानः इयं सेत्यवगच्छन् । ‘संबोऽन्यतरस्यां कर्मणि२।३।२१।’ इति कर्मणि तृतीया । ‘संप्रतिभ्यामनाध्याने१।३।४६।’ इति तद् । दशास्यस्यायातेनागमनेन हेतुनां चिरमन्तर्हितो निर्लीनः स्थितः । ‘हेतौ२।३।२३।’ इति तृतीया ॥ १०२ ॥

ऋणाद्वद्ध इवोन्मुक्तो वियोगेन क्रतुद्विषः ।

हेतोर्बोधस्य मैथिल्याः प्रास्तावीद्रामसंकथाम् ॥ १०३ ॥

ऋणादित्यादि—ऋणाद्वेतोर्बद्धः इवोन्मुक्तो यथा स्थानान्तरं गतवान् । ‘अकर्तर्यैषे पञ्चमी२।३।२४।’ इति पञ्चमी । ऋणस्याकर्तृहेतुत्वात् । ऋणेन बान्धत इवेति नोक्तम् । अप्रयोजनकर्तृत्वादृणस्य । उन्मुक्तः क्रतुद्विषो रावणस्य वियोगेन विश्लेषण । ‘विभाषा गुणेऽखियाम् । २। ३। २५।’ इति पक्षे तृती-

१ ‘तस्यं ऋणाद्वद्दरेषु’ इत्यमरः । २ मिथिलेशननिदन्या सीतयेत्यर्थः ।

योदाहृता न पञ्चमी । वियोगस्य गुणपदार्थत्वात् । किमिति संकथां प्रास्ता-
वीदित्याह—हेतोबोधस्य मैथिल्याः । एष रामदूत इति मैथिल्या बोधो-
उवगमः स्यात् । ‘षष्ठी हेतुप्रयोगे ।२।३।२६।’ इति बोधशब्दस्य षष्ठी ।
प्रास्तावीदिति ‘स्तुसुधूचम्यः परस्मैपदेषु ।७।२।७।२।’ इतीदि । ‘नेटि ।७।२।१४।’
इति हलन्तलक्षणाया वृद्धे: प्रतिषेधोः नेगन्तलक्षणायाः ॥ १०३ ॥

तं द्व्याऽचिन्तयत्सीता हेतोः कस्यैव रावणः ।

अवरुद्ध तरोरारादैति वानरविग्रहः ॥ १०४ ॥

तमित्यादि—तं हनूमन्तं रामं सुवन्तं द्व्या सीता अचिन्तयत् । कस्य
हेतोः एष रावणो वानरविग्रहः सन् येति आयाति । आङ्गपूर्वस्येणो रूपम् ।
‘सर्वनामस्तृतीया च ।२।३।२७।’ इति षष्ठी । किंशब्दस्य सर्वनामत्वान् ।
आरात् अन्तिके । तरोरिति ‘अन्यारादितरतेदिक्शब्दाऽचूत्तरपदाजाहियुके ।
२।३।२९।’ इत्याराच्छब्दयोगे पञ्चमी । अवरुद्धावतीयेति । अवरोहणापे-
क्ष्या हापादाने पञ्चमी । अपेक्षाया यौगपद्याभावात् । ‘उपपदविभक्तेः
कारकविभक्तिर्बलीयसी’ इति आराद्योगे न वर्तते ॥ १०४ ॥

पूर्वस्मादन्यबद्धाति भावाद्वारथि स्तुवन् ।

ऋते क्रौर्यात्समायाद्वो मां विश्वासयितुं नु किम् ॥ १०५ ॥

पूर्वस्मादित्यादि—पूर्वस्माद्रावणादन्यबद्धाति ज्ञायते । अन्येन तुल्यं वर्तदे
इति कृत्वा अन्यशब्दयोगे पञ्चमी । यतो भावात् स्नेहादाशरथि स्तुवन् ।
किं नु क्रौर्याहते क्रौर्यं वर्जयित्वा । ऋतेशब्दयोगे पञ्चमी । मां विश्वासयितुं
संभावयितुं किमागत इत्यचिन्तयत् ॥ १०५ ॥

इतरो रावणादेष राघवाऽनुचरो यादि ।

सफलाने निमित्तानि प्राक्ष्यभातात्ततो मम ॥ १०६ ॥

इतर इत्यादि—यदि रावणादितरः प्रतियोगी राघवानुचरः राघवाद्यकाच्च ।
इतरयोगे पञ्चमी । ततो मम सफलानि स्वप्रलक्षणानि दर्शनादीनि निमि-
त्तानि । प्राक् प्रभातात् आदित्योदयात्पूर्वमिन् काले । अन्यस्य हि प्रभाता-
दुच्चरकाले सफलानि । अज्जूत्तरपदयोगे पञ्चमी ॥ १०६ ॥

उत्तराहि वसन् रामः समुद्राद्रक्षसां पुरम् ।

अवैलुवणतोयस्य स्थितां दक्षिणतः कथम् ॥ १०७ ॥

उत्तराहीत्यादि—रामदूतोऽयमिति न संभाव्यते । यतः समुद्रादुच्चरा या दिक् तस्यामुच्चराहि वसन् रामः । ‘आहि च दूरे । ५।३।३७।’ इत्यलुक्त्य उत्तराच्च । ५।३।३५।’ इत्याहि । तत्राहिप्रत्ययान्तेन उत्तराहिशब्देन योगे समुद्रादिति पञ्चमी । लवणतोयस्य लवणसमुद्रस्य दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिशि स्थितां रक्षसां पुरीं लङ्घां कथमवैतुं ज्ञातवान् । दक्षिणत इति ‘दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् । ५।३।३८।’ तदन्तेन योगे ‘षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । २।३।३०।’ इति षष्ठी ॥ १०७ ॥

दण्डकान्दिष्णेनाऽहं सरितोऽद्रीन्वनानि च ।

अतिक्रम्याऽम्बुधिं चैव पुंसामगममाहता ॥ १०८ ॥

दण्डकानित्यादि—दण्डकानामदूरे या दक्षिणा दिक् तस्यामिति । ‘एन-बन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः । ५।३।३५।’ इति सप्तम्यन्तादेनप् प्रत्ययः । तदन्तेन योगे ‘एनपा द्वितीया । २।३।३१।’ इति द्वितीया । दक्षिणेन दण्डकानां ‘दक्षिणस्यां दिशि । सरितोऽद्रीन् वनानि च अम्बुधिं चातिक्रम्य पुंसामगम-मगम्यम् । ‘प्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३।३।५।’ इत्यप् । अहमाहता आनीता । तत्कथमवैतित्यचिन्तयत् ॥ १०८ ॥

पृथग्भूमस्वत्स्वचण्डाद्वैतेयेन वा विना ।

गन्तुभुत्सहते नेह कश्चित्किमुत वानरः ॥ १०९ ॥

पृथगित्यादि—नभस्वतो वातात् चण्डात् पृथक् वायुं त्यक्त्वा । वैन-त्येयेन वा विना गरुडं वा वर्जयित्वा । ‘पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।३२।’ इति तृतीयापञ्चम्यौ । इह लङ्घायां कश्चित् गन्तुं नोत्सहिते किमुत वानरः ॥ १०९ ॥

इति चिन्तावर्तीं कृच्छ्रात्समासाद्य कपिद्विषः ।

मुक्तां स्तोकेन रक्षोभिः प्रोचेऽहं रामकिङ्करः ॥ ११० ॥

इतीत्यादि—एवमुक्तेन प्रकारेण चिन्तावर्तीं कपिद्विषो हनूमान् । कृच्छ्रात्समासाद्य कथमप्युपगम्य । अहं रामकिङ्करः रामप्रेषणकर इति प्रोचं । मुक्तां स्तोकेनाल्पेन रक्षोभिः कर्त्तुभिः । ‘करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्र-कतिपयस्यासत्त्ववचनस्य । २।३।३३।’ इति तृतीयापञ्चम्यौ । कृच्छ्रस्तोकयोर-सत्त्ववचनयोः करणत्वात् ॥ ११० ॥

१ अवोपसर्गपूर्वकस्येणो लहिं रूपम् ।

यदि त्वं रामकिङ्गरः कासाविलाह—

विप्रकृष्टं महेन्द्रस्य न दूरं विन्ध्यपर्वतात् ।

नाऽनभ्याशे समुद्रस्य तव माल्यवति प्रियः ॥ १११ ॥

विप्रेत्यादि—माल्यवति पर्वते तव प्रियो रामः महेन्द्रस्य पर्वतस्य विप्रकृष्टं दूरम् । विन्ध्यपर्वताच्च न दूरम् । ‘दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । २।३।३४।’ इति षष्ठीपञ्चम्यौ । महेन्द्रपर्वतविन्ध्ययोर्दूरविप्रकृष्टयोस्तु ‘कूरान्तिकार्थैभ्यो द्वितीया च । २।३।३५।’ इति द्वितीया । नानभ्याशे न दूरे समुद्रस्य । ‘दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । २।३।३४।’ इति षष्ठी । माल्यवति ‘सप्त-स्यधिकरणे च । २।३।३६।’ इति सप्तमी । चकारादूरान्तिकार्थैभ्यश्च । तेनान-भ्याश इति सप्तमी ॥ १११ ॥

असंप्राप्ते दशग्रीवे प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ।

तस्मिन्प्रतिगते द्रष्टुं त्वामुपाक्रम्यचेतितः ॥ ११२ ॥

असमित्यादि—दशग्रीवे दशवदने असंप्राप्ते अप्रविष्टे अहमचेतितः सन् इदं वनमशोकवनिकार्थं प्रविष्ट इति । तस्मिन् प्रतिगते त्वां द्रष्टुमुपाक्रम्यसि समुत्सहे स्म । ‘युस्य च भावेन भावलक्षणम् । २। ३।३७।’ इति सप्तमी । कपिः प्रवेशोपक्रमयोः रावणसंप्राप्तिप्रतिगमनक्रियाभ्यां लक्ष्यमाणत्वात् । उपक्र-सीति ‘उपपराभ्याम् । १।३।३९।’ इत्यनेन वृत्त्यादिषु सर्गं उत्साहे क्रमेस्तङ् । उत्तमपुरुषैकवचनम् । ‘सुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते । ७। २। ३६।’ इति । सिच इट् न भवति ॥ ११२ ॥

यद्यादावेव प्रविष्टोऽसि तर्हि किमिति स्वकर्म न दर्शितवानसीत्याह—

तस्मिन्वदति रुष्टोऽपि नाऽकार्षं देवि विक्रमम् ।

अविनाशाय कार्यस्य विचिन्वानः परापरम् ॥ ११३ ॥

तस्मिन्नित्यादि—हे देवि ! तस्मिन् वदति रुष्टोऽपि विक्रमं^१ नाकार्षं तं तथा वदन्वमनादृत्य विक्रमं नाकार्षमित्यर्थः । ‘षष्ठी चानादरे । २।३।३८।’ इति चकारात्सप्तमी । किमर्थम्—कार्यस्य संदेशकथादेवैविनाशाय विचिन्वानः परापरं पौर्वीपर्यं निरूपयन् । कर्त्रीभिप्राये तड् ॥ ११३ ॥

कर्थं वानरस्त्वं तस्य किङ्गर इत्याह—

वानरेषु कपिः स्वामी नरेष्वधिपतेः सखा ।

जातो रामस्य सुग्रीवस्ततो दूतोऽहमागतः ॥ ११४ ॥

वानरेवित्यादि— वानरेषु स्वामी यः कपिः सुग्रीवः स नरेष्वधिपतेः
रामस्य सखा जातः । ‘स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ।२।३।३९॥’
इति षष्ठीसप्तम्योर्विवाहानात् सप्तम्युदाहृता । ततोऽहं दूत आगतः ॥ ११४ ॥

आगत्य च लङ्घां प्रविश्य इहायात इत्याह—

अथ युगम् ।

ईश्वरस्य निशाटानां विलोक्य निखिलां पुरीम् ।

कुशलोऽन्वेषणस्याऽहमायुक्तो दूतकर्मणि ॥ ११५ ॥

ईश्वरस्येत्यादि— निशाटानां राक्षसानामीश्वरस्य दशाननत्य । अत्र षष्ठ्यु-
दाहृता । पुरीं निखिलां निशेषां विलोक्य किं तत्र वर्तते इति । प्राप्त इति
वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कुशलोऽन्वेषणस्याहं सीताया अन्वेषणस्य निपुणः ।
आयुक्तो दूतकर्मणि दूतक्रियायां व्यापृतः । ‘आंयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ।’ ॥
३।४०॥ इति षष्ठीसप्तम्यौ ॥ ११५ ॥

दर्शनीयतमाः पश्यन् स्त्रीषु दिव्यास्वपि स्त्रियः ।

प्राप्तो व्यालतमान्व्यस्यन् भुजङ्गेभ्योऽपि राक्षसान् ॥ ११६ ॥

दर्शनीयेत्यादि— तत्र हिंव्यास्वपि ऋषिं मध्ये दर्शनीयतमाः स्त्रियः पश्यन्
‘यत्क्ष्य निर्धारणम् ।२।३।४१॥’ इति सप्तमी । दर्शनीयतमत्वेन गुणेन पृथ-
करणात् । भुजङ्गेभ्योऽपि व्यालतमान् हिंसान् राक्षसान् व्यस्यन् अपक्षि-
यन् । ‘पञ्चमी विभक्ते ।२।३।४२॥’ इति पञ्चमी । भुजङ्गेभ्यो राक्षसानां विभा-
गात् । प्राप्तो देव्याः पादमूलमित्यर्थात् ॥ ११६ ॥

किमवस्थो राम इत्याह—

भवत्यामुत्सुको रामः प्रसितः संगमेन ते ।

मधासु कृतनिर्वापः पितृभ्यो मां व्यसर्जयत् ॥ ११७ ॥

भवत्यामित्यादि— भवत्यां त्वयि उत्सुकः उन्मनाः रामस्ते तव संगमेन
प्रसितः प्रसक्तः । ‘प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।२।३।४४॥’ इति चकारात्स-
प्तमी । मधांभिर्युक्तः कालः तत्समीपे चन्द्रमसो वर्तमानत्वात् । ‘नक्षत्रेण
युक्तः कालः ।४।२।३॥’ इत्यण् । तस्य ‘लुबिशेषे ।४।२।४॥’ इति लुप् ।
तस्मिन् काले पितृभ्यः कृतनिर्वापः दत्तदानः मां व्यसर्जयत् । ‘नक्षत्रे च
लुपि ।२।३।४५॥’ इति सप्तमी । तत्रापि ‘लुपि युक्तवद्वयकिवचने ।३।२।

१ दिविः भवा इति द्विव्यासतासु । २ अतिरिहिंसानिति वक्तव्यम् ।

५१' इति खोलिङ्गबहुवचने भवतः । व्यसर्जयदिति विपूर्वकात्सर्गबद्धा
‘प्रातिपदिकाद्वात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च’ इत्यनेन णिचि लङ्घि रूपम् ॥ ११७ ॥

संदेहनिवृत्यर्थं चाभिज्ञानं दर्शयन्नाह-

अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याऽङ्गुलीयकः ।

भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितः सादरं मम ॥ ११८ ॥

अयमित्यादि—काकुत्स्थस्यायमङ्गुलीयकोऽभिज्ञानमिति—
लिङ्गाधिक्ये प्रातिपदिकमात्रे प्रथमा । मैथिलीति संबोधनादिके ‘संबोधने च । २।
३।४७’ इति प्रथमा । सामन्त्रितं संबुद्धिरस्यात्रैव द्रष्टव्यम् । काकुत्स्थस्येति ‘षष्ठी
शेषे । २।३।५०’ इति षष्ठी । भवत्या अत्यर्थं स्मरता सादरमर्पितम् । ‘अधीर-
गर्थद्येशां कर्मणि । २। ३। ५२।’ इति स्मरणार्थे कर्मणः शेषत्वविवक्षयां
षष्ठी ॥ ११८ ॥

रामस्य दयमानोऽसावध्येति तव लक्ष्मणः ।

उपास्कृषातां राजेन्द्रावागमस्येह मा त्रसीः ॥ ११९ ॥

रामस्येत्यादि—असौ लक्ष्मणो रामस्य दयमानो रामं रक्षन् शुचं मा कार्षी-
रिति । दयते: कर्मणि षष्ठी । तवाध्येति त्वां स्मरति । ‘अधीरगर्थद्येशां कर्मणि—
२।३।५२’ इति षष्ठी । आश्वासनार्थमाह—मा त्रसीः उद्गरं मा कार्षीः । त्रसे-
रीदित्वान्निष्ठायामिद्वप्रतिषेधात् सिच इदृ भवति । यतो राजेन्द्रौ रामलक्ष्मणौ ।
इहागमस्यागमनस्य । भावे अप् । उपास्कृषातां प्रतियतं कृतवन्तौ । आगमनस्य
निश्चितत्वात् तस्यैव सुग्रीवसख्येन गुणाधानात्, तेन ‘कृबः प्रतियते । २।३।५३।’
इति कर्मणि षष्ठी । प्रतियते लुङ् तङ् सुदृ ॥ ११९ ॥

रावणस्येह रोक्ष्यन्ति कपयो भीमविक्रमाः ।

धृत्या नाथस्व वैदेहि मन्योरुज्जासयाऽत्मनः ॥ १२० ॥

रावणस्येत्यादि—इह लङ्घायां कपयो भीमविक्रमाः असद्वपराक्रमाः राव-
णस्य रोक्ष्यन्ति सरोगं रावणं करिष्यन्ति । भीमविक्रमा इति गुणप्रधानो निर्दें-
शः । ततश्च विक्रमे रुजः भावकर्तृकत्वात् रुजार्थानाम् ‘भाववचनानामञ्चरेः ।
२। ३। ५४।’ इति षष्ठी । अतो है वैदेहि ! धृत्या नाथस्व आशंसस्व धृतिं
लभस्वेत्यर्थः । ‘आशिषि नाथः । २।३।५५।’ इति कर्मणि षष्ठी । ‘आशिषि नाथ
इति वाच्यम्’ इति तङ् । मन्योरुज्जासयात्मनो मन्युं नाशय । ‘जसु ताडने’

चौरादिकस्य हिंसार्थत्वात्तेन 'जासिनिप्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम् । २ । ३ । ५६ ।' इति कर्मणि षष्ठी ॥ १२० ॥

राक्षसानां मायि गते रामः प्रणिहनिष्यति ।

प्राणानामपणिष्टायं रावणस्त्वामिहानयन् ॥ १२१ ॥

राक्षसानामित्यादि—मायि गते रामो राक्षसानां प्रणिहनिष्यति राक्षसान् मारयिष्यति । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । 'निप्रहण' इति संघाताविगृहीतविपर्यस्तप्रहणमित्युक्तम् । 'नेर्गदनदपतपदधुमास्यतिहनित्यातिवातिद्रातिप्सातिक्षयतिवहतिशास्यतिचिनोतिदेगिधषु च । ८ । ४ । १७ ।' इति णत्वम् । किंच प्राणानामपणिष्टायमिति अयं रावणस्त्वामिहानयन् प्राणानपणिष्ट विक्रीतवान् । 'व्यवहृपणोः समर्थयोः । २।३।५७।' इति षष्ठी । 'प्राणानामपणायिष्ट' इति पाठान्तरम् । तदयुक्तम्, सुत्यर्थस्य पणेस्तत्र प्रहणात् 'गुपूयूपविच्छिपणिपानेभ्य आयः । ३।१।२८।' इत्यायप्रत्ययो न भवति ॥ १२१ ॥

अदेवीद्वन्धुभोगानां प्रादेवीदात्मसम्पदम् ।

शतकृत्वस्तवैकस्थाः स्मरत्यहो रघूत्तमः ॥ १२२ ॥

अदेवीदित्यादि—न केवलं प्राणानपणिष्ट बन्धुभोगानामदेवीत् बन्धुभोगान् विक्रीतवान् । 'दिवस्तदर्थस्य । २।३।५८।' इति षष्ठी । दिवो व्यवहारार्थत्वात् । प्रादेवीदात्मसंपदं विक्रीतवान् । 'विभाषोपसर्गे । २।३।५९।' इति पक्षे द्वितीया । प्रशब्देन युक्तत्वात् । रामानुरागं पुनर्दर्शयन्नाह । शतकृत्व इति बहुत्वोपलक्षणार्थम् । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् । ५ । ४।१७।' तवैकस्या अहो रघूत्तमः स्मरति । 'अधीगर्थदयेतां कर्मणि । २।३।५८।' इति षष्ठी । अह इति एकस्मिन्नप्याहि । 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽअधिकरणे । २।३।६४।' इति षष्ठी ॥ १२२ ॥

एवं तामाश्वास्य संदेशं दापयितुमाह—

तवोपशायिका यावद्राक्षस्यश्चेतयन्ति न ।

प्रतिसंदिश्यतां तावद्भृतुः शार्ङ्गस्य मैथिलि ॥ १२३ ॥

तवेत्यादि—हे मैथिलि ! तवोपशायिका परिपाण्या शयनं यामी राक्षसीभिः सहेत्यर्थात् । 'पर्यायाहणोत्पन्निषु षुच् । ३।३।१।१।' इति षुच् । यावद्वा चेतयन्ति न प्रतिबृद्ध्यन्ते तावत् प्रतिसंदिश्यतां प्रतिसंदेशो दीयताम् । शार्ङ्गस्य भर्तुः शार्ङ्गधनुर्धरयतो रामस्य । तव शार्ङ्गस्येति यथाक्रमम् 'कर्तृकर्मणोः कृति । ३।३।६५।' इति षष्ठी ॥ १२३ ॥

पुरः प्रवेशमाश्रयं बुद्धा शाखामृगेण सा ।

चूडामणिमभिज्ञानं ददौ रामस्य संमतम् ॥ १२४ ॥

पुर इत्यादि—शाखामृगेण मर्कटेन पुरो लङ्घायाः दुष्प्रवेशायाः प्रवेशः तमाश्रयमहुतं बुद्धा सा सीता चूडामणिमभिज्ञानं ददौ । सर्वमुक्तमस्य संभाव्यत इति । ‘उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।३६।’ इति षष्ठी । प्रवेश इत्युभयप्राप्तौ कृति लङ्घा-हनूमतोः कर्मकर्तृत्वात् । रामस्य सम्मतं प्रियम् । ‘मतिबुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च ।३।२।१८।८।’ इति वर्तमाने निष्ठाः । ‘न लोकाव्ययनिष्ठा-खलर्थहनाम् ।२।३।६।९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधे प्राप्ते ‘कस्य च वर्तमाने । २।३।६।७।’ इति षष्ठी ॥ १२४ ॥

रामस्य शयितं भुक्तं जलिपतं हसितं स्थितम् ।

प्रक्रान्तं च मुहुः पृष्ठा हनूमन्तं व्यसर्जयत् ॥ १२५ ॥

रामस्येत्यादि—रामस्य अभिज्ञानं इत्वा शयितादिकं मुहुः पृष्ठा हनूमन्तं व्यसर्जयत् प्रेषितवती । तस्य शयितं शयनस्थानं किं भूमौ शेते अन्यत्रेति वा । भुक्तं भोजनस्थानं किं गृहेः मुङ्गे मुनिजनगृहे वेति । जलिपतं मन्त्रस्थानं किं रहसि मन्त्रयते प्रकाशे वेति । हसितं हस्तनस्थानं किं शृङ्गारवस्तुनि हसिति वीरवस्तुनि वेति । स्थितं निवासस्थानं किं गुहायां तिष्ठत्युत तरुतले वेति । प्रक्रान्तं प्रचङ्गकरणस्थानम् । ‘अनुनासिकस्य किङ्गलोः किङ्गति ।६।४।१५।’ इति दीर्घः । किम् अङ्गने क्रम्यते अन्यत्र वेति । एषां द्वौव्यगतिप्रत्यवसानार्थत्वात् ‘कोऽधिकरणे च द्वौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ।३।४।७।६।’ इति कः । तस्य प्रयोगे ‘आधिकरणवाच्चिनश्च ।२।३।६।८।’ इति षष्ठी ॥ १२५ ॥

असौ दधदभिज्ञानं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।

गामुकोऽप्यन्तिकं भर्तुर्मनसाऽचिन्तयत्क्षणम् ॥ १२६ ॥

असाचित्यादि—असौ हनूमान् दधत् धारयन्नभिज्ञानं चिह्नम् । ‘कर्तु-कर्मणोः कृति ।२।३।६।५।’ इति षष्ठीयां प्राप्तायाम् ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-हनाम् ।२।३।६।९।’ इति लप्रयोगे प्रतिषेधः । ल इति शानजादयो गृहीताः । दारुणमशोकवनिकामङ्गादिकं कर्म चिकीर्षुः कर्तुभिन्नः । उकारप्रश्लेषात् षष्ठीयाः प्रतिषेधः । भर्तुः स्वामिनः अन्तिकं समीपं गामुकोऽपि गमनशीलोऽपि । उकप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । मनसा क्षणमचिन्तयत् चिन्तितवान् वक्ष्यमाणं कर्म ॥ १२६ ॥

कृत्वा कर्म यथाऽऽदिष्टं पूर्वकार्याऽविरोधियः ।

करोत्यभ्यधिकं कृत्यं तमाहुर्द्रूतमुक्तमम् ॥ १२७ ॥

कृत्वेत्यादि—यो दूतो यथादिष्टं कर्म कार्यं कृत्वा । अत्र कृत्वेत्यव्ययप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । तत उत्तरकालं पूर्वकर्माविरोधि पूर्वकृतस्य कार्यस्य यद्विरोधि तदभ्यधिकं करोति तमुत्तमं दूतमाहुर्विदुन्नीतिविद् इति शेषः । मया च यथादिष्टं सीतान्वेषणं कृतमिति भावः ॥ १२७ ॥

तदेव च दर्शयन्नाह—

वैदेहीं दृश्वान्कर्म कृत्वाऽन्यैरपि दुष्करम् ।

यज्ञो यास्याम्युपादाता वार्तामाख्यायकः प्रभोः ॥ १२८ ॥

वैदेहीमित्यादि—अहमय तावद्वैदेहीं दृष्टवान् । निष्ठाप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । अन्यदपि कार्यमतिदुष्करं कृत्वा । खलुप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । ततो यश उपादाता । आत्मसात्कर्ता । इदमतिदुष्करं तेन कृतमिति । तृत्रन्तस्य प्रयोगेऽपि तत्प्रतिषेधः । वार्तामाख्यायकः प्रभोर्वार्तामाख्यातास्मीति भविष्यद्विकारात् ‘तुमुण्णुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् । ३ । ३ । १० ।’ इति पृष्ठुलू । ‘अकेनोर्भीविष्यदाधमर्थयोः ॥ १३७०।’ इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ १२८ ॥

राक्षसेन्द्रस्य संरक्षयं मया लब्ध्यमिदं वनम् ।

इति संचिन्त्य सदृशं नन्दनस्याभनक्षपिः ॥ १२९ ॥

राक्षसेत्यादि—इदं वनम शोकवनिकारव्यं राक्षसेन्द्रस्य संरक्षयं रक्षार्हम् । ‘अर्हे कृत्यरुचश्च ॥ ३ । ३ । १६१।’ इत्यविकृत्य ‘ऋहलोर्णर्त् ॥ ३ । ११२४।’ इति पृथक् । तन्मया लब्य लवनीयम् । ‘कृत्यानां कर्तरिवा । २ । ३ । ७।।’ इति षष्ठीतृतीये कर्तरि भवतः । इत्येवं संचिन्त्य कपिर्नन्दनस्य वनस्य सदृशं तुल्यम् । ‘तुल्यार्थं रुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् । २ । ३ । ७।।’ इति पक्षे षष्ठी । अभनक् भग्नवान् । भञ्जेलङ्घि ‘आन्नलोपः ॥ ६ । ४ । २३ ।’ इति नलोपे हल्ड्यादिलोपे जश्वेव चत्वें च रूपम् ॥ १२९ ॥

राघवाभ्यां शिवं दूतस्तयोरहमिति ब्रुवन् ।

हितो भनज्मि रामस्य कः किं ब्रूतेऽत्र राक्षसः ॥ १३० ॥

राघवाभ्यामित्यादि—राघवाभ्यां रामलक्षणाभ्यां शिवं भद्रमस्तु । तयोर्हनूमान् दूतो हितो रामस्य भनज्मीदं वनम् । एवं च क्रियमाणे को भवतां मध्ये राक्षसः किं ब्रूते इत्येवं ब्रुवन् । बभञ्ज पवनात्मजो रिपुवन-मिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । राघवाभ्यां शिवं हितो रामस्येति ‘चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥ ३ । ६ । ३।’ इति षष्ठीचतुर्थ्यौ ॥ १३०॥। इति विभवत्यविकारः ।

विलुलितपुष्परेणुकपिशं प्रशान्तकलिकापलाशकुसुमं
कुसुमनिपातचित्रवसुधं सशब्दनिपतद्वमोत्कशकुनम् ।
शकुननिनादनादिककुञ्बिलोलविपलायमानहरिं
हरिणविलोचनाधिवसर्ति वभञ्ज पवनात्मजो रिषुवनम् ॥ १३१ ॥

विलुलितेत्यादि—कीदृशं वभञ्ज । विलुलितानां पुष्पाणां रेणुभिः कपिशं
पिङ्गम् । प्रशान्ता अवसन्नाः कलिकाः पलाशानि पत्राणि कुसुमानि च यत्र ।
कुसुमानां निपातेन विचित्रा वसुधा यत्र । सशब्देनिपतद्विद्वैरुत्का उन्मनसः
शकुना यत्र । शकुनानां पलायमानानां निनादेन नादिताः संजातनादाः
ककुभो दिशो यत्र । विलोला व्याकुला विपलायमाना हरिणा यत्र ।
हरिणस्येव विलोचने यस्याः सीतायाः तस्या अधिवसर्ति निवासैम् ॥ १३१ ॥

इत्यनभिहिताधिकारः ।

इति श्रीजयमङ्गलाऽख्यया व्याख्यया समर्लङ्घते श्रीभद्रिकाव्ये
द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः,
लक्ष्यरूपे कथानकेऽशोकवनिकामङ्गो
नामाष्टमः सर्गः ।

नवमः सर्गः ।

अथ प्रकीर्णकाः ।

अत्रान्तरे प्रकीर्णकश्लोकानाह—

दुभङ्गध्वनिसंविमाः कुवत्पक्षिकुलाऽकुलाः ।

अकार्षुः क्षणदाचर्यो रावणस्य निवेदनम् ॥ १ ॥

दुभङ्गेत्यादि—क्षणदाचर्यो निशाचर्यः ‘चरेष्टः३।२।१६।’ इति टः। रावणस्य
निवेदनमकार्षुः कृतवत्यः वक्ष्यमाणप्रकारेण । दुभङ्गध्वनिसंविमाः शाखा-
भङ्गशब्देन संत्रस्ताः । ‘ओविजी भय-चलनयोः’ ‘ओदितश्च । ८। २। ३५।’
इति निष्ठानत्वम् । कुवत्पक्षिकुलाकुलाः कुवद्विः कूजद्विः पक्षिकुलैराकुला
व्यस्तमानसाः । ‘कु शब्दे’ आदादिकस्तस्य उवडादेशः ॥ १२ ॥

१ अत्र ‘अश्वललितम्’ वृत्तम् । ‘यदिह नजौ भजौ झजभलगास्तंदाश्वललि
हरार्क्षयति तत्’ इति तलक्षणात् ।

यदताप्सीच्छनैर्भारुर्यत्राऽवासीन्मतं मरुत् ।

यदाप्यानं हिमोखेण भनत्तयुपवनं कपिः ॥ २ ॥

यदित्यादि—यद्वनं भानुः शनैर्मन्दमताप्सीत् तपति स्म । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । मरुत् मितं स्तोकमवासीत् वाति स्म । हिमोखेण शिशिररस्मिना आप्यानं वृद्धिं नीतम् । प्यायतेः ‘लोपो व्योर्वलि ।६।१।६६।’ इति यलोपः । ओदित्वान्तत्वम् । तदुपवनं कपिर्भनत्कि चूर्णयतीति निवेदनमकार्षुः ॥ २ ॥ ।

ततोऽशीतिसहस्राणि किङ्कराणां समादिशत् ।

इन्द्रजिल्लूर्बिनाशाय मारुतेः क्रोधमूर्च्छतः ॥ ३ ॥

तत इत्यादि—निवेदनानन्तरमिन्द्रजित्सूः रावणः । इन्द्रजितं सूत इति ‘सत्सूद्धिदुहयुजविदभिदिच्छदीजनीराजामुपसर्गेऽपि किप् । ३।२।६।१।’ इत्यनुपसर्गे किप् । मारुतेर्हनूमतो विनाशाय । अशीतिसहस्राणि समादिशत् समादिष्टवान् । किङ्कराणां किं कुर्वन्तीति ‘दिवाविभानशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसङ्घथाजङ्गधावाह्वर्यत्तद्वनुरुष्टु ।३।२।२।१।’ इति टच् । क्रोधमूर्च्छतः क्रोधोद्रुतः । मूर्च्छेः समुच्छ्राये वर्तमानत्वात् ॥ ३ ॥

शक्त्यृष्टिपरिघप्रासगदामुद्गरपाणयः ।

व्यञ्जुवाना दिशः प्रापुर्वनं द्वष्टिविषोपमाः ॥ ४ ॥

शक्तीत्यादि—ते किङ्करा वनं प्रापुः प्राप्तवन्तः । शक्त्यादयः प्रहरण-विशेषाः पाणौ येषामिति ‘प्रहरण पार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवेत्’ । व्यञ्जुवानाः दिशो व्याप्तुवन्तः । ‘अशू व्याप्तौ’ सौवादिकः । द्वष्टिविषोपमा भुजङ्गवत् दृष्टैवु विनाशयन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

दध्वान मेघवद्धीममादाय परिघं कपिः ।

नेदुर्दीप्तायुधास्तेऽपि तडित्वन्त इवाऽम्बुदाः ॥ ५ ॥

दध्वानेत्यादि—कपिर्भीमं परिघं भयानकमर्गलमादाय मेघवदध्वान ध्वनति स्म । तेऽपि किङ्कराः तडित्वन्त इवाऽम्बुदा इव । नेदुः नेदन्ति स्म । किङ्कराणां कृष्णत्वात् मेघैः सादृश्यम्, आयुधानां च तडितेति ॥ ५ ॥

कपिनाम्भोधिधीरिण समग्रंसत राक्षसाः ।

वर्षामूद्दततोयौधाः सुमुद्रेणेव सिन्धवः ॥ ६ ॥

कपिनेत्यादि—कपिना अम्बोधीरेणाक्षोभ्यत्वात् । राक्षसाः समगंसतं
संगताः । ‘समो गम्यृच्छभ्याम् ।१।३।२९। इति तद् । लुङ् । यथा सिन्धवो
नद्यः उद्धततोयैवाः उद्रिक्तजलपूरा� समुद्रेण सङ्घन्ते तथा ॥ ६ ॥

लाङ्गूलमुद्धतं धुन्वन्नुद्धहन्परिघं गुरुम् ।
तस्यौ तोरणमारुद्ध्य पूर्वं न प्रजहार सः ॥ ७ ॥

लाङ्गूलमित्यादि—स हनूमान् लाङ्गूलं पुच्छमुद्धतम् उक्षिसं धुन्वन् । ‘धूब्
कम्पने’ इति स्वादौ पठितः । परिघं गुरुम् उद्धहन् तोरणमारुद्ध्य तस्यौ । न तु
पूर्वं प्रजहार प्रहृतवान्, शूराणां पश्चात् प्रहारित्वात् ॥ ७ ॥ एते प्रकीर्णकाः ।

इतः परं सिंचि वृद्धिमधिकृत्याह—

अक्षारिषुः शराम्भांसि तस्मिन्नक्षः पयोधराः ।
न चाह्नालीन्नचाऽब्राजीत्रासं कपिमहीधरः ॥ ८ ॥

अक्षारिषुरित्यादि—तास्मिन् वने रक्षः पयोधराः रक्षांसि पयोधरा इव ।
शराम्भांसि शरान् अम्भांसीत । अक्षारिषुः क्षरितवन्तः । क्षरितरकर्मकः
‘क्षरेतक्षतजवृत्तेः’ इत्यादि प्रयोगेषु दृश्यते । इह तु सकर्मको विवक्षितः ।
कपिर्महीधर इव । न चाह्नालीत् न चलितवान् । द्वयोरपि ‘अतो हलादेलंघोः
।७।२।७।’ इति विकल्पे प्राप्ते ‘अतो ल्यान्तस्य ।७।२।२।’ इति सिंचि वृद्धिः ।
त्रासं भयं च नाब्राजीत् न जगाम । महीधरतुल्यत्वात् । ‘नेटि ।७।२।४।’
इति प्रतिषेधस्य ‘अतो हलादेलंघोः ।७।२।७।’ इति विकल्पिते, ‘वदन्नज-
हलन्तस्याचः ।७।२।३।’ इति वृद्धिः ॥ ८ ॥

अवादीत्तिष्ठतेत्युच्चैः प्रादेवीत्परिघं कपिः ।

तथा यथा रणे प्राणान्वहूनामग्रहीद्विषाम् ॥ ९ ॥

अवादीदित्यादि—तत उत्तरकालं कपिस्तिष्ठत मा पलायच्चमिति उच्चस्ता-
नवादीत् । पूर्ववद्विद्धिः । तथा तेन प्रकारेण परिघं परिघेण प्रादेवीत् विजिगीषते
स्म । ‘दिवः कर्म च ।१।४।४।३।’ इति परिघस्य कर्मसंज्ञा । दिवेः ‘नेटि
।७।२।४।’ इति वृद्धिप्रतिषेधः । यथा वहूनां द्विषां शत्रूणां प्राणान्यग्रहीत्
‘निगृहीतवान् ।’ ‘अतो हलादेलंघोः ।७।२।७।’ इति विकल्पे प्राप्ते ‘हयन्तक्षण-
श्वसजागृणिक्षेदिताम् ।७।२।५।’ इति प्रतिषेधः ॥ ९ ॥

ब्रणैरवमिषु रक्तं देहैः प्रौर्णाविषुर्मुखम् ।

दिशः प्रौर्णाविषुश्वान्ये यातुधाना भवद्विद्यः ॥ १० ॥

ब्रैंरित्यादि—यातुधाना राक्षसा ब्रैः प्रहरमार्गैः रक्तं शोणितमवीमिषुः
वमन्ति स्म । ‘हयन्तक्षणश्वसजागृणिश्येदिताम् । ७।२।५’ इति वृद्धिप्रतिषेधः ।
देहैर्भुवं प्रौर्णाविषुः छादितवन्तः । अन्ये यातुधानाः भवद्वियः भवन्ती
भीर्येषामिति भयात्पलायमानाः । दिशः प्रौर्णाविषुः छादितवन्तः । ‘उर्णोते-
त्रिंशाषा । ७।२।६’ इति विकल्पः । उर्णोते: ‘विभाषोर्णोः । १।२।३’ इत्याङ्ग
त्वपक्षे द्रष्टव्यः, डित्त्वे गुणवृद्धिप्रतिषेधात् ॥ १० ॥

अरासिषुच्युतोत्साहा भिन्नदेहाः प्रियासवः ।

कपेरत्रासिषुर्नादानमृगाः सिंहध्वनेरिव ॥ ११ ॥

इति सिंचि वृद्धयधिकारः ।

अरासिषुरित्यादि—च्युतोत्साहाः निरुत्साहाः अरासिषुः मृताः स्म इति
शब्दितवन्तः । यतः प्रियासवः प्रियप्राणाः कपे: संबन्धिनो नादादत्रासिषुः
त्रस्ताः । ‘उभयत्रापि नेटि । ७।२।५।’ इति प्रतिषिद्धे ‘अतो हलादेल्घोः
७।२।७।’ इति विकल्पः ॥ ११ ॥

इति सिंचि वृद्धयधिकारः ॥

इति इद्यप्रतिषेधमधिकृत्याह—

मायानामीश्वरास्तेऽपि शस्त्रहस्ता रथैः कपिम् ।

प्रत्यावृत्तिरे हन्तुं हन्तव्या मारुतेः पुनः ॥ १२ ॥

मायानामित्यादि—अथानन्तरं राक्षसा ये दिशो गताः ते कपिं हन्तुं
पुनः प्रत्यावृत्तिरे प्रतिनिवृत्ताः । मायानामीश्वराः प्रभवः । ‘स्थेशभासपि-
सकसो वरच् । ३।२।१७५।’ इति वरच् । ‘नेष्टुशि कृति । ७।२।८।’ इति
नेट् । ‘आर्धघातुक-७।२।३५।’ इत्यादिना प्राप्तवात् । रथैस्तत्र गताः सन्तः ।
शब्दहस्ताः शब्दाणि हस्तेषु येषामिति । ‘हनि-कुश’ इत्यादिना रमेरौणादिकः
कथन् । रथाः । ‘अभिचम्पि’ इत्यादिना शसरौणादिकस्थन् । ‘हसिमूरवा’-
इत्यादिना हसेस्तन् । तयोः ‘तिनुत्रतथ-८।२।९।’ इत्यादिना इद्यप्रतिषेधः ।
हन्तव्या मारुतेरिति हन्तमतो वधार्हाः । ‘कृत्यानां कर्तरि वा । २।३।७।’ इति
षष्ठी । ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । ७।२।१०।’ इतीट्प्रतिषेधः । हन्तेनान्तर्ज्ञे-
निट्यात् ॥ १२ ॥

तांश्चेतव्यान् क्षितौ श्रित्वा वानरस्तोरणं युतान् ।

जघानाऽऽवृथ परिस्मृं विजिवृक्षून्समागतान् ॥ १३ ॥

तानित्यादि—समुदिता एकस्यामेव वेलायां मथा हन्तव्या इति वानर-स्तोरणमाश्रितवान् । स तोरणं श्रित्वा तान् राक्षसान् विजिघ्नक्षन् विग्रहीतुमिच्छन् । युतान् समुदितान् । समाप्तान् ठौकितान् । क्षितौ पृथिव्यां चेतव्याम् पुज्जीर्कर्तव्यान् । जघान हत्वान् । परिघमाधूय परिभ्रान्त्य । तत्र चेतव्यानिति 'एकाच उपदेशेऽनुदात्ता॑ । २ । १० ।' इतीटप्रतिषेधः । क्षिताविति । 'क्तिच्चौ च संज्ञायाम् । ३ । ३ । १७४ ।' इति क्तिच् । 'तितुत्रथसिसुसरक्सेषु च । ७ । २ । ९ ।' इतीटप्रतिषेधः । श्रित्वा युवानिति 'श्रुयुक्तः किति । ७ । २ । ११ ।' इति इटप्रतिषेधः । विजिघ्नक्षनिति 'सनि प्रहगुहोश्च । ७ । २ । १२ ।' इति । तत्र 'रुदविदमुषप्राहि-स्वपिग्रच्छः संश्च । १ । २ । ८ ।' इति सनः कित्वं 'ग्रहिज्या वयिव्यधि-वष्टिविचतिवश्चतिपृच्छतिभूज्जीतीनां डिति च । ६ । १ । १६ ।' इति संप्रसारणं ढत्वकल्पत्वानि ॥ १३ ॥

संजुघुक्षव आयूषि ततः प्रतिरूपवः ।
रावणाऽन्तिकमाजगमुर्हतशेषा निशाचराः ॥ १४ ॥

संजुघुक्षव इत्यादि—तत उत्तरकालं ये हतशेषा निशाचराः ते संजुघुक्षव आयूषि जीवितानि गोहितुमिच्छवः । गुहेः पूर्वक्तप्रतिषेधः । रावणाऽन्तिकमाजगमुः आगताः । प्रतिरूपवः वक्ष्यमाणमर्थं कथयितुमिच्छवः । अत्रापि पूर्वक्तप्रतिषेधः । तत्र चकारेणोगन्तानां सनि समुचितत्वात् ॥ १४ ॥

एकेन बहवः शूराः साविष्काराः प्रमत्तवत् ।
वैमुख्यं चक्रमेत्युच्चैरुच्चुर्दशमुखान्तिके ॥ १५ ॥

एकेनेत्यादि—वयं बहवः शूराः साविष्काराः साहंकारा अपि सन्तः एकेनापि कपिना हेतुभूतेन वैमुख्यं चक्रम पराऽमुखत्वमनुष्ठितवन्तः प्रमत्तवत् मद्यपानमत्ता इव । एवं च चित्तव्याक्षेपादुत्तमपुरुषे लिटि कुते 'कृसृभृवृ-स्तुद्भुश्चुवा लिटि । ७ । २ । १३ ।' इतीटप्रतिषेधः नियमित इति । एवं दशमुखान्तिके उच्चैरुच्चुः ॥ १५ ॥

मांसोपभोगसंशूनानुदिग्मांस्तानवेत्य सः ।

.उद्गृत्तनयनो मित्रान्मन्त्रिणः स्वान्त्यसर्जयत् ॥ १६ ॥

मांसेत्यादि—स दशमुखस्तानुदिग्नान् भीतानवेत्य ज्ञात्वा स्वानात्मीयान् मन्त्रिणो व्यसर्जयत् प्राहिणोन् । कीदृशांस्तान् । मांसोपभोगसंशूनान्

मांसोपभोगेन स्थूलवर्ष्मणः । उभयत्रापि । ‘शीदितो निष्ठायाम् । ७ । २ । १४ ।’ इतीट्प्रतिषेधः । तत्र श्वयतेर्यजादित्वात् संप्रसारणम् ‘हळः । ६ । ४ । २ ।’ इति संप्रसारणस्य दीर्घः । द्वयोरप्योदित्वान्निष्ठानत्वम् । उद्भृत्तनयनो रौषात् निष्कान्ततारकः । ‘यस्य विभाषा । ७ । २ । १५ ।’ इतीट्प्रतिषेधः । वृत्तेष्वदित्वात् । मित्रान् स्तिर्गच्छान् मन्त्रिणः ‘ओदितश्च । ७ । २ । १६ ।’ इतीट्प्रतिषेधः । ‘रदाभ्यां निष्ठातो नः । ८ । २ । ४२ ।’ इति निष्ठानत्वम् ॥ १६ ॥

प्रमेदिताः सपुत्रास्ते सुस्वान्ता बाढविक्रमाः ।

अम्लिष्टनादा निरगुः फाण्टचित्राख्यपाणयः ॥ १७ ॥

प्रमेदिता इत्यादि—ते मन्त्रिणः सपुत्राः पुत्रैः सह निरगुः निर्गताः । ‘इणो गा लुडि । २ । ४ । ४५ ।’ प्रमेदिताः स्तिर्गच्छान्निष्ठानत्वात् आदिकर्मणि निष्ठा । ततो ‘विभाषा भावादिकर्मणोः’ इति प्रतिषेधः । इट्पक्षे ‘निष्ठा शीङ्गस्त्रिविमिदिस्त्रिविधृष्टः । १ । २ । १९ ।’ इति कित्त्वप्रतिषेधान् गुणः । सुस्वान्ताः स्वामिने कल्याणमनसः । बाढविक्रमाः भृशपराक्रमाः । अम्लिष्टनादाः । विस्पष्टवाचः मन्त्रिणां वाग्मित्वात् । फाण्टचित्राख्यपाणयः चद्वृत्तमपिष्टं कषायमुदकसंपर्कभात्राद्विभक्तरसम् ईषदुष्टं तदत्प्रयाससाध्यत्वात् अनायाससाध्यं फाण्टमित्युच्यते तेन चित्राणि रजितानि अद्वाणि पाणौ येषामिति । स्वान्तादयः ‘क्षुब्धस्वान्तध्वन्तलग्नम्लिष्टविरिघ्वफाण्टबाढानि मन्थमनस्तमः सक्राविस्पष्टस्वरानायासभृशेषु । ७ । २ । १८ ।’ इति निपातिताः ॥ १७ ॥

अथ द्वाभ्यां युगमम् ।

तान्दृष्टाऽतिवृदान्धृष्टान् प्राप्तान्परिवृदाज्ञया ।

कष्टं विनर्दतः कूराज्ज शशघुष्टकरान्कपिः ॥ १८ ॥

तानित्यादि—तान् दृष्टा कपिः आर्दिदिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । किंभूतान् धृष्टान् । धृष्टोतीति धृष्टः । ‘धृष्टिशसी वैयात्ये । ७ । २ । १९ ।’ इतीट्प्रतिषेधः । अतिवृदान् बलवतः । ‘हृढः स्थूलबलयोः । ७ । २ । २० ।’ इति निपातनम् । परिवृद्धज्ञया परिवृद्धस्य प्रभोराज्ञया प्राप्तान् । ‘प्रभौ परिवृढः । ७ । २ । २१ ।’ इति निपातनम् । कष्टं विनर्दतः कूच्छं ध्वनतः । गम्भीररंबं वा । ‘कूच्छगहनयोः कषः । ७ । २ । २२ ।’ इतीट्प्रतिषेधः । कूरान् हिंसान् । शशघुष्टकरान् । ‘घुषिरविशब्दने । ७ । २ । २३ ।’ इतीट्प्रतिषेधः ॥ १८ ॥

अव्यर्णो गिरिकूटाभानभ्यर्णनार्दिद्वुतम् ।
वृत्तशस्त्रान्महाऽरम्भानदान्ताऽस्त्रिदशैरपि ॥ १९ ॥

अव्यर्ण इत्यादि—अव्यर्णोऽपीडितः । ‘अर्देः संनिविभ्यः । ७ । २ । २४।’
इतीद्विषेधः । गिरिकूटाभान् महागिरिसद्वशप्रमाणान् । अभ्यर्णनवि-
द्वान् । ‘अभेश्वाविद्यें । ७।२।२५।’ इतीद्विषेधः । द्वुतमार्दिदत् हिंसि-
तवान् । अर्देः स्वार्थकण्ठन्तस्य लुडि रूपम् । वृत्तशस्त्रोऽवीतशस्त्रवि-
द्यः । ‘णेरध्ययने वृत्तम् । ७।२।२६।’ इति इडभावो णिलुक् च निपा-
त्यते । महारम्भान् अनल्पव्यापारान् । त्रिदशैरप्यदान्तान् अशमितान् ।
‘वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छञ्जलिः । ७।२।२७।’ इतीडभावो णिलुक्
च निपात्यते ॥ १९ ॥

दमितारिः प्रशान्तौजा नादापूरितदिङ्मुखः ।
जघान रुषितो रुषांस्त्वरितस्तूर्णमागतान् ॥ २० ॥

दमितारिरित्यादि—ये तु प्रशान्तौजसः शमितबलाः सन्तो रुषाः
त्तूर्णमागताः तान् कपिर्जघान व्यापादितवान् । प्रतापाहास्यन्तोऽरयो
दमिता येन दमितारिः । प्रशान्तं शत्रूणामोजो येन स प्रशान्तौजाः ।
नादापूरितदिङ्मुखः तस्य द्वष्टत्वात् । रुषितः कुद्धः । त्वरितः संभ्रमः ।
अत्र दमितप्रशमितपूरिताः प्यन्ताः ‘वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छञ्ज-
लिः । ७ । २ । ३७।’ इति विकल्पितेष्टः । रुषरुषितत्वरिताः ‘रुष्यमत्वर-
संघुषास्वनाम् । ७।२।२८।’ इतीङ् वा ॥ २० ॥

तेषां निहन्यमानानां सङ्घुष्टैः कर्णभेदिभिः ।
अभूदभ्यमितत्रासमास्वान्ताऽशेषदिग्जगत् ॥ २१ ॥

तेषामित्यादि—तेषां रक्षसां निहन्यमानानां संघुष्टैः शब्दैः कर्णभेदिभिः
चाधिर्यकरैः । अभ्यमितत्रासं अभिगतत्रासं जगदभूत । आस्वान्ताः अशेषा
दिशो यस्मिन् जगति । संघुष्टाभ्यमितास्वान्ताः ‘रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम्
। ७।२।२८।’ इति विकल्पितेष्टः ॥ २१ ॥

भयसंहृष्टरोमाणस्ततस्तेऽपचितद्विषः ।
क्षणेन क्षीणविक्रान्ताः कपिनाऽनेषत क्षयम् ॥ २२ ॥

इतीटप्रतिषेधाधिकारः ।

भयेत्यादि—ततस्ते रक्षसाः कपिना क्षणेन क्षयं विनाशमनेषत् नीताः । कर्मणि लुह् । भयसंहृष्टरोमाणः भयोद्रुतरोमाच्चाः । ‘हषेल्लोमसु । ७।२।३१’ इति विभाषितेऽ । अपचितद्विषः अपचितानाम् पूजितानां ऋषीणां शत्रवः । ‘अपचितश्च । ७।२।३०’ इति निपातः । क्षीणविक्रान्ताः क्षीणं विक्रान्तं पराक्रमो येषाम् । ‘क्षियो दीर्घात् । ८।२।४६’ इति निष्ठात-कारस्य नः ॥ २२ ॥

इतीटप्रतिषेधाधिकारः ।

इतः प्रभृतीटमधिकृत्याह—

हत्वा रक्षांसि लवितुमक्रमीन्मारुतिः पुनः ।

अशोकवनिकामेव निगृहीतारिशासनः ॥ २३ ॥

हत्वेत्यादि—रक्षांसि हत्वा माहतिरशोकवनिकामेव पुनर्लवितं छेत्तुम् । आर्धघातुकस्येऽ । अक्रमीत् गतवान् । ‘स्तुक्मोरनात्मनेपदनिमित्ते । ७।२-३६’ इतीट् । निगृहीतारिशासनः धर्स्तारिव्यवस्थः । ‘प्रहोडलिटि दीर्घः । ७।२।३७’ इतीटो दीर्घत्वम् ॥ २३ ॥

आवरीतुमिवाऽकाशं वरितुं वीनिवोत्थितम् ।

वनं प्रभञ्जनसुतो नादयिष्ट विनाशयन् ॥ २४ ॥

आवरीतुमित्यादि—प्रभञ्जनसुतो हनूमान् । वनमशोकवनिकाख्यं विनाशयन् नादयिष्ट दयां न कृतवान् । लुडे रूपम् । आकाशमावरीतुमिव अवष्टब्धुमिवोत्थितं वनम् । वीन् पक्षिणो वरितुं प्रार्थयितुमिवोत्थितं ‘आगच्छत, नान्यत्र यात, इहैव फलवृद्धं प्राप्स्यथ’ इति । आवरीतुं वरितुमिति ‘वृतो वा । ७।२।३८’ इति विकल्पेनेटो दीर्घत्वम् ॥ २४ ॥

वरिषीष्ट शिवं क्षिप्यन् मैथिल्याः कल्पशास्त्रिनः ।

प्रावारिषुरिव क्षोर्णीं क्षिप्त्वा वृक्षाः समन्ततः ॥ २५ ॥

वरिषीष्टेत्यादि—ये कल्पशास्त्रिनः कल्पवृक्षाः स्वर्गादादायारोपितास्तानु-मूल्य यथाशानं क्षिप्यन् मैथिल्याः शिवं कल्याणं वरिषीष्ट प्रार्थितवान् । मैथिल्या भद्रमस्त्वत्याशंसावचने लिङ् । ‘न लिङ् । ७।२।३९’ इति

दीर्घप्रतिषेधः । अन्ये च वृक्षास्तेन समन्वतः क्षिप्ताः सन्तः क्षोणीं पृथग्वीं प्रावारिषुरिवाच्छादितवन्त इव । तेषामनाच्छादितत्वादिवार्थः । ‘सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ३२।१।’ इति वृद्धिः ॥ २५ ॥

संबुद्धुर्षुः स्वमाकूतमाज्ञां विवरिषुर्दुतम् ।

अवारिष्टाक्षमक्षम्यं कर्पि हन्तुं दशाननः ॥ २६ ॥

समित्यादि—रामदूतेन कपिना कर्मदृशं कृतमिति स्वमाकूतमभिप्रायं संबुद्धुर्षुः संवरीतुमिच्छुः । दशाननो द्रुतमाज्ञां विवरिषुः प्रकटितुमिच्छुः । अक्षं स्वसुतमवरिष्टं प्रार्थितवान् । कर्त्रमिप्राये तङ् । किमर्थं कर्पि हन्तुं हनिष्यामीति । अक्षम्यं क्षन्तुमशक्यम् । ‘पोरदुपवात् । ३।१९।८।’ इति यन् । संबुद्धुर्षुः, विवरिषुरिति उग्नतत्वात् ‘सनि श्रहगुहोश्च । ३।२।१२।’ इति चकारेणेत्प्रतिषेधे प्राप्ते ‘इट् सनि वा । ३।२।४।१।’ इति विभाषेद् । तत्रानिदृपक्षे ‘इको श्ल । १।२।१।’ इति कित्त्वे ‘उदोप्त्यपूर्वस्य । ३।१।१०।२।’ इत्युत्त्वपक्षेऽगुण एव ॥ २६ ॥

ज्ञचे संवरिषीष्टास्त्वं गच्छ शत्रोः पराक्रमम् ।

धृषीष्टा युधि मायाभिः स्वरिता शब्दसमुखम् ॥ २७ ॥

ज्ञच इत्यादि—किमित्याह-त्वं गच्छ शत्रोः पराक्रमं संवरिषीष्टाः संछादय । आशिषि ‘लिङ्गसिचोरात्मनेपदेषु । ३।२।४।२।’ इति वृचो विभाषेद् । ‘उश्च । १।२।१२।’ इतीदपक्षे न कित्त्वम् । धृषीष्टाः युधि मायाभिः कर्तृभूताभिः त्वं कुटिलीकृषीष्टाः । ‘धृ द्वृच्छन्नेन’ (द्वृच्छन्नं कौटिल्यम्) तस्य चोदाच्चत्वात् आशिषि कर्मणि लिङ् । ‘ऋतश्च संयोगादेः । ७।२।४।३।’ इति विभाषेद् । अनिदृपक्षे उच्चेति कित्त्वम् । स्वरिता उपतापथिता । शत्रु-संमुखं शत्रोरग्रतः । अतो द्रुतं संस्वरिषीष्टा इति वक्ष्यमाणेन योज्यम् ॥ ‘स्व शब्दोपतापयोः’ इत्यस्य ‘स्वरितमुत्तिसूयतिभूदितो वा । ३।२।४।४।’ इति विभाषेद् । लिङ्गसिचोरिति नानुवर्तते ॥ २७ ॥

द्रुतं संस्वरिषीष्टास्त्वं निर्भयः प्रधनोत्तमे ।

स मायानामगात्सोता कपेर्विधवितुं द्रुतिम् ॥ २८ ॥

द्रुतमित्यादि—संस्वरिषीष्टाः उपतापय । निर्भयः सन् । आशिषि लिङ् । समो गम्यृच्छभ्याम् । १।३। २।९। इत्यत्र ‘विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्’ इत्यात्मनेपदम् । अत्र ‘ऋतश्च संयोगादेः । ७।२।४।३।’ इतितीट । प्रध

विभाषेत् । तत्र दिवेरिडभावपक्षे ‘छोः शूडनासिके च ।६।४।११।’ क्रदेः आपूज्ञपृथग्मीत् ।७।४।५५।’ इतीत्वमभ्यासलोपश्च ॥ ३२ ॥

भूयस्तं धिषुमाहूय राजपुत्रं दिदम्भिषुः ।

अहंस्ततः स मूच्छावान्संशिश्रीषुरभूद्धजम् ॥ ३३ ॥

भूय इत्यादि—तं राजपुत्रम् अक्षं धिषुं दिदम्भं वच्चयितुमिच्छुम् । भूयः पुनरीपे दिदम्भिषुः वच्चयितुमिच्छुः । आहूयागच्छेत्यहन् हतवान् । ततः सोऽक्षः मूच्छावान् मूच्छायुक्तः । ध्वजमात्मीयं संशिश्रीषुः संश्रिय-तुमिच्छुः अभूत् भूतः । अत्र दम्भः अयतेश्च ‘सनीवन्तर्ध्ब्रसज्दम्भु-श्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ।७।२।४९।’ इतीट् । अत्र श्रयतेरनिदृपक्षे ‘अज्ज्ञन-गमां सनि ।६।४।१६।’ इति दीर्घः । द्वितीयस्थ च ‘दम्भ इच ।७।४।५६।’ इत्यभ्यासलोपः । दम्भेहृलप्रहणस्य जातिपरत्वासिद्विमिति कित्वे अनुनासिक-लोपः । ‘एकाचो वशो श्वश इष्वन्तस्य स्ववोः ।८।२।३७।’ इति भप् । ‘खारि-च ।८।४।५५।’ इति चर्वम् ॥ ३३ ॥

आश्वस्याऽक्षः क्षणालोकान्विभ्रक्षुरिव तेजसा ।

रुषा विभ्रजिषुप्रख्यं कर्पि वाणैरवाकिरत् ॥ ३४ ॥

आश्वस्येत्यादि—क्षणात् क्षणमात्रेणाथस्य संज्ञां लक्ष्मा लोकान् जनान् तेजसा क्रोधोत्थेन विभ्रक्षुरिव । अथ स कर्पि वाणैरवाकिरन् संठादित-चान् । कीदृशम्—विभ्रजिषुप्रख्यं अमितुस्यम् । विभ्रजिषुः, विभ्रक्षुरिति ‘सनीवन्तर्ध्ब्रसज्दम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ।७।२।४९।’ इति विभा-षेद् । तत्रानिदृपक्षे ‘स्कोः संयोगादोरन्ते च ।८।२।२९।’ इति सलोपः । ‘ब्रश्चभ्रस्जसूजमृजयजराजभ्राजच्छशः षः ।८।२।३६।’ इति षः । इतपक्षे सका-रस्य जश्वत्वं इत्युत्वं च ॥ ३४ ॥

संयुयूषु दिशो वाणैरक्षं पियविषुद्दुमैः ।

कपिर्मायामिवाऽकार्षिदृश्यान्विक्रमं रणे ॥ ३५ ॥

संयुयूषुमित्यादि—वाणैर्दिशः संयुयूषु मिश्रयितुमिच्छुम् अक्षं कपिः दुमै-र्यंयनिषुः योतुमिच्छुर्मायामिवेन्द्रजालमिवाकार्षित् कृतवान् । रणे विक्रमं दर्शयन् । यौतः सन्ति ‘सनीवन्तर्ध्ब्रसज्दम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ।७।२।५।’ इति विभाषेद् । ‘ओः पुयण्ड्यपरे ।७।४।८०।’ इतीत्वम् । ‘अज्ज्ञनगमां सनि ।६।४।१६।’ इति दीर्घः ॥ ३५ ॥

वानरं प्रोर्णुनविषुः शस्त्रैरक्षो विदिद्युते ।
तं प्रोर्णुनूषुरुपलैः सवृक्षैरावभौ कपिः ॥ ३६ ॥

वानरमित्यादि—वानरं प्रोर्णुनविषुः छादयितुमिच्छुरक्षः विदिद्युते विद्यो-
त्ते स्म । ‘युतिम्बाप्योः सम्प्रसारणम् । ७।४।६७’ इति सम्प्रसारणम् ।
कपिरपि तमक्षम् उपलैवृक्षसहितैः प्रोर्णुषुः संवरीतुमिच्छुरावभौ भाति
स्म । ऊर्णेतैः पूर्ववद्विभाषेद् । इद्ग्रपक्षे गुणः । अन्यत्र ‘अज्ञनगमां सनि
। ६।४।१६’ इति दीर्घः । उमयत्र ‘नन्दाः संयोगादयः । ६ । १ । ३ ।’ इति
रेको न द्विरुच्यते ॥ ३६ ॥

स्वां जिज्ञापयिषु शक्तिं बुभूर्षु नु जगन्ति किम् ।

शस्त्रैरित्यकृषातां तौ पश्यतां बुद्धिमाहवे ॥ ३७ ॥

स्वामित्यादि—तौ कपिराक्षसौ किं स्वां शक्तिं जिज्ञापयिषु बोधयि
तुमिच्छू इव बुभूर्षु त्रिजगन्ति किं नु त्रैलोक्यं शक्तैः भर्तुं पूरयितुमि
च्छू इत्येवं बुद्धिमाहवे पश्यतां प्रेक्षकाणाम् अकृषातां कृतवन्तौ । जिज्ञा
पयिषु बुभूर्षु इति विभाषेद् । तत्र ‘भृत्यु भरणे’ इति भौवादिकसु
ग्रहणम् । ‘सनीवन्त्यध्रस्त्यजदम्भुत्रिस्थृयूर्णुभरजपिसनाम् । ७ । २ । ४९ ।’
इति सूत्रे ‘भर’ इति शपा निर्देशात् ॥ ३७ ॥

मायाभिः सुचिरं क्षिद्वा राक्षसोऽक्षिशितक्रियम् ।

सम्प्राप्य वानरं भूमौ पपात परिघाऽहतः ॥ ३८ ॥

मायाभिरित्यादि—राक्षसो मायाभिः सुचिरं क्षिद्वा क्षेत्रं कृत्वा वानरं
क्षिशितक्रियमनभिगृतव्यापारं संप्राप्य परिघाहतो भूमौ पापत । ‘क्षिश
क्त्वानिष्ठयोः । ७।२।५०’ इति विभाषेद् ॥ ३८ ॥

अथ युगम् ।

पवितोऽनुगुणैर्वैः शीर्तैः पूत्वा पयोनिधौ ।

बभञ्जाऽध्युषितं भूयः क्षुधित्वा पत्रिभिर्वनम् ॥ ३९ ॥

पवित इत्यादि—कपिरपि पयोनिधौ पूत्वा स्नात्वा अनुगुणैरनुकूलै
तैर्तैर्वैः पवितः पवित्रीकृतः । ‘पूडश्च । ७।२।५१’ इति विभाषेद् । भूय
नवैः क्षुधित्वा पत्रिभिः क्षुधित्वा क्षुधितैर्भूत्वा । अध्युषि
त्वात्प्रक्षस्म् । ‘वसतिक्षुधोरिद् । ७।२।५२.’ इतीद् ॥ ३९ ॥

उच्चैरच्छितलाङ्गुलः शिरोऽच्छित्वेव संवहन् ।
दधिद्विलुभितं वातैः केशरं वहिपिङ्गुलम् ॥ ४० ॥

उच्चैरित्यादि—उच्चैरुर्ध्वमन्तरं पूजितं लाङ्गूलं पुच्छं यस्य । शोभन—
विन्यासेन स्थितत्वात् । शिरोऽच्छित्वेव संवहन् अनग्रत्वान् पूजयित्वेव
शिरो विभ्राणः । ‘अच्चे: पूजायाम् । ७।२।५३।’ इति विभाषेट । वहिपिङ्गुलं
च केशरं सर्टां दबत् विभ्रन् । वातैर्विलुभितम् आकुलितम् । ‘लुभो विमोहने ।
७।२।५४।’ इतीट् । विमोहनमाकुलीकरणम् ॥ ४० ॥

जरित्वेवं जवेनाऽन्ये निषेतुस्तस्य शाखिनः ।

ब्रश्चित्वा विवशानन्यान्बलेनाऽपातयतरूप् ॥ ४१ ॥

जरित्वेत्यादि—तस्य कपेजवेन वेगेन अन्ये शाखिनः जरित्वेव जर्णीं
इव भूत्वा निषेतुः । अन्यांस्तरूप् बलेन ब्रश्चित्वा छित्वा । विवशान् स्तस्तप्लृ-
वानपातयत् पातितवान् । ‘जृव्रश्योः क्षित्व । ७।२।५५।’ इतीट् ॥ ४१ ॥

दमित्वाप्यरिसङ्घातानश्रान्त्वा कपिकेशरी ।

वनं चचार कर्तिष्यन्नतस्यन्निव निरङ्गुशः ॥ ४२ ॥

दमित्वेत्यादि—कपिकेशरी हनूमान् अरिमंधातान् दमित्वा उपशमं
जीत्वा । अश्रान्त्वा अपरिश्रान्तो भूत्वा वनं चचार । ‘डदितो वा । ७।२।५६।’ इति विकल्पेनेट् । निरङ्गुशः निरवग्रहः । कर्तिष्यन् छेतस्यन् । नतस्य-
न्निव नर्तुकाम इव । ‘सेऽसिचि कृतचृत्वृदृष्टदनृतः । ७।२।५७।’
इति विभाषेट् ॥ ४२ ॥

पारं जिगमिषन्सोऽथ पुनरावत्स्यतां द्विषाम् ।

मत्तद्विरदवदेमे वने लङ्घानिवासिनाम् ॥ ४३ ॥

पारमित्यादि—अथ स कपिद्विषां पारं जिगमिषन् गन्तुमिच्छन् । ‘गमे-
रिद् परस्मैपदेषु । ७।२।५८।’ इतीट् । पुनरावत्स्यतां प्रतीपीभविष्यताम् ।
‘न वृद्धयश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।’ इतीट् प्रतिषेधः । ‘वृद्धः स्यसनोः । १।३।१२।’ इति
परस्मैपदम् । लङ्घानिवासिनां वने मत्तद्विरद् इव रेमे क्रीडि-
त्वान् ॥ ४३ ॥

यद्यकल्पस्यदभिप्रायो योद्धुं रक्षःपतेः स्वयम् ।

तमप्यकर्तस्यमद्याऽहं वदनित्यचरत्कपिः ॥ ४४ ॥

यदीत्यादि—रक्षःपते: रावणस्य स्वर्यं योङुं यद्यभिप्रायोऽकलप्स्यत् सम-
पत्स्यत् । ‘तासि च क्लृपः । ७ । २ । ६० ।’ इति चकारात् स्यकारे
च नेट् । तदा तमप्यहमकर्त्तर्यम् उत्सारयामि । अहमद्येति एवं वदन् कापि-
क्षमचरत् । ‘सेऽसिचि कृतचृतछृदृष्टदृश्यतः । ७ । २ । ५७ ।’ इति विभा-
षेद् । अकलप्स्यदकर्त्तर्यमिति च ‘लिङ्गनिमित्ते लङ् क्रियातिपत्तौ । ३ । ३ ।
१३९ ।’ इति लङ् । हेतुहेतुमङ्गावश्च लिङ्गे निमित्तम् ॥ ४४ ॥

हते तस्मिन्प्रियं श्रुत्वा कलसा प्रीर्ति परां प्रभुः ।

तोषोऽधैव च सीतायाः परश्चेतासि कलप्स्यति ॥ ४९ ॥

हत इत्यादि—तस्मिन् रक्षःपतौ हते प्रियं श्रुत्वा प्रभुः रामः परां प्रीर्ति
कलसा जनयिता । अत्रान्तभार्वितो पर्यथः । धातोरकर्मकल्पात् । सीतायाश्च-
द्यैव चेतसि तोपः परो महान् कलप्स्यति सम्पत्स्यते । ‘तासि च क्लृपः ।
७ । २ । ६० ।’ इतीद्यप्रतिषेधः । ‘लुटि च क्लृपः । १ । ३ । ९३ ।’ इति
परस्मैपदम् ॥ ४५ ॥

आहूय रावणोऽवोचदथेन्द्रजितमन्तिकात् ।

वने मत्त इव कुद्धोऽगजेन्द्रः प्रधनेष्वटन् ॥ ४६ ॥

आहूयेत्यादि—अथ रावणः इन्द्रजितमाहूय अन्तिकमवोचत् । किमवो-
चदित्याह—वने मत्त इव । यथा गजेन्द्रो मत्तः कुद्धो वने पर्यटन् द्विषा-
मन्तं गतवान् तथा त्वं प्रधनेषु संग्रामेष्वटन् । द्विषामन्तं ययाथेति वक्ष्यमाण-
श्चकेनान्वयः ॥ ४६ ॥

यस्याथ त्वं द्विषामन्तं भूयो यातासि चाऽसकृत् ।

शशक्थ जेतुं त्वं देवान्मायाः सस्मर्थं संयाति ॥ ४७ ॥

ययाथेत्यादि—न केवलं ययाथ, भूयः पुनरपि यातासि यास्यसि । याते:
‘क्रांदिनियमात् प्राप्तस्येष्टः ‘अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् । ७ । २ । ६१ ।’
इति ग्रतिषेधः । तस्य हि तासौ नित्यमनिद्वत्वम् । ‘अजन्ता धातवोऽनुदात्ताः’
इति वचनात् । देवान् जेतुं त्वमसकृत् बहुधा शशक्थ शक्तोऽसि । ‘उप-
द्विषोऽत्वतः । ७ । २ । ६२ ।’ इति थर्लीद्यप्रतिषेधः । शकेस्तासौ नित्यानिद्व-
त्वम् । शकिस्तु कान्त इति वचनात् । मायाश्च कूटयुद्धानि । संयति शुद्धे ।
सस्मर्थः ज्ञातवानसि । ‘ऋतो भारद्वाजस्य । ७ । २ । ६३ ।’ इतीद्य-
प्रतिषेधः ॥ ४७ ॥

त्वं ससर्जिथ शश्वाणि द्रष्टव्यर्थं दुःसहान् ।

शश्वैरादिथ शश्वाणि त्वमेव महतामपि ॥ ४८ ॥

त्वमित्यादि—शश्वाणि त्वं ससर्जिथ ह्यप्रवानसि । अरीश्च दुःसहान्
युद्धतः द्रष्टव्यर्थं दुःसहानसि न पलायितोऽसि । ‘विभाषा सूजिहृशोः ।
७ । २ । ६५ ।’ इति थलि विभाषेद् । अनिट्पक्षे ‘सूजिहृशोर्ज्ञल्यमकितैः ।
। ६ । १ । ५८ ।’ इत्यम् । पत्वस्तुत्वे । महतामपि मध्ये त्वमेव शश्वाणि परन
कीयानि शश्वैः स्वैरादिथ जग्धवानसि । ‘इडत्यर्तिव्ययतीनाम् । ७ । २ ।
६६ ।’ इत्यदेविद् ॥ ४८ ॥

स त्वं हनिष्यन्दुर्बुद्धिं कर्पिं ब्रज ममाऽङ्गया ।

मा नाऽखी राक्षसीर्मायाः प्रस्तावीर्मा न विक्रमम् ॥ ४९ ॥

स त्वमित्यादि—स त्वमेवंविधः कर्पिं दुर्बुद्धिं चपलत्वाद्वनिष्यन् हनिष्या-
मीर्तिं मदाङ्गया ब्रज । ‘ऋद्धनोः स्ये । ७ । २ । ७० ।’ इतीट् । ‘वस्वेका-
जाद्वासाम् । ७ । २ । ६७ ।’ इत्यादिसूत्रत्रयं नोदांहृतम् । वस्वादेशस्य
छन्दोविषयत्वात् । राक्षसीर्माया मा नाखीः मा न व्यक्तीकुरु । अपि
तु व्यक्तीकुर्वित्यर्थः । ‘अखेः सिचि । ७ । २ । ७१ ।’ इतीट् । विक्रमं न
मा प्रस्तावीः मा न प्रारभस्व । ‘स्तुसुधूचूभ्यः परस्मैन्देषु ।
७ । २ । ७२ ।’ इतीट् ॥ ४९ ॥

मा न सावीर्महाऽश्वाणि मा न धावीररिं रणे ।

वानरं मा न संयंसीर्वज तूर्णमशङ्कितः ॥ ५० ॥

मा नेत्यादि—रणे महाश्वाणि मा न सावीः मा न प्रसुहि । मा न मुच्येत्यर्थः ।
‘षु प्रसवैश्वर्ययोः’ इत्यस्य रूपम् । आरीच्च मा न धावीः मा न कम्पय अपि तु
भीषयस्वेत्यर्थः । पूर्ववदिद् । वानरं मा न संयंसीः मा न ववीः ।
‘यमरमर्ज्ञमातां सकृच । ७।२।७३।’ इति सागिटौ । ‘समुदाङ्गभ्यो यमो ग्रन्थे । १।
३।७५।’ इति तद्वान भवति । तत्राकर्मकादिति वर्तते । यत एवं तस्मादशङ्कित-
स्तूर्णं ब्रज ॥ ५० ॥

अनंसीच्चरणौ तस्य मन्दिरादिन्द्रजिद्रजन् ।

अवाप्य चाशिषस्तस्मादायासीत्येति मुक्तमाम् ॥ ५१ ॥

अनंसीदित्यादि—एवमुक्त इन्द्रजित् मन्दिरात् ब्रजन् गमिष्यन् । ‘वर्तमानं-
सामीये वर्तमानवद्वा । ३।३।१३।’ इति लट् । तस्य पितुश्चरणवनंसीत् नत-
वान् । तस्माद्रावणादाशिष अवाप्योत्तमां ग्रीतिमायासीत् । पूर्ववत्सगिटौ ॥ ५१ ॥

गते तस्मिन्द्वपारं सीतं संरम्भाद्रक्षसां पतिः ।
इन्द्रजिद्रिकमाभिज्ञो मन्वानो वानरं जितम् ॥ ५२ ॥

गत इत्वादि—गते तस्मिन् रक्षसां पतिः रावणः संरम्भात् क्रोधादुपारं-
सीत निवृत्तवान् । पूर्ववत्सगिटौ । रमेः ‘उपाच्च ।१।३।८४।’ इति तिप् । स
इन्द्रजित् वानरं जितं मन्वानोऽवगच्छन् । यतो विक्रमाभिज्ञः । अगादिति
वद्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ५२ ॥

अथ युगम् ।

संसिस्मयिषमाणोऽगान्मायां व्यञ्जिजिषुर्दिषः ।
जगत्पिंपविषुर्वायुः कल्पान्त इव दुर्धरः ॥ ५३ ॥
लोकानाशिशिषोस्तुल्यः कृतान्तस्य विपर्यये ।
वने चिकरिषोवृक्षान्वलं जिगरिषुः कपेः ॥ ५४ ॥

संसिस्मयिषमाण इत्यादि—संसिस्मयिषमाणः उपहसितुमिच्छन् द्विषः
शत्रून् । अगात् गतवात् । ‘पूर्ववत्सनः ।१।३।६२।’ इति तद् । मायां व्यञ्जि-
जिषुः व्यक्तीकर्तुमिच्छुः । ‘स्मिपूङ्गरञ्जवशां सनि ।७।२।७४।’ इतीट् । तत्रा-
ञ्जः ‘न न्द्राः संयोगादयः ।६।१।३।’ इति नकारो न द्विरुच्यते । कल्पान्ते
युगान्ते वायुरिव दुर्धरः जगत् पिपविषुः पवितुमुखेष्टुमिच्छुः विपर्यये विनाश-
काले लोकानाशिशिषोः भक्षयितुमिच्छोः । कृतान्तस्य तुल्योऽगादिति पूर्वेण
संबन्धः । पूर्ववदिट् । वने वृक्षांश्चिकरिषोः विक्षेष्टुमिच्छोः । कर्पेबलं सामर्थ्ये
जिगरिषुः अपेनेतुमिच्छुः । कृप्रोरुगान्तत्वात् ‘सनि प्रहगुहोश्च ।७।२।१२।’ इति
प्रतिषेधे प्राप्ते ‘इदं सनि वा ।७।२।४।१।’ इति विकल्पे प्राप्ते ‘किरश्च पञ्चभ्यः ।
७।२।२।५।’ इतीट् । किरतेरिटो दीर्घत्वं नेच्छन्तीति न दीर्घः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

रोदिति स्मेव चाऽयाति तस्मिन्पक्षिगणः शुचा ।
मुक्तकण्ठं हतान्वृक्षान्बन्धून्वन्धोरिवाऽगमे ॥ ५५ ॥

रोदितीत्यादि—तस्मिन्द्रजिति आयात्यागच्छति सति पक्षिगणः हतान्
वृक्षान् कपिनाशितान् शुचा शोकेन मुक्तकण्ठं सशब्दं नामग्राहं रोदिति स्मेव
हृदितवानिव । नामप्रहणपूर्वया रोदनक्रियया व्याप्यमानत्वात् वृक्षाणां कर्मसंज्ञा ।
हृदादिभ्यः सार्वधातुके ।७।२।७६।’ इतीट् । बन्धून् बन्धोरिव यथा बन्धो
रागमने कदिचत् बन्धून् रोदिति ॥ ५५ ॥

आश्रीदिव चायाति तदेगपवनाहतम् ।
विंचित्रस्तवकोद्धासि वनं लुलितपल्लवम् ॥ ५६ ॥

आश्रीदिव्यादि—तस्मिन्नायाति वनं तदेगपवनाहतं सत् आश्रीदिव
संजीवितभिव । लुलितपल्लवम् । यतो विंचित्रस्तवकोद्धासि लुलितपल्लवं च जात-
म् । पूर्ववदिट् ॥ ५६ ॥

न प्राणिषि दुराचार मायानामीशिषे न च ।
नेडिषे यदि काकुत्स्थं तमूचे वानरो वचः ॥ ५७ ॥

इतीडधिकारः ।

नेत्यादि—वानरस्तमागच्छन्तमिदं वचनमूचे । हे दुराचार ! न प्राणिषि
न जीवसि । 'अन च' इत्यस्य रूपम् । पूर्ववदिट् । 'अनितेः । १।४।१९।' इति
णत्वम् । न च मायानामीशिषे नोशिता भवसि । 'ईशः से । ७।२।७७।' इतीड ।
'अधीगर्थद्येशां कर्मणे । २।३।५२।' इति कर्मणि बष्टो । यदि काकुत्स्थं नेडिषे
न स्तौषि । 'ईडजनोर्ध्वं च । ७।२।७८।' इति चकारात् से चेतोड ॥ ५७ ॥

इतीडधिकारः ।

इदानीं 'विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' इत्यधिकृत्याह—

ससैन्यश्छादयन्संख्ये प्रावर्तिष्ट तनिन्द्रजित् ।
शरैः क्षुरप्रैर्मायाभिः शतशः सर्वतो मुहुः ॥ ५८ ॥

ससैन्य इत्यादि—इन्द्रजित् ससैन्यः सबलः तं वानरं सर्वतः शरैः क्षुरप्रैः
भलैः छादयन् मुहुः क्षणं मायाभिः शतशोऽनेकधा संख्ये प्रावर्तिष्ट प्रवृत्तः ।
लुडित्यस्य । तत्र ससैन्यश्छादयन् इत्यत्र । 'विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' इति
सत्वं छकारे परे इवुत्त्वम् । शरैः क्षुरप्रैरिति सत्वापवादः । शर्परे खरि विसर्ज-
नीयस्य विसर्जनीयः विसर्जनीयस्य विकारनिवृत्यर्थः । मायाभिः शतशः
सर्वत इति 'वा शरि । ८। ३। ३६।' इति विकल्पः विसर्जनीयः
सकारो वा ॥ ५८ ॥

वानरः कुलशैलाभः प्रसह्यायुधशीकरम् ।
रक्षस्पाशान्यशास्काम्यर्स्तमस्कल्पानद्वुवत् ॥ ५९ ॥

वानर इत्यादि—वानरः कुलशैलाभः संग्रामे स्थिरस्वात् । आयुर्धं
शीकरमिव नैरन्तर्येण पतनात् । प्रसद्याभिभूय । ‘कुप्षोः लकड़पौ च । ८।३।
३७ ।’ इति वा जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ । रक्षसपाशान् कुत्सितराक्षसान् ।
‘थाप्ये पाशप् । ५।३। ४७ ।’ स्वार्थिका अपि प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यति-
वर्तन्ते । यशस्काम्यन् आत्मनो यश इच्छन् । अत्र तकरे परतः ‘नद्दु-
व्यप्रशान् । ८।३। ७ ।’ इति रुत्वं विसर्जनीयसकारौ च पूर्वस्यानुना-
सिकः । तमस्कल्पान् ईषदसमाप्तमसः । कुप्षोरपवादः ‘सोऽपदादौ । ८।
३। ३८ ।’ इति सकारः । तत्र ‘पाशकल्पककाम्येषु’ इति परिगणनम् । अदु-
द्रुवत् ढौकते स्म । ‘णिश्रिदुषुभ्यः कर्त्तरि चड् । ३।१। ४८ ।’ इति
चड् ॥ ५९ ॥

धनुष्पाशभृतः सङ्घव्ये ज्योतिष्कल्पोरुकेशरः ।
दुधाव निर्नमस्कारान् राक्षसेन्द्रपुरस्कृतान् ॥ ६० ॥

धनुस्तिथादि—धनुष्पाशभृतः कुत्सितधनुर्धरान् राक्षसान् । ज्योतिष्क-
ल्पोरुकेशरः अग्नितुल्यवृहत्सटो वानरः । ‘इणः षः । ८।३। ३९ ।’
इति पाशादिष्वेव विसर्जनीयस्य षट्वम् । दुधाव कम्पितवान् । यस्मान्निर्न-
मस्कारान् अप्रणामान् । राक्षसेन्द्रेणन्द्रजिता पुरस्कृतान् अप्रतः स्थापितान् ।
‘नमस्पुरसोर्गत्योः । ८।३। ४० ।’ इति विसर्जनीयस्य सकारः । इण उत्तरस्य
तु विसर्जनीयस्य स एवाधिक्रियते । तत्र नमःशब्दस्य साक्षात्प्रभृतिषु पाठात् ।
पुरःशब्दस्य ‘पुरोऽव्ययम् । १।४। ६७ ।’ इति गतिसञ्ज्ञा ॥ ६० ॥

स्वामिनो निष्क्रयं गन्तुमाविष्कृतबलः कपिः ।

रराज् समरे शत्रून् द्वन्दुष्कृतबहिष्कृतः ॥ ६१ ॥

स्वामिन इत्यादि—स्वामिनः सुश्रीवस्य निष्क्रयमानृण्यं गन्तुं शत्रून्
कृत् विनाशयन् कपिः रराज । आविष्कृतबलः प्रकटितसामर्थ्यः । दुष्कृत-
बहिष्कृतः । दुष्कृतं पांपं बहिष्कृतमनेनेति ‘वाहितागन्यादिषु । २। २।३७।’
इति द्रष्टव्यम् । सर्वत्र ‘इदुदुपवस्थ चाप्रत्ययस्य । ८।३। ४१ ।’ इत्यनेन-
प्रत्ययविसर्जनीयस्य षट्वम् ॥ ६१ ॥

व्युष्काष्ठं क्षिपन् वृक्षान् तिरस्कुर्वन्नरीक्रणे ।

तिरस्कृतदिग्भाषोगो दर्शे बहुधा भ्रमन् ॥ ६२ ॥

चतुरित्यादि—चतस्रः काष्ठा दिशो यस्मिन् क्षेपण इति क्रियाविशेष-
णम् । पूर्ववत् षत्वम् । चतस्रूषु दिक्षु वृक्षान् रणे क्षिपन् भ्रमन् एकोऽपि बहुधा
दृष्टे दृष्टः कपिः । क्षिपन्निति तौदादिकः । अर्हस्तिरस्कुर्वन् अभिभवन्
तिरस्कृतदिग्माभोगः अपनीतदिग्वस्तरः । ‘तिरसोऽन्यतरस्याम् । ८ । ३ । ४२।’
इति पक्षे सत्वम् ॥ ६२ ॥

अथ युग्मम् ।

द्विष्कुर्वतां चतुष्कुर्वन्भिघातं नगैर्दीप्ताम् ।

बहिष्करिष्यन् सङ्ग्रामादिपून् ज्वलनपिङ्गलः ॥ ६३ ॥

द्विष्कुर्वताभित्यादि—असौ कपिराटीदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।
कीदृशः । द्विष्कुर्वतां द्वौ वारावभिघातं कुर्वतां द्विपां चतुष्कुर्वन् चतुरो वारान्
नगैर्वृक्षैरभिघातं कुर्वन् । ‘द्विष्कुर्वन्निरिति कृत्वोऽर्थे । ८ । ३ । ४२।’ इति
विसर्जनीयस्य वा षत्वम् । अरीन् संग्रामाद्वहिष्करिष्यन् अपनेष्यामीति ।
‘इसुसोः सामर्थ्ये । ८ । ३ । ४४।’ इति विसर्जनीयस्य पक्षे षत्वम् । सामर्थ्य
चात्र व्यपेक्षा, नैकार्थीभावः । बहिष्करिष्यन्निति द्वयोः परस्पर-
व्यपेक्षत्वांत् ॥ ६३ ॥

ज्योतिष्कुर्वन्निवैकोऽसावाटीत्सङ्गरूपे परार्थवत् ।

तमनायुष्करं प्राप शक्तश्चुर्वनुष्करः ॥ ६४ ॥

ज्योतिरित्यादि—एकोऽपि ज्वलनपिङ्गलः ज्योतिष्कुवाङ्ग्रेव आङ्ग्रे
दीपयन्निव । पूर्ववत्पक्षे विसर्जनीयस्य षः । परार्थवत् दिव्य इव ।
परार्थो शुलोकः । ब्रह्माण्डसंबन्धिन ऊर्ध्वभागस्योत्कृष्टत्वात् । तत्र भव इति
‘परावराधमोत्तमपूर्वाच्च । ४ । ३ । ५।’ इति यत् । संख्ये संग्रामे आटीत् परिचक्राम ।
‘इट ईटि । ८ । २ । २८।’ इति सिचो लोपः । तं वानरमनायुष्करं प्राणाप-
हारिणें शक्तश्चनुरिन्द्रजित् प्राप प्राप्तवान् । धनुष्करः धनुः करे यस्येति ।
‘निलं समासेऽनुच्चरपदस्थस्य । ८ । ३ । ४५। इति षत्वम् ॥ ६४ ॥

अस्यन्नरुष्करान् वाणान् ज्योतिष्करसमद्युतिः ।

यशस्करो यशस्कामं कर्पि वाणीरताडयत् ॥ ६५ ॥

अस्यान्नत्यादि—वाणानरुष्करान् ब्रणजनकान् । ‘दिवाविभा-३।२।२१।’
इत्यादिनाटः । अस्यन् क्षिप्यन् । ज्योतिष्करसमद्युतिः ज्योतिष्करणशीलः
आदित्यः । ‘कृञ्जे हेतुताञ्छील्यानुलोम्येषु । ३।२।२०।’ इति टः । तेन तुल्य

इत्यर्थः । पूर्ववत् षत्वम् । यशस्करो यशोजननशीङ्गः । इन्द्रजित् यशस्कामं यशसि कामोऽस्येति तं कर्वि बाणैरवाकिरत् अताडयत् । ‘अतः कृकमि-कंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीज्वनव्ययस्य । ८ । ३ । ४६ ।’ इत्यनव्ययविसर्जनीयस्य सत्वम् ॥ ६५ ॥

चकाराऽधस्पदं नासौ चरन् वियति मारुतिः ।
मर्माविद्धिस्तमस्काण्डैर्विद्यमानोऽप्यनेकथा ॥ ६६ ॥

इति सत्वाधिकारः ।

चकारेत्यादि—असौ मारुतिर्वियति चरन् अधस्पदं पृथिव्यां पदं न चकार । अधस्पदभिति मयूरव्यंसकादित्वात्समासः ‘कस्कादिषु च । ८ । ३ । ४८ ।’ इति सत्वम् । मर्माणि विद्यन्तीति क्रिप । ‘नहिवृतिवृष्टिव्यधिहनिसहितनिषु क्षौ । ६ । ३ । ११६ ।’ इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ॥ ६६ ॥

इति सत्वाधिकारः ।

इतः प्रभृतिः ‘अपदान्तस्य मूर्धन्यः । ८ । ३ । ५५ ।’ इत्याधिकृत्याह—

पुरुहूतद्विषो धूर्षु युक्तान् यानस्य वाजिनः ।
आयूषि त्वक्षु निर्भिद्य प्राभञ्जनिरमोचयत् ॥ ६७ ॥

पुरुहूतेत्यादि—पुरुहूतद्विष इन्द्रजितः संबन्धिनो यानस्य रथस्य धूर्षु युक्तान् वाजिनः त्वक्षु चर्मसु निर्भिद्य प्राभञ्जनिर्मारुतिरायूषि जीवितानि अमोचयत् त्याजितवान् । धूर्षु त्वद्विति ‘आदेशप्रत्यययोः । ८ । ३ । ५९ ।’ इति षः । प्रत्ययसकारत्वात् । तत्र हि ‘इण्कोः’ इति वर्तते । परेण च णकारेण प्रत्याहारः । आयूषीति ‘नुमविसर्जनीय शर्व्यवायेऽपि । ८ । ३ । ५८ ।’ इति षत्वम् । ‘सहः सादः सः । ८ । ३ । ५६ ।’ इति छन्दोविषयत्वान्नोदाहृतम् । ततः ‘छन्दसि सहः । ३ । २ । ६३ ।’ इति षिवप्रत्ययस्य विधानात् । एवं च ‘पृतनाषाङ्गद्विष’ इति पाठान्तरमयुक्तम् ॥ ६७ ॥

सुषुपुस्ते यदा भूमौ रावणिः सारार्थं तदा ।

आहर्तुमन्यानशीष्टप्रोषितत्रासकर्कशः ॥ ६८ ॥

सुषुपुरित्यादि—ते यदा भूमौ सुषुपुः निषेतुः । आदेशसकारत्वात् ‘पूर्ववत् षत्वम् । तदा रावणिरन्यानशानाहर्तुमानेतुं सारथिमाशिषत् आदिष्ट-वान् । ‘सर्विशास्त्वार्तिभ्यश्च । ३ । १ । ५६ ।’ इत्यहः । ‘शास इद्भूह्लोः । ६ । ४ । ३४ ।’ इतीकारः । ‘शासिवासिधसीनां च । ८ । ३ । ६० ।’ इति षत्वम् ॥

सर्वः]

अधिकारकाण्डम् ।

(२६९)

प्रोषितत्रासः प्रोषिताद्रामादुपगतभयः । कर्कशश्च रौद्रः । प्रोषित इति यजादि-
त्वात्संप्रसारणम् । षत्वं पूर्ववत् ॥ ६८ ॥

प्रतुष्टुषुः पुनर्युद्धमासिषञ्जयिषुर्भयम् ।

आत्स्थौ रथमात्मीयानुत्सिसाहिषन्निव ॥ ६९ ॥

प्रतुष्टुषुरित्यादि—अक्षा आनीता इति पुनरपि युद्धं प्रतुष्टुषुः प्रस्तोतुमार-
ब्धुमिच्छुः सन् । ‘अज्ञनगमां सनि ।३।४।१६।’ इति दीर्घः । ‘सनाशंस-
मिक्ष उः ।३।२।१६।८।’ इत्युः । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ।२।३।६९।’
इति षष्ठीप्रतिषेधः । रथमात्स्थौ आरुडवान् । भयमासिषञ्जयिषुः संश्लेषयि-
त्तुमिच्छुः हनुमता । अत्र सौतेः सनि षत्वमूतसञ्ज्ञे त्वं ‘स्तौर्तिष्येरेव
षण्यभ्यासात् ।८।३।६१।’ इति अभ्यासासुत्तरस्य षत्वम् । आत्मीयान्
भूत्यानुत्सिसाहिषन्निव उत्साहितुमिच्छन्निव युध्यध्वमिति । सौती-
त्यादिना पत्वे प्राप्ते ‘सः स्विदिस्विदिसहीनां च ।८।३।६२।’ इति षकागस्य
सत्वम् ॥ ६९ ॥

बलान्यभिषिष्ठिक्षन्तं तरुभिः कपिवारिदम् ।

विजिगीषुः पुनश्चक्रे व्यूहं दुर्जयमिन्द्रजित् ॥ ७० ॥

बलानोत्यादि—कपिवारिदं कर्पि वारिदमिव । बलान्यभिषिष्ठिक्षन्तं
तरुभिः अभिषेकुं छादयितुमिच्छन्तम् । ‘स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यसस्य ।८।
३।६४।’ इत्यभ्याससकारस्य च षत्वम् । तमेवंविधं कपिम्
विजिगीषुर्विजेतुमिच्छुः इन्द्रजित् । ‘सँलिटोर्जेः ।७।१।५७।’ इति कुत्वम् ।
पुनर्व्यूहं बलसन्निवेशं दुर्जयाख्यं चक्रे । हस्त्यध्यादिसैनिकानां मण्डलस्थित्या
विरचयते ॥ ७० ॥

अभिष्यन्तः कर्पि क्रोधादभ्यषिष्ठन्निवात्मनः ।

सम्प्रहारसमुद्भूतै रक्तैः कोण्ठैररुच्युतैः ॥ ७१ ॥

अभिष्यन्त इत्यादि—राक्षसाः क्रोधादात्मनोऽभिष्यन्तः अन्तं नयन्तः ।
‘षोडन्तकर्मणि’ इत्यसाच्छतारे ‘ओतः श्यनि ।७।३।७।’ इत्योकारलोपः ।
‘उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्त्वञ्जाम् ।८।
३।६५।’ इति षत्वम् । सम्प्रहारसमुद्भूतैः रक्तैः कोण्ठैरषिदुष्णैः । अरु-
च्युतैः त्रणाभिर्गतैः कपिमभ्यषिष्ठन्निव अभिषिकवन्त इव । लङ्घ रूपम् ।
‘प्राकृ सितादुडवयवायेऽपि ।८।३।६३।’ इति षत्वम् ॥ ७१ ॥

सङ्ग्रामे तानविष्टास्पन् निषद्य पुरतोरणम् ।
अविषीदन्नवष्टब्धान् व्यष्टब्रान् नरविष्वणान् ॥ ७२ ॥

सङ्ग्राम इत्यादि—ये प्राणिनः अभिषिञ्चन्ति तान्नरविष्वणान् राक्षसान् । सङ्ग्रामे अधिष्ठास्यन् अस्वतन्त्रीकरिष्यन् कपिः । ‘उपसर्गात्सुनोतिसुवति-स्यतिस्तौतिस्तोमतिस्यासेनयसेधीसचसञ्चसञ्चाम् ।८।३।६५।’ इति षत्वम् । पुरतोरणं पुरद्वारं व्यष्टब्रान् आश्रितवान् । निषद्य तत्रैव पुरतोरणे स्थित्वा प्राणिनो मा प्रविष्टुरिति अविषीदन् विषादमगच्छन् । निषद्याविषीदन्निति ‘सदिरप्रतेः ।८।३।२६।’ इति षत्वम् । अवष्टब्धान् अविदूरान् । ‘अवाज्ञाल-स्वनाविदूर्ययोः ।८।३।६८।’ इति षत्वम् । व्यष्टब्रान्नादिंति अड्डव्यवाये वे: ‘स्तन्म्भेः ।८।३।६७।’ इति षत्वम् । ‘स्तन्म्भुन्मुन्मुरक्न्म्भुन्मुरक्न्म्भयः इनुश्च ।३।१।८२।’ इति स्नाप्रत्ययः । सशब्दायामभ्यवहारक्रियायां स्वनतिर्वतते । नराणां विष्वर्णा इति समाप्तः । नरान् सशब्दमभ्यवहरन्त इत्यर्थः । ‘वेश स्वनो भोजने ।८।३।६९।’ इति षत्वम् ॥ ७२ ॥

विषद्य राक्षसाः कुद्धाः शखजालमवाकिरन् ।

यन्न व्यषहतेन्द्रोऽपि कपिः पर्यषहिष्ट तत् ॥ ७३ ॥

विषद्यत्यादि—विषद्य सोङ्गा कपिचेष्टिभित्यर्थात् । ‘सातपदायोः । ८।३।११।’ इति प्रतिषेधे प्राप्ते ‘पारिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहस्रस्तु-सञ्चाम् ।८।३।७०।’ इति षत्वम् । राक्षसाः कुद्धाः शखजालमवाकिरन् विक्षिप्तवन्तः । लुडि रूपम् । यच्च शखजालमिन्द्रोऽपि न व्यषहत न सोढवान् । लुडि रूपम् । तत्कपिः पर्यषहिष्ट । लुडि रूपम् । सहेः ‘सिवादिनां वाड्डव्यवायेऽपि ।८।३।७१।’ इति विभाषा षत्वम् ॥ ७३ ॥

विष्यन्दमानरुधिरो रक्तविस्यन्दपाटलान् ।

विष्कन्तृन्परिघेणाहन्नविस्कन्ता कपिर्द्विषः ॥ ७४ ॥

विष्यन्दत्यादि—विष्यन्दमानरुधिरः क्षरदक्तः कपिः परिघेणाहन् ताडित-वान् । द्विषः शत्रून् । रक्तविस्यन्दपाटलान् रक्तसुतिलोहितान् ‘अनुविष्य-विनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु । ८।३।७२।’ इति विभाषा षत्वम्, रक्तस्याप्राणित्वान् । विष्कन्तृन् । विविवं स्कन्तुं गन्तुं शीलमेषामिति तृन् । अविस्कन्ता कपिः अगमनशील स्थानशील इत्यर्थः । ‘वे: स्कन्देरनिष्ट्रायाम् । ८।३।७३।’ इति विभाषा षत्वम् ॥ ७४ ॥

मेघनादः परिस्कन्दन् परिष्कन्दन्तमाश्वरिम् ।

अवधनादपरिस्कन्दं ब्रह्मपाशेन विस्फुरन् ॥ ७५ ॥

मेघनाद इत्यादि—मेघनाद इन्द्रजित परिस्कन्दन् परितो अमन् । परिष्कन्दन्तं परिश्रमन्तमरि कर्पि ब्रह्मपाशेन ब्रह्मणा दत्तेन पाशेन आशु शीघ्रमवश्वात् बद्धवान् । लिङ्गे आप्रत्यये रूपम् । ‘परेश्च । ८।३।७४।’ इति वा षत्वम् । अपरिस्कन्दम् अप्राच्यभरतवान् । तेन ‘परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु’ इति निमातनम् । विस्फुरन् द्वेषादुद्धच्छिन्त्यर्थः । ‘स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्विभ्यः । ८।३।७६।’ इति विभाषा षत्वम् ॥ ७५ ॥

विस्फुलद्विगृहीतोऽसौ निष्फुलः पुरुषाऽशनैः ।

विष्कम्भिरुं समर्थोऽपि नाऽचलद्व्रह्मगौरवात् ॥ ७६ ॥

विस्फुलद्विरित्यादि—असौ कविः पुरुषाशनैः राक्षसैः विस्फुलद्विः हर्षा-च्चलद्विगृहीतः । निष्फुलः सतेजाः । निष्फुलति दीप्यतीति पचाद्यच् । पूर्ववद्विभाषा षत्वम् । विष्कम्भिरुं व्यापारितुं समर्थोऽपि ब्रह्मगौरवान्नाचलत् न चलितः । मा भून्मोघो त्रास्तः पाश इति । ‘विः त्वं भ्रातेर्नित्यम् । ८।३।७७।’ इति षत्वम् ॥ ७६ ॥

कृषीद्वं भर्तुरानन्दं मा न प्रोद्वं द्रुतं वियत् ।

वानरं नेतुमित्युच्चैरिन्द्रजित्प्रावदत् स्वकान् ॥ ७७ ॥

कृषीद्वमित्यादि—भर्तुः रावणस्य आनन्दं कृषीद्वं कुरुध्वम् । लिङ्गे रूपम् । अतो वानरं द्रुतं नेतुं वियदाकाशं मा न प्रोद्वं मा नोत्पतिष्ठ । माङ्गे लुड् । ‘इणः षीधवंलुडलिटं घोऽङ्गात् । ८।३।७८।’ इति धंकारस्य मूर्धन्यादकारः । इत्यैवमुच्चैरिन्द्रजित् स्वकान् भृत्यान् प्रावदत् । वदेलिङ्गे रूपम् ॥ ७७ ॥

गतमङ्गुलिषङ्गं त्वां भीरुषानादिहाऽगतम् ।

खादिष्याम इति प्रोचुर्नयन्तो मारुतिं द्विषः ॥ ७८ ॥

गतमित्यादि—अङ्गुलीनां सङ्गः अङ्गुलिषङ्गस्तं गतं प्राप्तम् । हस्तप्राप्तमित्य-र्थः । ‘समासेऽङ्गुले: सङ्गः । ८।३।८०।’ इति षत्वम् । भीरोः कातरस्य यत् स्यात् तस्माद्वीरुषानादिहागतम् । ‘भीरोः स्थानम् । ८।३।८१।’ इति षत्वम् । खादिष्याम इति प्रोचुः । द्विषो राक्षसा मारुतिं नयन्तो नेष्यन्तः । वर्तमान-सामीप्ये भविष्यति लद् ॥ ७८ ॥

आग्नीषोमादिसंस्थेषु ज्योतिषोमाऽदिषु द्विजान् ।

योऽरक्षीत्तस्य दूतोऽयं मानुषस्येति चावदन् ॥ ७९ ॥

अग्नीत्यादि—अग्नीषोमादिसंस्थेषु सहशेषु ज्योतिषोमादिषु यो द्विजान-
रक्षीत् तस्य मानुषस्यायं दूत इति चावदन् । नयन्तो द्विषः । ‘अग्नेः स्तुवत्तोम-
सोमाः । ८ । ३ । ८२ ।’ ‘ज्योतिरायुषः स्तोमः । ८ । ३ । ८३ ।’
इति षत्वम् ॥ ७९ ॥

नासां मातृष्वसेयथाश्च रावणस्य लुलाव यः ।

मातुः स्वसुश्र तनयान् खरादीन्निजघान यः ॥ ८० ॥

नासामित्यादि—रावणस्य या मातुः स्वसा भगिनीं सा मातृष्वसा ।
‘मातृपितृभ्यां स्वसा । ८ । ३ । ८४ ।’ इति षत्वम् । तस्या अपत्यं मातृष्व-
सेवी । ‘मातृष्वसुश्रच । ४ । १ । १३४ ।’ इति ठगन्तलोपौ । तस्या यो नासां
लुलाव । मातुः स्वसुश्र तनयान् खरादीन्निजघान । ‘मातुः पितुभ्यांमन्यतर-
स्याम् । ८ । ३ । ८५ ।’ इति षत्वाभावपक्षे ‘विभाषा स्वसृपत्योः । ६ । ३ । ८४ ।’
इति षष्ठ्या अलुक् ॥ ८० ॥

प्रादुःषन्ति न संत्रासा यस्य रक्षःसमागमे ।

तस्य क्षत्रियदुःषूतेरयं प्रणिधिरागतः ॥ ८१ ॥

प्रादुरस्त्यादि—यस्य रक्षःसमागमे संत्रासाः भयानि न प्रादुःषन्ति न
प्रादुर्भवन्ति । ‘दपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्चपरः । ८ । ३ । ८७ ।’ इति दुःशब्दादुच्चर-
स्याप्तिसकाररस्य ‘शसोरङ्गोपः । ६ । ४ । १११ ।’ इत्यलोपे कृते षत्वम् । प्रादुः-
सकाररस्य च षुत्वम् । तस्य क्षत्रियदुःषूतेः दुष्पुत्रस्यायं प्रणिधिरागत इति
चावदन् नयन्तः । सूयत इति सूतिः । दुर्निन्दायामिति । सूतेः सकारस्य
‘सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः । ८ । ३ । ८८ ।’ इति षत्वम् ॥ ८१ ॥

दृष्ट्वा सुषुप्तं राजेन्द्रं पापोऽयं विषमाशयः ।

चारकर्मणि निष्णातः प्रविष्टः प्रमदावनम् ॥ ८२ ॥

दृष्टेत्यादि—राजेन्द्रं रावणं, दृष्ट्वा प्रमदावनं प्रविष्टः । सुषुप्तं गाढ-
निद्रम् । ‘वचिस्वपियजादीनां किति । ६ । १ । १५ ।’ इति सम्प्रसारणम् ।
पापोऽयं विषमाशयः । ‘सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः । ८ । ३ । ८१ ।’ इति षत्वम् ।
चारकर्मणि निष्णातः कुशलः । ‘निनदिभ्यां स्नानेः कौशले । ८ । ३ । ८१ ।’ इति
षत्वम् ॥ ८२ ॥

अथ पञ्चमिः कुष्ठकम् ।

सुप्रतिष्णातसूत्राणां कपिष्ठलसमत्विषाम् ।

स्थितां वृत्ते द्विजातीनां रात्रावैशत मैथिलोम् ॥ ८३ ॥

सुप्रतिष्णातसूत्राणां कपिष्ठलसमत्विषामि ग्रन्थतोऽर्थतत्र निश्चितानि सूत्राणि तेषां सुप्रतिष्णातसूत्राणाम् । ‘सूत्रं प्रतिष्णातम् । ८ । ३ । ९० ।’ इति निपातनम् । कपिष्ठलसमत्विषां कपिष्ठलो नाम द्विर्जप्तभो गोत्रप्रवर्तकः । ‘कपिष्ठलो गोत्रे । १०३।९१’ इति साधुः । वत्तुल्यतेजसां द्विजातीनां वृत्ते चरिते स्थितां मैथिलीं रात्रौ ऐक्षत ॥ ८३ ॥

कीदृशीमित्याह—

सर्वनारीगुणैः प्रष्टां विष्ट्रस्थां गविष्टिगम् ।

शायानां कुष्ठले तारां दिविष्टामिव निर्मलाम् ॥ ८४ ॥

सर्वत्यादि—यावन्तो नारीगुणाः तैः प्रष्टाम् अग्रगामिनीम् । ‘प्रष्टोऽग्रगामिनी । १०३।९२’ इति साधुः । विष्ट्रस्थामासनस्थाम् । ‘वृक्षासनयोर्विष्ट्रः । १०३।९३’ इति साधुः । गविष्टिरां वाचि स्त्रियाम् । ‘गवियुधिभ्याम् स्त्रियः । १०३।९५’ इति षत्वम् । अस्मादेव वचनात् सप्तम्या अलुक् । कुष्ठले शायानां कोः स्थले भूतले शुद्धे । ‘विकुशमिदरिभ्यः स्थलम् । १०३।९६’ इति षत्वम् । दिविष्टां दिवि तिष्ठतीति ‘सुपि स्थः । ३।२।४’ इति कः । ‘तप्तुरुषे कृति बहुलम् । ६।३।१४।’ इति सप्तम्या अलुक् । गगनस्थरं वारामिव निर्मलाम् । ‘अम्बास्वगोभूमिसन्ध्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क-हृगुमिज्जपरमेवार्हार्दिव्यग्रिभ्यः स्थः । १०३।९७।’ इति षत्वम् ॥ ८४ ॥

सुषाम्नीं सर्वतेजस्मु तन्वीं ज्योतिष्टमां शुभाम् ।

निष्टप्नतीमिवात्मानं ज्योतिःसात्कुर्वतीं वनम् ॥ ८५ ॥

सुषाम्नीमित्यादि—शोभनं साम यसा इति विगृहा ‘अन उपधालो-पिनोऽन्यतरस्थाम् । ४।१।२८।’ इति ढीप् । ‘सुषामादिषु च । १०३।९८।’ इति षत्वम् । सुष्ठु प्रियंवदाभिर्यथः । तन्वीं कृशाम् । शुभां कल्याणीम् । सर्वतेजस्मु ज्यांविष्टमाम् अतिशयेन ज्योतिष्मतीम् । ‘हस्तात्तादौ तद्विते । १०३।१०।१।’ इति षत्वम् । एवं च कूत्वा निष्टप्नतीमिवात्मानं सकृज्ज्वर-सन्तीमिवात्मानम् । ‘निसस्तपतावनासेवनं । १०३।१०।२।’ इति षत्वम् । वनं ज्योतिःसात्कुर्वतीं अज्योतिज्योतिः कुर्वाणाम् । कातस्न्येन दीपयन्तीमि-

कात्स्न्ये सातिप्रत्ययः । तत्र ‘नुभविसर्जनयिशब्द्यायेऽपि । ८।३।५८।’ इति प्राप्तस्य षत्वस्य ‘सात्पदाद्योः । ८।३।११।’ इति प्रतिषेधः । युप्मदित्यादि—नोदाहृतं छान्दसत्वात् ॥ ८५ ॥

मधुसाङ्गूतकिञ्चलकपिञ्चरभ्रमराकुलाम् ।

उल्लसङ्गूत्कुसुमां पुण्यां हेमरत्नलतामिव ॥ ८६ ॥

मध्वित्यादि—मधुसाङ्गूतकिञ्चलकं कात्स्न्येन मधुतामापन्नम् यत्किञ्चलकं पुण्यकेसरं तन्मधुसाङ्गूतकिञ्चलकम् । ‘आदेशप्रत्यययोः । ८।३।५९।’ इति प्राप्तस्य पूर्ववत्प्रतिषेधः । तेन पिञ्चराः पिङ्गलाः ये भ्रमराः तैराकुलाम् । उल्लसङ्गूत्कुसुमां चलतपुष्पाम् हेमरत्नलतामिव । यथा हेमरत्नमर्यी कल्पतरुहृतां पुण्यां पवित्रां तद्वच्चामपीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

विलोचनाम्बु मुञ्चन्तीं कुर्वाणां परिसेसिचाम् ।

हृदयस्येव शोकाऽग्निसंतप्तस्योत्तमव्रताम् ॥ ८७ ॥

विलोचनेत्यादि—विलोचनाम्बु अशु मुञ्चन्तीं विक्षिपन्तीम् । हृदयस्य शोकाग्निसंतप्तस्य परिसेसिचाम् भृशं निर्वाणमिव कुर्वाणामैक्षतोति पूर्वेण सम्बन्धः । सिंचेर्यडन्तान् खीलिङ्गे भावे अकारप्रत्ययः । ‘उपसर्गांत्सुनोतिसुवतिस्यीतस्तौतिस्तोभतिस्यासेनयसेधसिचसञ्ज्ञम् । ८।३।६५।’ इत्यभ्यासव्यवायेऽपि प्राप्तस्य षत्वस्य ‘सिंचो यडि । ८।३।११२।’ इति प्रतिषेधः । उत्तमब्रतां पतिव्रतात्वात् ॥ ८७ ॥

दृष्टा तामभनगृवक्षान्दिवो द्वन्परिसेधतः ।

परितस्तान्विचिक्षेप कुद्धः स्वयमिवानिलः ॥ ८८ ॥

दृष्ट्यादि—तां दृष्टा वृक्षानभनक् चूर्णितवान् । द्विषः शत्रून् पारसेधतः आगच्छत्कं ब्रन्ह हिंसन् । पूर्ववत्प्राप्तस्य ‘संघर्तेगतौ । ८।३।१३।’ इति प्रतिषेधः । परितश्च समन्तादुंद्रिचिक्षेप उन्मूलितवान् । लिटः संयोगादित्वादकित्त्वे गुणः । कुद्धः स्वयमिव साक्षादिवानिलः ॥ ८८ ॥

अप्रतिस्तब्धविक्षान्तमनिस्तब्धो महाहवे ।

विसोदवन्तमस्ताणि व्यतस्तम्भद्रनध्वनिः ॥ ८९ ॥

अप्रतीत्यादि—घनध्वनिमेघनादः अनिस्तवशेऽनभिभूतः अप्रतिस्तब्धविक्षान्तम् अनभिभूतविक्रमं कपिम् । ‘स्तन्मेः । ८।३।६७।’ इति प्राप्तस्य षत्वस्य ‘प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च । ८।३।१४।’ इति प्रतिषेधनिषातनम् । अस्ताणि महा-

बहुधेत्यादि—वानरद्विषो राक्षसा ऊचुरिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कृष्णशः किमूचुरियाह—बहुधा भिन्नभर्मणं इति । यानि कालान्तरे प्राणहराणि भर्मणी तानि बहुधा भिन्नानि येषामिति बहुत्रीहिः । अटप-वर्गसमुदायस्य व्यवधानात् ‘अटकुप्पाङ्गनुमूव्यवायेऽपि ॥१४॥२॥’ इति णत्वम् । खरणसादयः खरस्येव नासिकाय यस्येति । ‘अच्चनासिकायाः संज्ञायां नसं चास्यूलात् ॥१४॥११॥’ इत्तच् नसादेशश्च । ‘पूर्वपदात्संज्ञायामगः ॥१४॥११॥’ इति णत्वम् । खरणसादयो राक्षसाः । वनस्यामे अग्रेवणम् । राजदन्तादि-त्वात्परनिपातः । ‘वनं पुरगामिश्रकासिग्रकासारिकाकोटराप्रेभ्यः ॥१४॥४॥’ इति णत्वम् । प्रतीच्यां दिशि यद्वनं तस्य वनस्यामे उपारि वर्तमाने चन्द्रमण्डले अभातसंज्ञायामित्यर्थः ॥ १३ ॥

निर्वणं कृतशूद्यानमनेनाऽप्रवणाऽऽदिभिः ।

देवदारुवनामिश्रैरित्यूचुर्वानरद्विषः ॥ १४ ॥

निर्वणमित्यादि—उद्यानं संनिवेशानिशेषः निर्वणं वृक्षरहितम् अनेन कपिना कृतम् । आप्रवणादिभिरुपलक्षितम् । उभयद्वापि ‘प्रनिरन्तःशरे-शुक्लश्वास्त्रकर्ष्यदिरपीयूक्षाभ्योऽसञ्जायामपि ॥ ८ ॥ ५ ॥’ इति णत्वम् । देवदारुवनामिश्रैः । ‘विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥ ८ ॥ ४ ॥ ६ ॥’ इति णत्वं न अवावि । ‘द्वघक्षरत्यक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्’ इति वचनात् । इत्येवमूचुः ॥१४॥५॥

उपास्थिष्ठत सम्प्रीताः पूर्वाङ्गे रोषवाहणम् ।

राक्षसाः कपिमादाय पर्ति रुधिरपायिणाम् ॥ १५ ॥

उपेत्यादि—ते राक्षसाः पतिमुपास्थिष्ठत उपागताः । दृष्टिपथं गता इत्यर्थः ॥ ‘उपाहेवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्’ इति संगतिकरणे द्वारु । ‘स्थाघोरित्वं ॥ १ ॥ २ ॥ १७ ॥’ सम्प्रीता हृष्टाः तेषामनुज्ञातप्रवेशन्वात् । पूर्वाङ्गे प्रत्यूषसि । ‘अहोऽदन्तात् ॥१४॥७॥’ इति णत्वम् । रोषवाहणं कपिमादाय । रोषस्यासनीकृतम् । ‘वाहनमाहितात् ॥१४॥८॥’ इति णत्वम् । रोषस्य तवाधीयमानत्वात् । पर्ति रुधिरपायिणां राक्षसानाम् । ‘यानं देशे ॥१४॥९॥’ इति णत्वम् ॥ १५ ॥

सुरापाणपरिक्षीबं रिपुदर्पहरोदयम् ।

भरस्त्री वाहिनं प्रापुः साऽविष्कारं सुरापिणः ॥ १६ ॥

सुरेत्यादि—सुरापाणात्परिक्षीबं मत्तं रावणम् । ‘वा भावकरणयोः ॥१४॥१०॥’ इति ‘णत्वम् । रिपुदर्पहर उदयो वृद्धिर्यस्य तम् । परस्त्रियं

वाहयितुमुपभोक्तुं शीलं यस्य तं परब्रीवाहिनम् । 'श्रातिपदिकान्तनुम्-
विमक्षिषु च । १४।११।' इति णत्वाभावः पाक्षिकः । प्रापुः सुष्टुं निकटो-
कृताः । साविष्काराः साहङ्काराः । सुरापिणः सुरापैर्युक्ताः । सुरां
पिबन्तीति 'गापोष्टक । ३।२।१।' इति टक्क । ते येषां सन्तीति मत्त्वर्थीयः । 'एका-
जुत्तरपदे णः । ८।४।१२।' इति णत्वम् । उत्तरस्य प्रातिपदिकान्तस्यै-
कान्त्वात् ॥ ९६ ॥

संघर्षयोगिणः पादौ प्रणेमुखिदशद्विषः ।

प्रहिष्वन्तो हनूमन्तं प्रमीणन्तं द्विष्वन्मतीः ॥ ९७ ॥

समित्यादि—संघर्षयोगिणः न्पर्वयोगिनः । 'कुमति' च । १४।१३।'
इति णत्वम् । ते अन्योऽन्याभिभवेच्छया विदशद्विषोः रावणस्य पादौ प्रणेमुः ।
'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य । १४।१४।' इति णत्वम् । हनूमन्तं प्रहि-
ष्वन्तः ढौकयन्तः । द्विष्वन्मतीः शत्रुवुद्धीः प्रमीणन्तम् अभिभवन्तम् । 'मीच
हेंसायाम ।' कैयादिकः । 'हिनुमीना । १४।१५।' इति णत्वम् ॥ ९७ ॥

प्रवपाणि शिरो भूमौ वानरस्य वनचित्तिदः ।

आमन्त्रयत संकुद्धः समिति रक्षसां पतिः ॥ ९८ ॥

प्रवपाणीत्यादि—अत्य वानरस्य वनचित्तिदः शिरो भूमौ प्रवपाणि
छित्त्वा पातयामि । 'आनि लोट । १४।१६।' इति णत्वम् । वपिरत्र
पातने वर्तते । संकुद्धः रक्षसां पतिः स्वामी समिति लमूहम् आमन्त्रयत
आपितवान् ॥ ९८ ॥

प्रण्यगादीत् प्रणिघ्नन्तं वनः प्रणिनदन्निव ।

ततः प्रणिहितः स्वार्थं राक्षसेन्द्रं विभीषणः ॥ ९९ ॥

प्रण्यगादीदित्यादि—तत उत्तरकालं विभीषणो राक्षसेन्द्रं प्रणिघ्नन्तं
हन्तुमारभमाणं प्रण्यगादीत् वक्तुं प्रवृत्तः । वन इव प्रणिनदन् गर्जेत् । स्वार्थं
राक्षसेन्द्रस्य प्रणिहितोऽव्रहितमनाः । सर्वत्र 'नर्गदनदपतपद्युमास्यति-
हन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशम्यतिचिन्तोतिदेविषु च । १४।१७।'
इति णत्वम् ॥ ९९ ॥

प्रणिशाम्य दशग्रीव ! प्रणियातुमलं रुषम् ।

प्रणिजानीहि हन्यन्ते दूता दोषे न सत्यपि ॥ १०० ॥

प्रणिशाम्यत्यादि—हे दशग्रीव ! प्रणिशाम्य रोषं त्यन । लोटि श्यनि
रुषम् । 'शमामषानां दीर्घः इयनि । ३।७४।' इति दीर्घः । रुषं प्रणियातुमलं त्

किंचित् । पूर्ववण्णत्वम् । प्रणिजानीहि अवगच्छ । सत्यपि दोषे न हन्यन्ते
दूता इति । जानाते: शेषधातोरुपदेशावस्थायां अक्खाद्यषान्तत्वात् । ‘शेषे
विभाषा कखादाववान्त उपदेशे । ॥४॥१८॥’ इति णत्वम् ॥ १०० ॥

प्राणयन्तमर्हं प्रोचे राक्षसेन्द्रो विभीषणम् ।

प्राणिणिषुर्न पापोऽयं, योऽभाङ्ग्कीत्प्रमदावनम् ॥ १०१ ॥

प्राणयन्तमित्यादि—आरि कर्पि यः प्राणयति जीवति तं प्राणयन्तं
विभीषणम् । ‘श्वस प्राणने । अन च’ इत्यस्य रूपम् । ‘अनितेः । ॥४॥१९॥’
इति णत्वम् । प्रोचे राक्षसेन्द्रः । न प्राणिणिषुः न जीवितुमिच्छुरयं पापः ।
‘उम्मै साम्यासस्य । ॥४॥२१॥’ इति णत्वं द्वयोरपि । योऽभाङ्ग्कीत् भगवान्
प्रमदावनम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः ॥ १०१ ॥

प्राघानिषत रक्षांसि येनाऽप्नानि वने मम ।

न प्रहण्मः कथं पापं वद् पूर्वापकारिणम् ॥ १०२ ॥

प्राघानिषतेत्यादि—मम आप्नानि अक्षप्रभूतीनि येन वने प्राघानिषत
मारितानि । कर्मणि लुड् । चिष्पादिद् । ‘हो हन्तेऽप्निषेषु । ॥३॥५४॥’ इति
घटवम् । तपरपरिच्छिन्नाकारपूर्वस्य नकारस्य ‘हन्तेरत्पूर्वस्य । ॥४॥२२॥’
इति णत्वं न भवति । तं पूर्वापकारिणं पापं कथं न प्रहण्मः मारयाम इति वद्
कथय । ‘वमोर्वा । ॥४॥२३॥’ इति णत्वम् ॥ १०२ ॥

वेइमान्तर्हणनं कोपान्मम शतोः करिष्यतः ।

मा कार्षीरन्तरयणं प्रयाणार्हमवेह्यमुम् ॥ १०३ ॥

वेशमेत्यादि—शत्रोवेशमान्तः गृहमध्य एव हननं कोपान्मम करिष्यतः ॥
‘अन्तरदेशे । ॥४॥२४॥’ इति नकारस्य णत्वम् । हननस्याभावरूपस्यादेशत्वात् ॥
अन्तरयणमन्तरायणं विधातं मा कार्षीः ‘अयनं च । ॥४॥२५॥’ इति णत्वम् ।
प्रयाणार्ह दीर्घत्रस्थानार्हममुमवेहि अवगच्छ । ‘कृत्यचः । ॥४॥२९॥’ इति णत्वम् ॥
अच उत्तरस्य नकारस्य कृत्यत्वात् ॥ १०३ ॥

प्रहीणजीवितं कुरुये न शत्रुमुपस्थितम् ।

न्यायाया अपि ते लक्ष्म्याः कुर्वन्त्याशु प्रहापणम् ॥ १०४ ॥

प्रहीणेत्यादि—शत्रुमुपस्थितं प्रहीणजीवितं ये न कुर्युः । जहातेः
‘ओदितश्च । ॥२॥४५॥’ इति निष्ठादेशनकारस्य पूर्ववण्णत्वम् । ते न्यायाया
अपि कुलक्रमादागताया अपि लक्ष्म्याः प्रहापणं त्याजनं कुर्वन्ति ‘गोर्विभा-
षा । ॥४॥३०॥’ इति णत्वम् ॥ १०४ ॥

कः कृत्वा रावणाऽमर्षप्रकोपणमवद्यधीः ।

शक्तो जगति शक्रोऽपि कर्तुमायुःप्रगोपणम् ॥ १०५ ॥

कः कृत्वेत्यादि—अवद्यधीः योऽबुद्धिः रावणामर्षस्य प्रकोपणमभिवृद्धिं
कृत्वा आयुःप्रगोपणं कर्तु शक्रोऽपि कः शक्तः । ‘हलश्चेजुपघात् ।८।३।३१।’
इति णत्वम् । कुपगुपयोहलन्तयोरिगुपघत्वात् ॥१०५ ॥

वनान्तप्रेङ्गणः पापः फलानां परिणिसकः ।

प्रणिक्षिष्यति नो भूयः प्रणिन्द्यास्मान्मधून्ययम् ॥ १०६ ॥

वनेत्यादि—प्रेङ्गणे गच्छतीति प्रपूर्वादिङ्गः कर्तीर ल्युट् । वनान्तस्य वन-
समीपस्य प्रेङ्गणः । ‘इजादेः सनुमः ।८।४।३।’ इति णत्वम् । फलानां परि-
णिसकः भक्षयिता । ‘णिसि चुम्बने’ इत्यस्य रूपम् । अस्मान् प्रणिन्द्य तिर-
खृत्य । भूयः पुनरप्यथं मधूनि नोऽस्माकं प्रणिक्षिष्यति भोक्षयति । ‘णिक्ष
चुम्बने’ इत्यस्य रूपम् । ‘वा निसनिक्षनिन्दाम् ।८।३।३।’ इति णत्वम् ॥१०६॥

हरेः प्रगमन नास्ति न प्रभानं हिमद्वुहः ।

नाऽतिप्रवेपनं वायोर्मया गोपायिते वने ॥ १०७ ॥

हरेरित्यादि—मया गोपायिते रक्षिते वने हरेरिन्द्रस्यापि चन्द्रस्य वा
प्रगमनं संचारो नास्ति । हिमद्वुहः आदित्यस्य न प्रभानं न प्रकर्षेण दीप्तिः ।
वायोर्नातिप्रवेपनं भन्दगमनम् । तदनेन भग्रमित्यर्थात् । ‘कृत्यचः ।८।४।२।’
इति प्राप्तस्य णत्वस्य ‘न भाभूपूकमिगमिष्यायीवेपाम् । ८।४।३।’ इत्या-
दिना प्रतिषेधः ॥ १०७ ॥

दुष्पानः पुनरेतेन कपिना भृङ्गसम्भृतः ।

प्रनष्टविनयेनाऽयः स्वादुः पुष्पाऽसवो वने ॥ १०८ ॥

दुष्पान इत्यादि—पुनरेतेन प्रनष्टविनयेन कपिना पुष्पासवो दुष्पानः
दुःखेन पाप्यत इति ‘आतो युच् ।८।३।१२।’ षात्पदान्तात् । ८।४।३।’
इति णत्वस्य प्रतिषेधः । भृङ्गसम्भृतो अमरसंचितः । प्रनष्ट इति ‘नशः
शान्तस्य ।८।४।३।’ इति प्रतिषेधः । अय्यः श्रेष्ठः ॥ १०८ ॥

रोषभामसुखेनैवं क्षुभ्रतोक्ते पुवङ्गमः ।

ग्रोचे सानुनयं वाक्यं रावणं स्वार्थीसद्देय ॥ १०९ ॥

इति णत्वाधिकारः ।

रोषेत्यादि—रोषभीमसुखेन इति ‘पद्वयवायेऽपि । ८।४।३८।’
इति णत्वप्रतिषेधः, भीमसुख इत्यनेन निमित्तनिमित्तिनोर्व्यवधात्तात् ।
‘क्षुभ्नादिषु च ।८।४।३९।’ इति णत्वप्रतिषेधः । एवमुके सति शुब्दङ्गमः
रावणं प्राचे वकुं प्रवृत्तः । वाक्यं वद्यमाणं सानुनयम् अनुकूलम् । किमर्थं
स्वार्थत्य सिद्धये । स्वार्थश्च सीताप्रत्यर्पणम् ॥ १०९ ॥ इति णत्वाधिकारः ।

इतः प्रभृति प्रकीर्णकश्लोकानाह—

दूतमेकं कर्पि बद्धमानीतं वेशम पश्यतः ।

लोकत्रयपतेः क्रोधः कथं तृणलघुस्तव ॥ ११० ॥

दूतमित्यादि—दूतं संदेशस्य हारकं एकमद्वितीयम् बद्धम् अत्वतन्त्रीकृतं
वेशमानीतं पश्यत इति सर्वमेतत्र रोषकारणम् । अतो लोकत्रयपतेस्तत्वायं
तृणवल्लघुसारः कथं कोपः ॥ ११० ॥

अग्न्याहितजनप्रह्वे विजिगीषापराङ्गमुखे ।

कस्माद्वानीदिनिष्णस्य संरम्भस्तव तापसे ॥ १११ ॥

अग्नीत्यादि—अग्न्याहितजनप्रह्वे आहिताग्नौ जने प्रवणे । वाहिताग्न्या-
दिषु पूर्वनिपातः । तस्मिन् विजिगीषापराङ्गमुखे त्यक्तराज्यत्वात् तापसे रामे ।
‘तपःसहस्राभ्यां विनीनी ।५।२।१०२।’ ‘अग्न् च ।५।२।१०३।’ इत्यग्न् ।
नीतिनिष्णस्य तव । नीतौ पटुप्रज्ञस्य कस्माद्वेतोः संरम्भः रोषः ॥ १११ ॥

न सर्वरात्रकल्याण्यः ख्यियो वा रत्नभूमयः ।

र्य विनिर्जित्य लभ्यन्ते कः कुर्यातेन विग्रहम् ॥ ११२ ॥

नत्यादि—य विनिर्जित्य सर्वरात्रं कल्याण्यः ख्यियो न लभ्यन्ते । सर्वाश्च
ता रात्रयश्चेति ‘पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवेक्लाः समानाधिकरणेन
।२।१।४९।’ इति समासः । ‘अहःसर्वैकदेशसङ्घातपुण्याच्च रात्रेः ।५।४।८।’
इत्यच्च । सर्वरात्रं कल्याण्य इति सः । वा रत्नभूमयः रत्नाकराः रत्नानि
भूमयश्चेति सः । कः तेन सह विग्रहं कुर्यात् सन्विरेव युक्तः ॥ ११२ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

संगच्छ सामसुग्रीवौ भुवनस्य समृद्धये ।

रत्नपूर्णाविवाम्भोधीं हिमवान् पूर्वपश्चिमौ ॥ ११३ ॥

संगच्छत्यादि—यथा रत्नपूर्णाविवाम्भोनिधीं पूर्वपश्चिमौ भुवनस्य समृद्धये
हिमवान् संगतवान् तथा त्वमपि रामसुग्रीवौ भुवनस्य समृद्धये संगच्छ

सर्गः]

आधिकारकाण्डम् ।

संगतिं कुरु । सकर्मकल्पान् ‘समो गम्भृच्छिभ्याम् ।१३२९’ इति तड़ न
भवति ॥ ११३ ॥

तत्र संततं परदारार्पणेनैवेति दर्शयन्नाहे—

सुहृदौ रामसुग्रीवौ किंकराः कपियूथपाः ।

परदारार्पणेनैव लभ्यन्ते मुञ्च मैथिलीम् ॥ ११४ ॥

सुहृदावित्यादि—रामसुग्रीवौ सुहृदौ लभ्येते । ‘सुहृद्दूर्दौ मित्रा-
मित्रयोः ।३४१५०’ इति निपातनम् । तत्पीतिलाभात् किङ्कस लभ्यन्ते ।
किं कुर्वन्तीति ‘दिवविभानिशात्रभास्करान्तानन्तादिवहुनान्दीकिंलिपिलि-
विवलिभक्तिकर्त्तुचित्रक्षेत्रसङ्ख्याजङ्गावाह्यर्थतद्वत्तुरुरुषु ।३४२२६’ इति टः ।
कपियूथपा नीलप्रभृतयः । तस्मान्मुञ्च मैथिलीमिते ॥ ११४ ॥

किंच सीताप्रत्यर्पणात् पुरुषार्थप्राप्निरिति दर्शयन्नाह—

धर्मं प्रत्यर्पयन् सीतामर्थं रामेण मित्रात्मम् ।

कामं विश्वासवासेन सीतां दत्त्वाऽऽप्नुहि त्रयम् ॥ ११५ ॥

धर्मप्रित्यादि—सीतां प्रत्यर्पयन् धर्मम् । अवर्मविरतेः अर्थम् । रामेण
मित्रात्मम् । सर्वलाभानामर्थसंपत्तिलाभस्य महत्वान् । विश्वासवासेन
रामविश्वासपूर्वकेणावस्थानेन कामम् । अतः सीतां दत्त्वा आप्नुहि
लभस्व । त्रयं त्रिवर्गं त्रयोऽत्रयत्रा अम्येति । ‘द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्ञा ।
४३१४३२’ ॥ ११५ ॥

रिपुरेवास्तु किं तेन भित्रीकृतेन, न वासौ शक्तोऽप्कर्तुभिति चेदाह—

विराधताडकावालिकबन्धखरदूषणैः ।

न च न ज्ञापितो याद्वामारीचेनापि ते रिपुः ॥ ११६ ॥

विराधेत्यादि—याद्वगसौ रिपुः ताद्विरावादिभिः न च न ज्ञापितः
तत्र । अपि तु ज्ञापित एवत्यर्थः । तस्मात्तेन सह मैत्री युक्ता न विग्रह इति
भावः । याद्वगिति ‘त्यद्वादिषु दशोऽनालोचने कञ्च ।३४२६०’ इति चकारात्
किन् । ‘आ सर्वनाशः ।३४३१’ इत्याकारादेशः ॥ ११६ ॥

खरादीन् व्यापादयता तेनैव वैरकारणमाचरितं न मयेति चेदाह—

खराऽदिनिधनं चापि मा मंस्या वैरकारणम् ।

आत्मानं रक्षितुं यस्मात्कृतं तत्र जिगीषया ॥ ११७ ॥

खरेत्यादि—खरादिनिधनं चापि, वैरकारणं मा मंस्थाः मा ज्ञासीः । लुड्डि
रूपम् । यस्मादात्मानं संरक्षितुम् तत् खरादिनिधनं कृतं, न तु जिगीषयड
विजेतुमिच्छया ॥ ११७ ॥

ततः क्रोधाऽनिलाऽपातकम्प्राऽस्याऽम्भोजसंहतिः ।

महाहद् इव क्षुभ्यन् कपिमाह स्म रावणः ॥ ११८ ॥

तत् इत्यादि—ततः कपिवाक्यानन्तरं क्रोधोऽनिल इव तस्यापातेन संश्लेषण
कम्प्या कम्पनशीला आस्थ्याम्भोजानां मुखपद्मानां संहतिर्यस्य स एवं महाहृद
इव क्षुभ्यन् चलन् । दिवादित्वाच्छयन् ॥ ११८ ॥

हत्राक्षसंयोधस्य विरुग्णोद्याशाखिनः ।

दूतोऽस्मीति ब्रुवाणस्य किं दूतसदृश तव ॥ ११९ ॥

हतेत्यादि—हताः राक्षसंयोधाः अक्षप्रभृतयो येन । विरुग्णा भग्नाः ।
'ओदितश्च ।८।२।४५।' इति निष्ठानत्वम् । उद्यानशाखिनो येन । तस्यवंवि-
धस्य तव दूतोऽस्मीति ब्रुवाणस्य किं ? दूतसदृशम् । संदेशमात्रस्य प्रापका हि
दूता इति भावः ॥ ११९ ॥

अद्याहितजनप्रहे तापसे कस्मात्संरम्भ इत्याह—

पङ्कुबालस्त्रियो निघ्रन् कवन्धरवरताडकाः ।

तपस्वी यादि काकुत्स्थः कीटकृ कथय पातकी ॥ १२० ॥

पङ्कुबालेत्यादि—पङ्कुमङ्गविकलं कवन्धं बालं खरं खियं ताडकां निघ्रन्
व्यापादयन् यादि तपस्वी काकुत्स्थः, कीटकृ पातकीति कथय । 'इदं-
किमोरीश् की ।६।३।९०।' इति 'की' आदेशः ॥ १२० ॥

यदुक्तं 'यं विनिर्जन्त्य खियो रक्तभूमयश्च न लभ्यन्ते' इत्याह—

अभिमानफलं जानन्महत्त्वं कथमुक्तवान् ।

रत्नादिलाभशून्यत्वाच्चिष्फलं रामविग्रहम् ॥ १२१ ॥

अभीत्यादि—अभिमानः फलं यस्य महत्त्वस्य तज्जानन् रत्नादिलाभशून्ये
रामविग्रहं कथं निष्फलमुक्तवानासि ? । विग्रहे सति अभिमानफलं महत्त्वं
स्यात् ॥ १२१ ॥

‘सीतां प्रत्यर्पयन् धर्ममाप्नुहि’ इत्येतदग्न्ययुक्तमित्याह—

परस्तीभोगहरणं धर्म एव नराशीनाम् ।

मुखमस्तीत्यभाषिष्ठाः का मे साशङ्कता त्वयि ॥ १२२ ॥

परेत्यादि—परस्तीणां हरणं परेषां भोगहरणं च द्वयमपि नराशीनां धर्म एव आचार एव । अतो मुखमस्तीत्यभाषिष्ठाः अभिहितवानसीति सीतां प्रत्यर्पयन् धर्ममाप्नुहीति । लुडि रूपम् । भयान् प्रत्यर्पयसि चेदाह—का मे साशङ्कता त्वयीति त्रैलोक्यविजयित्वान् । त्वयीति हनूमद्वयपदेशेन रामं सूचयति ॥ १२२ ॥

‘संगच्छ रामसुर्प्रावौ’ इत्येतदपि न घटत इत्याह—

ब्रूहि दूरविभिन्नानामृद्धिशीलक्रियान्वयैः ।

हनूमन् कीदृशं सरुवं नरवानरक्षसाम् ॥ १२३ ॥

ब्रूहीत्यादि—ऋद्धया विभूत्या, शीलेन स्वभावेन, क्रियया अनुष्टानेन, अन्वयेन कुलेन, दूरविभिन्नानां नरादीनां कीदृशं सरुवमिति हे हनूमन् ! त्वमेव ब्रूहि ॥ १२३ ॥

‘विराधादिभिर्जापितोऽसि याद्गारि’ इत्यस्योत्तरमाह—

एको द्वाभ्यां विराधस्तु जिताभ्यामविवक्षितः ।

हतश्छलेन मूढोऽयं तेनाऽपि तव कः स्मयः ॥ १२४ ॥

एक इत्यादि—एकेनापि विराधेन प्रथमं द्वावपि जितौ ताभ्यां पश्चाद्गतः । लत्रापि न प्रकाशम्, अपि तु छलेन । यतोऽसौ मूढोऽल्पबुद्धिः । तथाप्यविवक्षितः । शौर्यान्न प्रतीतिः । तेनापि हतेन तव कः विस्मयो जातः ॥ १२४ ॥

मन्त्रियोगाच्च मारीचः पलायनपरायणः ।

युयुत्सारहितो रामं ममारापहरन्वने ॥ १२५ ॥

मन्त्रियोगादित्यादि—मारीचस्तु यतो राममपहरन् समार । मन्त्रियोगादादेशात् । पलायनपरायणः अपर्सपणनिष्ठः सन् । पलायनपरायण इति परस्य नामरूपत्वादनुपसर्गत्वाच लत्वम् । युयुत्सारहितः योद्धुमिच्छारहितः । मन्त्रियोगादिति ‘प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७ । २ । ९८ ।’ इति अस्मद्दो मदोदेशः ॥ १२५ ॥

निजवानाऽन्यसंसक्तं सत्यं रामो लतामृगम् ।

त्वमेव ब्रूहि सर्वचिन्त्य युक्तं तन्महतां योदि ॥ १२६ ॥

निजघानेत्प्रादि—रामो लतामृगं वानरं वालिं निजघानेति सत्यमेत् । रक्तिं अन्यसंसक्तं सुश्रीवेण सह युध्यमानं हतवान् । तच्च त्वमेव संचिन्त्य बूढ़ि युक्तं तन्महतां यदि ॥ १२३ ॥

पुंसा भक्ष्येण वन्धुनामात्मानं रक्षितुं वधः ।

क्षमिष्यते दशास्थेन क्षत्येयं तव दुर्मतिः ॥ १२७ ॥

पुंसेत्प्रादि—आत्मानं रक्षितुं पुंसा भक्ष्येण भक्षणार्हेण । सतां बन्धुनां खरदृष्णादीनां वधो दशास्थेन क्षमिष्यते सहिष्यते क्षत्येयं क्षभवेयं तव दुर्मतिर्दुष्टवुद्धिः । कशब्दात् ‘अव्ययात्त्यथ् । ४ । २।१०४।’ ‘अमेहकतसित्रेभ्य’ एव इति परिगणनात् ॥ १२७ ॥

इदानीं कपिर्दशाननोक्तं दूषयन्नाह---

कपिर्जगाद् दूतोऽहमुपार्य तव दर्शने ।

दुमराक्षसविध्वंसमकार्षं बुद्धिपूर्वकम् ॥ १२८ ॥

कपिरित्यादि—तव दर्शने अन्य उपायो नास्तीति बुद्धिपूर्वकं निरुत्य दुमभङ्गं राक्षसविनाशं च उपायमकार्षं कृतवानस्मीति कपिर्जगाद् । अन्यथा दूतोऽहमागत इति मदावलिसः को मां गणयेत् ? । अतः सदृशमेव मया कृतमिति ॥ १२८ ॥

आत्रिकूटमकार्षुयं त्वत्का निर्जङ्घमं जगत् ।

दशश्रीव कर्थं ब्रूषे तानवध्यान्महीपतेः ॥ १२९ ॥

आत्रीत्यादि—हे दशश्रीव ! ये त्वत्काः त्वाद्गुणिकाः कवचादयः । ‘सं एषां ग्रामणीः । ५।२।७८।’ इति कन् । आत्रिकटं त्रिकूटपर्वतमभिन्नाप्य जगत् निर्जङ्घमं निर्जन्तुकमकार्षुः । तान् महीपतेः रामत्य कथमवध्यान् ब्रूषे ! । अशिष्टनिग्रहो हि महीपतेर्धर्मः । जङ्घम इति गम्येष्वलुगन्तस्यापि रूपम् ॥ १२९ ॥

अभिमानफलं प्रोक्तं यत् त्वया राम विश्रहे ।

विनेशुसेतु शतशः कुलान्यसुररक्षताम् ॥ १३० ॥

१ ‘आङ्गमर्यादानिविध्योः २ । १ । १३’ इति समाप्तः ।

अभीत्यादि—‘मा भूदामविग्रहे रत्नादिलाभः अभिमानफल महत्वमस्ति’
शति यत्त्वया प्रोक्तं तेन निमित्तेन शतशोऽनेकशः असुररक्षसां कुलानि विने-
शुः विनष्टानि ॥ १३० ॥

यत् स्वधर्ममधर्मं त्वं दुर्बलं प्रत्यपद्यथाः ।

रिपौ रामे च निःशङ्को नैतत्क्षर्मकरं चिरम् ॥ १३१ ॥

यदित्यादि—यद्वर्द्धं परखीभोगहरणं दुर्बलम् असारम् अश्रवसामाचाहक-
त्वात् । स्वधर्ममात्मीयमाचारं त्वं प्रत्यपद्यथाः प्रतिपञ्चानसि ‘स्वधर्मं एव
नराशिनाम्’ इति । लङ्घं इयानि रूपम् । यच्च रिपौ रामे निःशङ्कः निर्भयः
विहरसि ‘का मे साशङ्कता त्वायि’ इति । तदेतदुभयमपि न चिरं क्षेमकरं
कल्याणकरम् । ‘क्षेमप्रियमद्रेष्ठच । ३।२।४४’ इनि खच् ॥ १३१ ॥

अन्वयाऽऽदिविभिज्ञानां यथा सख्यमनीप्सितम् ।

नैषीर्विरोधमप्येवं सार्थं पुरुषवानरैः ॥ १३२ ॥

अन्वयेत्यादि—यथा नरादीनाम् अन्वयादिभिर्दूरवेभिज्ञत्वात् सख्यमनी-
प्सितम् आन्तुमनिष्टम्, एवं पुरुषवानरैः सार्थं विग्रहमपि नैषीः
नेष्टवानसि ॥ १३२ ॥

विराधं तपसां विघ्नं जघान विजितो यदि ।

वरो धनुर्भृतां रामः स कथं न विवक्षितः ॥ १३३ ॥

विराधमित्यादि—तपसां विघ्नं विराधम् । विहन्यतेऽस्मिन्निति ‘धनुर्भृ-
त्विवान्म्’ इति कः । ताहृक्षुलेनापि हन्तुं न दोषायेति दर्शयति—धनुर्भृतां
वरः श्रेष्ठः सन् विजितोऽभिभूतोऽपि रामो यदि जघान स कथं न विवक्षितः
यतो राममप्यसौ जितवान् ॥ १३३ ॥

प्रणश्यन्तनपि नाऽशक्नोदत्येतुं बाणगोचरम् ।

त्वयैवोक्तं महामायो मारीचो रामहस्तिनः ॥ १३४ ॥

प्रणश्यत्रित्यादि—मारीचः प्रणश्यत्रापि पलायनपरोऽपि सन् महामायः
कलकमृगरूपधारित्वात् । रामहस्तिनः रामो हस्तीव तस्य बाणगोचरं बाणप-
द्वकीम् अत्येतुमतिक्रमितुं न शक्तवानिति त्वयैवोक्तम्, ममारेत्यभिद-
धत्वा न मया । यदि शक्तोति अतिक्रमितुं न ममार ॥ १३४ ॥

१ अन्वयादिभिः वंशादिभिः । २ निहन्तारम् ।

अन्याऽसत्कस्य यद्वीर्यं न त्वं स्मरसि वालिनः ।

मूर्च्छावान् नमतः संध्यां ध्रुवं तद्वाहुपीडितः ॥ १३५ ॥

अन्यदित्यादि—संध्यां देवतां नमतः अन्यासत्कस्य वालिनो यद्वीर्यं सामर्थ्यं तन् ध्रुवमवश्यं त्वं न स्मरसि न चेतयसि । कुतः वाहुपीडितः सन् मूर्च्छावान् जातः । अत एव न स्मरसि येतैवमुक्तवानसि ‘निजघानन्यं संसक्तम्’ इति ॥ १३५ ॥

असद्वन्धुवधोपज्ञं विमुच्च चलिविग्रहम् ।

सीतामर्पयं नन्तव्ये कोशदण्डाऽत्मभूमिभिः ॥ १३६ ॥

असदित्यादि—यतो बलवद्धयोऽपि बलीयान् रामः तस्माद्वलिना रामेण सह विग्रहे मुच्च त्यज । कीदृशम् । वन्धुवधोपज्ञं प्रथमतो ज्ञातिविनाशेन विदितमित्यर्थः । उपज्ञायत इत्युपज्ञा । ‘आतशोपसर्गे । ३ । ३ । १०६ ।’ इत्यर्थः । वन्धुवधस्योपज्ञेति समासः । ‘उपज्ञोपकर्मं तदाद्याचित्यासायाम् । २४४ । २१ ।’ इति नपुंसकलिङ्गता । तत्सामानाधिकरण्यादसदिति नपुंसकलिङ्गता । नन्तव्ये प्राणामार्हे । कोशदण्डात्मभूमिभिः सह सीतामर्पय ॥ १३६ ॥

स्फुटपरुषमसद्यमित्यमुच्चैः सदसि मरुत्तनयेन भाष्यमाणः ।

परिजनमभितो विलोक्य दाहं दशवदनः प्रदिदेश वानरस्य ॥ १३७ ॥

इति भट्टिकाव्ये नवमः सर्गः ।

इति प्रकीर्णकाः ।

स्फुटेत्यादि—इत्थं स्फुटपरुषम् उक्तप्रकारेण स्फुटं स्पष्टम् परुषं रुक्षम् अत एवासहं सोहुमशक्यम् । उच्चैर्महता ध्वनिना सदसि सभायां मरुत्तनयेन भाष्यमाणोऽभिहितः इत्थमित्यनेन वस्तुनः परिसमापितत्वान् । तेन वर्तमानसामीप्ये लट् । परिजनमभितः उभयपार्श्वे स्थितान् भृत्यान् विलोक्य चानरस्य दाहं प्रदिदेश आदिष्टवान् ॥ १३७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरीविरचितया जयमङ्गलाऽत्यव्यया व्याख्यया

सप्तलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये द्वितीये अधिकार-

काण्डे लक्षणरूपे चतुर्थः परिच्छेदः ।

लक्ष्यरूपे कथानके ‘मारुदीसंयमो’ नाम नवमः सर्गः ।

अधिकारकाण्डं समाप्तम् ।

१ अत्र ‘मुष्पितामा’ वृत्तम्, ‘अयुजि नयुगरेकतो यकारो युजि च नजौ जरमाणं पष्पितामा’ इति तलश्चापां ।

अथ प्रसन्नकाण्डम् ।

द्रुश्मः सर्गः ।

शब्दलक्षणमुक्तमपि लक्षयन् काव्यलक्षणर्थं प्रसन्नकाण्डमुच्यते—काव्यस्यात्र प्रसन्नत्वात् । प्रथमं चेदं लक्षणं यन् प्रसन्नता नाम अविद्वद्जनाबालप्रतीतार्थं प्रसन्नवदिति । शब्दलक्षणं पुनः प्रकीर्णमेव द्रष्टव्यम् । तत्रास्मिन् काण्डे चत्वारः परिच्छेदाः । अलंकारमाधुर्यप्रदर्शनदोपाः भाषासमावेशश्चोति । तत्रालंकारो द्विविधः । शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारश्चोति । तत्र पूर्वो द्विविधः, अनुप्रासो यमकं चेति उभयं दर्शयन्नाह—

अनुप्रासवत् ।

अथ स वल्कदुकूलकुथाऽऽदिभिः परिगतो ज्वलदुद्धतवालधिः ।
उद्पतहिवमाकुललोचनैरुरिपुभिः सभैरभिवीक्षितः ॥ १ ॥

अथेत्यादि—अथ दाहादेशानन्तरं स वानरो वियदाकाशमुदपवन् उत्पतितवान् । वल्कम् अंगुकम् ‘शुकवल्कोल्का’ इति निपातनम् । कुथःकुशः आदि शब्दादन्यैरपि मुञ्चादिभिः परिगतः परिवेष्टितः । ज्वलनुद्धत ऊर्ध्वर्क्तिः चालधिः पुच्छं यस्य सः । नुरिपुभिः राक्षसैः । सभैराकुललोचनैरभिवीक्षितः किमयमनुष्ठास्यतीति । अनुप्रासवदिति अनुप्रासो यरिमन् विद्यते इति । तस्य च लक्षणं—‘सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते’ इति ॥ १ ॥

यमकस्यापि लक्षणम्—‘तुल्यशुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् । वर्णानां चः पुनर्वादो यमकं तन्निरूप्यते ॥’ इति तदनेकविधं दर्शयन्नाह—

युक्तपादयमकम् ।

रणपणिडतोऽग्रविद्युधारिपुरे कलहं स राममहितः कृतवान् ।
ज्वलदाम्भिरावणगृहं च बलात् कलहसंराममहितः कृतवान् ॥ २ ॥

^१ अत्र द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, ‘द्रुतविलम्बितमाह नमौ भरौ ।’ इति लक्षणात् ।

रणेत्यादि—स कपिः वियदुत्पतितो राममहितो रामपूजितः रणपणिष्ठो युद्धं—
कुशलः अग्रयविबुधारिपुरे अश्यो यो विवृधः इन्द्रः तस्य याऽपि दीर्घशाननस्तस्य
पुरे लङ्कायां कलहं कृतवान् । कलहं सान् रमयतीति कलहं सरामम् ।
स्मैर्ष्यन्तात्कर्मण्य । ताहशं रावणगृहं बलाद्यर्थमाणोऽपि ज्वलदग्नि दीप्य-
मानपावकं कृतवान् कृतं विद्यते यस्योति कृतापेक्षीत्यर्थः । अहितः
शत्रुः । युक्षपादयमकमिति युजोर्द्वितीयचतुर्थयोः पादयोर्यमितत्वात् ॥ २ ॥

पादान्तर्यमकम् ।

निखिलाऽभवत् न सहसा सहसा ज्वलनेन पूः प्रभवता भवता ।
वनिताजनेन वियता वियता त्रिपुराऽपदं नगमिता गमिता ॥ ३ ॥

निखिलेत्यादि—ज्वलनेनाग्निना प्रभवता वृद्धिं गच्छता भवता समुत्प-
द्यमानेन सहसा तत्क्षणं पूः पुरी निखिला सर्वा न सहसा अभवत् सान-
न्द् । न जाता । हासस्यानन्दकार्यत्वात् एव मुक्तम् । ‘स्वनहसोर्वा । ३।३।६२।’
इत्यपि रूपम् । वनिताजनेन वियता न भवसा वियता भयादितस्ततो गच्छता
त्रिपुरापदं गमिता प्रापिता पूः त्रिपुरेष्वपि दहमानेषु भयादितस्ततो जनो गतः
नन्दं त्रिकूरपर्वतमिति पादान्तर्यमकमिति पादान्तर्यमकमिति ॥ ३ ॥

पादाऽप्यदियमकम् ।

सरसां सरसां परिमुच्य तनुं पततां पततां ककुभो बहुशः ।

सकलैः सकलैः परितः करुणैर्हृदितैरुदितैरिव खं निचितम् ॥ ४ ॥

सरसामित्यादि—सरसाम् तोयाशयानां तनुं शरीरम् । सरसां सार्द्धा
परिमुच्य त्रासात्यक्त्वा पततां पक्षिणां बहुशः बहून् वारान् ककुभो दिशः
पततां गच्छतां उदितैः शब्दितैः । वदेयजादित्वात्सम्प्रसारणम् । सकलैः
समस्तैः सकलैः माधुयर्वाद्धिः । कलशब्दस्य गुणमात्रवृत्तिस्वान्त तद्वति वर्तते ।
ततत्र सहशब्देन समाप्तो भवति । करुणैः कारुण्यजनकै रुदितैरिव क्रन्द-
तेरिव परितः समन्तात् खमाकाशं निचितं व्याप्तम् । पादादियमकमिति
पादानामादौ यमितत्वात् ॥ ४ ॥

१ अत्र ‘प्रमिताक्षरा’ वृत्तम् । ‘प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता’ इति तलक्षणात् ॥
२ अत्रपि ‘प्रमिताक्षरा’ चन्द्रः, तलक्षणं चोक्तं प्राक् । ३ अत्र ‘तोटकं’ वृत्तम्,
‘इह तोटकमनुष्ठिसैः ग्रथितम्’ इति तलक्षणात् । एवमग्रिमेऽपि पद्मे हृदयेऽचन्द्रः ॥
न चात्र यमकमेव, किं तूष्येष्वाऽपि ।

पादमध्ययमकम् ।

न च कांचन काञ्चनसद्गचिर्ति न कपिः शिखिना शिखिना समयौत् ।
न च न द्रवता द्रवता परितो हिमहानकृता न कृता कच न ॥९ ॥

न चेत्यादि—काञ्चनसद्गचिर्ति सौवर्णगृहसंहर्ति कांचन कांचिदपि शिखिना अप्रेना शिखिना ज्वालावता न कपिनं च समयौत् न च न भिश्च- चत्वान् । अपि तु संश्लेषं नीतवान् । यौतेर्लुडि ‘उतो वृद्धिर्लुकि हलि । ३।३।८९।’ इति वृद्धिः कच कचिन्नाम हिमहानकृता हिमहानस्य हिमापचयस्य कत्रां शिखिना । जहातेर्भावे ल्युट् । न च न द्रवता न च न विसर्पता अपि तु इतस्ततो गच्छता द्रवता द्रवभावः परितः न न कृता । किन्तु कृतैव । काञ्चनसद्गचिरेतिर्थर्थात् । पादमध्ययमकमिति पादानां मध्ये यद्यिं- चत्वात् ॥ ५ ॥

चक्रवालयमकम् ।

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं हसितं स्मरभासितम् ।

न समदाः प्रमदा हत सम्मदाः पुराहितं विहितं न समीहितम्॥६॥

अवसितमित्यादि—हसितं यतप्रसितं संततप्रवृत्तम् । नित्यप्रमुदितत्वा- चत्रत्यजनस्य तदप्रसङ्गमादवसितं अपगतम् । ‘षोडन्तकर्मणि’ इत्यस्य ‘द्याविस्यातिमास्थामिति किति । ७।४।४०।’ इतीत्वम् । मुदा हर्षेण यद्विलसितं शृङ्गारविचेष्टिं लसितं श्लिष्टमनुबद्धमिति यावत् । स्मरभा- सितं मन्मथदीपितम् । हसितम् अल्पीकृतम् । प्रमदाश्च खियः न समदाः सदर्पा न जाताः हतसंमदा ध्वस्तहर्षाः ‘प्रमदसम्मदौ हर्षे । ३।३।६।८८।’ इति निपातनम् । यच्च पुराहितं पुरातुकूलं समीहितं कर्तुर्गी- पित्वं तत्र विहितं नातुष्ठितमित्यर्थः चक्रवालयमकमिति मण्डलाकारेण यमितत्वात् । तथाहि । द्वयोर्द्वयोः पदयोरन्त्यवर्णानां नेमिवदवस्थितत्वात् मध्यस्य वर्णस्य विसद्गृह्य नाभिवदिति । तथाचास्य लक्षणम्—‘पदाना- मवसाने तु वाक्ये स्यात्तुल्यवर्णता । प्रांतिपादं भवेद्यत्र चक्रवालं तदु- च्चरे ॥’ इति ॥ ६ ॥

३ अत्र ‘द्वुतविलम्बितं’ छन्दः, तल्लक्षणं चोकं प्राक् ।

समुद्रयमकम् ।

समिद्धशरणा दीपा देहे लङ्घा मतेश्वरा ।

समिद्धशरणादीपां देहेऽलंकामतेश्वरा ॥ ७ ॥

समिद्धेत्यादि—देहे अभ्यन्तरभागे समिद्धशरणा उज्ज्वलगृहा तत एव दीपा शोभावती लङ्घा पुरी मतेश्वरा ज्ञातमहादेवा । तत्रान्यदेवस्य नामापि न गृह्णते । समिधो दधति हतवन्तो वेति समिद्धा ऋषयः । पूर्व-स्मात् ‘श्रातोऽनुपसर्गे कः । ३ । २ । ३ ।’ इति कः । द्वितीयस्मात् ‘अन्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।’ इति डः । अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्य-मिचारार्थत्वात् धात्वन्तरादपि भवति ‘झ्यो होऽन्यतरस्याम् । ८ । ४ । ६२ ।’ इति पूर्वसर्वणः । तान् शृणन्ति हिंसन्तीति । ‘कृत्यस्युटो बहुलम् । ३ । ३ । ११३ ।’ इति कर्तवरि ल्युट् । समिद्धशरणा राक्षसास्तान् दानमानां-श्यामादीपयति श्रोत्साहयतीति किंप् । समिद्धशरणादीप् । रावणः तेन ताथ्यते इति तायतेः कर्मणि कारके विवक्षिते संपदादिदर्शनात् किंप् । ‘वेरपृक्तस्य । ६ । १ । ६७ ।’ इति ‘लोपात्पूर्वं लोपो व्योर्वलि । ६ । १ । ६६ ।’ इति लोपः । समिद्धशरणादीपा रावणस्य पालनीया । समिद्धशरणा-दीपा लङ्घा देहे दग्धा । अलं कामोऽस्येत्यलंकामः । तद्भावः अलंकामता । तस्यामलंकामतायां पर्याप्तेच्छायां ईश्वरा लङ्घा । सर्वेच्छासम्पादनात् । समुद्रयमकमिति समुद्राकारेण यमितत्वात् पादद्वययोरर्धद्वययोश्च संपुटवत्साहश्यम् ॥ ७ ॥

काश्चीयमकम् ।

पिशिताशिनामनुदिशं स्फुटतां स्फुटतां जगाम परिविह्निलता ।

हलता जनेन बहुधा चरितं चरितं महत्त्वरहितं महता ॥ ८ ॥

पिशिताशिनामित्यादि—पिशिताशिनां मांसाशिनां राक्षसानामनुदिशं दिशि दिशि । ‘अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५ । ४ । १०७ ।’ इति दृच्चैः । स्फुटतां पलायमानानां परिविह्निलता स्फुटतां स्पष्टतां जगाम । जनेन चेतरेण हलता चलता महता शौर्यादिगुणयुक्तेनापि सता यच्च-रितं चेष्टितं बहुधा बहुप्रकारं तन्महत्त्वरहितं महत्त्वाविकल्पाचरितम् अनुष्ठितं

१ अत्र ‘प्रमिताक्षरा’ खंडः । ‘प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता ।’ हृति च तत्त्वाक्षरणम् ।

भयात् । काच्चीयमकमिति रसनाकारेण यमितत्वान् । तथाद्यपादस्यान्ते
परस्यादौ॒च सदृशो विन्यासः ॥ ८ ॥

यमकााऽवली ।

न गिजो नगजा दृयिता दृयिता विगतं विगतं ललितं ललितम् ।
प्रमदा प्रमदाऽमहता महतामरणं मरणं समयात् समयात् ॥ ९ ॥

नेत्यादि—गजा हस्तिनः नगजाः पर्वतजाताः । अत एव दृयिता इष्टा
न दृयिताः न रक्षिताः । दृयितरत्र रक्षणार्थः । विगतं वीनां पक्षिणां
गतं गमनमपि विगतं नष्टम् । ललितं यदीप्तिं वेस्तु वल्लितं पीडितम् ।
अमदा योधिन् प्रमदा प्रगतो मदो यस्या इति प्रमदा । हर्षशून्येत्यर्थः ।
आमहता रोगपीडितेव । आमो रोगः । इवशब्दोपेऽत्र द्रष्टव्यः । आमेन
पीडिता पठायनहता वा । ‘अम गत्यादिषु ।’ महतां शूराणां अरणम्
अविद्यमानयुद्धं मरणं विनाशं समयात् संप्राप्तम् । यातेर्लिङ्गं रूपम् । सम—
चात् कालेन यमकावलीति यमकमाला ॥ ९ ॥

अयुक्तपादयमकम् ।

न वानरैः पराक्रान्तां महाद्विर्भीमविक्रमैः ।

न वा नरैः पराक्रान्तां ददाह नगरीं कपिः ॥ १० ॥

नेत्यादि—वानैररन्यैर्महाद्विर्भीमविक्रमैः असहशौर्यैः शक्वादिभिः
न पराक्रान्तां नावष्टव्यां नगरीं लङ्घां नरैर्मनुष्यैर्न च पराक्रान्तां विगृहीतां
कपिर्हनूमान् ददाह दग्धवान् । अयुक्तपादयमकमिति प्रथमतृतीयर्थोर्य—
मितत्वात् ॥ १० ॥

पादाद्यन्तयमकम् ।

द्रुतं द्रुतं दहिसमागतं गतं महीमहीनद्युतिरोचितं चितम् ।

समं समन्तादपगोपुरं पुरं परैः पैररप्यनिराकृतं कृतम् ॥ ११ ॥

द्रुतमित्यादि—यत्पुरं चितं सौर्वण्गृहसंहत्या व्याप्तं तद्विसमागतम् अपि—
संयुक्तं द्रुतं विलीनम् । द्रुतं प्रवाहेण प्रवृत्तं द्रुतं शीघ्रम् अहीनया उत्कृष्टया द्रुत्या
तेजसा रोचितं भासितं महीं गतं प्राप्तम् अपगोपुरम् अपगतपुरद्वारम्, अत एव
समन्तात्सर्वतः समं तुल्यं कृतम् । परैः शत्रुमिः पैररपि उत्कृष्टरपि

१ अत्र ‘तोटकं’ छन्दः ।

शक्रादिभीर्निराकृतम् अनभिभूतं सत् । पादाद्यन्तयमकमिति पादस्यादावन्ते
च यमिकत्वात् ॥ ११ ॥

मिथुनयमकम् ।

नश्यन्ति ददर्श वृन्दानि कपीन्द्रः ।

हारीण्यबलानां हारीण्यबलानाम् ॥ १२ ॥

नश्यन्तोत्यादि—अबलानां खीणाम् अबलानाम् अविद्यमानरक्षकाणां वृन्दानि
समूहः । हारीणि हारवन्ति, हारीणि अवश्यं हरन्ति । आवश्यके पिनिः ॥
चेत्सार्थात् । नश्यन्ति पलायमानानि सर्वते कपीन्द्रो ददर्श । मिथुनयमक-
मिति पदद्वयस्य चक्रवाकमिथुनवदवस्थितत्वात् ॥ १२ ॥

वृन्तयमकम् ।

नारीणामपनुदुर्न देहखेदा नारीणाऽमलसलिला हिरण्यवाप्यः ।

नाऽरीणामनलपरीतपत्रपुष्पान् नाऽरीणामभवदुपेत्य शर्म वृक्षान् ॥ १३ ॥

नारीणामित्यादि—अरीणां संबन्धिन्यो हिरण्यवाप्यः सुवर्णघटिता
वाप्यः । नारीणां खीणाम् अभितापादेहखेदानापनुदुर्न नापनीतवत्यः । कुतः ।
आरीणामलसलिलाः । ‘रीढ़् स्वरणे’ इत्यस्मादाङ्गपूर्वात् ‘स्वादय ओदितः’
इति निष्ठानत्वम् । आरीणं गतममलं सलिलं यासु हिरण्यवापीच्छिति ।
वृक्षांश्चोपेत्य गत्वा तासां शर्म सुखं नाभवत् न जातम् । अनलपरीतपत्रपुष्प-
स्वगदुक्षाणाम् । आरीणां नारीणामिति योज्यम् । शत्रुसंबन्धिनीनामित्यर्थः ।
अरीणामिमा इति ‘तस्येदम् ।४।३।१२०।’ इत्यण् । तदन्तात् ‘टिहृण्य-
ज्ञयसज्जदम्बन्यमात्रचत्यपठक्ठव्यक्त्वकरपः ॥४।३।१५।’ इति डीप् ।
अत्र वृक्षानुपेत्य स्थितानामित्यध्याहर्तव्यम् । अन्यथासमानकर्तृत्वान्
पूर्वकाले क्षत्वाप्रत्ययो न स्यान् । वृन्तयमकमिति प्रतिपदं पुष्पफलस्येव
मूलोऽवस्थितत्वात् ॥ १३ ॥

पुष्पयमकम् ।

अथ लुलितपत्रिमालं रुणासनवाणकेशरतसालम् ।

स वनं विविक्तमालं सीतां द्रष्टुं जगामाऽलम् ॥ १४ ॥

अथेत्यादि—दहानन्तरं लुलितानां चलितानां पतत्रिणां पक्षिणां माला
संहतिर्यस्मिन् तद्वनमशोकवनिकाल्यं स कपिर्जगाम । रुणाः भग्ना असनादयो

१ अत्र ‘वंशस्य’ इत्तम् । ‘जतौ तु वंशस्युदीरितं जरौ’ इति लक्षणात् ।
२ अत्र ‘तसुमध्या’ छन्दः । ‘त्यौ तसुमध्या’ इति छन्दोऽनुशासनोक्ते ।
३ अत्र ‘प्रहर्षिणी’ वंशस्य छन्दो त्रौ गविदशयतिः प्रहर्षिणीयम् । इति तत्त्वक्षणात् ।

यस्मिन् वने । तत्रासनः पीतसालः, वाणः ग्रन्थिका, केशरो नागकेशररो देव-
चलभो वा । विविक्ताः शुचयो मालाः सजो यस्मिन् तद्विक्तमालम् ।
द्रष्टुम् अलं पर्याप्तः सीतां द्रक्ष्यामीति जगाम । पुष्पयमकमिति प्रतिपादं वृन्ता-
दुपरि पुष्पमिवावस्थितत्वात् ॥ १४ ॥

पादाऽऽदिमध्ययमकम् ।

वनगिरीन्द्रविलङ्घनशालिना वनगता वनजद्युतिलोचना ।

जनमता दद्यशे जनकाऽत्मजा तस्मृगेण तस्मस्थलशायिनी ॥ १५ ॥

घनेत्यादि—तस्मृगेण कपिना जनकात्मजा दद्यशे दृष्टा । घनाः निरन्तराः
ये गिरीन्द्राः मेघसदृशा वा तेषां यलङ्घनम् अतिक्रमणं तेन शालिना
युक्तेन कपिना । वनलता काननस्था वनजद्युतिलोचना पद्मस्थेव कान्ति-
र्ययोर्लेचनयोस्ते तथाविधे लोचने यस्याः । ‘न क्रोडादिवहनः ॥४॥१५॥’
इति डीप्तप्रतिपेधः । जनमता जनेनावबुद्धा पतित्रतेयमिति । ‘मनु अवबोवने’
इत्यस्य भूते निष्ठायां रूपम् । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थरुनाम् ॥२॥३॥६॥’
इदि पष्ठीप्रतिपेधः । कर्तरि दृतीया । तस्यां च ‘कर्तृकरणे कृता बहुलम् ॥२॥१॥
३॥२॥’ इति समाप्तः । वर्तमाने तु ‘मतिबुद्धिपूजार्थम्यश्च । ३॥२॥
१॥८॥’ इति क्तप्रत्ययः । ‘कल्य च वर्तमाने ॥२॥३॥७॥’ इति पष्ठी । तस्यां च
‘केन च पूजायाम् ॥२॥२॥१॥२॥’ इति समाप्तप्रतिपेधः स्यात् । तस्मस्थलशायिनी
तस्मूले यत् स्थलं तत्रैव शयाना । सत्यपि शयने । तेन ‘ब्रते । ३॥२॥
८॥०॥’ इति णिनिः । आदिमध्ययमकमिति पादानामादौ मःये च घन
वन-जन-न-तस्मद्वानां यमितत्वात् ॥ १५ ॥

विष्यथयमकम् ।

कान्ता सहमाना दुःखं च्युतभूषा ।

रामस्य वियुक्ता कान्ता सहमाना ॥ १६ ॥

कान्तेत्यादि—कान्ता कमनीया सहमाना वेदयमाना हुःखं वियोगजम् च्युत-
भूषा च्युता भूषा भूषणानि यस्याः सा रामस्य कान्ता प्रिया वियुक्ता वियोगिनी

१ अत्रार्याछन्दः, ‘लक्ष्मैतत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः ॥
षष्ठोऽयं नलधू वा प्रथमेऽद्देवं नियतमार्याया । पष्ठे द्वितीयलात् परके चक्षे मुखलाच्च
स्थितिपदनियमः । चरमेऽद्देवं पञ्चमके तस्मादिह भवति दृष्टे लः ॥’ इति
तल्लक्षणात् । २ अत्र । ‘हुतविलम्बितं’ वृत्तम् ।

सहमाना सह मानेन वर्तते इति ‘वोपसर्जनस्य ।३।३।८२।’ इति^१ सभाव-विकल्पः । दृष्टे इति सम्बन्धः । विषयमकमिति पादद्वयातिक्रमाद्विपथेन विमार्गेण यमितत्वात् ॥ १६ ॥

मध्यान्तयमकम् ।

मितमवद्दुदारं तां हनूमान् मुदाऽरं
रघुवृषभसकाशं यामि देवि ! प्रकाशम् ।
तव विदितविषादो दृष्टकृत्स्नाऽमिषादः
श्रियमनिशमवन्तं पर्वतं मालयवन्तम् ॥ १७ ॥

मितमित्यादि—मितम् अल्पाक्षरम् अर्थाविगाढं तां सीतां हनूमान् मुदाऽरं
म्बेण युक्तः अवदत् कथितवान् । किमित्याह—अरं शीघ्रं हे देवि, रघुवृषभसकाशं
रामसमीपं माल्यवन्तं पर्वतं प्रकाशं प्रकटं यामि । तव विदितविषादो ज्ञाताव-
सादः । दृष्टकृत्स्नामिषादः वीक्षिताशेषनिशाचरः । आमिषं मांसमदन्तीति ‘कर्म-
ज्यण् । ३ । २ । १ ।’ वाऽसरूपोऽखियाम् । ३ । १ । ४ ।’ इति वचनात् ॥
‘अदोऽनन्ते । ३ । २ । ६ ।’ इति विद्प्रत्ययेनाणो विकल्पेन वाधनात् । श्रियं
शोभाम् अनिशमवन्तं रक्षन्तं पर्वतम् । मध्यान्तयमकमिति पादस्य मध्ये
अन्ते च यमितत्वात् ॥ १७ ॥

गर्भयमकम् ।

उदपतद्वियदप्रगमः परैरुचितमुन्नतिमत्पृथुसत्त्ववत् ।
रुचितमुन्नतिमत्पृथुसत्त्ववत्प्रतिविधाय वपुर्भयदं द्विषाम् ॥ १८ ॥

उदपतद्वित्यादि-वियदाकाशमुदपतत् उत्पपात् । पैरःशान्त्रियमप्रगमः अनभिभ-
वनीयः । गमे: ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च ।३।३।५८।’ इति कर्मण्यप् । ‘कर्तृकर्मणोः
कृते ।२।३।५५।’ इत्यत्र ‘विभाषोपसर्गे’ । २ । ४ । ५९।’ इति मण्डूकप्लुत्या
अनुवर्तनीयम् । सोपसर्गस्य प्रयोगे विभाषा षष्ठी । रुचितं शोभितं वियन्निर्मल-
त्वान् । अथवा अप्रगमोऽन्येषामित्यर्थात् । परैरुत्कृष्टैरन्तरिक्षचारिभिः
रुचितं दीपितम् । उन्नतिमत् उच्छ्राययुक्तम् । पृथुसत्त्ववद्विः प्राणिभि-

१ अत्र ‘ तनुमध्याम् ’ वृत्तम् । २ अत्र ‘मालिनी’ छन्दः । ‘ननमययुतेयं
मालिनी भोगिलोकैः’ इति तलक्षणम् ।

युक्तम् । किं कृत्वा उदपतदित्याहन्वपुः शरीरं प्रतिविधाय कृत्वा । रुचि-
तान् तुष्टान्मोदयतीति रुचितमन् । प्यर्थोऽत्रान्तर्भूतः । द्विषां शत्रूणां
भयदर्म् । न तिमत् तदानां देवेषु कृतशिरः प्रणामत्वान् । अथवा रुचि-
रमेवामीष्टमेव वपुः । उन्नतिमत् विभूतिमन् । पृथुसत्त्ववत्
विस्तीर्णसत्त्ववत् । सत्त्वगुणयुक्तं वा । गर्भयमकमिति द्वयोः पादयोर्मध्ये
पादद्वयस्य यमितत्वात् ॥ १८ ॥

सर्वयमकम् ।

बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रो बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः ।

बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रो बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः ॥ १९ ॥

बभावित्यादि—मरुत्वान् हनुमान्, पितृत्वेन मरुद्विद्यते अस्येति ‘इयः ।
८ । २ । १० ।’ इति चत्वम् । विविधं कृतं वनभज्ञादि कर्म येन तथोक्तः
विविधं वा कृत्यतीति विकृतः । इगुपधलक्षणः कः । वृक्षादीनां छेदक
इत्यर्थः । समुद्रो मुद्रयाभिज्ञानेन चूडामणिना सह वर्तत इति । समुत्प-
वितो नभसि तेजःपुञ्ज इव बभौ दीप्यते स्म । इत्यर्थं प्रथमः पादः ।
तास्मिन् तथाभूते मरुत्वानिन्द्रः । अनुजीवितया मरुतो देवा अस्य
सन्तीतीति कृत्वा । विकृतः रावणपरिभवात् विहतदेवाधिगत्यः । विकृतः ।
स च समुद्रः मुद्रया अप्सरसा सह वर्तमानः । समुपलब्धमरुतिवृत्तान्तः ।
बभौ हृष्टवान् । कपिना तावादिं कृतं रामः पुनः समूलं छेत्स्यतीति ।
अनेकार्थत्वादात्मानां भातिरत्र तुष्टौ वर्तते । इत्यर्थं द्वितीयः । समुद्रो
जलनिधिः मरुत्वान् हनुमदुत्पतनजनितवायुना युक्तः अत एव विकृतो-
अतिक्रान्तमर्यादः बभौ बभूव । अत्र सच्चायां प्रयुक्तः । इत्यर्थं तृतीयः ।
स लोकपालो मरुत्वान् महाभूतात्मकेन युक्तः मरुत्वान् । पूर्ववन्मतुप् ।
मरुत्वानिति व्याख्याने ‘झलां जशोऽन्ते । १२।३१।’ इति जश् स्यात् । मुद्रो
हर्षस्य दाता पुत्रो मे सुखेन यास्यतीति मुद्रं राति ददातीति ‘आतोऽनुपसर्गे
कः । ३।४।३।’ विकृतो मन्दगाति: । बभौ वाति स्म । अत्र गतौ प्रयुक्तः । इत्यर्थं
चतुर्थः । अन्यस्त्वाह यमकेषु क्रियापदस्याभिवेयत्वं न दुष्यतीति तेन दीप्त्यर्थं
एव योज्यः । सर्वयमकमिति चतुर्णामपि पादानां सदृशत्वात् ॥ १९ ॥

^१ अत्र ‘द्रुतविलम्बितं’ वृत्तम् ।

महायमकम् ।

अभियाता वरं तुङ्गं भूभृतं रुचिरं पुरः ।

कर्कशं प्रथितं धाम ससत्त्वं पुष्करेक्षणम् ॥ २० ॥

अभियातेत्यादि—भूभृतं रामं वरं श्रेष्ठं तुङ्गं महाकुलीनत्वादिति सर्वे—
पामुपारि स्थितं गुणे रुचिरं सर्वाङ्गसुन्दरं पुरोऽग्रतो वक्षःस्थले कर्कशं
लोमशं प्रथितं लोके प्रख्यातं धाम गृहं वर्णाश्रमधर्माणां ससत्त्वं परा-
क्रमयोगात् । पुष्करेक्षणं पद्मलोचनम् अभियाता आभिमुख्येन यास्यति
हनूमान् । लुटि रूपम् ॥ २० ॥

अभियाऽताऽवरं तुङ्गं भूभृतं रुचिरं पुरः ।

कर्कशं प्रस्थितं धाम ससत्त्वं पुष्करे क्षणम् ॥ २१ ॥

अभियातेत्यादि—भूभृतं पर्वतं यत्राङ्गदादयः स्थिताः तमभिया अभिगच्छता
हनूमता । कुरुः पुरो लङ्घायाः सकाशात् । पुष्करे आकाशे धाम तेजः
क्षणं मुहूर्ते प्रथितं विस्तारितम् । अभियातीति ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यते । ३।२।
१७८।’ इति किं । तृतीयैकवचने । ‘आतो धातोः । ६।४।१४०।’ इत्याका-
रणोपे अभियोति रूपम् । कीदृशम् अतावरं सातत्येनाततीति पचाश्च ।
अतो वायुः आदित्यो वा । आवृणोतीत्यपि आवरः । अतस्यावरं यत-
स्तुङ्गम् उच्चैस्तरम् । रुचिरं तुष्टिं रुचिं रातीति । कर्कशं कठिनस्व भा-
वम् । ससत्त्वं प्राणियुक्तम् । महायमकमिति श्लोकस्यैकस्य द्वितीयेन
श्लोकेन यमितत्वात् ॥ २१ ॥

आद्यन्तयमकम् ।

चित्रं चित्रामिवाऽयातो विचित्रं तस्य भूभृतम् ।

हरयो वेगमासाद्य संत्रस्ता मुमुहुर्मुहुः ॥ २२ ॥

चित्रमित्यादि—भूभृतम् भूधरं पर्वतं चित्रं गैरिकादिभिन्नानावर्णग् अत
एव चित्रामिवालेख्यमेव । आयातः आगच्छतस्य हनूमतः वेगं जवं चित्रम्
अद्भुतमासाद्य प्राप्य हरयः कपयः संत्रस्ताः सभयाः मुमुहुः मुहुः
क्षणम् । आद्यन्तयमकमिति श्लोकस्यादावन्ते च यमितत्वात् ॥ २२ ॥

१ भुवं विभर्ति रक्षतीति तं तथोक्तम् । २ मुवं विभर्ति धारयतीति तम् ।
शृथन्या श्वष्टमभूताः पर्वताः ।

अर्थालंकारस्तु दीपकखपकादिभेदेनानेकप्रकारः । तत्र वाक्यार्थप्रकाशना—
हीपकमुच्यते । तदादिमध्यान्तभेदात्रिविधिमिति दर्शयन्नाह—

आदिदीपकम् ।

गच्छन् सैं वारण्यकिरत्पयोधेः कूलस्थितांस्तानि तरुनधुन्वन् ।

पुष्पाऽस्तरांस्तेऽङ्गमुखानतन्वंस्तान् किन्नरा मन्मथिनोऽध्यतिष्ठन् २३ ॥

गच्छन्नित्यादि—स हनूमान् वेगेन गच्छन् पयोधेर्वरीणि वेगजेन
चायुना अकिरत् निक्षिप्तान् । तानि वारीणि अधिक्षिप्तानि कूलस्थितांस्त-
रुनधुन्वन् कम्पितवन्ति । ‘धूश् कम्पने’ इति सौवादिकः । ते तरवः
कम्पिताः पुष्पास्तरान् । पुष्पाणां प्रकरान् आस्तीर्यन्त इति ‘ऋदोरप् ।३।
३।२७।’ इत्यप् अङ्गमुखान् मृदुस्पर्शन्वात् कायस्य सुखहेतुनतन्वन् विस्तारित-
चन्तः । तान् पुष्पास्तरान् किन्नराः मन्मथिनः कामवन्तः अध्यतिष्ठन्
अध्यासितवन्तः । ‘अधिशीङ्गस्थासां कर्म्म । १।४।४६।’ इत्यविकरणस्य
कर्मसंज्ञा । आदिदीपकमिति क्रियापदस्यादौ शूयमाणत्वात् । द्वितीयं
ज्ञादिदीपकम् । एकतिङ्गेनेकतिङ्गसहितं च । तत्र यत्पूर्वं तदेकमध्येनेकार्थ-
प्रकाशकम् । यथाह भास्मः—‘मदो जनयति प्रीतिमानन्दं मानभङ्गुरम् ।
यत्रियासंगमोत्कण्ठामसङ्घां मनसः शुचम् ॥’ इति । यत्रु द्वितीयं तत्स-
मस्तवाक्यार्थप्रकाशं यथेदमेव । तत्र शुक्तरेषां वाक्यार्थानामाद्येनैव दीप-
नात् । तस्मिन्नासति शेषाणामस्फुटत्वात् । पूर्वकं परित्यज्य द्वितीयस्य प्रद-
र्शनं यत् तत्प्रतीपदीपकं नाम चतुर्थमस्तीति दर्शनार्थम् । तद्यथा—‘तृष्णां
श्छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रोति मा कृथाः सत्यं त्रूढनुयाहि
साधुपद्वीर्णा सत्स्व विद्वज्जनान् । मान्यान्मानय विद्विषोऽध्यनुनय प्रख्यापय-
स्त्रान् गुणान् कीर्तं पालय दुःखिते कुरु दयामेतसतौ चेष्टितम् ॥’ इति ।
शेषो यद्वत्र परस्परमसंबद्धमिति ॥ २३ ॥

अन्तदीपकम् ।

न गिरं तरुखण्डमण्डितं समवाप्य त्वरया लतामृगः ।

स्मितदीर्घतकार्यानिश्चयः कपिसैन्यैर्मुदितैरमण्डयत् ॥ २४ ॥

स गिरिमित्यादि—स लतामृगो हनूमान् प्रयोजकर्ता । गिरिमङ्गदादि-

१ दीपकलक्षणं तु “सकृद्गत्तिस्तु घर्मस्य प्रकृताप्रकृतामनाम् । सैव क्रियासु
चह्नापु कारकस्थेति दीपकम् ।” इति प्रकाशकोरणोक्तम्, अथ कथमिव सद्बृच्छत
इति चिन्त्यम् । एवं परत्रापि ।

भिरव्यासितं तरखण्डमण्डितं त्वरया वेगेन समवाप्य कपिसैन्यमुदितैर्हृष्टैः
प्रयोज्यकर्तुभिः अमण्डयत् । ‘माणि भूषायाम्’ इति भौवादिकः । चौरादिके तु
कपिसैन्यैः करणभूतैरिति योज्यम् । मुदितत्वे कारणमाह---स्मितदर्शितकार्य-
निश्चयः ईषद्विसितप्रकटीकृतसीतोपलब्धिनिश्चयः । अन्तदीपकमिति अमण्ड-
यदिति क्रियापदस्यान्ते निर्दिष्टत्वात् ॥ २४ ॥

मध्यदीपकम् ।

गरुडाऽनिलतिग्मरश्मयः पततां यद्यपि सम्मता जवे ।

अचिरेण कृतार्थमागतं तममन्यन्त तथाप्यतीव ते ॥ २५ ॥

गरुडेत्यादि---पततां गच्छतां मध्ये यद्यपि गरुडाद्यो जवे वेगविषये
संमताः अभिमताः तथापि तं हनूमन्तभू अचिरेणैव कालेन कृतार्थं कृतकृत्य-
मागतम् अतीव जविनें ते कपयः अमन्यन्त । मन्यतेर्लङ्घि रूपम् । मध्यदीपक-
मिति क्रियापदस्य मध्ये निर्दिष्टत्वात् ॥ २५ ॥

रूपकम् ।

रूपकमनेकविधं दर्शयन्नाह---

ब्रणकन्दरलीनशस्त्रसर्पः पृथुवक्षः स्थलकर्कशोरुभितिः ।

च्युतशोणिगतबद्धधातुरागः शुशुभे वानरभूधरस्तदाऽसौ ॥ २६ ॥

ब्रणेत्यादि---असौ वानरो भूधर इव वानरभूधरः ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः
सामान्याप्रयोगे । २ । १ । ५६ ।’ इति समाप्तः । तदा तस्मिन्वानर-
मध्यगमनकाले कृतार्थः शुशुभे शोभते स्म ।’ ब्रणानि शस्त्रकृतानि कन्दराणीव ।
शस्त्राणि सर्पाः इव शस्त्रसर्पाः ब्रणकन्दरेषु लीनाः शस्त्रसर्पाः यस्य । वक्षः-
स्य लं कर्कशोरुभितिरिव सा पृथुः विस्तीर्णा यस्य सः । शोणिं
बद्धधातुराग इव श्लिष्टारिकादिराग इव सः च्युतो यस्य । सर्वत्र ‘उपमितं
व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । २ । १ । ५६ ।’ इति समाप्तः । रूपकमिति
सावयवेन भूधरेणोपमानेन सावयवस्य कपेषुपमेयस्य तत्स्वभावतयाध्यारो-
पितत्वात् । यथोक्तम्—‘उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूप्यते । गुणानां समतां
दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥’ इति३ ॥ २६ ॥

१ अत्र ‘सुन्दरी’ छन्दः, ‘अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा ल्गौ यदि
सुन्दरी तदा’ इति तलक्षणात् । २ अत्रावि सुन्दरी छन्दः । ३ अत्र औपच्छन्दसिकं
छन्दः, ‘पर्यन्ते यौ तथैव श्लेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम् ।’ इति लक्षणात् । अत्र
तथैवेत्यनेन ‘षड् विषमेऽष्टौ समेकलास्तात्र समेष्युनां निरन्तराः । न समाऽन्न परा-
श्रिताकलाः’ इत्यस्य परामर्त्तः ।

अस्यैव भेदा अपरे चत्वारः । एतद्विशिष्टोपमायुक्तं रूपकम् ।

चलपिङ्गकेशरहिरण्यलताः स्फुटनेत्रपङ्गिमणिसंहतयः ।

कलधौतसानव इवाऽथ गिरेः कपयो बभुः पवनजागमने ॥२७॥

चलेत्यादि—अथ पवनजागमने हनूमदागमने कपयो गिरेस्तस्यैव कलधौतसानव इव सौवर्णीकदेशा इव बभुः शोभन्ते स्म । पिङ्गकेशराणि पिङ्गलसटाः तानि हिरण्यलता इव सुवर्णलता इव ताश्चला येषां कपीनाम् । नेत्रपङ्गयो मणिसंहतय इव ताः स्फुटा उज्ज्वला येषामिति । एतदपि रूपकमेवं । किंतु कलधौतत्वेन सानूनां विशिष्टत्वाद्विशिष्टोपमायुक्तं कमलकं नाम ॥ २७ ॥

एतच्छेषार्थान्ववसितमवतंसकम् ।

कपितोयनिधीन् प्लवङ्गमेन्दुर्मदपित्वा मधुरेण दर्शनेन ।

वचनाऽमृतदीधितीर्वितन्वन्वकृतानन्दपरीतनेत्रवारीन् ॥ २८ ॥

कपीत्यादि—पुवङ्गम इन्दुरिव प्लवङ्गमेन्दुः । कपयस्तोयनिधय इद तान् कपितोयनिधीन् । मधुरेण सुखेन दर्शनेन मदपित्वा हर्षयित्वा । ‘मदी हर्षग्लेषनयोः’ इति घटादित्वान्मित्वे हस्तत्वम् । वचनानि अमृतमयदी-धित्वय इव ता वचनामृतदीधितीर्वितन्वन् विस्तारयन् । लोकवृत्तान्तरंबोधक-माङ्गादकं वचनमुदाहरश्चित्यर्थः । आनन्देन हर्षेण परीतं संजातं नेत्रवारि येषां तानेवंविधानकृत कृतवान् । एतद्रपकं शेषार्थान्ववसितम् । रूपितादन्यो योऽर्थः ‘आनन्दपरीतनेत्रवारीन्’ इति स शेषः । तेनान्ववसितं युक्तमवतंसकं नाम विसद्वशस्यार्थस्य लपितत्वात् । तदेवान्यैः स्वण्डरूपकमित्युच्यते ॥२८॥

अर्धरूपकम् ।

परिखेदितविन्ध्यवीरुधः परिपीताऽमलनिर्झराऽम्भसः ।

दुधुवुर्मधुकाननं ततः कपिनागा मुदिताऽङ्गदाऽङ्गया ॥ २९ ॥

परिखेदितेत्यादि—तत उत्तरकालं कपयो नागा इव हस्तिन इव कपि-नागाः मुदितस्याङ्गदस्याङ्गया मधुकाननं सुग्रीवस्य क्रीडोद्यानं दुधुवुः कम्पितवन्तः । मधून्युपभुज्य संत्रमसकुर्वश्चित्यर्थः । परिखेदिताः परिमृदिताः

१ अत्र ‘प्रमिताक्षरा’ छन्दः । २ अत्र ‘ओपच्छन्दसिकं’ छन्दः ।

विन्ध्यवीरुधो विन्ध्यलतागुल्मा यैः । परिपीतममलनिश्चराम्भो यैस्ते । अर्थ-
रूपकमिति पश्चिमार्थे कपिनागा इति रूपितम् ॥ २९ ॥

एतदन्वर्थोपमायुक्तं ललामकम् ।

विटपिमृगविषादध्वान्तनुद्वानरार्कः ।

प्रियवचनमयूखैर्बोधिताऽर्थाऽरविन्दः ।

उदयगिरिमिवाऽर्दिं सम्प्रमुच्याऽभ्यगात्खं

नृपहृदयगुहास्थं द्वन्प्रमोहाऽन्यकारम् ॥ ३० ॥

विटपीत्यादि—वानरोऽर्के इव वानरार्कः । उदयगिरिमिवाऽर्दिं
अर्थतं महेन्द्रं संप्रमुच्य खमाकाशमभ्यगात् अभिगतवान् । विटपि-
मृगाणां यो विषाद आसीत् कथं सीतान्वेषणीयेति स ध्वान्तमिव तं
नुदतीति किं । प्रियवचनानि मयूखा इव तैः करणभूतैः बोधितमर्थार्थ-
विवन्दं येन । अर्थः सीतोपलविधः सोऽरविन्दमिव । नृपहृदयं गुहेक तत्र
देतष्टीति नृपहृदयगुहास्थम् । प्रमोहो विषादोऽन्यकार इव तं नन् हनि-
ज्यन् । वर्तमानसमीपत्वात् भविष्यति लट् । एतदिति रूपकं अन्वर्थयो-
पमया युक्तं ललाम नाम । यत उदेत्यसादिस्युद्यः । ‘अर्कर्तिर च कारके’
इत्यधिकृत्य ‘एरच् । ३ । ३ । ५६ ।’ इत्यच् । स चासौ गिरिष्वेत्यनुगता-
र्थता । यत्रान्वर्थता नास्त्युपमायाः तदुपमायुक्तमेव रूपकं द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

इवोपमा ।

उपमाऽलंकारं दर्शयन्नाह—

रघुतनयमगातपोवनस्थं विधृतजटाऽजिनवल्कलं हनूमान् ।

परमिव पुरुषं नरेण युक्तं समशमवेशसमाधिनाऽनुजेन ॥ ३१ ॥

रघुतनयमित्यादि—हनूमान् रघुतनयमगात् प्राप्तवान् । तपःप्रधानं वनं
तपोवनं तत्र स्थितम् । विधृता जटा अजिनं चर्म वल्कलं च येन तम् ।
अनुजेन कनीयसा आत्रा लक्षणेन समास्तुल्याः शमा वेशाः समाध-
यश्च यस्य वेन युक्तं परमुत्तमं पुरुषमिव पुरुषोत्तममिव नरेण युक्तम् ।
चदरिकाश्रमे नरनारायणयोस्तपश्चर्यया स्थितत्वात् । इँवोपमेति इवशब्दे-
नोपमार्थस्य गम्यमानत्वात् । उपमाया लक्षणम्—‘विरुद्धेनोपमानेन देव-

१ अत्र ‘सुन्दरी’छन्दः । २ अत्र मालिनी छन्दः, ‘ननमययुतेयं मालिनी भोगि-
त्येकः ।’ हति तलक्षणम् । ३ द्वैतेन द्योत्योपमेति भावः । बस्तुतस्तूपमैवालङ्घारः ।

कालक्रियादिभिः । उपमेयस्य यत्साम्यं गुणमात्रेण सोपमा ॥' इति ।
अत्र विश्वदेशकालक्रियाः पुरुषोत्तम उपमानम्, तेन रामस्योपमेयस्य
तपेवनस्थत्वेन विष्वतजटाजिनवलकलत्वेन नरानुकारिलक्ष्मणेनानुगतत्वेन
च गुणमात्रेण सम्युपमानम् ॥ ३१ ॥

यथोपमा ।

यथेवशब्द उपमार्थसूचकस्तथान्योऽपीति दर्शयन्नाह—

करपुटनिहितं दधत् स रत्नं परिविरलाङ्गुलिनिर्गताऽल्पदीपि ।
तनुकपिलघनस्थितं यथेन्दुर्नृपमनमत्परिभुग्नानुमूर्खी ॥ ३२ ॥

करपुटनिहितमित्यादि—करपुटे करयुग्मे निहितं न्यस्तं रत्नं सीता-
चूडामणि परिविरलाङ्गुलिभ्यो निर्गता अत्पा दीप्तयो यस्य तद्रत्नं दधद्वा-
रयन् स हनूमान् नृपं राममनमत् प्रणतवान् । परिभुग्ने अवनते जानुनी
मूर्खी च यस्य हनूमतः । यथेन्दुर्म इन्दुमिव ततुः अच्छुः कपिलश्च यो
षनः मेघः तत्र स्थितमिन्दुमिव रत्नम् । यथोपमेति यथाशब्देनोपमार्थस्य
गम्यमानत्वात् ॥ ३२ ॥

सहोपमा ।

रुचिरोन्नतरत्नगौरवः परिपूर्णाऽमृतरश्मिमण्डलः ।

समद्वयत जीविताऽशया सह रामेग वयूशिरोमणिः ॥ ३३ ॥

रुचिरेत्यादि—वयूशिरोमणिः सीताचूडामणिः । उन्नतं महद्रत्नगौरवं
महार्घादिलक्षणं यस्य रुचिरो दीप्तिसांशासौ उन्नतरत्नगौरवश्चेति सः ।
परिपूर्णस्यामृतरश्मेश्वन्द्रमसो मण्डलमिव मण्डलं यस्य सः । रामेण सम-
द्वयत संदृष्टः । कर्मणि लङ् । जीविताशया सह सार्वतदर्शनतो जीवि-
तोऽपीति तदाशया सह । सा रुचिरा तुष्टिदा रुचिं राति ददातीति कृत्वा ।
उन्नतरत्नगौरवादुन्नतं रत्नेत्रिव गौरवं बहुमानो यस्यामिति । परिपूर्णम-
मृतमरणं रश्मिमण्डलं यस्यामिति । सहोपमेति सहशब्देन जीविता-
शया उपमायोत्तनात् ॥ ३३ ॥

तद्वितोपमा ।

अपसन्नरुचिं वनाऽगतं तमनाऽमृष्टरजोविष्वसरम् ।

समपश्यदपेतमैथिलं दधतं गौरवमात्रमात्मवत् ॥ ३४ ॥

अवसन्नहच्चित्त्यादि—तं शिरोमणिं आत्मवदात्मानमिव समपश्यद्रामः । तेन तुल्यं क्रिया चेद्वितिः । ५ । १ ११५।' इति वितिः । अवसन्नहच्च मन्द-प्रभं वेणीबन्धनमलिनत्वात् । इतरत्र सशोकत्वात् । वनागतम् अशोकविनिका-ख्याद्वनादागतम् इतरं पितुरादेशाद्वन्नमागतम् । सुप्सुपेति समासः । अनामृष्टम् अनपनीतम् यद्रजः तेन विधुसरम् । उभयमपि अपेतमैथिलिम् अपेता मैथिली येन चस्माद्वा । दधतं गौरवमात्रं गुरुत्वमेव न दीप्त्यादिकम्, इतरं माहात्म्यं दधतम् । तद्वितोपमेति तद्वितप्रत्यया द्रष्टव्याः ॥ ३४ ॥

लुप्तोपमा ।

सामर्थ्यसम्पादितवाच्छित्ताऽर्थश्चिन्तामणिः स्यान्न कथं हनूमान् ।

सलक्ष्मणो भूमिपतिस्तदानीं शाखामृगानीकपतिश्च मेने ॥ ३५ ॥

सामर्थ्येत्यादि—सामर्थ्येन शक्त्या संपादितो निष्पादितो वाच्छित्तोऽभिल-भितोऽश्रौं येन स हनूमान् कथं चिन्तामणिश्चिन्तामणिरिव न स्यात् । इति तदानीं मेने ज्ञातवान् । सलक्ष्मणः सह लक्ष्मणेन भूमिपती रामः शाखामृगानीकपतिश्च सुग्रीवः । लुप्तोपमेति चिन्तामणिरित्यत्रवशब्दार्थस्य गम्यमानत्वात् ॥ ३५ ॥

समोपमा ।

युष्मानचेतन् क्षयवायुकल्पान् सीतास्फुलिङ्गं परिगृह्य जालमः ।

लङ्घावनं सिंहसमोऽधिषेते मर्तुं द्विषत्रित्यवदद्वनूमान् ॥ ३६ ॥

युष्मानित्यादि—युष्मान् रामादीन् क्षयवायुकल्पान् प्रलयकालमहान् चायुसहशान् अचेतन् अजानन् । ‘चिती संज्ञाने’ इति भौवादिकः । द्विषन् दशाननः जालमः मूर्खः सीतास्फुलिङ्गं सीतामभिकणमिव परिगृह्यादाय लङ्घां चनमिवाधिषेते । मर्तुं मरिष्यामीति सिंहसमै इत्यवदद्वनूमान् । समोपमेति समशब्देनोपमाया अभिधानात् । एवं निभसहशाद्योऽपि द्रष्टव्याः ॥ ३६ ॥

अर्थान्तरन्यासः ।

इदानीमलंकारान्तराण्याह—

अहृत धनेश्वरस्य युधि यः समेतमायो धनं

तमहमितो विलोक्य विबुधैः कृतोत्तमाऽयोधनम् ।

१ अत्र तुल्यार्थस्य वतेस्तद्वितत्वात्थोक्ता । २ वस्तुतस्त्वत्रोपेक्षा । ‘सम्मावना रुदुप्रेक्षा’ इति तलक्षणात् । ३ अत्र लुप्तोपमा । ४ अत्र समपदेन समाप्तेऽपि सैव ।

विभवमदेन निहुतहियाऽतिमात्रसम्पन्नकं
व्यथयति सत्पथादधिगताथवेह सम्पन्नकम् ॥ ३७ ॥

अहतेत्यादि—यो द्विषन् युधि संग्रामे समेतमायः समेता प्राप्ता माया येनेति उत्तीर्णे बहुत्रीहिः । मायावीत्यर्थः । धनेश्वरस्य धनदस्य धन-महूत हृतवान् । ‘हस्तादङ्गान् । ८२।२७।’ इति सिंचो लोपः । तं विवु-धैर्देवैः सह कृतोच्चमायोधनं कृतमहासंत्रामम् । निहुता अपलिपिता हीर्लज्जा येन विभवमदेन तेन निहुतहिया अतिमात्रं सुषु प्रसन्नकं युक्तं येन परिव्ययमपहृत्यानीतवानसौ तं विलोक्य अहमितः प्राप्तः । विभवमदो लज्जां त्याजयतीत्यमुमेवार्थम् अनुसृत्यार्थान्तरमाह—अथवेति । अथवाशब्दो निपातसमुदायः यस्मादर्थे वर्तते । यस्मादिह लोके संपन् विमूतिरधिगता प्राप्ता सत्पथात् सन्मार्गान् कं न व्यथयति चालयति । व्याधिरत्र चलनं वर्तते । अर्थान्तरन्यास इति उक्तादर्थादन्यस्योपन्यासान् । यथोक्तम्—‘उपन्यसनमर्थस्य प्रकान्तादपरम्य यत् । ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्था-लुगतो यथा ॥’ इतिै ॥ ३७ ॥

आक्षेपः ।

ऋद्धिमान् राक्षसो मूढश्चिवं नासौ यदुद्धतः ।
को वा हेतुरनार्याणां धर्म्ये वर्त्मनि वर्तितुम् ॥ ३८ ॥

ऋद्धिमानित्यादि—यदसाकुद्धतो दुर्वृत्तः न तच्चित्रमाश्रयम् । यस्मान् दूसौ ऋद्धिमान् राक्षसश्च । उभयथा विमूढ इत्येवद्युक्तमिति प्रतिषेध-यन्नाह—को वेति । किमनेनोक्तेन, यस्मादनार्याणां तद्विधानां धर्म्ये धर्मादनपेते वर्त्मनि मार्गे वर्तितुं को वा हेतुः किं नाम कारणम्, नैवेत्यर्थः । आक्षेप इति प्रतिषेधो नाम । यथोक्तम्—‘प्रतिषेध इवष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधो यथा ॥’ इति । अत्र पूर्वार्थेनोक्तो य इष्टोऽर्थः तस्य को वेत्यादिना विशेष-प्रतिपादनेच्छया प्रतिषेध इति । स च उक्तवक्ष्यमाणविषयभेदाद्विविधः । अय-सुक्तविषयः ॥ ३८ ॥

१ अत्र ‘नन्दनं’ वृत्तम् ‘शिवतुरगैस्तु नन्दनमिदं नजौ भजौ रद्यम् ।’ इति तत्त्वाक्षणात् ।

आक्षेप एव ।

तस्याधिवासे तनुरुत्सुकासौ दृष्टा मया रामपतिः प्रमन्युः ।

कार्यस्य सारोऽयमुदीरितो वः प्रोक्तेन शेषेण किमुद्भूतेन ॥ ३९ ॥
तस्येत्यादि—तस्य रावणस्याधिवासे लङ्घायाम् असौ रामपतिः सीता
मया दृष्टा । रामः परियस्या इति । ‘विभाषा सपूर्वस्य ।४।१।३४।’ इति नका-
रामावपक्षे रूपम् । तनुः कृशाङ्गी । ‘वोतो गुणवचनात् ।४।१।४४।’ इति
डीषो विकल्पः । उत्सुका सोत्कण्ठा, प्रमन्युः प्रकृष्टशोका । ‘उडुतः ।४।१।६६।’
इत्यूद्भूतं न भवति । तत्रायोपधादिति मनुष्यजातेरिति च वर्तते । अयं कार्यस्या-
स्यदर्दा तस्य सारांशरिं सीतादर्शनम् उदीरितः कथितः । वो युष्मभ्यम् ।
शेषेणोद्भूतेन अशोक वनिकाभङ्गादिना किं प्रोक्तेन । न किञ्चित् प्रयोजनम् ॥
स एवेत्यमप्याक्षेप एव किंतु वद्यमाणविषयः । अत्र पूर्वार्थोऽको य
इष्टोऽर्थः तस्य विशेषाभिमधितस्या प्रोक्तेनेत्यादिना शेषार्थप्रतिषेधः ॥ ३९ ॥

व्यतिरेकः ।

समतां शाश्विलेखयोपयायादवदाता प्रतनुः क्षेषण सीता ।

यदि नाम कलङ्क इन्दुलेखामतिवृत्तो लघयेन्न चाऽपि भावी ॥४०॥

समितामित्यादि—सीता अवदाता शुद्धा प्रतनुः प्रक्षेपेण तन्वी क्षेषण
द्वैर्बलयेन एतावता तुत्यर्घमत्वाच्छिलेखया समतां तुत्यतामुपयायात्
उपगच्छत् । यदि कलङ्को नामापरोऽतिवृत्तोऽतिक्रान्तः इन्दुलेखां न लघयेत्
न न्यूनयेत् । तथा भावी आगामी नालघयिष्यत् यदि । न चैवं तस्माच्चन्द्र-
लेखया न समेति भावः । व्यतिरेक इति अयं व्यतिरेको नाम अन्वयः ।
पूर्वार्थोपमानोपमेययोरर्थो दर्शितः, तस्य पञ्चार्थेन भेददर्शनात् । यथोक्तम्—
‘उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् । व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषो-
त्यादनाद्यथा ॥’ इति^१ ॥ ४० ॥

विभावना ।

अपरीक्षितकारिणा गृहीतां त्वमनासेवितवृद्धपण्डितेन ।

अविरोधितनिष्ठुरेण सार्वी दर्थितां त्रातुमलं घटस्व राजन् ॥ ४१ ॥

अपरीक्षितकारिणेत्यादि—अपरीक्षितकारिणा अविचारितकरणशीलेन,
नेनासेवितवृद्धपण्डितेन अपर्युपासितज्ञानवृद्धसत्पथेन, अविरोधितनिष्ठुरणा-

^१ अत्र ‘बौपच्छन्दोसिकं’ वृत्तम् । तत्त्वक्षणं तूकं ग्राहक् ।

नपकृतोऽपि क्रूरः सन् यः शत्रुः तेन गृहीतां साध्वीं पतित्रां दद्यितामिष्टां
ब्राह्माहीं त्रातुं रक्षितुमलं पर्याप्तं त्वं घटस्व यतस्व । हे राजग्रित्यवद्दण्डनूमान् ।
विभावनेति परीक्षा सेवा विरोधनं चोति तिसः क्रियाः १ तासां यः प्रतिषेवः
नज्ञा तेन अपरीक्षापूर्वकं यत् करणं तथा वृद्धसेवापूर्वकं यत्पणिडतत्वं
यच्चाविरोधपूर्वकं निष्ठुरत्वं तस्य क्रियाफलस्य विभावनात् प्रकाशनात् ।
यथोक्तम्—‘क्रियायाः प्रतिषेवेन तत्फलस्य विभावनात् । इत्यां विभावनैवासौ
सान्वर्थे कथ्यते यथा ॥’ इति ॥ ४१ ॥

समाप्तिः ।

सं च विह्वलसत्त्वसंकुलः परिशुष्यन्नभवन्महाहदः ।

परितः परितापमूर्च्छितः पतितं चाऽम्बु निरभ्रमीप्सितम् ॥४२॥

स चेत्यादि—स च रामो महाहदः महाहदसमः सीताविरहान् विह्वले-
नाकुलेन सत्त्वेन चेतसा संकुलो व्याप्तः । परिशुष्यन् शोषमुपगच्छन् परितः
समन्वात् परितापमूर्च्छितः शोकसंतापेन मूर्छान्वितोऽभवत् भूतः ।
अनन्तरं चाम्बु जले सीतावार्तश्रीवणमीप्सितम् अभिप्रेतं निरभ्रमाकस्मिकं
पवित्रमित्येकोऽर्थः । महाहदः परिशुष्यन् विह्वलैः सत्त्वैर्मत्स्यादिपि
संकुलो व्याप्तः । परितापमूर्च्छितः अर्कतापान्वितोऽभवत् । अम्बु च
निरञ्च विना भेदेन पतितमिति द्वितीयः । समाप्तिः । यथोक्तम्—
‘यत्रोक्तेर्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः । सा समाप्तिः किलदिता संक्षिप्ता
शार्थतया यथा ॥’ इति । एवं च कृत्वा अयं श्लेषाद्विद्यते । श्लेषे हि द्वयोरपि
शूयमाणत्वात् ॥ ४२ ॥

अतिशयोक्तिः ।

अथ लक्ष्मणतुल्यरूपवेशं गमनाऽदेशविनिर्गताऽप्रहस्तम् ।

कपयोऽनुयुः समेत्य रामं नतसुग्रीवगृहीतसाऽदराजम् ॥ ४३ ॥

अथत्यादि—अथ वार्ताश्रवणानन्तरं कपयः समेय मृलित्वा राममनुयुः
ज्ञादेशः तदर्थं विनिर्गतौ अप्रहस्तौ यस्य । नतेन प्रणवेन सुग्रीवेण गृहीता
प्रतिष्ठिता सादगजा यस्य तं रामम् । अतिशयोक्तिरिति अतिशयाभिधानात् ।
अत्र सुष्टुपि नामासौ लक्ष्मणेन तुल्यरूपवेशः स्यात्, न तु प्रत्यक्षप्रमाण-

१ अत्र ‘औपच्छन्दसिकं’ वृतम् । २ अत्र ‘सुन्दरी’ छन्दः ।

परिच्छेद्य इति लोकातिक्रान्तवचनमेतद्वचनम् । अवश्यं च कञ्चिद्विशेषोऽस्ति । यथोक्तम्—‘निमित्तं तो यत्र वचो लोकातिक्रान्तगोचरम् । मन्यन्तेऽतिशयोर्पर्क्तं तामलंकारतया यथा ॥’ इति ॥ ४३ ॥

अथ सप्तमिः कुलकम् ।

यथा संख्यम् ।

कपिपृष्ठगतौ ततो नरेन्द्रौ कपयश्च ज्वलिताऽयिपिङ्गलाऽक्षाः ।
सुमुचुः प्रयुद्धुर्तं समीयुर्वसुधां व्योम महीधरं महेन्द्रम् ॥ ४४ ॥
कपिपृष्ठगतावित्यादि—ततोऽनन्तरं नरेन्द्रौ रामलक्षणौ कपयश्च सर्वं ते सुमुचुः वसुधां त्यक्तवन्तः । प्रयुव्योम आकाशम् । महेन्द्रं मही-
रं समीयुः गतवन्तः । लिटः कित्वे गुणाभावाद्वातोरियङ् । नरेन्द्रौ
किंभूतौ । कपिपृष्ठगतौ हनूमन्तमारुढौ । यथा संख्यामिति सुमुचुरित्या-
दीनां क्रियाणां वसुधादीनां च कर्मणामनुक्रमशो निर्देशात् । यथोक्तम्—
‘भूयसामुपादिष्टानां क्रियाणामय कर्मणाम् । क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथा-
संख्यं तद्वचनं ॥’ इति ॥ ४४ ॥

उत्प्रेक्षा ।

स्थितमिव परिरक्षितुं समन्तादुदधिजलौघपरिप्लवाद्वारत्राम् ।

गगनतलवसुन्धरान्तराले जलनिधिवेगसहं प्रसार्य देहम् ॥ ४५ ॥

स्थितमित्यादि—उदधिजलौघातसमन्ततो यः परिप्लवो विनाशः तस्माद्व-
रित्रीं परिरक्षितुमिव गगनतलवसुन्धरयोरन्तराले देहं शरीरं जलनिधि-
वेगं सहत इति मूलविभुजादित्वात्कः । प्रसार्य स्थितं महेन्द्रं समीयुः ।
इत्प्रेक्षेति । यथोक्तम्—‘अविवक्षितसामान्यात्किञ्चिद्वोपमया सह । अतदुप-
क्रियारोपादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥’ इति । अत्र महीधरसामान्यस्यापि विव-
क्षितत्वादविवक्षितं सामान्यत्वं रक्षितुमिवेति किञ्चिदुपमया सह महेन्द्र-
परिरक्षतदुपमया रक्षणक्रियायोगः । गगनतलं वसुन्धरां व्याप्य स्थितमित्य-
विशयान्विताँ ॥ ४५ ॥

१ अत्र ‘अवैप्लवन्दृतिर्षिष्ठं’ इत्यहार अव्याप्ति तदेव वृत्तम् । ३ अत्र ‘प्रसिद्धात्रा’ वृत्तम्

वार्ता ।

विषधरनिलये निविष्टमूलं शिखरशतैः परिमृष्टदेवलोकम् ।

घनपुलनितम्बपूरिताशं फलकुसुमाऽचितवृक्षगम्यकुञ्जम् ॥४६॥

विषधरनिलय इत्यादि—विषधरनिलये पाताले निविष्टमूलं महेन्द्रम् ।
शिखरशतैः करणभूतैः परिमृष्टः संमृष्टो देवलोको येन । घनैर्निरन्तरीर्ध-
युलैर्विस्तीर्णैर्नेतम्बमेखलाभागैः पूरिता व्याप्ता आशा दिशो येन । फलकुसु-
माचितवृक्षैः रम्यं कुञ्जं गहनं यस्मिन् । वार्तेति तत्त्वार्थकथनान् । सा
विद्विधा विशिष्टा निर्विशिष्टा च । तत्र या पूर्वा सा स्वभावोक्तिहृदिता ।
यथेयमेव । तथा चोक्तम्—‘स्वभावोक्तिरुद्धार इति केचित्प्रचक्षते । अर्थस्य
तादेवम्ये च स्वभावोऽस्मिहितो यथा ॥’ इति । निर्विशिष्टा वार्ता
नामालङ्कारः । यथोक्तम्—‘गतोऽस्तमकों भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादिकं काव्यं वार्तामेतां प्रचक्षते॥’ इति ॥ ४६ ॥

प्रेयः ।

मधुकरविश्वैः प्रियाध्वनीनां सरसिरुहैर्दियताऽस्यहास्यलक्ष्म्याः ।

स्फुटमनुहरमाणमादधानं पुरुषपतेः सहसा परं प्रमोदम् ॥ ४७ ॥

मधुकरविश्वैरित्यादि—प्रियाध्वनीनां सीतासंबन्धिनां जलिवतानां मधु-
करविश्वैः स्फुटं स्पष्टमनुहरमाणमनुकुर्वन्तं साहश्यभित्यर्थान् । दायितायाः
सीतायाः यदास्य हासश्वेतयोर्लक्ष्म्याः सरसिरुहैः साहश्यमनुहरमाणं सन्तं
महेन्द्रम् । तत्र पद्मैरास्यलक्ष्म्याः कुमुदैर्हासलक्ष्म्याः । अथवा ‘तुल्यार्थैरुलोपमाभ्यां
नृतीयान्यतरस्याम् ॥१॥३॥४॥’ इति षष्ठी । अनुहरमाणशब्दस्य तुल्यार्थत्वात् ।
सहशीभवन्तमित्यर्थः । पुरुषपतेः रामस्य सहसा तत्क्षणम् आगतमात्रस्येत्यर्थः ।
परमुत्कृष्टं प्रमोदमाद्यानं जनयन्तं समीयुः । प्रेय इति भियतमवस्थव-
भिधानात् ॥ ४७ ॥

रसवद् ।

अहमणिरशनं दिवो नितम्बं विपुलमनुत्तमलब्धकान्तियोगम् ।

चयुतवनवसनं मनोऽभिरामं शिखरकर्मदनादिव स्पृशन्तम् ॥४८॥

१ अत्र ‘पुणिताग्रा’ छन्दः । वार्ता तु व्याख्याकारैर्लक्षितैव बोध्या । अन्ये
तु प्राय आलङ्कारिका गुणीभूतव्यङ्गयविशेषमेवाहुः । २ अत्रापि ‘पुणिताग्रा’ छन्दः ।
प्रेयःप्रमृतयस्तु भावालङ्कारा इति प्रकाशे स्थितम् ।

३ । ३ । ९२ ।' इति किः । उदीर्णेन महता धूमेन धूम्रामस्पष्टाम् । समेतसीतां संगता सीतानयेति तृतीयार्थं वहुत्रीहिः । पवनसुतस्याङ्गुल्या दर्शिताम् । उदक्षाः उर्ध्वाङ्कुताक्षाः । 'वहुत्रीहौ सकृद्यह्णोः स्वाङ्गातष्च । ५ । ४ । ११३ ।' इति ष्ठू । षिष्ठूक्षणो जीप् न भवति, वस्यानित्यत्वात् । तेन दंष्टूत्युपपन्नं भवति । समाहितमिति अनन्यमनस्कतया दिशोऽवलोकनात् ॥ ५१ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

उदारम् ।

जलनिधिमगमन्महेन्द्रकुञ्जात् प्रचयतिरोहिततिग्मरश्मभासः ।

सलिलसमुदयैर्महातरङ्गैर्मुवनभरक्षममप्यभिन्नवेलम् ॥ ५२ ॥

जलनिधिमित्यादि—महेन्द्रकुञ्जात् जलनिधिमगमन् गतवस्यः पुवङ्गसेनाः । लद्विन्वाच्छ्लेषङ् । प्रचयेन उच्चतया तिरोहितास्तिग्मरश्मभासो चेन निकुञ्जेन तस्मान्त्रिकुञ्जात् । सलिलसमुदयैर्महातरङ्गैर्महोर्मिभिः मुवनस्यभरणे क्षममपि शक्तमपि । 'भू भरणे' इति कैयादिकः । तस्य 'ऋदोरपुः ॥ ३ ॥ ५७ ॥' इत्यपि रूपम् । अभिन्नवेलम् अनाचिक्रान्तमर्थादिं जलनिधिम् । उदारमिति उदाच्चमित्यर्थः । महानुभावताप्रतिपादनात् । यतो महातरङ्गैर्जलसमूहैर्मुवनभरक्षममपि अभिन्नवेलमिति । द्विविधमुदारं महानुभावतया विविवत्तयोगाच्चेति । इयं महानुभावता दर्शिता ॥ ५२ ॥

द्वितीयमाह—

उदारमेव ।

पृथुगुरुर्मणिशुक्तिगर्भभासा ग्लपितरसातलसम्भृताऽन्धकारम् ।

उपहतरविरश्मवृत्तिमुच्चैः प्रलघुपरिप्लुवमानवज्रजालैः ॥ ५३ ॥

पृथिव्यत्यादि—पृथ्वो महान्तः गुरुवस्तु न परिच्छेद्या मगयो मौक्तिक्याचासां शुक्तीनां तथाविधानां गर्भस्य भासा दीप्त्या ग्लपितं क्षयितं रसातले संभृतमुपचितमन्धकारं येन तम् । उच्चैरुपरि प्रलघुनामल्पानां परिप्लुवमानानां वज्राणां यानि जांलानि समूहाः तैरुपहतारविरश्मवृत्तयो

१ समाहितमेव समाधिः । 'समाधिः सुकरं कार्द्धं कारणान्तरयोगतः ।' इति ।

२ उदारमित्यत्रोदाच्चमिति पठनीयम् । 'उदात्तं वस्तुनः समन्महतां चोपलक्षणम् ।' इति तल्लक्षणं च । एवं परत्रापि सर्वत्रोदारश्मुदाच्चालङ्घारपरमेव ।

यस्मिन् सः । तं जलनिधिमगमन् । यद्वज्ञं वारिणि तरति तत्प्रशस्तमित्युक्तम् । ‘एतदेवापरेऽन्येन वाक्यार्थेनान्यथा विदुः । नानारत्नवियुक्तं यत्तत्किलोदारमुच्यते ॥’ इति ॥ ५३ ॥

उदारमेव ।

समुपचितजलं विवर्धमानैरमलसरित्सलिलैर्बीभावरीषु ।

स्फुटमवगमयन्तमूढवारीन् शशधरतनमयान्महेन्द्रसानून् ॥ ५४ ॥

समुपचितजलमित्यादि—विभावरीषु विवर्धमानैरमलैः सरित्सलिलैः समुपचितजलम् उद्धिं स्फुटं स्पष्टमवगमयन्तं बोधयन्तम् । किमित्याह—महेन्द्रसानून् शशधरतमयान् चन्द्रकान्तस्वभावान् ऊढवारीन् । अन्यथा कथं धोयते जलं यदि चन्द्रकान्तसानवो न स्युः । उदारमेवेति रत्नयोगात् ॥ ५४ ॥

श्लिष्टम् ।

भुवनभरसहानलङ्घयधान्नः पुरुरुचिरत्नभूतो गुरुरुदेहान् ।

श्रमविधुरविलीनकूर्मनक्रान् दधतमुदूढभुवो गिरीनहींश्च ॥ ५५ ॥

भुवनभरसहानित्यादि—गिरीन् भुवनभरसहान् अहींश्च ताहशानेक दधेतं जलनिधिमगमन् । गिरीनलङ्घयधान्नः अहींश्चानभिमवनीयतेजसः । गिरीन् पुरुरुचिरत्नभूतः अहींश्च महारुचिरत्नभूतः । गिरीन् गुरुदेहान् अहींश्च मंहाकायान् । श्रमविधुराः श्रमपीडिताः विलीनाः कूर्मा नक्षत्रम् येषु तान् गिरीनहींश्चोदूढभुवो धृतवसुधान् । गिरीनहींश्च ‘नश्छव्य-प्रशान् । ७ । ३ । ७ ।’ इति दृत्वं पूर्वस्यानुनासिकः । श्लिष्टमिति उपमानेनोपमेयत्वस्य साधनात् । तथा चोक्तं विशेषणेन श्लिष्टम्—‘उप-मानेन यत्त्वमुपमेयस्य साध्यते । क्रियागुणाभ्यां नान्नाच श्लिष्ट तदाभिधीयते ॥’ इति । अत्रोपमानभूतैरहिमिरुपमेयभूतानां गिरीणां तत्त्वस्य तादूष्यस्य* भुवनभरादितादूष्यक्रियया तद्वेणेन च साध्येन गिरीभिरहमित्य नान्नाच शब्देन भुवनभरसहानित्यादिना साध्यमानत्वात् । रूपक-मंपीदृशमेव । किंतु श्लिष्टस्य भेदेनोपमानेनोपमेययोर्युगष्टत्रयोगात् । रूपके पुनरेकस्त्रैवोपमेयपुरुषस्य व्याघ्र उपमानम् । तथा चोक्तम्—‘लक्षणं रूपक-इष्टिं विद्यते काममत्र तु । हृष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ॥’ इति ॥

तदुक्लक्षणं शिष्टं सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्रिविधम् । यथोक्तम्—
“शेषादेवार्थवचसार्थत्य च क्रियते भिदा । तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशा-
त्रिविधं यथा ॥” इति । तत्रेदं सहोक्त्यिष्टमुक्तं गिरीनहीश्वेति सहोक्त्या
निर्देशात् ॥ ५५ ॥

शिष्टमेव ।

प्रदद्यशुरुमुक्तशीकरौधान् विमलमणिद्युतिसम्भृतेन्द्रचापान् ।
जलमुच इव धीरमन्द्रघोषान् शितिपरितापहतो महातरङ्गान् ॥ ५६ ॥

प्रदद्यशुरित्यादि—महातरङ्गान् जलमुच इव मेघानिव प्रदद्यशुः प्रदद्य-
त्यत्यः । उर्वो महान्तो मुक्ताः प्रकीर्णाः शीकरौधा येषु । विमलमणिद्युतय
मुब सन्ततानि इन्द्रचापानि येषु । धीरमन्द्रघोषान् मधुरगम्भीरवर्णान् ।
श्वितिपरितापहतः पृथिवीसंतापहारिणः । इदमपि यथानिर्दिष्टविशेषणात् । शिष्ट
जलमुच इवेत्युपमाननिर्देशात् ॥ ५६ ॥

अथ पञ्चमिः कुलकम् ।

हेतुशिष्टम् ।

विदुममणिकृतभूषा मुक्ताफलनिकररञ्जिताऽत्मानः ।

बभुरुदकनागभग्ना वेलातटशिखरिणो यत्र ॥ ५७ ॥

विदुमेत्यादि—वेलातटशिखरिणो यत्र जलनिधौ बभुः शोभन्ते । ते
चमयुरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । वेलातटाः शिखरिणश्चेति द्वन्द्वः । शोषाणि
विशेषणान्युभयत्र तुल्यानि । इदमपि यथानिर्दिष्टमेव । किंतु हेतुशिष्टं
हेतुद्वारेण विशेषणानां निर्देशात् । विदुममणिकृतभूषत्वात् जलहस्तिभगत्वाच्च
बभुरिति ॥ ५७ ॥

अपद्मातः ।

भृतनिखिलरसातलः सरलः शिखरिसमोर्मितिरोहिताऽन्तरिक्षः ।

कुत इह परमार्थतो जलौधो जलनिधिमीयुरतः समेत्य मायाम् ॥ ५८ ॥

भृतनिखिलरसातल इत्यादि—एवं गुणविशिष्टो जलौधः कुत इह प्रदेशे
परमार्थतः परमार्थेन विद्यते । किं तर्हि माया । यतः पूरिताशेषपातालत्वात्
सरत्नत्वात् । शिखरिसमैर्मिभिः पिहितान्तरिक्षत्वाच्च । सराघवाः प्लवङ्गसेनाः

^३ अत्र द्वयोर्हेत्वोर्वचनं शिष्टम् ।

समेत्य मायामिव जलनिधिमीयुः ज्ञातवत्यः । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति । ‘भूत्य भरणे’ इति भौवादिकः । अपहुतिरिति मायामित्यन्तर्गतोपमारूपतया निर्देशात् । विद्यमानार्थस्य चापहवात् । तथा चोक्तम्—‘अपहुतिरिती—ष्ट्रात्र किंचिदन्तर्गतोपमा । भूतार्थापहवादेषा क्रियतेऽस्याभिधा यथा ॥’ इति ॥ ५८ ॥

विशेषोक्तिः ।

शशिरहितमपि प्रभूतकान्ति विबुधहृतश्रियमप्यनष्टशोभम् ॥५९॥
शशिरहितमित्यादि—शशिरहितमपि चन्द्ररहितमपि प्रभूतकान्तिम् ।
 पद्मरागादिरक्षावभासितत्वात् । विबुधहृतश्रियमपि अनष्टशोभं सर्वदा शोभा-
 स्पदत्वात् । सुरैर्मैथितमपि दिवमाकाशं जलौघैः समभिभवन्तम् अत्युच्छ्रुत-
 त्वात् । तदेवमविक्षतप्रभावम् अखण्डिताभिमानमीयुः ज्ञातवत्यः । विशेषोक्ति-
 रिति शश्यादेवेकदेशस्य विगमेऽपि प्रभूतकान्त्या गुणान्तरेण स्तुतिविशेषस्य
 प्रतिपादनात् । यथोक्तम्—‘एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः । विशेष-
 प्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥’ इति ॥ ५९ ॥

व्याजस्तुतिः ।

क्षितिकुलगिरिशेषदिग्गजेन्द्रान् सलिलगतामिव नावमुद्धहन्तम् ।
धृतविधुरधरं महावराहं गिरिगुरुपोत्रमपीहितैर्जयन्तम् ॥ ६० ॥
क्षितीत्यादि—क्षिति पृथिवीं, कुलगिरीन् कुलपर्वतान्, शेषं नागरांजं,
 दिग्गजेन्द्रानैरावतादीन् । सलिलगतामिव नावमुद्धहन्तं जलनिधिं महावराहं
 धृतविधुरधरं धृता उद्धृता विधुरा विह्वला धरा मही येनेति । गिरिगुरु-
 पोत्रं गिरिवत् गुरु पात्रं यस्य तमपीहितैश्चैष्टैर्जयन्तं जलनिधिमीयुः ।
 व्याजस्तुतिरिति क्षितीत्यादिधारणादधिकगुणस्य जलनिधेः स्तोत्रव्यपदेशेन वराहेण
 तुल्यत्वात् । तमपि महावराहं जयन्तमिति किंचिद्विधातुभिच्छुया निन्दनात् ।
 तथा चोक्तम्—‘दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यता । किंचिद्विधित्सया निन्दा
 व्याजस्तुतिरसौ यथा ॥’ इति ॥ ६० ॥

उपमारूपकम् ।

गिरिपरिगतचञ्चलाऽपगान्तं जलनिवहं दधतं मनोऽभिरामम् ।
गलितमिव भुवो विलोक्य रामं धरणिधरस्तनशुक्लचीनप्रट्टयम् ॥ ६१ ॥

गिरीत्यादि—गिरिमिः परिगताः संसृष्टाः च चला विलोलः आप-
गान्ता नवन्ता यस्मिन् जलनिवहे तं जलनिव्रं ह दद्यते धारयन्तं समुद्र-
मीयुः । कीदृशमिव जलनिवहम् । रामं भर्तारं विलोक्य दृष्टाया इत्यर्थ-
प्राप्तम् । ततश्च पूर्वकाले कृत्वा । मुवः पृथिव्या इव धरणिधरस्तनयोः
चुक्षुचीनपृथिव्या गढितम् । उपमारूपकमिति । तथोक्तम्—‘उपमानस्य
चङ्गावसुपमेयस्य रूपयन् । यो वदत्युरमाभेदसुपमारूपकं यथा ॥’ इति ॥ ६१ ॥

तुल्ययोगिता ।

अपरिमितमहाऽङ्गुतैर्विचित्रदच्युतमलिनः शुचिभिर्महानलङ्घयैः ।

तरुमृगपतिलक्षणक्षितीन्द्रैः समधिगतो जलधिः परं बभासे ॥ ६२ ॥

अपरिमितमहाऽङ्गुतैरित्यादि—तरुमृगपतिलक्षणक्षितीन्द्रैः सुभीवलक्षणरामैः
समधिगतः प्राप्तो जलधिः परं सुष्ठु. बभासे शोभते स्त । कीदृशैः कीदृश
इत्याह—अपरिमितमहाऽङ्गुतैर्विचित्रः नानाऽङ्गुतः । शुचिभिर्विमलैः च्युतमलिनो
निर्मलोऽङ्गुतैरनभिभवनीयैः महान् अनभिभवनीयः । एवं च कृत्वा तेनापि
ते समधिगताः परं बभासिर इति । तुल्ययोगितेति न्यूनानामपि तेषां सुश्रीवा-
दीनां विशिष्टेन जलनिधिना महाऽङ्गुतत्वादिगुणसाम्यविवक्षया तुल्यस्य
कार्यस्य भासनलक्षणस्यानुष्ठानेन तुल्ययोगात् । तथा चोक्तम्—‘न्यूनस्यापि
विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ॥ तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥’
इति ॥ ६२ ॥

निर्दर्शना ।

न भवति महिमा विना विपत्तेरवगमयन्निव पश्यतः पयोधिः ।
अविरतमभवत्क्षणे क्षणेऽसौ शिखरिपृथुप्रथितप्रशान्तवीचिः ॥ ६३ ॥

न भवतीत्यादि—महिमा महत्त्वं विना विपत्तेः विनाशं विना न
भवति । ‘पृथग्विनानानाभिस्तुतीयाऽन्यतरस्याम् । २ । ३ । ३२ ।’ इति
पञ्चमी । नास्त्येव तन्महत्त्वं यस्य विनाशो नास्तीत्येवमवगमयन्
बोधयन्निव पयोधिस्तान् पश्यतो रामादीन् अविरतमविच्छेदेन शिखरि-
चत् पृथवः प्रथिताः प्रशान्ताश्च वीचयो यस्य स एवं क्षणे क्षणे अभवन्

१ उपमारूपकयोस्सङ्गः । उपमारूपकमिति विशेषव्यपदेशस्तु नास्यलङ्घारः
श्वकाशकारादिमते ।

भूतवान् । निर्दर्शनेति प्रतिक्षणं वीचीनां पूथुत्वप्रशान्तत्वभवनक्रिययैव माहसभवनस्य तदर्थस्य विपत्तिकलस्य उपादानात्, न यथेववतिशब्दानां प्रयोगात् । तथा चोक्तम्—‘क्रिययैव तदर्थस्य विशिष्टस्योपदर्शनात् । इष्टा निर्दर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥’ इति ॥ ६३ ॥

विरोधः ।

समुद्रोपकण्ठे रामस्य मदनावस्थामाह—

मृदुभिरपि विभेद पुष्पबाणैर्जलशिशिरैरपि मारुतैर्ददाह ।

रघुतनयमनर्थपण्डितोऽसौ न च मदनः क्षतमाततान नार्दिचिः ॥ ६४ ॥

मृदुभिरित्यादि—मदनोऽनर्थपण्डितः निष्ठयोजनकुशलः पुष्पबाणैरपि मृदुभिः रघुतनयं विभेद । न चासौ क्षतं खण्डनमाततान जनितवान् । जलशिशिरैर्मारुतैस्तमेव रघुतनयं ददाह न चासावर्चिर्ज्वालमाततान । विरोधै इति पुष्पबाणानां यन्मार्दिवं मरुतां च जलसंसर्गाद्यच्छैत्यं तयोर्भेददाहलक्षणे क्रिये विरुद्धे तयोरभिधानात् । तयोश्च क्रिययोर्वा विरोधिनी क्रिया क्षतार्चिघोरनातानलक्षणा तस्याः कामोद्रेकप्राप्तिपादनाभिधानात् । तथा चोक्तम्—‘गुणस्य च क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा । या विशेषाभिधानाय विरोधं च विदुर्यथा ॥’ इति ॥ ६४ ॥

उपभेद्योपमा ।

अथ मृदुमीलिनप्रभौ दिनाऽन्ते जलविसमीपिगतावतीतलोकौ ।

अनुकृतिमितरेतरस्य मूत्योर्दिनकरराघवनन्दनावकार्षीम् ॥ ६५ ॥

अथेत्यादि—अथ यथोक्तवस्त्वनन्तरं सृदुमलिनप्रभौ मृदुरप्रचण्डा मलिना प्रभा ययोः तौ दिनकरराघवनन्दनौ । रघोरपत्यं राघवः दशरथस्तन्नन्दनो रामः । दिनान्ते अन्योन्यस्य दिवाकरो रामस्य रामोऽपि दिवाकरस्येति मूर्त्यो—देहयोरनुकृतिमितवानुकारमिव यथोक्तर्थमतुल्यतया अकार्षी कृतवन्तौ । अतीतलोकौ त्यक्तलोकौ । उपमेयोपमेति तयोः पर्यायेण उपमानेऽप्मेयत्वात् । तथा चोक्तम्—‘उपमानेऽप्मेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् । उपमेयोपमां धीरा त्रुवर्ते तां यथोदिताम् ॥’ इति ॥ ६५ ॥

सहोक्तिः ।

अपहरदिव सर्वतो विनोदान् दयितगतं दधदेकथा समाधिम् ।

घनकृति ब्रह्मे त्रतोऽन्धकारं सह रघुनन्दनमन्मथोदयेन ॥ ६६ ॥

१ विरोधो विरोधाभासः । २ अत्र ‘युष्मिताग्रा, वृत्तम् ।

अपहरदित्यादि—ततस्तूतरकालं दिवसे ये विनोदाः चेतसः संस्थापकाः
तान् सर्वतः सर्वान् सर्वेण वा प्रकारेण । आद्यादित्वात्तसिः । अपहरदिव अप-
नयदिवान्धकारं दयितगतं भ्रियागतं च । समाधिं चित्तैकाग्रताम् एकधा एक-
प्रकारं दघत् धारयन् । बनसुचि बहुलच्छायं ववृथे वर्धते स्म । सह रघुनन्दन-
मन्मथोदयेन तदानीं तस्य कामोदयोऽपि ववृथे । सहोक्तिरिति अन्धकार-
मन्मथाश्रितयोर्विर्घनक्रियोस्तुल्यकालयोः ‘ववृथे’ इत्यनेन पदेन कथनान् । तथा
चोक्तम्—‘तुल्यकालक्रिये यत्र वतुद्वयसमाश्रिते । वाक्येनैकेन कथ्येते सहोक्तिः
सा मता यथा ॥’ इति ॥ ६६ ॥

परिवृत्तिः ।

अधिजलधि तमः क्षिपन् हिमांशुः परिदद्वजेऽथ दशां कृताऽवकाशः ।
विदधादिव जगत् पुनः प्रलीनं भवति महान् हि पराऽर्थ एव सर्वः ॥ ६७ ॥

अधिजलधीत्यादि—अथ हिमांशुरन्धकारवर्धनालन्तरम् । अधिजलधि
जलघेहूपरि । विभक्त्यथेऽव्ययीभावः । तमः क्षिपन् अपनयन् । परि-
दद्वजे दृष्टः । दशां चक्षुषां कृतावकाशः दर्त्तावसरः । जगङ्गोकं प्रलीनं
तिरोभूतं पुनर्विदधदिव सृजित्रिव । कस्मात्तेनैवं कृतमित्याह—यसाद्यो महान्
स चर्वः परार्थ एव परप्रयोजन एव भवति । परिवृत्तिरिति दशां कृतावकाश
इत्यनेन विशिष्टस्य वस्तुन आदानात् । तमः क्षिपत्रित्यनेनप्त्य वस्तुनः
अपोहात्, भवतीत्यादिना अर्थान्तरन्यासात् । तथा चोक्तम्—‘विशि-
ष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ॥’ अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ
यथा ॥ इति ॥ ६७ ॥

सप्तन्देहः ।

अशनिरथमसौ कुतो निरञ्चे शितशरवर्षमसत्तदप्यशाङ्कम् ।
इति मदनवशो मुहुः शशाऽङ्के रघुवनयो न च निश्चिकाय चन्द्रमूर्द

अशनिरित्यादि—असौ यश्चन्द्रः किमयमशनिर्ब्रजम् असौ कुतो निरञ्चे
नभसि कुतः, यतोऽसौ मेघादुत्पद्यत इति । उत निशितानां शराणां वर्ष तदप्य-
शाङ्कमविद्यमानधनुः असदविद्यमानमित्ययं मदनवशः कामाभिभूतो मुहुः

^१ अत्र सहोक्तिरपेक्षासङ्कीर्ण । ‘परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थाना स्याद्
समासमैः’ इति प्रकाशकारोक्ता तु न संगच्छते ।

न्नगं शशाङ्के शशाङ्कविषये रघुतनयोऽसूदित्यर्थात् द्रष्टव्यम् । न च चन्द्रं
निश्चिकाय निश्चिनोति स्म । ‘विभाषा चेः॥७॥२५॥’ इति कुलम् । ससन्देह इति
अशनिशरवर्षाभ्याम् उपमेयस्य चन्द्रस्य तत्त्वम् अशनिशरवर्षमिति प्रयोक्तु-
रभिधानात् । कुतो निरप्ते तदप्यशार्ङ्गमिति पुनरुपमानोपमेययोर्भेदाभिभ-
वानात् न निश्चिकाय चन्द्रमिति स्तुत्यर्थं सन्देहवचोऽभिधानात्त्वच । तथा
चोक्तम्—‘उपमानोपमेयस्य तत्त्वं च वदतः पुनः। ससन्देहवचः स्तुत्यै ससन्देहं
विदुर्यथा ॥’ इति ॥ ६८ ॥

अनन्वयः ।

कुमुदवनचयेषु कीर्णरश्मिः क्षतिमिरेषु च दिग्वधूमुखेषु ।
वियति च विललास तद्विद्विलसति चन्द्रमसो न यद्वदन्यः ॥६९॥

कुमुदवनचयेष्वित्यादि—कुमुदवनानां चयेषु समूहेषु, दिग्वधूमुखेषु
वियति च, क्षतिमिरेषु खण्डिततमःसु यतस्तेषु विकीर्णरश्मिः क्षिप्रमयूखः
विललास तद्विद्विलुः शोभते स्म । चन्द्रमसः सकाशात् अन्यो यद्वद्यथा न विल-
सति तथा विललास । इदमुक्तं भवति । इन्द्रुर्विललास चन्द्र इवेति । अन-
न्वय इति सत्सद्वशस्य साम्यस्याविवक्षातश्चन्द्रस्योपमानोपमेयत्वात् । तथा
चोक्तम्—‘यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता । सादृश्यस्याविवक्षातस्तमि-
त्वाहुरनन्वयम् ॥’ इति ॥ ६९ ॥

उत्प्रेक्षावयवः ।

शरणमिव गतं तमो निकुञ्जे विटपिनिराकृतचन्द्ररश्म्यरातौ ।
पृथुविषमशिलाऽन्तरालसंस्थं सजलघनद्युति भीतवत्ससाद् ॥ ७० ॥

शरणमित्यादि—पृथुविषमशिलानां यान्यन्तरालानि तेषु संस्थं संतिष्ठ-
मानं सत्तमः निकुञ्जे गहने विटपिभिन्निराकृताश्चन्द्रस्य रश्मय एवारातयो
यस्मान्निकुञ्जात् तस्मिन् ससाद् विलीनं शरणमिव । यथा कश्चित् भीतो
दुर्गं निलीयते । सजलस्य घनस्येव द्युतिर्यस्य तमसः तत् । उत्प्रेक्षावयव
इति । भीतवत्ससादेति । उपमाश्लेषलक्षणस्य लिङ्गस्यार्थेन योगात् शरण

१ उत्प्रेक्षैवकदेशवर्त्तिनी चेत्तदोत्प्रेक्षावयव इति ।

मिव गतमित्युत्प्रेक्षयोगात्, ‘विटपिनिराकृतचन्द्ररस्म्यरातो’ इति रूपकः—
थेन योगात् । तथा चोक्तम्—‘शिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिच्चोत्प्रेक्षया—
न्विवः । रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥’ इति । ‘विटपितिरस्कृतचन्द्र—
रीश्मयोगः’ इति पाठान्तरम् । तत्र रूपकार्थो नास्तीति असंपूर्णलक्षणता ॥७०॥४

संस्कृष्टिः ।

अथ नयनमनोहरोऽभिरामः स्मर इव चित्तभवोऽप्यवामशीलः ।
रशुसुतमनुजो जगाद् वाचं सजलधनस्तनयित्तुल्यघोषः ॥ ७१ ॥

अथेत्यादि—अथ चन्द्रदर्शनानन्तरं रशुसुतं राममभिरामः कामाभिभूत—
त्वादाभिमुख्येन रस्यत इति । अनुजः कर्नीयान् ऋता वाचं वक्ष्यमाणां
जगाद् गदितवान् । नयनमनोहरः प्रेक्षणीय इत्यर्थः । अत्र नयने मन—
आवर्जयन् नयनमनोहर इति तुल्ययोगिता । न्यूनस्य लक्षणस्याधिकेन
सहाभिरमणीयगुणसाम्यविवक्षया अभिरमणतुल्यक्रियायोगात् । स्मर इव
चित्तभवोऽपि तस्य चेतासि सदा भवतीति श्लिष्टम् । तथाप्यवामशीलो—
ऽप्रतिकूल इति विरोधः । स्मरस्तु वामशीलः । सजलधनस्तनयित्तुना
शब्देन तुल्यो घोषो यस्य । संस्कृष्टिरिति वह्नलंकारयोगात् । तथा चोक्तम्—
‘पराभिभूता संस्कृष्टिरह्नलंकारयोगतः । रचिता रत्नमालेव सा चैवं कृथ्यन्ते
यथा ॥’ इति ॥ ७१ ॥

आशीः ।

पतिवधपरिलुप्तलोलकेशीर्णयनजलाऽपहृताऽभनौष्ठरागाः ।

कुरु रपिवानिता जहीहि शोकं क च शरणं जगतां भवान् क्ष मोहः ७२

पतिवधादि—पतिवधेन परिलुप्ता भ्रष्टा लोलाः केशा यासां रिपुवनि—
तानाम् । नयनजलेनाश्रुणा अपहृतमञ्जनमोष्ठरागश्च यासां ताः मन्दोदरी—
प्रभृतीः कुरु । शोकं जहीहीत्याशंसे । किं क भवान् जगतां शरणसाश्रयः
क च मोह इति । आशीरिति इष्टस्याशंसनात् । तथा चोक्तम्—‘आशी—
रिति च केषांचिदलंकारतया मता । सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याऽ
तदथा ॥’ इति ॥ ७२ ॥

१ ‘सै षा संस्कृष्टेरेवां भेदेन यदिह स्थितिः ।’ २ नैतस्यालङ्कारत्वं प्रकाशकाः
द्योऽभिप्रयन्ति ।

हेतुः ।

अधिगतमहिमा मनुष्यलोके बत सुतरामवसीदति प्रमादी ।
गजपतिरुशैलशङ्खवर्षम् गुरुरवमज्जति पङ्कभाड न दारु ॥ ७३ ॥

अधिगतमहिमेत्यादि—मनुष्यलोके योऽधिगतमहिमा प्राप्ताधिपत्यः स
अमादी शोकादिषु प्रमादवान् बत कष्टमवसीदति न कार्यसमर्थो भवति ।
कुत एतदित्याह—गजपतिः उर्शैलशङ्खवर्षम् महाशैलशङ्खप्रमाणं वर्षम्
चपुर्यत्य सः । पङ्कभाक् पङ्कं भजतीति । ‘भजो षिवः । २।२।६२।’ इति षिवः ।
चङ्गमवतीणः सर अवमज्जति अवसीदति । यस्मादसौ गुरुः, न पुनर्दारु
काष्ठं, तस्पान्मुच्च शोकम् । हेतुरिति गजपतेहेतुद्वारेण निर्देशात् । अथम-
र्यान्तरो द्रष्टव्यः ॥ ७३ ॥

निपुणम् ।

बोद्धव्यं किमिव हि यत्त्वया न बुद्धं
किं वा ते निमिषितमप्यबुद्धिपूर्वम् ।
लघ्वात्मा तव सुकृतैरनिष्टशङ्की

स्नेहौवो घटयति मां तथापि वक्तुम् ॥ ७४ ॥

बोद्धव्यमित्यादि—किमिव तद्बोद्धव्यं ज्ञातव्यमस्ति नैवेत्यर्थः । यत्त्वया न
बुद्धं बुद्धया विज्ञेयं तव किंचिच्चेष्टिमपि नोपेक्षापूर्वकं यतो निमिषितमप्य-
श्णोर्नीमीलनमपि अबुद्धिपूर्वकं नैवेत्यर्थः । यद्यवं किमित्यस्मानुप-
दिशसीत्याह—लघ्वात्मति । तथापि सुकृतैर्लघ्वात्मा लघ्वजन्मा स्नेहौधः
स्नेहसमूहः । अनिष्टशङ्की अनिष्टशङ्कनशीलः । मां वकुं वदेति । घटयति ।
निपुणमिति अर्थावगादत्वादस्य चोदात्तेऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः । भाविक्तव्य-
मित्यलंकार उक्तः । तद्बन्धविषयत्वात्पृथक् प्रदर्शयिष्यन्ति ॥ ७४ ॥

सौमित्रेरिति वचनं निशम्य रामो

जम्भावान्मुजयुगलं विभज्य निद्रान् ।

अद्यष्टाच्छिशयिषया प्रवालतलयं

रक्षायै प्रतिदिशमादिशन्प्लवङ्गान् ॥ ७५ ॥

इति भट्टिकाव्ये दशमः सर्गः ।

१ अस्य प्रकाशमते काव्यलिङ्ग एवान्तर्भावः । २ नास्यालङ्कारत्वं प्रकाशकारदद्यते
अन्वते । ३ अत्र परत्र च ‘प्रहर्षिणी’ वृत्तम् । ‘शौ ज्ञौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्’
इति तत्त्वांकणस् ।

सौमित्रेरित्यादि—इतेवं सौमित्रेः लक्ष्मणस्य वचने निशम्य श्रुत्वा रामो जृम्भावान् जातजृम्भिकः । जृम्भणं जृम्भा । ‘गुरोऽह इलः ।३।३।१०३।’ इत्यकारः । टाप् । निद्रान् निद्रां गच्छन् । ‘द्रा कुत्सायां गतौ ।’ इत्यस्थादादिकस्य निपूर्वस्य शतरि रूपम् । शिशयिषया शयितुमिच्छया । सुजयुगलं विभज्य एकं शिरःस्थाने न्यस्य द्वितीयं शरीरस्योपरि प्रसायेत्यर्थः । ‘विमुच्य’ इति पाठान्तरम् । तत्र क्रोडभागे वक्रीकृत्यर्थः । प्रवालतल्यं पह्लवशय-नीयम् अध्यष्टात् अधिष्ठितवान् । ‘गातिस्थायुपामूर्भ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७।’ इति लिचो लुक् । ‘प्राक् सितादद्वयवायेऽपि ।८।३।६३।’ इति अत्वम् । समुद्रदिव्यक्षया नियमपूर्वं सुज्वापेत्यर्थः । रक्षाय रक्षानिमित्तं प्रवङ्गानादिशन् नियोजयन् । प्रतिदिशं दिशि दिशि । ‘अव्ययीमावे शरत्प्रभृतिभ्यः ६।४।१०७।’ इति टच् । तत्र दिक्शवद्यस्य पठितवान् ॥ ७५ ॥

ऊति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽस्यथा व्याख्याया समलं-
कृते श्रीभट्टप्रणाते रामचरिते काव्ये तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षण-
रूपे प्रथगः परिच्छेदः, तथा लक्ष्यरूपे कथानके ‘सीता-
भिज्ञानदर्शनं’ नाम दर्शमः सर्गः ।

एकादशः सर्गः ।

माधुर्यमपि काव्यस्य गुण उक्तः । तथा चोक्तम्—‘श्राव्यं नातिसमस्तार्थं
काव्ये मधुरमिष्यते ।’ इति । तत्प्रदर्शनार्थं लङ्घागतप्रभातवर्णनमधिकृत्याह—
अथाऽस्तमासेदुष्विं मन्दकान्तौ पुण्यक्षयेषेव निधौ कलानाम् ।
समाललम्बे रिपुमित्रकल्पैः पद्मैः प्रहासः कुमुदैर्विषादः ॥ १ ॥

अयेत्यादि—अथानन्तरं कलानां निधौ चन्द्रमसि अस्तं पर्वतमासेदुष्वि
गतवति । यथा कस्मिश्चिन् पुण्यक्षयेणाव सानमासेदुष्वि । ‘भाषायां सद्वस-
शुवः ।३।२।१०८।’ इति लिटः क्षुरादेशः । मन्दकान्तावित्यस्तगमने
पूर्वलिङ्गं दर्शयति । रिपुकल्पैः पद्मैः प्रदासः विकाशः, मित्रकल्पैः कुमुदै-
र्विषादः संकोचः समाललम्बे समालस्तिं ॥ १ ॥

१ अत्र सर्गे ‘उपजातिः’ छन्दः ।

दूरं समारुह्य दिवः पतन्तं भृगोरिवेन्दुं विहितोपकारम् ।
 बद्धाऽनुरागोऽनु पपात तूर्णं तारागणः सम्भृतशुभ्रकीर्तिः ॥ २ ॥

द्वूरमित्यादि—दूरं दिव आकाशस्य भागं समारुह्य पश्चात्तत एवाकाशात् भृगोरिव प्रपातादिव पतन्तमिन्दुं तारापतिमनु पश्चात् तारागणः विहितोपकारं तदुदयेन तारागणाप्यायानात् बद्धाऽनुरागः अस्तगमनकाले अनुगतरक्तभावः संभृता विपुलीकृता शुभ्रा निर्मला कीर्तियेन स तारागणः पपात् । यथा कस्मिंश्चित्सामिनि भृगोः पतति पश्चात्स्वामिभक्त्या भृत्यलोको बद्धाऽनुरागः संभृतशुभ्रकीर्तिः पतति तद्विदिति ॥ २ ॥

क्व ते कटाक्षाः क्व विलासवन्ति ग्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा ।
 लङ्घाऽङ्घनानामवबोधकाले तुलामनारुह्य गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

क्व त इत्यादि—ये कटाक्षाः सविलासास्तिर्यगदृष्टयः यानि च ग्रोक्तानि जल्पितानि विलासवन्ति, तदुभयं क मम विद्यते । लङ्घाऽङ्घनानां तु सुखेन्दवः सकटाक्षाः सविलासाः सजल्पिताश्च । अतो यावद्व विवुद्धयन्ते तांवदपक्रमणं युक्तमिति मत्वा निरूप्य तुलामनारुह्य समानतामलब्ध्वा निःसंशयो वह भूत्वा । तत्प्रबोधकाले । लङ्घाऽङ्घनानामेव । गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

मानेन तल्पेष्वयथासुखीना मिथ्याप्रसुप्तैर्गमितत्रियामाः ।
 खीभिर्निशाऽतिकमविद्वलाभिर्द्वेष्टपि दोषे पतयोऽनुनीताः ॥ ४ ॥

मानेनेत्यादि—पतयस्तल्पेषु शयनीयेषु शय्यास्विति यावत् । मानेनायथा-सुखीनाः परावृत्तमुखाः । ‘यथासुखसंमुखस्य दर्शनः खः । ५।२।६।’ इति खः । परावृत्तचत्वात् प्रतिविम्बाश्रयवत्तेषु योषितां प्रतिविम्बमिव मनो न प्रसादी-भवतीत्येवं मिथ्याप्रसुप्तैरलीकनिद्राभिः गमितत्रियामाः प्रेरितप्रथमादिप्रहराः । द्वेष्टपि दोषे गोत्रस्वलिनादौ । पतयः खीभिरनुनीता यतो निशातिक्रम-स्वर्यवसानान्त विकृता विह्वलास्ताः ॥ ४ ॥

ईर्ष्याविरुद्धणाः स्थिरबद्धमूला निरस्तानिःशेषशुभप्रतानाः ।
 आप्यायिता नेत्रजलप्रसेकैः प्रेमदुमाः संरुहुः प्रियाणाम् ॥ ५ ॥

ईर्ष्याविरुद्धणा इत्यादि—प्रियाणां प्रेमदुमाः प्रेमाणि दुमा इव । स्थिर-भनेश्वर्लं बद्धमूलम् उत्पत्तिकारणं येषां ते ईर्ष्याविरुद्धणा अत एव निरस्तानिःशेषाः शुभा एव हसितजल्पितादयः प्रताना शाखा येषां ते । प्रसादनानन्दरं नेत्रजलप्रसेकैराप्यायिताः संरुहुः, पुनर्नवीभूताः स्थिरबद्ध-मूलत्वात् ॥ ५ ॥

ततः समाशङ्कुतविप्रयोगः पुनर्नवीभूतरसोऽवितृष्णः ।

स्मरस्य सन्तं पुनरुक्तभावं नाऽवर्तमानस्य विवेद लोकः ॥ ६ ॥

तत इत्यादि—प्रेमदुमरोहणानन्वरं लोकः समाशङ्कुतविप्रयोगो विप्रयोगोऽस्माकमासन्वतीति पुनर्नवीभूतरसः अभिनवीभूतसुरतेच्छः स्मरस्य कामस्य आवर्तमानस्य पुनः पुनः प्रवर्तनात् । अवितृष्णः साभिलाषः सन्तमयपि विद्यमानमपि पुनरुक्तभावं पौनःपुन्यं न विवेद न बुबोध । आशङ्कुतविप्रयोगत्वादपूर्वमिव ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

वृत्तौ प्रसांशं हृदये कृतायां सुखेन सर्वेन्द्रियसम्भवेन ।

संकोचमेवाऽसहमानमस्थादशक्तवद्वित्तमानि चक्षुः ॥ ७ ॥

वृत्तावित्यादि—सुरतकाले श्रोत्रत्वक्त्वक्षुर्जिह्वाग्राणानाम् इन्द्रियाणां शब्दस्वर्णरूपरसमन्धग्रहणात् सर्वेन्द्रियसंभवं सुखम् । अथवा सर्वमिन्द्रियं यत्रेति सर्वेन्द्रियः कायः । वत्संभवं सुखं सर्वेन्द्रियसंभवम् सुखं तथाद्यालिङ्गनच्छुम्बनदर्शनच्छेदनेषु पुरुषोपसृष्टेषु तत्र प्रयुज्यमाने काये सुखमुत्पद्यते । तेन सुखेन हृदये चेतसि प्रकाशं स्पष्टं वृत्तां कृतायां चक्षुर्विच्छितमिवात्मानं मन्यमानम् । आत्ममाने खञ्च । ३।२।८३। इति णिनिः । संकोचमेव निर्मीलनमेवाशात् अनुष्ठितंत् । अमहमानमिति सर्वेन्द्रियसंभवस्य सुखस्य हृदये वृत्तिं सादुमपारथदित्यर्थः । अशक्तवत् यथा कविदसमर्थोऽन्यसम्बवां संपदं सोदुमसहमानः संकोचमनुतिष्ठति ॥ ७ ॥

पने भटस्योगसि वीक्ष्य भुग्नास्तनुत्वचः पाणिरुहान्तुमध्या ।

इच्छाविभङ्गाऽऽलमानसत्वाद्वत्रें नसंभ्यश्च चिरं जुजूरे ॥ ८ ॥

पीन इत्यादि—काचित् सुमध्या सुमध्यमा नखैः व्यापद्यमाना अहम्प्रस्य क्षतं विधास्यामीति भटस्यारसि पान कठिनं भुग्नान् कुच्छितान् । ‘अग्नान्’ इति पाठान्तरम् । पाणिरुहान्तरान् वीक्ष्य भत्रै नखेभ्यश्च चिरं जुजूरे कुध्यति स्म । कथमस्य वक्षः कठिनं मम च नखास्तनुत्वचो च कठिना इति । ‘धूरीं जूरीं हिंसावयोहान्योः’ इत्यस्यात्मनेपदिनो रूपम् । ‘कुधुदुर्घ्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः । १।४।३।७।’ इनि समगदानसंज्ञा । कस्मात्जुजूर इत्यादृ—इच्छांवभङ्गाकुलमानसत्वात् । चिकीर्षिताकरणेनाकुलचित्तस्वात् ॥ ८ ॥

स्वस्ताऽङ्गचेष्टो विनिर्भीलिताऽक्षः स्वेदाऽम्बुरोमोद्रमगम्यजीवः ।

अशेषनष्टप्रतिमापदुत्वो गाढोपगूढो दयितैर्जनोऽभूत् ॥ ९ ॥

स्वस्ताऽङ्गचेष्ट इत्यादि—दयितैर्गाढोपगूढः आलिङ्गितः सन् शीजनः अशेषनष्टप्रतिमापदुत्वोऽभूत् । अशेषं न ष्ट प्रतिभाया बुद्धेः पदुत्वं यस्येति एवं च कृत्वा स्वस्ताऽङ्गचेष्टोऽपरातकायव्यापारः विनिर्भीलिताक्षः सुखा-
नुभवान्निर्भीलितलोचनः । मृतस्तर्हीत्याह—स्वेदाऽम्बुरोमोद्रमगम्यजीवः स्वेदाऽम्बु-
रोमोद्रमाभ्यां लिङ्गाभ्यां गम्यमानसंज्ञः ॥ ९ ॥

तमः प्रसुतं मरणं सुखं नु मूर्छा नु माया नु मनोभवस्य ।

किं तत्कथं वेत्युपलब्धसञ्ज्ञा विकल्पयन्तोऽपि न सम्प्रतीयुः ॥ १० ॥

तम इत्यादि—कामुका अपि परेतावस्थाया उत्तरकालमुपलब्धसञ्ज्ञा विक-
ल्पयन्ति । तमो नु किमन्धकारं, प्रसुतं नु किं प्रकर्णेण सुप्रस, मरणं नु मरणा-
वस्था नु, सुखं नु, मूर्छा नु, मनोभवस्य वा मायेति किं तद्भवति । कथं वा
केन प्रकारेण तत्स्थात् । इत्येवं विकल्पयन्तोऽपि न संप्रतीयुः । न परमार्थं ज्ञात-
द्वन्त इत्यर्थः ॥ १० ॥

वक्षः स्तनाभ्यां सुखमाननेन गात्राणि गात्रैर्धट्यन्नमन्दम् ।

स्मराऽतुरो नैव तुतोष लोकः पर्याप्तता प्रेमिण कुतो विरुद्धा ॥ ११ ॥

वक्ष इत्यादि—वक्षोमुखगात्राणि स्वानि स्तनादिभिः श्वीसम्बन्धिर्धट्यन्
संश्लेषयन् अमन्दं दृढम् । ‘डमो हस्तादचि डमुणित्यम् ॥१३२॥’ इति नुडा-
यमः । स्मरातुरो लोको नैव तुतोष तुष्टि न जगामा यतः पर्याप्तता प्रेमिण कुतो
विरुद्धा । नैव तस्या विरुद्धत्वात् ॥ ११ ॥

स्वस्ताऽङ्गयष्टिः परिरभ्यमाणा संहश्यमानाऽप्युपसंहताऽक्षी ।

अनूढमाना शयने नवोढा परोपकारैकरसैव तस्थौ ॥ १२ ॥

स्वस्ताऽङ्गयष्टिरित्यादि—काचिन्नवोढा परिरभ्यमाणा पत्था आलिङ्गयमानाऽ
ताङ्गयष्टिः न प्रतीपमालिङ्गति । संहश्यमानापि मुखमुन्नमध्य उपसंहताक्षी
वैनिर्भीलितलोचना न प्रतीपं पश्यति मानं नैवाचरतीति । अनूढमानापि असंहत-
ममनामि एवंविधाषि सती परेपकारैकरसैव तस्थौ । भर्तुरुपकारकाभिप्रायैव
अउस्थितां नस्मोपकाराय ॥ १२ ॥

आलिङ्गितायाः सहसा त्रपावांस्त्रासाऽभिलाषाऽनुगतो रताऽदौ ।

विश्वासिताया रमणेन वध्वा विमर्दरस्यो मदनो बभूव ॥ १३ ॥

आलिङ्गिताया इत्यादि—कस्याश्रिद्वध्वा रतात्प्राक् रमणेन सहसा तत्क्षणं आलिङ्गितायास्त्रपावान्मदनो बभूव । रतादौ रतारस्ये त्रासाभिलाषाऽस्थामनु-
गतो बभूव । विश्वासितायाः शनैर्विश्वासं कारितायाः विमर्दरस्यो बभूव,
द्वासामावात् ॥ १३ ॥

सामोन्मुखेनाऽच्छुरिता प्रियेण दत्तेऽथ काचित्पुलकेन भेदे ।

अन्तःप्रकोपाऽपगमाद्विलोला वशीकृता केवलविक्रमेण ॥ १४ ॥

सामोन्मुखेनेत्यादि—अथ काचित्कोपान्मानवती प्रियेण सामोन्मुखेन स्वामपरेण प्रसादयता आच्छुरिताख्येन नखकर्मणा सम्पृष्ठा सती पुल-
केन रोमाञ्चेन भेदे उद्धमे दत्ते सती अथ अन्तःप्रकोपस्थापगमात्
विलोला विलोलबुद्धिः केवलविक्रमेण हठाङ्गेनैव वशीकृतोप-
भुक्तेत्यर्थः ॥ १४ ॥

गुरुदैवाना परुषत्वमन्या कान्ताऽपि कान्तेन्दुकराऽभिमृष्टा ।

प्रहादिता चन्द्रशिलेव तूर्णं क्षोभात्स्ववत्स्वेदजला बभूव ॥ १५ ॥

गुरुदैत्यादि—अन्यापि काचित् स्त्री कान्ता कमनीयस्या गुरुः धीरा ।
‘वोतो गुणवचनात् ।४।१४४।’ इवि वा ढीषु न भवति । दृधाना
परुषत्वं नैष्टुर्यम् । कहन्तेन भर्त्रा इन्दुनेव कराभिमृष्टा सती प्रहादिता
सुखिता । क्षोभात् चेतसो विकारात् तूर्णं स्ववत्स्वेदजला बभूव । चन्द्रशिलेव
चन्द्रमणिरिव । सा गरीयसी कान्ता परुषत्वं काठिन्यं दृधाना इन्दुना
कराभिमृष्टा प्रहादिता सुखितेव क्षोभात्स्वप्रकृतिविकारात् स्ववज्जला
भवति ॥ १५ ॥

शशाङ्कनाथाऽपगमेन धूम्रां मूर्च्छापरीतामिव निर्विवेकाम् ।

ततः संखिवै प्रथिताऽनुरागा प्रावोषयद्द्यां मधुराऽरुणश्रीः ॥ १६ ॥

शशाङ्कन्यादि—ततोऽनन्तरं यथा काचित् स्त्री नाथस्य भर्तुरपगमेन
विशेषेन धूम्रा मलिना मूर्च्छापरीता निश्चेतना अत एव निर्विवेका
विवेकुपशक्ता सती सख्या प्रकाशितस्तेहया प्रबोध्यते तद्वद् द्यामाकाशं शशाङ्क-

नाथस्यापर्गमनेन अस्तमनेन धूमां धूसरतां गतां निर्विवेकाम् अविद्यमान-
विशेषाम् अहणश्रीः आदित्यलङ्घनीरिति मधुराभिनवा प्रथितानुरागा प्रावो-
धयत्रकाशितवती ॥ १६ ॥

अवीतितृष्णोऽथ परस्परेण क्षणादिवाऽऽयातनिशाऽवसानः ।

दुःखेन लोकः परवानिवाऽगात् समुत्सुकः स्वभनिकेतनेभ्यः ॥ १७ ॥
अवीतेत्यादि—अथानन्तरं लोकः परस्परेणान्योन्येन दयितो दयि-
तया दयितापि दयितेन अवीततृष्णः अनपागतसंभोगाभिलाषः अत एव
क्षणादिव द्रुतमिवायातं निशावसानं यस्य । समुत्सुकः उत्कण्ठितः
परवानिवं पराधीन इव स्वभनिकेतनेभ्यः वासगृहेभ्यो दुःखेन अग्रात्
निर्गतवान् ॥ १७ ॥

अर्धोत्थिताऽऽलिङ्गितसन्निमग्नो रुद्धः पुनर्यान् गमनेऽनभीप्सुः ।

व्याजेन निर्याय पुनर्निवृत्तस्यकार्यः स्थित एव कश्चित् १८
. अर्धोत्थितेत्यादि—शयनात् अर्धमुत्थितं यस्येत्यर्धोत्थितः । आहिताश्या-
दिषु द्रष्टव्यः । शयनस्य वा अर्धादुत्थित इति योज्यम् । स चालिङ्गितो दयितया
सन्निमग्नः शयने सुप्तः । पुनर्यान्निर्गच्छन् रुद्धो विवृतः । गमने अनभीप्सुरपि
निर्याय व्याजेन निमित्तेन पुनर्निवृत्तः प्रविष्टस्यकार्यः स्थित एव
कश्चित्कामी ॥ १८ ॥

तालेन सम्पादितसाम्यशोभं शुभाऽवधानं स्वरबद्धरागम् ।

पदैर्गताऽर्थं नृपमन्दिरेषु प्रातर्जगुर्मङ्गलवत्तरुण्यः ॥ १९ ॥

तालेनेत्यादि—नृपमन्दिरेषु रावणादिराजवेशमसु प्रभातकाले तरुण्यो मङ्ग-
लवत् मङ्गलोपेतं जगुः गायन्ति स्म । तालेन क्रियाकालमानेन संपादिता साम्य-
शोभा यत्र गायनक्रियायाम्, शुभावधानं शेभनमवधानं चित्तैकाप्रता यत्र, स्वर-
बद्धरागं षड्जादिभिः स्वरैर्बद्धो ग्रामरागो यत्र, पदैः सुप्रिडन्तैर्गतार्थं परिच्छ-
न्नार्थं निरर्थकपदरहितमित्यर्थः । अनेन स्वरागां पदगतं लयगतमवधानगत-
मिति चतुर्विधं गीतमाख्यातम् ॥ १९ ॥

दुरुच्चरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत्सन्ततरेश्मरज्जुः ।

प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहोरेव ततो विवस्वान् ॥ २० ॥

दुरुच्चर इत्यादि—अन्धकारे पङ्क इव दुरुच्चरे दुःखेनोत्तीर्यत इति मङ्ग-

१ अत्रोपमा । २ अवेन साम्यवच्चनेनान्धकारस्य निविडस्वं व्यज्यते ।

प्रविष्टं जगत् । यतः प्रनष्टमूर्तिप्रविभागं प्रनष्टः स्थावरजङ्गममूर्तीनां प्रविभागो
चस्मिन् तत् । विवस्वानुद्यन् उद्गच्छन् सन्ततरशिमरञ्जुः प्रवितता
रथमयो मयूखा एव रज्जवो चेन सः प्रत्युज्जहारेत् उद्घृतवानिव । तत
इत्यन्वकारात् ॥ २० ॥

पीतौष्टरागाणि हृताऽङ्गनानि भास्वन्ति लोलैरलकैमुखीनि ।
प्रातः कृताऽर्थानि यथा विरेजुस्तथा न पूर्वेयूरलंकृतानि ॥ २१ ॥

पीतौष्टरागाणीत्यादि—मुखानि वधूतामित्यर्थात् । यथा प्रातः प्रभाते
विरेजुः तथा पूर्वेयुः पूर्वसिन्नहनि अलंकृतानि न रेजुः । तेषामकृतार्थत्वात् ।
तानि पुनः कृतार्थानि कृतकार्याणि । यतो दियैः पीतौष्टरागाणि ओष्ठचुस्वनात्
हृताऽङ्गनानि चक्षुषोरपि चुम्बनात् अपगतकञ्जलानि लोलैराकुलैरलकैः कच-
अहाकर्षणात् । भास्वन्ति दीप्तिमन्ति ॥ २१ ॥

प्रजागराऽङ्गताम्रविलोचनाऽन्ता निरञ्जनाऽलक्तकपत्रलेखाः ।
तुल्या इवासन् परिखेदतन्यो वासच्युताः सेवितमन्मथाभिः ॥ २२ ॥

प्रजागरेत्यादि—भर्तुभिः सहैकत्र यच्छयनं स वासः तस्माच्चयुता काव्यित
तन्यः सेवितमन्मथाभिः अनुष्ठितसुरताभिः तुल्या इवासन् । यतः प्रजागरा-
ताम्रविलोचनान्ताः दियितागमनप्रतीक्षणात् यः प्रजागरस्तेन ताम्रनेत्रपर्यन्ताः ।
नायात इति गृहीतप्रसाधनतया निरञ्जनालक्तकपत्रलेखाः । यदि वा अन्यत्र
शयित इति रोदनात् निरञ्जनाः चित्तोन्मायादितस्तः पादविक्षेपात् विगता-
लक्षकाः शयने प्रतिक्षणमुद्वर्तनपरिवर्तनालक्पोलादिभ्यो निष्पत्रलेखा इति
खेदाच्च तन्यः कृशाङ्गयः ॥ २२ ॥

आबद्धनेत्राऽङ्गनपङ्कुलेशस्ताम्बूलरागं बहुलं दधानः ।

चकार कान्तोऽप्यधरोऽङ्गनानां सहोषितानां पतिभिर्लघुत्वम् ॥ २३ ॥

आबद्धेत्यादि—कासांचिदङ्गनानां पतिभिः सहोषितानामप्यधरः लघुत्वं
द्वौर्भाग्यं चकार सूचितवानित्यर्थः । यतस्ता ईप्सितसुरताप्राप्त्या रुदितास्तवश्च
बद्धो लग्नो नेत्राऽङ्गनपङ्कुलेशो यस्य सोऽधरो दियैतरपीतत्वाच्च बहुलं ताम्बूल-
रागं दधानः कान्तोऽपि लघुत्वं चकार ॥ २३ ॥

चक्षुषि कान्तान्यपि साऽङ्गनानि ताम्बूलरक्तं च सरागमोष्टम् ।

कुर्वन्सवासं च सुगन्धिं वक्रं चक्रे जनः केवलषक्षपातम् ॥ २४ ॥

चक्षुंषीत्यादि—कान्तान्यपि शोभनान्यपि चक्षुषि, विक्रचोत्पलश्चुतित्वात् । सञ्जननि कुर्वन् खीजनः, प्रातर्गृहमाणप्रसाधनत्वात् । सरांगं चौप्रं, त्वभावतौ विम्बफलाकारत्वान् । ताम्बूलरक्तं कुर्वन् । स्वभावतश्च सुगन्धिं वक्रं मुखं सवासं वासयुक्तं कुर्वन् । केवलपक्षपातं समत्वं चक्रं, अञ्जनादीनां निरर्थकत्वात् ॥ २४ ॥

क्षतैरसंचेतितदन्तलब्धैः सम्भोगकालेऽवगतैः प्रभाते ।

अशङ्कताऽन्योन्यकृतं व्यलीकं वियोगबाह्योऽपि जनोऽतिरागात् ॥ २५ ॥

क्षतैवित्यादि—अस्या मया दत्तम् अस्य च स्मयेति संभोगकाले रागान्वतया असंचेतितान्यज्ञातानि दन्तेभ्यो लब्धानि यानि क्षतानि । ‘चित्ते संचेतने’ इति स्वार्थकण्ठन्तस्य रूपम् । प्रभातकाले अवगतैर्द्वैः वियोगबाह्योऽपि सुप्रोऽपि कामिजनः अतिरागात् अतिसनेहात् अन्योन्यकृतम् अन्योन्येन कृतं व्यलीकम् अपराधम् अशङ्कत विकल्पितवान् । लङ्घि रूपम् । किमस्यान्यथा हताशया दत्तमिति योषिदशङ्कत, पुरुषोऽपि किमन्येन धूर्तेनास्या इति ॥ २५ ॥

नेत्रेषुभिः संयुतपक्षमपत्रैः कर्णाऽन्तकृष्टैरुरुक्तेशशूलाः ।

स्तनोरुचक्रास्ततकर्णपाशाः स्त्रीयोधमुख्या जयिनो विचेषः ॥ २६ ॥

नेत्रेषुभिरित्यादि—नेत्राणि इषवं इव तैः संयुतानि संयुक्तानि पक्षमोष्येव पत्राणि येषां तैः । कर्णान्तकृष्टैः कर्णान्तविश्रान्तैः उपलक्षिताः स्त्रीयो योधमुख्या इव उरुकेशशूलाः उरवो महान्तः केशाः शूला इव येषाम् । स्तनोरुचक्राः स्तना ऊरुणी चक्राणीव येषाम् । ततकर्णपाशाः तताः कर्णाः पाशाः इव येषां ते जयिनो लब्धविजया विचेषः आन्ताः ॥ २६ ॥

योधरांश्चन्दनपङ्कदिग्धान् वासांसि चाऽमृष्टमृजानि द्वष्टा ।

स्त्रीणां संपत्न्यो जहृषुः प्रभाते मन्दायमानाऽनुशर्यैर्मनोभिः ॥ २७ ॥

योधरानित्यादि—चन्दनपङ्कदिग्धान् आप्तुतचन्दनत्वगत् । वधाणि च अमृष्टमृजानि बनपनीतशुद्धमावानि स्त्रीणां द्वष्टा प्रभाते तत्सपत्न्यो मनोभिः न वाद्यं जहृषुः हृष्टाः, अप्राप्तसुरतत्वात् मन्दायमानानुशर्यैः आभिः सह शयिता इति तासु ये अनुशयाः अक्षान्तयो जाताः ते मन्दायमानाः शनैः शनैस्तनूभवन्तो येषु मनःसु तैरित्यर्थः ॥ २७ ॥

स्मराऽत्तुरे चेतसि लब्धजन्मा राज लोलोऽपि गुणाऽपहायेः ।

कुवृहलाल्लेश्वरवाक्षसंस्थः पङ्यचिवाऽन्योन्यमुखानि रागः ॥ २८ ॥

स्मरातुर इत्यादि—दम्पत्योः प्रातरन्योन्यस्य मुखं पश्यतोः चक्षुषो रगो
वर्ण्यते । स्मरातुरे कामातुरे चेतसि लब्धजन्मा लब्धादेयः यगो रक्त-
भावः नेत्रगच्छसंस्थः नेत्रयोर्गांक्षयोरिव स्थितः कुतूहलान् कौतुकान् अन्यो-
न्यस्य मुखानि पश्यन्निव । कीदृशं कामिन्या मुखं कामुकस्य मुखं वेति ।
गुणापदार्थः तत्प्रतिपक्षेण शुक्लगुणेन अपनेयः अत एव लोकोऽपि अचिर-
स्थान्यपि राज ॥ २८ ॥

गतेऽतिभूमि प्रणये प्रयुक्तानबुद्धिपूर्वं परिलुप्तसंज्ञः ।

आत्माऽनुभूतानपि नोपचारान्स्मरातुरः संस्मरति स्म लोकः ॥ २९ ॥

गत इत्यादि—प्रणये विश्रम्भे अतिभूमि गते प्रकृष्टावस्थां प्राप्ने सति.
ये अबुद्धिपूर्वम् अनिरूप्य स्वयं प्रयुक्ताः उपचाराः नवदन्तक्षतादेयः
वानात्मानुभूतानपि श्रातर्न स्मरति स्म कामिलोकः । इदमिदं मया प्रयुक्त-
मिति यतः सुरतावस्थायां स्मरातुरतया परिलुप्तसंज्ञो मूढ इति ॥ २९ ॥

वस्त्रैरनत्युल्बणरम्यव णीर्विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः ।

आस्यैश्च लोकः परितोषकान्तैरसुवयद्वयपदं रहस्यम् ॥ ३० ॥

वस्त्रैरित्यादि—वस्त्रैः विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः सुरभितया परिच्छेदै
आस्यैश्च व्यपगताधररागैः परितोषकान्तैर्लिङ्गभूतैः रहसि भवं सुरतं लब्धय
प्राप्नश्चिह्नं लोकः प्रकाशयति स्म ॥ ३० ॥

श्रातस्तरां चन्दनलिप्तगात्राः प्रच्छाद्य हस्तैरधरान् वदन्तः ।

शास्यन्निमेषाः सुतरां युवानः प्रकाशयन्ति स्म निगृहनीयम् ॥ ३१ ॥

श्रातस्तरामित्यादि—गुरुजनो नखदशनक्षतं मा द्राक्षीदिति युवानः—
श्रातस्तरां प्रत्युषसि चन्दनलिप्तगात्रा हस्तैरधरान् प्रच्छाद्य वदन्तोऽपि शास्य
न्निमेषा अनिमिषितनेत्रा निगृहनीयं सुतरां प्रकाशयन्ति स्म नूनमेते सत्कृत
न एवमाचरन्तीति ॥ ३१ ॥

साम्नैव लोके विजितेऽपि वामे ! किमुद्यतं भ्रूधनुरप्रसाद्यम् ।

इन्तुं क्षमो वा वद लोचनेषुदिंगधो विषेणेव किमञ्जनेन ॥ ३२ ॥

साम्नेत्यादि—हे वामे प्रतिकूलवर्तिनि मधुरेणाविकूतेन साम्ना लोके
प्रस्मद्विषे जितेऽपि वशीकृतेऽपि भ्रूधनुरप्रसादं प्रसोदुमशंक्यम् उद्यतम्

चतिंश्चस्मै । अथवा विलोचनेषु नैत्रशरः स्वत एव हन्तुं क्षमः ततः किमञ्जनन
च विषेण दिग्धो विषलिम् इति वद कथयत् ॥ ३२ ॥

दन्तच्छदे प्रज्वलिं ताऽप्रिकल्पे ताम्बूलरागस्तुणभारतुल्यः ।

न्यस्तः किमित्यूचुहपेतभावा गोष्ठीषु नारीस्तरुणीर्युवानः ॥ ३३ ॥

दन्तच्छद इत्यादि—प्रज्वलिं ताऽप्रिकल्पे स्वभावलोहितत्वात् दन्तच्छदे
ओष्ठे ताम्बूलरागः किमिति न्यस्तः । तृणभारतुल्यः निष्ठ्रयोजनत्वात् ।
इत्येवमूचुर्युवानः प्रातरित्यर्थात् । उपेतभावाः जातानुरागाः गोष्ठीषु स्थिता
नारीस्तरुणीरिति ॥ ३३ ॥

सुखाऽवगाहानि युतानि लक्ष्म्या शुचीनि संतापहराणयुरुणि ।

अबुद्धनारीमुखपङ्कजानि प्रातः सरांसीव गृहाणि रेजुः ॥ ३४ ॥

सुखावगाहानीत्यादि—प्रातः प्रभाते गृहाणि सरांसीव रेजुः । सुखाव-
गाहानि निहपद्रवत्वात् सुखेनावगाहान्ते । युतानि लक्ष्म्या देवतारूपया ।
शुचीनि पवित्राणि सन्तापहराणि वर्मादिलेशापहारीणि । उरुणि महान्ति
अबुद्धानि विनिद्राणि नारीमुखान्येव पङ्कजानि यत्रेति ॥ ३४ ॥

संमृष्टसिक्ताऽर्चितचारुपुष्पैरामोदवद्वृव्यसुगन्धभागैः ।

लक्ष्मीर्विजिग्ये भवनैः सभृङ्गैः सेव्यस्य दैवरपि नन्दनस्य ॥ ३५ ॥

सम्पृष्टेत्यादि—देवैः सेव्यस्यापि नन्दनस्य लक्ष्मीभवनैः प्रातर्विजिग्ये
र्चितजाता । आदौ संमृष्टरजांसि अपनीतरजांसि पश्चतिसिक्तानि । पूर्वापरकाल-
समासः । अर्चितानि पूजितानि प्रशस्तानि चारुणि शोभनानि पुष्पाणि येषु
भवनेषु संमृष्टसिक्तानि च तानि अर्चितचारुपुष्पाणि चेति विशेषणसमासः ।
आमोदवन्ति यानि द्रव्याणि चन्दनादीनि तैः सुगन्धो भाग एकदेशो येषां तैः ।
गन्धस्येत्वे तदेकान्तप्रहणादित्वं न भवति । सभृङ्गैरामोदभृतत्वात् ॥ ३५ ॥

अक्षणोः पतन्नीलसरोजलोभादभृङ्गः करेणाऽल्पधिया निरस्तः ।

ददंश ताम्राऽम्बुरुहाऽभिसन्धिस्तृष्णाऽतुरःपाणितलेऽपि धृष्णुः ॥ ३६ ॥

अक्षणोरित्यादि—नीलसरोजलोभात् नीलकमलमेतदित्यक्षणोः पतन्नीली-
चमानो भृङ्गः अल्पधिया अल्पभुद्धया क्याचित् करेण निरस्तः क्षिमः सन्
साम्राम्बुरुहाभिसन्धिः रक्तपद्ममेतदित्यभिसन्धिरभिप्रायो गन्ध भृङ्गस्य स-
भृष्णुः प्रगल्भः पाणितलेऽपि ददंश दृष्टवान् तृष्णातुरः । तामित्यर्थात् ॥ ३६ ॥

*अग्रोपमास्त्वक्त्वयोः सद्गुरः ।

विलोलतां चक्षुषि हस्तवेपथुं भुवोर्विभङ्गं स्तनयुग्मवल्लिगतम् ।

विभूषणानां कणिर्तं च षट्पदो गुरुर्थथा नृत्यविधों समादृवे ॥ ३७ ॥

विलोलतामित्यादि—यथा गुरुर्नृत्याचार्यों नृत्यकर्मणि कस्याश्चिच्च-
क्षुषि विलोलतां चलतां हस्तवेपथुं हस्तकस्यं भुवोर्विभङ्गं नवोत्तरिं स्तन-
युग्मवल्लितं प्रचलितं भूषणानां कणितं शिखितं जनयति, तदू द्वजा षट्पदो-
उपि तत्समाधे विहितवान् ॥ ३७ ॥

अथाऽनुकूलान्कुलधर्मसम्पदो विधाय वेशान्सुादिवः पुरीजनः ।

प्रबोधकाले शतमन्युविद्विषः प्रचक्रमे राजनिकेतनं प्रति ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं पुरीजनो लङ्घनिवासिजनः प्रतिदिनमवासकल्या-
णत्वात् सुदिवः । ‘सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ।
५ । ४ । १२० ।’ इति समासान्तनिपातनम् । यथास्वं कुलधर्मस्य पुरस्य या
संपदिष्टूतिः तस्या अनुकूलान् वेशान्नेपथ्यात्मनिपातनम् । यथास्वं कृत्वा शतमन्युविद्विषो
रावणस्य प्रबोधकाले राजनिकेतनं प्रत्यभिलक्ष्य प्रचक्रमे गन्तु प्रवृत्तः ॥
‘ओपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १ । ३ । ४२ ।’ इति तदृ ॥ ३८ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इवं प्रवृत्ता वेगाज्जलौघाः पुरमन्दिरेभ्यः ।

आपूर्य रथ्याः सरितो जनौघा राजाऽङ्गनाऽम्भोधिमपूरयन्त ॥ ३९ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इत्यादि—यथा जलानां पूरा शैलेन्द्रशृङ्गेभ्यः प्रवर्तन्ते तद्व-
त्पुरमन्दिरेभ्यः प्रवृत्ता जनौघाः रथ्याः क्षुद्राः सरित इवापूर्य राजाङ्गनमम्भो-
धिमिवापूरयन्त पूरितवन्तः ॥ ३९ ॥

प्रबोधकालात् त्रिदशेन्द्रशत्रोः प्रागूर्धवशोषं परिशुष्यमाणाः ।

हीना महान्तश्च समत्वमीयुद्दीर्स्यैरवज्ञा परुषाऽक्षिवृष्टाः ॥ ४० ॥

प्रबोधकालादित्यादि—त्रिदशेन्द्रशत्रोः रावणस्य प्रबोधकालात्प्राक् पूर्वम्
ऊर्धवशोषं परिशुष्यमाणाः राजाङ्गने ऊर्ध्वं गता एव प्रबोधकाले शोषं
नोयमाना इति अन्तर्भावितप्यथो द्रष्टव्यः । एवं च कृत्वा कर्मण्यात्मने-
षदम् । अन्ये परिशोष्यमाणा इति पिंचं पठन्ति । ‘ऊर्ध्वं शुषिपूरोः । ३।४।
४४।’ इति णमुल् । हीनाः महान्तश्च सेवकाः समत्वं तुल्यत्वमीयुः ।
द्वास्यै दौंवारिकैः । द्वारि तिष्ठन्तीति ‘सुपि स्थः । ३।२।४।’ इति कः । ख—

वसानयोर्विसर्जनीयः ॥३॥१५॥ इति विसर्जनीये विसर्जनीयस्य सः ॥४॥३४॥
इति स अवग्रह्या अनाहरेण परुषमस्तिर्थं यदाक्षिते नाक्षणा दृष्टाः ॥ ४० ॥

गुरुरुचञ्चत्करकर्णजिद्वैरवज्ञयाऽप्राऽङ्गुलिसंगृहीतैः ।

रक्षांस्यनायासहृतैरुपास्थुः कपोललीनाऽलिकुलैर्गजेन्द्रैः ॥ ४१ ॥
गुरुरुचञ्चदित्यादि—गुरुवोऽलघवः उरवो महान्तः, चञ्चन्तञ्चलन्तः
कराः कर्णा जिह्वाश्च येषां गजेन्द्राणां तैः अवज्ञया अप्राङ्गुलिसंगृहीतैः पादा-
ङ्गुष्ठाप्रेण यत्र स्थाने परिगृहीतैः। अङ्गुलेभ्रप्रमिति राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः।
अनायासहृतैः शनैः शनैः प्रचोदितैः। मत्तत्वात् कपोललीनाऽलिकुलैः ।
रक्षांसि उपास्थुः सेवामकार्षुः ॥ ४१ ॥

निकृतमत्तदिपकुम्भमांसैः सम्पृक्तमुत्तैर्हर्योऽप्रपादैः ।

आनिन्द्ये श्रेणि कृतास्तथाऽन्यैः परस्परं वालधिसन्निबद्धाः ॥ ४२ ॥
निकृतेत्यादि—अन्यैः सेवार्थं हरयः सिंहाः आनिन्द्ये आनीताः ।
निकृतानि मत्तद्विपकुम्भमांसानि यैरप्रपादैः अतएव संपृक्तमुत्तैः लमकुम्भ-
मुक्ताफला उपलक्षिताः । श्रेणिकृता अश्रेणयः श्रेणयः कृताः ‘श्रेण्यादयः
कृतादिभिः ॥३॥१५॥’ इति समाप्तः । ‘श्रेण्यादिषु च्छ्यर्थवचनं कर्त्तव्यम् ।’
इति च्छ्यर्थवचनम् । परस्परं वालधिसन्निबद्धाः अन्योन्यस्य पुच्छेन
संयताः ॥ ४२ ॥

उपेक्षिता देवगणैस्त्रसद्विनिशाचर्वीतभयैर्निकृताः ।

तस्मिन्बद्धयन्तं सुरदुमाणां सजालपुष्पस्तवकाः प्रकीर्णाः ॥ ४३ ॥

उपेक्षिता इत्यादि—सुरदुमाणां प्रारिजातानां सजालाः कलिकासहिताः
पुष्पस्तवकाः वीतभयैर्निशाचर्वीनिकृताः छिन्नाः । ‘वीतदयैः’ इति पाठान्तरम् ।
तत्र किमेतैः स्थितैरिति निर्दयैः सजाला एव छिन्नाः छिद्यमानाश्च । देवगणै-
स्त्रसद्विनिपेक्षिताः ‘वा भ्रश्मलाश्च भ्रमुक्तमुत्रिसिद्धिलिपैः ॥३॥१७॥’ इति
विकल्पैन श्यन् । तस्मिन् राजाङ्गने प्रकीर्णा अद्वयन्त सेवकं जनेन ॥ ४३ ॥

निराकरिष्णुर्द्विजुभराणां दुणीकृताऽशेषगुणोऽतिमोहात् ।

शापाऽशयानभ्युदयाऽर्थमाचीत् प्राग्ब्रह्मरक्षः प्रवरान् दशाऽस्म्यः ॥ ४४ ॥

निराकरिष्णुरित्यादि—दशास्यो विबुद्धः सन् अतिमोहादत्यन्ताज्ञानाद्-
निराकरिष्णुर्निराकरणशीलः । द्विजवरानित्यर्थात् । द्विजकुञ्चराणां प्रशस्तं—
द्विजानामभ्युदयहेतूनां संबन्धिनोऽशेषाः गुणाः लृणीकृता येन स तृणी-
कृताशेषगुणः प्राक् पूर्वं सभाप्रवेशात् पापाशयान् पापचित्तवृत्तीन् ब्रह्मरक्षः—
प्रवरान् अभ्युदयार्थमार्तीत् ॥ ४४ ॥

मायाविभिस्त्रासकरैर्जनानामैरुपादानपैरुपेतः ।

सतां विद्यातैकरसेरविक्षत्सदः परिक्षोभितभूमिभागम् ॥ ४५ ॥

मायाविभिरित्यादि—आपैरव्यभिचारिभिर्मायाविभिर्वृच्छकैः परेषां त्रास-
करैः । जनानामतिरौद्रत्वात् । उपादानपरैः सतां सन्मार्गस्थितानां विद्यातैक-
सैर्वनाशैकस्वभावैः उपेतो दशास्यः सदः सभाप्रविक्षत् प्रविष्टः । ‘शल
इगुपथादनिटः क्सः । ३।१।४५।’ इति क्सः । कीदृशम् । राक्षसैश्चरणभासेन्न
परिक्षोभितभूमिभागम् ॥ ४५ ॥

विधृतनिश्चितश्चैस्तद्युतं यातुधानै-

रुजठरमुखीभिः सङ्कुलं राक्षसीभिः ।

श्वगणिशतविकीर्णं वागुरावन्मृगीभि-

र्वनमिव सभयाभिदेवबन्दीभिरासीत् ॥ ४६ ॥

विधृतेत्यादि—तत्सदो यातुधानैः विधृतनिश्चितश्चैः गृहीततांद्वय-
श्चैर्युतं युक्तमासीन् । तथा राक्षसीभिः उरुजठरमुखीभिः सङ्कुलं व्याप्तं यथा
वनं वागुरावत् सवागुरुं श्वगणिशतविकीर्णम् आखेटकशतच्छन्नं मृगीभिः
सभयाभिः श्वगणिभ्यो जातभयाभिः देवबन्दीभिः व्याप्तमासीत् । श्वगणाः
विद्यन्ते येषामिति श्वगणिनः । ‘अत इनिठनौ । ५।२।१।५।’ इतीनिः ॥ ४६ ॥

जलद इव तडित्वान् प्राज्यरत्नग्रभाभिः

प्रतिककुभमुदस्यन् निस्वनं धीरमन्द्रम् ।

शिखरमिव सुमेरोरासनं हैमसुचै-

र्विविधमणिविचित्रं प्रोक्तं सोऽध्यतिष्ठत् ॥ ४७ ॥

इति भट्टिकाव्ये एकादशः सर्गः ।

१ अस्मिन्परास्मिन्न पष्ठे ‘मालिनी’ वृत्तम् ।

जलद इत्यादि—प्राज्यानां प्रभूतानां रत्नानां मणीनां प्रभामिः तडित्वा-
इनव जलदः प्रोक्त्रतामा सर्वेषामुपरि स्थितत्वात् । प्रतिककुम्भं दिशि दिशि-
वरीमन्त्रं मन्दगम्भीरं निस्वनम् उद्दस्यनिष्ठिपन् सुमेरोः शिखरमिव हैममासन-
मुच्चैरुच्चं विविधमणिविचित्रं नानारूपैर्मणिभिर्विचित्रं नानावर्णकमध्यतिष्ठत्
समारोहति स्म ॥ ४७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरीविरचितया जयमङ्गलाऽऽव्यया व्याख्यया समलङ्कृते

श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षणरूपे

द्वितीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं'

नाम एकादशः सर्गः ।

द्वादशः सर्गः ।

भाविकत्वमलङ्कारः प्रबन्धविषय उक्तः । नैकदेशिकं तस्य चित्रादयो-
र्थाः प्रवृत्तिहेतवः । तथा चोक्तम्—‘भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं
गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थं भूतभाविनः॥चित्रोदात्ताङ्गुतार्थत्वं कथायाः
स्वभिनीतता । शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥’ इति । तत्सर्वं मन्त्र-
इनिर्णयप्रबन्धे द्रष्टव्यमिति दर्शयन्नाह—

ततो विनिद्रं कृतदेवतार्चं दृष्टैव चित्तप्रशमं किरन्तम् ।

आविष्कृताङ्गमतिकर्मरम्यं विभीषणं वाचमुवाच माता ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रभातकालानन्तरं विभीषणं विनिद्रं प्रबुद्धम् । कृत-
देवतार्चं कृतेष्टदेवतापूजनम् । दृष्टैव स्तिंगद्या कायव्यापारेण चित्तप्रशमं
ईकिरन्तं प्रकाशयन्तम् । आविष्कृतं प्रदर्शितं यदङ्गस्य प्रतिकर्म प्रसाधनं तेन रम्यं
गात्रं नैकषी नाम वौचं वक्ष्यमाणामुवाच ॥ १ ॥

प्रबाधमानस्य जगन्ति धीमंस्त्वं सोदरस्याऽतिमदोद्धतस्य ।

आनन्दनो नाकसदां मशान्तिं तूर्णं विषस्यामृतवत्कुरुष्व ॥ २ ॥

प्रबाधमानस्येत्यादि—हे धीमन् ! त्वं नाकसदां देवानाम् आनन्दनः प्रमो-
दयिता सन् सोदरस्य आतुदशाननस्य । गर्भावस्थायां समानमुदरं यस्येति
योगविभागात्सभाबः । अतिमदोद्धतस्य महता सामध्येन दृपस्य जगन्ति-
लोकं प्रबाधमानस्य पीडयतः प्रशान्तिं प्रशमनं तूर्णं कुरुष्व । अमृतवत् । यथा

१ उदाचेत्यनेनैव वाचमित्यर्थस्य लब्धौ वाचमिति पुनर्वर्चनमधिकमेव ।

अमृतं देवानामानन्दनं विषस्य कालकूटनाम्नः सोदरस्य एकस्मिन् समुद्रोदरे
स्थितत्वात् जगन्ति प्रबाधमानस्य प्रशान्तिं कृतवदिति ॥ २ ॥

कुर्यास्तथा येन जहाति सीतां विषादनीहारपरीतमूर्तिम् ।

स्थितां क्षितौ शान्तशिखाप्रतानां तारामिव त्रासकरीं जनस्य ॥ ३ ॥

कुर्याइत्यादि—तथा तत्प्रकारमनुतिष्ठेस्त्वं येन सीतां जहाति । विषादनीहार-
परीतमूर्तिं विषादो नीहार इव तेन परिगतदेहाम् । क्षितौ स्थितां निमग्नाम् ।
शान्तशिखाप्रतानां अनुज्ज्वेलवेणीवन्धाम् । जनस्य त्रासकरीं भयहेतुभूताम् ।
हेतौ टः । तारामिव । यथा काचिच्चारा क्षितौ स्थिता परिता नीहारपरीतमूर्तिः
शान्तशिखाप्रताना ध्वस्तरज्जिमजाला लोकत्रासकरी तद्वत्तामिति भावः ॥ ३ ॥

यावन्न सन्त्रासितदेवसङ्घः पिण्डो विषस्येव हरेण भीष्मः ।

सङ्घस्यतेऽसौ पुरुषाऽधिष्ठेन द्रुतं कुलाऽनन्द यतस्व तावत् ॥ ४ ॥

यावदित्यादि—यथा सन्त्रासितदेवसङ्घः विषस्य कालकूटस्य पिण्डो
भीष्मोऽतिरौद्रो हरेण संप्रस्तः पीतः तद्विद्यावदसौ रावणः पुरुषाधिष्ठेन रामेण न
संप्रस्यते न विनाश्यते, तावत् हे कुलानन्द ! कुलानि आनन्दयतीति ‘कर्मण्यएव
।३।२।१’ इत्यण् । द्रुतं शीघ्रं यतस्व सीतात्याजनायां यत्नं कुरु ॥ ४ ॥

हता जनस्थानसदो निकायाः कृता जितोत्तरात् भट्टुमा पूः ।

सदांसि दग्धानि विधेयमस्मिन् यद्बन्धुना तद्विद्यस्व तस्मिन् ॥ ५ ॥

हता इत्यादि—जनस्थानसदो दण्डकारण्यवासिनः निकायाः स्वरदूषणा-
दीनां संधा हताः । ‘संधे चानैत्तराधये । ३ । ३ । ४२ ।’ इति चिनोते:
ववृक्ककारश्चादेशः । पूश्र लङ्घा जितभटा उत्तरातद्वुमा कृता । सदांसि गृहाणि
दृश्यानि । इति सर्वमेतत्त्वया ज्ञातमेव । अनेन प्रकारेण अस्माकमपि विनाशः
स्थात् । तदेवास्मिन्वस्तुनि यद्बन्धुना विधेयम् अनुष्ठेयं तद्विद्यातुं विद्यस्व यतस्व ।
तस्मिन्वस्तुनि ॥ ५ ॥

चिकीर्षिते पूर्वतरं स तस्मिन् क्षेमङ्गरेऽर्थे मुहुरीर्थमाणः ।

मात्राऽतिमात्रं शुभयैव बुद्ध्या चिरं सुधीरभ्यधिकं समाधात् ॥ ६ ॥

^१ ‘आस्थानी क्षीवमास्थानं खीनपुंसकयोः सदः ।’ इत्यमरोक्त्या विशेष-
बाचित्येऽवि सामान्यवाचित्वमभिप्रेतम् ।

चिकीर्षित इत्यादि—तस्मिन् सीताप्रत्यर्पणलक्षणेऽर्थे मातुरुपदेशात् पूर्व-
त्तरं पूर्वमेव चिकीर्षिते कर्तुमीप्सिते मात्रा शुभयैव बुद्धिया कल्याणया अति-
सात्रमत्यर्थं मुहुः प्रतिक्षणमीर्यमाणः प्रवत्त्यमानः स विभीषणः सुधीः
आज्ञाः चिरकालमध्यधिकं समाधात् चिन्तितवान् । इदमतिन्याख्यमिति
‘गातिस्थाघुपासूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु । २ । ४ । ७७ ।’ इति सिचो लुक् ॥
(इयता प्रबन्धेन उदाचार्थाभिधानादुदाचार्थत्वमुक्तम् । इत उत्तरं प्रहस्त-
रावण-विभीषण-मातामह-कुम्भकर्णदीनां वचनप्रबन्धेषु चित्राद्गुतार्थत्वं द्रष्ट-
च्यम् । स्वविनीतता सुबोधता शब्दानाकुलता चेत्येतदुभयं कथायामेव मन्त्र-
उर्णिर्णयाख्यायां द्रष्टव्यम् ।) ॥ ६ ॥

दौवारिकाऽभ्याहतशक्रदूरं सोपायनोपस्थितलोकपालम् ।

साऽऽशङ्कभीष्माऽप्सविशनिशाटं द्वारं यथौ रावणमन्दिरस्य ॥ ७ ॥

दौवारिकेत्यादि—स विभीषणः रावणमन्दिरस्य द्वारं यथौ । दौवारिकाः
ज्ञारे नियुक्ताः । ‘द्वारादीनां च । ७ । ३ । ४ ।’ इत्यैच् । तैरभ्याहताः शक्रदूता
यस्मिन् द्वारे । सोपायनाः गृहीतकौशलिकाः उपस्थिता उपढौकिता लोकपाला
च्यते । साशङ्काः सभ्याः, भीष्मा भयानकाः, आसा विश्वासार्हा, विशन्तो
विनिशाटा निशाचरा यत्रेति तमिति ॥ ७ ॥

अथ त्रिभीर्विशेषकम् ।

दूरस्प्रतीहारनतः स वार्ता पृच्छनावेदित्सम्प्रविष्टः ।

सगौरवं दत्तपथो निशाटैक्षिष्ठ शैलाऽग्रमिवन्दशत्रुम् ॥ ८ ॥

दूरादित्यादि—स विभीषणः दूरादेव प्रतीहारेण नतः स्वास्त्रिनीव तत्र
गौरवात् । वार्ता पृच्छन् कुशली महाराज इति विभीषणो द्वारि तिष्ठ-
त्वीति राज्ञे अनावेदित एव संप्रतिष्ठो निशाटैः सगौरवं च सविनयं दत्त-
पथो दत्तमार्गः । इन्द्रशत्रुं रावणमैक्षेषु दृष्टवान् । शैलाऽग्रमिव सिंहासनारूढस्त्रा
त्वयोच्चत्वात् ॥ ८ ॥

कृशानुवर्णण्यधिरूढमुच्चः सिंहासने संक्षयमेघभीमम् ।

निसर्गतीक्ष्णं नयनस्फुलिङ्गं युगान्तवद्वेरिव धूमराशिम् ॥ ९ ॥

^१ नशाया प्रट्टीप्ति तद्वै, राक्षसैरित्यर्थः ।

कृशानुवर्षणीत्यादि—सिंहासने उच्चैस्तुक्ते कृशानुवर्षणी अभितुल्ये अथि—
रुद्धम् उपविष्टम् । संक्षयमेघवद्वीमप् अतिभयंकरम् । निर्सर्गतीक्ष्णं स्वभाव-
रौद्रम् । नयनानि स्फुलिङ्गा इव यस्य तमैक्षिष्ट । युगान्तवहेरिव धूमराशिम्,
अभितुल्यसिंहासने उपरि स्थितत्वात् । सोऽपि संक्षयमेघवद्वीमः, स्वभावतः
कटुकत्वात् । स्वभावतीक्ष्णः । नयनानि विस्फुलिङ्गा यत्रेति ॥ ९ ॥

प्रीत्याऽपि दत्तेक्षणसञ्चिपातं भयं भुजङ्गाऽधिपवद्धानम् ।

तमःसमूहाऽकृतिमप्यशानुर्जा जयन्तं प्रथितप्रकाशात् ॥ १० ॥

प्रीत्येत्यादि—यथा भुजङ्गाधिपः शेषः प्रीत्या स्नेहेन दत्तेक्षणसञ्चिपातः
स्वर्मपितनेत्रिनिवहो भयमादधाति तद्वद्यमादधानम् । तमःसमूहस्येवाकृति-
र्यस्य तमपि प्रथितप्रकाशानशेषानकीदीन् ऊर्जा बलेन जयन्तमैक्षिष्ट । ऊर्जेति
‘आजाभासुधुर्विद्युतोर्जपृष्ठज्ञावस्तुवः किप् । ३।२।१७।’ इति किप् ॥ १० ॥

तं रत्नदायं जितमृत्युलोका रात्रिश्चराः कान्तिभृतोऽन्वसर्पन् ।

प्रमुक्तमुक्ताकलमम्बुवाहं संजाततृष्णा इव देवमुख्याः ॥ ११ ॥

तमित्यादि—यथा देवमुख्याः अमरत्वाजितमृत्युलोकाः कान्तिभृतो
द्वीपिवराः संजाततृष्णाः सन्तः प्रमुक्तमुक्ताकलमम्बुवाहमुपसर्पन्ति तद्वत्तं
दीपिषणं रत्नदायम्, रत्नं दास्यतेर्मिति । ‘अण् कर्मणि त्व । ३।३।१२।’ इति
चाविष्यत्काले क्रियायां क्रियार्थायामण् तत्र ‘एककर्तृके भिन्नकर्तृके वा’
इति विशेषाभवत् । अथवा ‘दद्य दानगल्योः’ इत्यस्मात् ‘कर्मण्यण्
। ३।२।१।’ इत्यण् । रत्नं दद्यते दद्यतीति कृत्वा । रात्रिचरा भवेयमलोका
अन्वसर्पन् ॥ ११ ॥

स किङ्करैः कल्पितमिङ्गितज्ञैः संबाधकं पूर्वसमागतानाम् ।

सिंहासनोपाश्रितचारुवाहुरध्यास्त धीठं विहितप्रणामः ॥ १२ ॥

स इत्यादि—स विभीषणः विहितप्रणामः कृतप्रणतिः पीठमध्यास्त
हेनेषण्णवान् । किङ्करैर्भृत्यैरिङ्गितज्ञैरभिप्रायवेदिभिः कल्पितमुपनीतम् ।
पूर्वसमागतानां प्रथमप्रविष्टानां संबाधकं संकटकृत् संबाधत इति ‘ण्वुलृत्तची ।
३।१।१३।५।’ इति ण्वुल् । रावणस्य सिंहासने उपाश्रितः स्थितः चारुवाहु-
र्यस्य विभीषणस्येति सः ॥ १२ ॥

१ विस्फुलिङ्गा अस्तिकणाः ।

ततो दशाऽस्यः क्षुभिताऽहिकल्पं दीप्राऽङ्गुलीयोपलमूढरलम् ।

अनेकचक्षव्याख्यानिवेशनादुचरकालं दशास्यः पाणि समितिम्बभाषे ॥ १३ ॥

तत हत्यादि—विभीषणिवेशनादुचरकालं दशास्यः पाणि क्षुभिताऽहिकल्पं कुद्धविस्तृतफणेन सर्वेण तुल्यम् । दीप्रो दीपनशीलोऽङ्गुलीयोपलोऽङ्गुलीयरत्नम् । यतः तत्र एव ऊढरत्नम् । अनेकाश्रमन्त्यश्वलन्त्यो नखकान्तयो जिह्वा इव यस्य तं प्रसार्य समितिं राक्षससमूहं बभाषे ॥ १३ ॥

शक्तैः सुहङ्गिः परिष्टकार्येराम्नातिभिर्नीतिषु बुद्धिमङ्गिः ।

युष्माद्विधैः सार्थमुपायविद्धिः सिद्ध्यन्ति कार्याणि सुमन्त्रितानि ॥ १४ ॥

शक्तैरत्यादि—शक्तैः समर्थैः सुद्धिर्मित्रैः परिष्टकार्यैः मा भूदृष्टकर्मणां कर्मसु विषाद् इति । नीतिषु आग्नातिभिः अभ्यस्तनीतिशास्त्रैरित्यर्थः । ‘इष्टदिभ्यश्च ।५।२।८८।’ इति इनिः । ‘क्त्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्’ इति कर्मणि समसी। बुद्धिमङ्गिः ज्ञानवङ्गिः । उपायविद्धिः सामादिकुशलैरित्यर्थः । युष्माद्विधैः सह कार्याणि सुमन्त्रितानि सिद्ध्यन्ति ॥ १४ ॥

उपेक्षिते वालिखराऽदिनाशे दग्धे पुरेऽक्षे निहते सभृत्ये ।

सैन्ये द्विषां सागरमुच्चिरीर्षावनन्तरं ब्रूत यदत्र युक्तम् ॥ १५ ॥

उपेक्षित इत्यादि—वालिखरादिनाशेषूपेक्षितेषु द्विषां च सैन्ये सागरमुच्चिरीर्षावुक्तारितुमेषणंशीले । अनन्तरमिदानीं ब्रूत वदत यदत्र युक्तमिति चत्रितीर्षान्तिवि ‘इकोऽचि विभक्तौ ।७।१।७३।’ इति तुम् न भवति । ‘तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्रालवस्य ।७।१।७४।’ इति पुंवद्वावः ॥ १५ ॥

शूजांसदक्षः स्थलकार्मुकासीन् गदांश्च शूलानि च यातुधानाः ।

शरामृशन्तः प्रथिताभिमानाः प्रोचुः प्रहस्तप्रसुखा दशास्यम् ॥ १६ ॥

भुजांरेत्यादि—यदि वयं शत्रुन् न व्यापादयौमस्तदा किंमेत्मुजादिभिर्द्वैरिति प्रथिताभिमानाः प्रकाशिताहृकारा मुजादीन् परामृशन्तः प्रहस्तप्रसुखा यातुधाना दशास्यं प्रोचुर्वक्तुमारब्धाः ‘वचं परिभाषणे’ लिद् चस् ॥ १६ ॥

अखण्डच्यमानं परिखण्डच शक्तं त्वं पण्डितमन्यमुदीर्णदण्डः ।

नराभियोगं नृसुजां प्रधान मन्त्रोन्मुखः किं न नयसे गुरुत्वम् ॥ १७ ॥

१ क्षुरिषु उच्चमापेक्षया किञ्चिद्दूनत्वात्सद्विभिति भावः । २ विनाशयामः ।

सराधतैः किं अक्षयन्ति इवान्नामादेशित कस्माचित्तः ॥

सरस्थाएँ कैलास वधुभिकृति किं वैत्योक्तु शितिमन्दहिते ॥१७॥

साध्यमनीकमुद्दिः साध्यमपुर्वः कैवल्यात् वस्मयस्तद्देहि सम्प्रसः । धर्मतीर्ति
धरः । पचादित्वात् कर्वन्नन् । त्रे सत्यगुणैवासधर । नोडस्माकं मध्ये
कस्यचिदेकस्य यैः सप्तशूरैः प्रब्रह्माद्येऽपि आदर्भोजनमवि न भवति
तैः सरावक्त्रांत्लैः किं प्रसेज्ञम् । बद्धक्षयोऽसुशोचने । अतो-
ऽग्निपूज्य अपहिष्य । किं चैसक्त्राङ्गस्योऽसु भवतु । शिविर्वर्द्ध अन्तरिक्षे
उपरिष्टादित्यनिवृत्तिः ॥१९॥

ज्ञानस्त्रियकालम् ददेः कृत्वा तुः समेकित्वे वाहुकिप्राचक्षीवैः ।

स्वर्वेषं बन्धुमासं महाचक्रशीद्राजन् । प्रसादेत निजेत लङ्काम् ॥३७॥

चापलयेत्यदि—चपलस्य भावश्रापल्यम् । ‘गुणवचनवाद्वाणामिहभवः कर्मणि च ।५।१।१२४।’ इति ब्राह्मणादित्वाद्वाक्ये व्यक्त् । युवादिष्विष्वि हृष्यते । तत्र चापलमिति रूपम् । तेज युक्तस्य हृषेभैरुक्तस्य है राजन् । क्षेष्व वध्यस्य सबः यो वालधिः पुलङ्कं तद्वाक् समाख्तिः क्षशानुज्ञवहीयैः भृत्यैः समेथिस्ते वर्धितः तैलघृतादिर्भूमिहृत् गृहं गच्छतो मलन् पुञ्चक्षत्पत्रहृत् स्तुतः

श्रुधाक्षीत् दग्धवान् । 'एकाचो बशो भूष श्वसन्तस्य स्थवोः । १०।२।३७' इति
अत्वम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । 'हो दः । १०।२।३१' । 'षडोः कः सि । १०।२।४१' ।
इति कः निजेन आत्मीयेन प्रमादेन ज्वालादर्शितलक्षणेन तदानीं तस्य
श्वसन्यापादनमेवं युक्तमिति ॥ २० ॥

अथाञ्चितोरस्कमुदीर्णदृष्टिः कृत्वा विवक्षाप्रवर्णं शरीरम् ।

विवृत्तपाणिर्विहितोत्तरार्थं विभीषणोऽभाषत यातुधानान् ॥ २१ ॥

अथेत्यादि—प्रहस्तादिवचनानन्तरम् अञ्चितोरस्कं विन्यस्तहारत्वात् ।
पूजितोरस्कम् । 'उरःप्रभृतिभ्यःकर् । ५।४।१५१' इति कप् 'अञ्चेःपूजायाम् । ७।२।
५३' इतीदृ । 'नाञ्चेः पूजायाम् । ६।४।३०' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेधः । तादृशं
शरीरं विवक्षाप्रवर्णं वक्षुमिच्छाभिमुखं कृत्वा शरीरस्य सौष्ठवम् उत्पाद्यत्वर्थः ।
चर्दीर्णदृष्टिस्तदभिमुखदृष्टिः । विवृत्तपाणिस्तदभिमुखीकृतदक्षिणपाणिः विभी-
षणो यातुधानानभाषत । विहितोत्तरार्थं विहितः प्रतिषिद्धः परैरुदितस्य वचन-
स्यार्थो यत्र भाषणं इति ॥ २१ ॥

युद्धाय राजा सुभृतैर्भवीद्देः सम्भावनायाः सदृशं यदुक्तम् ।

तत्प्राणपण्यैर्वैचनीयमेव, प्रज्ञा तु मन्त्रेऽविकृता न शौर्यम् ॥ २२ ॥

युद्धायेत्यादि—युद्धार्थं राजा भवन्तः सुभृताः संवार्धिताः तैः सुभृतैर्य-
दुक्कं 'भाजुं पिनषाम' इत्यादि कीदृशम् । संभावनायाः सदृशम् । तत्प्राणपण्यै-
र्वैचनीयमेव । मन्त्रे तु प्रज्ञाधिकृता न शौर्यम् ॥ २२ ॥

'नराभियोगं किं नयसे गुरुत्वम्' इत्यत्रोत्तरमाह—

युज्ञापि यत्नाऽऽहतमन्त्रवृत्तिर्गुरुत्वमायाति नराभियोगः ।

वशीकृतेन्द्रस्य कृतोत्तरोऽस्मिन् विघ्वंसिताशेषपुरो हनूमान् ॥ २३ ॥

यच्चेत्यादि—वशीकृतेन्द्रस्य निर्जितशक्त्य रावणस्य नराभियोगो यत्त-
हतमन्त्रवृत्तिर्यज्ञेनाहृता मन्त्रवृत्तिर्यस्य सः तादृशो गुरुत्वमायातीति यज्ञाप्युक्तम्
अस्मिन् वस्तुद्विहनूमान् कृतोत्तरो दत्तोत्तरः । यतः प्रघ्वंसिताशेषपुरः । पुरं
लङ्घा । पूःशब्दो वा कृतस्यमाप्नातः । यत्र कपिनाथभूत्येन ईहशमनुष्ठितं स कथं
ग्रामियोगो मन्त्रोनुख्यो न निरूप्यत इति ॥ २३ ॥

प्रमादेनाभिः लङ्घामधाक्षीदित्यत्रोत्तरमाह—

प्रमादिः प्रमादेन ददाह लङ्घां वधयस्य देहे स्वयमेवितश्चेत् ।

प्रविमूर्श्य तदैवविधियाऽभिवत्त ग्रहाऽन्नवन्धोऽपि यदि प्रमादः ॥ २४ ॥

अग्निरित्यादि—वध्यस्य वधार्हस्य देहे तदेकदेशेषु पुच्छादिषु प्रमादेन स्वयं युष्माभिरप्तिरेवितो दीपितः लङ्घां दादाह चेत्, तथास्तु । नवास्त्रव-
न्वोऽपि यदि प्रमादः वदेवधिया देवबुद्ध्या देवानां सात्त्विकत्वान्निर्मला बुद्धिः तथा विमुश्य निरूप्याभिवत् ब्रूत् । सोऽपि प्रमाद इति यतोऽसावमो-
घोऽपि विश्वेषितः । अभिवत्तेति । ‘द्वयस्तथोश्च ।८।२।३।८।’ इत्यभ्यासद्वकारस्य
भूष, वातोश्च स्वरि चर्त्वम् ॥ २४ ॥

परामित्योगः सर्वथा निरूप्यत इति दर्शयन्नाह—

जगन्त्यमेयाऽङ्गुतभावभाज्जिं जिताऽभिमानाश्च जना विचित्राः ।
कार्ये तु यत्नं कुरुत प्रकृष्टं मा नीतिगर्भान्सुधियोऽवमन्द्वम् ॥ २५॥

जगन्तीत्यादि—असंख्यविचित्रभावभाज्जिं जगन्ति तत्रत्या अपि जना विचित्राः शक्तिदेशकालवशात् जिताभिमानाश्च । अन्यैरुक्तौर्जीयरेऽभिमान स्वेषाम् । तेनस्तमन्यभिमानो न कर्तव्य इति दर्शयति । कार्ये तु प्रकृष्टमुत्तमं चक्रं कुरुत । येन तत्कार्यं सिद्ध्यति । तत्र च ये युक्तिभिर्दृश्यति तात्रीतिगर्भान नीतिरेव षाङ्गुण्यादिज्ञानं गमेण येषाम् । अत एव सुधियो मावमन्द्वं मा परि भूत । तदयुक्तानुष्ठानात् । ‘हनः सिद्ध । १ । २।१४।’ इति कित्त्वविधानं सामर्थ्यात् अनुनासिकलोपाभावः ।- ‘धि च । ८। २। २५।’ इति सिद्धे लौपः ॥ २५ ॥

यथा च विजिगीषुणा वर्तितव्यं तथोपदिशन्नाह—

वृद्धिस्थस्थानगतामजस्त्रं वृत्तिं जिगीषुः प्रसमीक्षणं ।

धेटत सन्ध्याऽङ्गदिषु यो गुणेषु लक्ष्मीर्न तं सुच्चर्ति चञ्चलाऽपि ॥ २६॥

वृद्धीत्यादि—आत्मद्रव्यप्रकृतिसंपत्तो नयस्यांधिष्ठानं विजिगीषुः तस्य च वृद्धिक्षयस्थानभिति त्रीणि फलानि । गुणाश्च सन्धिविप्रहयानासन्नसंशय-
द्वैतीभावाः षट् । तत्र यस्मिन् गुणे स्थितः पश्येदिहस्यः पश्यामीति । उर्गेसेतुवणिकवृष्टिशूल्यानिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्यात्मनः प्रवर्तयितुं परस्य चैतानि हन्तुं गुणमातिष्ठेत् सा वृद्धिः । यस्मिन् गुणे स्थितः स्वकर्मणामुप-
शातं पश्येत् नेवरस्य तस्मिन्न तिष्ठेत् स क्षयः । स्वकर्मणां वृद्धिगुणेना-
भिपश्येदेतत् स्थानमित्यनेन मार्गेण यो विजिगीषुः वृद्धिक्षयस्थानगतामात्मनः परस्य च वृत्तिमजस्त्रं शश्वत् प्रसमीक्षमाणो निरूपयन् सन्ध्यादिषु षड्गुणेषु
धेटत् यतेत् । तं विजिगीषु लक्ष्मीः राज्यश्रीः चञ्चलापि न सुच्चर्ति । गुण-
शृङ्खलावद्वत्वात् ॥ २६ ॥

ज्ञानिं स कालो यत्र विच्छिन्नीषुणः परद्विद्वपेक्षणीयेति दर्शनाह—

देवेक्षणीयैव परस्य कुद्धिः प्रनष्टनीतेसमितेन्द्रियस्य ।

महाभद्रिसुक्तस्य विरागहेतुः समूलघातं विनिहन्ति याज्ञवे ॥ २६॥

उपेक्षणिः—परः शत्रुः प्रनष्टनीतिवद्विनितेन्द्रियः नैमदमदिष्ठार्गं त्यजति, किंतु तेनैव युज्यते । तस्यैवं विघस्य या वृद्धिः स सर्वैर्लोकस्य विरागहेतुः वै मुख्यवरणमुपेक्षणीयैव न तदभावाय । तेनैवसी या अन्ते अवसाने समूलघातं सर्वं सर्वेण विनिहन्ति विचक्षमन्ति ॥ २७॥

तथात्मि स कालो भ्रम विच्छिन्नीषुणाऽन्तस्थकं देवेक्षणीयं कृत्वा ह—

जन्म । नुराऽपेक्ष कुतोऽवसादः फल्याऽनुवन्धः सुविवाहित्वनोऽपि ।

ज्ञेक्षणीयोऽवसादाम्ब सर्विं कामाऽद्विष्ठवर्मजिह्वाऽपिषेद ॥ २८ ॥

जन्मेत्यादि—आत्मनोऽत्यवसादः क्षयः जनानुरागेण युतः संबद्धः । अनुरक्तप्रकृतिमण्डलत्वाद्विजितीषो फलानुवन्धः फलमनुवन्धाति । सुविधा विद्वा अधिषेन राजा । कामादिष्ठार्गनिता कामक्रोधलोभमीहमदेव्यर्णां वणां वृत्ताजिता उपेक्षणीयोः । तत्राचार्हं वर्णः सन्विमयुपगम्य कृत्वा । अन्यथा क्षीणी-शास्त्रामृति परोऽभियुज्जीत ॥ २८ ॥

यदा च विजिरीषुः संधिविग्रहभ्यां फलं न पश्येत्तदा स्ववृद्धिग्राहकर्त्तव्यम् । उनं कुर्यादिस्युपदिशन्माह—

यदा विग्रहन् च सन्दधावो वृद्धिक्षमै चानुग्रहं प्रपश्येत् ।

आसीत् राजाऽवसरप्रतीक्षस्त्रदा प्रयत्संवित्तये न कुर्यात् ॥ २९ ॥

यदेत्यादि—यदा हि राजा विजिरीषावस्थितः विग्रहं कुर्वन् शास्त्रामनोऽवसराणासनकलाद्विदि न पश्येत् क्षयं वा परस्यात्मजोऽवग्रहणं न पश्येत् । वृद्धिस्त्र इति संधिः च कुर्वन्तात्मजोऽवग्रहणं न पश्यते तदा आसीत् स्ववृद्धिक्षमै चानुग्रहं कुर्यात् न विग्रहं साधेव वा । अवसरः कालस्त्रं प्रतीक्षते इति अवसरप्रतीक्षः । क्षमण्यम् । ३२१ । इत्यपि । सन्धिविग्रहस्य वा स्वपरवृद्धिक्षयान्वृद्धिक्षमै चालं प्रतीक्षमोणं इत्यर्थः । न पुनः प्रयाप्तं संधिविग्रहाद्युपि वितश्च निष्प्रयोजनं कुर्यात् । यदा तु परं विग्रहीतुभृत्यः तदा श्वावराहकलहू समान-सम्पदैक्ष्यति ॥ २९ ॥

सन्निवृत्तवतोऽपि विजिगीषोः परेण वा विमुज्यमानस्य विविषुपदे-
श्चाह—

सन्धौ स्थितौ वा जनयेत्स्ववृद्धिं हन्यात्परं वोपनिषत्यवोग्नेः ।

आश्रावयेदस्य जनं पैर्वा विप्राश्य कुर्याद्बहीनसन्धिम् ॥ ३० ॥

सन्ध्यावित्यादि—संधौ स्थितो वर्तमानः जनयेत् स्ववृद्धिम् । यदा अत्यु-
ल्लिख्तः तामभिबुद्धीत फरं वा शत्रुम् उपनिषत्यवोग्नेः विषादिदानैः हन्यात् विनान-
श्चयेत् द्विन्धिना जातविश्वासत्वात् । आश्रावयेदस्य जनं देशाद्विद्विनेनकर्षयैर्म् ।
बलवता अभियुज्यमानः पैरः विप्राह कलहं कारणित्वा अवहीनसन्धिम् । आ-
कान्तसंधिं कुर्यात् । तस्योपतीपितंत्वात् ॥ ३० ॥

संधित्सार्विजिगीषोः शत्रुमण्डलमेदं कुर्वतः सुकरः संविरित्युपदिश्चाह—
सन्दर्शितस्नेहगुणः स्वज्ञान्विद्वेष्यथन्मण्डलमस्य भिन्न्यात् ।

इत्येवमादि प्रविधाय सन्निवृद्धिविद्योऽविगमाभ्युषायः ॥ ३१ ॥

सन्दर्शितस्त्यादि—अस्मच्छत्रवोऽनेन सन्धानं मा कार्युरिति तान्विद्वे-
ष्यवत् विमुखानुत्पादयन् । सन्दर्शितस्नेहगुणः प्रकटीकृतानुरागगुणः । अस्य
कृत्यार्थण्डलमात्यादिप्रकृतिं भिन्न्यात् । इत्येवमादि प्रविधाय सन्दर्शितं
त्वेवमादिवाक्यार्थं कृत्वेत्यर्थः । बृद्धेरधिगमाभ्युपायः प्राप्तिहेतुः सन्निवृद्धियो
ङ्गुष्ठेयः ॥ ३१ ॥

विग्रहोऽपि विशेषस्त्वैव विजिगीषोनै यस्य कर्मचिदित्युपदिश्चाह—

मद्वा सहिष्यनुपरोपजप्यान्स्वकानविष्टाय जलान्तहृगान् ।

द्रुमाऽद्विलङ्घयजलाप्रधृष्यान्वर्धेत राजा रिपुविग्रहैण ॥ ३२ ॥

मत्वेत्यादि—स्वकोनात्मीयाननुजीविनः सहिष्यन् समर्थान् अपरोपज
प्यान् पैररभेदान् जंलान्ते ये दुर्गाः प्रदेशाः तान्विष्टाय तत्र स्थापयित्वा ।
‘अधिशोङ्गस्थाऽसां कर्म्म । १ । ४ । ४६ ।’ इति कर्मसंज्ञा । कीदृशोन् दुमै-
स्त्रैद्रैमेदुलङ्घयज्ञलैश्चाप्रधृष्यान् आस्वाद् । वनपर्वतजलभेदान् इति च
कुर्मेष्व । रिष्णा सह यो विग्रहः केन हैमुना राज्ञः वर्धेत हृद्धुर्भवितः
स्वाति ॥ ३२ ॥

यदा अरिविजिगीषू वरस्परं हन्तु न इकौ तदा विजिगीषरामसन्मुक्त-
दिश्चाह—

कक्षेति यो न द्विषतो निहन्तु विहन्यते नार्धवलैद्विषद्विः ।

स शावरीहं कलहं विद्ययद्वासीत् हुर्गाऽऽदि विवर्धयंश्च ॥ ३३ ॥

शक्तोतीत्यादि—यो विजिगीषुः अबलत्वात् द्विषतः शत्रूनभिहन्तुं विग्रहीतुं न शक्तोति अबलैद्विषद्विर्नापि विहन्यते स विजिगीषुः श्वावराहं कलहं विद्ययात् अनुतिष्ठेत् । श्वा च वराहश्च, श्वावराहं तदीयमिव कलहम् । तस्येदम् । ४ । ३ । १२० । इत्यण् । यथा चाण्डाला वराहं हन्तुमशक्ताः श्वानं विमुच्य योधयन्ति यद्यथं हतोऽनेन वा अर्थमिति तथोर्भव्यत्वाद्दुमयथा कार्यसिद्धेः । तद्वयोर्विद्विषतोः कलहं विद्ययात् । स्वयं च दुर्गादि विवर्धन् दुर्गसेतुवणिक्कुषिशून्यनिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्युपाचित्वन् आसीत् तिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

यदा विजिगीषुर्यानमात्रसाध्यं शत्रुमात्मानं वा शक्तिहीनं पश्येत् तदा वियात् संश्येतेति गुणद्वयमुपदिशन्नाह—

प्रयाणमात्रेण परे प्रसाध्ये वर्तेत यानेन कृताऽभिरक्षः ।

अशक्तनुवन्कर्तुमरेविघातं स्वकर्मरक्षां च परं श्रयेत् ॥ ३४ ॥

प्रयाणमात्रेणत्यादि—प्रयाणमात्रेण प्रसाध्ये परे शत्रौ नापरं विग्रहमपेक्षेत्, यानेन वर्तेत्, स्ववृत्तौ वर्तेत् । कृताभिरक्षः अभियास्यतः कर्मणां द्विविधस्त्रपतिविधानात् । अरेविघातं दुर्गादिक्लभेऽपव्यातान् स्वकर्मरक्षां स्वेषां दुर्गादिकर्मणां अपरेणोपहन्यमानानां रक्षां कर्तुमशक्तुवन् शक्तिहीनत्वात् परं श्रयेत् विमात्रित्य क्षयस्थानात् ज्ञानवृद्धिमाप्नुयात् । परो द्विविधः अभियोक्ता तद्विशिष्टवलोऽपरेऽन्य इति ॥ ३४ ॥

यदा तु सहायसाध्यं कार्यं पश्येत् तदा संविविग्रहासनद्वयीभावं गच्छेन दित्युपदिशन्नाह—

एकेन सन्धिः कलहो परेण कार्योऽभितो वा प्रसमीक्ष्य वृद्धिम् ।

पूर्वं प्रयुज्जिति जिगीषुरेता नीतीर्विजानन्नहितात्मसारम् ॥ ३५ ॥

एकेनत्यादि—अभितु उभयपार्वयोः संधिना विग्रहेण वा वृद्धिं प्रसमीक्ष्य एकेन शत्रुणा स्वयमभियुक्तेन संधिः अपरेण सहायाभियुक्तेन विग्रहः कार्यः । एवयुक्तेन प्रकारेण अहितस्य शत्रोरात्मनश्च सारं बलाबलं विजिगीषु विजानन् एता नीतीः षाढगुण्यलक्षणाः प्रयुज्जिति ॥ ३५ ॥

त्वयाऽपुनरेव न प्रयुक्ता इति दर्शयन्नाह—

त्वया तु लोके जनितो विरागः प्रकोपितं मण्डलमेन्द्रमुरुपस् ।

रम्ये तु सञ्चर्त् विष्णीतमेतत् पश्यामि तेनाऽम्यविकं विपक्षम् ।

त्वयेत्यादि—त्वया पुनश्चतुर्वर्णोच्छेदकारिणा लोके जनितो विरागः । इन्द्रसुख्यं च शक्रवधानं मण्डलं प्रकोपितम् । रामे तु सर्वमेतद्विपरीतम् अनुरागेण जनितं मण्डलं चानुरचितं तेनाभ्यविकं विपक्षं रामं पश्यामि ॥ ३६ ॥

न चेदानीं भवतः कार्यं विनष्टम् अपि तु प्रागेवेति दर्शयन्नाह—

एकेन वाली निहतः शरेण सुहत्तमस्ते रचितश्च राजा ।

यदैव सुग्रीवकपिः परेण तदैव कार्यं भवतो विनष्टम् ॥ ३७ ॥

एकनश्यादि—तत्र सुहत्तमा वाली यदैव परेण रामेण कर्त्रा शरेण ऐकेन निहतः, सुग्रीवश्च कपिस्त्वच्छत्रू राजा रचितः स्थापितः तदैव विनष्टमिति ॥ ३७ ॥

अथ प्रतापवतो मम कर्थं कार्यं विनश्यति, प्रतापादेव शत्रवो नश्यन्तीति चेदाह—

प्राकारमात्राऽवरणः प्रभावः खराऽदिभिर्यो निहौस्त्वाऽभूत् ।

लङ्घाप्रदाहाऽक्षवधुभङ्गैः ङ्गाम्यत्यसावप्यधुनाऽतिमात्रम् ॥ ३८ ॥

प्राकारेत्यादि—तत्र त्रैलोक्यप्रमाणी प्रताप आसीत् । पुनः खरादिभिर्निहौतैः प्राकारमात्रावरणो जातः । लङ्घायामेव समर्थत्वात् । असावप्यधुन्व लङ्घादाहेन, अक्षवधेन, दुमभङ्गेन अशोकवनिकाभङ्गेन च अतिमात्रमत्यर्थं ङ्गाम्यति गङ्गानिमुग्णाच्छंति ॥ ३८ ॥

अतो रामेण सह युद्धं न घटते तदेव दर्शयन्नाह—

षड्गेवश्यः परिमूढबन्धुरुच्छिक्षमित्रा विगुणैरुपेतः ।

मा पादयुद्धं द्विरदेन कार्षीन्द्रम् क्षितीन्द्रं प्रणतोपभोग्यम् ॥ ३९ ॥

षड्गेत्यादि—वक्षांगतो वश्यः कामादेवैश्यः । परिमूढबन्धुः मूर्खामात्यादिपरिवारः । उच्छिक्षमित्रः वर्गस्यासंभवात् । अरिगणैरुपेतः । तद्विपरीतो रामः । अतो द्विरदेन पादयुद्धमिव तेन ज्यायसा मा विग्रहं कार्षीः । अपि तु क्षितीन्द्रं रामं नस्ते । प्रणतोपभोग्यम् अनेन हीनसंविमाह । तथा चोक्तम्—प्रवृत्तं मन्त्रिणाकान्तो राजा बलवताऽवलः । संधिनोपनेतूर्ण दण्डकोशात् तमभूमिमिः ॥^१ इति ॥ ३९ ॥

^१ प्रणतेत्यर्थः ।

यत्वयोः संधानकारणमस्त्येवेति दृश्यन्नाह—

रमोऽपि दाराऽहरणेन तस्मै वर्ये हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः ।

तंसस्य तसेन यथाऽऽयसो नः संधिः परेणाऽस्तु विमुच्च सीताम् ॥४०॥

राम इत्यादि—यथा तप्तेनायसा तपस्यायसः संधिर्घट्टे तद्वद्स्माकं तपानां
तप्तेन रामेण सन्धिरुस्तु। अतो मुच्चै सीतां सन्धिलिमित्पु ॥ ४० ॥

यदि च तेव तपेनापि सत्ता ज्योर्थसा म सन्धार्ण तदा सर्वे वर्यं न जीवामः
क्षव तेजसो विनाशकत्वादिति दृश्येत्राह—

संधुक्षितं मण्डलचण्डवासैरमर्घतीक्ष्णं क्षितिपालतेजः ।

सामाज्मभसा शान्तिमुपैतु राजन्प्रसीद जीवाम सबन्ध्युभृत्याः ॥४१॥

सन्धुक्षितमित्यादि—क्षितिपालतेजः सीतावियोगजम् । इन्द्रादिर्मण्डलै
श्चण्डवतैरिव संधुक्षितं दीपितम् । अमर्षतीक्ष्णम् असहिष्णुतयाऽसद्धम् ।
सामान्यमसा साम्ना सन्धिना अभ्यर्थेव शान्तिमुपैतु । हे राजन् ! प्रसीद किं
स्तरम्भेण । अन्यथा तमारण्योऽभिरिव दुःखांमर्षजं तेजो विक्रमयतीति ॥४१॥

समानयोरपि सन्धानमेव युज्यते न विप्रहः किं पुच्छ्यायसीत्यत्र हंतुं
कृष्णप्राह—

अपकुम्भाविव भद्रभाजौ रजन्नियातां मरणं समावौ ।

वीर्यं स्थितः किंतु कृताऽनुरागो रामो भवांश्चोक्तमभूरिवैरी ॥ ४२ ॥

अपकेत्यादि—हे राजन् ! यथा कुम्भावपकौ भङ्गधारोजौ परस्पराभिहृतौ
विनश्यतः । तद्वत् समानौ शुद्धयमानौ मरणमियातांम् । सीर्वधातुकयकारुचा-
द्विणो न दीर्घत्वम् । राजनियातामिति ‘ज्ञमो ह्लसादौचि छमुण् नित्यक् ॥१३३२॥’
इति चुडागर्मः । किंतु रामो वीर्ये स्थितः उत्साहशक्तियुक्त इत्यर्थः । विक्रमबलं
चैत्यस्तीहशक्तेः । कृत्तानुरागश्च अनुरक्तमण्डलत्वात् । भवान् धूमः उत्तमभूरि-
वैसं भे उत्तमा इन्द्रोदयो भूरयः प्रभूता वैरिणः शत्रवर्णं यस्य । अंतस्तम्भ-
स्त्रीयान्तमव चुक्ते न विग्रहः ॥ ४२ ॥

नतु च समज्यायोग्या सन्वीयेत हीनेनव विगृहीयत् । मन्त्रप्रभावो-
द्दस्याहशक्तिभयुक्ते ज्यायान् । अपचितो हीनः । तुल्यशक्तिः समः । लक्र-
मस्तवलं मन्त्रशक्तिः । कोशदण्डबलं प्रमुशक्तिः । विक्रमबलम् उद्दस्याहशक्तिः ।

प्रेषणेत्वमित्यर्थः । ‘इष्ट गतौ’ ।

सत्यामुत्साहशक्तौ शेषग्रोरभावात्र हीनेन विग्रह एवं खुल्यत इत्याह—

दण्डेन कोशेन च मन्यसे चैत्प्रकृष्टमात्मानंभरेस्तथापि ॥

रिक्तस्य पूर्णेन वृथा विनाशः पूर्णस्य भज्ञे बहु हीयते तु ॥ ४३ ॥

दण्डेनेत्थादि—दण्डेन चतुरझेन बलेन, कोशेन हेमरूप्यादिनां यदि प्रकृष्टमात्मानमरेः सकाशान्मन्यसे, तथाप्येवमपि न बुकं यतो रिक्तस्य पूर्णेन भवता विनाशो भज्ञः वृथा लिष्फलः । पूर्णस्य पुनर्भवतो भज्ञे बहु हीयत इति हीनेन बलवतोऽपि संधानं युक्तम् । रिक्तस्य भज्ञो माभूत् ॥ ४३ ॥

अन्यद्विजयफलमस्तीति चेदाह—

छिष्टाऽत्मभृत्यः परिमृग्यसम्पन्मानी यतेताऽपि ससंशयेऽर्थे ॥

संदेहमारोहति योः कृत्वाऽर्थो नृन् रत्ति तस्य करोति न श्रीः ॥ ४४ ॥

किलषेत्थादि—यो मानी छिष्टात्मभृत्यः चिरकालछिष्टशरीरः छिष्टभृत्यश्च ।

रिमृग्यसम्पत् प्रार्थनीया विभूतियेन । भुग्यते: स्वार्थकण्यन्तादचो यत् ।

संशयेऽर्थे स्यात्र स्थादिति यतेतापि अत्र कुर्यात् । योः कृतार्थो भवाहशः लोकयविजयित्वात् संदेहे प्रवर्तते, तस्य मूनमवश्यं श्रीर्विभूतिः

ति स्थितिं न करोति ॥ ४४ ॥

कदा तर्हि विग्रह इत्याह—

शक्यान्वदोषाणि भग्नफलानि समारभैतीपनयन्समाप्तिम् ।

कर्माणि राजा विहिताऽनुरागो विपर्यये स्याद् विर्तथः प्रयासः ॥ ४५ ॥

शक्यानीत्यादि—शक्यानि यानि कर्तुं पार्यन्ते । अदोषाणि शुद्धानि हाफलानि कार्याणि राजा समारभेत विग्रहेणत्यर्थात् । उपनयन् समाप्तियन् । विहितानुरागोऽनुरक्तकृतिः । विपर्यये उक्तस्य । अशक्यानि दोषाणि गनि स्वल्पफलानि राजा समारभेत समाप्तिं च न नयति सं विलयः प्रयासः नेष्टलो विग्रहः ॥ ४५ ॥

भमापि रामविग्रहेण सर्वमस्तीति चेदाह—

तेऽने क्षवयौ नृपतिः सुनीतिदोषः क्षयाऽप्तदिः कलहे शुभश्च ।

तेऽले न किंचिन्म शुभा समाप्तिः कृत्वाऽनुरागं भुवि सन्त्यजारेम् ॥ ४६ ॥

जेतुमित्यादि—नृपती रामः जेतुं न शक्यः विग्रहेण । उत्साहशक्तिशुक्तिशत् । तेन सह कलहे दोषः क्षयादिः शुबोऽवश्यंभावी । विभ्रहे वा सोति

क्षुयव्ययप्रयासप्रत्यवाया भवन्तीत्युक्तम् । फलं न किंचित् न शुभा समाप्तिः स्वबन्धुविनाशहेतुत्वात् । अंतो योद्धुमरिं ज्यायांसं संलग्ज । भुवि कृतानुरागं त्वं पुनरकृतानुरागं इति ॥ ४६ ॥

अन्यच्च वालिवध एव तस्यार्थसम्पज्जयायेति दर्शयन्नाह—

त्वन्मित्रनाशो निजमित्रलाभः समेतसैन्यः स च मित्रकृच्छ्रे ।
भोग्यो वशः पश्य शरेण शत्रोः प्रसाधितो वालिवधेन कोऽर्थः॥ ४७॥

त्वन्मित्रत्यादि—वालिवधे सति शरेण रामस्य कोऽर्थो न प्रसाधितः, अपि तु सर्वं एव पश्य । तथाहि । त्वन्मित्रनाशः तस्य च मित्रलाभः मित्रं च तष्ठाभश्चेति । समेतसैन्यः कृच्छ्रे संकटप्राप्तौ भूतभोग्यः उपजीव्यः । वशो—
अनुकूल इति ॥ ४७ ॥

त्वं विभिद्य साधयिष्यामीति चेदाह—

लोभाद्याद्वाऽभिगतः कपीन्द्रो न राघवं येन भवेद्विभेदः ।
स्थितः सतां वर्त्मनि लब्धराज्यः प्रतिपिण्य सोऽभ्यगमच्चिकीर्षुः॥ ४८॥

लोभादित्यादि—कुद्धलुञ्ज्यभीतावमानिताश्रत्वारो भृत्याः परस्य भेद्याः । त्वं कपीन्द्रो राघवं लोभाद्याद्वा त्रासाद्वा नाभिगतः । येन हेतुनाऽथं
द्विभेदः स्यात् । यसादसौ सतां मार्गे स्थितः सन् लब्धराज्यो लाभरतः
प्रतिपिण्य चिकीर्षुः॥ ४८ ॥

कुद्धुजीविनोऽपि भेद्य । इति दर्शयति—

निर्झिनो निर्झरकुञ्जभाजो दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञाः ।
त्वयो रत्नवैररलभ्या मुख्याः कपीनामपि नोपजप्याः॥ ४९॥

इत्यादि—कपीनामपि मुख्या नीलकुमुदादयोऽपि नोपजप्याः
स्वत्वात् त्वयाः । यतः फलाशिनो मिष्टान्ननिरपेक्षाः । निर्झरकुञ्जभाजः
सुख्याः सुख्याः । दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञा दिव्याङ्गनासु योऽनङ्ग-
रतरसः तदनभिज्ञाः न्यजातयः न्यञ्चन्तीति ‘ऋतिवर्गद्वृक्षस्मृ-
गञ्जुयुजिकुञ्जां च । ३ । २ । ५९ ।’ इत्यानेन किन् ॥ ४९ ॥

शुष्मनित्रपुत्रोऽङ्गदोऽप्यभेद इति दर्शयन्नाह—
कृताभिषेको युवराजराज्ये सुप्रीवराजेन सुताविशेषम् ।
ताराविवेयेन कथं विकारं तारासुतो यास्यति राक्षसाऽर्थम् ॥ ५० ॥

कृतेत्यादि—सुप्रीवराजेन ताराविवेयेन ताराचित्तानुवर्तिना । तारासुतो-
अङ्गदः यौवराज्ये कृताभिषेकः सुताविशेषमिति कियाविशेषणम् । सुतनिर्विशेषं
मैत्रैवायं सुतो न वालिन इति । तत्कथं राक्षसार्थं विकारं भेदं यास्यति ।
नैवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्यसमाश्रयादपि रामेण विग्रहो न युज्यत इति दर्शयन्नाह—
पश्यामि रामादधिकं समं वा नान्यं विरोधे यसुपाश्रयेम ।
दत्त्वा वरं साऽनुशयः स्वयम्भूरिन्द्राऽऽदयः पूर्वतरं विरुद्धाः ॥ ५१ ॥

पश्यामीत्यादि—रामादधिकं ज्यायांसं समानं वा न पश्यामि । यं विरोधे
विग्रहनिमित्तमुपाश्रयेम आश्रयं गच्छेम । संप्रभे लिङ् । स्वयंभूर्ब्रह्मा तावन्ना-
श्रुः यतो वरं दत्त्वा सानुशयः विप्रतीसारवीन् जातः । किमिदमकार्यमनुष्ठितं
मयेति । इन्द्रादयस्तु पूर्वतरं विरुद्धाः ॥ ५१ ॥

एवं दुर्गसमाश्रयोऽपि न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

दुर्गाऽश्रितानां बहुनापि राजन् ! कालेन पार्षिणप्रहणाऽऽदिहेतुः ।
हुगोंपरोधं नु च कुर्वतोऽस्ति शत्रोश्चिरेणाऽपि दशाऽऽस्य ! हानिः ॥ ५२ ॥

दुर्गेत्यादि—दुर्गाश्रितानामस्माकं दुर्गोपरोधं कुर्वतः शत्रोर्बहुनापि कालेन
हे राजन् ! पार्षिणप्रहणादेः । आदिशब्दादादविकान्तपालादिप्रकोपस्य हेतु-
नांस्ति यद्वशादुपरोधो न भविष्यति । अत्र स्थितानां क्षय एव केवलं
मं च शत्रोरुपरोधं कुर्वतः चिरेणापि हानिः । युद्धशरीरोपयोगिनां सर्वदा
सम्भवात् ॥ ५२ ॥

दाख्यं तस्मीर्धरमम्बु पानं वृत्तिः फलैर्नौं गजवाजिनार्थः ।
राष्ट्रं न पश्चान्न जनोऽभिरक्ष्यः किं दुःस्थमाचक्षव भवेत्परेषाम् ॥ ५३ ॥

शखमित्यादि—तरवश उर्वीराश्चेति ‘जातिरप्राणिनाम् ।२।४।६।’ इति
एकवद्भावः । तच्छखं न शूलखङ्गादि । पानमम्बु न मैरेयोदि । फलैर्वृत्तिनौद-
नादिभिः । नो गजवाजिनार्थः शरीरमात्रत्वान्विश्चिन्ताः । राष्ट्रं देशो न पश्चात्

१ पश्चातपवान् हस्यर्थः । २ मैरेयं मद्यविशेषः ।

१ घोषणेत्यादि—प्रहस्तविभीषणमातामहानां वदतां यो घोषः तेन प्रति-
छब्बसंज्ञो विबुद्धः कुम्भकर्णो निद्रयाऽऽविले अक्षिणी यस्येति सः । निद्रायाः
सामर्ह्येनानपगमात् कषायितचक्षुः श्रुतकार्यसारः श्रुतकार्यतत्त्वः । ततः
कार्यसारश्रवणानन्तरं वाक्यमभाषत । यथा घनः साम्बुः सजलोऽन्तरिक्षे
वियति स्फूर्जति तद्वत् स्फूर्जनिन्ति ॥ ६१ ॥

कार्यं निश्चित्य सदस्यि भाषणानि न पञ्चाङ्गमन्त्रं विनेति साङ्गं तं तावदु-
पदर्शयन्नाह—

१ क्रियासमारम्भगतोऽभ्युपायो नृद्रव्यसम्पत्सहदेशकाला ।
२ विषत्प्रतीकारयुतार्थसिद्धिर्मन्त्राङ्गमेतानि वदन्ति पञ्च ॥ ६२ ॥

३ क्रियेत्यादि—क्रियाणां दुर्गादिकर्मणां यः समारम्भस्त गतः प्राप्तो ये-
अभ्युपायः कर्मणामारम्भोपाय इत्यर्थः । इदमेकमङ्गलम् । नृद्रव्यसम्पत् पुरु-
षाणां द्रव्याणां च सम्पदित द्वितीयम् । द्रव्योस्सहवचनं योगवाहित्वज्ञा-
पनार्थम् । सहदेशकालेति । यस्मिन् देशे काले च कार्यसिद्धिस्ताम्यां
सह वर्तत इति दृतीयम् । अत्रापि सहवचनं योगादेव । कर्मणामनु-
ष्टीयमानानां या विषत्स्याः प्रतीकारत्तेन युक्तेति चतुर्थम् । अर्थसिद्धिः
कार्यसिद्धिरिति पञ्चमम् । एतानि पञ्च मन्त्रस्याङ्गानि वदन्ति नीतिज्ञाः ॥ ६२ ॥

४ न निश्चितार्थं समयं न देशं क्रियाभ्युपायाऽदिषु योऽतियायात् ।

५ स प्राप्नुयान्मन्त्रफलं न मानी काले विषन्ने क्षणदाचरेन्द्र ॥ ६३ ॥

६ तेत्यादि—विनिश्चितार्थोऽवश्यं सिद्ध्यतीति यस्मिन् समये काले देशे च
कार्यसिद्धिः तादृशं समयं देशं च यो विजिगीषु नातियायात् नातिक्रामेत् ।
प्रतिषेधस्य द्वित्वात् प्रतिषेधद्वयं योजयम् । समयं च देशमिति पाठान्तरे
संयुक्तेनैक एव योजयः । क्रियाभ्युपायादिषु सत्सु, आदिशब्दात्
पुरुषद्वन्द्यसंसादिप्रतीकारे च स प्राप्नुयान्मन्त्रफलम् । हे क्षणदाचरेन्द्र ।
न हुनमर्जनी भवादृशः काले विषन्ने प्राप्नोति । स हि देशकालौ
हापयति ॥ ६३ ॥

७ औषधयं त्यजेन्मध्यगतोऽपि भानुः द्वैत्यं निशायामथवा हिमांशुः ।

८ अनर्थमूलं भुवनाऽवमानी मन्ये न मानं पिशिताशिनाथ ॥ ६४ ॥

९ औषधमित्यादि—हे पिशिताशिनाथ ! भानुर्मध्यगतोऽपि मध्याहेऽपि

औष्ठसुष्णतां त्यजेत् । संभावने लिङ् । अथवा हिमांशुर्निशायामपि
क्षैत्यं त्यजेत् । सुवनावभानी पुनर्सुवनभवभन्तुं शीलमस्येति । नास्ति
मत्स्वम् इति स भवाद्वशो मानं न त्यजेत् । अनर्थमूलम् अनर्थस्य कारणम् ।
एवं मन्ये जानामि ॥ ६४ ॥

तथाऽपि वक्तुं प्रसर्भं यतन्ते यन्मद्विधाः सिद्धिमभीप्सवस्त्वाम् ।

विलोमचेष्टं विहिताऽवहासाः परौर्हं तत्स्वेहमयैस्तमोभिः ॥ ६५ ॥

तथापीत्यादि—तथापि एवमपि सति मद्विधाः सिद्धिं कार्यनिष्पत्तिं
मभीप्सवः आप्तुमेवणशीलाः । यत्वां विलोमचेष्टं प्रतिकूलचेष्टितम् । प्रस-
भमाहृत्य वक्तुं यतन्ते । परैः दूरजनैः शत्रुजनैर्वा विहितावहासा एवं
विधा अप्युपदिशन्तीति । हिशब्दः पादपूरणे । तत्स्वेहमयैः स्नेहस्वभावैः
स्तमोभिरज्ञानैः । स्नेहतमसावृता ब्रुवन्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

क्राः क्रिया ग्राम्यसुखेषु सङ्गः पुण्यस्य यः संक्षयहेतुरुक्तः ।

निषेवितोऽसौ भवताऽतिमात्रं फलत्यवलगु ध्रुवमेव राजन् ॥ ६६ ॥

क्रूरा इत्यादि—क्रूराः क्रिया: परहिंसादयः, ग्राम्यसुखेषु परदारोपभार-
गादिषु सङ्गः प्रसक्तिः, यः पुण्यस्यार्जितसे संक्षयहेतुरुक्तः विद्यावृद्धैः ।
असौ भवतातिमात्रं सुष्ठु निषेवितः सन् हे राजन्निदानीं फलीत फलं ददा-
ति । अवल्यु असारम् । ध्रुवमविनाशम् ॥ ६६ ॥

तस्माद्विलोमचेष्टस्यै भवतो हितोपदेशे मम न किञ्चित् प्रयोजनं, तावतु
स्यात् त्वदर्थं मत्प्राणत्याग इति दर्शयन्नाह—

दत्तं न किं के विषया न भुक्ताः स्थितोऽस्मि वा कं परिभूय नोच्चैः ।

इत्थं कृतार्थस्य मम ध्रुवं स्यान्धृत्युस्त्वदर्थं यदि किं न लब्धम् ॥ ६७ ॥

दत्तमित्यादि—तव प्रसादादर्थिभ्यः किं न दत्तम्, के विषया न भुक्ताः
सर्वे एवानुभूताः । कं वा परिभूय तिरस्कृत्य उच्चर्महति पदे न स्थितोऽस्मि
इत्थमनेन प्रकारेण कृतार्थस्य लब्धजन्मफलस्य मम यदि त्वदर्थं सुत्यु-
रवश्यं स्यात्, तदा किं न लब्धम् । सर्वमेव जन्मफलं लब्धमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

तव पुनरद्यापि विभीषणोक्तं युक्तं, न प्रहस्तमुखोक्तमिति दर्शयन्नाह-

किं दुर्नैस्त्वयुदितैर्मृषाऽर्थवर्णिण वक्त्राऽस्मि रणे समाधिम् ।

तस्मिन् प्रसुते पुनरित्यसुक्त्वा विभीषणोऽभाषत राक्षसेन्द्रम् ॥ ६

किं दुर्ज्ञसैस्त्वदि—ज्ञव्ययपि स्थिते ‘किं धौरभोऽस्तु’ इत्यसुक्षिप्तं
यज्ञान्वदितान्युक्तविच अलीकार्यान्ति तैर्दुर्ज्ञवैः क्रिम् । त फिल्मिक्षिप्तम्
कृस्मादिति नेतृ यस्मात्तेऽनां समाधिं प्रतीकामं संप्राप्ते यमसाक्षिप्तम्
वीर्येण वक्ताऽस्मि वदिताहम् । रामवीर्यप्रतीकामस्तीत्यर्थः । इत्थेष्व-
तासिव दुर्भकर्णे उक्तव्यं पुनः भूयः प्रसुते स्ति विभीषणे राक्षस्ये-
न्द्रमभाषत ॥ ६८ ॥

निमित्तशून्यैः स्थगिता रजोभिर्दिशो मरुद्विविकृतैर्विलोलैः ।

स्वभावहीनैर्युगपक्षिवोष्टैः कल्पन्ति भर्तारमिवाभिष्ठाम् ॥ ६९ ॥

निक्षिक्षशून्यैस्त्विप्तादि—रजोभिर्विमित्तशून्यैः निर्जिमित्तैः दिष्टः स्थगिताः
संलग्नितः । ‘स्थम संवरणे’ मरुद्विश्च विकृतैः परवैर्धिलोलैरानियताद्विवार्तिस्ति
स्थगिताः । मृगपक्षिणां च घोषैः स्वभावहीनैर्भैर्भर्तारमिवाभिपत्रं मृत-
शोकात् कल्पन्ति ॥ ६९ ॥

उत्पातजं छिद्रमसै विवस्वान् व्यादाय वक्ताकृति लोकभीष्मम् ।

अनुं जनान्धुरुरादिमराशिः सिंहो यथा कीर्णसटोऽभ्युदेति ॥ ७० ॥

उत्पातजमित्यादि—अस्मै विवस्वान् छिद्रम् उत्पातजं वक्ताकृति लोक-
भीष्मं लोकस्य भयानकं व्यादाय प्रसाद्य । व्याकृपूर्वस्य ददाते वक्त्वा
ल्यपि रूपम् । जनान्धुं भक्षयितुं धूम्रयामिग्राशिः सत् अभ्युदेति
चद्वच्छति । यथा सिंहः कीर्णसटः विक्षिप्तकेस्त्रकलापः मुखं व्यादायानु-
शुनिष्ठति तद्वदिति भावः ॥ ७० ॥

मार्गे गतो गोत्रगुरुर्भृगृणामगस्तिनाध्यपसितविन्द्यश्चाङ्गम् ।

सन्दृश्यते शक्तपुरोहितोऽदिक्षमां कम्पयन्त्यो निपत्तनित चोलकाः ॥ ७१ ॥

मार्गमित्यादि—अग्रस्त्रिवा यद्यासितं विन्द्यश्चाङ्गं तत्सार्गं भृगृणां
गोत्राङ्गः शक्तो गृहः । दक्षिणमार्गचारी शक्त इत्यवर्थः । विश्वगिरिर्हि दक्षि-
णविश्वः । शक्तपुरोहितोऽपि वृहस्पतिः आहि दिव्यसे संदृश्यते । उल्काश्च क्षमां
प्रायवीरी कम्पयन्त्यो निपत्तनित ॥ ७१ ॥

मार्गे इवानामित्र राक्षसानामाश्रमस्तः क्रूराशिशेषवन्तः ।

स्वरूपादित्येवीम् कृष्णतद्वाप् भृगृहन्त्यभीताः परितः पुरुषः ॥ ७२ ॥

मांसमित्यादि—राक्षसानां हतानामिव मांसमाहंसवः आशंसुनशीलाः
‘सनाशंसभिक्ष उः । ३।२।१६८’ मांसभुजः शृगालादयः कूरगिरः परुषस्व-
नाः कृक्षानुब्रह्मः ज्वलनसदृशवद्नाः निर्भयाः परितो भ्रमन्ति ॥ ७२ ॥

पथो घटोधीरपि गा दुहन्ति मन्दं विवर्णं विरसं च गोपाः ।

हव्येषु कीटोपजनः सकेशो न दीप्यतेऽग्निः सुसमिन्वनोऽपि ॥ ७३ ॥

पथ इत्यादि—गोपाः पयः क्षीरं विवर्णं दुर्बर्णं विरसम् अस्वादु मन्दम्
अल्पं पयस्विनीरपि दुहन्ति । ‘अकथितं च । १।४।५१’ इति द्विकर्म-
कता । तथा शोभनेन्वनोऽप्यग्निनं दीप्यते, हव्येषु हवनीयेषु
घृतादिषु सत्सु । ‘अचो यत् । ३।१९७’ उपजननमुपजनः । ‘भावे
। ३।३।१८ ।’ इति घञ् । ‘ जनिवध्योश्च । ७।३।३५’ इति न
वृद्धिः । कीटानामुपजनोऽस्येति कीटोपजनः, सहकेशैः सकेशः दद्यमान-
कीटकेश इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तस्मात् कुरु त्वं प्रतिकारमस्मिन्नेहान् मया रावण भाष्यमाणः ।

वदन्ति दुःखं ह्यनुजीविवृत्ते स्थिताः पदस्थं परिणामपथ्यम् ॥ ७४ ॥

तस्मादित्यादि—यस्मादेवं विनाशसूचकानि निमित्तानि दृश्यन्ते, तस्मात्
हे रावण ! स्नेहान्मया त्वं भाष्यमाणः अस्मिन् वस्तुनि प्रतिकारं सीताप्रत्यर्पणेनैव
सन्धानं कुरु । ‘उपसर्गस्य घञ्यमनुज्ये बहुलम् । ६।३।१२२’ इति बहुलघ्रहणान्न
दीर्घः । कस्मादेवं भाष्यत इति चेत् यस्मादनुजीविवृत्तेऽवस्थिताः यद्वचनं दुःखं
दुःखहेतुस्तदा कदुक्तवात् । परिणामपथ्यम् आयत्यां हितं तत्पदस्थं स्वामिपदे
स्थितं वदन्ति ॥ ७४ ॥

विरुणसङ्कीर्णविपन्नाभिनैः प्रक्षुण्णसंहीणशिताऽख्ववृक्षैः ।

यावन्नराशैर्न रिपुः शवाशान् सन्तर्पयत्यानम तावदस्मै ॥ ७५ ॥

विरुणेत्यादि—यावद्रिपुः नरशैः नरनभ्रन्ति मुञ्जत इति तै राक्षसैः
शवाशान् गृथशृगालादीन् । शवं मृतशरीरमभ्रन्ति इति ‘कर्मण्यम् । ३।२।१’
इत्युभयत्राण् । न संतर्पयति न प्रीणयति तावदस्य रिपोः आनशं चरणा-
वित्यर्थात् । कीदृशैः । विरुणैर्भिन्नाङ्गैः । ‘ओदितश्च । ८।२।४५’ इति

१ उत्तरस्मिन् काले ।

प्रनिष्ठानत्वम् । संकीर्णैः इतस्ततो विक्षिप्तैः, विपत्रैसृतैर्भिन्नैर्विदारितदेहैः, अक्षुण्णैः । एभ्यो ‘रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्थ च दः ।८२।४२।’ इति नत्वम् । संहीणैर्लिङ्गैः वयमेववस्थां नीता इति । शितेन तीक्ष्णेन अखेण वृक्षणैः छिन्नैः । ‘ग्रहिज्यावियव्यीधवष्टीवचतिवृश्चतिपृच्छतिभृजतीनां छिति च ।६।१।६।’ इति सम्प्रसारणम् । संयोगादिलोपः । कुत्वं च । ओदित्वान्तत्वम् ॥ ७५ ॥

भूभङ्गमाधाय विहाय धैर्यं विभीषणं भीषणरूक्षचक्षुः ।

गिरं जगादोग्रपदामुदग्रः स्वं स्फावयन् शक्रिपुः प्रभावम् ॥ ७६ ॥

भूभङ्गमित्यादि—शक्रिपुर्दशाननः विभीषणवचनात् कुद्धः । भूभङ्गभूकुटिमाधाय आबद्धय धैर्यं विहाय त्यक्त्वा भीषणरूक्षचक्षुः भयानकपरुषचक्षुः । उद्ग्रः उत्तामितदेहः स्वं प्रभावं विक्रमं स्फावयन् वर्धयन् । ‘स्फायो चः ।७।३।४।१।’ इति णौ वत्वम् । विभीषणं जगाद् गिरं वाचम् । उग्रपदां सुसिङ्गन्तानां स्वरूपतोऽर्थतश्च परुषत्वात् ॥ ७६ ॥

शिला तरिष्यत्युदके न पर्णं ध्वान्तं रवेः स्यन्त्स्यति वहिरिन्द्रोः ।

जेता परोऽहं युधि जेष्यमाणस्तुल्यानि मन्यस्व पुलस्त्यनप्तः॥ ७७॥

शिलेत्यादि—उदके शिला तरिष्यति न पुनः पर्णम् । रवेः सूर्यात् ध्वान्तमन्धकारं स्यन्त्स्यति सविष्यति ‘स्यन्दू प्रस्त्रवणे’इत्यस्मात् ‘न वृद्धवश्चतुर्भ्यः ।७।२।५।१।’ इतीह न भवति । ‘खरि च ।८।४।५।५।’ इति चर्त्वम् । तथा वहिरिन्द्रोः स्यन्त्स्यति । अहमप्येष पर उत्कृष्टः जेता युधि सङ्घमे जेष्यमाण इत्येतानि चत्वारि है पुलस्त्यनप्तः विभीषण ! तुल्यानि मन्यस्व अवगच्छ । ‘मन ज्ञाने’ लोटि रूपम् । यदि जेताऽप्यहं परेण जीये शिलातरणादीन्यपि भविष्यन्ति ॥ ७७ ॥

अनिर्वृतं भूतिषु गूढवैरं सत्कारकालेऽपि कृताऽभ्यसूयम् ।

विभिन्नकर्माऽशयवाक् कुले नो मा ज्ञातिचेलं भुवि कस्यचिद् भूत् ७८

अनिर्वृतमित्यादि—भूतिषु ज्ञातिसंबन्धिनीषु अनिर्वृतमसुखिनम् । गूढवैरं काले हनिष्यामीति संशृतापकाराशयम् । सत्कारकालेऽपि पूजाकालेऽपि कृतामर्षम् । विभिन्नाः कर्माशयवाचो यस्य तद्विभिन्नकर्माशयवाक् ।

१ इदमविकम्, ज्ञातिचेत्यनेनैव गतार्थत्वात् ।

आशयोऽन्यो वाक्मणी चान्ये यस्येति । ईदं ज्ञातिचेलं गाहितज्ञान-
विरस्माकं कुले मा भूत् कस्यचिदन्यस्ये वा मा भूत् । चेलेशब्दो
गर्हिते वर्तते ॥ ७८ ॥

इच्छन्त्यभीक्षणं क्षयमात्मनोऽपि न ज्ञातयस्तुल्यकुलस्य लक्ष्मीय ।
नमन्ति शत्रुञ्ज च वन्धुवृद्धिं सन्तप्यमानैर्हृदयैः सहन्ते ॥ ७९ ॥

इच्छन्तीत्यादि—ज्ञातयः आत्मनः सुष्ठु क्षयं विनाशमिच्छन्ति, न
पुनस्तुल्यकुलस्य एकहेतुगोत्रस्य लक्ष्मीं श्रियम् । तथा शत्रुं कामं
नमन्ति, न पुर्ववन्धुवृद्धिं वन्धुसन्ततिं सहन्ते । संतप्यमानैर्हृदयैः
ईर्ष्यया द्विषमानैः ॥ ७९ ॥

किं मया कृतं येनैवमुच्यते इति चेदाह—

त्वयाऽद्य लङ्घाऽभिभवेऽतिर्हर्षाद्विषेऽतिमात्रं विवृतोऽन्तरात्मा ।
विक्रत्वां मृषा ते मयि दुस्यबुद्धिवदन्निदं तस्य ददौ स पार्णिम् ॥ ८० ॥

त्वयेत्यादि—लङ्घाऽभिभवे लङ्घोपरोधे अतिर्हर्षान् हर्षेण दुष्टेऽन्तरात्मा
अतिमात्रं सुष्ठु त्वयाऽद्य विवृतः प्रकाशितः । मयि दुस्यबुद्धिः अस्मद्विषये
दुस्थोऽभियुक्तोऽयमिति बुद्धिः ते मृषा मिथ्या । अतस्त्वां धिगिति
वदन् स दशाननः तस्य विमीषणस्य सिंहासनोपाश्रितवाहोः पार्णिं
पादप्रहारं शिरसि ददौ ॥ ८० ॥

ततः स कोपं क्षमया निगृह्णन् धैर्येण मन्युं विनयेन गर्वम् ।

माहं धियोत्साहवशादशक्तिं समं चतुर्भिः सचिवैरुदस्थात् ॥ ८१ ॥

तत इत्यादि—ततः पार्णिप्रहारादनन्तरं स विभीषणः कोपं क्षमया
क्षान्त्या निगृह्णन् अभिभवन्, तथा धैर्येण मन्युं शोकं, विनयेन गर्व,
मोहं वैचित्र्यं धिया प्रज्ञया, उत्साहवशादशक्तिमसामर्थ्ये निगृह्णन् अप-
मानेन कोपादनिं संभवात् । चतुर्भिः सचिवैरमातैः समं सार्धमुद-
स्थात् आसनादुत्थितः ॥ ८१ ॥

उद्याच चैर्व क्षणदाचरेन्द्रं सुखं महाराज विना मयाऽस्त्व ।

मूर्खाऽस्तुरः पथ्यकटूननन्यत्साऽस्त्वयोऽसौ भिषजां न दोषः ॥ ८२ ॥

उवाचेत्यादि—उत्थितश्चानन्तरं रावणमुवाच—हे महाराज ! मया विना
सुखमास्त्व तिष्ठ । आस्तेलोद् । तवात्र दोषो न ममोपदेष्टः । यस्मान्मूर्खातुरः

मूर्खों य आतुरः पथ्यकटूननश्नन् अभक्षयन् यत् आमयेन रोगेण सह
वर्त्तत इति सामयो रोगवान् असौ भिषजां वैद्यानां न दोषः, किंतु
तस्यैव ॥ ८२ ॥

करोत्रि वैरं स्फुटमुच्यमानः प्रतुष्यति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः ।
विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी, महाननर्थः सुहृदां बताऽयम् ॥ ८३ ॥

करोतीत्यादि—प्रमुर्विवेकशून्यो निर्विवेकः । आत्ममानी मत्समोऽन्यो
नास्तीति आत्मानं श्लाघमानः । आत्ममाने इनिः । स्फुटमुच्यमानो वैरं
करोति स्नेहं न करोति पथ्यमनेनोक्तमिति । श्रोत्रसुखैः तदर्थमनोहा-
रिभिः अपथ्यैस्तुष्यति । तस्माद्यं प्रभुः सुहृदामाश्रितानां महान् अनर्थः ।
अनर्थेहेतुत्वात् । बतशब्दः खेदे ॥ ८३ ॥

क्रीडन्मुजङ्गेन गृहानुपातं कश्चिद्यथा जीवति संशयस्थः ।
संसेवमानो नृपतिं प्रमूढं तथैव यज्ञीवति सोऽस्य लाभः ॥ ८४ ॥

क्रीडन्नित्यादि—यथा कश्चित् सर्पित्राही गृहानुपातं गृहं गृहमनुपत्य । ‘विविध-
पतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः । ३ । ४ । ५६’ इति णमुल । मुजङ्गेन
सह क्रीडन् जीवति संशयस्थः संदेहे वर्तमानः किमयं खादिष्यति न वेति ।
तथैव प्रमूढं मूर्खमधिपतिं संसेवमानो यज्ञीवैति सोऽस्य लाभः । आस्ता-
मन्यो लाभः इति ॥ ८४ ॥

दत्तः स्वदोषैर्भवता प्रहारः पादेन धर्म्ये पथि मे स्थितस्य ।
स चिन्तनीयः सह मन्त्रिमुख्यैः कस्याऽवयोर्लघवमादधातु ॥ ८५ ॥

दत्त इत्यादि—स्वदोषैरविवेकित्वादिभिर्भवता पादप्रहारः यो मम
धर्म्ये धर्मादनपेते मार्गे स्थितस्य दत्तः, स मन्त्रिमुख्यैरेतैः सह चिन्तनीयः ।
आवर्योर्मध्ये कस्य लघवमादधातु करोत्विति । यावन्निरुप्यमाणस्त्वै-
केति भावः ॥ ८५ ॥

इति वचनमसौ रजनिचरपतिं बहुगुणमसकृत्यसभमभिदधत् ।
निरगमदभयः पुरुषरिपुपुरान्नरपतिचरणौ नवितुमरिनुतौ ॥ ८६ ॥

१ कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकेनतः पराङ्मुखः । २ यावज्ञीवति । ३ तावज्ञीवनरूपः ।

इतीत्यादि—इत्येवं वचनं बहुगुणम् अर्थावगादत्वान् असकृत् बहुत्वात्, प्रसभम् आहत्य रजनिचरपतिमभिदधत् ब्रुवन् । ‘नाभ्यस्ताच्छ्रुतः । ७।१।७८।’ इति नुम्प्रतिषेधः । रजनिचर इति ‘ड्यापोः संज्ञाच्छ्रुत्सोर्बहुलम् । ६।३।६३।’ इति संज्ञायां ह्वस्वत्वम् । पुरुषरिपुपुरालङ्कातः निरगमत् निष्कान्तः । अभ्यः सन् नरपतिचरणौ रामस्य पादौ अरिपिरपि नुतौ शूरत्वान् ‘श्रुकः किति । ७।२।११।’ इतीद्यपतिषेधः । नवितुं प्रणामपूर्वकं स्तोतुम् । अनेकार्थ-त्वाद्वातूनां नन्तुमित्यर्थः ॥ ८६ ॥

अथ तमुपगतं विदितसुचरितं पवनसुतगिरा गिरिगुरुहृदयः ।
नृपतिरमदयन्मुदितपरिजनं स्वपुरपतिकरैः सलिलसमुदयैः ॥ ८७॥

इति महावैद्यथाकरणभट्टीप्रणीते रामचरिते काव्ये
प्रसन्नकाण्डे भाविकत्वप्रदर्शनस्तृतीयः ।
समाप्तो द्वादशः सर्गः ॥

अथेत्यादि—अथ अनन्तरं विभीषणसुपेतं सेतुबन्धचिन्ताकाले राममु-
पगतवानिति द्रष्टव्यम् । अन्यथा वक्ष्यमाणप्रभातकथनं विरुद्धयेत् ।
पवनसुतगिरा हनूमद्वचनेन सञ्चरितोऽयमिति विदितं सुचरितं येन ।
नृपतिः रामः गिरिगुरुहृदयः गिरिवत् गुरु अप्रकम्पं हृदयं यस्य । सलिल-
समुदयैः जलपूर्णघटे स्थितैः स्वपुरपतिकरैः । लङ्काधिषंति कुर्वन्तीति हेतौ ऽः ।
अमदयत् हर्षितवान् । ‘मदी हर्षे’ इत्यस्य हेतुमण्णन्तस्य घटादित्वान्मत्त्वे
ह्वस्वत्वम् । मुदितपरिजनं स्वामी लङ्काधिपत्येऽभिविच्यत इति तस्य दृष्टा
अनुजीविन इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाऽऽव्यया व्याख्यया समलङ्कृते श्री भाष्टिप्रणीते राम-
चरिते काव्ये—तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः,
लक्ष्यरूपे कथानके ‘विभीषणाऽगमनो’ नाम
द्वादशः सर्गः ।

१ अस्मिन् पराह्मिश्च पदे ‘ननभनलगिति प्रहरणकलिता ।’ इति वृत्तरत्नाकं-
रोत्तमः ‘प्रहरणकलिता’ नाम छन्दः ।

त्रयोदशः सर्गः ।

अथ संकीर्णकाः श्लोकाः ।

काव्यं संस्कृतप्राकृतापञ्चशब्देदात्रिविघम् । तत्र शब्दभवदेशीयपदयोः प्राकृतभाष्योरपञ्चशस्य च संस्कृतभाषायां समावेशासम्भवात् शब्दसमायाः प्राकृतभाषायाः समावेशः । तमार्यामीलां स्कन्धकलक्षणया दर्शयितुं विभीषणागमनात्प्राक् यद्वृत्तं शास्य तदाह—

अथ सप्तमिः कुलकम् ।

चाहसमीरणरमणे हरिणकलङ्ककिरणाऽऽवलीसविलासा ।

आबद्धराममोहा वेलामूले विभावरी परिहीणा ॥ १ ॥

चावित्यादि—रामो रात्रौ निद्रावान् पलवशयनमध्यष्ठादित्युक्तम् । तस्य नियमपूर्वं सुप्रत्यतः प्रभातमभूदिति कथयति । वेलामूले पारसमीपे । प्राकृते पुंडिङ्गनपुंसकयोराकारान्तस्य पदंस्य सप्तम्या एकवचने मित्वमेत्वं वा रूपम् । चाहसमीरणरमणे रमयतीति रमणम् । ‘नन्दिप्रहिपचादिभ्यो ल्युगिन्यचः । ३ । १ । १३४ ।’ इति नन्द्यादित्वात् ल्युः । समीरणेन रमणम् । चाह च तत्समीरणरमणं चेति । तत्र विभावरी रात्रिः परिहीणा क्षीणा । हरिणकलङ्कस्य याः किरणावल्यः ताभिः सविलासा सविभ्रमा । अंतश्चाबद्धो रामस्य मोहो मूर्छा यथेति । ‘कृदिकारादक्षिनः’ इत्यनेन आवलिरावलीत्युभयमपि संस्कृतप्राकृतयोः प्रशुज्यते ॥ १ ॥

बद्धो वासरसङ्गे भीमो रामेण लवणसलिलाऽऽवासे ।

सहसा संरम्भरसो दूराऽऽरुद्धरविमण्डलसमो लोले ॥ २ ॥

बद्ध इत्यादि—नियमस्थितेऽपिमयि नासौ संमुद्र उत्थित इति वासरसङ्गे प्रभातकाले रामेण लवणसलिलावासे समुद्रे इति विषयसप्तमी । सहसा तक्षणं संरम्भरसः उत्साहरसो वीरावल्यः भीमो दुष्प्रेक्ष्यः बद्धो जनितः । दूररुद्धरविमण्डलसमो लोक इति दूरमारुढो मध्याह्नस्थो यो रविः तस्य मण्डलं तेन समस्तुल्योऽतिरीक्षणत्वात् । लोले चञ्चले समुद्रे प्रभातवातेन क्षोभ्यमाणत्वात् ॥ २ ॥

१ अत्र ‘आयापूर्वादें यदि गुरुणैकनाधिकेन निधने युक्तम् । इतरत्तद्विलिङ्गं दुलं यदीयेमुदितैवमार्यामीस्ति ॥’ इति लक्षणम् । एवं परत्रापि ।

गाढगुरुपुद्गीडासधूमसलिलाऽरिसंभवमहावाणे ।

आरुढा सन्देहं रामे समहीघरा मही सफणिसभा ॥ ३ ॥

गाढत्यादि—गाढं सुषु पुरोः पुद्गस्य या पीडा पीडनम् अङ्गुष्ठाभ्यां तया हेतुभूतया सधूमसलिलारेः अग्रेः संभवो यत्र स महावाणो यस्य रामस्य तस्मिन् सति । महासंदेहमारुढा संशयं प्राप्ना समहीघरा मही सफणिसभा सह भुजङ्गसमूहेन । धारयन्तीति धराः । अत्र धकारस्य पदमुखे वर्तमानस्य हकारो न भवति, प्राकृते पदमध्यान्तयोर्विधीयमानत्वात् । महीधर इति समस्तपदेऽपि न प्रवर्तते । अत्र पूर्वपदमुत्तरं पदमिति व्यपदेशात् । एवं च सति गोधर-नज्जर-नक्षत्र-शङ्खधरादिषु न प्रवर्तते । महीघरो महिधर इत्युभयमपि प्राकृते प्रयुज्यते, अमहानां विकल्पेन हस्तदर्शनात् ॥ ३ ॥

धोरचलदन्तिसंकुलमद्वमहापङ्ककाहलजलाऽवासम् ।

आरीणं लवणजलं समिद्धफलबाणविद्ध्वोरफणिवरम् ॥ ४ ॥

यादि—रामेणाग्रेये शरे क्षिप्ते सति लवणजलमारीणं समन्तात् शुष्कम् ‘रीढ़ स्ववणे’ इत्यसात् निष्ठातकारस्य ‘स्वादय ओदितः’ इति ओदित्त्वे ‘ओदितश्च ॥ १२ ॥ ४५ ॥’ इति नत्वम् । ‘अट्कुञ्चाङ्गनुम्ब्यवायेऽपि ॥ ४ ॥ १ ॥’ इति नत्वम् । रीणमित्यप्रयोगः, प्राकृते महाराष्ट्रे तस्याप्रयोगात् । घोरैः रौद्रैर्जलदन्तिभिः संकुलं व्याप्तम् । अहृः शुष्को यो महापङ्कः तेन कङ्गला विह्लला जलावासा मत्स्यादयो यत्र । ‘अहृ अतिक्रमहिसनयोः’ इत्यस्य रूपम् । सीमद्धफलेन दीप्तफलेन वाणेन विद्धाः घोराः फणिवरा महासर्पो यत्रेति ॥ ४ ॥

सभयं परिहरमाणो महाऽहिसंचारभासुरं सलिलगणम् ।

आरुढो लवणजलो जलतीरं हरिबलाऽगमविलोलगुहम् ॥ ५ ॥

सभयमित्यादि—सलिलगणं सलिलसमूहं सभयम् । महाहीनां सेचोरणं भासुरं भासनशीलम्, तच्छिरोभणिद्योतितत्वात् । परिहरमाणः परित्यजन् । कर्त्रभिप्राये तद् । लवणजलः समुद्रः लवणं जलमस्येति । जलतीरं तदं यत्र रामस्तिष्ठति तदारुढः संप्राप्नो मूर्तिमान् । हरिबलागमेन वानरसैन्यागमेन विलोला व्याकुला गुहा यत्रेति ॥ ५ ॥

चञ्चलतरुहरिणगणं बहुकुसुमाऽवन्वद्वरामाऽवासम् ।

हरिपल्लवतरुजालं तुङ्गोरुसमिद्धत्रुवरहिमच्छायम् ॥ ६ ॥

चञ्चलेत्यादि—चञ्चलश्चपलः तरुचहरिणानां वानराणां गणो यत्र जलतीरे । बहुकुसुमानां वृक्षाणामावन्धेन परस्परसंश्लेषेण बद्धो घटितो रामावासो यत्र । हरिपलवानि तरुजालानि यत्र । तुङ्गा उरवः परिमण्डलाः समिद्धा उज्ज्वला ये तरुवरास्तौर्हमा शीतला छाया यत्र तञ्जलतीरम् ॥ ६ ॥

वरवारणं सलिलभरेण गिरिमहीमण्डलसंवरवारणम् ।

बसुधारयं तुङ्गगतरङ्गसङ्गपरिहीणलोलवसुधारयम् ॥ ७ ॥

(एते सप्त संकीर्णाः श्लोकाः)

वरेत्यादि—वरा उत्कृष्टा वारणा यत्र । सलिलभरेण सलिलसमूहेन यो गिरीणां महीमण्डलस्य च संवरः संवरणमावरणम् । ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च ।३।३।५८।’ इत्यप् । तस्य वारणं निषेधकम् । समुद्रस्य वेलातिकमात् । बसु द्रव्यं तस्य धारयं धारकम् । ‘अनुपसर्गांलिम्पविन्दधारिपरिवेद्युदेजि-चेतिसातिसाहिभ्यश्च ।३।१।३।८।’ इति गिजन्ताच्छुः । तुङ्गाः अञ्चलिहा ये तरङ्गास्तैः सह यः संगः संश्लेषः तस्मात् परिहीणो नष्टो लोलो बसुधायां तत्सं-वन्धन्यां रथो वेगो यत्र तञ्जलतीरमारुढः । गणितकममेत् । एते सप्त संकीर्णाः श्लोकाः । संस्कृतप्राकृतयोरविशिष्टत्वात् ॥ ७ ॥

प्रणिपत्य ततो वचनं जगाद् हितमायतौ पंतिर्वारीणाम् ।

गङ्गाऽवलम्बिवाहूरामं बहलोरुहरितमालच्छायम् ॥ ८ ॥

प्रणिपत्येत्यादि—ततस्तीरप्राप्तेरनन्तरं वारीणां पतिः समुद्रः रामं प्रणि-पत्य वचनं जगाद् । हितमात्मनो रामस्य पश्यमायतात्मागामिनि काले । गङ्गा-वलम्बी गङ्गावलम्बनशीलः संपूर्णत्वाद्वाहुर्यस्य स गङ्गावलम्बिवाहुः । संस्कृते द्वूलमेषे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।३।३।१।१।’ प्राकृते तु पुलिङ्गे उकारस्य दीर्घत्वम् । विभक्तिसकारस्य च लोपः । उर्धमहान् हरिः हरितो यस्तमालः । बहुला घना तस्येव छाया यस्य तमिति । पूर्वार्थे निरवद्यमिति । पूर्वस्मिन्नर्थे प्राकृतस्याभावा-त् निरवद्यं पश्चादर्थे तु संकीर्णमेव ॥ ८ ॥

दुङ्गा गिरिवरदेहा अगमं सलिलं समीरणो रसहारी ।

.अहिमो रविकिरणगणो माया संसारकारणं ते परमा ॥ ९ ॥

तुङ्गा इत्यादि—गिरिवरदेहाः कुलपर्वतकायाः तुङ्गाः प्रांशवः, अगमं सलिलम् अगम्यम् । ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च ।३।३।५८।’ इत्यप् । समीरणो रसहारी

अपामुच्छोषकः, अहिम उप्पणः रवेः किरणगणः । एतत्सर्वं तत्र माया परमा महती संसारस्य कारणम् । सर्वथा त्वं विष्णुः त्वंकुतेषु को सोष इति ॥ ९ ॥

अथ षट् सङ्कीर्णाः ।

आयाससम्भवारुण ! संहर संहारहिमहरसमच्छायम् ।

बाणं वारिसमूहं संगच्छ पुराणचारुदेहाऽवासम् ॥ १० ॥

आयासेत्यादि—यस्मात्संसारकारणं यदगम्यं सलिलं कृतं, तस्मात्तर्वं है आयाससंभवारुण रोषसंभवेन रक्तीभूत ! संहारे प्रलये हिमहरा आदित्यास्तैः समा छाया यस्य बाणस्य तं संहर उपशमय । वारिसमूहं संगच्छ अङ्गी-कुरु । सकर्मकत्वात् ‘समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥१३२१॥’ इत्यात्मनेपदं न भवति । पुराणः शाश्वतः दर्शनीयो यो देहः तस्य आवासम-कथानम् ॥ १० ॥

असुलभहरिसंचारं जलमूलं बहुलपङ्करुद्धाऽयामम् ।

भण किं जलपरिहीणं सुगमं तिमिकम्बुवारिवारणभीमम् ॥ ११ ॥

असुलभेत्यादि—अन्यच्च यदेतजलमूलं जलस्यावस्थानम् आप्नेयशरशो-षितत्वाज्जलपरिहीणं सत्, तत् किं सुखेन गम्यत इति भण ब्रूहि । यतो बहुलः सान्द्रो यः पङ्कस्तेन रुद्ध आयामो दैर्यं यत्र । विमयो मत्स्याः कम्बवः शङ्खाः वारिवारणाः जलहस्तिनः तैर्भीमम् । एवं च सति असुलभो दुर्ढभः हीरसंचारो वानरपर्यटनं यत्रेति ॥ ११ ॥

गमनोपायमाह-

गन्तुं लङ्घातीरं बद्ध महासलिलसंचरेण सहेलम् ।

तरुहरिणा गिरिजालं वहन्तु गिरिभारसंसहा गुरुदेहम् ॥ १२ ॥

गन्तुमित्यादि—संचरन्त्यनेनेति संचरः । ‘गोचरसंचरवहत्रन-व्यजापणनिगमाश्च । ३ । ३ । ११९ ॥’ इति धः । बद्धो धटितो महा-सलिले यः संचरः तेन सेतुना सहेलम् । एकप्रवृत्त्या लङ्घातीरं लङ्घो-पलक्षितं तदं गन्तुं तरुहरिणा वानरा गिरिभारस्य संसहाः क्षमाः । संसहन्ते इत्यच्च । गिरिजालं गिरिसमूहं वहन्तु प्रापयन्तु । गुरुदेहः शरीरं यस्य गिरिजालस्य ॥ १२ ॥

हरहासरुद्धविगमं परकण्ठगणं महाऽहवसमारम्भे ।

छिन्दन्तु रामबाणा गम्भीरे मे जले महागिरिबद्धे ॥ १३ ॥

हरेत्यादि—मे भम जले गम्भीरे आगाथे महागिरिभिर्द्धे सति यो महाहवस्य समारम्भः प्रवर्तनं तास्मिन् परस्य शत्रोः कण्ठगणं श्रीवासमूहं दृस्य तुष्टुत्वात् यो हासः तेन रुद्धो विगमश्छेदो यस्य तं रामशराद्धिष्ठन्तु । आशिषि लोट ॥ १३ ॥

गच्छन्तु चारुहासा वीररसाऽऽवन्धरुद्धभयसम्बन्धम् ।

हन्तुं बहुबाहुबलं हरिकरिणो गिरिवरोहदेहं सहसा ॥ १४ ॥

गच्छन्तिवत्यादि—बहवो बाहव एव बलं यस्य बाहूनां तरुणामिव बहुत्वात् । तं रावणं वीररसस्य शौर्यस्य य आवन्धः सन्ततप्रवर्तनं तेज रुद्धो निवारितो भयसंबन्धस्ताससंपर्को यस्य तं गिरिवरोहदेहं गिरिवन्धाकार्यं सहसा हन्तुं तत्क्षणं हनिष्याम इति हरिकरिणः कपिहस्तिनः चारुहासाः भम जले बद्धे सति गच्छन्तु ॥ एते षट् संकीर्णाः, संस्कृतप्राकृतयोस्तुल्यत्वात् ॥ १४ ॥

पूर्वार्द्धेऽसङ्कीर्णः श्लोकः ।

जिगमिषयाः संयुक्ता बभूव कपिवाहिनी मते दाशरथेः ।

बुद्धजलाऽऽलयचित्ता गिरिहरणाऽरम्भसम्भवसमालोला ॥ १५ ॥

जिगमिषयेत्यादि—दाशरथेर्मतेऽभिप्राये सति कपिवाहिनी कपिसेना जिगमिषया गन्तुमिच्छ्या संयुक्ता बभूव । बुद्धजलालयचित्ता विदितसमुद्राभिप्राया गिरिणां यद्वरणमानयनं तस्य य आरम्भसंभवः तेन समालोला आकुला इत्येतदर्थमसङ्कीर्णम् ॥ १५ ॥

अथ पञ्च संकीर्णाः श्लोकाः ।

गुरुगिरिवरहरणसहं संहारहिमारिपिङ्गलं रामबलम् ।

आरुदं सहसा खं वरुणाऽऽलयविमलसलिलगणगम्भीरम् ॥ १६ ॥

गुर्वित्यादि—ततो रामबलं सहसा तत्क्षणं खमारुद्धम् । गुरुणां गिरिवरणां यदाहरणमानयनं तत्सहत इति मूलविभुजादित्वात् कः । तस्य वा सहं शर्कम् । सहत इत्यच् । संहारे प्रलये यो हिमारिरिनिः तद्वतिपङ्गलम् । वरुणमलयस्वै समुद्रस्य यो विमलसलिलगणः निर्मलजलसमूहं तद्वदम्भीरं खमिति ॥ १६ ॥

अथ चतुर्मिः कलापकम् ।

अवगाढं गिरजालं तुङ्गमहाभित्तिरुद्धसुरसञ्चारम् ।

अभयहरिरासर्भीमं करिपिरिमलचारुबहलकन्दरसलिलम् ॥ १७ ॥

अवगाढमित्यादि—स्वमारुहा रामबलेन गिरजालमवगाढं अवष्टव्यम् ।

तुङ्गभित्तिरुच्छ्रितमिर्महतीभिः परिणाहवतीभिभित्तिभी रुद्धः सुराणां संचारो यस्मिन् तेषामुत्तत्वात् । अभया ये हरयः सिंहास्तेषां रासेन शब्देन भीमं भयानकम् । करिणां यः परिमलः संमर्दस्तेन चारु शोभनम् । बहलं घनं कन्दरसलिलं यस्मिन् ॥ १७ ॥

अलिगणविलोलकुसुमं सकमलजलमत्तकुररकारण्डवगणम् ।

फणिसंकुलभीमगृहं करिदन्तसमृद्धसरसवसुधाखण्डम् ॥ १८ ॥

अलिगणेत्यादि—अलिगणैर्विलोलानि कुसुमानि यत्र । सकमलेषु जलेषु मत्ताः कुरराणां कारण्डवानां च गणा यत्र । फणिभिः संकुला व्याप्ताः सत्यो भीमा गुहा यत्र । करिदन्तैः समुक्षिसं सरसं सान्द्रं वसुधायाः खण्डं यत्र ॥ १८ ॥

अरविन्देरेणुपिञ्चरसारसरवहारिविमलवहुचारुजलम् ।

रविमणिसम्भवहिमहरसमागमाऽवद्धबहुलसुरतस्थूपम् ॥ १९ ॥

अरविन्देत्यादि—अरविन्देरेणुभिः पिञ्चरा पिङ्गला ये सारसास्तेषां रवेण हारि मनोहारि विमलं बहु चारु जलं यत्रेति । रविमणिसम्भवः सूर्यकान्तमणिसम्भवः यो हिमहरः आग्निः तेन यः समागमः संश्लेषत्तेनाबद्धो जनितो बहुलः सुरतस्थूपो यत्र ॥ १९ ॥

हरिरविलोलवारणगम्भीरावद्धसरसपुरुसंरावम् ।

घोणासंगमपङ्गाविलसुबलभरसहोरुवराहम् ॥ २० ॥

हरिरवेत्यादि—हरीणां सिंहानां यो रवत्तेन विलोलाद्यस्त्वां ये वारणास्तैर्गम्भीरो मन्द्र आबद्धो जनितः सरसो भयानकरसयुक्तः पुरुमहान् संरावो यत्र । घोणायाः संगमात् संपर्कात् संभवो यस्य पङ्गस्य । घोणासमुद्धृतो यः पङ्ग इत्यर्थः । तेनाविलाः लिपाङ्गाः सुबलाः तत एव भरसहाः उरवश्च वराह यत्र । तद्विरिजालमालमवगाढमिति ॥ २० ॥

अथासङ्कीर्णः श्लोकः—

उच्चरख्युः परिरब्धान् कपिसङ्गवा बाहुभिस्ततो भूमिभृतः ।

निष्पिष्ठशेषपूर्वः शृङ्गविकीणोष्णरश्मिनक्षत्रगणान् ॥ २१ ॥

उच्चरुहनुरित्यादि—ततोऽवगाहादनन्तरं बाहुभिः परिरब्धान् समाश्लिष्टान् भूमिष्ठृतः पर्वतान् कपिसङ्घा उच्चरुतुः उत्सातवन्तः । ‘गमहनजनखनघसां लोपः कृत्यनकि ।६।४।९८’ इत्युपधालोपः । निष्पिष्टशेषमूर्खः व्यापातालमूलत्वात् चूर्णितनागराजमस्तकाच् शृङ्गैः शिखरौर्विकीर्ण उष्णरशिमरादिसो नक्षत्रगणश्च यैर्देवं व्याप्य शितत्वात् । असंकीर्ण इति अत्र प्राकृतस्याप्रयुक्तत्वात् ॥ २१ ॥

अथ त्रिभिः विशेषकम् । अथ चत्वारः सङ्कीर्णाः—

तुङ्गमहागिरिसुभरा बाहुसमारुद्धभिदुरट्टा बहुधा ।

लवणजलबन्धकामा आरुढा अम्बरं महापरिणाहम् ॥ २२ ॥

तुङ्गत्यादि—तुङ्गा उच्चा महान्तः परिणाहवन्तो ये गिरयस्तैः सुभरा जातभराः कपयः । बाहुभिः समारुद्धा भिदुराः विद्वरणशीलाः टङ्गा उच्चत-प्रदेशा यैस्ते । बहुधा अनेकप्रकारं लवणजलबन्धकामाः एवमेवं बद्धव्यमिति जातेच्छाः आरुढाः अम्बरं व्योम महापरिणाहम् महान् परिणाहो विस्तारो यस्य तत् अप्रमेयदिग्विभागम् ॥ २२ ॥

बद्धवलवारिवाहं विमलाऽऽग्रसगुरुमहाऽसिदेहच्छायम् ।

बद्धविहङ्गममालं हिमगिरिमिव मत्तकुररवसम्बद्धम् ॥ २३ ॥

बहित्यादि—बहवो धवला वारिवाहा यत्राम्बरे । विमलायसः अयसो विकारः गुरुरलघुर्महान् योऽसिः खङ्गः तस्य यो देहः तस्य छायेव छाया यस्य । बद्धा विरचिता विहङ्गानां माला पङ्किर्यत्र । मत्तानां कुरराणां रवेण संबद्धं युक्तम् । अतो हिमगिरिमिवाम्बरमारुढा इति ॥ २३ ॥

चारुकलहंससंकुलमचण्डसंचारसारसाऽबद्धरवम् ।

सकुसुमकण्णगन्धवहं समयाऽगमवारिसङ्गविमलाऽयामम् ॥ २४ ॥

चारुकलहंसेत्यादि—चारुभिः कलहंसैः संकुलं व्याप्तम् । अचण्डसंचारैः शनैः संचरद्धिः सारसैराबद्धो रवो यस्मिन् । सकुसुमकणः सपुष्परेणुर्गन्धवहो वायुर्यत्रेति । वहतीति त्रहः कर्त्तर्चन् । गन्धस्य वह इति समाप्तः । समयस्य प्रावृद्धकालस्य य आगमः तेन यो वारिसङ्गः तेन प्रक्षालितत्वात् विमला आयामा यत्र तदम्बरमारुढा इति ॥ २४ ॥

सहसा ते तरुहरिणा गिरिसुभरा लवणसलिलबन्धाऽरम्भे ।

तीरगिरिम् आरुढा रामाऽगमरुद्दसभयरिपुसंचारम् ॥ २५ ॥

सहस्रेत्यादि—ते तरुहरिणः शाखाभृगाः गिरिमिः सुभराः सन्तः
लवणसलिलबन्धारम्भे समुद्रबन्धनारम्भे सहसा तत्क्षणं तीरगिरि तटस्थितं
पर्वतमारुडाः । अत्र संस्कृतपक्षे संहिताया अविवक्षितत्वान् तीरगिरिमारुडा
इति नोक्तम् । अन्ये 'आरुडा तीरगिरिम्' इति विपर्यमस्य पठन्ति ।
तदयुक्तम् । संस्कृतपक्षे असभावादत्वं नास्ति । अतो विसर्जनीयस्य सकार
एव स्यात् । रामस्य य आगमस्तेन रुद्धः सभयानां रिपूणां शत्रूणां संचारो
यत्र तीरगिरौ । राम आगत इति तत्र भयान् संचारं त्यक्तवन्त इति ॥
निराख्यातोऽसङ्कीर्णः क्षोकः ॥ २५ ॥

ततः प्रणीताः कपियूथमुख्यैर्न्यस्ताः कृशानोस्तनयेन सम्यक् ।
अकम्प्रब्रधाऽग्रनितम्बभागा महार्णवं भूमिभृतोऽवगाढाः ॥ २६ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं भूमिभृतः पर्वताः कपियूथमुख्यैर्नालादिभिः
कृशानोस्तनयस्य नलस्य प्रणीताः अर्पिताः सन्तस्तेनैव कृशानुतनयेन सम्यक्
साधु न्यस्तोः सन्तः सहार्णवम् अवगाढाः अवष्टव्यवन्तः अकम्प्राः स्थिराः
ब्रह्माग्रनितम्बानां भागा येषां ते । ब्रह्मो मूलम् । 'इणिवज्जिनीउष्यविभ्यो नक्त'
इत्यधिकृत्य 'बन्धेर्विधिबुधिबुधी च' इत्यैषादिको नक्त । इदमपि निराख्यातं
तिङ्गन्तपदाभावात्, असंकीर्ण च प्राकृताभावान् ॥ २६ ॥

अथैकान्तराख्यातोऽसङ्कीर्णः ।

तेनेऽद्रिवन्धो ववृषे पयोधिस्तुतोष रामो मुमुदे कपीन्द्रः ।
तत्रास शत्रुदृष्टौ सुवेलः प्रापे जलाऽन्तो जहृषुः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

तेन इत्यादि—अद्रिवन्धस्तेने श्वर्णविस्तारं गतः, अत एव ववृषे पयोधि-
र्णुद्धिं गतः । गिरिमिः पूर्यमाणोदरत्वात् तीरं प्लावयति स्म । तुतोष रामस्तु-
ष्टवान् । सुकरमिदानीं शत्रुव्यापादनमिति । मुमुदे कपीन्द्रः हृष्टवान् । प्राप्ते
मे प्रत्युपकारकाल इति । तत्रास शत्रुः त्रासमुपगतः सेतुं बद्धवानिदानिमा-
यातो राम इति । दद्धशे सुवेलः ढौकमानैः सर्वैर्दृष्टः । जलान्तश्च प्रापे प्राप्तः ।
ततो जहृषुः हृष्टाः प्लवङ्गाः स्वाम्यादेशः संपादित इति । एतदेकान्तराख्यातम्
सुवन्तपैर्व्यवधानात् । असङ्कीर्णश्च प्राकृताभावात् ॥ २७ ॥

१ इतः प्रभृत्युपजातिश्छन्दः ।

अथ आस्यातमालाशाली ।

त्रेमुर्दवलगुर्नवृत्तुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुष्टुविरे निषेदुः ।

आस्फोटयांचक्रुरभिप्रणेदू रेजुर्ननन्दुर्विययुः समीयुः ॥ २८ ॥

त्रेमुरित्यादि—ते पारं प्राप्य केचित् प्रदेशदर्शनेत्सुकाः त्रेमुः आन्ताः । अन्ये ववलुः तोषं गतवन्तः । ‘उख उखि’ इत्यत्र वलातिर्गतौ पठ्यते । केचिदित्हर्षात् नन्तुः । अन्ये रावणपराक्रमान् न्यक्रुर्वन्तो जजक्षुः हसितवन्तः । बुगुक्षया वा फलान्ति भक्षितवन्तः । ‘जक्ष भक्ष-हसनयोः’ केचित् जगुः गायन्ति स्म । केचित्समुत्पुष्टुविरे उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति स्म । केचित् आन्ता निषेदुः निषण्णाः । केचिदास्फोटयांच-क्रुर्वयं युध्याम इति आस्फोटं कुर्वन्तिसमेति प्यन्तालिख्याम् । केचित्तोषाद-भिप्रणेदुः सुषु नादितवन्तः । केचिद्रेजुः दीपवन्तः । केचित्तनन्दुर्वयमी-दृशं कर्म कृतवन्त इति । अन्ये वियुरितस्ततो गच्छन्ति स्म । केचित्स-मीयुः एकत्र संगताः । आस्यातमालेति तिङ्न्तमाला ॥ २८ ॥

अथ द्वाविंशतिः सङ्कीर्णाः श्लोकाः ।

गिरिपङ्कचारुदेहं कक्षोललवङ्गबद्धसुरभिपरिमलम् ।

बहुबहलोरुतरङ्गं परिसरमारुद्धमुद्धरं लवणजलम् ॥ २९ ॥

गिरीत्यादि—गिरीणां प्रक्षिप्यमाणानां यः पङ्कः गैरिकादिधातुकर्दमः न चारुदेहम् । कक्षोललवङ्गाभ्यां बद्धः सुरभिः परिमलो गन्धो यस्मिन् । ग्रहः प्रभूता बहलाः स्थूला उरवः उच्चास्तरङ्गा यस्य तदीदृशं लवणज-ग्रम् । उद्धरम् उद्धृतं कर्तृभूतम् । परिसरं तटमारुद्धं सेतुना निवारित-पातिवात् ॥ २९ ॥

लोलं कूलाऽभिगमे खे तुङ्गाऽमलनिबद्धपुरुपरिणाहम् ।

सुरगङ्गाभरणसहं गिरिबन्धवरेण लवणसलिलं रुद्धम् ॥ ३० ॥

लोलमित्यादि—कूलाभिगमे तटगमने लोलं चञ्चलम् । खे आकाशे तुङ्गं च तदमलं चेति तुङ्गामलम् । निबद्धः संयुक्तः पुरुषहान् परिणाहो यस्य । तुङ्गामलं च तन्निरुद्धपुरुपरिणाहं चेति । वियति आरोहूपरिणा-हाभ्यां युक्तभित्यर्थः । सुरगङ्गायाः मन्दाकिन्याः यद्धरणं पूरणं तत्र सहं शक्तं वाहशं लवणजलं गिरिबन्धवरेण सेतुना रुद्धम् ॥ ३० ॥

अथ त्रयोदशभिः कुलकम् ।

आरुणं च सुवेलं तरुमालाऽबन्धवारिगिरिवरजालम् ।

रावणचित्तभयङ्करमापिङ्गलोलकेसरं रामबलम् ॥ ३१ ॥

आङ्गदमित्यादि—रामबलं तटे स्थित्वा आरुणं च सुवेलं पर्वतम् । घका-
रस्य प्राकृते स्वरशेषता न भवति । पद्मध्यान्तयोरत्वर्त्मानत्वात् । तरुमा-
लाया य आवन्यः तेन हारि मनस्तुष्टिकरं ताढ़शं गिरिवराणां पर्यन्तागि-
रीणां जालं यस्य सुवेलस्य । रावणचित्तस्य भयङ्करं रामबलम् । आपिङ्ग-
लानि लोलानि केसराणि यस्य तदिति ॥ ३१ ॥

लङ्गाऽङ्गलयतुमुलाऽरवसुभरगभीरोरुकुञ्जकन्द्रविवरम् ।

वीणारवरसङ्गमसुरगणसंकुलमहातमालच्छायम् ॥ ३२ ॥

लङ्गेत्यादि—लङ्गालयानां राक्षसानां यस्तुमुलो महानारवः तेन
सुभराः परिपूर्णाः गभीरोरुकुञ्जा गभीरमहागहनानि कन्द्रविवराणि च
यत्र सुवेले । वीणारवे यो रसस्तुष्णा तेन संगमः समागमो येषां सुरा-
णानां ते च सुरगणाश्रेति समासः । तैः संकुला व्याप्ता महातमाल-
च्छाया यत्रेति ॥ ३२ ॥

सरसबहुपल्लवाऽविलकेसराहिन्तालबद्धबहुलच्छायम् ।

ऐरावणमदपरिमिलगन्धवहाऽबद्धदन्तिसंरम्भरसम् ॥ ३३ ॥

सरसत्यादि—सरसाः सार्द्राः ये बहवः पल्लवाः तैराविला अन्धकारिता
ये केसरवृक्षाः हिन्तालबृक्षाश्च तैर्बद्धा वहला धना छाया यत्र सुवेले । ऐराव-
णस्य ऐरावतस्य हस्तिनो मदपरिमलोः यस्मिन् गन्धवहे ताढ़शेन गन्धवहेन
आबद्धो दन्तिनां हस्तिनां संरम्भरसः क्रोधरसो यत्रेति । ऐरावण ऐरावत इत्यु-
भयमपि प्राकृते साधु ॥ ३३ ॥

तुङ्गतरुच्छायारुहकोमलहरिहरिलोलपल्लवजालम् ।

हरिणभयङ्करसकुसुमदावसमच्छविविलोलदाढिमकुञ्जम् ॥ ३४ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गतरुणां या छाया वसां रोहन्तीति ‘इगुपध्वाश्रीकि-
रः कः । ३।१।३५।’ इतीगुपधलक्षणः कः । तुङ्गतरुच्छायारुहाः विटपा
तेषां कोमलं हरि हरितं हारि तुष्टिकरं लोलं पल्लवजालं यत्र । हरि
णानां भयङ्कर्या दावसदृशत्वात् सकुसुमदावसमच्छवयः दावामितुल्याः लोल
दाढिमकुञ्जा यत्र ॥ ३४ ॥

कलहरिकण्ठविरावं सलिलमहाबन्ध सङ्कुलमहासालम् ।

चलकिसलयसम्बद्धं मणिजालं सलिलकण्मयं विवहन्तम् ॥ ३५ ॥

कलेत्यादि—कलो मनोहरः हरीणां कण्ठविरावो यत्र । सलिलस्य यो महाबन्धस्तेन संकुला महान्तः सालाः सालवृक्षा यत्र । चलकिसलयेषु संबद्धं संलग्नं सलिलकण्मयं सलिलकण्ठरूपं मणिजालं मणिसमूहमिव विवहन्तं धारयन्तम् ॥ ३५ ॥

तुङ्गमणिकिरणजालं गिरिजलसंघटबद्धगम्भीरवम् ।

चारुशुहाविवरसम्भं सुरपुरसममरचारणसुसंरावम् ॥ ३६ ॥

तुड्डेत्यादि—तुङ्गमणीनां किरणजालं यत्रेति । गिरिजलानि निर्झरजलानि तेषां यः संघटः परस्परसंश्लेषस्तेन बद्धो गम्भीरो रवो यत्र । चारुशुहाविवर-मेव सभा शाला यत्र । अमरचारणानां गन्धर्वाणां गायतां शोभनः संरावो यत्र अत एवामरपुरसमम् ॥ ३६ ॥

विमलमहामणिटङ्गं सिन्दूरकलङ्घपिञ्चरमहाभित्तिम् ।

वीरहरिदन्तिसङ्गमभयरुद्धविभावरीविहारसमीहम् ॥ ३७ ॥

विमलेत्यादि—विमलमहामणीनां पद्मरागादीनां टङ्गा छेदा यत्र । अतश्च सिन्दूरकलङ्घेन लाभ्यनेन पिञ्चरा इव महाभित्तयो यस्य । वीराणां हरीणां दन्तिनां च यः सङ्गमोऽन्योन्यगमनं तस्माद्बद्धयं तेन रुद्धा निवारिता विभा-वर्या विहारसमीहा विहरणेच्छा यत्र ॥ ३७ ॥

समहाफणिभीमविलं भूरिविहङ्गमतुमुलोरुधोरविरावम् ।

वारणवराहहरिवरगोगणसारङ्गसंकुलमहासालम् ॥ ३८ ॥

समेत्यादि—समहाफणीन्यत एव भीमानि विलानि विवराणि यत्र । भूरीणां विहङ्गमानां तु मुलोऽनेकप्रकार उर्महान् धोरो रौद्रो विरावो यत्र । वारणादिभिः स्कन्धकर्षणार्थिभिः संकुला महासाला यत्र ॥ ३८ ॥

चलकिसलयसविलासं चारुमहीकिमलरेणुपिञ्चरवसुधम् ।

सकुसुमकेसरबाणं लवङ्गतं रुतरुणवल्लरविरहासम् ॥ ३९ ॥

चलेत्यादि—चैत्यैः किसलैः हस्तौरिव सविलासं प्रारब्धनृत्यम् । चारुणां महीकमलानां स्थलजानां रेणुभिः पिञ्चरा वसुधा यत्र । सकुसुमाः केसरैः वाणाश्च यत्र । लवङ्गतरोत्सर्वणा या वल्लर्यः प्ररोहास्ता एव वरो हासो विकासो यत्र ॥ ३९ ॥

अमलमणिहेमटङ्कं तुङ्गमहाभिचिरुद्धरुपङ्गमम् ।

अमराऽरुदपीरिसं मेहमिवाऽविरलसरसमन्दारतरम् ॥ ४० ॥

अमलेत्यादि—अमलमणीनां हेमादीनां टङ्गाश्छेदा यत्र । तुङ्गा उच्चा महती विस्तारवती या भित्तित्या रुद्धो रुलणां मुगविशेषाणाम् पङ्गमः पङ्गेन गमनं यत्र । गमे: ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३।३।५८।’ इत्यप् । ‘वङ्गमम्’ इति पाठान्तरे तु तुङ्गमहाभिच्चौ रुद्धः कुटिलो गमो यत्र । ‘वकि कौटिल्ये’ इत्यस्य रूपम् । अमैरराखडाः परिसरास्तदा यत्र । अविरलाः सरसा मन्दारतरवो देववृक्षा यत्र । तमितर्थं मेहमिव ॥ ४० ॥

फलभरमन्थरतरुवरमविदूरविरुद्धारिकुसुमापीडम् ।

हरिणकलङ्गमणिसंभवबहुवारिसुभरगम्भीरगुहम् ॥ ४१ ॥

फलेत्यादि—फलभरेण मन्थरा ईपन्नतास्तरुवरा यत्र । अविदूरे विरुद्धा हारिणः कुसुमापीडा यत्र । पुष्पस्तवकानां हस्तप्राण्यत्वान् । हरिणकलङ्गमणिः महाचन्द्रकान्तः तस्मात् संभवो यस्य बहुवारिणः तेव सुमराः परिपूर्णा गम्भीरा गुहा यस्य । अत्र मणिमहत्तया वारिमहत्त्वात् गम्भीरगुहापूरणमिति ॥ ४१ ॥

जलकामदन्तिसंकुलसंहेमरसचारुधवलकन्दरदेहम् ।

अङ्गकुररोहसमच्छविरुद्धगणसंलीढितरलहरिमणिकिरणम् ॥ ४२ ॥

जलेत्यादि—जलमेतदित्येवं कामैर्दन्तिभिः संकुलाः संहेमरसाः सह हेमरसेन वर्तमानाः चारवः शोभनाः धवलाः कन्दरदेहाः कन्दरसञ्चिवेशा यत्र । रोहणं रोह अङ्गकुराद्रोहो यस्य शस्यस्य तेन समच्छवयस्तुल्यवर्णा रुहगणास्तेः संलीढाः तरलाश्चच्चलाः हरिमणिकिरणा सरकतमयूखा यत्र ॥ ४२ ॥

गाढसमीरणसुसहं भीमरवोत्तुङ्गवारिधरसङ्घटम् ।

धवलजलवाहमालासम्बद्धाबद्धहिमधराधरलीलम् ॥ ४३ ॥

गाढेत्यादि—गाढो महान् यः समीरणः तं सुसहत इति मूलाविभुजादित्वात्कः । भीमरवास्तुङ्गा ये वारिधरास्तेषां संघटो यत्र । धवला ये जलवाहास्तेषां मालाया यत्सम्बद्धं सम्बन्धः (संबन्धं सम्बद्धं ‘नपुंसके भावे कः । ३।३।११३।’ इति भावे कः) तेन करणभूतेन आबद्धा अनुकृता हिमधराधरस्य हिमवतो धराधरस्य लीला विभ्रसो येन तं सुवेलम् आख्लदम् ॥ ४३ ॥

रामबलं कीदृशमित्याह—

लवणजलबन्धसरसं तरुकलसंपचिरुद्धदेहायासम् ।

लङ्घातोरणवारणमारुदं समरलालसं रामबलम् ॥ ४४ ॥

लवणत्यादि—लवणजलबन्धादेहतोः सरसं सहर्षम् । तरुकलसंपत्या रुद्धो-
उपनीतः देहायासः क्षुत्पीडा यस्य । लङ्घातोरणस्य वारणं निषेधकम् ।
आलोलं चब्बलं समरलालसं रणसत्त्वणं रामबलं तं सुवेलमारुदीमिति
शूर्वेण योज्यम् ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नारुदे परबलं सन्नद्धमित्यं प्रवृत्तमित्यर्थः । इत्थं कथं तदाह
गुरुपणवेत्यादिना—

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

गुरुपणवेणुगुञ्जाभेरीपेलोरुक्षल्लरीभीमरवम् ।

ढक्काघणटातुमुलं सन्नद्धं परबलं रणायाससहम् ॥ ४५ ॥

गुर्वित्यादि—गुरुपणवादीनां भीमो रवो यस्मिन् परबले तत्र । गुरुपणवो
महान् पणवः । पणवो ढक्का पेला वाद्यविशेषः । उरुक्षल्लरी महती
झल्लरी (झांझ) इति ख्यातो वाद्यविशेषः । ढक्काघणटयोस्तुमुलः संमूर्च्छितः
शब्दो यत्रेति । रणायाससहं रणक्षेशसहम् ॥ ४५ ॥

आरुदबाणघोरं विमलायसजालगूढपीवरदेहम् ।

चञ्चलतुरङ्गवारणसंघटावद्धचारुपरिणाहगुणम् ॥ ४६ ॥

आरुदेत्यादि—धनुषि आरुदबाणत्वात् घोरं परबलम् । विमलेनाय-
सजालेन वर्मणा गूढङ्गलन्तः पीवरः स्थूलो देहो यस्य । चञ्चलानां तुरङ्गाणां
वारणानां च यः परस्परसंघटः श्लेषणं तेनावद्धश्चारुः परिणाहगुणः विस्तार
एव गुणो यस्य तत्परबलं संनद्धम् ॥ ४६ ॥

असितोमरकुन्तमहापाद्विशभल्लवरबाणगुरुपुरुमुसलम् ।

वीररसालङ्घारं गुरुसञ्चारहयदन्तिसमहीकम्पम् ॥ ४७ ॥

असीत्यादि—अस्यादीनां वरबाणपर्यन्तानां द्वन्द्वः । तैरस्यादिभिः गुरु
अनभिभवनीयं पुरु महन्मुसलं यत्र । अस्यादिगुरु च तत् पुरु मुसलं चेति
स्मासः । वीररस एवालङ्घारो यस्य । गुरुः संचारो येषां हयदन्तिनां महाका-
र्त्तवात् वैः समहीकम्पं सह महीकम्पेन वर्तमानं परबलं संनद्धम् ॥ ४७ ॥

ते रामेण सरभसं परितरला हरिगणा रणसमारम्भे ।

रुद्धा लङ्घापरिसरध्ववरपरिभङ्गलालसा धीररवम् ॥ ४८ ॥

ते इत्यादि—ते हरिगणाः कपिगणाः रणसमारम्भे रणप्रवर्तननिमित्तं सरभसं संब्रमपूर्वकं परितरलाः स्थातुमशक्तुवन्तः । लङ्घापरिसरे लङ्घा-समीपे ये भूधराः तरवः तेषां परिभङ्गे चूर्णने लालसाः सतृष्णाः सन्तो रामेष्य रुद्धाः प्रतिषिद्धाः मा भाङ्गुरिति । धीरवं धीरो रवो यस्यां प्रतिषेधनक्रियायामिति ॥ ४८ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

जलतीरतुङ्गतरुधरकन्दरगिरिभित्तिविवराऽवासम् ।

भीमं तरुहरिणबलं सुसमिद्धहिमारिकिरणमालालोलम् ॥ ४९ ॥

जलेत्यादि—तरुहरिणबलं कपिबलं निषिद्धं सत् भीमं भयानकं जलती-राधैरावासो यस्य तत् सुसमिद्धस्य हिमरेखेरादित्यस्य वा या किरणमाला तद्वलोलं समारूढमिति वह्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ॥ ४९ ॥

रावणबलमवगन्तुं जलभरगुरुसलिलवाहगणसमच्छायम् ।

अद्वतरुमध्मन्दिरतोरणमालासभासु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति महावैयाकरणभट्टि-प्रणीते रामचारिते काव्ये
प्रसन्नकाण्डे भाषासमावेशो नाम चतुर्थः
परिच्छेदस्थयोददशः सर्गः ।

रावणेत्यादि—रावणबलमवगन्तुं कीदृशमिति जलभरेण गुरुर्यः सलिलवाहगणो जलधरसमूहः तेन समच्छायम् तुल्यच्छायम् अद्वादिषु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया श्रीजयमङ्गलाद्यया व्याख्यया समर्लंकृते श्री भट्टप्रणीते रामचारिते तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षण-रूपे चतुर्थः परिच्छेदः तथा लह्यरूपे कथानके ‘सेतुबन्धनं’ नाम त्रयोदशः सर्गः ।

१ लह्योऽर्थमर्यः, तत्कां तु तेषां भूधर सदशोच्चताऽद्यतिशय प्रत्यायनम् ।

चतुर्दशः सर्गः ।

सुमिङ्गयुत्पत्तौ यत्सौष्ठवं तदपि काव्यस्याङ्गमुक्तम् । अतः प्रसन्नकाण्डानन्तरं तिङ्काण्डं शब्दलक्षणप्रयोगार्थं कथयते । तत्र लस्य स्थाने तिवादयः । लकाराश्च नव लेटश्छन्दोविषयत्वादिति । अत्र नव विलसितानि । विलसितं च नानर्हपता । तत्र भूतार्थवतो लिटोऽधिकृत्य तद्विलसितमाह—

ततो दशाऽस्यः स्मरविह्निलाऽत्मा चारप्रकाशीकृतशत्रुशक्तिः ।

विमोह्य मायामयराममूर्धा सीतामनीकं प्रजिधाय योद्धुम् ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः स्वपरबलयो रणादुत्तरकालं दशास्यः स्मरविह्निलात्मा कामवशीकृतदेहः भर्तरि निराशा सती सीता ममानुकूला भविष्यतीति मायामयेन मायास्वभावेन राममूर्धा छिन्नेन सीतां विमोह्य मोहित्यत्वा चारैः प्रणिविभिः प्रकाशीकृता शत्रुशक्तिः वैरिसामर्थ्यं यस्मै । योद्धुमनीकं सैन्यं प्रजिधाय प्रहितवान् । ‘हेरचाङ्गे ७।३।५६’ इति कुत्वम् । भूतानघ्यतनपरोक्षे सर्वत्र लिट् ॥ १ ॥

कम्बूनथ समादध्मुः कोणैर्भेयो निजन्निरे ।

वेणून्पुपूरिरे गुञ्जा जुगुञ्जुः करघट्टिताः ॥ २ ॥

कम्बूनित्यादि—अथ सैन्यप्रेषणानन्तरं कम्बून् समादध्मुः शब्दितवन्तः शङ्खिकाः । कोणैर्वाद्यवादैः काष्ठमयैः भेयैः निजन्निरे ताडिताः कर्मणि लिट् । वेणून वंशान् पुपूरिरे मुखमरुता पूरितवन्तः । ‘पूरी आप्यायने’ इति दैवादिकोऽनुदाचते । गुञ्जाः समरवादनाः करघट्टिताः अङ्गगुलिघृष्टा जुगुञ्जुः शब्दितवत्यः । ‘मुजि अव्यक्ते शब्दे’ ॥ २ ॥

वादयाच्चक्रिरे ढक्काः पणवा दध्वनुर्हताः ।

काहलाः पूरयाच्चकुः पूर्णाः पेराश्च सस्वनुः ॥ ३ ॥

वादयामित्यादि—ढक्का वादयाच्चक्रिरे वादितवन्तः । ढक्कावादका इत्यर्थः । वदेहेतुमण्णयन्तात् आमि ‘अयामन्ताल्वाच्यत्वेत्विष्णुषु ।६।४।५५।’ इत्ययादेशः । ‘आम्प्रत्ययवक्त्रज्ञोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३।’ इति कृजोऽनुप्रयोगस्यात्मनेपदम् । ‘णिचश्च ।१।३।७४।’ इति आम्प्रत्ययादात्मनेपदस्य विहितवान् । पणवाः वाद्यविशेषाः हताः पाणविकैस्ताडिताः दध्वनुर्धनिताः । काहलाः गोघृजसंस्थानाः । पूरयाच्चकुः पूरितवन्तः । ‘पूरी आप्यायने’ इति

चौरादिकस्य रूपम् । पेराः स्वरमुखाकाराः पूर्णा मुखमरुता सस्वनुः । ‘कणां च सप्तानाम् । ६ । ४ । १२५’ इति लिटि एत्वविधानस्य विकल्पितत्वात् नैत्वम् ॥ ३ ॥

मृदङ्गा धीरमास्वेनुहृतैः स्वेने च गोमुखैः ।
घण्टाः शिशिञ्जिरे दीर्घं जहादे पटहैर्भृशम् ॥ ४ ॥

मृदङ्गा इत्यादि—मृदङ्गा मुरजाः धीरम् आसेनुः गम्भीरं ध्वनिताः । एत्क-
पक्षे रूपम् । गोमुखैर्वादिविशेषैः हृतैः स्वेने शब्दितम् । भावे लिद् । घण्टाः
दीर्घं शिशिञ्जिरे उच्चैः शब्दितवत्यः । पटहैर्भृशमत्यर्थम् । जहादे शब्दितम् ।
भावे लिद् ॥ ४ ॥

हया जिहेषिरे हर्षाद्भीरं जगञ्जुर्गजाः ।
संत्रस्ताः करभा रेदुश्चुकुतुः पत्तिपङ्क्यः ॥ ५ ॥

हया इत्यादि—हया अश्वाः हर्षात् जिहेषिरे हेषितवन्तः । हेषु
अन्यक्ते शब्दे^१ भीवादिकोऽनुदातेत् । अभ्यासस्य ‘हस्वः । ७ । ४ । ४९’ इति
एत इह्नवति । गजा गम्भीरं मन्द्रं जगजुः गर्जितवन्तः । ‘गज गृजी शब्दा-
थौं’^२ कर्मभा उष्ट्राः संत्रस्ताः नानावादित्रश्वणात् । रेदुः शब्दं कृतवन्तः ।
‘रट परिभाषणे’ इति शब्दार्थः । पत्तिपङ्क्यः पदातिसंहतयः चुकुतुः शब्दित-
वत्यः । गच्छत किं तिष्ठोति । ‘कु शब्दे’ इत्युदातेत् ॥ ५ ॥

तुरङ्गाः पुस्फुटुर्भीताः पुस्फुरुर्वृषभाः परम् ।
नार्यश्चुकुभिरे मम्लुर्मुमुहुः शुशुचुः पतीन् ॥ ६ ॥

तुरङ्गा इत्यादि—तुरङ्गा अश्वा भीता वादित्रश्वणात् पुस्फुटः स्फुटिताः
भयादितस्तो गताः । ‘स्फुट विशरणे’ । वृषभाः परं पुस्फुरुः सुष्टु
वालिताः । ‘स्फुर वलने’^३ । नाथश्चुकुभिरे अस्माकमायातो वियोग इति क्षोभ-
सुपगताः । व्यस्तचित्ता जातां इत्यर्थः । काश्चित् मम्लुः । ‘ग्लै ग्लै हर्षक्षये’^४
मुमुहुः काश्चित्न्मोहमुपगताः । पतीन् काश्चित् शुशुचुः शोचितवत्यः । हा कष्टं
नियतं विनष्टा इति ॥ ६ ॥

जगञ्जुर्जहृषुः शूरा रेजुस्तुष्टुविरे परैः ।
बवन्धुरङ्गुलित्राणि सन्नेहुः परिनिर्ययुः ॥ ७ ॥

^१ ‘करभदिशशुः’ इति, ‘करभाः स्युः शृङ्खलका दारवैः पादवन्धनैः’^२ इत्या
शुक्तयोष्टुविशेषवाचित्वेऽपि उष्ट्रत्वमादायोति बोध्यम् ।

जगर्जुरित्यादि—शूरा जगर्जुः । अस्माभिरूष्टाः शराः क यास्यन्तीति
शब्दितवन्तः । तथा जहृषुः तुष्टाः चिरमायातः समर इति । 'हष तुष्टौ' । अत
एव रेजुः शोभन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६ । ४ । १२५ ।' इत्येत्वा-
भ्यासलोपै । पैररन्यैतुष्टुविरे स्तुताः । भवतामप्रतः 'समरे के तिष्ठन्तीति ।
अङ्गमुलित्राणि बबन्धुः बध्नन्ति स्म । 'बन्ध बन्धने ।' तथा परे
सन्नेहुः कवचानि बध्नन्ति स्म । 'णह बन्धने' । परिनिर्यथुः निष्क्रान्ताः ॥ ७ ॥

धनुष्यारोपयाच्चकुरुरुहू रथादिषु ।

असीनुद्वहुदीप्तान् गुर्वीरुच्चिक्षिपुर्गदाः ॥ ८ ॥

धनुंशीत्यादि—धनूषि^१ आरोपयाच्चकुः आरोपितगुणानि कृतवन्तः । 'रुहः
पोऽन्यतरस्याम् । ७ । ३ । ४३ ।' इति णौ पादेशः । आहुहुरारोहन्ति स्म रथा-
दिषु । द्वितीया न कृता । अधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् । दीपान्निष्कलङ्घा-
नसीन् उद्वहुः कोशादाकृष्य उद्यतान् कृतवन्तः । 'वृहू उद्यमने ।' गुर्वीर्गदा-
उचिक्षिपुः उत्क्षम्पवन्तः ॥ ८ ॥

शूलानि भ्रमयाच्चकुर्वाणानाददिरे शुभान् ।

अमुश्चुकूर्दे रेसुर्वर्वलगुश्च पदातयः ॥ ९ ॥

शूलानीत्यादि—शूलानि भ्रमयाच्चकुः भ्रमयन्ति स्म । मान्तत्वान्मित्वे
हस्तत्वम् । बाणान् शुभान् युद्योगयानाददिरे गुहीतवन्तः । 'आङ्गे दो-
ऽनास्यविहरणे । १ । ३ । २० ।' इति तद् । पदातयश्च अमुः इतस्तो याताः ।
कुकूर्दे शशपाणयः क्रीडितवन्तः । 'कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव ।' 'उप-
धायां च । ८ । २ । ७८ ।' इति दीर्घः । रेसुः भयकृते निनादान् कृत-
वन्तः । 'रस शब्दे ।' वत्वल्लुः प्रप्लुताः । वलातिः 'घल उखि' इत्यादौ
पठथते ॥ ९ ॥

समुत्पेतुः कशाधातै रश्म्याकर्षर्ममाङ्गिरे ।

अश्वाः प्रदुदुवुमोक्षे रक्तं निजगरुः श्रमे ॥ १० ॥

समुत्पेतुरित्यादि—कशाधातैः चर्मलताप्रहारैः अश्वाः समुत्पेतुः चत्प्लुताः ।
रश्म्याकर्षैः प्रप्रहाकर्षैः ममङ्गिरे शोभन्ते स्म । सङ्कोचितधोण-
त्वात् । 'मगि मण्डने ।' मोक्षे रश्मीनां प्रसारणे प्रदुदुवुः वेगेन गताः । श्रमे
साति खलीनप्रभर्व रक्तं निजगरुः पतिवन्तः । 'ग निगरणे ।' 'ऋच्छत्यृताम्
। ७४ । ११ ।' इति गुणः ॥ १० ॥

गजानां प्रददुः शारीन् कम्बलान् परितस्तरः ।

तेनुः कक्षां ध्वजांश्चैव समुच्छिश्रियुरुच्छत्वान् ॥ ११ ॥

गजानामित्यादि—गजानां शारीन् प्रददुः । पुष्टेषु आरोपितवन्तो हस्ति-
पका इत्यर्थात् । तथा कम्बलान् नानावर्णविचित्रान् परितस्तरः आस्तीर्ण-
वन्तः । कक्षां हेमादिमर्यां तेनुः विस्तारितवन्तः । उच्छित्वान् उद्घृतशिखान्
ध्वजान् समुच्छिश्रियुः उत्स्थिप्तवन्तः ॥ ११ ॥

विशिश्वासयिषाच्चकुरालिङ्गुश्च योषितः ।

आजम्बूर्मीर्धे बालांश्च चुचुम्बुश्च सुतप्रियाः ॥ १२ ॥

विशिश्वासयिषाच्चकुरित्यादि—योषितः आस्तीयान् विशिश्वासयिषा-
च्चक्रुः विश्वासयितुभिष्ठवन्तः । मर्यन्यथा न भवनीयमीति । प्यन्तात्सन्नन्तरय
रूपम् । अलिलिङ्गुश्च श्लेष्यन्ति स्म । लिरीर्णत्यर्थः । आङ्गूर्वः परिप्तज्ञे
वर्तते । बालान् शिशून् आजम्बुः शिरासि आघ्रातवन्तः । तथा चुचुम्बुश्च
चुम्बितवन्तः । सुतप्रियाः सुताः प्रियाः यासामीति ॥ १२ ॥

गम्भीरवेदिनः सञ्ज्ञा गजा जग्नुरक्षताः ।

ववृथे शुशुभे चैषां मदो हष्टैश्च च पुण्डुवे ॥ १३ ॥

गम्भीरवेदिन इत्यादि—ये गजा मत्तत्वादङ्गकुर्शैर्दृमाहता गम्भीरं विन्दन्ति
ते गम्भीरवेदिनः तस्मिन् काले सञ्ज्ञा युद्धोपयिकीर्जग्नुः गृहीतवन्तः ।
अक्षतास्तोत्राङ्गकुर्शैरनाहताः सन्तः । हष्टैश्च गजैः पुण्डुवे प्लुतम् । भावे लिद् ।
हर्षादेषां मदो ववृथे वर्धते स्म । शुशुभे च शोभते स्म ॥ १३ ॥

मृगाः प्रदक्षिणं ससुः शिवाः सम्यग्ववाशिरे ।

अवामैः पुस्फुरे देहैः प्रसेदे चित्तवृत्तिभिः ॥ १४ ॥

मृगा इत्यादि—एवं संनह चलतां मृगाः दक्षिणपाश्चेन गताः वामपार्श्व-
स्थाः शिवाः सम्यग्ववाशिरे शब्दितवत्य इत्यर्थः । ‘वाशृ शब्दे’ अवामैर्द-
क्षिणैर्देहैर्मुजादिभिः पुस्फुरे स्फुरितम् । भावे लिद् । चित्तवृत्तिभिर्मनोवृत्तिभिः
प्रसेदे प्रसन्नम् । पूर्ववत्सदेभावे लिद् ॥ १४ ॥

प्राच्यमाङ्गिहिषाच्चके प्रहस्तो रावणाङ्गया ।

द्वारं ररङ्गुर्याम्यं महापार्श्वमहोदरौ ॥ १५ ॥

प्राच्यमित्यादि—एवं शुभनिमित्तोत्साहितः प्रहस्तो रावणाङ्गया प्राच्य
प्राचि भवं पूर्वद्वारम् । शुप्रागपागुदकप्रतीचो यत् । ४ । २ । ११० । इति

यत् । आज्जिहिषाच्चके गन्तुमिष्टवान् । ‘अहि गौता’ इत्यस्योनुदाचेतः सनीदृ । ‘अजादिव्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।’ इति द्विर्वचनम् । ‘न न्द्राः सं-योगोदयः । ६ । १ । ३ ।’ इति नकारो न द्विरुच्यते । ‘आम्प्रत्ययवत् कृबोडनुप्रपयोगस्य । १ । ३ । ६३ । इत्यात्मनेपदम् । तथा महापाश्चर्म-झेदूरौ राक्षसौ याम्यं द्वारं दीक्षणम् । यमो देवता अस्येति ‘दित्यदित्या-दित्यपत्युच्चरपदाण्णयः । ४ । १ । ८५ ।’ इत्यत्र ‘यमाच्चेति वक्तव्यम्’ इति उक्तम् तेन प्राग्दीन्यतीयेऽर्थे प्रत्ययः । ररक्षतुः गतौ । ‘रघि गतौ’ इत्यस्य रूपम् ॥ १५ ॥

प्रययाविन्द्रजित् प्रत्यगियाय स्वयमुक्तरम् ।

समध्यसिसिषाच्चके विरुपाक्षः पुरोदरम् ॥ १६ ॥

प्रययादित्यादि—प्रत्यक् पश्चिमद्वारम् इन्द्रजित् प्रययौ गतवान् ।
प्रत्ययिति ‘दिक्छब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । १ । ५ । ३ । २७ ।’ इति विहितस्यास्तातेः ‘अच्चेर्लुक् । ५ । ३ । ३० ।’ भसंज्ञाभावात् ‘अचः । । ६ । ४ । १३८ ।’ इत्यकारलोपो निर्वर्तते । ‘चौ । ६ । ३ । १३८ ।’ इति दीर्घित्वं च । स्वयमिति रावण उत्तरद्वारमियाय गतः । विरुपाक्षो राक्षसः पुरोदरं पुरमध्यं समध्यासिसिषाच्चके समध्य-सितुमिष्टवान् । आस्तेरनुदाचेतः सनि इटि अजादित्वाद्वितीयस्य द्वित्वम् । ‘पूर्ववृत्तसनः । १३ । ६२ ।’ इत्यात्मनेपदम् । अनुप्रयोगस्यात्यात्मनेपदम् ॥ १६ ॥

शुश्राव रामस्तत्सर्वं प्रतस्थे च ससैनिकः ।

विस्फारयाच्चकाराऽस्त्रं बबन्धाऽय च बाणधीः ॥ १७ ॥

शुश्रावेत्यादि—अथानन्तरं रामस्तत्सर्वं रावणचेष्टितं शुश्राव श्रुतवान् ।
प्रत्यक्षे च गन्तुं प्रवृत्तः । ‘समवप्रविभ्यः स्थः । १३ । २२ ।’ इति तद् । ससैनिकः सह योद्धैः । सेनायां समवेदा इति ‘सेनाया वा । ४ । ४ । ४५ ।’ इहि फल्खे ठक् । अब्दं धनुर्विस्फारयाच्चकार आरोप्याकृष्टवान् । स्फुरत्वेः । ‘चिस्फुरोणैः । ६ । १ । ५४ ।’ इत्यात्वम् । बबन्ध च बाणधी तूणीरे वद्धाति स्म । बाणा धीयन्तेऽत्रेति । ‘कर्मण्यधिकरणे च । ३ । ३ । ९३ ।’ इति किः ॥ १७ ॥

ईक्षाच्चक्रेऽथ सौमित्रिमनुजज्ञौ बलानि च ।

तमश्चकास्तदेष्वेभ्यः पर्यन्तर्लक्षणं सुमोच च ॥ १८ ॥

ईक्षामित्यादि—सौमित्रिं च युद्धाय ईश्वाच्चके वृष्टवान् । ईक्षेरनुदाचेतः ।
 ईजादेश्वगुरुमतोऽनुच्छः ।२।१।३६॥ इत्याम् । वलानि च अनुजङ्घे
 अनुज्ञातवान् । अनुपूर्वों जानातिरनुज्ञाने वर्तते तस्य परस्मैपदित्वात् । ‘अनुजङ्घे’
 इति पाठश्चिन्त्यः । न च ‘अनुपसर्गज्जः ।१।२।७६॥’ इति वचनादात्मने-
 पदम्, उपसर्गेण युक्तत्वात् । नमश्चकार देवेभ्यः । नमःशब्दयोगे चतुर्थी ।
 पर्णतल्पं पर्णशयननीयं सुमोच मुक्तवान् ॥ १८ ॥

चकासांच्चकुरुत्तस्थुनेदुरानश्चिरे दिशः ।

वानरा भूवरान् रेधुर्बभञ्जुश्च ततस्तरुव् ॥ १९ ॥

चकासांच्चकुरित्यादि—ततोऽनुज्ञानानन्तरं वानरा उत्तस्युः उत्थिताः ।
 नेदुः शब्दितवन्तः । दिश आनशिरे व्याप्ताः । ‘अश्वोतश्च ।७।४।७२॥’
 इत्यभ्यासस्य तु दृ । ‘अत आदेः ।७।४।७०॥’ इति दीर्घित्वम् । भूधरान्
 पर्वतान् रेतुः उन्मूलितवन्तः । ‘राघो हिंसायाम् ।६।४।१२३॥’ इत्येत्वाभ्यास-
 लोपः । तरुंश्च बभञ्जुः भग्नवन्तः । एवं च ते चकासांच्चकुः शोभन्ते स्म ।
 ‘कास्यनेकाग्रहणकर्तव्यम्’ इत्याम् ॥ १९ ॥

अथ श्लोकद्वयं राघवयोर्ब्रह्मास्त्रवन्धसूचनार्थमनिमित्तदर्शनम् ।

ददाल भूर्नभो रक्तं गोष्पदप्रं वर्षं च ।

मृगाः प्रसस्तुपुर्वामं खगाइचुकुविरेऽनुभान् ॥ २० ॥

ददालेत्यादि—भूर्ददाल विदीर्णा । नभश्च रक्तं रुधिरं वर्षं वृष्टवत् । लिटः
 पित्त्वादकित्त्वे धातोर्गुणः । कियतप्रमाणं गोष्पदप्रं यावता गोष्पदं पूर्यते । ‘वर्ष-
 प्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् ।३।४।३२॥’ इति णमुल ऊलोपश्च । मृगाः
 प्रसस्तुपुर्वामं वामपार्थेन गता इत्यर्थः । खगाः पक्षिणोऽनुभान् अनिष्टांश्चुकु-
 विरे शब्दितवन्तः । ‘कुङ् शब्दे ।’ अशुभमिति पाठान्तरम् । तत्र त्रिया-
 विशेषणं वेदितव्यम् ॥ २० ॥

उल्का ददृशिरे दीप्ता रुखुश्चाशिवं शिवाः ।

चक्षमाये च मही रामः शशङ्के चाशुभागमम् ॥ २१ ॥

उल्का इत्यादि—दीप्ता उल्का ददृशिरे दृष्टाः । अशिवम् अनिष्टं शिवा
 गोमायवः रुखुः शब्दितवन्तः । मही च चक्षमाये कम्पिता । ‘ह्यमायी
 विधूनने’ इत्यनुदाचेत् । रामश्चाशुभागममनिष्टप्रार्थि शशङ्के शङ्कते स्म ।
 चेतसः पर्याकुलत्वात् इदमप्यनिष्टमेव ॥ २१ ॥

रावणः शुश्रवाऽचावून् राक्षसानभ्युपेयुषः ।

स्वयं युयुत्सयाच्चके प्राकारामे निषेदिवान् ॥ २२ ॥

रावण इत्यादि—राक्षसानभ्युपेयुषोऽभिमुखमुपगतवन्तो ये शत्रवो रामादयस्तान् रावणः शुश्रवान् । स्वयं च प्राकारामे निषेदिवान् निषण्णः सन् । ‘भाषायां सदवसश्चुवः । ३।२।१०८।’ इति कसुः । युयुत्सयाच्चक्रे योद्धुमिच्छन्तं प्रयोजितवानित्यर्थः । सन्नन्तर्णन्तस्य रूपम् ॥ २२ ॥

निरासू राक्षसा बाणान् प्रजहुः शूलपट्टिशान् ।

असीश्च वाहयाऽचक्रुः पाशैश्चाचकृषुस्ततैः ॥ २३ ॥

निरासुरित्यादि—रावणप्रचोदिता राक्षसा बाणान्निरासुः क्षिप्रवन्तः शूलपट्टिशान् शूलसहितान् पट्टिशान् । शाकपार्थिवादित्वाच्चत्पुरुषः । द्वन्द्वे तु ‘जातिरपाणिनाम् । २।४।६।’ इत्येकवद्वावः स्यात् । तान् प्रजहुः त्वयक्तवन्तः । ‘ओहाङ् त्यागे ।’ असीश्च खड्डान् वाहयाऽचक्रुः व्यापारितवन्तः । प्यन्तस्य रूपम् । पाशैस्ततैर्विस्तृतैः आचकृषुः आकृष्टवन्तः । किञ्चेव गुणप्रतिषेधः ॥ २३ ॥

भलैश्च विभिदुस्तीक्ष्णैर्विघुस्तोमरस्तथा ।

गदाभिइच्चूर्णयाऽचक्रुः शितैश्चक्रश्च चिच्छिदुः ॥ २४ ॥

भलैरित्यादि—भलैर्विभिदुर्विदारितवन्तः । तीक्ष्णैस्तथा तोमरैर्विघुस्ता- दितवन्तः । व्यधे: ‘अहिज्यावयिन्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां विति च । ६।१।६।’ इति सम्प्रसारणम् । गदाभिश्च चूर्णयाऽचक्रुः चूर्णितवन्तः । ‘सत्यापपाशरूपवीणातूड़श्लोकसेनालोमत्वचर्वर्मवर्णचूरादिभ्यो णिच् । ३।१।२५।’ इति णिच् । ‘चूर्णं प्रेरणे’ इति चौरादिकत्वाद्वा । चिच्छिदुः चिच्छिवन्तः । राक्षसयुद्धमेतत् ॥ २४ ॥

तानरा मुष्टिभिर्जनुर्दद्युदर्शनैस्तथा ।

निरासुश्च गिरीस्तुङ्गान् द्रुमान् विचकरुस्तथा ॥ २५ ॥

वानरा इत्यादि—वानरा मुष्टिभिर्जच्चुः इतवन्तः । राक्षसानित्यर्थात् दशनैर्दद्युः दष्टवन्तः । गिरीन्निरासुः क्षिप्रवन्तः । द्रुमान् विचकरुर्विक्षिप्रवन्तः ‘कृ विक्षेपे ।’ ‘ऋच्छत्यृताम् । ७।४।१।’ इति गुणः ॥ २५ ॥

लाङ्गूलैलौठयाऽचकृस्तलैर्नन्यश्च सङ्क्षयम् ।

नखैश्च चकृतुः कुद्दाः पिपिषुश्च क्षितौ बलात् ॥ २६ ॥

लाङ्गूलैरित्यादि—लोङ्गूलैर्लोठयाच्चकुः लाङ्गूलैर्व्यापादितवन्तः । ‘हठ लुठ प्रतिबाते’ परस्मैपदिनो ष्ठन्तस्य रूपम् । तर्लैर्हस्ततलैः संक्षयं विनाशं निन्युः नीतवन्तः । नखैश्च चक्कुरुच्छिन्नवन्तः । ‘कृती छेदने’ कुद्धाः वानराः बलात् हथात् क्षितौ पिपिषुश्चूणितवन्तः ॥ २६ ॥

सम्बभूवुः कबन्धानि प्रोहुः शोणिततोयगाः ।
तेरुर्भटास्यपद्मानि ध्वजैः फैनैरिवावभे ॥ २७ ॥

संबभूरुरित्यादि—कबन्धानि संबभूवुः संभूतानि । प्रतिसहस्रं व्यापादनात् । कबन्धस्यैकस्योत्पादनात् । शोणिततोयगाः शोणितनद्याः प्रोहुः प्रकर्षेण प्रवृत्ताः । वहेर्यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । भटास्यपद्मानि योधसुखपद्मानि तेरुः प्लुतानि । ‘तृफलभजन्रपश्च ।६।४।१२२।’ इति एत्वाभ्यासलोपै । फैनैरिव ध्वजैः शोणितनदीषु आवभे शोभितम् । भावे लिट् ॥ २७ ॥

रक्तपङ्के गजाः सेदुर्न प्रचक्रमिरे रथाः ।
निममज्जुस्तुरङ्गाश्च गन्तुं नोत्सेहिरे भटाः ॥ २८ ॥

रक्तपङ्के इत्यादि—रक्तपङ्के गजाः सेदुः निषणाँः । रक्तपङ्कस्य बहुलत्वात् । तथा रथा न प्रचक्रमिरे न गन्तुमारब्बाः । ‘प्रोपाभ्याम् ।१।३।४२।’ इत्यात्मनेपदम् । तुरङ्गा निममज्जुः निमग्राः । भटाश्च गन्तुं नोत्सेहिरे नोःसहन्ते स्म ॥ २८ ॥

कोट्या कोट्या पुरद्वारमेकैकं रुरुवे द्विषाम् ।
षट्क्रिंशद्विकोट्यश्च निवन्नुर्वानिराविषम् ॥ २९ ॥

कोट्येत्यादि—द्विषामेकैकं पुरद्वारं वानराणां कोट्या कोट्या रुरुवे रुद्धम् । कर्मणि लिट् । षट्क्रिंशद्विरिकोट्यः वानरकोट्यो वानराविषं सुग्रीवं निवद्धुः आवृत्य स्थिताः ॥ २९ ॥

तस्तनुर्जह्नुर्भम्लुर्जग्लुर्जलुठिरे क्षताः ।
सुमूर्च्छुर्ववम् रक्तं तदृषुश्चोभये भटाः ॥ ३० ॥

तस्तनुरित्यादि—उभये भटा रामरावणसंबन्धिनो योधाः क्षताः सन्तस्तनुः स्तनितवन्तः । जह्नुः चलिताः । ‘हल ज्ञाल चलने’ । मस्तुः

म्लानाः । 'ग्लै म्लै हर्षक्षये' । जग्लुः हर्षक्षयं गताः । लुलुठिरे भूमौ लुठन्ते स्म । 'हठ लुठ प्रतिधाते' तुदादावात्मनेपदी पठ्येते । सुमुच्छुः मोहसुप-
गताः । रक्तं वबुः गीर्णवन्तः । ततृषुः तृष्यन्ति स्म । एतत् संकुल-
युद्धम् ॥ ३० ॥

सम्पातिना प्रजङ्गस्तु युयुधेऽसौ द्रुमाहतः ।

चकम्पेऽतीव चुक्रोश जीवनाशं ननाश च ॥ ३१ ॥

सम्पातिनेत्यादि—प्रजङ्गो नाम राक्षसः सम्पातिनाम्नाः वानरेण सह
युयुधे युध्यते स्म । असौ प्रजङ्गो द्रुमाहतश्चकम्पे कम्पते स्म । अतीव
अत्यर्थं चुक्रोश क्रोशति स्म । जीवनाशं ननाश जीवेन विनष्टः । 'कत्रो-
जीवपुरुषयोर्नशिवहोः । ३ । ४ । ४३ ।' इति णमुल् ॥ ३१ ॥

उच्चखाते नलेनाऽजौ स्फुरत्प्रतपनाक्षिणी ।

जम्बुमाली जहौ प्राणान् ग्रावणा मारुतिना हतः ॥ ३२ ॥

उच्चखनाते इत्यादि—स्फुरन् चलन् प्रतपनो नाम राक्षसः तस्याक्षिणी,
स्फुरतीव प्रतपनस्याक्षिणी नयने नलेन वानरेण उच्चखनाते उत्खाते ।
कर्मणि लिद् । 'गमहन जनखनघसां लोपः क्लित्यनडि । ६ । ४ । ९८ ।'
इत्युपधालोपः । मारुतिना हनूमता ग्रावणा पाषणेन हतो जम्बुमाली राक्षसः
प्राणान् जहौ त्यक्तवान् ॥ ३२ ॥

गिमत्रिग्रस्य प्रचुक्षोद गदयाऽङ्गं विभीषणः ।

सुग्रीवः प्रघसं नेभे बहून् रामस्तर्तदं च ॥ ३३ ॥

मित्रघस्येत्यादि—मित्रघस्य राक्षसस्य अङ्गं गदया विभीषणः प्रचु-
क्षोद । प्रघसं नाम राक्षसं सुग्रीवो नेभे हिंसितवान् । 'णभ तुभ हिंसा-
याम्' इत्यनुदात्ते । रामश्च बहून् राक्षसान् ततर्दं हिंसितवान् । 'उट-
दिर् हिंसाऽनादरयोः' ॥ ३३ ॥

वज्रमुषेणिशिश्लेष मैन्देनाऽभिहतं शिरः ।

नीलश्वर्कर्त चक्रेण निकुम्भस्य शिरः स्फुरत् ॥ ३४ ॥

वज्रमुषेणित्यादि—वज्रमुषे राक्षसस्य शिरो मैन्देन वानरेण अचिह्नं
स्त् विशिश्लेष विशिष्टम् । निकुम्भस्य शिरः स्फुरत् चलत् । नीलो वान-
श्वर्कर्त चक्रेण चक्रर्त छिन्नवान् ॥ ३४ ॥

विरुपाक्षो जहे प्राणैस्तृढः सौभित्रिपत्रिभिः ।

प्रमोचयाच्चकाराऽसून् द्विविदस्त्वशनिप्रभम् ॥ ३५ ॥

विरुपाक्ष इत्यादि—विरुपाक्षो राक्षसः सौभित्रिपत्रिभिर्लक्षणशरैः
तृढः हव इत्यर्थः । ‘तृहूं हिसायाम्’ इति तौदादिकस्योदित्त्वान्निष्टाया-
मिट्प्रीतिषेधैः । प्राणैर्जहे त्यक्तः । कर्मणि लिद् । द्विविदो वानरः
अशेनिप्रभं राक्षसं प्राणान् प्रमोचयाच्चकार त्याजितवान् । मुचेष्यन्तस्य
लिंगं रूपम् ॥ ३५ ॥

गदा शक्रजिता जिघ्ये तां प्रतीयेष वालिजः ।

रथं ममन्थ सहयं शाखिनाऽस्य ततोऽङ्गदः ॥ ३६ ॥

गदेत्यादि—शक्रजिता इन्द्रजिता गदा जिघ्ये प्रहिता । हिनोते: कर्मणि
लिद् । ‘हेरचाहि । ७ । ३ । ५६ ।’ इति कुत्वम् । तां गदां वालिजोऽङ्गदः
प्रतीयेष प्रतीष्टवाच् । इषे: ‘अभ्यासस्यासवर्णं । ६ । ४ । ७८ ।’ इतीयङ् । ततो-
उनन्तरं अस्य शक्रजितो रथं सहयं साश्वं शाखिना तस्मा ममन्थ चूर्णित-
वान् । ‘मथि हिसासंक्षेशयोः ॥ ३६ ॥

तत् कर्म वालिपुत्रस्य द्विष्ठा विश्वं विसिष्मये ।

संत्रेषु राक्षसाः सर्वे बहु मेने च राघवः ॥ ३७ ॥

तत्कर्मैत्यादि—तत्कर्म रथस्य चूर्णनं द्विष्ठा विश्वं त्रैलोक्यं विसिष्मये
विसितम् । राक्षसाः सर्वे संत्रेषुः । राघवश्च बहु मेने । अङ्गदं
श्लाघितवानित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवो मुमुदे देवाः साध्वित्यूचुः सविस्मयाः ।

विभीषणोऽभितुष्टाव प्रशशंसुः प्लवङ्गमाः ॥ ३८ ॥

सुग्रीव इत्यादि—सुग्रीवो मुमुदे हृष्टवान्, देवाः साध्वित्यूचुः, ‘वचि-
स्वप्रियजादीनां किति । ६ । १ । १५ ।’ इति सम्प्रसारणम् । विभीषणोऽभितुष्टाव
अभिष्टुतवान् । ‘षुब्रं स्तुतौ’ । ‘उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौभति-
स्यासेनयसेधसिच्चसञ्जस्वज्ञाम् । ८ । ३ । ६५ ।’ इति षत्वम् । प्लवङ्गमाः प्रशशंसुः
प्रशंसां कृतवन्तः ॥ ३८ ॥

१ ‘यस्य विभाषा । ७ । २ । १५ ।’ इत्यनेनेति बोध्यम् । २ अः च शब्दो
योगिष्ठो रूढश्च । तथा च वज्रसमाञ्छेदशरीरं तत् एव तच्चामानं च ।

ही चिन्तं लक्ष्मणेनोदे रावणिश्च तिरोदधे ।

विचकार ततो रामः शरान् संतत्रसुर्दीषः ॥ ३९ ॥

ही चिन्तमित्यादि—हीति विस्मये । चिन्तमाश्र्वर्यमिति लक्ष्मणेनोदे उक्तम् । वदेभावे लिंद् । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । रावणः इन्द्रजित् रावणस्यापत्यम् । ‘अत इव । ४ । १ । ९५।’ तिरोदधे अदृश्योऽभूत् । ततः अदर्शनानन्तरं रामः शरान् विचकार विक्षिप्तवान् । ‘कृ विक्षेपे’ । द्विषःसंतत्रसुः संत्रस्ताः ॥ ३९ ॥

विभिन्ना जुघुरुधोरं जक्षुः क्रव्याशिनो हतान् ।

चुइच्योत ब्रणिनां रक्तं छिन्नाश्वेषुः क्षणं भुजाः ॥ ४० ॥

विभिन्ना इत्यादि—शैर्विभिन्ना जुघुरुः धोरं भीमशब्दं कृतवन्तः । ‘धुर भीमार्थं-शब्दयोः ।’ क्रव्याशिनः शृगालादयो हतान् विनष्टान् जक्षुः भक्षितवन्तः । ‘लिंग्यन्यतरस्याम् । २ । ४ । ४०।’ इत्यदेवस्त्व । उपधालोपः । ‘खरि च । ८ । ४ । ५५।’ इति चर्त्वम् । ब्रणिनां शैरैः कृतब्रणानां रक्तं चुइच्योत ब्रणादित्यर्थात् कर्तरि लिटः पित्वादकित्वे गुणः । भुजाश्चिन्नाः सन्तः क्षीणमात्रं चेलुइच्चलिताः ॥ ४० ॥

कृत्तैरपि दृढक्रोधो वीरवक्रैर्न तत्यज ।

पलायांचक्रिरे शेषा जिह्वियुः शूरमानिनः ॥ ४१ ॥

कृत्तैरित्यादि—वीरवक्त्रैः शूरमुखैः कृत्तैरपि छिन्नैरपि दृढो धनः क्रोधो न तत्यजे न त्यक्तः । दृष्टिश्वकुक्षयादीनां तथावस्थानान् । कर्मणि लिंगं पलायांचक्रिरे पलायिताः । ‘दयायासश्च । ३ । १ । ३७।’ इत्याम् । ‘उपसर्गस्यायतौ । ८ । २ । १९।’ इति लत्वम् । शेषा ये न पलायिताः ते शूरमानिनः । ‘मनः । ३ । २ । ८२।’ इति णिनिः । जिह्वियुः लज्जन्ते स्म ॥ ४१ ॥

राघवो न दयाच्चक्रे दधुर्वैर्यं न केचन ।

मम्रे पतञ्जवद् वीरैर्हैति च विचुकुक्षे ॥ ४२ ॥

राघव इत्यादि—राघवो न दयाच्चक्रे न दयां कृतवान् । पूर्ववदाम् । न केचन न कोचित् धैर्यं दधुः धारितवन्तः । सर्व एव अहमहभिकया प्रवृत्ताः । यदि वा न केचन केचिद्वैर्यं न दधुः अपि तु दधुरेव । पत-

१ ऊर्वेणातिशये शेषसमवतीवि बोध्यम् । एवं परत्राऽपि ।

झवतपतझैरिव वीरैर्मन्त्रे मृतम् । भावे लिद् । हाहेति च विचु-
कुये रुदितम् ॥ ४२ ॥

तिरोबभूवे सूर्येण प्रापे च निशयाऽस्पदम् ।

जग्रसे कालरात्रीव वानरान् राक्षसांश्च सा ॥ ४३ ॥

तिर इत्यादि—सूर्येण तिरोबभूवे तिरोभतम् । अत्सं गतमित्यर्थः । भावे
लिद् । निशया निशा च आस्पदं प्रतिष्ठा । ‘आस्पदं प्रतिष्ठायाम् । ६।१।१४६।’
इति निपातनम् । प्रापे प्राप्तम् । कर्मणि लिद् । सा च निशा काल-
रात्रीव कालः कृतान्तस्तेन प्रयुक्ता रात्रीति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपद्लोपी
समाप्तः । कृदिकारादक्षिणः । इति डीष् । वानरान् राक्षसांश्च जग्रसे
ग्रसते स्म भक्षितवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

चुकोपेन्द्रजिदत्युग्रं सर्पाख्यं चाजुहाव सः ।

आजुहुवे तिरोभूतः परानीकं जहास च ॥ ४४ ॥

चुकोपेत्यादि—रामव्यापारं द्वाषा इन्द्रजित् विरोहितः सन् चुकोप कुपि-
तवान्, अत्युग्रं च सर्पाख्यं सर्पमध्यमिव आजुहाव आहूतवान्, आह-
यते: शब्दे वर्तमानस्य ‘अभ्यस्तस्य च । ६।१।३।३।’ इति द्विर्वचनात्
प्राक् सम्प्रसारणं ततो द्विर्वचनम् । परानीकं च रामबलम् आजुहुवे
स्पर्धते स्म । ‘स्पर्धायामाङः । १।३।३।१।’ इत्यात्मनेपदम् । पूर्व-
वत्सम्प्रसारणम् । यजादित्वाद्वा । तत उवलोदेशः । जहास च
विहसितवान् ॥ ४४ ॥

बवाधे च बलं कृत्स्नं निजयाह च सायकैः ।

उत्ससर्ज शरांस्तेऽस्य सर्पसाच्च प्रपेदिरे ॥ ४५ ॥

बवाध इत्यादि—बवाधे च अभिभूतवान् । ‘बाधु विलोङ्घने’ निजग्राह च
निगृहीतवान्, सायकैः लोहयुक्तैः सर्पाख्यैः उत्ससर्ज शरान् विसवान्, ते
उत्सृष्टाः शरा अस्य बलस्य सर्पसात् । ‘विभाषा साति कात्स्न्ये । ५।४।५।२।’ इति
कात्स्न्ये सातिः । सम्प्रपेदिरे सम्प्रपदन्ते स्म ॥ ४५ ॥

आचिचाय स तैः सेनामाचिकाय च राघवौ ।

बभाण च न मे मायां जिगायेन्द्रोऽपि किं नृभिः ॥ ४६ ॥

आचिचायेत्यादि—स इन्द्रजित् सपाख्यवर्नराणां सेनामाचिचाय छब्रवान् ।
‘विभाषा चेः । ७।३।५।८।’ इति अकृत्पक्षे रूपम् । राघवौ च

रामलंक्षणावाचिकाय । कुत्वपक्षे रूपम् । बभाण च भणते स्म । मम
मायाभिन्दोऽपि न जिगाय न जितवान् । 'सँलिटोर्जेः । ७ । ३ । ५७ ।'
इति कुत्वम् । किं नृभिः न किंचित्प्रयोजनभित्यर्थः ॥ ४६ ॥

आचिक्याते च भूयोऽपि राघवौ तेन पन्नगैः ।

तौ मुमुहुरुद्धिमौ, वसुधायां च पेततुः ॥ ४७ ॥

आचिक्यात इत्यादि—ततेन्द्रजिता भूयोऽपि राघवावाचिक्याते छन्नौ ।
कर्मणि लिट् । तौ पाशबद्धौ मुमुहुतुः मोहं गतौ । उद्धिमौ समोहितानिष्पत्तेः ।
वसुधायां च पेततुः पतितौ । बन्धपरवशीकृतत्वात् ॥ ४७ ॥

ततो रामेति चक्रन्दुस्त्रेसुः परिदिवेविरे ॥

निश्चशसुश्र सेनान्यः, प्रोचुर्धिगिति चात्मनः ॥ ४८ ॥

तत इत्यादि—ततः पतनादनन्तरं सेनान्यः सुग्रीवाद्यः । 'एरनेका-
चोऽसंयोगपूर्वस्य । ६ । ४ । ८१' इति यथ् । रामेति नामग्राहं चक्रन्दुः रुदि-
तवन्तः त्रेसुः भीताः परिदिवेविरे परिदेवनं कृतवन्तः । 'देवृ देवने' अनुदाचेत् ।
निश्चशसुः कोण्ठं निश्चासानुत्सवजुः; आत्मैनश्च धिगिति प्रोचुः गहितवन्तः ।
'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्याद्विषु त्रिषु' इति धिग्योगाद्वितीया ॥ ४८ ॥

मन्युं शेरुर्न ते रोद्धुं नास्त्रं संरुद्धुः पतत् ।

विविदुनेन्द्रजिन्नार्गं परीयुश्च प्लवङ्गमाः ॥ ४९ ॥

मन्युमित्यादि—मन्युं शोकं रोद्धुं वारितुं न शेकुः न पारितवन्तः । अँसं
च लोचनेभ्यः पतत् न संरुद्धुः न संरुद्धवन्तः, इन्द्रजितो मार्गम्
न विविदुः न ज्ञातवन्तः, कासौ तिष्ठति इति । प्लवङ्गमाश्च परीयुः समन्ताद्वत-
वन्तः । कासावगमदिति ॥ ४९ ॥

दधावाद्विस्ततश्शक्षुः सुग्रीवस्य विभीषणः ।

विदांचकार धौताऽक्षः स रिपुं खे ननर्द च ॥ ५० ॥

दधावेत्यादि—ततोऽनन्तरं विभीषणः सुग्रीवस्य मन्त्रपूताभिराद्विश्कुर्द-
धाव प्रक्षालितवान्, सुग्रीवः धौताक्षः प्रक्षालितचक्षुः । 'बहुत्रीहौ

१ विलापम् । २ ईर्षदुर्धर्णं यथा तथा । ३ स्वस्वदेहान् । ४ अश्रु । ५ वानराः ।
प्लवेनं दृश्या गच्छन्तीति तथोक्तः । 'गमश्च' ३ । २ । ४७ ।' इति खच् । 'कपिभेकोः
प्लवङ्गमीः' 'इत्यमर्द' ।

सकथ्यदणोः स्वाङ्गातष्टच् । ५।४।११३।' इति च । रिपुमिन्द्रजितं स्वेस्तिर्वं
विदांचकार ज्ञातवान् । 'उषविद्जागृभ्योऽन्यतरसाम् । ३। १।२८।' इत्याम् ।
ननर्द च शब्दितवान् । केदानीं यास्यसीति ॥ ५१ ॥

उज्जुगूरे ततः शैलं हनुमिन्द्रजितं कपिः ।

विहाय रावणिस्तस्मादानंहे चाऽन्तिकं पितुः ॥ ५१ ॥

उज्जुगूर इत्यादि—ततोऽनन्तरं कपिः सुश्रीवः इन्द्रजितं हनुं शैलम्-
ज्ञुगूरे उक्षिप्तवान् । 'गूरी हिंसागत्योः' इति दैवादिकोऽनुंदाचेत् ।
तस्य गतौ वर्तमानस्य रूपम् । रावणिरिन्द्रजित् विहाय अर्थाद्युद्धं विहाय
तस्मादाकाशात्पितुरनिकमानंहे गतः । 'अहि गतौ' 'तस्मान्तुह्' द्विलङ्घः
। ७।४।७१।' इति तुइ ॥ ५१ ॥

आच्चक्षे च वृत्तान्तं प्रजहर्षं च रावणः ।

गाढं चोपज्ञुगूहैनं शिरस्युपशिशङ्कं च ॥ ५२ ॥

आच्चक्षे इत्यादि—नागपाशेन राघवौ बद्धावीति वृत्तान्तमाच्चक्षे
आस्थायतवान्, रावणः प्रजहर्षं तुष्टवान्, एनं च रावणं च उपजुगूह
दृढमाश्चिष्ठवान् । अत्र कर्तृगामि क्रियाफलस्याविवक्षितत्वात् तद् न भवति ।
'ऊदुपधाया गोहः । ६।४।८९।' इत्यूत्क्वम् । शिरसि उपशिशङ्कं आग्रातवान् ।
'शिधि आग्राणे' ॥ ५२ ॥

ध्वजानुद्दुधुस्तुङ्गान् मांसं चेमुर्जगुः पुपुः ।

कामयाऽचक्रिरे कान्तास्ततस्तुषा निशाचराः ॥ ५३ ॥

ध्वजानित्यादि—ततो निशाचरा अपि श्रुत्वा तुष्टाः सन्तः ध्वजां-
स्तुङ्गानुद्दुधुः चत्क्षिप्तवन्तः, मांसं चेमुः स्वादितवन्तः, 'चमु छमु
अदने' । जगुर्गांतवन्तः, पुपुः मद्यं पीतवन्तः, कान्ताः कामयाऽचक्रिरे । कसेन-
र्णिङ्गन्ताशाम् ॥ ५३ ॥

दर्शयाऽचक्रिरे रामं सीतां राजश्च शासनात् ।

तस्या मिलीलहुनेत्रे छुल्लठे पुष्पकोदरे ॥ ५४ ॥

दर्शयामित्यादि—तथाभूतं रामं दृष्ट्वा सीता मम विधेया स्यादित्याभिप्राय-
यवतो राज्ञो रावणस्य आज्ञया राक्षसाः अशोकवनिकातः पुष्पकमारुह-
सीतां रामं दर्शयाऽचक्रिरे दर्शितवन्तः । 'अभिवादिदृशोरात्मनेषदं वेति वाच्यम्'

१ अनुकूलेत्यर्थः । 'विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः ।' इत्यमरः ।

इति विकल्पेन द्विकर्मकता । तस्याः सीताया नेत्रे मिमीलतुः मिमीलिते ॥
‘मील निमेषणे ।’ पुष्पकोदरे पुष्पकमध्ये । मूर्छ्या लुलुठे लुठिताः ॥५४॥

प्राणा दध्वंसिरे गात्रं तस्तम्भे च प्रिये हक्ते ।

उच्छ्वास चिराद् दीना रुरोदाऽसौ रास च ॥ ९६ ॥

प्राणा इत्यादि—प्रिये रामे हते प्राणा वायकः दध्वंसिरे धवस्ताः, गात्रं
च तस्तम्भे काष्ठवन् निश्चलमभूत् । ‘शूभि स्कम्भि प्रतिबन्धे ।’ चिरा-
दुच्छ्वास उच्छ्वासितवती, असौ लघ्वसंज्ञा दीना दुःखिता रुरोद् रुदितवती,
रास च वक्ष्यमाणं च विलापे कृतवती ॥५५॥

‘लौहवैर्यवन्धे नु किं वज्रेण वि निर्ममे ।

मनोमेन विना रामाद् यत् पुस्फोट सहस्रधा ॥ ९६ ॥

लौहवैर्यरित्यादि—लौहस्येन लौहाः तैर्बन्धैर्मनो हृदयं मम बबन्धे
ब्रह्म । कर्मणि लिट् । लुशब्दो वितके । उत्तं अश्रेण विनिर्ममे निर्मि-
तम् । ‘माङ् माने’ इत्यस्माल्कर्मणि लिट् द्विर्वचने दूस्वन्वे ‘आतो लोप इर्द्दि
च ॥६॥६४॥’ इत्यालोपे च रूपम् । यदसात् विना रामात् रामेण विना ।
‘पृथग्विनानानाभिस्तृतीश्वाऽन्यतररस्याम् ॥२॥३॥२॥’ इति पञ्चमी । न पुस्फोट
व स्फुटितं सहस्रधा । ‘संख्याया विधार्थे धा । ५॥३॥४॥२॥’ इति धा ॥ ५६॥

उत्तरिथ समुद्रं त्वं मदर्थेऽरीज्ञिहसिथ ।

मर्मर्थ चाऽतिवोरां मां विग् जीवितलघूकृताम् ॥ ९७ ॥

उत्तरिथेत्यादि—मदर्थे मन्त्रिमित्तं समुद्रमुत्तेरिथ उत्तीणोऽसि ‘तृफल-
भजत्रपश्च ॥६॥४॥१२॥’ इति एत्वाभ्यासलोपौ । तथा अरीन् जिहिंसिथ
निहतवानासि । थलि रूपम् । यतो मदर्थे मर्मर्थं मरणावसां गतो-
ऽसि । अतोऽतिवोरामतिरौद्रां मां विक् जीवितलघूकृतां जीवत्या-
जितसंहृत्वात् ॥ ५७ ॥

न जिजीवाऽसुखी तातः प्राणता रहितस्त्वया ।

मृतेऽपि त्वयि जीवन्त्या किं मयाऽणकभार्यया ॥ ९८ ॥

न जिजीवत्यादि—स्वया प्राणता जीवता सता । ‘अन् प्राणने’ । रहितो

^१ इहमपि वितके, ‘आहो उत्ताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च ॥१॥

विमुक्त्वातो दशरथो न जिजीव न जीवितः । त्वयि मृतेऽपि जीवन्त्या
मया न किञ्चित्प्रयोजनम् । अणकभार्यया । ‘पापाणके कुत्सितैः ॥२।१।५४॥’
इति समाप्तः ॥ ५८ ॥

सा जुगुप्सान् प्रचक्रेऽसून् जगहे लक्षणानि च ।

देहभाज्जि ततः केशान् लुलुञ्च लुलुठे मुहुः ॥ ५९ ॥

सा जुगुप्सानित्यादि—सा सीता पूर्वोक्तकारणादेव असून् प्राणान्
जुगुप्सान् प्रचक्रे निन्दितान् कृतवती । जुगुप्स्यन्त इति घञ् । तदन्तस्य
सनि रूपम् । आमि प्रत्यये तु प्रचक्र इत्यनुप्रयोगो न घटते । देहभाज्जि
शरीरस्थानि लक्षणानि । अवैष्वव्यसूचकानि च जगहे गर्हते स ‘गर्ह
गत्वा कुत्सने ।’ मुहुः केशान् लुलुञ्च अपनीतवती, तथा लुलुठे
पतिता ॥ ५९ ॥

जगलौ दध्यौ विवस्तान क्षणं प्राण न विव्यये ।

दैवं निनिन्द चक्रन्द देहे चाऽतीव मन्युना ॥ ६० ॥

जगलावित्यादि—शोकभारात् जगलौ गलानि गता, दध्यौ ध्यातवती, पुनः
किं मया द्रष्टव्योऽसीति । विवस्तान पीडया शब्दं कृतवती । ‘स्तन शब्दे’ ।
न प्राण न मूर्छिता । न जिजीव निःसंज्ञित्वात् । ‘अन प्राणने’ । ‘अत
आदे: ॥७।४।७०॥’ इति दीर्घत्वम् । विव्यये लज्जसंज्ञा पीडिता । ‘व्ययो
लिलिटि ॥७।४।६८॥’ इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । दैवं निनिन्द निन्दितवती ।
दैव ! विरुपमाचरितं त्वयेति । चक्रन्द रुदिता । पुनर्मन्युना अतीव शोकेन्द
म्भेदग्रामा । कर्मणि लिद ॥ ६० ॥

आश्वासयाञ्चकाराय त्रिजटा तां निनाय च ।

ततः प्रजागराञ्चकुर्वन्नराः साविभीषणाः ॥ ६१ ॥

आश्वासयाभित्यादि—अथानन्दरं त्रिजटा रावणभगिनीं तां सीता—
माश्वासयाञ्चकार आश्वासितवती । विष्णुरसौ दादशरथिः कथमस्य विरूपं
भविष्यतीति । निनाय च तस्मात्पुष्पकान्नीतवती, तत उत्तरकालं वानरा विभी-
षणेन सह प्रजागरांचक्रः आलोचनां कृतवन्तः । अत्रानुप्रयोगे नात्मनेपदं
पूर्वस्यानात्मनेपदित्वात् ॥ ६१ ॥

चिचेत रामस्तत् कृच्छ्रमोषाञ्चके शुचाथ सः ।

मन्युश्चाऽस्य समापिष्ये विरुद्धाव च लक्ष्मणम् ॥ ६२ ॥

चिचेतेत्यादि—तत् कृच्छ्रं शैरबन्धुःखं रामश्चिचेत ज्ञातवान् । ‘चिती
संज्ञाने’ इत्युदाचेत् । शुचा शोकेन ओषांचके देहे । कर्मणि लिद् । ‘उषावेद्भू-
जागृभ्योऽन्यतरस्याम् ।३।१३८।’ इत्याम् । स च मन्युः शोकः अस्य रामस्य
समापिष्ये वृद्धिं गतः । ‘ओप्यायी वृद्धो’ । तस्य लिटि ‘व्यायः पी ।६।१२८।’
इति पीभावः । ‘एरनेकाचः ।६।४८।८।’ इति यण् । लक्षणं च विहराव
शब्दितवान् वत्स ! जीवसीति ॥ ६२ ॥

समीहे मर्तुमानचें तेन वाचाऽखिलं बलम् ।

आपपृच्छे च सुग्रीवं स्वं देशं विसर्ज च ॥ ६३ ॥

समीह इत्यादि—मर्तुं प्राणांस्त्वयुक्तं समीहे इच्छाति स्म । तेन रामणाखिलं
स्मभस्तं बलं वाचा आनचें पूजितम् भवद्भिः साध्वनुष्ठितम् अस्मद्ग्राग्यमत्रापरा-
ध्यतीति । कर्मणि लिद् । ‘तस्मान्तुड् द्विहलः ।७।४७।१।’ इति तु तु । सुग्रीवं
चापपृच्छे आपृच्छति स्म । आमन्त्रितवानान्तित्यर्थः । एहि तावद्दर्शनं मे देहि
परिष्वजस्वेति । ‘आङ्गि नुप्रच्छयोरुपसङ्घायानम्’ इति तद् । स्वं च देशं
किञ्जिन्धां विसर्ज प्रहितवान् ॥ ६३ ॥

आदिदेशा स किञ्जिन्धां राघवौ नेतुमङ्गदम् ।

प्रतिज्ञे स्वयं चैव सुग्रीवो रक्षसां वधम् ॥ ६४ ॥

आदिदेशेत्यादि—सुग्रीवो राघवौ किञ्जिन्धां नेतुमङ्गदमादिदेश, स्वयं
च रक्षसां विनाशं प्रतिज्ञे अहमेव व्यापादयामीति । ‘सम्प्रतिभ्या-
ग्रामौध्याने । १।३।४६।’ इति तद् । सकर्मकार्थं वचनम् ॥ ६४ ॥

‘नागास्त्रभिदमेतस्य विपक्षस्ताक्षर्यसंसृतिः ।

विभीषणादिति श्रुत्वा तं निदध्यौ रघूत्तमः ॥ ६५ ॥

नागास्त्रभित्यादि—नागास्त्रभिदं न शराः, एतस्य च विपक्षः शत्रुत्ताक्षर्य-
संसृतिः गरुडसंस्मरणं यत्संस्मरणादेवायश्च शप्नितरिति । एवं विभीषणाच्छ्रुत्वा
रघूत्तमो राघवस्ताक्षर्यं निदध्यौ ध्यातवान् ॥ ६५ ॥

ततो विजघटे शैलैरद्वेलं पुण्डुरेऽम्बुधिः ।

वृक्षेऽयश्चुच्युते पुण्डौरेजुर्भासुरा दिशः ॥ ६६ ॥

तत इत्यादि—ततो ध्यानानन्तरं तदागमनवायुवेगाच्छैलैर्विजयटे विघ-
टितम् । भावे लिह् । अम्बुधिरुद्रेष्ठं वेलामतिक्रम्य पुच्छुवे गतः, वृक्षेभ्यः
सकाशात् पुष्पैश्चयुच्युते च्युतम्, दिशश्च भासुराः सुपर्णपक्षप्रभाभिः प्रभासन-
शीलाः सत्यो विरेजुः शोभन्ते स्त । ‘कणां च सप्तानाम् ।६।४।१२५।’
इत्येत्वपक्षे रूपम् । तत्र वेलनुवर्तते ॥ ६६ ॥

जगाहिरेऽम्बुधिं नागा वबौ वायुर्मनोरमः ।

तेजांसि शंशमाच्चकुः शरवन्वा विशिष्टिषुः ॥ ६७ ॥

जगाहिरे इत्यादि—नागा भयादम्बुधिं जगाहिरे प्रविष्टाः, वायुस्तत्रमवो
वबौ वाति स्त, तेजांसि रक्षादीनां शंशमाच्चकुः अत्यर्थं प्रशान्तानि । शर्मेष्ट-
लुगान्तस्य रूपम् । एवं च कृत्वा अनुप्रयोगे परस्मैपदम् । शरवन्वा विशिष्ट-
शुर्विशिष्टाः । दूरत एव तत्प्रभावात् ॥ ६७ ॥

भ्रेजिरेऽक्षतवद् योधा लेभे संज्ञां च लक्ष्मणः ।

विभीषणोऽपि वश्राजे गरुत्मान् प्राप चान्तिकम् ॥ ६८ ॥

भ्रेजिरे इत्यादि—अक्षतवत् अक्षता इव योधा भ्रेजिरे दीप्यन्ते स्त ।
‘कणां च सप्तानाम् ।६।४।१२५।’ इत्येत्वपक्षे रूपम् । संज्ञां चेतनां लक्ष्मणो
लेभे प्राप्तवान्, विभीषणोऽपि वश्राजे संपत्ता ये मनोरथा इति भेन इत्यर्थः ।
अनेत्वपक्षे रूपम् । अन्तिकं च रामलक्ष्मणयोर्गरुत्मान् प्राप । गरुतः
पंक्षिणस्तेऽनुजिवितयास्य सन्तीति स्तुप् । यवादेराकृतिगणत्वात् ‘श्ययः
।८।२।१०।’ इति वत्वं न भवति ॥ ६८ ॥

संपस्पर्शाऽथ काकुत्स्थौ जडाते तौ गतव्यथौ ।

तयोरात्मानमाचरव्यौ ययौ चाऽथ यथागतम् ॥ ६९ ॥

संपस्पर्शेत्यादि—अनन्तरं गरुत्मान् काकुत्स्थौ राघवौ संपस्पर्शं सृष्टवान्,
तौ च सृष्टौ गतव्यथौ जडाते जातौ, तयोः काकुत्स्थयोरात्मानमाचरव्यौ
गरुत्मानहसिति कथितवान् । ‘वा लिटि ।८।४।५५।’ इति चक्षिडः ख्यात् ।
ययौ चापि यथागतं यथा तेनागतं तथा गतवान् ॥ ६९ ॥

स्वेनुस्तित्विषुरुद्येषुरुच्चरुतुः पर्वतांस्तरुन् ॥

वानरा दद्मुश्चाथ सद्ग्रामं चाशशोसिरे ॥ ७० ॥

स्वेनुरित्यादि—अथानन्तरं वानराः हृष्टाः स्वेनुः शब्दितवन्तः, तितिषुः, शोभिताः, ‘त्रिष दीप्तौ ।’ उद्येमुः उद्योगं चक्रुः, पर्वतानुचरण्युः उत्क्ष-
संवन्तः, दद्रमुः इतस्ततो आन्ताः । ‘द्रम हंम मीमूः गतौ ।’ संप्रामं च आशा-
शासिरे अभीष्टवन्तः । ‘आडः शासु इच्छायाम्’ आदादिकोऽनुदात्तेत् ॥७०॥

हुदौकिरे पुनर्लङ्घां बुबुधे तान् दशाननः ।

जीवतश्च विवेदारीन् वभ्रशेऽसौ धृतेस्ततः ॥ ७१ ॥

हुदौकिरे इत्यादि—पुनर्भूयो लङ्घां हुदौकिरे जग्मुः, तान् वानरान्
द्वौकितान् दशाननो बुबुधे बुद्धवान्, जीवतश्चारीन् रामादीन् विवेद ज्ञात-
वान् । अन्यथां कर्थं वानरा द्वौकिता इति । ततश्च धृतेः सकाशा-
द्वभ्रशे भ्रष्टः ॥ ७१ ।

संसंसे शरवन्धेन दिव्येनेति बुबुन्द सः ।

वभाजाऽथ परं मोहमूहाऽचक्रे जयं न च ॥ ७२ ॥

संसंसे इत्यादि—दिव्येन शरवन्धेन संसंसे स्तम् । भावे लिद् ।
इत्येवं दशाननो बुबुन्द श्रुतवान् । ‘बुदि निशामने ।’ अथानन्तरं महा-
मोहं मूर्छाकारं महान्तमोधम् वभाज सेवते स्त । न च जयमूहां-
चक्रे वितर्कितवान् ॥ ७२ ॥

धूम्राक्षोऽथ प्रतिष्ठासाच्चक्रे रावणसम्मतः ।

सिंहास्थैर्युयुजे तस्य वृकास्थैश्च रथः खगैः ॥ ७३ ॥

धूम्राक्ष इत्यादि—अथ धूम्राक्षो रावणसंमतो रावणेनानुज्ञातः सन् ।
भूते निष्ठात्र द्रष्टव्या । प्रतिष्ठासांचक्रे गन्तुमिच्छां कृतवान् । प्रपूर्वात्तिष्ठते:
‘समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।’ इति तद् । ‘उपसर्गा-
त्सुनेतिसुवतिस्यतिस्तैतिस्तोभतिस्थासेनयसेधासिच्चसञ्चञ्चाम् । ८।३।६५।’
इति पत्वम् । तस्य च गन्तुमिच्छतो रथः खगैः आकाशगामिभिर्यानैः सिंहसुवै-
वृक्षमुखैश्च युयुजे युक्तः । कर्मणि लिद् ॥ ७३ ॥

त्वक्कैः संविव्ययुदेहान् वाहनान्यविदिशियरे ।

आनर्जुन्मुजोऽखाणि ववज्ञुश्चाहवक्षितिम् ॥ ७४ ॥

त्वक्नैरित्यादि—धूम्राक्षसम्बन्धिनो नृमुजो राक्षसाः त्वक्कैः सत्राहैः ।
त्वचं त्रायन्त इति देहान् संविव्ययुः छप्तिवन्तः । ‘व्येच् संवरणे’

१ अर्मैवेनेत्यर्थः । २ नृत्र सुभव इति अत्र किप् ।

इत्यस्य । 'न व्यो लिटि । ६।१।४६' इत्यात्वप्रतिवेदः । 'लिङ्गम्भ्यासं-
स्योभयेषाम् । ६।१।१७' इति सम्प्रसारणम् । वाहनान्विशिशियरे-
आरुद्वन्तः । 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्या । ६।४।८२' इति यण् । 'अविशीड्नस्यासां'
कर्म । १।४।४६' इति कर्मसंज्ञा । अक्षाण्यान्तर्जुः गृहीतवन्तः । 'अर्ज
प्रतियते ।' 'अत आदेः । ७।४।७०' इति दीर्घः । 'तस्मान्तुङ् द्विहलः
। ७।४।७१' इति तु द्वारा 'आनन्दः' इति पाठान्तरम् । पूजितवन्तः । आहवक्षितिं च
रणभूमिं ववच्छुर्गताः । 'वच्छु गतौ' ॥ ७४ ॥

अध्युवास रथं तेये पुराच्छुक्षाव चाशुभम् ।

संश्रावयाच्चकाराख्यां धूम्राक्षस्तत्वरे तथा ॥ ७५ ॥

अध्युवासेत्यादि—धूम्राक्षो रथमध्युवास आरुङ्गः । 'उपान्व-
ध्याङ्गवसः । १।४।४८' इति कर्मसंज्ञा । पुरात् लङ्घातः तेये निष्कान्तः ।
'अय पय तय' इत्यादिषु तयिरनुदाचेत् । चुक्षाव च शब्दं कृतवान्,
अशुभं भयानकम् । 'क्षु शब्दे ।' आख्याम् आत्मीयं नाम संश्रावयाच्चकार
आवितवान्, तथा तत्त्वरे त्वरते स्म युद्धाय ॥ ७५ ॥

निलिल्ये मूर्ध्नि गृहोऽस्य कूरा ध्वाङ्गा ववाशिरे ।

शिशीके शोणितं व्योम चचाल क्षमातलं तथा ॥ ७६ ॥

निलिल्य इत्यादि—अस्य धूम्राक्षस्य गच्छतो मूर्ध्नि गृहो निलिल्ये
निलीनः । 'एरनेकाचोऽसंयोग पूर्वस्य । ६।४।८३' इति यण् । ध्वाङ्गाः कूराः
अशुभशंसिनः ववाशिरे वाशन्ते स्म । व्योम कर्तुं शोणितं शिशीके क्षस्ति-
तवत् । 'शीकृ सेचने' इत्यनुदाचेत् । तथा क्षमातलं पृथ्वीतलं चचाल
चलितम् ॥ ७६ ॥

ततः प्रजघटे युद्धं शक्षाण्यासुः परस्परम् ।

वव्रच्छुराजुर्घूर्णश्च स्येमुश्चुकूर्दिरे तथा ॥ ७७ ॥

तत इत्यादि—ततो निमित्तादनन्तरं युद्धं प्रजघटे घटितम्, ते हरिरान्
क्षसाः वक्ष्यमाणाः शक्षाण्यासुः क्षिप्रवन्तः, परस्परं वव्रश्चुः छिन्नवन्तः,
आजुघूर्णः चक्रवद्व्रान्ताः । घूर्णतिरनुदाचेत् । स्येमुः शब्दं कृतवन्तः ।
स्यमैः कणादित्वादेत्वम् । चुकूर्दिरे क्रौंडितवन्तः ॥ ७७ ॥

रुरुजुञ्जेनिरे फेणुर्बहुवा हरिराक्षसाः ।

वीरा न विभयाच्छुभंषयाच्चकिरे परान् ॥ ७८ ॥

रुहजुस्त्यादि—रुहंजुर्भेमवन्तः, श्रेजिरे शोभिताः, बहुधा बहुप्रकारं
क्षणुर्गताः ‘फण गतौ ।’ वीरा: सात्त्विका न विभयाच्चकुः न विभयति स्म
‘भीहोमृद्गुवां श्लुवच्च ।३।१।३१।’ इत्याम् । विभेतेः परस्मैपदित्वात् अनुप्रयोगे
वरस्मैपदम् । परान् शत्रून् शौर्यगुणयुक्ताः प्रयोजकाः भीषयांचकिरे
शीषयन्ते स्म । अत्र ‘भीस्म्योहेतुभये ।१।३।६८।’ इति तड़ अनुप्र-
योगेऽपि ॥ ७८ ॥

रक्तं प्रचुश्चुतुः क्षुण्णाः शिश्चियुर्बाणविक्षताः ।

अस्यतां शुशुबुर्बाणान्मुजाः साऽङ्गुष्ठमुष्ट्यः ॥ ७९ ॥

रक्तमित्यादि—केचित् क्षुण्णाः खण्डिताः सन्तो रक्तं प्रचुश्चुतुः प्रक्ष-
रिताः, केचित् शिश्चियुः । ‘विभाषा श्वेः । ६।१।३०।’ इत्यसम्प्रसार-
णपक्षे रूपम् । वाणानस्यतां श्लिष्यतां योधानां मुजाः साङ्गुष्ठमुष्ट्यः ‘अङ्गुष्ठ-
मुष्टिसहिताः शरविक्षताः शरंभेन्नाः शुशुबुः गताः । गत्यर्थे द्रष्टव्यम् । सम्प्र-
सारणपक्षे रूपम् ॥ ७९ ॥

रणे चिक्रीड धूम्राक्षस्तं ततर्जनिलात्मजः ।

आददे च शिळां साऽश्वं पिपेषास्य रथं तया ॥ ८० ॥

रण इत्यादि—धूम्राक्षो रणे चिक्रीड क्रीडति स्म, तमनिलात्मजो हनू-
मन् ततर्ज भर्त्सितवान्, शिलामाददे च गृहीतवान्, तया शिलया
अस्य धूम्राक्षस्य साश्वं रथं पिपेष चूर्णितवान् ॥ ८० ॥

पपात राक्षसो भूमौ राट च भयङ्गरम् ।

तुतोद गदया चारिं तं दुश्रावाद्रिणा कपिः ॥ ८१ ॥

पपात्वेत्यादि—राक्षसो धूम्राक्षो भूमौ पपात, पतितः सन् भयंकरं
र्कराट द्रितवान्, ततोऽर्दं हनूमन्तं गदया तुतोद आहतवान्, तं राक्षसं
न्दकपिः अद्रिणा दुश्राव व्यापादितवान् ॥ ८१ ॥

अकम्पनस्ततो योद्धुं चकमे रावणाज्ञया ।

स रथेनाभिदुद्राव जुघुरे चाऽतिभैरवम् ॥ ८२ ॥

अकम्पन इत्यादि—ततो धूम्राक्षविनाशानन्तरम् अकम्पतो राक्षसः
रावणाज्ञया युद्धस्वेति योद्धुं चकमे इष्टवान् । ‘आयादय आर्धधातुके
चा ।३।१।३१।’ इति णिर्भावपक्षे रूपम् । सोऽरूप्यनः रथेनाभि-

हुदाव अभिमुखं गतः, जुधुरे च कृष्टं कृतवान्, अतिभैरवम् अतिभयान-
कम् । 'धुर भीमार्थेशब्दयोः' इत्यनुदात्तेन ॥ ८२ ॥

पस्पन्दे तस्य वामाक्षि सस्यमुश्चाशिवाः खगाः ।

तान्वंत्राजावमत्यासौ बभासे च रणे इरैः ॥ ८३ ॥

पस्पन्द इत्यादि—तस्याकस्पन्दनस्यानिमित्तत्वसूचकं वामाक्षि पस्पन्दे स्पन्दिन-
म्, अशिवाश्च अशिवसूचकाः खगाः, सस्य मुः शब्दं कृतवन्तः । अने-
त्वपक्षे रूपम् । तान् खगान् अवमत्यावज्ञायासौ वत्रार्ज गतः, रणे
शैश्व बभासे शोभितम् ॥ ८३ ॥

खमूयुर्वसुधामूरुः सायका रज्जुवत्ताः ।

तस्माद्वैरपत्रे पुमोथास्मै न कश्चन ॥ ८४ ॥

खमित्यादि—तेन सायका रज्जुवत्ताः विस्तृताः सन्तः खमाकाश-
मूयुरावृतवन्तः । वसुधां च उत्तुर्णादितवन्तः । 'वेऽतन्तुसन्ताने' तस्य
लिटि वयिरादेशः । 'वश्वास्यान्यतरस्यां किति । ६।१।३१।' इति यकारस्य वका-
रादेशः । तस्मादिति तमकम्पनं वीक्ष्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । त्रेपे लज्जितम् ।
भावे लिद् । 'तृफलभजत्रपश्च । ६।४।१२२।' इति एत्वाभ्यासलोपौ । अस्मै
अकम्पनाय न कश्चित् पुमोथ न प्रभवति स्म । 'प्रोथृ पर्यामौ' इति स्वारेति ।
अत्र कर्तुः क्रियाफलायोगान्नात्मनेपदम् । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च
। २।३।१६।' इत्यत्र अलंशब्दस्य पर्याप्त्यर्थस्य प्रहणात् तदर्थयोगे चतुर्था ॥ ८४ ॥

स भस्मसाच्चकारारीन्दुदाव च कृतान्तवत् ।

तुक्रोध मारुतिस्तालमुच्चरन्ते च महाशिखम् ॥ ८५ ॥

स भस्मसादित्यादि—सोऽकम्पनः अरीन् भस्मसाच्चकार कात्स्नर्येन भस्म-
भूताश्च कृतवान् । कृतान्तवत् यम इव हुदाव सुष्ठुःपीडितवान् । 'दुदु उपतापे'
तं हृष्टा मारुतिश्चतुक्रोध कुद्धः । तालं च वृक्षं महाशिखमत्युच्छायम् उच्चरन्ते
उत्त्वातवान् । अत्र कर्तुः क्रियाफलयोगात् तद्ध ॥ ८५ ॥

यमायाकम्पनं तेन निरुवाप महापशुम् ।

ब्रह्मज्ञ निहते तस्मिन्दशोको रावणमग्निवत् ॥ ८६ ॥

यमायेत्यादि—तेन तालेन स चाकम्पनं महापशुमिव यमाय निरुवाप इत्य-

१ पक्षिणः काकगृह्णादयः । 'शिवा' इति पाठान्तरे शृगाला इत्यर्थः । २ 'कृतान्तो
चमुनश्चाता' इत्यमरः । 'तेन तु लूपं क्रिया चेद्वितिः ५।१।११५।' इति वतिः ।

एतेनास्य दानेन यमदेवताकथागनिष्ठिः सुचिता ।

वान् । निष्पूर्वों वपिर्दाने वर्तते । तत्र धातोर्यजादित्वात् सम्प्रसारणं न भवति अकिञ्चित् । अभ्यासस्य लिटि भवत्येव । तस्मिन्निहते शोकोऽभिरिव रावणं बन्धज्ञ दग्धवान् ॥ ८६ ॥

स विभ्रेष प्रचुक्षोद दन्तैरोष्ठं चखाद च ।

प्रगोपायांचकाराणु यत्नेन परितः पुरम् ॥ ८७ ॥

स विभ्रेषेषादि—स राजा विभ्रेष चलितः । ‘भ्रेष चलने’ स्वरितेत् । प्रचुक्षोद क्रोधाळोष्ठादीन् चूर्णितवान् । ओष्ठं च दन्तैश्चखाद दग्धवान् । पुरं लङ्घां समन्तात् यत्नेन प्रगोपायांचकार रक्षितवान् । ‘गुपू रक्षणे’ इत्युदाचेत् । आयप्रत्ययान्तत्वादाम् ॥ ८७ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

प्रहस्तमर्थयाच्चक्रे योद्धुमद्धुतविक्रमम् ।

किं विचरेण राजेन्द्र ! युद्धार्था वयमित्यसौ ॥ ८८ ॥

प्रहस्तमित्यादि—अद्धुतविक्रमं प्रहस्तं रावणो योद्धुं ‘युद्धयस्व’ इत्यर्थांचक्रे प्रार्थितवान् । ‘अर्थ उपयाच्चायाम्’ इति चौरादिक आत्मनेनपदी । वचनात् असौ प्रहस्तः प्रार्थितश्चकाणं बभाणोति’ वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । हे राजेन्द्र ! युद्धार्था वयं युद्धप्रयोजनाः ततश्च किं विचरेणोति ॥ ८८ ॥

चक्राणेऽशङ्कितो योद्धुमुत्सेहे च महारथः ।

निर्येमिरेऽस्य योद्धारश्चकल्पे चाऽशकुञ्जरम् ॥ ८९ ॥

चक्राणेत्यादि—उक्तवा च स महारथो योद्धा अशङ्कितो निर्भयः सन् योद्धुमुत्सेहे उत्साहं कृतवान् । अस्य योद्धारो रावणेन निर्येमिरे नियमिताः । अनेन सह एतावद्दियोऽद्व्यामीति । कर्मणि लिद् । अशकुञ्जरं चक्कल्पे सज्जी-कृतम् । पशुद्वन्द्वैकवद्धावः । ‘कृपो रो लः । ८१३१८१’ ॥ ८९ ॥

युयुजुः स्यन्दनानश्वैरीजुदेवान् पुरोहिताः ।

आनचुर्वाहिणान्- सम्यगाशिषश्चाशर्जसिरे ॥ ९० ॥

१ ‘अशान् कुञ्जरांश्चेत्यर्थः । अशाश्च कुञ्जराश्चेत्येषां समाहार इति तद् । ‘विस्तुतं वृक्षमूरगतुवान्यव्यञ्जनपशुशकुञ्यश्चवडवपूर्वपरावरोत्तराणाम् २ । ४ । १२३’ इति समाहारः ।

युयुजुरित्यादि—स्यन्दनान् रथान् अश्वेयुयुजुः युञ्जन्ति स्म । पुरो-
हिताः देवानांजुः पूजितवन्तः । यजादित्वात्सप्त्रसारणम् । ब्राह्मणानानचुः
पूजितवन्तः । ते च पूजिताः आशिषः आशशंसिरे उदितवन्तः ।
‘आङ्गः शासु इच्छायाम्’ अनुदातेत् । शास इत्वे आङ् ‘आशासः क्वाप-
घाया इत्वं वाच्यम्’ इतीत्वे आशीः ॥ १० ॥

ऊहिर मूर्त्ति सिद्धार्था गावश्चालेभिरे भट्टैः ।

प्रचुक्षणुभुमहाखापि जिज्ञासाच्चक्रिरे हयान् ॥ ११ ॥

ऊहिर इत्यादि—भट्टैयोधैः सिद्धार्थाः सर्षपाः मूर्त्ति ऊहिरे ऊढाः । गाव-
श्चालेभिरे स्पृष्टाः । कर्मणि लिद् । महाखापि प्रचुक्षणुः तेजितवन्तः । तथा
तैर्योद्धुं पार्यत इति । ‘क्षणु तेजने’ भट्टाः हयान् जिज्ञासांचक्रिरे ज्ञातुमिच्छां
कृतवन्तः किमेते योद्धुं क्षमा नेति । ‘ज्ञाश्रुस्मृहशां सनः । ११।५७।’ इत्यात्मने-
पदित्वाद्दुश्रयोगेऽपि तद् ॥ ११ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मम् ।

ललुः खङ्गान् ममार्जुश्च ममृजुश्च परश्वधान् ।

अलञ्चक्रे समालेभे ववसे बुभुजे पपे ॥ १२ ॥

ललुरित्यादि—खङ्गान् ललुर्हीतवन्तः । ‘ला आदाने’ ममार्जुश्च
विशुद्धान् कृतवन्तः तथा परश्वधान ममृजुः परश्वन् शोधितवन्तः । मृजेरजाहौ
संक्रमे विभाषा वृद्धिः । योद्धृभिर्वद्यमाणैः अलंचक्रे अलंकृतम् । समालेभे
समालब्धम् । ववसे आच्छादितम् । ‘वस आच्छादने’ बुभुजे भुक्तम् । पपे
पीतम् । भावे लिद् ॥ १२ ॥

जहसे च क्षणं यानैर्निर्जग्मे योद्धुभिस्ततःः ।

विप्रान् प्रहस्त आनर्च जुहाव च विभावसुम् ॥ १३ ॥

जहस इत्यादि—क्षणं जहसे हसितम् । यानैः करणभूतैः निर्जग्मे निर्ग-
तम् । ततः प्रहस्तः विप्रान् गोसुवर्णादिदानेन आनर्च पूजितवान् । विभावसु-
चाप्रिम् आज्यादिना जुहाव प्रीणितवान् ॥ १३ ॥

संवर्गयांचकाराऽमान् चन्दनेन लिलेप च ।

चचाम मधु माद्विकं त्वक्क्रं चाचकचे वरम् ॥ १४ ॥

संवर्गयामित्यादि—आप्नान् विश्वासिनः संवर्गयांचकार कटकादिग्र-
दानेन संवर्गितवान् । संवर्गं करोतीति प्यन्तस्य रूपम् । चन्दनेन

: लिलेप समालब्धवान् । मृद्गीका द्राक्षा तस्याः विकारः मार्द्वकं मधु
चचाम । त्वक्त्रं च सन्नहनं वरं श्रेष्ठं आचकचे बद्धवान् । ‘कच्च
बन्धने’ इत्यनुदात्तेत् ॥ ९४ ॥

उष्णीषं सुमुचे चारु रथं च जुजुषे शुभम् ।
आललम्बे महाक्षाणि गन्तु प्रवृत्ते ततः ॥ ९५ ॥

उष्णीषमित्यादि—उष्णीषं शिरक्षाणि सुमुचे । रथं च जुजुषे । जुषिरनु-
दात्तेत् । महाक्षाणि आललम्बे गृहीतवान् । ‘लबि अवसंसने’ इत्यनुदात्तेत् ।
कत उत्तरकालं गन्तु प्रवृत्ते प्रवृत्तः ॥ ९५ ॥

आजघ्नुस्तूर्यजातानि तुष्टुश्चानुजीविनः ।

रजः प्रवृद्धे घोरं घोषश्च व्यानश्च दिशः ॥ ९६ ॥

आजघ्नुस्तूर्यत्वादि—तूर्यजातानि वायसमूहान् आजघ्नुः ताडितवन्तः ।
तन्नियुक्ता इत्यर्थात् । ‘आङ्गो यमहनः । १ । ३ । २८ ।’ इति तङ्क न
भवति सकर्मकत्वात् । अनुजीविनश्च तुष्टुः । ‘जय, जीव’ इति स्तुवन्ति
स्म । पदक्षेभाद् घोरं रजः प्रवृद्धे वर्धते स्म । घोषश्च कलकलशब्दः दिशो
व्यानश्च व्याप्तवान् ॥ ९६ ॥

तं यान्तं दुदुवुर्गृद्राः क्रव्यादश्च सिषेविरे ।

आववुर्वायिवो घोराः, खादुल्काश्च प्रचक्षरः ॥ ९७ ॥

तं यान्तमित्यादि—तं प्रहस्तं गृद्राः यान्तम् अगुभसूचकाः दुदुवुर्गतवन्तः,
प्रव्यादश्च शृगालाः सिषेविरे सेवितवन्तः, वायवो घोराः पांगुग्राहिणः आ-
त्मिः समन्ताद्वान्ति स्म, उल्काश्च तदा तस्मिन् कोले आकाशात्प्रचक्षरः
तिताः । ‘क्षर संचलने’ इत्यकमकः ॥ ९७ ॥

सस्यन्दे शोणितं व्योम रणाङ्गानि प्रजज्वलुः ।

स्थाः प्रचस्वलुः साश्वा न रंहाश्वकुञ्जरम् ॥ ९८ ॥

सस्यन्दे इत्यादि—व्योम कर्तुं शोणितं सस्यन्दे सिष्वति स्म । स्यान्दिः
सकर्मकः । रणाङ्गानि खङ्गादीनि जज्वलुः ज्वलन्ति स्म । साश्वाः सहायैः
थाः प्रचस्वलुः स्वलन्ति स्म । अश्वकुञ्जरं न रंह न गतम् हया गजाश्च
नगन्तुं प्राभवश्चित्यर्थः ॥ ९८ ॥

१. ‘अर्जु व्यासो संवादे च’ इत्यनुदात्तेत् । लिट ।

प्रतोदा जगलुवाममानञ्चुर्यज्ञिया मृगाः ।

ददाल भूः पुपूरे द्यौः कपीनामपि निःस्वनैः ॥ ९९ ॥

प्रतोदा इत्यादि—प्रतोदः: जगलुः हस्तेभ्यो गलिताः । ‘गल अदने’ अनेकार्थत्वात्पतनेऽपि । मृगाः यज्ञियाः यज्ञार्हाः कृष्णसाराः । ‘यज्ञर्त्तिरभ्यां धख्यां १५।१।७१।’ वाममङ्गमानञ्चुः गतवन्तः । ‘अत आदेः १७।१।७०।’ इति दीर्घे । ‘तस्मान्नुइ द्विहलः १७।४।७१।’ इति नुट् । भूर्ददाल विदीर्णा । जज्वालेति पाठान्तरं चचालेत्यर्थः । कपिनिःस्वनैद्यौराकाशं पुपूरे पूर्णम् । दिवः पूरणनिमित्तं यतः कपयो हर्षत्तद्विनाशसुचका एवमाचरन्ते ॥ ९९ ॥

मिमेह रक्तं हस्त्यश्वं राक्षसाश्च नितिष्ठिवुः ।

ततः शुशुभतुः सेने निर्दयं च प्रजहतुः ॥ १०० ॥

मिमेहेत्यादि—हस्त्यश्वं कर्तुं रक्तं मिमेह मूत्रितवदित्यर्थः । ‘मिह सेचने’ । राक्षसाश्च स्वरक्तं नितिष्ठिवुः निरस्तवन्तः । ततो दुर्निमित्ताद्वनन्तरं ते सेने सन्नद्धे शुशुभतुः शोभितवत्यौ । निर्दयं प्रजहतुः प्रहतवत्यौ ॥ १०० ॥

दिदिषुद्युधुश्चुश्छुश्छुमुः सुषुर्पहताः ।

चखादिरे चखादुश्च विलेपुश्च रणे भटाः ॥ १०१ ॥

दिदिषुरेत्यादि—रणे भटाः दिदिषुः परस्परं द्विष्टवन्तः । ‘द्विष अप्रीतौ’ । दुद्युवुः अभिमुखं गतवन्तः । ‘वु अभिगमने’ । चच्छुः छिन्नवन्तः । ‘छो छेदने’ । हताश्चछुमुः मूच्छां गतवन्तः । सुषुपुः भूमौ पतिताः । वच्यादिना सम्प्रसारणम् । चखादिरे खादिताः । कर्मणि लिद् । चखादुः खादितवन्तः । विलेपुश्च विलापं कृतवन्तः । ‘अत एकहल्यमध्येऽनादेशादेल्लिटि ६।४।१२।७।’ इत्येत्वम् ॥ १०१ ॥

प्रहस्तस्य पुरोऽमात्यान् जिर्हिसुर्दध्युस्तथा ।

वानराः कर्म सेनानी रक्षसां चक्षमे न तत् ॥ १०२ ॥

प्रहस्तस्येत्यादि—अमात्यान् सचिवान् प्रहस्तस्य पुरोऽग्रतः वानरा जिर्हिसुर्हतवन्तः । तथा दध्युः परिभूतवन्तः । ‘विधृषा प्रागल्लये’ । तच्च कर्म वानरैर्यत्कृतं रक्षसां सेनानीः प्रहस्तः न चक्षमे स्म ॥ १०२ ॥

१ हतिनश्चाश्रोति यथोक्तम् । ‘हन्दश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानम् ३ । ४ । २। हृत्येकवचनम् ।

ऊर्णुनाव स शब्दौवैर्वानराणामनीकिनीम् ।

शशास च बहून् योधान् जीवितेन विवेच च ॥ १०३ ॥

• ऊर्णुनावेत्यादि—स सेनानीर्वानराणामनीकिनीः सेनाः शब्दौर्णुनाव छादितवान् । ऊर्णोत्तेर्णवद्वावादिजादेरित्याम् न भवति । शशास च योधान् । ‘शसु हिसायाम् ।’ जीवितेन च विवेच पृथक्कृतवान् । ‘विचिर् पृथग्भावे! इति हयादौ स्वरितेत् ॥ १०३ ॥

आससञ्ज भर्य तेषां दिव्युते च यथा रविः ।

नाययास द्विषद्देहैर्जगाहे च दिशो दश ॥ १०४ ॥

आससञ्जेत्यादि—तेषां योधानां युयुत्सूनां भयमाससञ्ज आलभम् । ‘षञ्ज सङ्गे’ इत्यकर्मकः । प्रहस्तश्च रविरिव दिव्युते द्योतते सम । ‘युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् । ७।४।६७।’ इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । नाययास युध्यमानो नायस्यति सम । ‘यसु प्रथले ।’ द्विषद्देहैश्च शत्रुकायैः करणभूतैः दश दिशो जगाहे अवष्टव्यवान् ॥ १०४ ॥

केचित् संचुकुटुर्भीता लेजिरेऽन्ये पराजिताः ।

संग्रामाद् ब्रह्मुः केचिद् ययाचुश्चापरेऽभयम् ॥ १०५ ॥

केचिदित्यादि—केचिद्दीताः सन्तः संचुकुटुः संकुटिताः । निष्प्रयत्नाः स्थिता इत्यर्थः । ‘कुट कौटिल्ये’ अन्ये पराजिताः सन्तः लेजिरे भर्त्सताः । प्रहस्तन मृगा इव कातरा यूद्यमिति । ‘लज-लाजि भर्त्सने ।’ कर्मणि लिट् । केचित् संग्रामाद् ब्रह्मुः पलायिताः ‘भृशु भ्रंशु अधःपतने ।’ अपरे चाभयं ययाचुः याचितवन्तः ॥ १०५ ॥

एवं विजिग्ये तां सेनां प्रहस्तोऽतिदर्दर्प च ।

शशाम न च संकुद्धो निर्जुगोप निशाचरान् ॥ १०६ ॥

एवमित्यादि—एवमुक्तेन प्रकारेण प्रहस्तस्तां सेनां विजिग्ये जितवान् । ‘विपराभ्यां जे: । १।३।१९।’ इति तद् । ‘सँलिटोजेः । ७।३।५।७।’ इति कुत्वम् । अतिदर्दर्प च सुष्ठुं हष्टवान् । ‘हृष्विमोचनयोः’ । न च शशाम न च शर्म गतः । निशाचरान् स्वीयानमात्यान् निर्जुगोपः रक्षितवान् । आयाभावपक्षे रूपम् ॥ १०६ ॥

१ ‘पृत्तनानीकिनी चमूः ।’ इत्यमरः ।

चुक्रुये तत्र नीलेन तरुश्चोच्चिक्षिपे महान् ।

प्रहस्तोऽभिहतस्वेन बाणान् विसस्तुजे वहन् ॥ १०७ ॥

चुक्रुय इत्यादि—तत्र तस्मिन् संग्रामे नीलन चुक्रुये कुद्धम् । भावे लिद् । तरुश्चोच्चिक्षिपे । उत्क्षसः । कर्मणि लिट् । तेन तरुणा उन्मूलितेनाभिहतः सन् प्रहस्तो वहन्वाणान् विसस्तुजे क्षिपवान् । ‘सृज विसर्गे’ इति दैवादिको-उदाचेत् ॥ १०७ ॥

सह कपी रथाश्वांश्च रिपोस्तर्ह शाखिना ।

घरित्र्णा मुसली तेये प्रहस्तश्रिविदे न च ॥ १०८ ॥

सह इत्यादि—कर्मिनालो बाणान् सेहे सोढवान् । रथानश्वांश्च रिपोः प्रह-स्तस्य शाखिना तरुणा तर्ह हतवान् । ‘तृह द्विसि हिंसायाम् ।’ हतरथाश्वश्च प्रहस्तो मुसली गृहीतमुसलः घरित्र्णा तेये गतवान् । ‘अय वय—’ इत्यत्र तयिर-उदाचेत् । न च चिखिदे न चिक्रः । ‘खिद दैन्ये’ इत्युदाचेत् ॥ १०८ ॥

संदुधुक्षे तयोः कोपः परफाये शक्षलाघवम् ।

तुनोद शाखन नील आवव्रे मुसली तरुम् ॥ १०९ ॥

सन्दुधुक्ष इत्यादि—तयोर्नीलप्रहस्तयोः कोपः संदुधुक्षे वृद्धिं गतः । शश-लाघवमखकौशलं पस्फाये वृद्धें गतम् । तुनोद शाखिन नीलः प्रेस्तिवान् । मुसली प्रहस्तः तहमावव्रे मुसलेनावृतवान् ॥ १०९ ॥

वियत्यानब्रुर्भूमौ मण्डलानि विचेरतुः ।

प्रदुदुवतुरन्योन्यं वीरौ शश्रमतुर्न च ॥ ११० ॥

वयतीत्यादि—वीरौ ता वियति आकाशे आनब्रुः गतौ । ‘अब्र वब्र’ इति गत्यर्थः । वियतोऽधिकरणस्वेन विवक्षितत्वात् द्वितीया न कृता । भूमौ च मण्डलानि तिर्यग्ब्रहणानि विचेरतुः आचरितवन्तौ । अन्योन्यं प्रदुदुवतुः उपतांपितवन्तौ । न च शश्रमतुः न श्रान्तौ ॥ ११० ॥

समीरयाश्वकाराथ राक्षसस्य कपिः शिलाम् ।

क्षतस्तया ममारासावाशिश्राय च भूतलम् ॥ १११ ॥

समीरयामित्यादि—अर्योनन्वरं कपिः राक्षसस्य शिलां समीरयांचकार क्षिपन् वान् । ‘ईर क्षेपे’ इति चौरादिक उदाचेत् । असौ राक्षसस्तया शिलया हतः सन् ममार भूतवान् । भूतलं च आशिश्राय आश्रितवान् । तत्र परित इत्यर्थः ॥ १११ ॥

१ ‘वियद्विष्णुपदे वा तु उंस्याकशविहायसी ।’ इत्यमरः ।

तुतुषुर्वानराः सर्वे नेशुश्चित्रा निशाचराः ।

जेरुराशा दशास्यस्य सैन्यं नीलं तुनाव च ॥ ११२ ॥

तुतुषुरित्यादि—वानराः सर्वे तुतुषुः तुष्टाः । निशाचरा नेशुः पलायिताः । विचित्राः नानाप्रकाराः दशास्यस्य आशा मनोरथा जेरुः जीर्णाः । वा जृग्नुमुत्रसाम् । ६ । ४ । १२४ ।' इत्येत्वम् । सैन्यं च कर्तुं नीलं तुनाव स्तौति स्म ॥ ११२ ॥

यदा न फेलुः क्षणदाचराणां मनोरथा रामबलाभियोगे ।

लङ्घां तदा भेजुरुदीर्णदैन्या व्याचर्व्युरुचैश्च हतं प्रहस्तम् ॥ ११३ ॥

यदेत्यादि—क्षणदाचराणां रामबलाभियोगे मनोरथा वाञ्छितानि यदा न फेलुः न फलिताः, प्रहस्तस्य व्यापादितत्वात् । तदा लङ्घां भेजुः षेवितवन्तः । उदीर्णदैन्याः उदीर्णं महदैन्यं दीनभावो येषामिति । प्रहस्तं च हतं सृतमुच्चैराचल्युः आख्यातवन्तः । रावणायेत्यर्थात् ॥ ११३ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽख्यया व्याख्यया

समलक्ष्मते श्रीभट्टिप्रीते रामचरिते काव्ये चतुर्थे तिङ्गन्त-

काण्डे लक्षणरूपे प्रथमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे

कथानके 'शरबन्धो' नाम चर्तुदशः सर्गाश्च ।

पञ्चदशः सर्गः—

१ः प्रधृतिं लुडमधिकृत्यै तद्विलसितमाह । तत्र भूतसामान्ये छुड़ ।
घतोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

राक्षसेन्द्रस्ततोऽभेषीदैक्षिष्ठ परितः पुरम् ।

प्रातिष्ठिपच्च बोधार्थं कुम्भकर्णस्य राक्षसान् ॥ १ ॥

राक्षसेत्यादि—ततः प्रहस्तवधश्रवणानन्तरं 'ईद्वशोऽपि व्यापादितः' इति अभैषत् । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१।' इति वृद्धिं परितः समन्तात् पुरं लङ्घामैक्षिष्ठ दृष्टवान् । 'किमत्र शक्यते स्थातुं न वा' इति । कुम्भकर्णस्य सुसस्य बोधार्थं राक्षसान् प्रातिष्ठिपत् प्रस्थापितवान् । तिष्ठतेश्चङ्गपे णावुपधाहस्तस्यापवादः । 'तिष्ठतेरित् । ७।४।५।' इतीत्वम् । द्विवेचनमभ्यास-कार्यम् । वत्वं ष्टुत्वं च ॥ १ ॥

१ प्रवृद्धमित्यर्थः । २ अत्रोपजातिङ्गन्दः । ३ इदमारभ्येत्यर्थकमध्ययम् ।

तेऽभ्यगुर्भवनं तस्य सुप्तं चैक्षिषताथ तम् ।

व्याहार्षु सुमुलाऽशब्दान्दणैश्चावधिषुर्दुतम् ॥ २ ॥

तेऽभ्यगुरित्यादि—ते राक्षसास्तस्य कुम्भकर्णस्य भवनं गृहम् अभ्यगुर्भवनः । ‘इणो गा लुडि । २।४।४५’ इति लुडि गादेशः । ‘गातिशासुपाभूम्यः सिचः परस्मैपदेषु । २।४।७७’ इति सिचो लुक् । ‘दस्यपदान्तात् । ६॥१९६’ इति पररूपत्वम् । ते च सुमैक्षिषत हष्टवन्तः । अथानन्तरं प्रबोधार्थं तु मुलान्महतो ध्वनीन् व्याहार्षुः व्याहृतवन्तः । दणैश्च दुर्वं शीघ्रमवधिषुर्आहतवन्तः ॥ २ ॥

केशानलुञ्जिषुस्तस्य गजान् गात्रेष्वचिक्रमन् ।

शीतैरभ्यषिचंस्तोयैरलातैश्चाप्यदम्भिषुः ॥ ३ ॥

केशानित्यादि—तस्य केशानलुञ्जिषुः उत्पाटितवन्तः । गात्रेषु गजानचिक्रमन् क्रमयन्ति स्म । क्रमेर्मान्तत्वान्मित्संज्ञायां हस्तत्वम् । चण्डि सन्वद्धावादभ्यासस्य ‘सन्यतः । ७।४।७९’ इति हत्यम् । शीतैस्तोयैरभ्यषिचन् सिञ्चन्ति स्म । अत्र सिचिरस्म्युक्षणे वर्तते । तेनोदकस्य करणत्वम् । ‘लिपिसिचिह्नश्च । ३ । १ । ५३’ इत्यह्य । ‘प्राक् सितादहृव्यवायेऽपि । ८ । ३ । ६३’ इति षत्वम् । अलौतैरङ्गारैश्चाप्यदम्भिषुः दग्धवन्तः । अनेकार्थत्वाद्वात्मूलाम् ॥ ३ ॥

नखैरकर्तिषुस्तीक्ष्णैरदाङ्कुर्दशनैस्तथा ।

शितैरतौत्सुः शूलैश्च भेरीश्चावीवदन् शुभाः ॥ ४ ॥

नखैरित्यादि—तीक्ष्णैर्नखैरकर्तिषुश्छिन्नवन्तः । तथा देशनैस्तीक्ष्णैरदाङ्कुर्दशनन्ति स्म । दंशेरनिटो हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘ब्रश्च ब्रह्मसृजमृजयजराजाञ्चाजच्छशांपः । ८ । २ । ३६’ इति षत्वम् । ‘षष्ठोः कः सि । ८ । २।४१’ ४ शितैस्तीक्ष्णैः शूलैरतौत्सुः व्यथयन्ति स्म । तुदेरनिटो हलन्तलक्षणा वृद्धिः । भेरीश्च शुभाः उच्चैशब्दा अवीवदन् वादितवन्तः । ‘सन्वल्घुनि चक्ष्यरेऽनगुलोपे । ७।४।९३’ इति सन्वद्धावादभ्यासस्येतत्र ‘दीर्घो लघोः । ७।४।९४’ इति दीर्घत्वम् ॥ ४ ॥

स तान् नाजीगणत् सर्वानि च्छयाबुद्धं च स्वयम् ।

अबूबुधत कस्मान् मामप्राक्षीच निशाचरान् ॥ ५ ॥

३ दन्तैरित्यर्थः ।

स तानित्यादि—स कुम्भकर्णः तान् सर्वान् उपद्रवान् नाजीगणत् न गण-
चति स न वेदितवानित्यर्थः । गणोः स्वार्थिकण्यन्तस्यादन्तस्याभ्यासस्य
‘ईं च गणः । ७ । ४ । ९७ ।’ इतीत्वम् । स्वयं चात्मन इच्छयाबुद्ध बुध्यते
स्म । ‘झलो झलि । ८ । २ । २६ ।’ इति सिंचो लोपः । निशाचरांशा-
श्राक्षीत् पृष्ठवान् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘ब्रह्मचत्रस्जसृजमृजयराजभ्रा-
जच्छशां षः । ८ । २ । ३६ ।’ इति षत्वम् । ‘षढोः कः सि । ८ । २ । ४१ ।’
कमान्मामवूबुधत यूयं प्रबोधितवन्तः । बुधेण्यर्णन्तस्य मध्यमपुरुषबहुवचने
‘णौ चइयुपधाया हस्तः । ७ । ४ । १ ।’ इति हस्तत्वम् । अभ्यासस्य ‘दीर्घो लघोः
। ७ । ४ । ५४ ।’ इति दीर्घत्वम् ॥ ५ ॥

तेऽभाषिषत राजा त्वां दिव्यक्षुः क्षणदाचर ।

सोऽस्त्रासीदु व्यलिपन्मांसमप्सासीद्वारुणीमपात् ॥ ६ ॥

त इत्यादि—ते राक्षसासतथोक्तः सन्तः अभाषिषत भाषितवन्तः । हे
क्षणदाचर ! राजा रावणस्त्वां दिव्यक्षुः द्रष्टुमेषणशील इति । ‘न लोकाव्य-
गनिष्ठाखलर्थतृनाम् । २ । ३ । ६९ ।’ इति षष्ठीप्रतिवेषः । स कुम्भकर्णः श्रुत्वा
प्रस्नासीत् स्नातवान् । ‘धर्मरमनमातां सकृच । ७ । २ । ७३ ।’ इति सगिटौ ।
व्यलिपत् समालिप्तवान् । ‘लिपिसिचिह्नश्च । ३ । १ । ५३ ।’ इत्यङ्ग । मांसमप्सा-
श्रीत् ‘प्सा भक्षणे ।’ वारुणीमपात् पीतवान् । ‘गातिस्थायुपामूर्खः
सेचः परस्मैपदेषु । २ । ४ । ७७ ।’ इति सिंचो लुक्ष ॥ ६ ॥

न्यवसिष्ट ततो द्रष्टु रावणं प्रावृतद् गृहाद् ।

राजा यान्तं तमद्राक्षीदुदस्थाचेषदासनात् ॥ ७ ॥

न्यवसिष्टेत्यादि—ततो रावणं द्रष्टु न्यवसिष्ट पूर्वविवसितं वसनं त्यक्त्वा
अन्यद्वस्त्रं परिदधाति स्मागृहात् स्वस्मात्प्रावृतत् प्रवृत्तः । ‘द्युद्धधो लुड़ि । १ । ३ । ९१ ।’
इति परस्मैपदम् । ‘पुषादिद्युताद्यलदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।’ इति
अङ्ग । तमायान्तं राजाद्राक्षीत् दृष्टवान् । ‘सृजिद्वशेष्वल्यमकिति । ६ । १ । ५८ ।’
इत्यम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । आसनाच्च ईषदुदस्थात् उत्थितः उद्धर्वकर्मकत्वा-
व्यामनेपदं न भवति ॥ ७ ॥

अतुष्टत् पीठमासन्ने निरदिक्षच्च काञ्चनम् ।

अस्मैषु कुम्भकर्णोऽल्पमुपाविक्षदथान्तिके ॥ ८ ॥

अनुषदित्यादि—हङ्गा चातुषत् तुष्टः । पुषादित्वादङ् । आसन्ने चात्मनः
काञ्चनं पीठं निरदिक्षत् आदित्वान् । ‘दिशेः’ ‘शल इगुपघादनिटः क्सः
।३।१।४५।’ इति क्सः । अथानन्तरं कुम्भकर्णः अस्मेष्ट ईषद्वसितवान् । स
चार्थो येनायमादर इति । अन्तिके चास्य काञ्चनं पीठमञ्चात्य पीठे उपावि-
क्षत् उपविष्टः । पूर्ववत् क्सः ॥ ८ ॥

अवादीन्मां किमित्याहो राजा च प्रत्यवादि सः ।

माजासीस्त्वं सुखी रामो यदकार्षीत् स रक्षसाम् ॥ ९ ॥

अवादीदित्यादि—तत उपविश्य तमवादीदुक्तवान् । ‘वदवजहलन्तस्याचः
।७।२।३।’ इति वृद्धिः । किमिति कस्मात् कारणात् मामाहः आहूत-
वान् । ‘लिपिसिचिह्नश्च ।३।१।५३।’ इत्यङ् । ‘आतो लोपः । ६ । ४ । ६४ ।’
‘इति लोपे आहः राजा च स कुम्भकर्णः प्रत्यवादि प्रत्युक्तः । कर्मणि लुङ् ।’चिण्
‘भावर्कर्मणोः । ३ । १ । ६६ ।’ इति चिण् । ‘चिणो लुङ् । ६ । ४ । १०४ ।’
‘इति तलोपः । सुखी त्वं येन रामो रक्षसां यदकार्षीत् तत्त्वं भा-
ज्ञासीः न ज्ञातवानसि । ‘यमरमनमातां सकृच ।७।२।७३।’ इति
संगिटौ ॥ ९ ॥

उदतारीदुदन्वन्तं पुरं नः परितोऽरुषवद् ।

व्यद्योतिष्ठ रणे श्वरैर्नैषीद्राक्षसान् क्षयम् ॥ १० ॥

उदतारीदित्यादि—स हि उदन्वन्तं समुद्रमुदतारीत् उचीर्णः । ‘सिचि
वृद्धिः परस्मैपदेषु ।७।२।१।’ नोऽस्माकं पुरं परितः समन्वादरुषवद् आवृतवान् ।
‘इरितो वा ।३।१।५७।’ इत्यङ् । रणे श्वरैर्योतिष्ठ द्योतिवान् । शुदा-
देर्लुञ्जीति विकल्पेन परस्मैपदविघानादात्मनेपदम् । राक्षसान् क्षयं विनाशमनै-
षीत् नीतवान् ॥ १० ॥

न प्रावोचमहं किञ्चित् प्रियं यावद्जी विषम् ।

बन्धुस्त्वमर्चितः स्नेहान्मा द्विषो न वधीर्म ॥ ११ ॥

न प्रावोचमित्यादि—यावद्जीविषं यावन्तं काळं जीवितः तावन्तं काळं
कस्यचित्प्रियं किञ्चिन्न प्रावोचं नोक्तवानहमिति तव विदितमेव । किन्तु
बन्धुस्त्वं स्नेहादर्चितः सन् मम संबन्धिनो द्विषः शत्रून् मा न वधीः मा न
मारम् किन्तु मारयेति ‘माङ्गि लुङ् ।३।१।५५।’ इति सर्वलक्षारापवादः । लुङ्
प्रावोचमिति ‘वच उम् ।७।४।२।१।’ ॥ ११ ॥

१ उदकानि सन्त्यत्रेति तम् । उदन्वानुदधौ च ८ । २ । १३ ।’ इति साधु ।

वीर्यं मा न ददर्शस्त्वं मा न त्रास्थाः क्षतां पुरम् ।
तवाद्राक्षम् वर्यं वीर्यं त्वमजैषीः पुरा सुरान् ॥ १२ ॥

वीर्यमित्यादि—त्वं वीर्यं मा न ददर्श किन्तु दर्शय । प्यन्तस्य चडि
रूपम् । क्षतां परैवसादितां पुरं मा न त्रास्थाः किन्तु त्रायस्व । ‘त्रैकृ
पालने’ । न च त्वमशक्तः यतस्तव वीर्यमद्राक्षम् दृष्टवन्तो वयम् । ‘न
दृशः ।३।१४७।’ इति निषेधात् क्सादेशो न भवति । ‘इरितो वा ।३।१५७।’
इति विकल्पेनाङ्गविधानात्तदभावपक्षे रूपम् । पुरा पूर्वं त्वं सुरान् देवानजैषीः
जितवानसि ॥ १२ ॥

अबोचत्कुम्भकर्णस्तं वय मन्त्रेऽभ्यधाम यत् ।
न त्वं सर्वं तदश्रौषीः फलं तस्येदमागमत् ॥ १३ ॥

अबोचदित्यादि—इत्युक्तवन्तं तं रावणं कुम्भकर्णोऽबोचत् उक्तवान् ।
मन्त्रे मन्त्रणसमये ‘क्रियासमारम्भगतोऽभ्युपायः’ इत्यादिना यद्ब्रह्मभ्यधाम
अभिहितवन्तः । धावातोः ‘गातिस्थायुपाभूर्ख्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७।’
इति सिचो लुक् । तत्सर्वं त्वं नाश्रौषीः न श्रुतवानसि । तस्याश्रवणस्येदं फलं
विनाशरूपमागमत् आगतम् । गमेर्ददित्यवादङ् ॥ १३ ॥

प्राज्ञवाक्यान्यवामस्था मूर्खवाक्येष्ववाऽस्थिथाः ।

अध्यगीष्ठाश्च शास्त्राणि प्रत्यपत्था हितं न च ॥ १४ ॥

प्राज्ञवाक्यानीत्यादि—प्राज्ञानां विभीषणादीनां वाक्यान्यवामस्थाः अव-
ज्ञातवानसि । ‘मन ज्ञाने’^१ मूर्खवाक्येषु प्रहस्तादिवाक्येषु भवास्थिथाः
अवस्थितोऽसि । ‘समवप्रविभ्यः स्थः ।१।३।२२।’ इति तद् । स्थावोरिच्च
१।१।२।१।७।’ त्वं च शास्त्राण्यध्यगीष्ठा अधीतवानसि । ‘विभाषा लुक्ष-
लङ्गोः । २।४।५०।’ इति इङ्गो गाङ्गादेशः । न च हितं प्रत्यपत्थाः
प्रतिपन्नवानसि । ‘पद गतौ’ । ‘झले झलि । ८।२।३६।’ इति
सिचो लोपः ॥ १४ ॥

मूर्खस्त्वामवश्वन्त ये विग्रहमचीकरन् ।

अभाणीन्माल्यवान्युक्तमक्षस्थास्त्वं न तन्मदात् ॥ १५ ॥

^१ प्रज्ञवामस्तीति तथोक्तानाम् । ‘प्रज्ञाश्रहार्चार्घ्योः, णः ५। ३। १०४।’
इति णः । द्विभवामित्यर्थः ।

मूर्खा इत्यादि—मूर्खाः सर्वं एवैते त्वामवव्यन्त विप्रलब्धवन्तः । ‘वच्चु प्रलभ्नने’ ष्यन्तस्य ‘गृषिवच्चयोः प्रलभ्नने ।१३।६९।’ इति तड़ि चड़ि रूपम् । ये विप्रहमचीकरन् कारितवन्तो भवन्तम् । एष मातामहो माल्यवान् युक्तमभारीत् भणितवान् । ‘भण शब्दे ।’ ‘इट इटि ।१३।२१।२८।’ इति सिंचो लोपः । तन् त्वं मदान्नाक्षंस्थाः न सोढवानसि । ‘क्षमूष सहने’ ॥ १५ ॥

राघवस्यामुसः कान्तामासैरुक्तो न चार्पिषः ।

मा नानुभूः स्वकान्दोषान्मा मुहो मा रुषोऽधुना ॥ १६ ॥

राघवस्येत्यादि—प्रमादित्वमणि तेऽस्ति । यतो राघवस्य कान्ताम् अमुसः खण्डितवानसि । खण्डनं चास्या इहं यद्ग्रन्ता वियोजनम् । ‘मुख खण्डने ।’ पुषादित्वादङ् पुषादयश्च गणान्ता गृहीताः । और्मीर्विभीषणादि-भिरुक्तो न चार्पिषः नार्पितवानसि कान्ताम् । अर्तेणां ‘अर्तहीव्लीरीकन्-थीक्ष्माच्यातां पुङ् जौ ।७।३।३६।’ इति पुकि पुगन्तगुणः । चड़ि ‘द्विवचनेऽचि ।१।१।५९।’ इति स्थानिवद्वावात् ‘अजादेद्वितीयस्य ।६।१।२।’ इति पिशद्वो द्विरुच्यते । रेफस्य ‘न न्द्राः संयोगादयः ।६।१।३।’ इति प्रतिषेधः । तदधुना स्वकानात्मीयान्दोषान् दुश्चरितानि मा नानुभूः अपि त्वनुभव । ‘माङ्गि लुङ् ।३।३।१७५।’ ‘गातिस्थाघुपासूभ्यः सिंचः परस्पैपदेषु ।२।४।७।’ इति सिंचो लुङ् । मा मुहः मोहं मा गमः । मा रुषः रोषं मा कार्षीः । मुहिरुषिभ्यां पुषादित्वादङ् ॥ १६ ॥

तस्याच्यत्यक्रमीक्तालो यत्तदाहमवादिषम् ।

अधानिषत रक्षांसि परैः कोशांस्त्वमव्ययीः ॥ १७ ॥

तस्येत्यादि—तत्तदा तस्मिन् कालेऽहमवादिषम् अभिहितवान्नास्म । ‘शमः सन्धीयताम्’ इति तस्यापि सन्धेः कालोऽत्यक्रमीदतिक्रान्तः । ‘स्तुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ।७।२।३६।’ इतीद । मान्तत्वाद्वद्विप्रतिषेधः । यतः परैः शक्तुभिः रक्षांस्यधानिषत हतानि । चिण्वद्वावाद्वद्विग्रहत्वे । त्वं च कोशमव्ययीः त्यक्तवानसि । लङ्घादाहे तस्यारक्षिवत्वात् । ‘व्यय विचसमु-सर्गे’ इति चुरादौ पठ्यते । यदा ‘आधृषाद्वा’ इति णिज् नास्ति तदा रूपम् । हयन्तक्षणश्वसजागृणिश्वयेदिवाम् । ७।३।५।’ इति

१ विश्वांसिभिः, हैतैषिभिरिति यावद् । ‘आसः प्रत्ययितव्येषु ।’ इत्यमरः ।

वृद्धिप्रतिषेधः । ‘व्यय गतौ’ इत्यस्यापि रूपम् । अनेकार्थत्वाद्वातूनामु-
त्सर्जनेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

सन्धानकारणं तेजो न्यग्भूतेऽकृथास्तथा ।

यत् त्वं वैराणि कोशं च सहदण्डमजिग्लपः ॥ १८ ॥

सन्धानेत्यादि—तथा त्वमकृथाः कृत्वानसि । ‘तन्नादिभ्यस्तथासोऽ॒।२।४।७९।’ इति सिचो लुक् । यथा सन्धानकारणं सन्धानहेतुकं यत्त्व तेजः
प्रचण्डत्वं तत् न्यग्भूत न्यग्भूतम् । ‘गातिस्थाघुऽभूम्यः सिचः परस्मैपदेषु
।२।४।७७।’ इति सिचो लुक् । कुत इत्याह ! यत्त्वं वैराणि शत्रुभावान् कोशं च
सहदण्डं ससैन्यमजिग्लपः ग्लपितव् नसि । ग्लायतेर्ण पुकि ‘ग्लास्नावतु-
वमां च’ इति मित्त्वात् हस्तव्यम् । ग्लपयतेर्णादि रूपम् । यदि हि तेजो
भवेत् सर्वे तथावस्थिते त्वं स्थात् ततश्च तेजसोऽभावात् कथं सन्धानं
इयोऽपरपरात् । यथोऽकं यावन्मात्रमुपकुर्यात् तावन्मात्रमेवास्य
प्रस्तुषकुर्यात् । तेजो हि सन्धानकारणं तसं लोहं तसेन लोहेन सन्धत्ते
इति ॥ १६ ॥

अङ्गुधच्चाभ्यधाद्वाक्ये कुम्भकर्णं दशाननः ।

किं त्वं मामजुगुप्सिष्ठा नैदिधः स्वपराक्रमम् ॥ १९ ॥

अङ्गुधदित्यादि—अथैवमुक्ते दशाननः अङ्गुधत् कुद्धवान् । पुषांदेत्वा-
दङ् । कुद्धश्च कुम्भकरणमभ्यधात् अभिहितवान् । ‘गातिस्थाघुपाभूम्यः
सिचः परस्मैपदेषु।२।४।७७।’ इति सिचो लुक् । किमिति त्वं माम अजुगुप्सिष्ठा:
निन्दितवानसि । स्वविक्रमं नैदिधः न वर्धितवानसि । एधधातोर्प्यन्तस्य चक्षि
स्थानिवद्वावात् ‘अजादेद्वितीयस्य ।६।१२।’ इति विशब्दो द्विरच्यते ॥ १९ ॥

मोजिग्रहः सुनीतानि मा स्म क्रस्था न संयुगे ।

मोपोलब्बाः कृतैदेवैर्मा न वाक्षीर्हितं परम् ॥ २० ॥

मोजिग्रह इत्यादि—सुनीतानि सुनयान् मा उज्जिग्रहः मा उद्धाहय ।
पर्वत्यन्तस्य चक्षि रूपम् । संयुगे युद्धे विषयभूते मा कंस्था मोत्साहं
ते कार्षीः अपि तूत्सहस्रं । ‘स्मोत्तरे लङ् च ।३।३।१७६।’ इति चकारालङ्कृ-
त्वृत्तिसर्गतायनेषु ऋमः ।१।३।३८।’ इति ऋमः सर्गे उत्साहे लङ् । दोषैः ऋस्मा-

३ सन्निवृत्तेऽकम् । ‘सन्धानं स्यादभिषवे तथा सङ्कटनेऽपि च’ इति विश्वः ।
सम् धान् भावे ल्युद् ।

सर्वः]

तिङ्काण्डम् ।

त्कृतैः मोपालब्धाः मोपालभस्त्व । ज्ञलो ज्ञलि ॥१२॥२६॥ इति सिंचो
लोपः । ज्ञषस्तथोर्धीऽयः ॥ ८ । २ । ४० ॥ ज्ञलां जश ज्ञशिः ॥ ८ । ४ । ५३ ॥
हितं परं कार्यस्य मा न वाक्षीः मा० न वह । किन्तु वह । वहेरनिटो
हल्न्तलक्षणा वृद्धिः, दत्तकत्वष्टवानि ॥ २० ॥

कुम्भकर्णस्ततोऽगर्जीङ्गदांश्चान्याङ्गयवीवृतत् ।

उपायंस्त महास्त्राणि निरगाच्च द्रुतं पुरः ॥ २१ ॥

कुम्भकर्ण इत्यादि—ततस्तद्वचनानन्तरं कुम्भकर्णोऽगर्जीत् गर्जितवान् ॥
अन्यांश्च भटान् पृष्ठतो गच्छतो न्यवीवृतन् । निवर्तितवान् वृतेश्चङ्गपरे
प्रावृपद्याया ‘उर्क्षत् ॥ ७ । ४ । ७ ॥’ इत्यपवाद क्रकारादेशः । महास्त्राणि
उपायंस्त स्वीकृतवान् । औपचारिकमत्र स्तीकरणं तेन तड् । चदि
वा उपाङ्गपूर्वाद्यमेः समुदाङ्गम्यो यमोऽप्रन्थे ॥ १ । २ । ७५ ॥ इति तड् ।
पुरश्च लङ्घातः द्रुतं निरगात् निर्गतः । इणो गादेशः । ‘गातिशाशुपाशूभ्यः
स्त्रिचः परस्पैपदेषु ॥ २ । ४ । ७७ ॥’ इति सिंचो लुक् ॥ २१ ॥

मूर्गा दिवमिवालेखीतर्व व्यापद् वपुषोरुणा ।

पादाभ्यां क्षमामिवाभैत्सीत् दृष्ट्याघाक्षीदिव द्विषः ॥ २२ ॥

मूर्गेत्यादि—निर्जीच्छन् मूर्गा दिवमलेखीदिव लिखितवानिव । उरुणा
भहता वपुषा खं व्यापत् व्याप्तवान् । ल्यदित्यादङ् । क्षां पृष्ठीं पादाभ्यामभै-
त्सीदिव विद्वारितवानिव । द्विषः शत्रून् दृष्ट्याघाक्षीदिव भर्मसात् कृतवा-
निव ‘दह भस्मीकरणे’ ॥ २२ ॥

दग्धशैल इवाभासीत् प्राक्षस्त्र क्षयमेववत् ।

प्राचकम्पदुदन्वन्तं राक्षसानप्यतिंत्रसत् ॥ २३ ॥

दग्धशैल इत्यादि—महत्वात् कृष्णत्वाच्च दग्धशैलवदभासीत् भाति स्म ।
‘भा दीप्तौ’ ‘यमरमनमातां सक च ॥७॥२॥८॥’ इति, सगिटौ । क्षयमेववत्या-
क्षेत्र प्रस्थितः । ‘प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ॥१॥३॥४॥’ इति तड् । प्रतिष्ठमानश्च
उदन्वन्तमचकम्पत् कम्पितवान् । ‘कम्पि चलने’ । इदितो प्यन्तस्य
चाडि रूपम् । राक्षसानपि अतित्रसत् त्रासितवान् । त्रसेष्यन्तस्य चाडि
रूपम् ॥ २३ ॥

^१ अहमेव सर्वशत्रुसैन्यदलं भक्षयिष्यामि इति न मे साहय्यापेक्षेत्यभि-
प्रायात् ।

सपक्षोऽद्विरिवाचालीन्यश्वर्सीत् कल्पवायुवत् ।

अभार्षीद्वनिना लोकानभ्राजिष्ठ क्षयाभिवत् ॥ २४ ॥

सपक्ष इत्यादि—सपक्ष इवाद्रिः *बाह्योः पक्षानुकारित्वात् अचालीत् चलितः । लान्तत्वासिंचि वृद्धिः । क्रोधात्कल्पान्तवायुवन्न्यश्वसीत् निश्च-
र्विसतवान् । ‘ह्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्वयेदिताम् ।७।२।५’ इति वृद्धिप्रतिषेधः । श्वनिना लोकानभार्षीत् पूरितवान् । ‘सृब् भरणे ।’ ईडन्तस्य सिंचि वृद्धिः । अभ्राजिष्ठ भ्राजते स्म । क्षयाभिवत् पिङ्गलकेश-
त्वात्, लोकविनाशहेतुत्वाच्च ॥ २४ ॥

अनंसीद्भूर्भेरणास्य रंहसा शाखिनोऽलुठन् ।

सिंहाः प्रादुद्धवन् भीताः प्राक्षुभन् कुलपर्वताः ॥ २५ ॥

अनंसीदित्यादि—अस्य भरेण भूरनंसीत् नता । ‘यमरमनमातां-
स्कृच । ७।२।७३।’ इति सगिटौ । रंहसा वेगेन शाखिनो वृक्षा
अलुठन् पतिताः । ‘रुठ लुठ प्रतिवात्’ । द्युतादित्वादङ् । द्युतादी-
नामनुदात्तेत्वाच्छ । ‘सुद्धथो लुडि ।१।३।१।’ इति परस्मैपदविकल्पः ।
‘सिंहाः भीताः सन्तः प्रादुद्धवन् पलायिताः । ‘णिश्रिदुसुभ्यः कर्त्तरि-
च्छ ।३।१।४।’ इति चण । कुलपर्वताः प्राक्षुभन् संचलिताः । पुषादि-
कुटाद्यूलदितः परस्मैपदेषु । ३।१।५५।’ इति द्युतादित्वादङ् । पूर्ववन्नात्म-
नेपदम् ॥ २५ ॥

उत्पाताः प्रावृतंस्तस्य द्यौरशीकिष्ठ शोणितम् ।

वायवोऽवासिषुर्भीमाः क्रूराश्चाकुषत द्विजाः ॥ २६ ॥

उत्पाता इत्यादि—तस्य गच्छत उत्पाताः प्रावृतन् प्रवृत्ताः । ‘वृत्
चर्तने’ द्युतादिः । द्यौः शोणितमशीकिष्ठ सिच्चति स्म । ‘शीकृ सेचने’
अनुदात्तेत् । वायवो भीमाः प्रचण्डा अवासिषुर्वान्ति स्म । ‘यमरमनमातां-
स्कृच । ७।२।७३।’ इति सगिटौ । क्रूराश्चागुभूचका द्विजाः पश्चिणो-
ःकुषत शब्दिताः । ‘कुकू शब्दे’ इत्यनिद । कुटादित्वात् सिचः कित्वे
न गुणः ॥ २६ ॥

अस्पन्दिष्टाक्षि वामं च घोराश्चाराटिषुः शिवाः ।

न्यपत्तन् मुसले गृध्रा दीप्तयापाति चोलकथा ॥ २७ ॥

अस्पन्दिष्टेत्यादि—वामं चास्याद्वि अस्पन्दिष्ट स्पन्दते स्म । वोराः
अनिष्टसिन्यः शिवाः ब्राह्मणैरु रटन्ति स्म । ‘अतो हलादेलघोः । ७ । २ ।
३’ इति वृद्धिविकल्पः । गृधा मुसखे न्यपत्रन् उपचिष्टवन्तः । ‘पुषादि-
शुताद्युदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।’ इति लदित्वादङ् । ‘पतः पुम्
। ३।४।११।’ इति पुमाममश्च । दीपया उल्कया अपाति पतितम् । भावे
चिणादेशः ॥ २७ ॥

आंहिष्ट तानसम्मान्य दर्पात् स प्रवनक्षितिम् ।
ततोऽनर्दीदनन्दीच्च शबूनाहास्त चाहवे ॥ २८ ॥

आंहिष्टेत्यादि—तान् उत्पातान् कम्भकर्णोऽसंमान्य दर्पादवज्ञाय प्रध-
नैक्षितिं युद्धभूमिमांहिष्ट गतवान् । तत उत्तरकालं अनर्दीन् गर्जितवान्
‘क यास्यथेदानीम्’ इति । अनन्दीच्च जयत्रियं श्लाघितवानित्यर्थः ।
आहवे संग्रामे शबूनाहास्त आहूतवान् । ‘आगच्छत, युध्यच्चम्’ इति ।
‘स्पर्धायामाङः । ३ । ३ । ३१ ।’ इति वङ् । ‘आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।
३ । १ । ५४ ।’ इत्यजभावपक्षे रूपम् ॥ २८ ॥

प्राशीनं चातृपत कूरः क्षुच्चास्यावृष्टदशनतः ।
अधाद् वसामधार्तीच्च रुधिरं वनवासिनाम् ॥ २९ ॥

प्राशीदित्यादि—प्राशीत् भक्षितवान् । वनवासिन इत्यर्थात् । न चासौ
कूरः दुष्टचेता अत्रपत् चूपवान् । पुषादित्वादङ् । अभ्रतोऽप्यस्य खाद्योऽपि
कुम्भकर्णस्य क्षुत् बुभुक्षा अवृधन् वर्धते स्म । ‘वृषु वृद्धौ’ शुतादिः । वनवासिनां
वानराणां वसामधात् पीतवान् । ‘विभाषा ब्राह्मेदशाच्छासः । २।४।७।’ इति
सिचो लुक्ष्यपक्षे रूपम् । रुधिरं चाधारीत् । ‘वेद् पाने’ ‘विभाषा वेद-
श्वयोः । ३ । १ । ४९ ।’ इति चडभावपक्षे रूपम् ॥ २९ ॥

मांसेनास्याश्वतां कुक्षी जठरं चाप्यदिवियत् ।
बहूनामग्लुच्चत् प्राणानग्लोचीच्च रणे यशः ॥ ३० ॥

१ ‘युद्धमायोधनं जन्यं प्रधर्नं प्रविदारणम् ।’ इत्यमरः । २ ‘अस्यामद्द्वासमावात-
सह्यामाभ्यागमाहवाः ॥’ इत्यमरः ।

मांसेनेत्यादि—वनवासिनां मांसेनास्य कुम्भकर्णस्य कुक्षी उदरपाशौं अश्वतां शूनौ । ‘जृस्तम्भुमुच्चुम्भुमुच्चुगलुच्चुश्रिभ्यश्च । ३।१।५८।’ इति अङ् । ‘श्वयतेरः । ७।४।१८।’ इत्यत्वम् । जठरं चोदरमशिश्चियत् वृद्धम् । ‘विभाषा धेद्दृश्योः । ३।१।४९।’ इति चङ् । इयजादेशः । बहुनां वनवासिनां प्राणानगङ्गुचत् हृतवान् । ‘प्रुचुरगलुच्चुकुजुखुजुस्तेयकरणे’ । ‘जृस्तम्भुमुच्चुम्भुमुच्चुश्रिभ्यश्च । ३।१।५८।’ इत्यादिना अङ्गविकल्पनादृढभावपक्षे रूपम् । यशश्च बहुनां रणे अगलोचीत् अपनीतवान् । ‘वञ्चुचञ्चु’ इत्यादौ ग्लुचिर्गत्यर्थः । अङ्गभावपक्षे रूपम् ॥ ३० ॥

सामर्थ्यं चापि सोऽस्तम्भीढं विक्रमं चाऽस्य नास्तभन् ।

शारिनः केचिद्दृष्टुन्यमाङ्गुष्ठरपेऽम्बुधौ ॥ ३१ ॥

सामर्थ्यमित्यादि—स कुम्भकर्णः केषांचिद्वलवतामपि वनवासिनां सामर्थ्यमस्तम्भीत् नियमितवान् । अङ्गभावपक्षे रूपम् । विक्रमं च केचिद्दृस्य नास्तभन् न नियमितवन्तः । अङ्गपक्षे रूपम् । मुक्त्यनुनासिकलोपः । केचिद्ग्राहद् वृक्षानध्यष्टुः अधिष्ठितवन्तः । तिष्ठते: ‘गातिथाघुपाभूम्यः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७।’ इति सिचो लुक् । आदेशः सकारस्य षट्वं षुत्वं च । अपरेऽम्बुधौ न्यमाङ्गुर्निंमग्नाः । ‘मस्तिनशोर्णील । ७।१।६०।’ इति तुम् । मस्तेरन्त्यात्पूर्वं नुमयिच्छन्ति । अनुषङ्गसंयोगादिलोपर्थम् ॥ ३१ ॥

अन्ये त्वलङ्गधिषुः शैलान् गुहास्वन्ये न्यलेषत् ।

केचिदासिषत् स्तब्धा भयात् केचिद्दूर्धीर्णिषुः ॥ ३२ ॥

अन्ये त्वित्यादि—अन्ये शैलानलङ्गधिषुः भयादारुडा इत्यर्थः । अन्ये गुहासु पलेषत् । ‘लीङ् लेषणे’ । कोचित् स्तब्धाः स्थाणुवदासिषत आसत् । परे भयात् भीत्या अवूर्धीर्णिषुः धूर्णन्ते स्म ॥ ३२ ॥

उदतारिषुरम्भोर्धिं वानराः सेहुनापरे ।

अलज्जिष्ठाङ्गदर्शत्र प्रत्यवास्थित चोर्जितम् ॥ ३३ ॥

उदतारिषुरित्यादि—अपरे वानराः सेहुना अम्भोर्धिमुद्दतारिषुः उचीर्णः । त्रै तेषु तथामूर्तेष्वङ्गदोऽलज्जिष्ठ लज्जते स्म । ऊर्जितं च पराक्रमं प्रत्यवास्थित तिपन्नवान् । ‘समवप्रविभ्यः स्थः । १।३।२२।’ इति तङ् । ‘ह्रस्वादङ्गात् । ८।४।२७।’ इति सिचो लोपः ॥ ३३ ॥

सत्त्वं समदुधुक्षज्ज वानराणामयुद्ध च ।

ततः शैलानुदक्षेषु रुदगूरिषत द्रुमान् ॥ ३४ ॥

सत्त्वमित्यादि—वानराणां सत्त्वं समदुधुक्षत् सन्दीपितवान् । धुक्षेः सन्दी-
पनार्थात् प्यन्ताच्छ्लेष्यद् । स्वयमयुद्ध च युध्यते स्म । ‘श्लो झालि । ७ । २
२६।’ इति सिचो लोपः । ततः सत्त्वयुक्षणानन्तरं वानराः शैलानुदक्षेषुः
उत्क्षमवन्तः । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । द्रुमांश्चोदगूरिषत उत्क्षापितवन्तः ‘गूरी
उद्यमने’ ॥ ३४ ॥

अनर्दिषुः कर्त्तिव्याग्राः सम्यक् चायुत्सत्त्वाद्वे ।

तानमर्दीदखादीच्च निरास्थच्च तलाहतान् ॥ ३५ ॥

अनादेषु रित्यादि—उत्क्षमशैलद्रुमाः कर्त्तिव्याग्राः अनर्दिषुः नर्दितवन्तः ।
‘हष्टेऽस्माभिः क यास्यासि’ इति । सम्यक् निर्भयमाहवे अयुत्सत् युध्य-
न्ते स्म । ‘हलन्ताच्च । १ । २ । १८।’ इति सिचः कित्वे गुणाभावः ।
तान् प्लवङ्गमान् युध्यमानान् कुम्भकर्णोऽमर्दीत् मृदितवान् । मृदेलघूपथ-
गुणः । अखादीच्च भक्षितवान् । हस्तवलेनाहतान् निरासत् इतस्ततः क्षिम-
वान् । ‘अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽह्न । ३ । १ । ५२।’ इत्यह्न । ‘अस्यते-
स्युक् । ७।४।१७।’ ॥ ३५ ॥

प्राचुचूर्णज्ज पादाभ्यामविभीषत च द्रुतम् ।

अतहीच्चैव शूलेन कुम्भकर्णः प्लवङ्गमान् ॥ ३६ ॥

प्राचुचूर्णदित्यादि—पादाभ्यां प्राचुचूर्णत् पिष्टवान् । ‘कूर्णं प्रेरणे’
इति चुरादिः । एवं चूर्णयन् द्रुतमविभीषत भीषयते स्म ‘भियो हेतु-
भये षक् । ७ । ३ । ४०।’ । ‘भीस्म्योहेतुभये । १ । ३ । ६८।’ इति
तल् । शूलेन प्रहरणेन अतहीच्च विद्धवान् । ‘हह्न हिंसायम् ।’ ह्य-
न्तत्वान्न वृद्धिः ॥ ३६ ॥

अतौत्साहिदया गाढमपिषच्चोपगूहनैः ।

जानुभ्यामदमीच्चाऽन्यान् हस्तवर्तमवीवृतत् ॥ ३७ ॥

अतौत्सीदित्यादि—कांश्चिद्वदया गाढमतौत्सीत् व्यथितवान् । उपगूहनै-
रपिषत् चूर्णतवान् । लदित्तवादह्न । अन्यांश्च जानुभ्यां अदमीत् शासि-
तवान् । अवष्टभ्य नियमितवानित्यर्थः । ‘ह्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्वयोदिताम्

१ ‘द्रव्यासु द्वयवसायेषु सत्त्वमस्ती तु जन्मुषु’ इत्यमरोक्त्या सत्त्वं प्राणाः ।

१६।२५।' इति न दृढः । हस्तवर्तमवीद्युतत् हस्ताभ्यां वर्तिवान् पिष्ठवा-
नित्यर्थः । वृत्तेण्यन्तात् 'हस्ते वर्तिग्रहोः । ३।४।३९।' इति णमुल् ।
'कषादिषु यथाविष्यनुप्रयोगः । ३।४।४६।' इति वृत्तेरेवानुप्र-
योगः ॥ ३७ ॥

अदालिषुः शिला देहे चूर्ण्यभूवन् महाद्रुमाः ।

क्षितास्तस्य न चाचेतीत्तानसौ नापि चाक्षुभत् ॥ ३८ ॥

अदालिषुरित्यादि—वानरैस्तस्य देह क्षिप्ताः शिला अदालिषुर्विशी-
र्णाः । 'दल विशरणे ।' भौवादिकः । लम्तत्वादृढः । महाद्रुमाश्चू-
र्ण्यभूवन्, चूर्ण्यभूताः । न च तान् क्षिप्ताननसौ कुम्भकर्ण अचेतीत्
चेतिवान् । 'चिरी संज्ञाने ।' नापि चाक्षुभत् न क्षुभितः । क्षुभ संचलने
दिवादिः ॥ ३६ ॥

अद्राष्टां तं रघुव्याघ्रौ आख्यच्छैनं विभिणः ।

एष व्यजेष्ट देवेन्द्रं नाशाङ्किष्ट विवस्वतः ॥ ३९ ॥

अद्राष्टामित्यादि—तं तादृशौ रघुव्याघ्रौ रामलक्ष्मणावद्राक्षां दृष्टवन्तौ ।
विभीषणश्चैनमाख्यत् कथितवान् । 'कुम्भकर्णोऽयम्' इति 'अस्यतिवक्ति-
स्यातिभ्योऽङ् । ३।१।५२।' इत्यङ् प्रभावं चास्य कथयन्नाह—देवेन्द्रमेष व्यजेष्ट
विजितवान् । 'विपराभ्यां जे: । १।६।१९।' इति तङ् । विवस्वतः सूर्यात्
नाशाङ्किष्ट न शङ्कते स्म ॥ ३८ ॥

यसेन्द्रशक्तिमच्छासी—नाप्रोथीदस्य कश्चन ।

कुम्भकर्णन्न भैषं मा युवामस्मान् नृपात्मजौ ॥ ४० ॥

यक्षत्यादि—यसेन्द्रस्य कुबेरस्य शर्कि प्रहरणमच्छासीत् खण्डितवान् ।
'छो छेदने ।' अस्य तु कश्चन काश्चित् नाप्रोथीत् न प्रभवति स्म । शर्क्यै
प्रहरणायेत्यर्थात् । 'प्रोथृ पर्यासौ ।' पर्यासियोगे चतुर्थीं न भविष्यति पर्यासे-
दविवाक्षितवान् । अतोऽस्मादेवंविधात् कुम्भकर्णं युवां नृपात्मजौ मा न
भैषं, किन्तु विभीतम् । 'माङ्गि लुड् । ३।३।१७५।' मध्यमपुरुषद्विवचने
रूपम् । माशब्दः प्रतिषेधे ॥ ४० ॥

१ 'द्वितीयादौस्वेनः । २।४।६४।' हस्तेतच्छब्दस्यैनादेशः । कुम्भकर्ण-
गित्यर्थः ।

ग्रन्तं मोपेक्षिषाथां च मा न कार्ष्मिहादरम् ।

अमुं मा न वधिष्टेति रामोऽवादीत्ततः कपीन् ॥ ४१ ॥

ग्रन्तमित्यादि—तस्मात् ग्रन्तमेनं युवां मोपेक्षिषाथां मोपेक्षकौ भूतमित्यर्थः ।
इह च कुभकणे आदरं मा न कार्ष्म, अपि तु कुरुतम् । ततो विमीषणवच-
नानन्तरं रामः कपीनवादीत् उक्तवान् । अमुं कुभकणे मा न वधिष्ट इति,
किन्तु हतोति ।‘ लुडि च । २।४।४२’ इति हनो वधादेशः ॥ ४१ ॥

ते व्यरासिषुराह्वन्त राक्षसं चाप्यपिष्ठुवन् ।

अबभासन् स्वकाः शक्तीद्वमशैलं व्यकारिषुः ॥ ४२ ॥

त इत्यादि—ते वानराः इर्षद् व्यरासिषुः किलकिलाशब्दं कृतवन्तः ।,
'अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७' इति वृद्धिः । राक्षसं च कुभकणमाह्वन्त सर्व-
माना आहूतवन्तः । 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३।१।५४' इति हेत्वः पक्षे
अङ् । अपिष्ठुवन् प्रावितवन्तः । अपि: शब्दार्थे । तथा कृतवन्तः यथासौ प्लुतिं
कर्तुमारब्धः । प्लुतेर्जन्तस्य चाडि सन्वत्कार्यमीति । 'स्वतिशृणेतिद्रव-
तिप्रवतिप्लुवीतच्यवतीनां वा । ७।४।८१' इत्यभ्यासस्येत्वम् । स्वका आत्मयाः
शक्तीरबभासन् प्रकाशयान्ते स्म । भासेर्जन्तस्य चाडः 'आजमास-
भाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् । ७।४।३' इति उपधाहस्वविकल्पः
द्रुमाश्च शैलाश्चेति द्रुमशैलम् । 'जातिरपाणिनाम् । २।४।६'
इत्येकवद्वाचः । व्यकारिषुः तदुपरि क्षिप्तवन्तः । 'कृ विक्षेपे' लुड् ॥ ४२ ॥

ते तं व्याशिषताक्षोत्सुः पादैर्दन्तैस्तथाच्छिष्ठदन् ।

आर्जिजच्छरभो वृक्षं नीलस्त्वादित पर्वतम् ॥ ४३ ॥

ते तमित्यादि—ते वानरासं राक्षसं व्याशिषत व्याप्तवन्तः । 'अशू व्यासौ'
पादैश्चाक्षोत्सुः पिष्ठवन्तः । 'शुद्धिर सम्पेषणे ।' दन्तैरच्छिष्ठदन् छिन्दन्ति स्म ।
'इरितो वा । ३।१।५७' इत्यद् । शरभो नाम कपिर्वृक्षमार्जिजत् ग्रहीतुं
यतते स्म । 'अर्ज प्रतियन्ते' इति स्वार्थिक्यन्ताचाडि । 'द्विवचनेऽन्ति ।
१।१।५९' इति स्थानिवद्वावात् 'अजादेह्मीतीयस्य । ६।१।२' इति
द्विवचनम् । रेफस्य 'न 'न्द्राः संयोगादयः । ६।१।३' इति द्वित्वप्रतिषेधः । नीलः
शवेतमादित गृहीतवान् । 'स्थान्वोरिच्च । १।२।१७' ॥ ४३ ॥

३ 'निषेषार्थकद्वयं हि सातिश्चयं प्रकृतमर्थमवगमयति' इति 'मा न' इति प्रयुक्तम् ।

ऋषभोऽद्रीनुदक्षैप्सीते तैररिमतर्दिंषुः ।

अस्फूर्जीद्गिरिशृङ्गं च व्यस्ताक्षीद्गन्धमादनः ॥ ४४ ॥

ऋषभ इत्यादि—ऋषभो नाम कपिरद्रीनुदक्षैप्सीत् उत्क्षिपवान् । ते शर-
भादयस्तैवृक्षादिभरिमतर्दिंषुः हतवन्तः । ‘तर्द हिंसायाम् ।’ गन्धमादनो
नाम कपिरस्फूर्जीत् वज्रमिव गिरिशृङ्गं च व्यस्ताक्षीत् विसृष्टवान् । सृजित्स्तौ-
दादिक डदात्ते ॥ ४४ ॥

अकूर्दिंष्ट व्यकारीच गवाक्षो भूधरान् बहून् ।

स तान्नाजीगणद् वीरः कुम्भकणोऽव्यथिष्ठ न ॥ ४५ ॥

अकूर्दिंष्टेत्यादि—गवाक्षो नाम कपिः अकूर्दिंष्टं क्रीडापूर्वकं चेष्टते स्म ।
भूधरान् महीधरांश्च व्यकारीत् विक्षिपवान् । वीरः कुम्भकर्णस्तान् शरभा-
दीन् नाजीगणत् न गणयामास । ‘अजाणत्’ इति पाठान्तरम् । तत्र चकरेणा-
त्वमन्यनुर्वतते । न चाव्यथिष्ठ न व्यथितोऽभूत् ॥ ४५ ॥

अमन्थीच्च परानीकमप्लोष च निरङ्कुशः ।

निहन्तुं चात्वरिष्टारीनजक्षीच्चाङ्गमागतान् ॥ ४६ ॥

अमन्थीदित्यादि—परानीकं शत्रुसैन्यममन्थीत् क्षेमितवान् ‘मन्थ विलो-
डने ।’ निरङ्कुशश्चाप्रतिहतशक्तिः अप्लोष भ्रान्तवान् । ‘लुङ गतौ’ । अर्द्ध
वानरान्धिहन्तुमत्वरिष्ट त्वरते स्म । ‘वित्वरा संब्रेम ।’ अङ्गं च समीपमाग-
तानजक्षीत् भक्षितवान् । ‘जक्ष भक्षहसनयोः’ । इति भक्षणे जक्षिः ॥ ४६ ॥

व्यकुक्षद्वानरानीकं संपलायिष्ट चायति ।

हस्ताभ्यां नश्यदक्राक्षीद्गिमे चोपाधितानने ॥ ४७ ॥

व्यकुक्षदित्यादि—तस्मिन्नाशत्यागच्छति सति, आङ्गपूर्वस्तेषः शतरि-
स्त्यम् । वानरानीकं व्यकुक्षत् विक्रोशति स्म । ‘शल इगुपधादनिटः क्सः ।
इ।१।४५।’ संपलायिष्ट पलायते स्म । तच्च नश्यत्पलायमानं हस्ताभ्यामक्राक्षीत्
आकृष्टवान् कुम्भकर्णः । ‘कृष विलेखने’ । ‘अनुदात्तस्य चर्दुपद्यस्यान्धतरस्याम्
।६।१।५१।’ इत्यम् । हलन्वलक्षणं वृद्धिः । आकृष्टं चापतिभामेऽतिभयङ्गे विकृष्टे
आनने वक्ते उपाधित न्यस्तवान् ‘धाव्’ । ‘स्थावोरिच्च ।१।२।१७।’ ॥ ४७ ॥

रक्तेनाचिङ्गिदद् भूमिं सैन्यैश्चात्तस्तरद्धतैः ।

नश्यताप्सीदक्षयन् क्षुरो नाश्रमद् ब्रन् प्लवङ्गमान् ॥ ४८ ॥

रक्तेनेत्यादि—वानरानीकस्य रक्तेन भूमिमचिछिदत् छेदितवान् । ‘छिदू आर्द्धभावे’ । तस्य प्यन्तस्य चडि रूपम् । सैन्येश्व हत्यैर्भूमिमत्स्तरत् छादितवान् । स्तुणातेणां चडि रूपम् । ‘अत्समृद्धत्वरप्रथमदस्तृष्पशाम् । अ४।१५ ।’ इत्यत्वम् । तांश्च भक्षयन्नपि क्रूरः नाताप्सींत् न दृशः । ‘तुष्ट्रीणने’ पुषादिः ‘स्पृशमृशकृष्टपृष्ठपां च्छ्लः सिज्वा वाच्यः’ इति वार्तिकेन वक्षे सिच् । पूवङ्गमांश्च वानरांश्च ब्रीन् हिसन् नाश्रमत् न श्रान्तवान् । ‘श्रमु तपसि खेदे च’ इति खेदे पुषादित्वादङ् ॥ ४८ ॥

न योङ्गुमशकन् केचिन्नाढौकिषत केचन ।

प्राणशब्दासिकाभ्यां च वक्षेण च वनौकसः ॥ ४९ ॥

न योङ्गुमित्यादि—तेषां मध्ये केचिद्भौकसो वनवासिनो वानरा योङ्गुं नाशकन् न शक्ता अभवन् ‘पुषादिद्युताद्यूदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ । इत्यनेन लदित्वादङ् । केचिन्नाढौकिषत न ढौकन्ते स्म । ये तु तेन ‘पदे न क्षिपास्ते नासिकाभ्यां नासिकाविवराभ्यां वक्षेण च प्राणशब्दाः प्रनष्टाः निःसृता इत्यर्थः । नशेः पुषादित्वादङ् । ‘उपसर्गादसमासेऽपि षोपदेशस्य । ४।४।१४ ।’ इति णत्वम् ॥ ४९ ॥

उदरे चाजरन्नन्ये तस्य पातालसञ्जिभे ।

आक्रन्दिषुः सखीनाहन् प्रपलायिषतास्त्रिदन् ॥ ५० ॥

उदरे चेत्यादि—अन्ये च तस्योदरे पातालस्य सन्निमे सदृशे अजरन् जीर्णाः । ‘जृत्सम्भूतुचुम्लुचुगुचुगुलुचुगुलुक्षिभ्यश्च । ३ । १ । ५८ ।’ इत्यङ् । ‘कद्यशोऽङ् गुणः । ७ । ४ । १६ ।’ आक्रन्दिषुः आक्रन्दितवन्तः । सखीन् भित्राणि आहन् आहूतकन्तः । ‘लिपिसिचिह्नश्च । ३ । १ । ५३ ।’ इत्यङ् । प्रपलायिषत प्रपलायन्ते स्म । पलायमानाश्चास्त्रिदन् प्रस्त्रिन्नाः । पुषादित्वादङ् ॥ ५० ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

क्तमश्चयोतिषुः क्षुण्णाः क्षताश्च कपयोऽतृष्णन् ।

प्रास्थायि नृपो भयैरसौ सुग्रीवमैजिहत् ॥ ५१ ॥

क्तमित्यादि—अन्ये क्षुण्णाः सन्तः रक्तमश्चयोतिषुः ऋयोतन्ति स्म । इरितो वा । ३ । १ । ५७ ।’ इत्यङ्गमावपक्षे रूपम् । क्षताश्च खण्डिता

अतृष्णन् तृष्णन्ति स्मै । ‘विनृष्णा पिपासायाम् ।’ पुषादित्वादद्भू । नृपो राम-स्तैर्भग्नैरुपास्थायि उपस्थापितः । अन्तर्भावितो षण्ठीः । कर्मणि चिण् । असौ रामः सुग्रीवमैजिहत् योद्धुमीहां कारितवान् । ईहतेर्णन्ताच्चडिः । ‘द्विर्वचनेऽचि । १ । १ । ५९ ।’ इति स्थानिवद्वावान् द्विर्वचनम् । आद् । वृद्धिः । योद्धुमीति वक्ष्यमाणेन योद्यम् ॥ ५१ ॥

योद्धुं सोऽप्यरुपच्छब्दोरैरिच्च महाद्वृमम् ।

तं प्राप्तं प्रासहिष्टारिः शक्तिं चोग्रामुदग्रहीत् ॥ ५२ ॥

योद्धुमित्यादि—सोऽपि सुग्रीवः अरुषत् कुध्याति स्म । ‘रुप रोपे’ पुषादिः । शत्रोश्च दुम्मैरित् क्षिपवान् । ‘ईर क्षेपे’ इति स्वार्थिकण्यन्तस्य रूपम् । तं दुम्पं प्राप्तमारिः कुम्भकर्णः प्रासहिष्ट प्रसहते स्म । शक्तिं चोग्रां प्राणहरामुदग्रहीत् उद्धृतवान् ॥ ५२ ॥

स तामविभ्रमङ्गीमां वानरेन्द्रस्य चामुचत् ।

प्राप्तसन् मारुतिस्तत्र तां चालासीद्वियद्रताम् ॥ ५३ ॥

स तामित्यादि—तां गृहीतां शक्तिं स कुम्भकर्णः अविभ्रमत् अमर्यति स्म । अभेर्णन्ताच्चडिः रूपम् । वानरेन्द्रस्य सुग्रीवस्योपरि अमुचत् गुरुक्तवान् । ‘पुषादित्वाद्यल्लुदितः । ३ । १ । ५५ ।’ इति लदित्वादद्भू । तत्र तस्यां मुक्तायां मारुतिर्हनूमान् प्राप्तसत् प्रत्युपास्थितः । ल्लुदित्वादद्भू । ‘पतः पुम् । ७।४।१९ ।’ इति पुमागमः । तां च विद्वत्तामलासीत् आपवान् । ‘ला आदाने ।’ ‘यमरमनमातां सकृच च । ७।२।७३ ।’ इति सगिटौ ॥ ५३ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

अशोभिष्ठाचखण्डच्च शक्तिं वीरो न चायसत् ।

लौहभारसहस्रेण निर्मिता निरकारि मे ॥ ५४ ॥

अशोभिष्ठत्यादि—असौ गृहीतशक्तिर्वारः अशोभिष्ठ शोभते स्म । शक्तिः अचखण्डच्च भभवान् । ‘खड खडि ‘भेदने’ चौरादिकः । तां च खण्डय-आयसत् नायस्यति स्म । ‘थसु प्रयने ।’ पुषादिः । लौहभारसहस्रेण निर्मिता घटिता भम शक्तिर्निरकारि भग्ना अनेनेति रक्षः कुम्भकर्णोऽक्षय-दीति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ५४ ॥

१ कुंतादिना रक्षे निःस्तते तुपा जायत एवेति यथोक्तम् । २ उधमं न चकार ।

शक्तिरत्यकुचद्रक्षोऽगिरि चोदखनीद्वरुम् ।

व्यसृष्टं तं कपीन्द्रस्य तेनामूर्च्छीदसौ क्षतः ॥ ५६ ॥

शक्तिरित्यादि—अकुपत् कुपितः ‘कुप क्रोधे’ पुषादिः । गिरि च
गुरुमुदत्वनात् उत्सातवात् । ‘अतो हलादेल्लोः । भारभा’ इति वृद्धय-
भावपक्षे रूपम् । कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्योपरि तं च गिरि व्यसृष्टं विसृष्ट-
वान् । ‘सूज विसर्गे’ अनुदाचेत् । तस्माद्वलन्तादात्मनेपदे सिचः कित्त्वे
गुणाभावः । असौ कपीन्द्रस्तान क्षतः हतः सन् अमूर्च्छीत् मोहमुपगतः ॥ ५५ ॥

अलोठिष्ठ च भूपृष्ठे शोणितं चाप्यसुखवत् ।

तमादायापलायिष्ट व्यरोचिष्ट च राक्षसः ॥ ५६ ॥

अलोठिष्ठेत्यादि—मूर्च्छातश्च भूपृष्ठे अलोठिष्ठ लुठते स्म । ‘रुठ लुठ प्रवि-
धाते ।’ इति द्युतादिः । ‘द्युद्धयो लुडि । १।३।११।’ इति परस्पैपदविकल्पेनात्मने-
पदम् । अस्य शोणितं च व्यसृष्टवत् द्युतम् । ‘णिश्रिद्वसुभ्यः कर्तृरि चह् ॥
३।१।४।८।’ इति चह् । तं सुग्रीवमादाय राक्षसः कुम्भकणः अपलायिष्ट पलायते
स्म । व्यरोचिष्ठ रोचते स्म । ‘रुव दीप्तौ’ ॥ ५६ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

अभैषुः कपयोऽन्वारत्कुम्भकर्णं मरुत्सुतः ।

शनैरबोधि सुग्रीवः सोऽकुञ्चीत्कर्णनासिकम् ॥ ५७ ॥

अभैषुरित्यादि—तस्मीन्नाते कपयोऽभैषुः भीताः । मरुत्सुतः कुम्भकर्ण-
मन्वारत् अनुगतः । जर्तेः ‘सर्तिशास्त्वर्तिभ्यश्च । ३।१।५।६।’ इत्यह् । ‘अद्वगोऽकु-
म्भकर्णः । ७।४।१।६।’ इति गुणः । सुग्रीवः शनैर्मनगावोधि लब्धसंज्ञो वभूव । ‘दीष-
जनबुधपूरितायिष्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।६।१।’ इति बुधेः कर्तृरि चिष्ट ॥
स बुद्धः कर्णनासिकम् । प्राण्यज्ञेत्वादेकवद्वावः । अस्यालुच्चीत् कुचवान् ॥
राक्षसस्येति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ५७ ॥

राक्षसस्य न चात्रासीत् प्रनंष्टुमयतिष्ठ च ।

अक्रोधि कुम्भकर्णेन पेष्टुमारभिं च क्षितौ ॥ ५८ ॥

राक्षसस्येत्यादि—राक्षसस्य कुम्भकर्णस्य सम्बन्धे स सुग्रीवो न चात्रासीत्
न त्रस्तः । राक्षसात् प्रनंष्टुं पलायितुम् । मस्तिनशार्णीष्ठे । ७।१।६।०।

१ महान्तम् । २ ‘द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम् । २।४।२।’ इति शास्त्रेणेति शेषः ।

इति नुम् । अयतिष्ठ च यतते स्म । कुम्भकर्णेनात्मनोऽवस्थां दृष्टा अक्रोधि
कुद्धम् । भावे लुह् । क्षितौ च पेषुं तूर्णयितुं सुग्रीव आरम्भ आरब्धः ।
कर्मणि लुह् । ‘रमेरशब्लिटोः ।७।१।६३।’ इति नुम् ॥ ५८ ॥

सुग्रीवोऽस्याप्रशद्वस्तात्समगाहिष्ट चाम्बरम् ।

तूर्णमन्वसृपद्राममाननन्दच वानरान् ॥ ५९ ॥

सुग्रीव इत्यादि—अस्य कुम्भकर्णस्य हस्तात् सुग्रीवः अभ्रशत् अष्टः ।
‘अशु अंशु अधःपतने’ पुषादिः । स चाम्बरमाकाशमगाहिष्ट आक्रान्तवान् ।
‘गाहू विलोडने’ अनुदातेत् । तूर्ण च राममन्वसृपत् अनुगतः ।
लादित्वादङ् । वानरांश कर्णगतिसिककर्तनेनाननन्दत् तोषितवान् । नन्दतेर्ण्य-
न्तस्य रूपम् ॥ ५९ ॥

अतत्वरच्च तान्योद्गुमचिचेष्टच राघवौ ।

कुम्भकर्णो न्यवर्तिष्ठ रणेऽयुत्सन्त वानराः ॥ ६० ॥

अतत्वरदित्यादि—तांश्च वानरान् योद्गुमतत्वरत् त्वरयति स्म । ‘मा
विलम्बव्यम्’ इति । त्वरेण्यन्ताच्छङ् । ‘अत् स्मद्वृत्वप्रथमदस्तुस्पाशम् ।७।४।९५।’
इति अभ्यासस्य अन्त्वम् । राघवौ च रामलक्ष्मणो योद्गुमचिचेष्टत् व्यापारयति
स्म ‘विभाषा वेष्टिचेष्टयोः ।७।४।९६।’ इत्यभ्यासस्यात्वपक्षे रूपम् । स
कुम्भकर्णो योद्गु न्यवर्तिष्ठ निवृत्तः । वृतिर्दुतादिः । ‘दुद्धयो लुहि ।१।३।९।१।’
इत्यात्मनेपदे नाहङ् । वानराश्चायुत्सन्त युध्यन्ते स्म ॥ ६० ॥

अविवेष्टन्तपादेशादारुक्षंश्चाशु राक्षसम् ।

तानधावीत्समारूढांस्तेऽप्यस्तंसिषताकुलाः ॥ ६१ ॥

अविवेष्टवित्यादि—वानरा राक्षसमविवेष्टन वेष्टयन्ति स्म । नृपादेशादाशु
राक्षसमारूक्षन् आरूढाः । रुहः ‘शल इगुपधादिनिटः क्सः ।३।१।४५।’ इति
क्सः । तांश्च वानरानारूढान् कुम्भकर्णोऽधावीत् धूतवान् । ‘स्वरतिसूति-
सूयतिवृद्धितो वा ।७।२।४४।’ इतीदृ । ‘तिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु ।७।२।१।’
इति वृद्धिः । तेऽप्याकुलाः सन्तोऽस्तंसिषत स्तस्ताः पतिता इत्पर्थः । ‘संसु-
धवंसु अंसु अवसंसने’ दुतादिः । परस्मैपदाभावान्नाहङ् ॥ ६१ ॥

१ ‘ओम पुष्करमम्बरम्’ दृष्ट्यमरः । २ ‘युषादिदुताद्युलदितः परस्मैपदेषु ।३।३।
४५।’ हस्तैः लक्ष्मिः हि, परस्मैपदृ एव प्रवर्तते ।

अग्रसिष्ठ व्यधाविष्ट समाश्निक्षब्दं निर्दयम् ।

ते चाप्यधोरिषु व्योरं रक्तं चावमिषु मुखेः ॥ ६२ ॥

अग्रसिष्ठेत्यादि—कुम्भकर्णः कांश्चिदप्रसिष्ठ ब्रंसते स्म । कांश्चिन्निर्दयं समाश्निक्षब्दत् । ‘श्लिष आलिङ्गने’ । ‘शिलषः । ३ । १ । ४६ ।’ इति क्षः । ते चाश्निष्टाः महाघोरं श्रुतिकद्म अघोरिषुः शब्दमुक्तवन्तः । ‘चुर भीमार्थशब्दयोः’ इति तुदादिरनुदात्तेत् । रक्तं चावमिषुः उद्धारणवन्तः ॥ ६२ ॥

स चापि रुधिरैर्मत्तः स्वेषामप्यदयिष्ट न ।

आग्रदीच्छायुरन्येषामरुद्ध च परोक्तमम् ॥ ६३ ॥

स चेत्यादि—स चापि कुम्भकर्णः रुधिरैर्मत्तः स्वेषामपि नादयिष्ट न यां कृतवान्, किमपरेषाम् । ‘अथीर्गर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।’ इति ष्टी । अन्येषां वानराणाम् आयुर्जीवितमग्रहीत् गृहीतवान् ‘हथन्तक्षण-सजागृणिश्चयेदिताम् । १२।११।’ इति न वृद्धिः । ‘भद्रोहीवायुः’ इति ठान्तरम् । तत्र तथासूतं कुम्भकर्णं दृष्टवतामन्येषामायुरदोहीव स्वयं तामिव । ‘दुहश्च । ३।१।६३।’ इति कर्मकर्त्तरि चिण् । पराक्रमं चान्येषामरुद्ध । आवृतवान् । रुधेः कर्माभिप्राये तद् । ‘झलो झलि । १२।२।६३।’ । एति सिचो लोपः । ‘झषस्तथोर्धोऽवः । ८ । २ । ४० ।’ । ‘झलां जश् गशि । १४।५३।’ ॥ ६३ ॥

संत्रस्तानामपाहारि सत्त्वं च वनवासिनाम् ।

अच्छेदि लक्ष्मणेनास्य किरीटं कवचं तथा ॥ ६४ ॥

संत्रस्तानामित्यादि—तेन च वनवासिनां सत्त्वमपाहारि अपहृतम् । सर्वेषां सत्त्वात् । कर्मणि लुड् । तथा लक्ष्मणेन अस्य कुम्भकर्णस्य किरीटं मुकुटं था कवचमच्छेदि छिन्नम् । कर्मणि लुड् । ॥ ६४ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

अभेदि च शरैर्देहः प्राशंसीत्वं निशाचरः ।

अस्पर्धिष्ट च रामेण तेनास्थाक्षिप्ततेषवः ॥ ६५ ॥

अभेदीत्यादि—देहश्चास्य लक्ष्मणस्य शरैः करणभूतैरभेदि छिन्नः । निशा-वरश्च तं लक्ष्मणं प्राशंसीत् त्वतवान् । ‘साधु भवता युद्धम्’ इति । रामेण

सहास्यर्थं योङु स्पृष्टे स्म । तेन रामेणास्य कुम्भकर्णस्य इषवः अश्विष्ठत
ग्रीष्माः कर्मणि लुङ् । हलन्तादात्मनेपदे सिचः किञ्चाद् गुणाभावः ॥ ६५ ॥

यैरधानि खरो वाली मारीचो दूषणस्तथा ।

अवामंस्त स तान् दर्पात् प्रोदयंसीच मुद्ररम् ॥ ६६ ॥

यैरित्यादि—यैः शरैश्च खरोऽधानि व्यापादितः । कर्मणि लुङ् । वे आश्व-
स्तोति योज्यम् । स कुम्भकर्णस्तान् ब्रन् दर्पादवामंस्त अवमन्यते स्म । मुद्ररं
प्रोदयंसीत् उद्धर्णवान् । ‘यमरमनमातां सक् च ।७।२।७३।’ इति सगिटौ ॥ ६६॥

वायव्याख्येण तं पाणिं रामोऽच्छैत्सीत्सहायुधम् ।

अदीपि तरुहस्तोऽसावधावीच्चारिसंमुखम् ॥ ६७ ॥

वायव्याख्येणोत्यादि—येन पाणिना मुद्ररम्यवंसीत् पाणिं सहायुधं रामो वाय-
व्याख्येण मरुदेवतादत्तेन अच्छैत्सीत् । छिन्नाणिश्चासौ तरुहस्तः तरुहस्ते
थस्योति तरोः प्रहरणत्वात् सप्तस्यन्तस्य परानिपातः । अदीपि दीप्यते स्म ।
‘द्वीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ।३।१।६१।’ इति कर्तरि चिण् ।
आरिसंगुखं च रामाभिमुखमधावीत् वेगेन गतवान् ॥ ६७ ॥

सवृक्षमच्छिदत्तस्य शक्राख्येण करं नृपः ।

जड्हे चाशीशतद्वाणैरप्रासीदिषुभिर्मुखम् ॥ ६८ ॥

स वृक्षमित्यादि—तस्य सवृक्षमणि करं नृपो रामः शक्राख्येणाच्छिदत् ‘इरितो
वा ।३।१।५७।’ इत्यङ् । जड्हे चान्यैर्बाणैरशीशत् । गमनासमर्थे कृतवान् ।
शदेणौ ‘शदेरगतौ तः ।७।३।४२।’ इति तत्वम् । मुखं चेषुभिरप्रासीत् पूरित-
वान् । ‘प्रा पूरणे’ ॥ ६८ ॥

ऐन्द्रेण हृदयेऽव्यात्सीत् सोऽव्यवात्सीच गां हतः ।

अंपिक्षातां सहस्रे द्वे तदेहेन वनौकसाम् ॥ ६९ ॥

ऐन्द्रेणोत्यादि—ऐन्द्रेण हृददेवताकेन शरेण हृदयेऽव्यात्सीत् विद्धवान् ।
स तथा हतो गामध्यवात्सीत् भूमिमध्युषितवान् । तस्य रक्षसः पततो देहेन,
वनौकसां वनमोक्तो निवासो येषां तेषां वानराणां द्वे सहस्रे अपिक्षातां चूर्णिते ।
‘पिष्ठृ संचूर्णने’ । कर्मणि लुङ् ॥ ६९ ॥

१ मरुदेवताकेनेति वक्तव्यम्, विश्वाभिमेत्रतरप्रसादात् कस्याप्यवस्थानधिगतत्वात् ।
‘सास्य देवता ।७।२।२४। इत्यधिकारे ‘बालवृत्तपितृष्ठसो यत् ।४।२।३।१।’ इतिशाख्येण
स्पृष्टितेन वायव्यपदेशापि वायुदेवताकंसमेव लोक्यते । २ ‘ओकः सशाश्रयश्चोका’
इत्यमर्तः ।

अस्ताविषुः सुरा रामं दिशः प्रापन् निशाचराः ।

भूरकम्पिष्ट साद्रीन्द्रा व्यचालीदम्भसां पतिः ॥ ७० ॥

अस्ताविषुरित्यादि—तस्मिन् हते सुरा देवा राममस्ताविषुः स्तुवन्ति स्म ।

‘स्तुसुषूधूम्यः परस्मैपदेषु । ७ । २ । ७२ ।’ इतीहा॒। निशाचरास्तद्यादिशः प्रापन् प्राप्तवन्तः । ‘आप्त्वा व्याप्तौ ।’ साद्रीन्द्रा सकुलपर्वता भूमिरकम्पिष्ट चलते स्म । महाकायस्य निपतनात् अम्भसां पतिः समुद्रो व्यचालीन् प्रकुमितवान् ॥ ७० ॥

हतं रक्षांसि राजानं कुम्भकर्णमशिश्रवन् ।

अरोदीद्रावणोऽशोचीन् मोहं चाशिश्रियत् परम् ॥ ७१ ॥

हतमित्यादि—हतं व्यापादितं कुम्भकर्णं रक्षांसि राजानं रावणमशिश्रवन् आविवतवन्तः । शृणोतेर्यन्तात् सनीव कार्यमिति ‘स्वविशृणोतिद्रवतिं प्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा । ७।४।८।१’ इत्यम्यासस्य विकल्पेनेत्वम् । एवं च कृत्वा अगुश्रवशिति पाठान्तरम् । द्विकर्मक्ता तु बुद्धर्थथत्वात् श्रुत्वा च रावणोऽरोदीत् अशूणि मुमोच । अशोचीत् शोचति स्म । ‘वेनापि त्यक्तोऽस्मि’ इति । परं च मोहं मूर्च्छामशिश्रियत् । ‘श्रिव् सेवायाम्’ । ‘णिश्रिदुषुम्यः कर्त्तरि चक्षु । ३।१।४।१’ इति चक्षु ॥ ७१ ॥

अथ द्वाभ्यांयुग्मकम् ।

अपप्रथद् गुणान् आतुराचिकीर्तच विक्रमम् ।

कुद्धेन कुम्भकर्णेन येऽदर्शिष्ठत शत्रवः ॥ ७२ ॥

अपप्रथदित्यादि—आतुरुणान् बुद्धिमत्त्वादीनपप्रथत् प्रस्थापितवान् । ‘प्रश्न प्रस्थाने’ चटादिः । तस्मात् प्यन्ताच्चक्षि ‘अत् स्मृदत्वरप्रथम्भ्रहस्तृस्तशाम् । ७ । ४ । ९५ ।’ इत्यत्वम् । विक्रमं च शौर्यमचिकीर्तत् उदीरितवान् । ‘कृत संशब्दने’ इति चौराहिकः ‘जिग्रतेर्वा । ७।४।६।’ इत्यर्थिकृत्य ‘उर्वर्त् । ७।४।७। इति कृकाराभावपक्षे रूपम् । ‘उपघायाश्च । ७।१।०।१।’ इतीत्वम् । विक्रमकीर्तनं चाह—कुद्धेन क्रोधकर्त्री कुम्भकर्णेन ये शत्रवोऽदर्शिष्ठत हृष्टाः । कर्मणि लुक् । ‘स्यसिच्चसीयुद्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशोऽज्ञनग्रहदृशां वा चिष्वदिद् च । ६।४।६।२।’ इति हशेत्विच्चप्पदिद् ॥ ७२ ॥

कथं न्वजीविषुस्ते च स चामृत महाबलः ।

अयुयुत्सिष्ठाश्वास्य कुमारा रावणं ततः ॥ ७३ ॥

कथमित्यादि—ते अल्पाः कथं नाम अजीविषुः जीविताः । स च कुन्भ-
कर्णो महाबलः अमृत मृतः । ‘स्रियतेर्लुङ्घिष्ठोऽच ।१।३।६।१’ इति तङ् ।
‘हस्तादङ्गात् ।१।२।२।७’ इति सिंचो लोपः । अनन्तरं कुमाराः राक्षसराजपुत्रा
देवान्तकादयो रावणं शोचन्तमाश्वास्य अपनीतशोकं कृत्वा अयुयुत्सिष्ठत
योद्धुमिष्ठवन्तः । ‘हलन्ताच्च ।१।२।१।०’ इति सनः किञ्च्चम् । ‘पूर्ववत्सनः ।
१।३।६।२’ इति तङ् ॥ ७३ ॥

देवान्तकोऽतिकायश्च विशिराः स नरान्तकः ।

ते चांहिष्ठत संग्रामं बलिनो रावणात्मजाः ॥ ७४ ॥

पुदेवान्तक इत्यादि—ते च बलिनो रावणात्मजाः देवान्तकोऽतिकायविशिरा
नरान्तकश्चेति चत्वारः संग्रामांहिष्ठत गतवन्तः । ‘अहि गतौ ।’ ॥ ७४ ॥

युद्धोन्मत्तं च मत्तं च राजा रक्षार्थमाञ्जिहत् ।

सुतानां निरगातां तौ राक्षसौ रणपण्डितौ ॥ ७५ ॥

युद्धेत्यादि—सुतानां रक्षार्थं राजां युद्धोन्मत्तं मत्तं च राक्षसम् आञ्जिहत्
प्रस्थापितवान् । अहतेर्णौ चङ्गपरे द्वितीयाञ्जिवशिष्ठस्य हीत्यस्य द्विर्वचनम् । तौ
राक्षसौ रणपण्डितौ निरगातां निर्गतौ । ‘इणो गा लुङ्ग ।२।४।४।५’ ॥ ७५ ॥

तैरजेष्ठत सैन्यानि द्विषोऽकारिष्ठाकुलाः ।

पर्वतानिव ते भूमावचैषुर्वानरोत्तमान् ॥ ७६ ॥

तैरित्यादि—तैः राक्षसैः वानराणां सैन्यानि अजेष्ठत जितानि । कर्मणि
लुङ् । अचिंवद्वावपश्चे रूपम् । द्विष आकुला अकारिष्ठत । ते राक्षसा
वानरोत्तमान् वानराणां प्रधानभूतान् पर्वतानिव भूमौ अचैषुः पुञ्जीकृतवन्तः ।
(चिंव चयने) ॥ ७६ ॥

अङ्गदेन समं योद्धुमघटिष्ठ नरान्तकः ।

प्रैषिषद्वाक्षसः प्रासं सोऽस्फोटीदङ्गदोरसि ॥ ७७ ॥

अङ्गदेनेत्यादि—नरान्तको राक्षसः रावणात्मजः अङ्गदेन सह योद्धुमघ—

सर्वः]

तिङ्काण्डम् ।

(४२३) ॥

टिष्ठ घटते स्म । राक्षसो नरान्तकः । प्रासं कुन्तं प्रैषिषत् । ‘इषु गतौ’ इत्यस्य
प्यन्तत्वं चण्डि रूपम् । स प्रासोऽङ्गदोरसि अस्कोटीन् विशीर्णः ॥७७॥

अङ्गवान् वालिसुतोऽहिंसीदत्तादच्च मुष्टिना ।

रावणिश्चाव्ययो योद्धुमारब्धं च महीं गतः ॥ ७८ ॥

अश्वानित्यादि—वालिसुतोऽङ्गदोऽश्वान् रथयुक्तानहिंसीत् व्यापादिवान् ।
‘तृह हिसि हिंसायाम् ।’ मुष्टिना पाणिना अतताडत् आहृतवान् ‘तड आधोते ।’
ताडनं ताडः । ‘भावे । ३ । ३ । १८ ।’ इति घब् । ताडं करोतीति णिच् ।
णाविष्टवदिति टिलोपः । ‘णौ चण्डशुपदाया हस्तः । ७।४।१।’ इति प्राप्ते ‘नामलो-
पिशस्वृदिताम् । ७ । ४ । २ ।’ हरि हस्तप्रतिषेधः । स च रावणि-
रूपयो व्यथारहितः । हताश्वादथादवर्तीर्यं महीं गतः सन् योद्धुमारब्धं
आरभते स्मा ‘झलो झलिऽटारारक्’ इति सिचो लोपेः वत्ववत्त्वे च रूपम् ॥७८॥

तस्याहारिषत प्राणा मुष्टिना वालिसूनुना ।

प्रादुद्रुवंस्ततः कुद्धाः सर्वे रावणयोऽङ्गदम् ॥ ७९ ॥

तस्येत्यादि—तस्य प्राणाः वालिपुत्रेण अहारिषत हृताः । कर्मणि लुह् ।
चिष्वद्धावः । ततोऽनन्तरं सर्वे रावणयः रावणस्यापत्यानि देवान्तकादयः
कुद्धाः सन्तोऽङ्गदं प्रादुद्रुवन् । ‘णिश्रिदुश्रुभ्यः कर्त्तरि चह् । ३ । १ । ४८ ।’
इति चह् ॥ ७९॥

ततो नीलहनूमन्तौ रावणीनवेष्टताम् ।

अकारिष्टां गिरीस्तुङ्गानरौत्सीत् त्रिशिराः शरैः ॥ ८० ॥

तत इत्यादि—ततो रावणीनङ्गदभिमुखमागच्छतो नीलो हनुमांश्चाववे-
ष्टां वेष्टितवन्तौ । ‘विभाषा वेष्टिचेष्टयोः । ७ । ४ । ९६ ।’ इत्यभ्यासत्या-
त्त्वम् । गिरीश्चाकारिष्टां विक्षिप्तवन्तौ । ‘कृ विक्षेपे ।’ सिचि बृद्धिः ।
तांश्च गिरीत्रिशिपान् त्रिशिराः शरैङ्गानरौत्सीत् आवृतवान् । ‘रुदिर-
ओवरणे’ ॥ ८० ॥

परिवेणावधिष्ठाय रणे देवान्तको बली ।

मुष्टिनाददरक्षस्य मूर्धनं मारुतात्मजः ॥ ८१ ॥

१ अत्र ‘अत इत् ४ । १ । ९३ ।’ इतीन् ।

परिषेणोत्यादि—अथ देवान्तको बली परिषेणावधिष्ठ हतवान् । ‘आओ अमहनः । १ । ३ । २८ ।’ इति तङ् । अविवक्षितकर्मकत्वात् ‘आत्मनेपदेष्व-न्यतरस्याम् । २।४।४। इति हनो वधादेशः । तस्य न्रतः प्रहृतो मूर्धनं मारुतात्मजः हनुमान् मुष्टिना अददरत् दारितवान् । ‘दृ विदारणे’ एन्तस्य चङ्गपरे णौ ‘अस्मृदृत्वप्रथम्भ्रदस्तुप्सशाम् । ७।४।९।५।’ इत्यभ्यासस्यात्त्वम् ॥८॥

अदीदिपत् ततौ वीर्यं नीलं चापीपिडच्छ्वरैः ।

युद्धोन्मत्तस्तु नीलेन गिरिणानायि संक्षयम् ॥ ८२ ॥

अदीदिपदित्यादि—ततो देवान्तकविनाशादनन्तरं युद्धोन्मत्तो राजसुतानां रक्षार्थं यः प्रेषितः स वीर्यमदीदिपत् । ‘भ्राजभासभाषदीपजीवमील-पीडामन्यतरस्याम् । ७। ४। २।’ इति हस्ताभावपक्षे रूपम् । नीलं च शरैरपीपिडत् पीडितवान् । हस्ताभावपक्षे रूपम् । अपीपरदिति पाठान्तरम् । पूरितवानित्यर्थः । ‘प पूरणे’ इति चुरादिः । स तु नीलेन वानरेण संक्षयं गिरिणा अनायि नीतः कर्मणि लुह् ॥ ८२ ॥

अबभ्राजद् ततः शक्तिं त्रिशिराः पवनात्मजे ।

हनूमता क्षतास्तस्य रणेऽमृषत वाजिनः ॥ ८३ ॥

अबभ्राजदित्यादि—ततोऽनन्तरं त्रिशिरा राक्षसो रावणकुमारः पवनात्म-जविषय शक्तिं वीर्यमवभ्राजत् दीपयति स्म । ‘भ्राजभासभाषदीपजीवमी-लपीडामन्यतरस्याम् । ७।४।३।’ इति हस्ताभावपक्षे रूपम् । तस्य वाजिनो रथ-युक्ता रणे हनूमता हताः सन्तः अमृषत मृताः । ‘त्रियतेर्लुङ्गलिङ्गोश्च १। ३।६।१।’ इति तङ् ॥ ८३ ॥

अस्तसज्जाहतो मूर्धि खड्ढं चाजीहरद् द्विषा ।

प्राणानौज्जीवं खड्डेन छिन्नैस्तेनैव मूर्धभिः ॥ ८४ ॥

अस्तसदित्यादि—त्रिशिराश्च हनूमता मूर्ध्नि हतः सन् रथाद्भूमौ अस्त-संत् रथाद्भूमौ स्ततः । ‘युद्धयो लुडि । १।३।९।१।’ इति परस्मैपदम् । चुतादित्वा-दह् । क्षुति इत्यनुनासिकलोपः । स्ततश्च स खड्ढं हस्तस्थं द्विषा हनूमता अजीहरत् हारितवान् । तेनैव च खड्ढेन छिन्नैमूर्धभिर्हेतुभूतैः प्राणानौज्जीत्-त्यक्तवान् । ‘उज्ज उत्सर्गे’ ॥ ८४ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

मत्तेनामारि सम्प्राप्य शरभास्तां महागदाम् ।

सहस्रहरिणाक्रीडीटतिकायस्ततो गणे ॥ ८५ ॥

मत्तेनेत्यादि—शरभेण वानरेणोस्तां क्षिप्तां महामद्वां प्राप्य मत्तेन
सुतानां रक्षार्थं प्रेषितेन राक्षसेनाभारि सृतम् । भावे लुड् । ततोऽनन्तरं
अतिकायो राजपुत्रो रणे अक्रीडीन् विहरति स्म । रथेनोर्ति वहयति । सहस्रं
हरैर्योऽश्वा यस्य रथस्य ॥ ८५ ॥

रथेनाविव्यथचारीन् व्यचारीच निरङ्कुशः ।

विभीषणेन सोऽरथायि राघवस्य महारथः ॥ ८६ ॥

रथेनेत्यादि—अरीचचाविव्यथन् पीडितवान् । व्यथेष्यन्तस्य चक्षि-
रूपम् । निरङ्कुशश्चाप्रतिहतशक्तिव्यचारीत् भ्रान्त्यति स्म । रान्तत्वा-
द्वृद्धिः । स विचरनमहारथः विभीषणेन राघवस्य आस्यायि कथितः ।
कर्मणि लुड् ॥ ८६ ॥

अतस्तम्भदर्यं वज्रं स्वयम्भुवमतृतुष्टत् ।

आशिक्षिष्ट महाक्षाणि रणेऽरक्षीच राक्षसान् ॥ ८७ ॥

अतस्तम्भदित्यादि—अयं स्वशक्त्या वज्रम् अतस्तम्भत् । स्तम्भितवान्
'स्तम्भि स्कम्भि प्रतिष्ठम्भे ।' प्यन्तस्य णिश्रिदुम्भुभ्यः कर्त्तरि चक्षु । ३
३ १ । ४८ । इति चक्षु । स्वयम्भुवमतृतुष्टत् । उप्रेण तपसा आस्त-
धनात् तोषितवान् । 'तुष प्रीतौ' प्यन्तः । महाक्षाणि दिव्यानि चाशिक्षिष्ट दिव्यानि
स्म । 'शिक्ष.विद्योपादाने' रणे च राक्षसानरक्षीत् रक्षति स्म ॥ ८७ ॥

अध्यगीर्षार्थं शास्त्राणि यमस्याहोष्ट विक्रमम् ।

देवाहवेष्वदीपिष्ट नाजनिष्टस्य साव्वसम् ॥ ८८ ॥

अध्यगीर्षेत्यादि—अर्थशास्त्राणि पराभिसन्वानार्थानि अध्यगीष्ट अधीत्व-
वान् । विभाषा लुड्लङ्गः । २१४ । ५० ।^१ इति इको गाक्षादेशः । यस-
स्याप्ययं विक्रममहोष्ट अपनीतवान् । 'हुड् अपनश्चने ।'^२ अहलन्तत्वात्सि-
च्चो न किन्त्वम् । देवाहवेष्वदीपिष्ट शोभितः । अस्य च साव्वसं भयं ना-
जनिष्ट न जातम् । 'दीपजनबुधपूरितायिष्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३११६१ ।^३
इति चिष्ववद्वावपक्षे रूपम् ॥ ८८ ॥

एष रावणिरापादि वानराणां भयद्वृरः ।

आद्वताऽथ स काकुत्स्थं धमुश्चाऽपुस्फुरद् गुरु ॥ ८९ ॥

१ 'असु क्षेपणे' कः । २ 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाचिषु । शुक्राहिक्षिपि-
भक्षेषु हरिना कपिले क्रिषु ।' हृत्यमरः ।

एष इत्यादि—य एवं स रौवणिः रावणात्मजः आपादि अस्माकं समीक्षा-
पमागतः । ‘पद गतौ’ । ‘चिण् ते पदः । ३ । १ । ६०’ इति चिण् ।
यतो रावणीर्वनराणां भयङ्करः । अथ सोऽतिकायः समीपमागतः
काकुत्थमाहृत युद्धायाहृतवान् ‘आत्मनेपेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४ ।’
इत्यहूँ । बनुश्च गुरु महदपुस्तुरत् स्फारितवान् । ‘चिस्फुरोणौ । ६ ।
१ । ५४ ।’ इत्यात्वम् ॥ ८९ ॥

सौमित्रिः सर्पवत् सिंहमार्दिदत् तं महाऽऽहवे ।

तौ प्राचीवृततां जेतुं शरजालान्यनेकशः ॥ ९० ॥

सौमित्रिरित्यादि—यथा सैर्पः सिंहं गच्छति तद्वत्तमतिकायमार्दिदत् गत-
वान् । ‘अर्द गतौ’ । अर्दनमर्दः । तत्करोतीति णिच् । तदन्ताच्छिं रूपम् ।
‘अर्द हिंसायाम्’ इति चौरादिको वा । तौ सौमित्रितिकायौ जेतुं शरजालानि
प्राचीवृततां बहूनि प्रवर्तितवन्तौ ‘उत्तरू । ७ । ४ । ७ ।’ इति ‘जौ
चड्युपधाया’ अपवाद ऋकारः ॥ ९० ॥

अच्छैत्तां च महाऽऽत्मानौ चिरमश्रमतां न च ।

तथा तावास्थतां बाणानतानिष्टां तमो यथा ॥ ९१ ॥

अच्छैत्तामित्यादि—तौ च महात्मानौ परस्परस्य शरजालानि अच्छैत्तां
छिन्नवन्तौ । ‘इरितो वा । ३ । १ । ५७ ।’ इत्यङ्गभावपक्षे रूपम् । ‘श्लो श्लिं
। ८ । २ । २६ ।’ इति सिचो लोपः । चिरं चिरेणापि नाश्रमतां न श्रान्तौ ।
श्रमिः पुष्पादिः । तौ तथा बाणावास्थतां क्षिप्तवन्तौ । ‘अस्यतिवक्ति-
ख्यातिभ्योऽङ् । ३ । १ । ५२ ।’ इत्यहूँ ‘अस्यतेष्युक् । ७ । ४ । १७ ।’ यथा
अन्धकारमतानिष्टां विस्तारितवन्तौ । ‘अतो हलादेलघोः । ७ । २ । ७ ।’
इति वृद्धिविकल्पः ॥ ९१ ॥

सौर्यग्रेये व्यकारिष्टामखे राक्षसलक्ष्मणौ ।

ते चोपागमतां नाशं समासाद्य परस्परम् ॥ ९२ ॥

सौर्यग्रेये इत्यादि—राक्षसः सौर्य सूर्यदेवताकमखं व्यकारीत् विश्वे-
वान् ‘कृ विक्षपे ।’ लक्ष्मणोऽप्याग्नेयम्, इत्येवं तौ व्यकारिष्टाम् । ते चाखे
परस्परमासाद्य, प्राप्य नाशमुपागमताम् । लदित्वादङ् ॥ ९२ ॥

१ ‘अत इवूँ । १ । १५ ।’ इतीवूँ । २ एतादश उपमानोपमेयभावः ‘कुमारा
विश्वेष्ट इवूँ’ इतीत्वत् न रमणीयः ।

अविभ्रजत् ततः शस्त्रमैषीकं राक्षसो रणे ।

तदप्यध्वसदासाद्य माहेन्द्रं लक्ष्मणेरितम् ॥ ९३ ॥

अविभ्रजदित्यादि—ततोऽनन्तरं रावणः ऐषीकमखम् । इषीकाया इदम् । ततस्वर्सोतःसु प्रविशत् जीवितं संपहरति । रणे अविभ्रजत् दीपितवान् । ‘आजभासभाषदीपजीवसीलपीडामन्यतरस्याम् । ७ । ४ । ३ ।’ इत्युपधायां हस्तत्वम् । तदपि अध्वसत् ध्वस्तम् । ध्वसिर्वृतादिः । लक्ष्मणेरितं लक्ष्मणेरितं माहेन्द्रमखमासाद्य तद्वारोदेवं कृत्वा ध्वसयति स्म ॥ ९३ ॥

ततः सौमित्रिरसमार्षीददेविष्ट च दुर्जयम् ।

ब्रह्माखं तेन मूर्धनमदध्वंसन्नराद्विषः ॥ ९४ ॥

तत इत्यादि—अनन्तरं सौमित्रिः दुर्जयम् अनभिभवनीयं ब्रह्माखं मस्मार्षीत् स्मरति स्म । ‘सिन्धि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।१।’ तच्च स्मरणादुपस्थितम् अदेविष्ट योतते स्म । ‘तेव देवृ देवने’ इत्यनुदाचेत् योतने द्रष्टव्यैः । देवनस्यानेकार्थत्वात् । तेन च ब्रह्माखेण प्रयोजकक्री नरैद्विपो राक्षसस्य मूर्धनमदध्वंसत् पातिवान् सौमित्रिः । हेतुमण्णन्ताच्चाङ्गि रूपम् ॥ ९४ ॥

ततोऽकन्दीदशश्रीवस्तमाशिश्वसदिन्द्रजित् ।

निरयासीच्च संकुद्धः प्रार्चितच्च स्वयम्भुवम् ॥ ९५ ॥

तत इत्यादि—ततः सुतमरणानन्तरं दशश्रीवः अकन्दीत् रोदिति स्म । तं च क्रन्दन्तमिन्द्रजिदाशीश्वसत् आश्वासितवान् । ‘मथि जीवाति किं वृथा जनवद्वोदिषि’ इति । हेतुमण्णन्तस्य चक्षि रूपम् । संकुद्धश्च निरयासीत् । रावणगृहाग्रिर्गतः । ‘या प्रापणे’ । निर्गत्य च संगृहे स्वयम्भुवं ब्रह्माणं प्रार्चितच्च पूजितवान् । ‘अर्च पूजायाम्’ इति चुरादेः । ‘चक्षि । ६।१।१।’ इति अजादिद्विरचनम् ॥ ९५ ॥

अहौषीत्कृष्णवत्मानं समयश्चमण्डलम् ।

सोऽलब्धं ब्रह्मणः शस्त्रं स्यन्दनं च जयवहम् ॥ ९६ ॥

अहौषीदित्यादि—कृष्णवत्मानमार्गिनमहौषीत् हव्येन प्रीणितवानित्यर्थः । अश्वमण्डलम् आशुधग्रामं समयष्टि पूजितवान् । स इन्द्रजित् ब्रह्मणः सकाशात्

१ प्रकृतानुगुण्यमपेक्ष्येदमुक्तम् । २ नरान्तकस्य । ३ ‘बाहैः शुभ्मा कृष्णवत्मा’ इत्यमरः ।

ज्यावहमस्त्रं स्यन्दनं चालव्य लब्धवान् । ‘झलो झलि । ८।२।२६।’
इति सिंचो लोपः ॥ ९६ ॥

तमध्यासिष्ट दीप्राप्रममोदिष्ट च रावणिः ।

छन्नरूपस्ततोऽकर्तीदेहान् रावणविद्विषाम् ॥ ९७ ॥

तमित्यादि—त्वं स्यन्दनं दीप्राप्रम उपरिभागस्य रत्नप्रत्युपत्वात् । अध्या-
सिष्ट अध्यासितवान् । ‘अधिशीङ्गस्थासां कर्म । १४।४६।’ इति कर्मसंज्ञा ।
तत्रस्थश्च रावणिरिन्द्रजित् अमोदिष्ट हृष्टवान् । ततोऽसौ छन्नरूपः
अदृश्यः सन् रावणविद्विषां वानराणां देहानकर्तीत् छिन्नवान् । ‘कृती
छेदने ।’ ‘सेऽसिंचि कृतचृतच्छृदृदृदृनृतः । ७।२।५७।’ इति सिंचाऽन्यत्रेड्डिक-
कल्पः । ‘रावणिविद्विषाम्’ इति पाठान्तरम् । तत्र देवान्तकादि-
विद्विषामित्यर्थः ॥ ९७ ॥

सप्तष्टिं प्लवङ्गानां कोटीर्बार्णैरसूषुपत् ।

निशान्ते रावणिः कुद्धो राघवौ च व्यमूसुहत् ॥ ९८ ॥

सप्तष्टिमित्यादि—वानराणां कोटीः सप्तष्टिं बाणैरसूषुपत् स्वापित-
वान् व्यापादितवानितर्थः । ‘स्वापेश्वकि । ६।१।१।’ इति सम्प्रसारणम् ।
‘निशान्ते च निशावसाने रावणिः कुद्धः सन् राघवौ व्यमूसुहत् मोहितवान्
‘सुह वैचित्रे’ औ चकि रूपम् ॥ ९८ ॥

अपिस्फवत् स्वसामर्थ्यमगूहीत्सायकैर्दिङ्गः ।

अघोरीच्च महाघोरं गत्वा प्रैषीच्च रावणम् ॥ ९९ ॥

अपिस्फवदित्यादि—तौ मोहयित्वा आत्मीयं सामर्थ्यमपिस्फवत् वर्ष-
यति सम । ‘ईहशस्तादशोऽहम्’ इति । ‘स्फायो वः । ७।३।४१।’ इति
णौ वत्वम् । दिशः सांयकैरगूहीन् छादितवान् । ‘नेटि । ७।१।४।’ इति
वृद्धिप्रतिषेधः । हृष्टन्तत्वाद्वा । महाघोरं चातिरौद्रं शब्दमघोरीत् मुक्तवान् ।
गत्वा च लङ्घां रावणं प्रैषीत् प्रैषितवान् । ‘गच्छ तत् समाद्दुतपराक्रमं द्रष्टुम्’
इति । ‘इषु गतौ’ ॥ ९९ ॥

१ बाणैः । ‘शरे स्वद्वे च सायकः ।’ इत्यमरः । ‘षोडशकर्मणि’ ‘एकुल्लृत्वौ तद्भू-
ष्मैः’ इति एवुल् । ‘सायकैः’ इति पाठे तु ‘शो तनूकरणे’ इत्यस्य रूपम् । उभयन्त्र
‘आतो त्रुक् चिष्टहतोः ७।३।३३।’ इति शुक् ।

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

विभीषणस्ततोऽबोधि सस्फुरौ रामलक्ष्मणौ ।

अपारीत्स गृहीतोल्को हतशेषान् प्लवङ्गमान् ॥ १०० ॥

विभीषण इत्यादि—ततस्तस्मिन् काले विभिषणः रामलक्ष्मणौ सस्फुरौ
चलन्तौ अबोधि बुद्धबान् जीविताविति । ‘दीपजनबुधपूरिताथिष्यायिभ्योऽन्य-
तरस्याम् । ३।१६।१’ इति कर्तरि चिण् । स्फुरणं स्फुरः । घवर्णे कविधानम् ।
यदुक्तम्’ स्यास्नागाव्यधिहनियुद्यर्थे इति तदुपलक्षणं न परिगणनम् । स्व
विभीषणः अन्धकारात् गृहीतोल्कः सन् हतशेषान् प्लवङ्गमानपारीन् ‘मा भैष्ट-
इति प्रीणितवान् ॥ १०० ॥

मा शोचिष्ट रघुव्याघ्रौ नामृषातामिति ब्रुवन् ।

अवाबुद्ध स नीलादीन् निहतान् कपियूथपान् ॥ १०१ ॥

मा शोचिष्टेत्यादि—यूयं मा शोचिष्ट शोकं मा कुरुत । ‘माङ्गि लुङ् । ३।
३।१७।५’ यस्माद्बुध्याघ्रौ नामृषातां न मृतौ इत्येवं ब्रुवन् अपारीदिंति
योज्यम् । ये च निहतास्तानीलादीन् कपियूथपान् स विभीषणः परित्रमान्
अवाबुद्ध अवबुद्धवान् । एते हता इति । ‘दीपजनबुधपूरिताथिष्यायिभ्यो-
ऽन्यतरस्याम् । ३।१६।१’ इति चिणो विकल्पितत्वादभावपक्षे रूपम् ॥ १०१ ॥

तत्रेषु जाम्बवान् प्राणीदुदमीलीज्ज लोचने ।

पौलस्त्यं चागदीत् कच्चिदजीवीन् मासुतात्मजः ॥ १०२ ॥

तत्रेत्यादि—तत्र तेषु जाम्बवान् ईर्षेन्मनाकृ प्राणीत् उच्छृसिति स्म ।
‘अन प्राणने ।’ ‘अनितेः । ४।४।११’ इति णत्वम् । लोचने च उदमी-
लीत् उमीलितवान् । ‘मील हमील निमेषणे’ । पौलस्त्यं विभीषण-
चागदीत् गदितवान् । ‘गद व्यक्तयां वाच्च’ ‘अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।’
हृत्यवृद्धौ रूपम् । कच्चित् किं हनुमान् अजीवीति जीवितवान् । न मृत
इति भावः ॥ १०२ ॥

तस्य क्षेमे महाराज ! नामृष्महसिंहा वयम् ।

पौलस्त्योऽशिश्रवत्तं च जीवन्तं पवनात्मजम् ॥ १०३ ॥

३ ‘किञ्चिद्दीर्घन्मनामस्मे’ हृत्यमरः ।

तस्येत्यादि—तस्य हनुमतः क्षेमे जीवितत्वे सति हे महाराज ! अखिलाः सर्वे एव वयं नामृष्महिं न सृता इति । ‘आशंसायां भूतवच्च । ३।३।१३२।’ इति लुङ् । एवमुक्तः पौलस्यो विभीषणः जीवन्तं पवनात्मजं हनु-मन्तं तमशिश्रवत् श्रावितवान् शृणोत्पर्णन्ताच्चिङ्गि सन्वद्धावे अभ्यासेव-र्णस्य ‘स्वतिशृणोतिद्रवतिप्रवातिप्लवतिच्यवतीनां वा । ७।४। ८।१।’ इती-त्वपक्षे रूपम् ॥ १०३ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

आयिष्ट मारुतिस्तत्र तौ चाप्यहृषतां ततः ।

प्राहैषां हिमवत्पृष्ठे सर्वौषधिगिरिं ततः ॥ १०४ ॥

आयिष्टेत्यादि—तत्र पौलस्येन विभीषणेन । आहूतो मारुतिरायिष्ट आग-तवान् । ‘अय गतौ’ आङ्गपूर्वः । ततोऽनन्तरं तौ जाम्बवद्विभीषणौ अहृषांतां दृष्टवन्तौ । ‘हृष तुष्टै’ पुषादिः । ततस्तौ हृष्टौ हनुमन्तमिति वश्यमाणेन सम्बन्धः । प्राहैषां प्रहितवन्तौ । ‘सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु १७।२।१।’ ‘हि गतौ’ । हिमवत्पृष्ठे हिमवतः पृष्ठे । सर्वौषधिगिरिम् । सर्वा ओषधयो यस्मिन्निति ॥ १०४ ॥

तौ हनुमन्तमानेतुमोषधीं मृतजीविनीम् ।

सन्धानकरणीं चान्यां विशल्यकरणीं तथा ॥ १०५ ॥

तावित्यादि—या सृतं जीवयति या च क्षतस्य सन्धानं करोति तथा विशल्यं च यों करोति । ‘कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।’ तामोषधी-मानेतुं प्राहैषामिति योज्यम् । ‘ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् । ६।३। १३२।’ इति दीर्घत्वम् ॥ १०५ ॥

प्रोदपाति नभस्तेन स च प्रापि महागिरिः ।

यस्मिन्नज्ज्वलिषु रात्रौ महौषध्यः सहस्राः ॥ १०६ ॥

प्रोदपातीत्यादि—रेन हनुमता नमः प्रोदपाति उत्पतितम् । स च महान् गिरिस्तेन प्रापि प्राप्तः । कर्मणि लुङ् । यस्मिन् गिरौ महौषध्यः सहस्रशोऽनेकधा रात्रावज्ज्वलिषुः दीप्यन्ते स्म । ‘अतो ल्परान्तस्य । ७।२।२।’ इति वृद्धिः ॥ १०६ ॥

निरचायि यदा भेदों नौषधीनां हनुमता ।

सर्वे, एव समाहारे तदा शौलः सहौषधिः ॥ १०७ ॥

निरचायीत्यादि—यदा हनुमता ओषधीनां भेदो न निरचायि विशेषतो न
निश्चितः तदा सर्वे एव शैलः सहौषण्ठिरोषयिसहितः समाहारि समानीतः ॥ १०७ ॥

प्राणिषु निहताः केचित् केचित्तु प्रोदमीलिषुः ।

तमोऽन्येऽहसिषुयोंधा व्यजृमिषत चापरे ॥ १०८ ॥

प्राणिषु रित्यादि—यदा ओषधिस्त्रियान् ते निहताः केचिद्योधाः प्राणिषुः
उच्छ्वसितवन्तः । केचित्तु प्रोदमीलिषुः उन्मीलितलोचना बभूदुः । अन्ये
त्रमो मौहमहासिषुः त्यक्तवन्तः । ‘यमरमनमातां सक्त च । ८ । २ । ७३ ।’
इति सगिटौ । तथाऽन्येऽहसिषुरिति पाठान्तरम् । ते तथाभूतमात्मानं
द्वाष्टा सविलासं हसितवन्तः । अपरे व्यजृमिषत जृमिकां कृतवन्तः ।
‘जृमि—जभी गात्रविनामे’ इत्यात्मनेपदी ॥ १०८ ॥

अजिग्रपंस्तथैवाऽन्यानोषधीरालिपंस्तथा ।

एवं तेऽचेतिषुः सर्वे वीर्यं चायिषतायिकम् ॥ १०९ ॥

अजिग्रपन्नित्यादि—तथान्यान् लब्धसंज्ञानोषधीराजिग्रपन् द्वायितवन्तः ।
नासिक्याभ्यवहारितवन्त इत्यर्थः । ‘शिवुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मा-
कर्मकाणामणि कर्ता स पौ । १ । ४ । ५२ ।’ इति प्रत्यवसाने कर्मसंज्ञा ।
‘जिग्रतेर्वा । ७।४।६।’ इति पौ चड्युपृष्ठाया हस्तः । ७।४।१। इत्य-
क्तारः । तथालिपन् लिपवन्तः अन्यानोषधीमिरित्यर्थात् । ‘लिपिसिंचि-
ह्नश्च । ३।१।५३।’ इत्यङ् । एवमनेन प्रकारेण सर्वेऽचेतिषुः संज्ञां लब्ध-
वन्तः । ‘वितीं संज्ञाने ।’ अथिं च वीर्यमोषधिवलादयिषत दधाते स्म ।
‘स्थाव्योरित्वः । १।४।१७।’ इतीत्वम् ॥ १०९ ॥

अजिहृदत्स काकुत्थयौ शेषांश्चाजीजिवत् कर्पीन् ।

हनूमानथ ते लङ्घामश्चिनादीदिपन् द्रुतम् ॥ ११० ॥

अजिहृददित्यादि—एवं च सति हनुमान् काकुत्थावजिहृदत् द्वादितवान् ।
‘हादी सुखे’ एवन्तः । शेषांश्च कर्पीनजीजिवत् जीवयति स्म । अथ ते
जीविताः सन्तः लङ्घां द्रुतमदीदिपन् दीपितवन्तः । ‘आजभासभाषदीपजीवमी-
लपीडाऽमन्यतरस्याम् । ७।४।३।’ इति हस्तपक्षे रूपम् ॥ ११० ॥

१ ‘परौ सुवेऽवज्ञाने’ इत्येतच्छास्त्रवटकावज्ञानपदसामर्थ्यकल्पितवेन ‘धातु-
नामने कार्थत्वात्’ इति वचनेन प्रकृते ‘प्रा’ धातोःप्रत्यवसानार्थत्वमादाय अस्य शास्त्र-
स्य प्रवृत्तिः ।

समनात्सीत्तः सैन्यममार्जीद्विलुतोमरम् ।

अमार्क्षीच्चासिपत्रादीनवभासत्परव्यधान् ॥ १११ ॥

समनात्सीदित्यादि-ततः सैन्यं समनात्सीति सन्नद्धम् । ‘नहो धः । ८।२।३४।’
ति धत्वम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । भल्लतोमरममार्जीति शोधितवान् ।
जुजेरुदित्त्वादिद् पक्षे रूपम् । असिपत्रादीनमार्क्षीति । इडभावे रूपम् ।
उभयत्रापि ‘मृजेर्वृद्धिः । ७।२।११४।’ परश्वधानवभासत् दीपितवान्
‘आजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतेरस्याम् । ७।४।३।’ इति हस्तपक्षे रूपम् ।
अभासीच्चेति पाठान्तरम् । तत्रान्तर्भावितो पर्याथः ॥ १११ ॥

कुम्भकर्णसुतौ तत्र समनदां महाबलौ ।

निकुम्भश्चैव कुम्भश्च प्रापतां तौ पुवङ्गमान् ॥ ११२ ॥

कुम्भकर्णेत्यादि-कुम्भश्चैव निकुम्भश्च कुम्भकर्णस्य सुतौ महाबलौ तत्र
सैन्येसमनदां सन्नद्धौ । तौ च पुवङ्गमान् प्रापतां प्रापत्वन्तौ । लदित्त्वा-
दक् ॥ ११२ ॥

अगोपिष्ठां पुरीं लङ्घामगौसां रक्षसां बलम् ।

अत्याक्तामायुधानीकमनैषां च क्षयं द्विषः ॥ ११३ ॥

अगोपिष्ठामित्यादि-लङ्घां च पुरीम् अगोपिष्ठां रक्षितवन्तौ । गुपेरुदित्त्वा-
हितपक्षे रूपम् । अगोपिष्ठामितीडभावपक्षे रूपम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘श्लो
क्षलि । ८।२।२६।’ इति सिचो लोपः । आयुधानीकम् आयुधसमूहम-
त्याक्तां त्यक्तवन्तौ विसृष्टवन्तौ । ‘त्यज हानौ’ । पूर्ववद्धद्वृद्धिः सिचो
लोपः । शक्रन् क्षयमनैषां नीतवन्तौ । ‘सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु
। ७।२।१।’ इति वृद्धिः ॥ ११३ ॥

अकोकूयिष्ट तस्मैन्यं प्रपलायिष्ट चाकुलम् ।

अच्युतच्च शर्तं रक्तं हतं चाध्यशयिष्ट गाम् ॥ ११४ ॥

अकोकूयिष्टेत्यादि-तत् सैन्यं प्लवङ्गमानां भयादकोकूयिष्ट भृशं शब्दं
शृतावत् । ‘कुक्ष शब्दे’ इत्यस्मात् यद्यथभ्यासस्य ‘न कवतेर्येडि । ७।४।६३।’
इति कुक्षश्चुत्वप्रतिषेधः । ततो यद्यन्तालङ्क् । प्रपलायिष्ट पलायते स्म ।

‘अनीकोऽस्मी रणे सैन्ये’ इति भेदिन्यासुकत्यानीकशब्दस्य समूहावाचि-
स्त्वेषापि लक्षणया प्रकृतोऽर्थः समर्थनीयः । प्रयोजनं तु लक्षणाच्च भयातिशयथोतन-
रूपमेव ।

अनादेरङ्गस्य । ‘आडजादीनाम् ।६।४ । ७२ ।’ इत्याद् प्रपरयोरनङ्गत्वाच्च ।
‘उपसर्गस्यायतौ ।८।२।११’ इति लत्वम् । क्षतं च स्पष्टितं च सत्
रक्तमच्युतत् क्षरति स्म । ‘इरितो वा ।३।१।५७’ इत्यङ् । हतं च निहतं
सत् गामध्यशयष्टि भूमौ पतितम् । ‘अधिशीङ्खासां कर्म्म । १।४ । ४६ ।’
इति कर्मसंज्ञा ॥ ११४ ॥

अङ्गदेनाहसातां तौ युध्यकम्पनकम्पनौ ।

अभ्यार्दीद्वालिनः पुत्रं प्रजङ्गोऽपि समत्सरः ॥ ११५ ॥

अङ्गदेनेत्यादि-अकम्पनः कम्पनश्च तौ । ज्येष्ठत्वात् पूर्वनिपातः ॥ युधि
संग्रामे अङ्गदेन अहसाताम् । कर्मणि लुङ् । ‘आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।
२।४।४४’ इति वधादेशाभावपक्षे रूपम् । प्रजङ्गवो नाम राक्षसः सम-
त्सरः सक्रोवः वालिनः पुत्रमभ्यार्दीत् प्रहृतवान् । ‘अर्दे हिंसा-
याम्’ ॥ ११५ ॥

तस्याप्यवेभिदिष्टासौ मूर्धानं मुष्टिनाङ्गदः ।

अहार्षीच्च शिरः क्षिप्रं यूपाक्षस्य निराकुलः ॥ ११६ ॥

तस्यत्यादि-तस्य प्रजङ्गस्यापि मूर्धानमेसावङ्गदो मुष्टिनावेभिदिष्ट अत्यर्थ
भिन्नवान् । भिर्देयडन्तस्य ‘यस्य हलः ।६।४।४९’ ‘अतो लोपः ।६।४।४८’
इति यलोपे रूपम् । निराकुलश्च नाम वानरः यूपाक्षस्य राक्षसस्य शिरः क्षिप्र-
महार्षीत् छिन्नवान् ॥ ११६ ॥

शरीरं लोहिताक्षस्य न्यभाङ्गीद्विविदस्तदा ।

कुच्छः कुम्भस्ततोऽमैत्सीन्मैन्दं सद्विविदं शरैः ॥ ११७ ॥

शरीरमित्यादि-द्विविदो नाम वानरो लोहिताक्षस्य शरीरं न्यभाङ्गीत्
चार्णितवान् । ‘भज्जो आमर्दने’ ततोऽनन्तरं कुम्भः कुम्भकर्णसुतः भैन्दं वानरं
सद्विविदं द्विविदेन सह शरैरमैत्सीत् भिन्नवान् ॥ ११७ ॥

अथ युग्मकम् ।

आधूर्णिष्टां क्षतौ, क्षमां च तावाशिश्रियतामुभौ ।

मातुलौ विह्वलौ द्वावा कुम्भं वालिसुतो नगैः ॥ ११८ ॥

आयूर्णिष्टामित्यादि-तावुभौ क्षतौ आधूर्णिष्टां चक्रवद् आन्तौ ।
क्षमां भूतलं चाशिश्रियताम् आश्रितवन्तौ । भूमौ पतितावित्यर्थः । ‘णित्रिदुख्यः

१ शिर इत्यर्थः । ‘मूर्धाना मस्तकोऽश्चियाम् ।’ इत्यमरः ।

कर्तरे चक्र । ३ । १४८ ॥' इति चक्रा तौ च तारान्नावृत्वात् मातुरौ विष्णुरौ द्वष्टा बालिसुतो अङ्गदः नगैर्वृक्षैः कुम्भं प्रौर्णीवीदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ११८ ॥

प्रौर्णीवीच्छरवर्षेणं तानपौहीन्निशाचरः ।

वानरानैजिह्वामस्तुर्णं रक्षितुमङ्गदम् ॥ ११९ ॥

प्रौर्णीवीदित्यादि—प्रौर्णीवीत् छादितवानित्यर्थः । 'विभाषोणोः । १ । २ । ३ ।' इत्याडित्वपक्षे रूपम् । स च निशाचरस्तान्नगान् शरवर्षेणापौहीत् निरस्तवान् । 'उपसर्गादस्त्यूहोर्वा वचनम्' इत्यात्मनेपदाविकल्पः । रामश्च तद्वनुष्कौशलं द्वष्टा अङ्गदं रक्षितुं तूर्णं वानरानैजिह्वत् व्यापारितवान् । इहतिर्ण्यन्तः ॥ ११९ ॥

द्रुतमत्रास्त सुग्रीवो आतृव्यं शत्रुसङ्कटात् ।

सुषिना कौम्भकर्णिं च कुद्धः प्राणेरतित्यजत् ॥ १२० ॥

द्रुतमित्यादि—सुग्रीवस्तस्माच्छत्रुसङ्कटात् आतृव्यं भ्रातुरपत्यम् । 'आतृव्यं' । ४ । १ । १४४ ॥' द्रुतमत्रास्त रक्षितवात् । अप्रतो भूत्वा । 'त्रैहृपालने ।' कौम्भकर्णिं कुम्भकर्णपुत्रं, कुम्भं कुद्धः सन् सुषिना प्राणेरतित्यजत् त्याजितवान् । त्यजिर्ण्यन्तः ॥ १२० ॥

निकुम्भो वानरेन्द्रस्य प्राहैषीत्परिधं ततः ।

हनूमांश्चापतन्तं तमभाङ्गीद्वोगिभीषणम् ॥ १२१ ॥

निकुम्भ इत्यादि—ततो आतृवधात् निकुम्भो वानरस्य सुग्रीवस्य परिधं प्राहैषीत् प्रहितवान् । 'हि गतौ ।' परिघमापतन्तं निकुम्भात् । भोगिभीषणम् अद्वित् भीषणम् हनूमानभाङ्गीत् भग्नवान् ॥ १२१ ॥

प्रौर्णीवीत्तेजसारातिमरासीच्च भयङ्गरम् ।

ग्रीवां चास्य तथाक्राक्षीदजिजीवद्यथा न तम् ॥ १२२ ॥

प्रौर्णीवीदित्यादि—परिधं च हनूमान् तेजसा प्रौर्णीवीत् अभिभूतवान् । छित्वादवृद्धिगुणपक्षे रूपम् । भयंकरं चारासीत् शब्दितवान् । अस्य निकुम्भस्य च ग्रीवां तथाक्राक्षीत् आकृष्टवान् । अमागमपक्षे रूपम् । यथा तं नाजिजीवत् न जीवति स्म । ग्रीवामाकृष्यैव व्यापादितवानित्यर्थः । 'भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् । ३ । २ । १७७ ॥' इत्यहस्तपक्षः ॥ १२२ ॥

१ पराक्रमेणेति भावः । 'सेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि' इत्यमरः ।

समगत कपिसैन्यं सम्मदेनातिमात्रं
 विटपहरिणनाथः सिद्धिमौद्दिष्ट नित्याम् ।
 नृपतिमतिररंस्त प्राप्तकामेव हर्षति
 रजनिचरपतीनां सन्ततोऽतायि शोकः ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहावेयाकरणभट्टप्रणीते रामचरिते काव्ये
 तिङ्काण्डे लुड्हविलसितो नाम
 पञ्चदशः सर्गः । ॥ १५ ॥

समगतेत्यादि—प्रधानयोधा निहता इति सम्मदेन हर्षेणातिमात्रमत्यर्थं
 समगत संगतं कपिसैन्यम् । ‘समो गम्युच्छिभ्याम् ।३।३।१५।’ इति तङ् ।
 ‘वा गमः ।१।२।१३।’ इति सिचः कित्वेऽनुनासिकलोपः । ‘हस्वादङ्गाम्
 ।८।२।२७।’ इति सिचो लोपः । विटपहरिणनाथः शाखामृगाणां
 नाथः नित्यां सिद्धिमवश्यं भाविनीमौद्दिष्ट तर्कितवान् । नृपतिमतिः राम-
 रथ बुद्धिः प्राप्तकामेव संपन्नेच्छेव रावणवधसीदादीनाभ्योः सिद्धिरूपत्वान् ।
 हर्षादरंस्त रमते स्म । रजनिचरपतीनां मेघनादादीनां शोकः सन्ततो-
 विच्छिन्नः अतायि वर्धते स्म । ‘दीपजनवुधपूरितायिष्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्
 ।३।१।६।’ इति कर्तरि चिण् ॥ १२३ ॥

‘इति श्रीजयमङ्गलामूरिविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्याख्यया समलङ्कृते
 श्रीभट्टकाव्ये चतुर्थे तिङ्कन्तकाण्डे लक्षणरूपे द्वितीयः परिच्छेदः,
 लक्ष्यरूपे कथानंके ‘कुम्भकर्णवधो’ नाम
 पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

१ ‘मुक्तीतिः प्रमदो हर्षमोदामोदसम्मदाः ।’ हस्यमः । २ अत्र ‘नन्नमयथयुतेयं
 मालिनी भोगिलोकैः ।’ इति मालिनी अम्भः । गलेक्षा समासोक्तिशाळकारै ।

षोडशः सर्गः ।

इतः प्रसृति लट्टमधिकृत्य विलसितमाह तत्र 'लट्ट शेषे च । ३ । ३ । १३।' इति लट् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति ।

ततः प्रहृदितो राजा रक्षसां हतबान्धवः ।

किंकरिष्यामि राज्येन सीतया किं करिष्यते ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रक्षसां राजा रावणः हतबान्धवः व्यापादित-
आतृत्वात् शोकाभिभूतः सन् प्रसदितः कन्दितुमारब्धः । 'किं करिष्यामि'
इत्यादिना । 'आदिकर्मणि चक्षुः कर्तृतरि च । ३ । ४ । ७१।' अतिकाये वीरे हते किं
करिष्यामि राज्येन, न किंचित् । 'ऋद्धनोः स्ये । ८ । २ । ७०।' इतीदि ।
सीतया च किं करिष्यते, न किंचित् ॥ १ ॥

अतिकाये हते वीरे प्रोत्सहिष्ये न जीवितुम् ।

ह्येपयिष्यति कः शब्दन्, केन जायिष्यते यमः ॥ २ ॥

अतीत्यादि—वीरे अतिकाये हते जीवितुमेव नोत्सहे किमन्यत्कर्तुम् ।
शक्तः पलायनेन कः ह्येपयिष्यति । 'अर्तिहीब्लीरीकूर्यीक्षमाय्यातां पुण्णौ । ७
२ । ३६।' इति औं पुगन्तगुणः । केन यमः जायिष्यते । 'जि जये' । कर्मणि
लट् । 'त्यस्तिव्सीयुद्गतासिषु भावकर्मणोरुपदेशोऽज्ञनप्रहृशां वा चिष्वदिद् च ।
६ । ४ । ६२।' इति चिष्वदिद् च ॥ २ ॥

अतिकायाद्विना पाशं को वा छेत्स्यति वारुणम् ।

रावणं मंस्यते को वा स्वयम्भूः कस्य तोक्ष्यति ॥ ३ ॥

अतीत्यादि—'पृथग्गविनानानाभिस्तृतयिन्यतरस्याम् । २ । ३ । ३२।' इति
पञ्चमी । अतिकायाद्विना वारुणं पाशं को वा छेत्स्यति द्विवा करिष्यति ।
को वा रावणं मंस्यते पूजयिष्यति । स्वयं भूर्बह्वा कस्य तोक्ष्यति प्रीतिं जनयिष्यति ।
'तुष प्रीतौ' । 'षडोः कः सि । ८ । १ । ४ ।' ॥ ३ ॥

श्लाघिष्ये केन को बन्धुन् नेष्यत्युन्नतिमुन्नतः ।

कः प्रेष्यति पितृन् काले कृत्वा कतिथिष्यते न कः ॥ ४ ॥

श्लाघिष्य इत्यादि—केनाहं श्लाघिष्ये श्लाघां करिष्यामि 'ममेवशः पुत्रः'
इति । कः स्वगुणैरुन्नतः सन् बन्धुनुन्नतिं परां कोर्टि नेष्यति । काले

पिंडकियोचिते कः पितृन् ग्रेष्यते तर्पयिष्यति । ‘श्रीबृं तर्पणे’ । कृत्वा
किंचित्कार्यम् । को न कतिथिष्यते कर्त्यनां न करिष्यति । ‘अहमेवंविद्धः’
इति । अतिकायाद्विनोति सर्वत्र योज्यम् ॥ ४ ॥

उद्यंस्यति हरिर्बिजं विचरिष्यति निर्भयः ।

भोक्ष्यते यज्ञभागांश्च शुरमानं च वक्ष्यति ॥ ५ ॥

उद्यंस्यतीत्यादि—तथा हरीरिन्द्रः हनुं वश्रमुद्यंस्यति उद्धरविष्यति ।
श्त्वूर्वाद्यमे रूपम् । निर्भयश्वेतस्ततो विचरिष्यति । यज्ञभागांश्चात्मीश्यान्
गोक्ष्यते भक्षयिष्यति । ‘मुजोऽनवने । १।३।६६।’ इति तत् । शुरमानं च
शूरोऽस्मि’ इति वक्ष्यति धारयिष्यति । वहे: ‘हो ठः । १।२।३।१।’ ‘षटोः
हः सि । १।२।४।१।’ इति कः ॥ ५ ॥

रविस्तप्त्यति निःशङ्कं वास्यत्यनियतं मरुत् ।

निर्वत्स्यत्यृतुसङ्क्षातः स्वेच्छयेन्दुरुदेष्यति ॥ ६ ॥

रविरित्यादि—रविः निःशङ्कं शङ्कां विना तप्त्यति दोतिष्यते । मरुत्त-
नियतं सच्छन्दो वास्यति संचरिष्यति । ‘वा गतिगन्धनयोः’ । ऋतुसंघातः
शृङ्गतवः निर्वत्स्यति सर्वदा न भविष्यति । ‘वृद्धयः स्यसनोः । १।३।९२।’
इति विकल्पः । ‘न वृद्धयश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।’ इतीटप्रतिषेधः । स्वेच्छयेन्दु-
हदेष्यति सदा पूर्णमण्डलो नोद्रभिष्यति । ‘इण् गतौ’ ॥ ६ ॥

तीव्रं स्यन्दिष्यते मेघैरुग्रं वार्तिष्यते यमः ।

अतिकायस्य मरणे किं करिष्यन्ति नान्यथा ॥ ७ ॥

तीव्रमित्यादि—मेघैस्तीव्रम् अतिशयेन स्यन्दिष्यते पूर्वं रजःप्रशमनसात्रं
वृष्टम् । भावे लद् । ‘न वृद्धयश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।’ इतीटप्रतिषेधो न भवति,
तत्र परस्मैपदभ्रहणमनुवर्तते । यमः उग्रं वार्तिष्यते रौद्रं चरिष्यति । आत्मनेपदे
नेटप्रतिषेधः । अतिकायस्य मरणे सति इन्द्रादयः किमन्यथा विपर्ययं स
करिष्यन्ति किन्तु करिष्यन्तीति भावः । ‘किं भविष्यति नान्यथा’ इति
प्राठान्तरम् । तत्र सर्वमेतद्विष्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

उन्मीलिष्यति चक्षुमें वृथा यद् विनयागतम् ।

आज्ञालाभोन्मुखं नम्रं न द्रक्ष्यति नरान्तकम् ॥ ८ ॥

उन्मीलिष्यतीत्यादि—मे सम चक्षुर्वृथा निष्फलमुन्मीलिष्यति । अद्य स्मात् विनयागतं विनीतम् । आज्ञालाभोन्मुखम् । नैत्रं नमनशीलम् । नरान्वकं पुत्रं न द्रश्यति ॥ ८ ॥

धिङ् मां त्रिशिरसा नाहं सन्दर्शिष्येऽद्य यत् पुनः ।

घानिष्यन्ते द्विषः केन तस्मिन्पञ्चत्वमागते ॥ ९ ॥

विङ् मामित्यादि—हतबान्धवं मां रावणं धिक् । यत् त्रिशिरसा अद्य पुनरपि नाहं सन्दर्शिष्ये न हष्टो भविष्यामि । कर्मणि लद् चिष्वदिद् च । तस्मिन् त्रिशिरसि पञ्चत्वमागते सृते द्विषः शत्रवः केन घानिष्यन्ते । अत्रापि चिष्वदिद् च ॥ ९ ॥

शत्रुभिर्निहते मत्ते द्रव्येऽहं संयुगे सुखम् ।

युद्धोन्मत्ताद्विना शत्रून् समास्कन्तस्यति को रणे ॥ १० ॥

शत्रुभिरित्यादि—मत्ते मत्तनाम्नि शत्रुभिर्निहते । तैरेव शत्रुभिः संयुगे सङ्घामे सुखमहं द्रष्टव्योऽस्मि पूर्वं भयाहृष्टः । अचिष्वद्वावपक्षे रूपम् । तस्य च भ्रातुर्युद्धोन्मत्ताद्विना रणे शत्रून् कः समास्कन्तस्यति अभियास्यति । ‘स्तन्दिर् गतिशोषणयोः’ । ‘खरि च । १०।४५।’ इति चत्वर्म् ॥ १० ॥

आहास्यते विशङ्को मां योत्स्यमानः शतक्रतुः ।

प्रकल्पस्यति च तस्यार्थो निकुम्भे दुर्हणे हते ॥ ११ ॥

भाद्रस्यत इत्यादि—शतक्रतुरिन्द्रः योत्स्यमानः युद्धं करिष्यन् विशङ्को निर्भयः मां युद्धायाहास्यते । ‘स्पर्धायामाणः । १।३।३१।’ इत्यात्मनेपदम् । निकुम्भे दुर्हणे दुःखेन हन्यत इति । ‘ईषदृढः सुषुक्ष्माकुच्छाथेषु खल् । ३।३।३।३२।६।’ इति खल् । तस्मिन् हते तस्य शतक्रतोरर्थः निष्कण्टकराज्य-लक्षणः प्रकल्पस्यते ॥ ११ ॥

कलिष्यते हरेः प्रीतिर्लङ्का चोपहनिष्यते ।

देवान्तक त्वया त्यक्तो रिपोर्यास्यामि वश्यताम् ॥ १२ ॥

कलिष्यत इत्यादि—शत्रुभिः कुम्भं च निपातितं श्रुत्वा हरेरिन्द्रसं प्रीतिः कलिष्यते भविष्यति । ‘लुटि च कल्पः । १।३।९।३।’ इति चकारात्स्य-

१ ‘नामिकम्भिस्यजसकमहिंसदीपो रः । ३ । २ । १६७।’ इति रः । २ पञ्चर्त्त कालबर्मम् । यत्तुकं भेदिनीकरेण ‘पञ्चता पञ्चभावे स्यान्मरणोऽपि च योषिति ।’ इति, वत् पञ्चतेति निर्देशाभिप्रायेणैव, नत्वजहलिङ्गत्वयोत्तार्थम् ।

सनोरपि परस्मैपदविकल्पः । आत्मनेषदे च नेत्रप्रतिषेधः । लङ्घा च शत्रुभिरुपहनिष्यते विलोप्यते । कर्णणि लद्दू । अचिष्वद्वावपश्चः ।^१ 'क्रद्धनोः स्ये ।^२ ॥७०॥' इतीदृ । इह सुररागंस्थते । भावे लद्दू ॥ ३२ ॥

मरिष्यामि विजेष्ये वा हताश्चेत्नया मम ।

हनिष्यामि रिपूंस्तूर्णं न जीविष्यामि दुःखितः ॥ ३३ ॥

मरिष्यामीत्यादि—यदि मम रावणस्य तनया देवान्तकादयः हताः तदा मरिष्यामि, शत्रुन् वा विजेष्ये । 'म्रियतेर्लुङ्गलिङ्गोश्च । १३।६१' । इति नियमाच्छ न भवति । उत्तरत्र 'विपराभ्यां जेः । १३।११' इति तदृ । ततो रिपूर् तूर्णं हनिष्यामि । पुनर्बन्धुं विनाकृतत्वान् दुःखितः सन् न जीविष्यामि ॥ ३३ ॥

स्मेष्यन्ते मुनयो देवाः कथयिष्यन्ति चाऽनिशम् ।

दशग्रीवस्य दुर्नीतिर्विनष्टं रक्षसां कुलम् ॥ १४ ॥

स्मेष्यन्त हत्यादि—मुनयो हर्षात् स्मेष्यन्ते हसिष्यन्ति प्रमोदिष्यन्तीति भावः । 'स्मिहू' ईषद्वसने छित्वाच्छ । देवा अंनिशं कथयिष्यन्ति । यथा दशग्रीवस्य दुर्नीतेदुर्नीयात् रक्षसां कुलं विनष्टम् ॥ १४ ॥

केन सम्भावितं तात कुम्भकर्णस्य राघवः ।

रणे कत्स्यति गात्राणि मर्माणि च वितत्स्यति ॥ १५ ॥

केनेत्यादि—हे तारेति शोकात् बुद्धिस्थं पितरमभिमुखिकरोति केनैत्यसम्भावितं निश्चितम् । यत् कुम्भकर्णस्य गात्राणि रणे राघवः कत्स्यति छेत्यति । 'कृती छेदने' । मर्माणि वितत्स्यति अपनेष्यति । 'उरुदिर्हिसानादरयोः' 'सेसिचिकृतचूटच्छृदृष्टदन्तः । ७ । २ । ५७ ।' इतीद्विकल्पः ॥ १५ ॥

पतिष्यति क्षितौ भानुः पृथिवी तोलयिष्यते ।

नभस्वान् भङ्गक्षयते व्योम मुष्टिभिस्ताडयिष्यते ॥ १६ ॥

पतिष्यतीत्यादि—क्षितौ भूमौ भानुरादित्यः पतिष्यति अघो गमिष्यति पृथिवी तोलयिष्यते कर्द्धव क्षेप्यते । 'तुल उन्माने' चुरादावदन्तेषु च पल्यते कर्मणि लद्दू । नभस्वान् वायुः काष्ठवङ्गक्षयते कर्मणि लद्दू । मुष्टिभिन्वांगम ताडयिष्यते हनिष्यते ॥ १६ ॥

^१ निरन्तरम् । 'सततानारताश्रान्तसन्तवादिरतानिशम् ।' हत्यमरः ।

इन्द्रोः स्यन्दिष्यते वद्धिः समुच्छोक्ष्यति सागरः ।

जलं धक्षयति तिग्मांशोः स्यन्तस्यन्ति तमसां चयाः ॥ १७ ॥

इन्दोरित्यादि—इन्द्रोः वहिः स्यन्दिष्यते प्रसविष्याति । 'वृद्धधः स्यसनोः । १३।१२।' इति परसैपदविकल्पः । सागरः समुच्छोक्ष्यति शोषं यास्यति । जलं धक्षयति भस्मसात् करिष्यति । 'दह भस्मीकरणे' । 'हो ढः । १४।२१।' 'एकाचो बशो भषू श्वसन्तस्य स्ववोः । १४।२७।' इति भव्यावः । तिग्मांशोरा-दित्यात्मसां चयाः तमःसङ्घाः स्यन्तस्यन्ति । स्यन्देः पूर्ववत्परसैपदविकल्पः । 'न वृभ्यश्चतुर्भ्यः । १४।२५।' इतीदप्रतिषेधः ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णो रणे पुंसा कुद्धः परिभविष्यते ।

संभावितानि नैतानि कदाचित् केनचिज्जने ॥ १८ ॥

कुम्भकर्ण इत्यादि—कुम्भकर्णो रणे कुद्धः सन् पुंसा परिभविष्यते । कर्मणि लट् । एतानि भानुपतनादीनि कुम्भकर्णपरिभवान्तानि जने लोके केन-चित् न संभावितानि न चिन्तितानि ॥ १८ ॥

कुम्भकर्णे हते लङ्गामारोक्ष्यन्ति पुरुङ्गमाः ।

दङ्गचन्ति राक्षसान् द्वप्ता भङ्गचन्ति च ममाश्रमान् ॥ १९ ॥

कुम्भकर्ण इत्यादि—कुम्भकर्णे इत्थं हते सति पुरुङ्गमाः लङ्गामारोक्ष्यन्ति चाक्रमिष्यन्ति । 'रुह बीजिन्मनि' । राक्षसान् दङ्गचन्ति दशनैः छेत्यन्ति । द्वप्ताश्च ममाश्रमान् गृहान् भङ्गचन्ति चूर्णयिष्यन्ति ॥ १९ ॥

चत्स्यन्ति बालवृद्धांश्च नत्स्यन्ति च मुदा युताः ।

तेन राक्षसमुखेन विना तान् को निरोत्स्यति ॥ २० ॥

चत्स्यन्तीत्यादि—बालान् वृद्धांश्च चत्स्यन्ति व्यापादिष्यान्ति । 'चृती हिंसामन्थनयोः' इति तौदादिकः । मुदा हर्षेण युताः सन्तः नत्स्यन्ति । 'नृती गत्रविक्षेपे ।' 'सेऽसिचिकृतचृतच्छृदृदनृतः । १४।२५।' इति विकल्पेनेद् । तेन च राक्षसमुखेन विना तान् को निरोत्स्यति निवारयिष्यति ॥ २० ॥

अमर्णे मे परः सीतां राघवः कामयिष्यते ।

च्युतराज्यात्मुखं तस्मात् किं कलाऽसाववाप्स्यति ॥ २१ ॥

अमर्ष इत्यादि—अमर्षः क्रोधः पर उत्कृष्टः मम यद्राघवः सीतां कामयि-
यते । कर्मणिङ्गन्तात् ‘अनवक्ष्यपर्ययोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।’
इति अमर्षे क्रोधे लट् अन्यद्वा च्युतराज्यात्तसात् रामादसौ सीता किं किञ्च
नाम सुखमवाप्स्यति तत्र सम्भावयामि । ‘किंकिलास्त्यर्थेषु लट् । ३ । ३ । १४६ ।’
इति अनवक्ष्यसावसम्भावनायां लट् ॥ २१ ॥

मारयिष्यामि वैदेहीं खादयिष्यामि राक्षसैः ।

भूमौ वा निखनिष्यामि विघ्वसस्यास्य कारणम् ॥ २२ ॥

मारयिष्यामीत्यादि—अथवा अस्य सर्वस्य विघ्वसस्य विनाशस्य कारणं
—देहीं मारयिष्यामि व्यापादयिष्यामि । एतर्वा राक्षसैः खादयिष्यामि भोज-
यिष्यामि । ‘गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स पौ । १ । ४
। ५ । २ ।’ इति प्रत्यवसानर्थे कर्मसंज्ञायां प्राप्तायाम् ‘आदिखाद्योर्न’ इति प्रतिषेधान्
कर्तुसंज्ञैव भवति । भूमौ वा निखनिष्यामि ॥ २२ ॥

नानुरोत्स्ये जगल्लक्ष्मीं घटिष्ये जीवितुं न वा ।

न रंस्ये विषयैः शून्ये भवने बान्धवैहम् ॥ २३ ॥

नानुरोत्स्य इत्यादि—जगल्लक्ष्मी नानुरोत्स्ये न कामयिष्ये । अनुपूर्वो रुधिः
कामे । जीवितुं वा न घटिष्ये प्रथलं न करिष्यामि । तस्माद्भवने बान्धवैः शून्ये
विषयैः शब्दादिभिर्न रंस्ये न क्रीडां करिष्ये ॥ २३ ॥

मोदिष्ये कस्य सौरूप्येऽहं को मे मोदिष्यते सुखे ।

आदेयाः किंकृते भोगाः कुम्भकर्णं त्वया विना ॥ २४ ॥

मोदिष्ये इत्यादि—हे कुम्भकर्ण ! त्वया विना कस्य सौख्ये अहं मोदिष्ये
हर्षिष्ये न कस्यचित् । मम वा सुखे सति को मोदिष्यते हष्टो भविष्यति
न कथिदपि । किंकृते किनिमित्तं परभोगा आदेयाः आदातत्व्याः ॥ २४ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

याः सुहृत्सु विपन्नेषु मामुपैष्यन्ति सम्पदः ।

ताः किं मन्युक्षयाभोगा न विपल्लु विपत्तयः ॥ २५ ॥

। ‘कोपकोघामर्षरोषप्रतिवा स्फूर्यौ ख्ययौ ।’ इत्यमरः ।

या इत्यादि—सुहृत्सु स्तिंगधेषु विपन्नेषु याः सम्पदो विभूतयः मामुपैष्य-
नेत निष्पत्यन्ते ताः मन्युक्षयाभोगाः शोकैः खण्डिताभोगाः किं विपत्सु च
वेपत्तयः क्षंतक्षारसंस्थानीया भवन्तीति ॥ २५ ॥

विनङ्गत्यति पुरी क्षिप्रं द्वर्णमेष्यन्ति वानराः ।

असन्धित्सोस्तवेत्येतद्विभीषणसुभाषितम् ॥ २६ ॥

विनङ्गत्यतीत्यादि—असन्धित्सोः रामेण सन्धानमनिच्छोः क्षिप्रमेषा पुरी
लङ्घा विनङ्गत्यति । ‘मस्तिनशोर्शिलि’ । ७।१।६०। इति त्रुम् । ततः तूर्णं वान-
रास्तां समेष्यन्ति । उभयत्रापि ‘क्षिप्रवचने लद् । ३।३। १३३।’ । तदे-
तद्विभीषणभाषितं सर्वमुपपन्नम् । धर्मं निर्णयि तेनोक्तं ‘सन्धानमेवास्तु परैः’
इत्यादिना ॥ २६ ॥

अर्थेन सम्भूता राजा न भाषिष्यामहे वयम् ।

संयोत्स्यामह इत्येतप्रहस्तेन च भाषितम् ॥ २७ ॥

अर्थेनेत्यादि—राजा वयमर्थेन भूताः ततो न भाषिष्यामहे किमत्र युक्त-
मिति एतत्प्रहस्तेन भाषितं तच तथैव सम्पादितम् । स्मशब्दोऽत्र निपातः ।
यद्यपीढीशं मन्त्रनिर्णये प्रहस्तेन नोक्तं ‘सन्धानमेवास्तु परैः’ इत्यादिना, तथापि
विभीषणवचनादनुभीयते तेनाप्ययमर्थोऽभ्युपगत इति रावण एवमाह ।
तथा च विभीषणवचनं ‘युद्धाय राजा सुष्टृतैः’ इत्यादि ॥ २७ ॥

मानुषो नाम पत्काषी राजानं पुरुषाश्चिनाम् ।

योधयिष्यति संग्रामे दिव्याखरथदुर्जयम् ॥ २८ ॥

मानुष इत्यादि—मामेवं दुर्जयं मानुषो नाम पत्काषी पादाभ्यां गमन-
शीलः पदातिः सन् । ‘हिमकाषिहतिषु च । ६।३। ५४।’ इति पादस्य पदा-
देशः । पुरुषाश्चिनां रक्षसां राजानं दिव्याखरथतया दुर्जयं दुरभिभवनीयं
योधयिष्यति ॥ २८ ॥

एवं बहुधा विल्प्य जातामर्थः पुनराह—

सन्नत्स्याम्यथवा योजुं न कोष्ये सत्त्वहीनवत् ।

अद्य तप्स्यन्ति मांसादा भूः पास्यत्यरिशोणितम् ॥ २९ ॥

सन्नत्स्यामीत्यादि—सत्त्वहीनवत् सन्त्वेन हीन इव न कोष्ये न रोदिमि
शब्दे । योजुं सन्नत्स्वप्नि सन्नाहं करिष्येऽहमिति अत्र किंवृते-

अत्यमर्दे लिङ्गपवादो लद् । ‘नहो र्धः । ८।२।३४।’ ‘स्त्रि च । ८।४।५५।’ इति चत्वर्म् । ततश्चाद्यास्मिन्नद्वन्ति मांसादाः कन्यादाः तत्स्वन्ति तु प्रा-
भविष्यन्ति । ‘अदोऽनन्ने । ३।२।६८।’ इति चिटि प्राप्ते वासंस्तुपविविना
अणपि भवति । भूश्च हतानामरीणां शोषितं पास्यति । ‘शेषे लद्,
।३।३।१५१।’ ॥ २९ ॥

आकर्ष्यामि यशः शुद्धनपेष्यामि कर्मणा ।

अनुभाविष्यते शोको मैथिल्याद्य पतिक्षयात् ॥ ३० ॥

आकर्ष्यामीत्यादि—सर्वयोद्घृणां यश आकर्ष्यामि आहरिष्यामि । शबूंश्च
कर्मणा युद्धाख्येनापनेष्यामि न्यूनयिष्यामि । अद्य पतिक्षयात्पतिवि-
नाशात् शोको मैथिल्या सीतया अनुभाविष्यते संवेदयिष्यते । कर्मणि लद्,
चिष्वदिद् ॥ ३० ॥

मन्तूयिष्यति यक्षेन्द्रो वल्गुयिष्यति नो यमः ।

गङ्गास्यन्त्यपतिपुत्राश्च वने वानरयोषितः ॥ ३१ ॥

मन्तूयिष्यतीत्यादि—यक्षेन्द्रो धनदः दाशरथं राममापनं विपन्नं
श्रुत्वा मन्तूयिष्यते दुर्मना भविष्यते । यमश्च न वल्गुयिष्यति इष्टमना
भविष्यते । मन्तुवल्गुशब्दाभ्याम् ‘कण्डादिभ्यो यक् । ३।१।२७।’
ददन्नात् लद् । वने वानरयोषितः अपतिपुत्राः सत्यः गङ्गास्यन्ति गङ्गान्ति
यासन्ति ॥ ३१ ॥

सुखं स्वप्स्यन्ति रक्षांसि भ्रमिष्यन्ति च निर्भयम् ।

न विक्रोक्ष्यन्ति राक्षस्यो नराश्रात्स्यन्ति हर्षिताः ॥ ३२ ॥

सुखमित्यादि—रक्षांसि चैतानि सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयं च भ्रमिष्यन्ति ।
राक्षस्यश्च न विक्रोक्ष्यन्ति न क्रन्दिष्यन्ति । ‘कुश आहाने रोदने च’ । हर्षि-
ताश्च सत्यो नरानस्यन्ति भक्षयिष्यन्ति ॥ ३२ ॥

अथ युग्मकम् ।

प्राङ् सुहृत्ता त् प्रभातेऽहं भविष्यामि धूर्वं सुखी ।

आगामिनि ततः काले यो द्वितीयः क्षणोऽपरः ॥ ३३ ॥

^१ यद्यपि मन्तुशब्दो न शोकपरः, ‘आगोऽपराधो मन्तुः’ इत्यमरोक्षार
‘मन्तुः पुस्यपराधेऽपि मनुष्येऽपि प्रजापतौ ।’ इति मेदिन्युक्त्या चापराधपर एव,
तथाऽपि लक्षणया विभाष्यः पुं वल्गुशब्दोऽपि ।

प्रागित्यादि—योऽयमागामी प्रभावकालः सुहूर्तद्वयसम्भितः तस्मिस्तस्योति षष्ठीसप्तम्योरभेदात् । यो द्वितीयो मुहूर्तः तसात् प्राक् प्रथमे मुहूर्ते अहमवश्यं सुखा भविष्यामि, तदानीं हतशत्रुत्वात् । ततः प्रभातादागामी यः कालः क्षणद्वादशसंमितः तस्मिन्नागामिनि काले यो द्वितीयः तस्माद्यदपरः क्षणः पूर्वः तत्रेति वक्ष्यमायेन सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

तत्र जेतुं गमिष्यामि त्रिदशेन्द्रं सहामरम् ।

ततः परेण भूयोऽपि लङ्घामेष्याम्यमत्सरः ॥ ३४ ॥

त्रिवेत्यादि—तत्र क्षणे त्रिदशेन्द्रं सहामरं देवैः सहितं जेतुं द्रुतं गमिष्यामि । प्राङ् मुहूर्तात् सुखीभविष्यामि । क्षणाद्यदपरं तत्र जेतुं गमिष्यामीति ‘कालविभागे चानहोरात्राणाम् ।३।३।१३७।’ इति अनद्यतनवत् प्रत्ययप्रतिषेधे लृद् । तत्र हि ‘नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीष्ययोः ।३।३।१३५।’ इति ‘भविष्यति मर्यादावच्चनेऽवरस्मिन् ।३।३।१३६।’ इति चानुबर्तते । तत्र जेतुं कालमर्यादाविभागे सति योऽवर आद्यप्रविभागः तत्र भविष्यति काले अनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवति । ततो लट्प्रतिषेधालृडेव भवति । ततः परेणेति यस्मिन्नागामिनि काले शकं जेतुं गमिष्यामि तत्र द्वितीयो यः क्षणस्तस्मात् परेणोपरिष्ठात् शकं जित्वा भूयोऽपि लङ्घामेष्यामि । आङ्गपूर्वस्येणो रूपम् । अमत्सरो विगतक्रोधः सन् । ‘परस्मिन् विभाषा ।३।३।१३८।’ इत्यनेन विभाषा लुट्प्रतिषेधालृद् । तत्र हि कालविभागे सति भविष्यति काले परस्मिन् विभाषा अनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवतीत्युक्तम् ॥ ३४ ॥

तमेवंवादिनं मूढमिन्द्रजित् समुपागतः ।

युयुत्सिष्येऽहमित्येवं वदन् रिपुभयंकरः ॥ ३५ ॥

तमित्यादि—तं रावणं मूढत्वादेवंवादिनम् एवंभाषणशीलम् इन्द्रजित् रिपूणां भयंकरः समुपागतः । युयुत्सिष्येऽहं योद्धुमिच्छां करिष्यामीति ब्रुवन् ॥ ३५॥

केन सह योद्धुमिच्छामीति चेदाह—

नाभिज्ञा ते महाराज जेष्यावः शकपालितम् ।

द्वसदेवगणाकीर्णमावां सह सुरालयम् ॥ ३६ ॥

३ ‘ते तु मुहूर्तो द्वादशाखियाम् ।’ इत्यमरः । एवं च क्षणद्वयसम्भित इति रात्यनान्तरं तु न साम्यतम् । २ देवराजम् ।

नाभिज्ञेत्यादि—हे महाराज ! ते तवे नाभिज्ञा न स्मृतिः । सुरालयं शकेण पालितं दृग्मैश्च देवगणैराकीर्णं व्याप्तम् । आवां द्वावपि सह संभूय जेष्यावः जितवन्तौ । ‘अभिज्ञावचने लृट ॥३॥११२॥’ तत्रे ‘भूतानद्य-तत्त्वे’ इति वर्तते ॥ ३६ ॥

नाभिज्ञा ते सयक्षेन्द्रं भङ्गक्ष्यावों यद्यमं बलात् ।

रत्नानि चाहरिष्यावः प्राप्स्यावश्च पुरीमिमाम् ॥ ३७ ॥

नाभिज्ञेत्यादि—न सेत्यभिज्ञारिति । सयक्षेन्द्रं धनदसाहितं यमं बलान् सामर्थ्येन आवां भङ्गक्ष्यावः भम्बवन्तौ । रत्नानि च ताभ्यां बलादाहरि-ष्यावः । इमां च पुरीं लङ्घां प्राप्स्यावः । ‘विभाषा साकाङ्क्षे ॥३॥२॥११४॥’ इति लृट । लक्ष्यलक्षणयोः सम्बन्धे प्रयोकुराकाङ्क्षा । तत्र भञ्जनं लक्षणं रत्नाद्याहरणं च लक्ष्यम् ॥ ३७ ॥

एष पेक्ष्याम्यरीन् भूयो न शोचिष्यसि रावण ।

जगद्रक्षयसि नीराममवगाहिष्यसे दिशः ॥ ३८ ॥

एष इत्यादि—एषोऽहं भूयः पुनररीन् शत्रून् पेक्ष्यामि चूर्णयिष्यामि । ‘वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ॥ ३ ॥ ३ ॥ १३॥’ इत्यनेन सामीप्ये वर्तमानिक-प्रत्ययस्य विकल्पेन विधानाल्लृडेव भवंति । येन हे रावण न शोचिष्यसि शोकं न करिष्यसि । भविष्यति लृट । जगत् नीरामं रामरहितं द्रक्ष्यसि । दिशश्च सर्वा अवगाहिष्यसे व्याप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सहभृत्यः सुरावासे भयं भूयो विधास्यसि ।

प्रणस्यत्यद्य देवेन्द्रस्त्वां वक्ष्यति स सन्नतिम् ॥ ३९ ॥

सहेत्यादि—भृत्यैः सह सुरावासे स्वर्गे भूयो भयं विधास्यसि करि-ष्यसि । देवेन्द्रश्च त्वां प्रणस्यति ‘त्वदीयोऽहम्’ इति निवेदयिष्यति । वक्ष्यति च सन्नतिं भणिष्यति च नमस्कारम् ॥ ३९ ॥

भेष्यते मुनिभिस्त्वत्स्त्वमधिष्ठास्यसि द्विषः ।

ज्ञास्येऽहमद्य सङ्ग्रामे समस्तैः शूरमनिभिः ॥ ४० ॥

भेष्यत इत्यादि—मुनिभिस्त्वत्तो भेष्यते भीतैर्भवितव्यम् । भावे लृट । त्वमधिष्ठास्यसि द्विषः शत्रून् परिभविष्यसि । ‘अधिशीङ्क्यासां कर्म

१ सुराणां देवानाम् आवासः स्थानं तत्र । २ भाविष्यतम् ।

११।४।४६।' इति कर्मसंज्ञा । यादृशश्चाहं तादृशः संग्रामे ज्ञास्ये ज्ञातो भविष्यामि । कर्मणि लृद् । कैः समस्तैः शुरुमनिभिः वर्यं शूरा इत्यात्मानं मन्यमानैः । 'आत्ममाने खश्च । ३।२।८३।' ॥ ४० ॥

ज्ञायिष्यन्ते मया चाद्य वीरमन्या द्विषद्धणाः ।
गृहिष्यामि क्षितिं कृत्तैरथ्य गात्रैर्वनौकसाम् ॥ ४१ ॥

ज्ञायिष्यन्ते इत्यादि—एते च द्विषां गणाः शत्रुसङ्क्षिप्ता वीरमन्याः अद्य मया विष्यन्ते परिच्छेत्यन्ते यादृशा इति । कर्मणि लृद् । चिणवदिद् । वनौकसां वनवासिनां कपीनां गात्रैः शरीरैः कृत्तैः छिन्नैरथ्य क्षितिं गृहिष्यामि ॥ ४१ ॥

आरोक्ष्यामि युगान्तवारिदधटासङ्घट्टधीरध्वनिं
निर्यास्यन् रथमुच्छ्रितधवजधतुःखङ्गप्रभाभासुरम् ।
श्रोष्यस्यद्य विकीर्णवृक्णविमुखव्यापनशत्रौ रणे
तृपाञ्छोणितशोणभीषणमुखान् क्रव्याशिनः क्रोशतः ॥ ४२ ॥

. इति भट्टिप्रणीते रामचरितकाव्ये तिङ्गन्तकाण्डे
लृद्विलसितो नाम षोडशः सर्गः ॥

आरोक्ष्यामीत्यादि—अतोऽहं रथमारोक्ष्यामि निर्यास्यन् इतो निर्गच्छन् । आरोक्ष्यामीति क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे निर्यास्यन्निति 'लृद् शेषे च । ३ । ३ । १३।' इति चकाराल्लृद् । कीदृशं रथम् । युगान्ते प्रलयकाले या वारिदधटास्तासां यः संघटः परत्परसंमर्दः तस्येव धीरो गर्भीरो ध्वनिर्यस्य रथस्य । उच्छ्रिता ध्वजाः धनुषिं च यत्र । खङ्गप्रभाभिश्च भासनशीलो यः । पश्चाद्विशेषणसमाप्तः । उच्छ्रितानां वा ध्वजादीनां प्रभाभिर्भासुर इति योज्यम् । विकीर्णा इतस्ततो विक्षिप्ताः वृक्णाः छिन्नाः छिन्नमस्तकाः विमुखाः पराङ्मुखा व्यापना मृताः शत्रवो यस्मिन् रणे क्रव्याशिनः मांसभक्षिणः शृगालादीन् क्रोशतः फूत्कुर्वतः अद्य श्रोष्यसि । कीदृशान् । तृपान् शोणितमासोपभोगात् । शोणितेन शोणानि रक्तवर्णानि वृत

* 'सूर्यामैर्भसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्षीपितम् ।' इत्युक्तेः । अनुप्राप्तश्च रक्षारः ।

एवं भीषणानि भयंकराणि मुखानि येषामिंति । वृश्चेरोदितो निष्ठानन्तवस्था-
सिद्धत्वात् चोः कुत्वे वृक्षे इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरीविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्यख्यया
समलंकृते श्रीभट्टप्रणीते रामचरिते काव्ये चतुर्थे तिङ्गन्त-
काण्डे लक्षणरूपे त्रितीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे
कथानके 'रावण-विलापो' नाम
घोड़ाः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः ।

इतः प्रभृति उडमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र भूतानवतने लक ततो-
इत्यत्र दर्शयिष्यति—

आशासत ततः शान्तिमसुरग्नीनहावयन् ।

विप्रानवाचयन् योधाः प्राकुर्वन् मङ्गलानि च ॥ १ ॥

आशासतेत्यादि—ततः प्रतिज्ञानन्तरं योधाः इन्द्रजित्सम्बन्धन इत्य-
र्थात् । उपद्रवपरिहारार्थं शान्तिमाशासत अभीष्टवन्तः । 'आङ्गः शासु
इच्छायाम्' इत्यनुदाचेत् । 'आत्मनेपदेष्वन्तः । ७ । १ । ५ । १' इत्य-
दादेशः । शान्तिं च दर्शयन्नाह—अस्तुः स्नाताः । 'प्णा शोचे ।' आत
इत्यधिकृत्य । 'लङ्घः शाकटायनस्यैव । ३ । ४ । १११ ।' इति झोर्जुस । उत्य-
पदान्तात् । ६ । १ । १६ ।' इति पररूपम् । अग्नीनहावयन् अग्निकर्म कारिकर्त्त-
न्तः । विप्रानवाचयन् लक्ष्यस्तिवाचनं कारितवन्तः । मङ्गलानि मङ्गलयुक्तानि
अर्शादित्वादत् । कर्माणि कृतवन्तः ॥ १ ॥

अपूजयन् कुलज्येष्ठानुपागूहन्त बालकान् ।

स्त्रीः समावर्धयन् साक्षाः कार्याणि प्रादिशस्तथा ॥ २ ॥

अपूजयन्नित्यादि—कुलज्येष्ठान् वृद्धानपूजयन् पूजितवन्तः पादपतना-
दिना । बालकानुपागूहन्त अंश्लिष्टवन्तः । गतानां किं भविष्यतीति साक्षाः
स्त्रीः योषितः । 'वाऽमृशसोः । ६ । ४ । ८० ।' इतीयज्ञभावपद्मे
रूपम् । समावर्धयन् ताम्बूलादिना संवर्धितवन्तः । 'प्रातिपदिकाद्वात्वर्थं
बहुलमिष्टवज्ञ' इति पितॄ । तथा कार्याणि गृहकार्याणि प्रादिशन्निर्दिष्टवन्तः ।
इदमिदं कार्यम् इति ॥ २ ॥

आच्छादयन् व्यलिम्पंश्च प्राशनन्तरं सुरामिषम् ।

प्रापिबन् मधु माघीकं भक्ष्यांश्चादन् यथेष्टितान् ॥ ३ ॥

आच्छादयन्नित्यादि—आच्छादयन् वस्त्राणि पिनद्ववन्तः । ‘छद संवरणे’ चुरादिः । व्यलिम्पश्च समालिप्तवन्तः । ‘लिप उपदेहे’ । ‘शे मुचादीनाम् । ७ । १ । ५९ ।’ इति तुम् । ‘नश्छव्यप्रशान् । ८ । ३ । ७ ।’ इति रुत्प्र॒ । पूर्वस्थानुनासिकः । अथानन्तरं सुराभिषं प्राश्न् अभ्यवहृतवन्तः । मधुमाधवकिं मध्वासैवं प्रापिबन् सुष्ठु पीतवन्तः । भक्ष्यांश्च खण्डपायसादीन् यथेष्यितानादन् भक्षितवन्तः । अदित्यनुवृत्तौ ‘अदः सर्वेषाम् । ७।३।१००।’ इत्यडागमः ॥ ३ ॥

न्यश्यन् शश्वाण्यभीष्टानि समनह्यश्च वर्मभिः ।

अध्यासत सुयानानि द्विषद्वश्चाऽशर्पस्तथा ॥ ४ ॥

न्यश्यन्नित्यादि—अभीष्टानि यथानुभावितानि शश्वाणि न्यश्यन् तेजितवन्तः । ‘शो तनूकरणे’ । ‘ओतः इयनि । ७ । ३ । ७१ ।’ इत्योकारलोपः । वर्मभिश्च कवचैः समनह्यन् संनद्धाः । शरीराण्यावृतवन्त इत्यर्थः । सुयानानि शोभनयानानि अध्यासत आरुढाः । ‘अधिशीङ्गस्थासां कर्म्म । १।४। ४६ ।’ इति कर्मसंज्ञा । तथा द्विषद्वश्चाऽशपन् आकृष्टवन्तः ‘पापाः क यास्यथ’ इति । ‘श्लाघहनुङ्गस्थाशपां झीप्यमानः । १।४।३४।’ इति सम्प्रदानसंज्ञा ॥ ४ ॥

अपूजयंश्चतुर्वक्रं विप्रानार्चिस्तथाऽस्तुवन् ।

समालिपत शक्रारिर्यानं चाऽभ्यलष्टद्वरम् ॥ ५ ॥

अपूजयन्नित्यादि—चतुर्वक्रं ब्रह्माणमपूजयन् अर्चितवन्तः । विप्रानार्चन् दाननमस्कारादिना पूजितवन्तः । तथा अस्तुवन् परस्परं स्तुतवन्तः । शक्ररिश्च इन्द्रजित् समालिपत समालिप्तवान् । यानं वरमुत्कृष्टमभ्यलष्टं अभीष्टवान् । ‘वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्तमुक्तमुत्रसित्रुटिलषः । ३।१।७०।’ इति श्यनो विकल्पितत्वात् पक्षे शप् ॥ ५ ॥

आमुञ्चदू वर्म रत्नाद्यमवधात् खङ्गमुज्ज्वलम् ।

अध्यासत स्यन्दनं घोरं प्रावर्तत ततः पुरः ॥ ६ ॥

आमुञ्चदित्यादि—रत्नाद्यं रत्नप्रत्युमं वर्म कवचमामुञ्चत् शरीर आमुञ्चवान् पिनद्ववानित्यर्थः । खङ्गं चोज्ज्वलमवधात् कक्षपार्श्वाश्रितं कृतवान् । घोरं भीषणं स्यन्दनमध्यासत आरुढः । ततोऽनन्तरं पुरः पुरतः प्रावर्तत प्रवृत्तः ॥ ६ ॥

१. मदिरां मांसं च । २. मधुरास्वादमासवम् । आसवोऽपि मधविशेषः ।

आग्नन् भेरीर्भद्रास्वानाः कम्बुंश्चाप्यधमन् शुभान् ।

अत्राडयन् मृदङ्गांश्च पेराश्चापूरयन् कलाः ॥ ७ ॥

आग्नन्नित्यादि—तस्मात् प्रवृत्ताः महोस्वाना महान्तः स्वाना नादा महानादाः । ‘स्वनहसोर्वा । ३।३।६२’ इत्यबभावपक्षे ‘भावे । ३।३।१८’ इति घन् । भेरीः आग्नन् ताडितवन्तः । वादका इत्यर्थात् । शुभान् सुस्वरान् कम्बुन् शङ्खनधमन् शब्दितवन्तः । ‘पादाध्यास्थाप्रादाण्हृश्यर्तिर्तिशदसदां पिबजि-प्रथमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः । ७।३।७८’ इति धमादेशः । मृदङ्गांश्चाताडयन् आहतवन्तः । ‘तड आधाते’ इति चुरादिः । पेराः स्वरमुखाकारान् वाद्यविशेषान् कलाः श्रुतिमधुरस्वराः अपूरयन् ॥ ७ ॥

अस्तुवन् बन्दिनः सब्दानन्योन्यं चोदभावयन् ।

अनदन् सिंहनादांश्च प्राद्रेकत हयद्विषम् ॥ ८ ॥

अस्तुवन्नित्यादि—बन्दिनः स्तुविषाठका अस्तुवन् ‘जय जीव’ इत्यादिना स्तुतिं कृतवन्तः । अन्योन्यं अन्यस्य अन्यस्य च शब्दान् सांग्रामिकनामानि उद्भावयन् उद्भाटितवन्तः सैनिका इत्यर्थात् । सिंहनादांश्चानदन् शब्दितवन्तः । हयद्विपं ‘विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोचराणाम् । २।४।१२०’ इति पशुद्वन्द्वय विभाषैकवद्वावः । प्राद्रेकत शब्दितवन् । ‘द्रेकृ शब्दोत्पादे’ इत्यनुदातेत् ॥ ८ ॥

अनिमित्तान्यथापश्यन्स्फुटद्विमण्डलम् ।

औक्षज्ञोणितमम्भोदा वायवोद्वान् सुदुःसहाः ॥ ९ ॥

अनिमित्तानीत्यादि—अनिमित्तानि कृतिसतनिमित्तानि । नवत्र कृत्स्यायाम् । गच्छन्तोऽपश्यन् दृष्टवन्तः । तानि दर्शयते—रविमण्डलमस्फुटन् स्फुटितम्, अम्भोदाः शोणितमौक्षन् वृष्टाः । ‘उक्ष सेचने’ । वायवः सुदुःसहाः प्रचण्डा अवान् वान्ति स्म । शकटायनस्तावन्यत्र उसादेशः ॥ ९ ॥

आर्छन् वामं गृगाः कृष्णाः शस्त्राणां व्यस्मरन् भटाः ।

रक्तं न्यष्टीवदङ्गाम्यदरिवद्वाजिकुञ्जरम् ॥ १० ॥

१ ‘स्वाननिर्बोषनिर्हादनादग्निस्वाननिःस्वानाः ।’ इत्यमरः । २ ‘तस्माद्यर्थं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता । अप्राप्तस्त्वमभावश्च नववाऽः च त्रिवीर्तिकाः ॥’ इति नवोऽप्राप्तस्त्वार्थकस्वात् ।

आच्छंनित्यादि—निर्गच्छतां वामपार्श्वे कृष्णमृगा आच्छंन् गताः ।
अतेः ‘पाद्राव्याख्यानादाण्डश्यर्तिसर्विशदसदां पिबजिग्रधमतिष्ठमनयच्छपश्य-
च्छधौशीयसीदाः ।७।३।७८।’ इति ऋच्छादेशः । ‘ऋच्छ गतौ’ इत्यस्य वा
रूपम् । भट्टाच्छ शब्दाणां व्यस्मरन् विस्मृतवन्तः ‘अधीर्गर्थदयेशां कर्मणि ।
२ । ३ । ५२ ।’ इति कर्मणि षष्ठी । वाजिकुञ्जरमस्त्रिमान्तमपि
रक्तं न्यष्टवित् । ‘षिवु निरसने’ इति भौवादिकस्य प्रहणम् ‘षिवुक्षमुच्चमां
शिति । ७ । ३।७५ ।’ इति दीर्घः । अङ्गाम्यत् छान्तम् अखिद्यत् विक्षनं च ॥१०॥

न तानगणयन् सर्वानास्कन्दश्च रिपून् द्विषः ।

अच्छिन्दन्नसिभिस्तीक्ष्णैरभिन्दंस्तोमरैस्तथा ॥ ११ ॥

न तानित्यादि--ताम् सर्वाननशुभान्नागणयन् नादृतवन्तः किमेतैरिति ।
अपि तु रिपूनास्कन्दन् अभिगतवन्तः । द्विषो राक्षसास्तीक्ष्णैरसिभिररीन-
च्छिन्दन् छिन्नवन्तः । तर्था तोमरैस्तीक्ष्णैरभिन्दन् विदारितवन्तः ॥ ११ ॥

न्यकून्तंश्चकधाराभिरतुदन् शक्तिभिर्दृढम् ।

भल्लैरविद्यन्तुग्रायैरतुंहस्तोमरैरलम् ॥ १२ ॥

न्यकून्तनित्यादि--चक्रधाराभिः न्यकून्तन् छिन्नवन्तः । ‘शे मुचादीनाम् ’ ।

७ । १ । ५९ । इति मुचादित्वान्तुम् । शक्तिभिश्च दृढमत्यर्थमतुदन्
व्यथितवन्तः । भल्लैरविद्यन् ताडितवन्तः । ‘प्रहिज्यावयिव्यधिविष्विचाति-
वृश्चतिपृच्छतिमृजतीनां डिति च’ । ६ । १ । १६ ।’ इति सम्भसारणम् ।
उप्राप्तीक्ष्णैप्रस्तोमरैरलं पर्याप्तमतुंहन् हतवन्तः । ‘त्रह हिंसायाम् ।’
‘हथादिभ्यःशम् ।३।१।७८।’ इति हथादित्वात् शम् । ‘शसोरलोपः ६।४।२३।’
इति अङ्गोपे अनुस्वारः ॥ १२ ॥

आस्यन् पुवङ्गमा वृक्षानधुन्वन् भूधरैर्भृशम् ।

अहिसन् मुष्टिभिः कोधाददशन् दशनैरपि ॥ १३ ॥

आस्यनित्यादि—पुवङ्गमा अपि वृक्षानास्यन् क्षिप्रवन्तः । ‘असु क्षेपणे’ ।

तथा भूधरैः पर्वतैर्वृशमधुन्वन् हतवन्तः । ‘अधूर्वन्’ इति पाठान्तरम् । तत्र
‘उपधायां च ।८।२।२८।’ इति दीर्घः । कोधान्मुष्टिभिरहिसन् ताडितवन्तः ।
दशनैदन्तैरदशन् खादितवन्तः । ‘दंशसञ्चस्वज्ञां शपि । ६ । ४ । २५ ।’
इत्यनुनासिकलोपः ॥ १३ ॥

ग्रादुन्वज्ञानुभिस्तूर्णमतुदंस्तलकूर्पैः ।

प्राहिष्वन्नस्मुक्षानि शक्षाणि विविधानि च ॥ १४ ॥

प्रादुन्वन्नित्यादि—जानुभिस्तूर्णं प्रादुन्वन् पीडितवन्तः ‘दुदु उपतापे ।’ स्वादिः । तलकूर्पैरैः हस्ततर्त्तैः कैफोणिमिश्रानुदन् व्यथितवन्तः । अरिभिर्मुक्तानि विविधानि यानि शब्दाणि तानि प्राहिष्ठन् प्रहितवन्तः ॥ १४ ॥

अटृणेऽछक्षजिच्छत्रूनभ्राम्यच्च समन्ततः ।

अध्वनच्च महाघोरं न च कञ्चन नादुनोत् ॥ १५ ॥

अथृणेडित्यादि—ततः शक्षजिन्द्रजित् शत्रूनशृणेद् हिंसितवान् । उहेः अम् । तस्य ‘तृणह इम् ।३।३१२।’ हल्डधादिलोपः । हक्करस्य ढत्वजश्त्वचत्वानि । समन्ततश्चाभ्राम्यत् आन्तवान् । महाघोरं च भीषणं स्वनम् अध्वनत् नादितवान् । न च कञ्चन नादुनोत् कंचिदपि न नोपतापित्वान् अपि तु सर्वानपि पीडितवानित्यर्थः ॥ १५ ॥

नाजानन्सन्दधानं तं धनुर्नेक्षन्त वित्रतम् ।

नेषूनचेतनस्यन्तं हतास्तेनाविदुर्द्विषः ॥ १६ ॥

नाजानन्नित्यादि—वनुषि शरं सन्दधानमारोपयन्तमिन्द्रजितं नाजानन् न ज्ञातवन्तः । धनुर्निष्ठ्रतं नैक्षन्त धनुर्धारयन्तं न दृष्टवन्तः । इषून् शरानस्यन्तं क्षिप्यन्तं नाचेतन् हस्तलाघवात् न ज्ञातवन्तः । ‘चिती सञ्ज्ञाने’ । ‘डमो हम्वादचि डमुण् नित्यम् ।१।३।३२।’ इति डमुद् । तेन हताः सन्तो द्विषः अविदुः ज्ञातवन्तः पूर्वोक्तम् । ‘सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ।३।४।१००।’ इति श्वेर्जुस् ॥ १६ ॥

अशृणवन्नन्यतः शब्दं प्रपलायन्त चान्यतः ।

आक्रन्दमन्यतोऽकुर्वस्तेनाहन्यन्त चान्यतः ॥ १७ ॥

अशृणवन्नित्यादि—अन्यतः अन्यसिन् प्रदेशे केचिद् द्विषः शब्दमशृण् । ‘श्रुवः शृ च ।३।१।७४।’ इति शृमावः शृनुप्रत्ययश्च । अन्यत्र स्थिताः प्रपलायन्त पलायिताः । अन्यतोऽन्यत्र प्रदेशे स्थिताः आक्रन्दम् अकुर्वन् रोदनं कृतवन्तः । अन्यतोऽन्यत्र तेनेन्द्रजिता अहन्यन्त व्यापादिवाः । कर्मणि लङ् । सर्वत्रादादित्वात्तसिः ॥ १७ ॥

ग्रालोठन्त व्यभिद्यन्त परितो रक्तमस्तवन् ।

पर्यश्राम्यन्नतृष्यंश्च क्षतास्तेनाम्रियन्त च ॥ १८ ॥

१ ‘कफोणिःकर्परोऽरत्नेःषुष्मम् ।’ इति नाममाला । अस्य ‘कूर्जी’ इति भाषायां प्रसिद्धिः । २ प्रकोष्ठैरिति पाठान्तरे तु कूर्परस्ये प्रकोष्ठवाचित्वे प्रसादं सृग्यम् ।

प्रालोठन्तेत्यादि---तेन क्षताः सन्तः केचिद्गूमौ प्रालोठन्त । 'लुठ लोठने !' मुवीतस्ततो व्यभिद्यन्त व्यनीयन्त, हताः सन्त इतस्ततो नीताः । कर्मणि लङ् । परितः समन्ताद्रकमस्ववृ॑ मुक्तवन्तः । पर्यश्राम्यन् खिन्नाः । अतृज्यन् पिपासिताः । 'दिवादिभ्यःश्यन् । ३।१६१' इति श्यन् । केचिदप्रियन्ता । 'भ्रियतेर्लुङ्गलिङ्गोश्च । १।३।६१' इति तङ् ॥ १८ ॥

सौमित्रिराकुलस्तस्मिन्ब्रह्माखं सर्वरक्षसाम् ।

निधनायाजुहूषत्वं व्यष्टभ्राद्भुनन्दनः ॥ १९ ॥

सौमित्रिरित्यादि---तास्मिन् इन्द्रजिति तथाभूते सति सौमित्रिराकुलो व्यस्तचित्तः सर्वरक्षसां निधनाय ब्रह्माखमाजुहूषत् आहातुमैच्छत् । 'अभ्यस्तस्य च । ६।१।३३' इति अभ्यस्ताकारस्य ह्यतेः प्रागेव द्विर्वचनात् सम्प्रसारणम् । तं च सौमित्रिं रघुनन्दनो रामः व्यष्टभ्रात् निवारितवान् । 'मा भूद्विभीषणस्यापि नाशः' इति । 'त्तम्भुस्तम्भुस्कम्भुस्कम्भुज्यः श्वन्नश्च । ३।१।८२।' इति श्राप्तययः । 'प्राक्षसिताद्व्यवायेऽपि । ८।३।६७।' इति मूर्धन्यः ॥ १९ ॥

ततो मायामर्यों सीतां ब्रन् खङ्गेन वियद्गतः ।

अद्वैश्यतेन्द्रजिद्वाक्यमवदत्तं मरुत्सुतः ॥ २० ॥

तत इत्यादि---ततोऽनन्तरम् इन्द्रजित् वियद्रतः आकाशगतः सीतां मायामर्यों मायानिर्मितां खङ्गेन ब्रन् व्यापादयन्नद्वैश्यत दृष्टः । कर्मणि लङ् । तथाभूतं राक्षसं मरुत्सुतो हनूमान् वाक्यमवदत् भाषितवान् ॥ २० ॥

मापराश्रोदियं किंचिदप्रइयत्पस्युरन्तिकात् ।

सीतां राक्षसं मा स्मैनां निगृह्णाः पाप दुःखिताम् ॥ २१ ॥

मापराश्रोदित्यादि---हे पाप राक्षस ! सीता पर्युरन्तिकौदप्रइयत् अपगता । इयं भवतो नापराश्रोत् नापराद्वा । 'राघ साध संसिद्धौ !' इति स्वादौ । तस्मादेनां दुःखितां मा स्म निगृह्णाः मा वधीः । 'स्मोत्तरे लङ् च । ३।३।१७६।' इति वर्तमाने लङ् ॥ २१ ॥

पीडाकरमभित्राणां कर्तव्यमिति शक्रजित् ।

अब्रवीत्सङ्कृष्टश्च तस्या मूर्धनमच्छिनत् ॥ २२ ॥

पीडाकरमित्यादि—इयमपराद्वा भवतु न वा सर्वथा यद्मित्राणां पीडा-
करं तदवश्यं कर्तव्यमिति शकजिद्ब्रवीत् उक्तवान् । खङ्गकृष्टश्च कृष्टः खङ्गो
येन । ‘प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः’ । तस्या मैर्धानमच्छनन्
छिनवान् । तिषो हृद्भृत्यादिलोपः । दक्षारत्य चर्त्वम् ॥ २२ ॥

यत्कृतेऽरीन्व्यगृहीम् समुद्रमतराम च ।

सा हतेति वदन्नामसुपातिष्ठन्मरुत्सुतः ॥ २३ ॥

यत्कृत इत्यादि—यस्याः कृते यन्निमित्तम् अरीन् परान् अशोकवल्लि-
कास्थितान् व्यगृहीम् विगृहीतवन्तः । ‘नित्यं डितः । ३।४।१५’ इति लङ्घि
उत्तमस्य लोपः । समुद्रं चातराम तीर्णवन्तः । ‘अतो दीर्घो यवि
। ७।३।१०।१’ इति दीर्घः । सा सीता हतेति वदन्मरुत्सुतः रामसुपातिष्ठत्
द्वौकितवान् । अत्र यमुना गङ्गासुपतिष्ठत इत्येवं सङ्गतिकरणम् [उप-
स्लेषो] नास्तीति ‘उपादेवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विते वाच्यम्’ इति
तद्दन्न भवति ॥ २३ ॥

ततः प्रामुख्यतां वीरौ राघवावरुतां तथा ।

उष्णं च प्राणितां दीर्घमुच्चैर्व्यक्तोशतां तथा ॥ २४ ॥

तत इत्यादि—ततो हनूमद्वचनानन्तरं राघवौ वीरौ प्रामुख्यतां प्रकर्षेण
मोहं गतौ । तथाऽहतां क्रन्दितवन्तौ । ‘ह शब्दे ।’ ‘उतो वृद्धिर्लुकि
हलि । ७ । ३ । ८९ ।’ इति न भवति । पित्त्वाभावात् । तथा दीर्घ-
मुष्णं च प्राणितां निश्चसितवन्तौ ‘अन प्राणने ।’ ‘रुदादीभ्यः सावधा-
तुके । ७।२।७६।’ इतीद् । तथा उच्चैर्व्यक्तोशतां ‘हा सीते’ इति आहूक-
वन्तौ ॥ २४ ॥

तावभाषत पौलस्त्वो मा स्म प्रसुदितं युवाम् ।

ध्रुवं स मोहयित्वास्मान्पापोऽगच्छन्निकुम्भिलाम् ॥ २५ ॥

तावित्यादि—पौलस्त्वो विभीषण आगत्य तौ तथाभूतावभाषत उक्तवान् ।
युवां मा स्म प्रसंहंदितं मा रोदिष्टम् । ‘स्मोचरे लङ्ग च । ३।३।१७।६।’ इति
लङ्ग । यतो ध्रुवमवश्यं स इन्द्रजित् पापः पाप्मा । अर्जुनादित्वादङ्ग ।
अस्मान् मोहयित्वा मायथा विमोह । मुहेरकर्मकत्वाद् ‘गतिवृद्धिप्रत्यक्ष-

सनार्थशब्दकमांकर्मकाणामणि कर्त्ता स औ । १ । ४ । ५२ ।' इति कर्मसंज्ञा ।
निकुम्भिलामप्रिणुहमगच्छत् गतवान् । तत्र भूतानयतन् एव लङ् ॥ २५ ॥

मा स्म तिष्ठत तत्रस्थो वध्योऽसावहुतानलः ।

अस्मे ब्रह्मशिरस्युग्रे स्थन्दने चानुपार्जिते ॥ २६ ॥

मा स्मेत्यादि—मा स्म तिष्ठत मा विलम्बध्वं, गच्छत । ‘स्मोत्तरे
लङ् च ॥१ । ३ । १७६ ।’ यतस्तत्रस्यो निकुम्भिलास्थोऽसावहुतानलः अकृ-
ताभिकार्यो वध्यः हन्तुं शक्यः । ‘शक्ति लिङ् च ॥३ । ३ । १७२ ॥’ इति चकारात्
‘कृत्यांश्च’ इति वचनात् ‘हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः’ इति वार्तिकेन यत् ।
कथमहुतानलो वध्य इति चेत् अस्मे ब्रह्मशिरसि ब्रह्मशिरोनाम्नि उप्रेदुष्प्रयोगे
स्थन्दने च अनुपार्जितेऽप्राप्ते सति ॥ २६ ॥

कथमुभयं तेनोपार्ज्यत इत्याह ।

ब्रह्माऽदधाद्वधं तस्य तस्मिन्कर्मण्यसंस्थिते ।

प्रायच्छदाज्ञां सौमित्रेर्यूथपानां च राघवः ॥ २७ ॥

ब्रह्मेत्यादि—यतस्तस्यां निकुम्भिलायां कर्मण्यसंस्थिते असमाप्ते ब्रह्मा वधं
तस्यादधात् धारितवान् । दक्षवानित्यर्थः । श्लौ द्विर्वचनम् । एवं विभीषण-
वचः श्रुत्वा राघवः सौमित्रेर्यूथपानां च गन्तुमाज्ञां प्रायच्छत् दत्तवान् । ‘दाणू
दाणे’ । ‘पाद्राघमास्थानादाणदुश्यार्तिसार्तिशदसदां पिबनिघ्रधमतिष्ठमनयच्छ-
पश्यर्षधौक्षीयसीदाः ॥७ । ३ । ७१ ॥’ इति यच्छादेशः ॥ २७ ॥

तां प्रत्यैच्छन्सुसम्प्रीतास्ततस्ते सविभीषणाः ।

निकुम्भिलां समभ्यायन्यरुद्धयन्त च राक्षसैः ॥ २८ ॥

तामित्यादि—वतस्ते सविभीषणाः सुसंप्रीतास्तामाज्ञां प्रत्यैच्छन् प्रतीष्ट-
वन्तः प्रतिगृहीतवन्तः । ‘इषु इच्छायाम्’ । ‘इषुगमियमां छः ॥७ । ३ । ७१ ॥’ ते
च निकुम्भिलां समभ्यायन् समभिगताः । ‘इण् गतौ ।’ तत्र च ये
दिक्पालाः राक्षसाः तैर्यरुद्धयन्त रुद्धाः प्रवेष्टुं पन्थानं न लब्धवन्तः । कर्मणि
लङ् ॥ २८ ॥

दिक्पालैः कदनं तत्रे सेने प्राकुरुतां महत् ।

ऐतां रक्षांसि निर्जित्य द्रुतं पौलस्त्यलक्षणौ ॥ २९ ॥

१ कृद्याः पश्चिमभागस्थायां तदाक्षयायां गुहायां दुर्गायां वा । २ यथापि सम्पूर्वः
स्थातिविनाशायार्थोऽनुसन्ध्यते, तथापि निष्ठायां प्रयोगोऽपि न दुष्टः, प्रयोगवाहृत्यात् ।

दिक्पालैरित्यादि—तत्र निकुम्भिलोहेशे उभे अपि सेने महाद्विपुलं कदनं
विनाशनं युद्धं वा प्राकुरुतां कृतवन्तौ । तानि रक्षांसि निर्जित्य पौलस्त्य-
लक्ष्मणौ विभीषणो लक्ष्मणश्च द्रुतं शीघ्रमैतां गतवन्तौ । ‘इणू गतौ ।’ आद-
वृद्धिः ॥ २९ ॥

तत्रेन्द्रजितमैक्षेतां कृतधिष्ठयं समाहितम् ।

सोऽजुहोत्कृष्णवत्मानमामनन्मन्त्रमुत्तमम् ॥ ३० ॥

तत्रेत्यादि—तत्र निकुम्भिलायां तावैक्षेतां दृष्टवन्तौ । इन्द्रजितं कृतधिष्ठयं
कृतागन्यगारम् । समाहितं एकाग्रमानसम् । स इन्द्रजित् कृष्णवत्मानमजुहोत्
हृतवान् । मन्त्रमुत्तममामनन् आवर्तयन् । ‘श्ना अभ्यासे ।’ शतारि ‘पाप्ना-
धमास्थानादाण्हस्यर्तिसर्वशदसदां पिबन्ति ३ । ७८ ।’ इत्यादिना मन-
देशः ॥ ३० ॥

अध्यायच्छकाजिङ्ग्लह समाधेरचलन्न च ।

तमाह्यत सौमित्रिरगर्जव्व भयद्गुरम् ॥ ३१ ॥

अध्यायदित्यादि—शकजिदिन्द्रजित्परं ब्रह्माध्यायत् चिन्तितवान् । ‘चै
चिन्तायाम्’ आत्मं शिति । न च समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधादचलत् चलितवान्
तं तथाभूतमिन्द्रजितः सौमित्रिर्युद्धायाह्यत आहृतवान् । भयंकरं चागर्जत्
शब्दितवान् ॥ ३१ ॥

अकुप्यदिन्द्रजितं च पितृव्यं चागदद्वचः ।

तमत्राजायथा देह इहापुष्यत्सुरांसिषेः ॥ ३२ ॥

अकुप्यदित्यादि—तत्र तस्मिन्नाह्नानं गर्जितं च कृतवति सति अकुप्यत् कुद्धः ।
‘कुप कोधे’ दैवादिकः । पितृव्यं च पितृन्नातरं विभीषणम् । पितृशब्दाद्
आराति ‘पितृव्यमातुलभातामहपिवामहाः ४ । २ । ३६’ इति व्यञ्जिपातितः ।
वचो वक्ष्यमाणमगदन् उक्तवान् । अत्रास्मिन् राक्षसकुले त्वमजायथाः
जातोऽसि । ‘जनी प्रादुर्भावे ।’ दैवादिकोऽनुदाच्चेत् । इह च देहः सुराभिष्वर-
पुष्यद् वृद्धिं गतः । पुषिदैवादिकः । अत एव ‘दिवादिभ्यः इयन् । ३ ।
१ । ६९ ।’ इति इयन् । देहमपुष्य इति पाठान्तरम् । तत्र देहं पोषितवानसि
अन्तर्भवितप्यथो द्रष्टव्यः ॥ ३२ ॥

१ अभिमित्यर्थः । ‘बहिः शुष्मा कृष्णवत्मः’ इत्यमरः ।

इहाजीव इहैव त्वं क्रूरमारभथाः कथम् ।

नापश्यः पाणिमार्द्धं त्वं बन्धुत्वं नापैक्षथाः ॥ ३३ ॥

इहेत्यादि—इहाजीवः जीवितोऽसि कथमिहैव त्वं क्रूरं कर्म आर-
भथाः आरब्धवानसि । आर्द्धं पाणिं च नापश्यस्त्वं न दृष्टवानसि ।
यावता कालेन भुक्त्वा पौणिः शुष्यति तावन्तमपि कालं नापेक्षितवा-
नसीत्यर्थः । आत्मां तावदेतत् । बन्धुत्वमपि एकगोत्रत्वमपि नापैक्षथाः ॥ ३३ ॥

अधर्मान्नात्रसः पाप लोकवादान्न चाबिभेः ।

धर्मदूषण नूनं त्वं नाजाना नाशृणोरिदम् ॥ ३४ ॥

अधर्मादित्यादि—हे पापे ! अधर्मादपि नात्रसः न त्रस्तोऽसि ।

‘त्रसी उद्घोगे’ दिवाहै । ‘आ भ्राशभ्लाशभ्रमुक्तमुत्रसित्रुटिलषः । ३ ।
१ । ७० ।’ इति पक्षे शप् । लोकवादान् जनापवादात् न चाबिभेः न
भीतोऽसि । श्लौ द्विर्वचनम् । धातोरुणः । ‘भीत्रार्थानां भयहेतुः । १ । ४ ।
२५।’ इत्यपादानसज्जा । हे धर्मदूषण ! धर्मस्य दूषणं धर्मोच्छेदक ! अति-
विपरीते स्थितेत्वात् । ‘दुष वैकृत्ये’ । ‘दोषो णौ । ६।४।९०।’ इत्युप-
थाया ऊत्वम् । दूषयतीति दूषणः । ‘कृत्यल्युटो बहलम् । ३।३।११३।’
इति कर्तारि स्युट् । न तु नन्द्यादिपाठे ल्युः । तत्र हि ‘नदिवाशिमदिदू-
षिसाधिपचिशोधिरोचिभ्यो ष्यन्तेभ्यः पूजायाम्’ इत्युक्तम् । न [चात्र पूजा
गम्यत इति । नूनम् अवश्यं त्वं नाजानाः स्वयमिदं न ज्ञातवानसि ।
‘ज्ञा अवबोधने ।’ इत्यादानुदात्तेत् । ‘ज्ञाजनोर्जां । ७ । ३ । ७९ ।’ ‘इदमन्य-
ताऽपि नाशृणोः द्विषद्भ्यो न श्रुतवानसि । ‘श्रुवः शृ च । ३ । १ । १७४ ।’
इति श्रु, इत्यादशः, ततः श्लुः ॥ ३४ ॥

किं तदित्याह—

निराकृत्य यथा बन्धुं लघुत्वं यात्यसंशयम् ।

पितृव्येण ततो दाक्यमभ्यधीयत शक्रजित् ॥ ३५ ॥

निराकृत्येत्यादि—यथा बन्धून् निराकृत्य परित्यज्य लघुत्वम् लघुतां
यात्यसंशयमसन्देहम् । ततः पुत्रोक्तेरनन्तरं पितृव्येण विभीषणेन
शक्रजिद्वाक्यमभ्यधीयत अभिहितः । कर्मणि लक्ष् । ‘घुमास्थागापाजहातिसां
हालि । ६ । ४ । ६६ ।’ इतीत्वम् ॥ ३५ ॥

१ अत्र ‘अर्षभादिष्योऽच् च । २ । १२७।’ इत्यच् । २ धर्मे दूषयतीति
भ्युत्स्तिभ्रमनिरासार्थमिदृं पृथक् निर्दिष्टं, नश्च नन्द्यादित्वाल्लयुः, तत्रास्याग्रहणात् ।

मिथ्या मा स्म व्यतिक्रामो मच्छीलं मा न बुद्धयथाः ।

सत्यं समभवं वंशे पापानां रक्षसामहम् ॥ ३६ ॥

मिथ्येत्यादि—मिथ्या मृषा मा स्म व्यतिक्रामः मा परिमूः । ‘ऋगः परस्मैपदेषु । ७ । ३ । ७६ ।’ इति दीर्घः । मच्छीलं मत्स्वभावं मा न बुद्धयथाः^१ मा न बुद्धास्त्वम् अपि तु ज्ञात्वानसि । ‘स्मोच्चे लङ् च । ३ । ३ । १७६ । पापानां रक्षसां वंशेऽहं सत्यं समभवं सम्भूत इति ॥ ३६ ॥

न त्वजायत मे शीलं तादग्न्याद्विष्टुस्तव ।

क्षयावहेषु दोषेषु वार्यमाणो मयारमत् ॥ ३७ ॥

न त्वित्यादि—यद्यप्यहं राक्षसैऽकुले जातस्तथापि तव पितुर्याद्वक् शीलं स्वभावस्त्वाद्वक् मे । न त्वजायत नैवाभूत् । यतोऽसौ क्षयमावहन्तीति क्षयावहाः । पचादित्वाद्वच् । तेषु दोषेषु परस्त्रीहरणादिषु मया वार्यमाणोऽपि । दशग्रीव इति संबन्धः । आरमत् रर्ति छ्रतवान् । ‘व्याङ्गपरिभ्यो रमः । १ । ३ । ८३ ।’ इति परस्मैपदम् ॥ ३७ ॥

दशग्रीवोऽहमेतस्मादत्यजं न तु विद्विषन् ।

परस्वान्यार्जयन्नारीरन्यदीयाः परामृशत् ॥ ३८ ॥

दशग्रीव इत्यादि—एतस्मात्कारणादहं रावणमत्यजं त्यक्तवानस्मि न पुनर्द्विषन् असित्रीभवन् दशग्रीवो रावणः । ‘द्विषोऽमित्रे । ३ । २ । १३१।’ इति शतप्रत्ययः । तान् दोषानाह—परस्वानि परविचानि आर्जयत् अन्यैर्माहितवान् । ‘अजं सज अर्जने’ इति भवाद्वौ हेतुमणिच् । ‘अर्ज प्रतियत्ने’ इति चौरादिकस्य वा रूपम् । अन्यदीयाः नारीश्च परामृशत् सृष्टवान् । ‘मृश आमशने’ इति तुदादाकुदाचेत् ॥ ३८ ॥

व्यजिघृक्षत्सुरान्नित्यं प्रामाद्यद्गुणिनां हिते ।

आशङ्कुत् सुहङ्कृन् वृद्धान्वृद्धान्वद्वमन्यत ॥ ३९ ॥

व्यजिघृक्षदित्यादि—सुरान् नित्यं व्यजिघृक्षत् विग्रहीतुमैच्छत् तैः साकं वृथैवं कलहं युद्धं वा कर्तुम् आवर्ततेति भावः । गुणिनां माल्यवत्प्रभृतीनां यदुकं हितं तस्मिन् विषये प्रामाद्यत् प्रमादं गतः । ‘मर्दी हर्षे’ ।

^१ यद्यपि धनदस्य यो वंशः स एव रावणादीनामपीति न तथात्वे वंशद्वेषः सुधृचः, किंतु मातापितृदोषेऽव, प्रकृते च मातृदोषे एवापराधहेतुः, अन्यथा कुदेरस्यादि तथात्वापत्तेः । इति सम्भाष्येहं समर्थनीयम् ।

‘शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ।७।३।७४।’ इति दीर्घः । सुहृदो बन्धुंश्रु
सुहृद्वन्धूर आशङ्कत विकल्पितवान् । अवृद्धान् अविदुषो मूढान् प्रहस्ता-
दीन् बह्मन्यत श्लाधितवान् ॥ ३९ ॥

दोषेरसमैभिस्ते पितात्यज्यत यैर्मयो ।

ततोऽरुष्यदन्देच्च द्विविंशतिभिरेव च ॥ ४० ॥

दोषैरित्यादि—एभिदोषैस्त्व वित्ता रावणः अरमत कीडितवान् ।
यैदोषैर्मया अत्यज्यत । कर्मणि लङ् । ततः पितुर्दोषप्रकाशनवचनादन-
न्तरम् । रावणिरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । अरुष्यत् रुषः । ‘रुष रुषौ’
अनर्देच्च विस्फूर्जितवान्श्च ॥ ४० ॥

शैरैताडयद्वन्धुं पञ्चविंशतिभिर्नृपम् ।

रावणिस्तस्य सौमित्रिरमभ्राच्छतुरो हयान् ॥ ४१ ॥

शैरित्यादि—बन्धुं विभीषणं द्विविंशतिभिः शैरैताडयत् । चत्वार्ँशतेन-
त्यर्थः । द्वे विंशती येषां शाराणाभिति बहुत्रीहिः । एवं च ‘द्वैष्टनः
संख्यायामबहुत्रीहशतियोः ।६।३।४७।’ इत्यात्वं न । तथा पञ्चविंशतिभिः
शरैर्नृपं लक्ष्मणम् अताडयत् । शतेनेत्यर्थः । द्वौ च विंशतिश्च पञ्चविंशति-
श्चेत्यस्मिन् व्याख्याने द्वाविंशत्या पञ्चविंशत्येति च प्राप्नोति । सौमित्रिस्तु
लक्ष्मणः पुनः तस्य रावणे रावणपुत्रस्येन्द्रजितश्चतुरो हयान् बाणैरमभ्रात् ।
‘मध्ये विलोडने’ इति क्र्यादौ ॥ ४१ ॥

सार्थिं चाऽलुनाद्वाहौरभनकस्यन्दनं तथा ।

सौमित्रिमकिरद्वाणः परितो रावणिस्ततः ॥ ४२ ॥

सारथिमित्यादि—तस्य रावणे: सारथिं चालुनात् छिन्नवान् । ‘प्वादीनां
हस्तः ।७।३।८०।’ तथा स्यन्दनं रथम् अभनक् भग्नवान् । ‘भजो आमर्द्दने’ इति
रुधादिः । ततोऽनन्तरं रावणः इन्द्रजित् सौमित्रिं सुमित्रानन्दनं लक्ष्मणं परितः
समन्वात् बाह्यैरकिरत् छादितवान् ॥ ४२ ॥

तावस्फावयतां शक्तीर्बाणांश्चाकिरतां मुहुः ।

वारुणं लक्ष्मणोऽक्षिष्यदक्षिष्ठदौद्रमिन्द्रजित् ॥ ४३ ॥

तावित्यादि—ताविन्द्रजिलक्ष्मणौ । शक्तिं सामर्थ्यमस्फङ्गवयतां वर्धितवन्तौ
स्वस्वपराक्रमतिशयेन दर्शितवन्नावित्यर्थः । ‘स्फङ्गो वः ।७।३।४१।’ वाणांश्च

मुहुराक्रितां विक्षिप्तवन्तौ । स्वस्वपराक्रममतिशयेनदर्शितवन्त्वावित्यर्थः ।
वारुणमसं लक्ष्मणोऽक्षिप्यत् । दैवादिकस्य रूपम् । इन्द्रजिद्रौद्रं पाण्डुमत्तमाक्षि-
पत् क्षिप्तवान् । तौदादिकस्य रूपम् ॥ ४३ ॥

ते परस्परमासाद्य शखे नाशमगच्छताम् ।

आसुरं राक्षसः शर्वं ततो धोरं व्यसर्जयत् ॥ ४४ ॥

ते परस्परमित्यादि—ते शब्दे परस्परमासाद्य प्राप्य नाशमगच्छतां नाशं गते । तत्सत्तन्नाशदनन्तरं राक्षसो रावपिण्डजिन् आसुरम् असुरदैवतं शब्दं घोरं भीषणं व्यसर्जयत् स्मित्वान् ॥ ४४ ॥

तस्मान्विरपत्त्वरि शिलाग्रलेष्टमुद्धरम् ।

माहेश्वरेण सौमित्रिरस्त्रभाचत्सदर्जयम् ॥ ४९ ॥

तस्मादित्यादि—तस्मात् क्षिप्तादा सुराद्भात् शिलाशूलेष्टमुद्रं निरपतत ।
इष्टः प्रहरणविशेषः । तच्चासुरं सुदुर्जयं सौमित्रिलक्ष्मणो माहेश्वरेण अस्त-
भात् संनिभतवान् । ‘तम्भुसुभुसुरक्षम्भुसुभुसुक्षम्भ्यः इन्द्रश्च ॥३१॥८२॥’
इति चक्रारत आ ॥ ४५ ॥

ततो रौद्रसमायुक्तं माहेन्द्रं लक्ष्मणोऽस्मरत् ।

तेनागम्यत घोरेण दिरश्चाहियत द्विषः ॥ ४६ ॥

तत् इत्यादि—ततोऽनन्तरं रौद्रसमायुक्तं रौद्राखेण सहितं माहेन्द्र-
मखं रौद्रं माहेन्द्रं चाबिमित्यर्थः लक्ष्मणोऽस्मरत् चिन्तितवान् । तेन स्मरणादेव
आगम्यत आगतम् । भावे लङ् । तस्य द्विषःशत्रोः शिरश्चाद्विषत छिन्नम् ।
कर्मणि लङ् ॥ ४६ ॥

अतुष्यन्नमराः सर्वे प्राहृष्यन्कपियुथपाः ।

पर्यष्वजत् सौभिर्ति मूढन्यजिग्रच्च राघवः ॥ ४७ ॥

अतुष्यन्नित्यादि—तस्मिन् सूते अमरा देवाः अतुष्यन् तुष्टाः । कपियू-
थपाः कपिवर्याः प्राहृष्यन् प्रहृष्टाः । राघवश्च सौमित्रिं पर्यज्वजत आश्लिष्ट-
वान् । 'दंशसञ्चस्वज्ञां शपि ।६।४।२५।' इत्यनुतासिकलोपः । 'प्राहृ सिता-
ददृश्यवायेऽपि । ८ । ३ । ६३ ।' इति वचनात् परिनिविभ्यः
सेवसितसयसिवुसहस्रसुस्तुस्वज्ञाम् ।३ । ७० ।' इति षत्वम् । मूर्खंजित्राण
आघातवान् ॥ ४७ ॥

अरोदीद्राक्षसानीकमरोदन्त्रभुजां पतिः ।

मैथिल्यै चात्रपद्धन्तं तां प्राक्रमत चातुरः ॥ ४८ ॥

अरोदीदित्यादि—राक्षसानीकं राक्षससैन्यमरोदीत् रुदितम् । ‘रुदश्च पञ्चम्यः । ७ । ३ । १८।’ इतीद् । नृभुजां पतिः रावणः अरोदीत् रुदितः । ‘अङ् गार्यगालवयोः । ७ । ३ । १९।’ इत्यडागमः । मैथिलै सीतायै चाशपत् आकुष्टवान् । सर्वदोषस्य मूलमिति । ‘श्लाघहृष्टस्थाशपां झीप्स्यमानः । १४।३४।’ इति कर्मणि सम्प्रदानसंज्ञा । तां च हनुम् आतुरो मन्युक्षतः शोक-पीडित इति यावत् प्राक्षमत प्रारब्धवान् । ‘प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १ । ३ । ४२।’ इति तद् ॥ ४८ ॥

अयुक्तमिदमित्यन्ये तमाप्ताः प्रत्यवारयन् ।

न्यरुन्धश्चास्य पन्थानं बन्धुता शुचमारुणत् ॥ ४९ ॥

अयुक्तमित्यादि—अन्ये आप्ताः राक्षसाः अयुक्तमेतदिति मन्यमानाः तं तथाविधं प्रत्यवारयन् आवार्य स्थिताः । ‘बृघ् आवरणे’ चुरादिः । पन्थानं मार्गं न्यरुन्धश्च इस्तपादादिग्रहणेन रुद्धवन्तः । बन्धुता बन्धुसमूहः । अस्य रावणस्येन्द्रजिन्मरणजन्यं शुचं शोकमारुणत् अपनीतवती । हलङ्ग्यादिलोपः धकारस्य जश्वतम् ॥ ४९ ॥

आस्फायतास्य वीरत्वमर्षश्चाप्यतायत ।

रावणस्य ततः सैन्यं समस्तमयुयुत्सयत् ॥ ५० ॥

आस्फायतेत्यादि—अथ निरुद्धशोकस्य रावणस्य वीरत्वं शौर्यम् आस्फायत वृद्धिं गतम् । अर्षश्च क्रोधः अतायत विस्तारं गतःः । ततः स रावणः समर्तं सैन्यम् अयुयुत्सयत् युयुत्समानं प्रयोजितवान् ॥ ५० ॥

अग्नीनवरिवस्यंश्च ते ऽनमस्यंश्च शङ्करम् ।

द्विजानप्रीणयच् शान्त्यै यातुधाना भवद्विद्यः॥ ५१ ॥

अग्नीनवित्यादि—ते यातुधानाः भवद्विद्यः भवन्ति उत्पद्यमानाः भिशो भीतयो येषां ते । अग्नीनवरिवस्यन् परिचारितवन्तः । ‘नमोवरिवश्चित्रङ्कः क्यच् । ३ । १ । १९।’ इति वरिवसः परिचर्यामिति क्यच् । तदन्ताल्लङ् । शङ्करं च महादेवं च अनभास्यन् पूजितवन्तः । अत्र नमसः पूजायां पूर्ववत् क्यच् । द्विजांश्च शान्त्यै शान्त्यर्थमप्रीणयन् प्रीणितवन्तः । ‘घूङ्ग्रीवोर्नुग्वक्तव्यः’ इति प्रीणो तुक् ॥ ५१ ॥

१ बन्धुनां समूह इति बन्धुता, ‘ग्रामजनबन्धुस्यस्तल् । २ । ४३ ।’ इति ।
तद् । ‘शातेयं बन्धुता तेषां क्रमाह्वाससमूहयोः ।’ इत्यमसः ।

परितः पर्यवाद्वायुराज्यगन्विर्मनोरमः ।

अश्रूयत सपुण्याहः स्वस्तिषोषः समुच्चरन् ॥ ५२ ॥

परित इत्यादि—अग्निसन्तर्पणांदाज्यगन्धिः आज्येस्य गन्वो यस्मिन्वायौ स वायुर्मनोरमः सर्ववेश्मसु पर्यवात् परितो वाति स । स्वस्तिषोषश्च सपुण्याहः पुण्याहशब्देन सह समुच्चरन्नश्रूयत श्रूयते स्म । कर्मणि लङ् ॥ ५२ ॥

योद्धारोऽविभरुः शान्त्यै साक्षतं वारि मूर्खभिः ।

रत्नानि चाददुर्गात्र समवाञ्छन्नथाशिषः ॥ ५३ ॥

योद्धार इत्यादि—योद्धारः शान्त्यै शान्त्यर्थं साक्षतम् अक्षततम्हुलैर्युक्तं सलाजं च वारि जलं मूर्खभिरविभरुः द्वति स्म । ‘सिजभ्यस्तविदभ्यइच । । ३ । ४ । १०९ ।’ इति झेर्जुस्त् ‘भृत्यामित् । ७ । ४ । ७६ ।’ इतीत्वम् । रत्नानि ग्राश्चाददुः दत्तवन्तः । आशेषश्च तेभ्यः समवाञ्छन् काङ्क्षितवन्तः ‘वाणि इच्छायाम् ॥ ५३ ॥

अदिहंश्रन्दनैः शुभ्रैर्विचित्रं समवस्थयन् ।

अधारयन् स्त्रजः कान्ता वर्म चान्येऽदधुर्दुतम् ॥ ५४ ॥

अदिहन्नित्यादि—शुभ्रैः शुक्लवर्णैऽचन्दनैः ग्रात्राणि अदिहन् लिप्रवन्तः । ‘दिह उपचये’ । विचित्रं शोभनं समवस्थयन् आच्छादितवन्तः । ‘मुण्डमिश्र-श्लक्षणालवणन्नतवस्थाहलक्ष्मृतपूर्तेभ्यो णित् । ३ । १ । २१ ।’ इति ‘वस्त्रात्समाच्छादने’ णित् । कान्ताः शुभ्राः स्त्रजः अधारयन् धारितवन्तः । ‘वृव् धारणे’ । अण्णन्तस्य प्रयोग एव नास्ति । अन्ये च वर्म कवचम् । जातावेकवचनम् । तेन कर्माणीत्यर्थः द्रुतमद्भुः धारितवन्तः ॥ ५४ ॥

समक्षणुवत शक्षाणि प्रामृजन् खद्गसंहर्तीः ।

गजादीनि समारोहन् प्रातिष्ठन्ताथ सत्वराः ॥ ५५ ॥

समक्षणुवतेत्यादि—शक्षाणि समक्षणुवत । ‘क्षणु तेजने’ ‘समः क्षणुवः । १ । ३ । ६५ ।’ इति तङ् । खद्गसंहर्तीः प्रामृजन् शोधितवन्तः । मृजेरजादौ विभाषा वृद्धिः । गजादीनि यौनानि समारोहन् आरुढाः । गजादिष्विति पाठान्तरम् । तत्राधिकरणत्वं विवक्षितम् । अथानन्तरमारुढाः सत्वराः प्रातिष्ठन्त प्रस्थिताः । ‘समवप्रविभ्यः स्थः । १३ । २२।’ इति तङ् ॥ ५५ ॥

१ वृत्तस्य । २ माळाः । ३ खद्गसमूहान् । ४ वाहनानि ।

अपूरथन्नभः शब्दो बलसंवर्तसम्भवः ।

अपूर्यन्त च दिग्भागास्तुमुलैस्त्रूर्यनिस्वनैः ॥ ५६ ॥

अपूरथदित्यादि—बलानां सनानां संवर्तः एकीभावः तस्मात्सम्भवो यस्य स शब्दः न भ आकाशमपूरयत् पूरितवान् । तु मुलैस्त्रूर्यनिस्वनैः महद्विर्वाद्यानां घोषैर्दिग्भागा अपूर्यन्तं पूर्णाः कर्मणि लङ् ॥ ५६ ॥

असीढारेषु सङ्कटो रथाश्वद्विपरक्षसाम् ।

सुमहाननिमित्तैश्च समभूयत भीषणैः ॥ ५७ ॥

आसीढित्यादि—रथादीनां निर्गच्छतां लङ्काद्वारेषु संघटः सुमहानासीत् । जनभूयसंतया संघर्षोऽभूत् । ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते । ७ । ३ । १६ ।’ इतीदृ । अनिमित्तैः भीषणैर्भयङ्करैर्महद्विः समभूयत क्षयकरैर्निमित्तैर्भूतम् । भावे लङ् ॥ ५७ ॥

कपयोऽविभयुस्तस्मिन्नभञ्जन्त लङ्काद्वारेषु संघटः सुमहानासीत् ।

प्रोदखायन् गिरीस्तूर्णभगृह्णन्त लङ्काद्वारेषु संघटः ॥ ५८ ॥

कपय इत्यादि—तस्मिन्निर्गते कपयोऽविभयुः भीतवन्तः । महाद्वामांश्च योद्धुमभञ्जन भग्नवन्तः । गिरीन् प्रोदखायन् उत्खातवन्तः खेखदने ।’ शिति आत्मं न भवति । महाशिला अगृह्णन् गृहीतवन्तः ॥ ५८ ॥

ततः समभवद्युद्धं प्राहरन्कपिराक्षसाः ।

अन्योन्येनाभ्यभूयन्त विमर्दमसहन्त च ॥ ५९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं युद्धं समभवत् प्रवृत्तम् । कपिराक्षसाः प्राहरन् प्रहृतवन्तः । अन्योन्येनाभ्यभूयन्त कपयोः राक्षसैः राक्षसाश्च कपिभिरिति । कर्मणि लङ् । विमर्दमसहन्त च सोढवन्तः ॥ ५९ ॥

प्रावर्धत रजो भौमं तद्व्याशनुत दिशो दश ।

परात्मीयविवेकं च प्रामुष्णाक्पिराक्षसाम् ॥ ६० ॥

प्रावर्धतेत्यादि—बलद्वयप्रक्षोभात् भौमं रजः प्रावर्धत प्रवृद्धम् । तद्रजो दश दिशो व्याशनुत व्याप्तोत् । कपिराक्षसां मध्ये अयं परोऽयं चात्मीय इति यो विवेकस्त च प्रामुष्णात् अपनीतवैत् । ‘मुष स्तेये’ क्रयादिः ॥ ६० ॥

ततोऽद्विषुर्निरालोके स्वेभ्योऽन्येभ्यश्च राक्षसाः ।

अद्विषन्वानराश्रैव वानेरभ्योऽपि निर्दयाः ॥ ६१ ॥

* १ पृथिवीसम्बन्धिते । ३ रजसेऽनुभातात् ।

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं निरालोके समरे राक्षसः स्वेभ्योऽन्येभ्य-
श्रद्धिषुः क्रुद्यन्ति स्म । वानरा अपि वानरेभ्योऽद्विषन् निर्दयाः सन्तः । अपि-
शब्दात् राक्षसेभ्योऽपि । 'द्विषश्च । ३ । ४ । ११२ ।' इत्यनेन शाकटायनमते
श्वेजुस् ॥ ६१ ॥

अघुरंस्ते महाघोरमश्च्योतन्नथ शोणितम् ।

समपद्यत रक्तेन समन्तात्तेन कर्दमः ॥ ६२ ॥

अघुरवित्यादि—अथानन्तरं ते हताः राक्षसा वानरा अघुरन् घोरं
रौद्रं शब्दितवन्तः । 'धुर भीमार्थशब्दयोः ।' शोणितं चाश्चयोतन् क्षुरन्ति स्म ।
तेन च रक्तेन रक्तस्तुतेन समन्तात्सर्वतः कर्दमः समपद्यत सम्पन्नः ।
कर्मणि लङ् ॥ ६२ ॥

गम्भीराः प्रावहन्तयः समजायन्त च हदाः ।

वृद्धं च तद्रजोऽज्ञान्यत्समवेद्यन्त च दिषः ॥ ६३ ॥

गम्भीरा इत्यादि—तेन रक्तेन वर्धिष्युना वधमानन गम्भीरा अङ्गाधाः ।
नद्यः प्रावहन् प्रवृत्ताः । हृदात्मादागाः समजायन्त संजाताः । तच भौमे रजः
प्रवृद्धमशान्यत् शान्तम्, उद्गमाभावात् । उत्पन्नस्य च पतनात् रजःशमनात् ।
द्विषश्च शत्रवः पुनः परस्परं स्वं परं च समवेद्यन्ते स्म विज्ञा-
तवन्त इति भावः । 'विद चेतनास्वयाननिवासेषु' इति चौरादिकः । कर्मणि
लङ् ॥ ६३ ॥

ततोऽचित्रीयतास्त्रौषधर्तुश्चाधूनयन्महत् ।

रामः समीहितं तस्य नाचेतन्स्वे न चापरे ॥ ६४ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रामः अस्त्रौषधचित्रीयत आश्चर्याभूतः ।
'नमोविविश्चित्रङ्' क्यच् । ३ । १ । १९ ।' इति चित्रङ् क्यच् ।
डित्त्वाचङ् । धनुश्च महदधूनयत् । 'धूत्प्रीवोर्नुगवक्तव्यः' । तस्य रामस्य
समीहितमभिप्रेतं न स्वे आत्मीयाः वानराः न च अपरे परकीया नाचेतन्
न ज्ञातवन्तः ॥ ६४ ॥

छिन्नानैक्षन्त भिन्नांश समन्ताद्रामसायकैः ।

कुष्ठं हाहेति चाशृण्वन्न च रामं न्यख्ययन् ॥ ६५ ॥

१ रजोऽन्धकारेण छक्षे । २ अतलस्यश्च इति स्पष्टोऽर्थः । इदमविशयचोतनार्थ-
मात्रम् ।

छिन्नानित्यादि—रामसायकैश्छन्नान् भिन्नांश्च समन्तादैक्षन्त । होहेति च क्रुष्णं शब्दमन्योन्यस्य चाशृण्वन् । न च नैव रामं न्यरूपयन् । राम इति च न निश्चितवन्तः । ‘रूप व्याकियायाम्’ इति चौरादिकः ॥६५॥

अभिनच्छत्रुसङ्घातानक्षुणद्वाजिकुञ्चरम् ।

अपिनद् च रथानीकं न चाज्ञायत संचरन् ॥ ६६ ॥

अभिनदित्यादि—शत्रुसङ्घातानभिनत् भिनवान् । वाजिकुञ्चरमक्षुणत् स-स्पष्टवान् ‘क्षुदिर् सम्पेषणो’ रथसमूहमपिनद् पिष्टवान् ‘पिष्ट संचूर्णने’ । एते सर्वेऽपि आतवो रौधादिकाः । न च संचरन् रामः अज्ञायत न ज्ञातः । स्वैः परवेत्यर्थात् । कर्मणि लङ् ॥ ६६ ॥

दश दन्तिसहस्राणि रथिनां च महात्मनाम् ।

चतुर्दश सहस्राणि सारोहाणां च वाजिनाम् ॥ ६७ ॥

लक्षे च द्वे पदातीनां राघवेण धनुर्भृता ।

अनीयन्ताष्टमे भागे दिवसस्य परिक्षयम् ॥ ६८ ॥

दशेत्यादि—अनेन राघवेण धनुर्भृता दिवसस्याष्टमे भागे अर्धप्रहरे दश दन्तिनां सहस्राणि रथिनां च महात्मनां चतुर्दश सहस्राणि । सारोहाणां च वाजिनां ताँवन्त्येव । पदातीनाम् द्वे लक्षे परिक्षयं विनाश-मनीयन्त नीताः । कर्मणि लङ् । अनीयतेति पाठान्तरं तत्र सर्वमेतदनीय-तेति योज्यम् ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

यमलोकमिवाग्रभाद्रुद्राकीडमिवाकरोत् ।

शैलैरिवाचिनोद्भूमि बृहद्भी राक्षसैर्हैतैः ॥ ६९ ॥

यमलोकमित्यादि—स राघवः तैः राक्षसैः बृहद्भिः यमलोकमिवाग्र-भात् सन्दर्भितवान् । ‘श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे’ इति ऋयादिः । रुद्राकीडमिव रुद्रस्य क्रीडास्थानं इमशानमिवाकरोत् । भूमिं शैलैरिवाचिनोत् छादि-तवान् ॥ ६९ ॥

अस्तुवन्देवगन्धर्वा व्यस्मयन्त पुरुषाः ।

कर्पीच्छ्रेऽतन्यत प्रीतिः पौलस्त्योऽमन्यताङ्गुतम् ॥ ७० ॥

१ ‘अनीकं सैन्यसङ्खयोः’ इति रभसः । २ महाकाशानाम् । ३ चतुर्द-संहस्राण्यैव ।

अस्तुवन्नित्यादि—तमद्वृतकर्मकारिणं रामं देवा अस्तुवन् स्तुवन्ति स्म । पुष्करिणाः हनुमत्प्रभृतयः कपयः व्यासयन्त विस्मिताः । छित्तवाच्छङ् । कपीन्द्रे सुश्रीवे प्रीतिरतन्यत तन्यते स्म । कर्मकर्तृरि लङ् । पौलस्त्यो विभीषणोऽङ्गुतम् आश्चर्यममन्यत ज्ञातवान् ॥ ७० ॥

राक्षस्यः प्रारुदद्वृच्छः प्राजुगुप्सन्त रावणम् ।

अमुहाद्वालवृद्धं च समरौदितरो जनः ॥ ७१ ॥

राक्षस्य इत्यादि—राक्षस्यो भर्त्रादिवधुःस्थिता उच्चैः प्रारुदन् रुदितवत्यः । ‘रुदादिभ्यः सार्वधातुकेऽग्निं’ इतीदै न भवति अहलादित्वान् । रावणं प्राजु-गुप्सन्त निन्दितवत्यः । एतद्दुर्जन्यात् सर्वमिति । बाला वृद्धाश्च तद्वयम् अमु-हृत भयान्मोहं गतम् । इतरो जनः राक्षसीबालवृद्धेभ्योऽन्यः समरौद् आकृष्ट-वान् । रोदनं कृतवानित्यर्थः । ‘रुदितै’ ‘उतो वृद्धिर्लुकि हलि । ७ । ३।८९।॥७१ ॥

सर्वतश्चाभयं प्राप्नोन्नैच्छन्नभ्यस्तु रावणः ।

फलं तस्येदमभ्यायाहुरुक्तस्येति चानुवन् ॥ ७२ ॥

सर्वत इत्यादि—सर्वतो देवादिभ्यः अभयं रावणः प्राप्नोत् प्राप्नवान् । यतो ‘त्रिष्णुणि वरं दातुमुद्यते देवादीनामवध्यो भूयासम्’ इत्युक्तवान् । नृभयस्तु सकाशादभयं नैच्छन्नेष्टवान्, ‘के देवादिवीरविजेतुः मम पुरस्तान् मानुषाः’ इति तस्य दुरुक्तस्य फलमभ्यायात् उपागतम् । इत्येवमपरे अनुवन् उक्तवन्तः ॥ ७२ ॥

ततोऽधावन् महाघोरं रथमास्थाय रावणः ।

अक्षमायत मही गृध्राः समारायन्त भीषणाः ॥ ७३ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्वरं महाघोरम् अतिभयद्वारम् रथमास्थायारुहा रावणः योद्धुं वेगेनाधावत् । तस्य च धावतो मही अक्षमायत कम्पिता । ‘क्षमायी विधूनने’ । गृध्राश्च भीषणाः समारायन्त अत्यर्थं गतवन्तः । ‘सूचिसूत्रिमूढ्यट्य-र्त्यशूणोतिभ्यो यद्वाच्यः’ इत्यल्पतर्त्यशूणोतीनां ग्रहणं यड्विधावनेकाजहला-शर्थमित्युपसंख्यानात् अर्तेऽङ् । ‘गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः । ७।४।२९ ।’ इत्याधिकृत्य ‘वाङ्मि च । ७।४।३० ।’ इति गुणः ॥ ७३ ॥

मेघाः सविद्युतोऽवर्षश्चेलकोपं च शोणितम् ।

अवान् भीमा नभस्वन्तः प्रारुदनशिवाः शिवाः ॥ ७४ ॥

मेघा इत्यादि—सविधुतो मेघाश्चेलक्षनोपं शोणितं रक्म् अवर्षन् वर्षितव-
न्तः । आवता रक्तेन चेलं वासः कनोपयते सिन्ध्यते तावत्प्रभाणं वृष्टवन्तः ।
‘कनूयी शब्दे’ इत्यस्य एवन्तस्य । ‘आर्तिहीव्लीरीकनूयीक्षमाय्यातां पुड्णौ
।३।३।३६।’ इति पुकि यलोपेः । ‘चेलं कनोपेः । ३।४।३३।’ इति एमुखः ।
भीमाः नैभस्वन्तः वायवः अवान् वान्ति सम । ‘लङ्गः शाकटायनस्यैव । ३।४।
१।१।१।’ इति नियमादन्वमते इर्जुस्त न भवति । शिवाः शृगाल्यः अशिवाः
अनिष्टशंसिन्यः प्रारुवन् शब्दितवत्यः ॥ ७४ ॥

आटाट्यतावमत्यासौ दुर्निमित्तानि संयुगे ।

अधुनोद्धनुरस्त्रौघैः प्रौर्णोनूयत विद्विषः ॥ ७५ ॥

आटाट्यतेत्यादि—असौ रावणः दुर्निमित्तान्यवमत्य युद्धार्थमाटाट्यत अत्य-
र्थमाटत् । ‘सूचिसूत्रिमूच्यटथर्यशूर्णोंतिभ्यो यङ् वाच्यः’ इति यङ् । सङ्क्षयुगे युद्धे
धनुरधुनोत् कम्पितवान् । अस्त्रोवर्विद्विषः शत्रून् प्रौर्णोनूयत भृशो छादितवान् ।
‘उर्जुव आच्छादने’ । उर्णोंतेंतुवद्वावात् ‘सूचिसूत्रिमूच्यटथर्यशूर्णोंतिभ्यो
यङ् वाच्यः’ इति वार्तिकेन यङ् । ‘अजादेद्वितीयस्य । ६।१।२।’ इति द्विर्वचने
‘न न्द्राः संयोगादयः।६।१।३।’ इति रेषो न द्विरुच्यते । नुशब्दस्य द्विर्वचनम् ।
‘गुणो यङ्लुकोः।७।४।८।२।’ इति गुणः । ‘अकृत्सार्वधातुकयोदीर्घः।७।४।२।५।’
इति दीर्घः ॥ ७५ ॥

अथ युग्मकम् ।

व्यनाशयस्ततः शत्रून् सुग्रीवास्ता महीभृतः ।

ततो व्यरसदग्लायदध्यशेत महीतलम् ॥ ७६ ॥

व्यनाशयन्नित्यादि—ततोऽनन्तरं सुग्रीवास्ताः सुग्रीवेण अस्ताः क्षिप्ता
महीं पृथ्वीं विभ्रति धारयन्तीति महभृतः पर्वताः शत्रुसैन्यं व्यनाशयन् मारि-
तवन्तः । ततो मांसादां मांसभक्षकाणां रक्षसां बलं सुग्रीवेण बाधितं पीडितमित्यु-
च्चरक्षोकेन संबन्धः । व्यरसत् आक्रन्दितवत् । अग्लायत् ग्लानिं गतम् ।
युद्धोत्साहं त्यक्तवन्त इति भावः । महीतलमध्यशेत महीतले पतितम् । ‘शीङः
सर्वधातुके गुणः।७।४।२।१।’ इति गुणः ॥ ७६ ॥

अइच्योतद्रुधिरं तोयमलषच्चातिविह्वलम् ।

अशीयत नृमांसादां बलं सुग्रीववाधितम् ॥ ७७ ॥

१ ‘नमस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जना’ इत्यमरः । २ ‘शिवा गौरीफेरवयो’
इत्यमरः । ३ ‘सम्भारामिसम्भातकलिसंस्कोटसंयुगा’ इत्यमरः ।

अश्योतदित्यादि—रुधिरम् अश्च्योत् अस्वत् । विहृलं च सत् तोयमल-
ष्टीभिलवितव् । 'वा भ्राशम्लाशभ्रगुक्षुपुत्रसिनुटिलषः॥३॥१७०' इति
विकल्पेन शप् । अशीयत च अवसेन्नम् । 'शदेः शितः ॥१३॥६०' इति तद् ।
'पाव्राधमास्थामादाण्डश्यर्तिसार्तिशदसदां पिबजिग्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छवौ-
शीयसंदाः । ३ ॥१७८' इति शीयादेशः । मांसमदन्तीति । 'अदोऽनन्ने
॥३॥१६८' इति विद् ॥ ७७ ॥

विरूपाक्षस्ततोऽक्रीडत् सङ्घामे मत्तहस्तिना ।

मुष्टिनादालयत् तस्य मूर्धनं वानराधिपः ॥ ७८ ॥

विरूपाक्ष इत्यादि—ततो विरूपाक्षो नाम राक्षसः मत्तहस्तिना मत्तहस्ति-
-सद्वशेन सुप्रीवेण वानरेण सङ्घामे अक्रीडत् आन्ववान् । तस्य विरूपाक्षस्य
मूर्धनं वानराधिपः सुप्रीवः मुष्टिना अदालयत् दलितवान् । 'दल विदारणे'
चुरादिः ॥ ७८ ॥

अचूर्णयच्च यूपाक्षं शिलया तदनन्तरम् ।

संकुद्धो मुष्टिनातुभ्रादङ्गदोऽलं महोदरम् ॥ ७९ ॥

अचूर्णयदित्यादि—तदनन्तरं वानराधिपः सुप्रीवः यूपाक्षं नाम राक्षसं
शिलया अचूर्णयत् चूर्णितवान् । 'सत्यापपासरूपचीणातूलश्लोकसेनालोमत्व-
चवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिचा॥३॥१२५' इति णिच् । अङ्गदोऽपि संकुद्धः मुष्टिना
महोदरम् अलं पर्याप्तमतुभ्रात् व्यापादितवान् । 'णम तुभ हिंसायाम् ।'
क्र्यादिः ॥ ७९ ॥

ततोऽकुण्णादशप्रीवः कुद्धः प्राणान् वनौकसाम् ।

अगोपायच्च रक्षांसि दिशश्चारीनभाजयत् ॥ ८० ॥

तत इत्यादि—ततो दशप्रीवः कुद्धः वनौकसां वानराणां प्राणानकु-
ण्णात् कुष्टवान् । 'कुष निष्कर्षे' । रक्षांसि च राक्षसांश्चागोपायत् रक्षि-
तवान् । 'गुप्यूपविच्छिपणिपनिभ्य आयं ॥३॥१२८' इत्यायप्रत्ययः ।
अरीश्च शत्रूश्च दिशोऽभाजयत् प्रहितवान् ॥ ८० ॥

आलोकयत्सकाकुत्स्थमधृष्णोद्वोरमध्वनत् ।

धनुरभ्रमयद्वीममभीषयत विद्विषः ॥ ८१ ॥

आलोकयदित्यादि—स दशग्रीवः कौकुत्स्थमालोकयत् दृष्टवान् । धोरं घोरदृशनमधृष्णोत् दृष्टवान् । ‘मिश्रा प्रागलभ्ये’ इति स्वादिः । ताननुसरन् घोरमध्वनत् ध्वनितवान् । रामं मारायामीति भीमं अनुरभ्रमयत् भ्रमितवान् । ‘मितां हस्वः ६।४।१२।’ मान्तत्वान्मित्वम् । ये विंदिषो वानरान पलायिताः तानभीषयत त्रासितवान् । ‘मियो हेतुभये षुक् ७।३।४।०।’ ‘भीस्म्योहेतुभये १।३।६।८।’ इति तड् ॥ ८१ ॥

आस्कन्दलक्ष्मणं वाणैरत्यक्रामच्च तं द्रुतम् ।

राममभ्यद्रवजिष्णुरस्कुनाच्चेषुवृष्टिभिः ॥ ८२ ॥

आस्कन्ददित्यादि—जिष्णुर्जयशीलो दशग्रीवः लक्ष्मणं वाणैरास्कन्दत् बाधितवान् । ‘स्कन्दिर् गतिशोषणयोः’ । तं च लक्ष्मणं द्रुतमयक्रामत् आक्रान्तवान् । शिति दीर्घिः । अतिक्रम्य च राममभ्यद्रवत् अभिमुखं गतवान् । ‘दु गतौ’ इषुवृष्टिभिर्बाणानां सातत्येन प्रपातैः अस्कुनात् छादितवान् । ‘स्कुर्व आवरणे’ ‘स्तम्भुस्तुम्भुस्कुम्भुस्कुम्भयः श्नुश्च ३।१।८।२।’ इति चकारांतं आ ॥ ८२ ॥

अपौहद्वाणवर्षं तद्भूते रामो निराकुलः ।

प्रत्यस्कुनोदशग्रीवं शरैराशीविषोपमैः ॥ ८३ ॥

अपौहदित्यादि—तद्वाणवर्षं रामो निराकुलः सन् भलैरपौहत् अपनीतवान् । ‘उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा’ इति पक्षे तिप् । दशग्रीवं शरैः वाणैराशीविषोपमैः दुःसहत्वात्रत्यस्कुनोत् । प्रतीपं छादितवान् । अत्र श्नुप्रत्ययः ॥ ८३ ॥

मण्डलान्यटतां चित्रमच्छित्तां शस्त्रसंहतीः ।

जगद्वचस्मापयेतां तौ न च वीरावसीदताम् ॥ ८४ ॥

मण्डलानीत्यादि—चित्रमाश्चर्यं मण्डलान्यटतां चक्रवद् भ्रान्तौ । शस्त्रसंहतीः अच्छित्तां चित्रनवन्तौ । जगत् व्यस्मापयेतां विस्मापितवन्तौ । ‘नियं स्मयतेः १ ६।१।५७।’ इत्यात्वम् । न च तौ वीरौ असीदताम् अवस्थां ‘पात्राध्मास्थान्नादाण्हृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिवधमतिष्ठमनयच्छृण्यच्छृष्टौशीयसीदाः ७।३।७८।’ इति सीदादेशः ॥ ८४ ॥

३ वृषभरूपधारिण इन्द्रस्य कुद्दि स्थित्वा दैत्यान् शाश्वादिर्जर्वानेति कुरुस्थस्य तत्त्वं वंशभवं राममित्यर्थः । एवमभिधानेनास्य परम्पराप्राप्तमपि प्रभूतप्रभाकृतं सूचितम् ।

व्योम प्राचिनुतां बाणैः क्षमामक्षमापयतां गतैः ।

अभित्तां तूर्णमन्योन्यं शिक्षाश्वातनुतां सुहुः ॥ ८५ ॥

व्योमेत्यादि—बाणैव्येसै प्राचिनुतां छादितवन्तौ । क्षमां पृथिवीं
अद्वापयतां कम्पितवन्तौ । ‘क्षमायी विघ्नने’ । ‘आर्तहीन्लीरीकनूयी-
क्षमायेतां पुड्णौ । ७ । ३ । ३६ ।’ इति पुक्त । अन्योन्यमभित्तां विद्वारित-
वन्तौ । ‘इनसोरलोपः । ६ । ४ । १११ ।’ चत्वेन च तकारः । तूर्ण
शटिति शिक्षा: धनुषि कौशलानि सुहुर्वारितवन्तौ । ॥ ८५ ॥

समाधत्तासुरं शखं राक्षसः कूरविक्रमः ।

तदक्षरन्महासर्पन्याद्यसिंहांश्च भीषणान् ॥ ८६ ॥

समाधत्तेत्यादि—राक्षसः असुरं शखं समाधत्त धनुष्यारोपितवान् ।
श्लौ द्विरचनमभ्यासकार्यम् । ‘इनाभ्यस्तयोरातः । ६ । ४ । १२ ।’ इत्याकार-
लोपः । ‘द्युत्थोश्च । ८ । २ । ३८ ।’ इति भयुभावः । ‘जपस्तयोर्योऽधः
। १२ । ४० ।’ इति प्रतिवेष्टात् तकारस्य धत्वं न भवति । तत्संहितं सर्पा-
दीन् अद्वरत् सुक्तवत् ॥ ८६ ॥

न्यवेधत्पावकाख्येण रामस्तद्राक्षसस्ततः ।

अदीव्यद्रौद्रमत्युग्रं मुसलाद्यगलत्ततः ॥ ८७ ॥

न्यवेधदित्यादि—तदासुरं शखं रामः पावकाख्येण आप्येयास्त्रेष्ठ न्यवेधत्
निषिद्धवान् । ततो राक्षसो रौद्रमध्यमत्युग्रमदीव्यंत् क्षिप्तवान् । अत्र
‘दिवु क्रोडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिसुतेमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु’ इति ।
दिविर्गतौ वर्तते । ततो रौद्रान् क्षिप्तात् मुसलादिप्रहरणमगलत् निर्गतवत् ।
‘गल अदने’ अनेकार्थत्वाद्वातूनां गलिरत्र निर्मे वर्तते ॥ ८७ ॥

गान्धवेण न्यविध्यत्तिक्षतीन्द्रोऽथ नराशनः ।

सर्वमर्मसु काकुत्स्थमौम्भतीक्षणैः शिंलीमुखैः ॥ ८८ ॥

गान्धवेणेत्यादि—क्षतीन्द्रो रामः तद्रौद्रमध्यं गान्धवेणाख्येण न्यवि-
धयत् तांडितवान् । अथ नराशनोनाम राक्षसः शिंलीमुखैर्वर्णैः सर्वमर्मसु
काकुत्स्थमौम्भत् पूरितवान् । ‘उम्भ पूरणे’ तुदादौ ॥ ८८ ॥

१ ‘व्योम पुष्करमम्बरम् ।’ इत्यमरोक्त्याऽऽकाशमित्यर्थः । २ ‘क्षमावनिमेर्दिनी
मही’ इत्यमरः ।

तत्खिंश्चिरसं तस्य प्रावृश्चलक्ष्मणो ध्वजम् ।
अमश्नात्सारर्थं चाशु भूरिभिश्चातुदच्छ्रैः ॥ ८९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं लक्ष्मणस्तस्य रावणस्य ध्वजं त्रिशिरसं
त्रिशूलाप्रं प्रावृश्चत् छिन्नवान् । ‘ओन्नद्वृच्छैर्देने’ तुदादौ । सारर्थं चामश्नात्
ध्वस्तवान् । ‘मन्थ विलोडने’ क्रयादिः । भूरिभिश्च प्रभूतैः शरैरतुदत्
व्यथितवान् ॥ ८९ ॥

अश्वान्विभीषणोऽतुभ्रात्स्यन्दर्नं चाक्षिणोऽहुतम् ।

नाक्षुभ्राद्राक्षसो आतुः शक्तिं चोदवृहद्गुरुम् ॥ ९० ॥

अश्वान्तित्यादि—विभीषणश्चाश्वानतुभ्रात् हतवान् । ‘णभ तुभ हिंसा-
याम्’ स्यन्दर्नं चाक्षिणोत् भग्नवान् । ‘क्षिणु हिंसायाम्’ तनादौ । राक्षस
रौवणः नाक्षुभ्रात् न क्षेमैँ गतः । ‘क्षुभ सञ्चलने’ क्रयादौ गृह्णते न
दिवादौ । आतुर्विभीषणस्य कृते गुरुं महर्ता शक्तिसुदवृहत् उद्यतवान् ।
‘वृहू उद्यमने’ तुदादौ । गुरुमिति ‘वोतो गुणवचनात् । ४ । १ । ४४ ।’ इति
विकल्पेन ढीप ॥ ९० ॥

तामापतन्तीं सौमित्रिखिधाऽकृन्तच्छलीमुखैः ।

अशब्दायन्तं पश्यन्तस्ततः कुद्धो निशाचरः ॥ ९१ ॥

तामित्यादि—तस्योपरि शक्तिमापतन्तीं सौमित्रिः शिलीमुखेखिधा त्रिप्र-
कारम् अकृन्तत् छिन्नवान् । ‘कृती छेदने’ तुदादौ । यत्र प्रेक्षकाः पश्यन्तः
ते अशब्दायन्त शब्दं कृतवन्तः । ‘वीर लक्ष्मण ! साधु कृतम्’ इति । ‘शब्द-
वैरकलहाप्रकण्वमेघेभ्यःकरणे । ३ । १ । २७।’ इति करोत्यर्थं क्यङ् । ततो-
ऽनन्तरं निशाचरो रावणः कुद्धः क्रोधं कृतवान् ॥ ९१ ॥

कुद्धो निशाचरः किं कृतवन्तित्याह—

अष्टघण्टां महाशक्तिसुदयच्छन्महत्तराम् ।

रामानुजं तयाविध्यत्स मर्हीं व्यसुराश्रयत् ॥ ९२ ॥

अष्टेत्यादि—अष्टौ घण्टा यस्यां महाशक्तौ तां शक्तिं प्रभावेण महत्तराम्
अतिशयेन महाग्रमाणाम् उदयच्छत् उद्यतवान् । ‘समुदाङ्ग्यो यमोऽप्रन्थे ।
१ । ३ । ७५।’ इति तद्दून भवति अकर्त्रभिप्रायत्वात् । तया च करणभूतया

१ ‘अल्किबाणौ शिळीमुखौ ।’ इत्यमरः ।

रामानुजं लक्ष्मणमविद्यत् विद्वान् । राममनुजार्तवानिति । ‘अनौ कर्मणि
। ३ । २ । १०० ।’ इति दः । स च लक्ष्मणो विद्वः व्यसुः विगतप्राण
इव महीमाश्रयत् आश्रितवान् । भुवि पवित्र इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

राघवस्याभृशायन्त सायकास्तैरुपद्गुतः ।

तत्त्वस्तूर्णे दशग्रीवो रणक्षमां पर्यशेषयत् ॥ ९३ ॥

राघवस्येत्यादि—तस्मिन् पवित्रे राघवस्य सम्बन्धिनो वाणाः अभृशा-
यन्त अभृशा भृशा अभवन् शीघ्रगतयो जाता इत्यर्थः । तत्त्वस्तैरुपद्गुतो
दशग्रीवः तूष्णीं भूत्वा रणक्षमां रणभूर्मि पर्यशेषयत् त्यक्तवान् । ‘शिष अस-
बोपयोगे’ चुरादिः ॥ ९३ ॥

सस्फुरस्योदकर्षच्च सौमित्रेः शक्तिमयजः ।

असिञ्चदोषधीस्ता याः समानीता हनूमता ॥ ९४ ॥

सस्फुरस्येत्यादि—अग्रजश्च येष्ठो भ्राता रामः सौमित्रेः लक्ष्मणस्य
सस्फुरस्य उच्छ्वसतः शक्त्याहृततया मूर्च्छितत्वेऽनिर्गतप्राणत्वात् हृदयलभां
वक्षसि प्रविष्टासुदकर्षत् उत्कृष्टवान् । यात्र हनूमतोषध्यः समानीतात्ता
असिञ्चत् ब्रणदेशेषु क्षारितवान् ॥ ९४ ॥

उदजीवत्सुमित्राभूर्ब्रातिऽङ्गिष्ठिष्यत्तमायतम् ।

सम्यङ् मूर्धन्युपाशिङ्गदपृच्छव्वानिरामयम् ॥ ९५ ॥

उदजीवदित्यादि—ततः सुमित्राभूर्लक्ष्मणः उदजीवित् प्रत्युजीवितवान् ।
त च जीवितं भ्राता रामः आयतं दीर्घकालमाङ्गिष्ठ्यत् आङ्गिष्ठितवान् ।
मूर्धनिं च सम्यगुपाशिङ्गत् आश्रातवान् । ‘शिधि आश्राणे’ । निरामयं
च कुशलमपृच्छत् पृष्ठवान् । ‘किं व्यपगता पीढा’ इति ॥ ९५ ॥

ततः प्रोदसहन्सर्वे योद्धुमभ्यद्रवत्परान् ।

अङ्गुच्छायत च प्राप्तो रथेनान्येन रावणः ॥ ९६ ॥

तत इत्यादि—पुनः सर्व एव रामादयो योद्धुं प्रोदसहन् प्रोत्साहितवन्तः ।
‘सह मर्षणे’ इति चौरादिकः परस्मैपदी । ‘आ वृषाद्वा’ इति षिज् च
भवति । न तु भौवादिकः । तस्यात्मनेपदित्वात् । रावणश्चान्येन रथेन प्राप्तः

१ अयं लक्ष्योऽर्थः । वस्तुतो यथोक्ताया व्यसुताया आसद्वत्वात् । २ पीडितः ।
३ सुभिश्राया भवतीति यथोक्तः । क्रिर । ४ मस्तके । मस्तकाप्राणं हि
वास्तस्वयातिशयेनेति शिष्टाचारः ।

सन् परानुत्सहतोऽभ्यद्रवत् अभिमुखं गतवान् । अकृच्छायत च कृच्छाय पापाय कर्मणे ऋभितवान् । ‘सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षीयांमिति वक्तव्यम्’ इति कथङ् । कण्वचिकीर्षा पापचिकीर्षा ॥ १६ ॥

भूमिष्ठस्यासमं युद्धं रथस्थेनेति मातलिः ।
आहरद्रथमत्युग्रं सशस्त्रं मघवाज्ञया ॥ १७ ॥

भूमिष्ठस्येत्यादि—भूमिष्ठस्य रामस्य । ‘अस्वाम्बगोभूमिष्ठव्यापद्वित्रि-कुशेकुशङ्कवद्गुमञ्जुपुजिपरमेवर्हार्दिव्यभिभ्यः स्थः । १।३।१७।’ इति मूर्खन्यः । रथस्थेन रावणेन सह युद्धमसममतुल्यमयुक्तमिति निरूपितवतो मैघवतः इन्द्रस्य आज्ञया मातलिः सशस्त्रं रथमत्युग्रमाहरत् आनीतवान् ॥ १७ ॥

सोऽध्यष्टीयत रामेण शस्त्रं पाशुपतं ततः ।

निरास्यत दशास्यस्तच्छक्रास्त्रेनाजयन्नृपः ॥ १८ ॥

सोऽध्यष्टीयतेत्यादि—स रथो रामेणाध्यष्टीयत अध्या मेतः कर्मणि लङ् । ‘घुमासागापाजहातिसां हलि । ६।४। ६६।’ इताचम् । ‘उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तोतिस्तोभतिस्थासेनयसेधासिचसञ्चाम् । ८।३।६५।’ इति षत्वमङ्गव्यवाहोऽपि । ततोऽनन्तरं दशास्यः पाशुपतमस्त्रं निरास्यत क्षितवान् । ‘उपसर्गादस्यत्यूद्योर्वा वचनम्’ इति तङ् । तत्पाशुपतं नृपो रामः शक्रास्त्रेणाजयत् जितवान् ॥ १८ ॥

ततः शतसहस्रेण रामः प्रौर्णोन्निशाचरम् ।

बाणानामक्षिणोद्धुर्यान् सारथिं चादुनोद्दुतम् ॥ १९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रामः निशाचरं रावणं बाणानां शतसहस्रेण लक्षेण प्रौर्णोत् छादितवान् । ‘गुणोऽपृक्ते । ७।३।११।’ इति गुणः । द्रुतं धुर्यान्श्वान् । ‘धुरो यद्धकौ । ४।४।७।’ इति यत् । आक्षिणोत् हतवान् । सारथिं चादुनोत् उपतापितवान् ॥ १९ ॥

१ ‘इन्द्रो मरुत्वान् मघवा’ हस्यमरः । २ ‘धूर्वहे धुर्यवौरेयधुरीणः साहुरन्धराः ।’ इत्यमरः ।

अहश्यन्तानिमिच्चानि प्राह्लत् क्षितिमण्डलम् ।

रावणः प्राहिणोच्छूलं शक्तिं चेन्द्रीं महीपतिः ॥ १०० ॥

अहश्यन्तेत्यादि—रावणस्यानिमिच्चानि अहश्यन्त दृष्टानि । कर्मणि लङ् ।
क्षितिमण्डलं प्राह्लत् । चलितम् । ‘हल चलने’ । रावणश्चानिमिच्चानि
दृष्टा ब्रह्मदत्तशूलं प्राहिणोत् क्षिप्रवान् । महीपतिः स राम ऐन्द्रीं शक्तिं प्राहि-
णोत् । ‘हि गतौ’ स्वादिः ॥ १०० ॥

ताभ्यामन्योन्यमासाद्य समवाप्यत संशमः ।

लक्षणे पत्रिणां वक्षः कुद्धो रामस्य राक्षसः ॥ १०१ ॥

ताभ्यामित्यादि—ताभ्यां शूलशक्तिभ्यामन्योन्यमासाद्य संश्लिष्य संशमः
संशमनम् । वविः ‘नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचामेः ॥७॥३॥३४॥’ इति वृद्धिप्रतिवेदः ।
समवाप्यत प्राप्तः । कर्मणि लङ् । अनन्दरं कुद्धो राक्षसः पत्रिणां शरणां
लक्षणे शतसहस्रेण रामस्य वक्षः अस्तुणादिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । छादि-
तवान् । प्रादीनां हस्तः ॥७॥३॥३४॥० ॥ १०१ ॥

अस्तुणादधिकं रामस्तोऽदेवत सायकैः ।

अङ्गाम्यद्रावणस्तस्य सूतो रथमनाशयत् ॥ १०२ ॥

अस्तुणादित्यादि—ततोऽनन्तरं रामो राक्षसादधिकम् अदेवत क्रीडितवान् ।
‘तेवु देवु देवने’ इति भवादावतुदाचेत् । स तथा देवमानेनाहतो रावणः
अङ्गाम्यत् ग्लानिमुपगतः । तस्य तथामूरतस्य रावणस्य सूतः सारथिः
स्वामिजीवितेच्छया रथमनाशयत् दूरम् अपनीतवान् ॥ १०२ ॥

राक्षसोऽतर्जयत सूतं पुनश्चाढौक्यद्रथम् ।

निरास्येतामुभौ बाणानुभौ धुर्यानविद्यताम् ॥ १०३ ॥

राक्षस इत्यादि—राक्षसो रावणः सूतमतर्जयत् भार्त्सतवान् । ‘हा
पाप ! किं शत्रुसमीपाद्रथं पराङ्मुखयसि’ इति । इत्थं संतर्जितः सूतः पुना-
रथमढौक्यत् ढौक्तिवान् । रामसमीपसित्यर्थात् । उभौ रामरावणौ बाणा-
न्निरास्येतां क्षिप्रवन्तौ । ‘उपसर्गादस्यत्यहूर्वा’ इति तङ् । धुर्यानश्चानविद्यतां
ताडितवन्तौ ॥ १०३ ॥

उभावकृन्ततां केवुनव्यथेतामुभौ न तौ ।

अदीप्येतामुभौ धृष्णू प्रायुज्ञातां च नैपुणम् ॥ १०४ ॥

१ इष्टपथादिति शेषः । ‘णश् अदर्शने’ इस्येतावन्तमर्थम् पेद्यास्य प्रयोगाद् ।

उभावित्यादि—तावुभौ रामरावणौ केतून् ध्वजानकृन्ततां छिन्नवन्तौ ।
तावुभौ नाव्यथेतां न व्यथितवन्तौ । उभावदीप्येतां शोभितवन्तौ । धृष्णू
च प्रगल्भौ नैपुणं कौशलं प्रायुज्ञातां प्रयुक्तवन्तौ ॥ १०४ ॥

उभौ मायां व्यतायेतां वीरौ नाश्राम्यतामुभौ ।

मण्डलानि विचित्राणि क्षिप्रमाक्रामतामुभौ ॥ १०५ ॥

उभौ मायामित्यादि—तावुभौ मायां व्यतायेतां विस्तारितवन्तौ ‘तु पुवन-
सन्तरणयोः’ भवादौ । उभौ वीरौ नाश्राम्यतां न आन्तौ । युध्यमानौ
‘च तावुभौ मण्डलानि विचित्राणि मतिवैचित्र्यात् क्षिप्रमाक्रामतां आन्तौ ।
‘वा आशश्लाशश्रमुक्षमुक्षसित्रुटिलषः । ३।१ । ७०।’ इति शप् ॥ १०५ ॥

न चोभावप्यलक्ष्येतां यन्तारावाहतामुभौ ।

स्यन्दनौ समपृच्येतामुभयोर्दीप्याजिनौ ॥ १०६ ॥

न चेत्यादि—तावुभौ नाव्यलक्ष्येतां प्रेक्षकैर्न ज्ञातौ । ‘अयं रामः अयं च
रावणः’ इति । कर्मणि लङ् । यन्तारौ सूतौ । कर्मपदमेतत् । उभौ परस्परस्या-
हतामाहतवन्तौ । ‘अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो ज्ञालि छिति
। ६ । ४ । ३७।’ इत्यनुनासिकलोपः । स्यन्दनौ रथौ उभयोः रामराव-
णयोः दीप्याजिनौ चामरादिमण्डनात् दीपा उच्चवला वाजिनो ह्याः ययोः
तयोः स्यन्दनौ रथौ समपृच्येतां संपृक्तौ । ‘पृची सम्पर्के ।’ कर्मणि
लङ् ॥ १०६ ॥

ततो मायामयान्मूर्ध्नौ राक्षसोऽप्रथयद्रणे ।

रामेणैकशतं तेषां प्रावृक्ष्यत शिलीमुखैः ॥ १०७ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं राक्षसो रावणो मायामयान् मायास्वभावा-
न्मूर्ध्नः शिरांसि अप्रथयत् प्रदर्शितवान् । ‘प्रथ प्रस्थ्याने’ इति घटादौ । तेषां च
शिरसाम् एकशतम् एकाधिकं शतं रामेण शिलीमुखैः शरैः प्रावृक्ष्यत छिन्नम् ।
कर्मणि लङ् ॥ १०७ ॥

समक्षुभृद्गुदन्वन्तः प्राकमपन्त महीभृतः ।

सन्त्रासमविभः शक्रः प्रैङ्गच्च क्षुभिता क्षितिः ॥ १०८ ॥

^३ ‘ग्रहमेदे ध्वजे केतुः’ इत्यमरः । वहुवचनमविवाक्षितम् । यद्वा वारंवार-
मिति घोतयितुमिदम् । वस्तुतस्तु रामस्य केतुं ताडितवान्, रावणस्य तु केतुं
वारंवारं किञ्चकानिति ।

समक्षुभ्रन्नित्यादि—छिन्नानां च पततां क्षेमादुदन्वन्तः सागराः समक्षु-
भ्रन् सञ्चलिताः । 'क्षुभ्र सञ्चलने'इति क्रधादिः । महीभृतः पर्वताः प्राक्स्पन्त
कस्तिपातः । शंक इन्द्रः संत्रासमविभः भृतवान् । पततां शिरसां पुनः
पुनरुदयात् । मायथा विमोहायं राममजैषीदिति । विभतेः श्लौ द्विर्वचनम् ।
भृत्यामित् । ७ । ४ । ७६ ।^१ धातोर्गुणः । लोपविसर्जनीयौ । प्रैद्वन् क्षुभितश्च
स शकः । 'उखदस्तिवखवस्तिमखमखिं' इत्यादाविस्तिरिति पठ्यते । क्षितिश्च
क्षुभिता चलिता ॥ १०८ ॥

ततो मातलिना शस्त्रमस्मर्यत महीपते ।

वधाय रावणस्योग्रं स्वयम्भूर्यद्कल्पयत् ॥ १०९ ॥

तत इत्यादि—रावणस्य वधाय स्वयम्भूर्यद्कल्पयत् कल्पतवान् ।
कृपेणौ गुणः । 'कृपो रो लः । ८०२।१८' तदस्मां मातलिना अस्मर्यत स्मारितम् ।
स्मरतेर्प्यन्तात् कर्मणि लहू । भित्त्वाद्वस्त्वत्वम् । महीपतेरिति शब्दे षष्ठी॥१०९॥

कीदृशं तदित्याह—

न भस्वान्यस्य वाजेषु फले तिग्मांशुपावकौ ।

गुरुत्वं मेरुसङ्काशं देहः सूक्ष्मो वियन्मयः ॥ ११० ॥

न भस्वानित्यादि—यस्य शस्त्रस्य वाजेषु पक्षेषु न भस्वान् वायुः सन्निहितः ।
फले शल्ये तिग्मांशुरादित्यः पावकश्च । यस्य गुरुत्वं मेरुवत् मेरोरिव । 'हृष्टत्वं
मेरुसङ्काशम्' इति पाठान्तरम् । तत्र मेरुस्थगौरवसहशमित्यर्थः । सूक्ष्मो देहो
दिव्यचक्षुर्गम्यः वियन्मय आकाशस्वभावः ॥ ११० ॥

राजितं गारुडैः पक्षीर्विशेषां धाम तेजसाम् ।

स्मृतं तद्रावणं भित्त्वा सुघोरं भुव्यशायथत् ॥ ११२ ॥

राजितमित्यादि—गारुडैः पक्षे राजितं शोभितम् । तेजसां विशेषाम्
अनेकप्रकाराणां धाम स्थानम् । तदस्मां रामेण स्मृतं स्मृतिमागत्य सुघोरं
रावणं भित्त्वा सुवि अशाययत् शायितवत् । रावणस्योदरं भित्त्वा भूमौ
पातितवदित्यर्थः ॥ १११ ॥

^१ 'पक्षो वाजस्तिषुत्तरे' इत्यमरः । ^२ 'तत्र तस्येवं पाशा ३१२' इति वर्तिः ।

३ अयं लक्ष्योऽर्थः । यद्वा विश्वशब्दः सर्वतेजस्तिवपरः तेज तस्य तस्य तेजस्तिवनो
यत्तेजस्तस्य ।

तदेव दर्शयन्नाह—

भूमौ शेते दशग्रीवों महार्हशयनोचितः ।

नेक्षते विह्वलं मां च न मे वाचं प्रयच्छति ॥ २ ॥

भूमावित्यादि—महार्हशयने उचितो यः स भूमौ शेते । शोकाद्विह्वलं च
मां नेक्षते । मे वाचं प्रतिवचनं न प्रयच्छति न ददाति । ‘दण् दाने ।’
‘पाद्राघास्थामादाण् दश्यर्तिसर्तिशदसदां पिवजिघ्रघमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छ—
धौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।’ इति यच्छादेशः ॥ २ ॥

विपाकोऽयं दशग्रीव संदृष्टेऽनागतो मया ।

त्वं तेनाऽभिहितः पथयं किं कोपं न नियच्छसि ॥ ३ ॥

विपाक इत्यादि—हे दशग्रीव ! अयं विपाको मरणलक्षणं फलम् अनागतो भविष्यत्रेव मया संदृष्टः सम्युगुपलब्धः । इदानीं पश्यसि तेन कारणेन त्वमभिहितोऽसि ‘सीर्पं मुञ्च’ इति । अतः किमिति कोपं न नियच्छसि नापनयसि । नास्त्येव मम दोषः । निपूर्वो यमिरपनयने वर्तते ॥ ३ ॥

भजन्ति विपदस्तूर्णमतिक्रामन्ति सम्पदः ।

तान्मदान्नावतिष्ठन्ते ये मते न्यायवादिनाम् ॥ ४ ॥

भजन्तीत्यादि—अन्यच्च ये स्वामिनो मदादवलेपान् मदोद्रेकात् न्यायवादिनां माल्यवत्प्रभृतीनां राक्षसानां मते नावंतिष्ठन्ते राज्यकार्यभारं नातुष्टातुं प्रवर्त्तन्ते । ‘समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।’ इति तङ् । ते पुरुषाः विपदस्तूर्ण भजन्ति अवसादं सेवन्ते । भजिस्तु भयपदी । सम्पदश्चातिक्रामन्ति लजन्ति ॥ ४ ॥

अपथ्यमायतौ लोभादामनन्त्यनुजीविनः ।

प्रियं शृणोति यस्तेभ्यस्तमूच्छन्ति न सम्पदः ॥ ५ ॥

अपथ्यमित्यादि—प्रायेण ह्यनुजीविनः प्रहस्तादिसद्वशः आयताव्यगामिनि काले वृद्धावस्थायामपथ्यमनिष्टं फलं लोभेन लृष्णया वा ग्रियमामनन्ति उपदिशन्ति ‘साधु इदम्’ इति । तेभ्यो यः शृणोति तं सम्पदो न अच्छन्ति । अर्तेः । अच्छादेशः ॥ ५ ॥

प्राज्ञास्तेजस्विनः सम्यक् पश्यन्ति च वदन्ति च ।

तेऽवज्ञाता महाराज ह्याम्यन्ति विरमन्ति च ॥ ६ ॥

प्राज्ञा इत्यादि—ये प्राज्ञाः बुद्धिमन्तः तेजविनिः अस्मद्विधाः सम्यगविपरीतं शास्त्रचक्षुषा शास्त्रोपदेशजन्यबोधद्वारा पश्यन्ति वदन्ति च सम्यक् । हे महाराज ! अवज्ञातास्ते तिरस्कृताः क्वाम्यन्ति स्वयं खिद्यन्ते तादृशेभ्यो विरमन्ति च विमुखा भवन्ति । ‘तदवज्ञानफलमेतत्’ इति भावः ॥ ६

लेढि भेषजवान्नित्यं यः पथ्यानि कटून्यपि ।

तदर्थं सेवते चापान् कदाचिन्न स सीदति ॥ ७ ॥

लेढीत्यादि—यस्तु स्वामी आदौ कटून्यपि पथ्यानि परिणामसुखानि भेषजवदौषधानीव नित्यं लेढि श्रोत्रेन्द्रियेण सहर्षमनुभवति तदर्थं चापानविसंवादिनः सेवते स कदाचिन्नावसीदति, इह च परत्र चापानविसंवादिनः सेवते चापानविसीदति ॥ ७ ॥

सर्वस्य जायते मानः स्वहिताच्च प्रमाद्यति ।

वृद्धौ भजति चापथ्यं नरो येन विनश्यति ॥ ८ ॥

सर्वस्येत्यादि—प्रायेण वृद्धौ सत्यां सर्वो जनो मानी सज्जायते वृद्धेश्चित्तविकारित्वात् । स्वहिताच्च प्रमाद्यति हिताद्धृष्टो भवति । अपथ्यमहितं च भजति सेवते । येनासेवितेन पथ्येन नरो विनश्यति ॥ ८ ॥

द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यो यन्न च स्त्रिहाति कस्यचित् ।

वैरायते महद्विश्व शीयते वृद्धिमानपि ॥ ९ ॥

द्वेष्टीत्यादि—यदस्माद्वृद्धौ सत्यां प्रायेण गुणेभ्यः वृद्धसेवित्वादिभ्यः ग्रमुद्वेष्टि । ‘कुवद्वुहेष्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः । १ । ४ । ३७ ।’ इति सम्प्रदानसंज्ञा । न च कस्यचित् स्त्रिहाति प्रीयते । महद्विश्व सह वैरायते वैरं करोति ‘शब्दवैरकलहाप्रकण्वमेवेभ्यः करणे । ३।१। १७।’ इति क्यङ् । तस्मात्कारणात् वृद्धिमानपि शीयते विनश्यति । शदेः शिति शीयादेशः । ‘शदेः शितः । १ । ३ । ६० ।’ इति तङ् ॥ ९ ॥

समाश्वसिमि केनाहं कथं प्राणिमि दुर्गतः ।

लोकत्रयपतिभ्राता यस्य मे स्वपिति क्षितौ ॥ १० ॥

समाश्वसिमीत्यादि—यस्य मम भ्राता लोकत्रयपतिः त्रिलोकीविजेतृत्वात् क्षितौ भूत्वे स्वपिति सोऽहं केनोपायेन समाश्वसिमि शोकं त्यजामि । ‘रुदादिभ्यः सार्वधातुकोऽर्थाऽर्थः’ इतीद् । दुर्गतो दुःखितः कथं केन प्रकारेण प्राणिमि जीवामि ॥ १० ॥

१ ‘अस्मायामेवाद्यज्ञो विविः भ॒।१२२।’ इति विविः ।

अहो जागर्ति कृच्छ्रेषु दैवं यद्ग्लभिजितः ।

लुठयन्ति भूमौ क्षिद्यन्ति बान्धवा मे स्वपन्ति च ॥ ११ ॥

अहोइत्यादि—अहो इति विस्मये । कृच्छ्रेषु दुःखेषु दैवं जागर्ति अव-
हितमित्यर्थः । नित्यं दुःखोत्पादनात् । यद्यस्मात्कारणादपरमपि मम बान्धवाः
बलभिजितः बलं भिनत्तीति बलभिदिन्द्रः तं जयन्तीति क्षिप् । भूमौ
लुठयन्ति । ‘रुठ लुठ लोटने’ दिवादै । तथा क्षिद्यन्ति पूयन्ति । स्वपन्ति दीर्घ-
निद्रां प्रवेशिताः ॥ ११ ॥

शिवाः कुण्डन्ति मांसानि भूमिः पिवति शोणितम् ।

दशश्रीवसनाभीनां समदन्त्यमिषं खगाः ॥ १२ ॥

शिवा इत्यादि---दशश्रीवसनाभीनां दशश्रीविण तुत्यगोत्राणाम् । ‘ज्योति-
जैनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनवन्धुषु । ६ । ३ । ८५’ इति
समानस्य सभावः । मांसानि शिवाः शृगालाः कुण्डन्ति । ‘कुष निष्कर्षे’ ।
भूमिः शोणितं पिवति । खगाः पाक्षिणः अर्हमिषं मांसं शोणितव्यतिरिक्तं वसा-
मज्जादिकं वा समदन्ति भक्षयन्ति ॥ १२ ॥

येन पूतक्रतोर्मूर्ध्वे स्थीयते स्म महाऽहवे ।

तस्यापीन्द्रजितो दैवाङ्गोङ्कः शिरसि लीयते ॥ १३ ॥

येनेत्यादि—येनेन्द्रजिता पूतक्रतोरिन्द्रस्य महाहवे महासमरे मूर्ध्वे अग्रतः
स्थीयते स्म रितम् । ‘अपरोक्षे च । ३।३।११९’ इति लट् । विभीषणस्य
ह्यपरोक्षभूतानव्यतनत्वादर्थस्य । तस्यापीन्द्रजितः शिरसि दैवाङ्गमाङ्गेतुभूतात्
ध्वाङ्गस्त्रैः काकैर्लीयते । वर्तमान एव भावे लट् ॥ १३॥.

स्वर्भानुर्भास्करं ग्रस्तं निष्ठीवति कृताहिकः ।

अभ्युपैति पुनर्भूतिं रामग्रस्तो न कथन ॥ १४ ॥

स्वर्भानुरित्यादि---स्वर्भानुः राहुः भास्करं ग्रस्तं ग्रासीकृतं कृताहिकः
कृताहरः निष्ठीवति स्वसुखान्त्रिरस्यति । रामग्रस्तो रामाभिभूतः
कथन कश्चिदपि पुनर्भूतिं नाभ्युपैति न प्राप्नोति । ‘एत्येष्ट्यूद्दु-

१ ‘सपिरडास्तु सर्वाभयः ।’ हत्यमरः । २ ‘शिवा गौरीफेरवयोः ।’ हत्यमरः । ३ ‘पल्लं
क्रम्यमामिषम् ।’ हत्यमरः । ४ अयं तु लक्ष्योऽर्थः । ५ ‘तमस्तु राहुः स्वर्भानुः ।’
हत्यमरः । ६ पुनरभ्युदर्यं, पुनर्जन्मोति तु ध्वन्यते । पुनर्जन्मनं विजयित्वेव गर्भ-
गतवेन वा रामग्रासोत्तरं सम्पदनमिति पुनः ‘भूसच्चायाम्’ चियां किन्
३।३।९४’ इति किन् । एवं च रामस्य परब्रह्मत्वं सूचितम् ।

६।१।८९।' इति वृद्धिः । अभ्यमीति पाठान्तरमयुक्तं छान्दसत्वान् । यतः ‘अमो बहुलं छन्दसि’ हलादावनन्तरे सार्वधातुके । ‘तुरुस्तुशस्यमः सार्वधातुके । ७।३।९५।’ इतीद् ॥ १४ ॥

त्वमजानन्निदं राजनीडिषे स्म स्वविक्रमम् ।

दातुं नेच्छासि सीतां स्म विषयाणां च नेशिषे ॥ ९५ ॥

त्वमित्यादि—हे राजन् ! त्वमिदं यथोदितमजानन् स्वविक्रममीडिषे स्म स्तुतवानासि । ‘ईङ्गनोधर्वं च । ७।२।७८।’ इति चकारात् सेशब्दस्यापीद् । एवं च कृत्वा त्वं सीतां दातुं नेच्छासि स्म नेष्टवानासि, विषयाणां शब्दादीनां नेशिषे स्म विषयान्न जितवानासि । ‘ईशः से । ७।२।७८।’ इतीद् । ‘अधीगर्थदेशां कर्मणि । २।३।५२।’ इति कर्मणि षष्ठी । सर्वत्र ‘अपरोक्षे च । ३।२।११९।’ इति लट् ॥ १५ ॥

मन्त्रे जातुं वदन्त्यज्ञास्त्वं तानप्यनुमन्यसे ।

कथं नाम भवांस्तत्र नावैति हितमात्मनः ॥ १६ ॥

मन्त्र इत्यादि—मन्त्रविषये कर्त्तव्यावधारणधिषये अपणिडताः मूर्खाः सन्तः जातुं कदाचिदपि वदन्ति गर्हितमेतत् । तानपि त्वमनुमन्यसे अनुमतवान् । इदमप्यतिगर्हितम् । ‘गर्हयां लडपिजात्वोः । ३।३।१४२।’ इति आपिजात्वोरुषपदयोः कालसामान्ये लट् । कथमेतत् न्यायं यत्तत्र भगवान् रावणः विद्वानपि नात्मनो हितमवैति न विदितवान् । ‘विभाषा कथमि लिङ् च । ३।३।१४३।’ इति कथं शब्द उपपदे चकारात् गर्हयां लट् तत्र भवानिति ‘इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते । ५।३।१४।’ इति भवद्वादि-योगे प्रथमान्तात् त्रलप्रत्ययः ॥ १६ ॥

अपृष्ठो नु ब्रवीति त्वां मन्त्रे मातामहो हितम् ।

न करोमीति पौलस्त्य ! तदा मोहात्वमुक्तवान् ॥ १७ ॥

अपृष्ठ इत्यादि—किमस्मिन् काले युज्यत इति मन्त्रे मातामहो मात्यवान् अपृष्ठः सन् हितं नु ब्रवीति । हे फौलस्त्य ! त्वं पुर्नाहितमकार्षीरिति मात्यवता पृष्ठं तदा तस्मिन् काले न करोमीति मोहादज्ञानादुक्तवान् । अत्र चुशब्दे नशब्दे चोपपदे ‘ननौ पृष्ठमतिवचने । ३।२।१२०।’ इति भूते धात्वर्थे ‘नन्वोर्विभाषा । ३।२।१२१।’ इति विभाषा लट् ॥ १७ ॥

त्वं स्म वेत्थ महाराज । यत् स्माह न विभीषणः ।

पुरा त्यजति यत् कुद्धो मां निराकृत्य संसादि ॥ १८ ॥

त्वमित्यादि——हे महाराज ! विभीषणो यदाह स्म उक्तवान् तत्त्वं न वेत्थ स्म न विदितवानसि । किमेतेन हितमुक्तं न वेति । उभयत्र ‘अपरोक्षे च ।३।२।१११’ इति लट् । तत्र पूर्वस्मिन् ‘निदो लटो वा ।३।४।८३।’ इति सिपस्थादेशः । अपरस्य ‘ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः । ३ । ४ । ८४।’ इति तिपो णलादेशः । यद्यस्मात्त्वं कुद्धः सन् मां संसादि समायां निराकृत्य पादप्रहारेण पुरा पूर्वं त्यजसि त्यक्तवानसि । ‘पुरि लुङ्ग चान्मे ।३।२।१२२।’ इति चकारालट् ॥ १८ ॥

हविर्जक्षिति निःशङ्कां मरेषु मघवानसौ ।

प्रवाति स्वेच्छया वायुरुद्धच्छति च भास्करः ॥ १९ ॥

हविरित्यादि——असौ मैथवान् इन्द्रः मरेषु यज्ञेषु हविराज्यादिकमधुना जक्षिति भक्षयति । ‘हवादिभ्यः लार्यातुके ।७।२।७६।’ इतीदृ । वायुश्च स्वेच्छया प्रवाति गच्छति । ‘पवते’ इति पाठान्तरं पवित्रीकरोतीत्यर्थः । भास्करश्च चथेष्टमुद्धच्छति दृदेति ॥ १९ ॥

धनानामीशते यक्षा यमो दाम्यति राक्षसान् ।

तनोति वरुणः पाशमिन्दुनोदीयतेऽधुना ॥ २० ॥

धनानामित्यादि——यक्षाः कुवेरादयः धनानामीशते प्रभवन्ते ‘स्वाम्यं लभन्ते’ इत्यर्थः । ‘ईश्य ऐश्वर्ये ।’ यमोऽपि राक्षसान् दाम्यति वशीकरोति । वरुणः पाशं तनोति विस्तारयति । इन्दुनोदीयतेऽधुना । भावे लट् । अधुनोदि सर्वत्र योज्यम् । अणुनेति पाठान्तरं असम्पूर्णत्वान् ॥ २० ॥

शाम्यत्यृतुसमाहारस्तपस्यान्ति वनौकसः ।

नो नमस्यन्ति ते बन्धून् वरिवस्यन्ति नामराः ॥ २१ ॥

शाम्यतीत्यादि——ऋतूनां समाहारः सम्भूयावस्थानं शाम्यति अपैति ।

१ ‘इन्द्रो मरुवान् मधवा’ इत्यमरः । २ एतेन ‘रावणस्य’ ‘भीषाऽस्माद्वातः पवते’ इत्यादिशुत्युक्तस्य परमात्मन इव महत्वं सम्भावितम् । एतस्य हि इच्छानुवर्त्तिनः सर्वेऽपीन्द्रादयः आपन्नानि तथोक्तिः । ३ एवमादिवचनं ‘रावणस्य’ सर्वजेततृत्वं सर्वत्रासक्त्वं सर्वेश्वरत्वं च सूचयत् सर्वाभिलिङ्गिवं मरणं सम्भावयति ।

वनौकसो वनवासिनो मुनयः तपस्यन्ति । तपश्चरन्ति । ‘कर्मणो रोमन्थतपो-
भ्यां वर्तिचरोः । ३।१।५१’ इति क्यङ् । तपसः परस्मैपदं च । ते त्वद्वन्धूनमरा
नो नमस्यन्ति न प्रणमन्ति । न वरिवस्यन्ति । नाप्रतिषेधेन परिचरन्ति । ‘नमो
वरिवीश्वत्रङ्गः क्यच । ३।१।५१’ ॥ २१ ॥

श्रीनैष्ठकुष्यति लङ्घायां विरज्यन्ति समृद्धयः ।
न वेद तन्म यस्यास्ति मृते त्वयि विपर्ययः ॥ २२ ॥

श्रीस्तियादि—लङ्घायां पुर्याम् अधुना श्रीनैष्ठकुष्यति अतिकुद्धयति । ‘कुष
रोषे’ ‘कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च । ३।१।५०’ तत एव समृद्धयश्च
विरज्यन्ति लङ्घातोऽपयन्ति । सर्वथा तदस्तु न वेद न वेद्यि । ‘विदो लटो वा
३।४।८३’ इति मिष्ठो णल् । यस्य त्वयि मृते न विपर्ययः नान्यथाभावः किंतु
सर्वमेव विपरीतमिति तत्त्वम् ॥ २२ ॥

शक्तिं संस्वजते शक्तो गोपायति हरिः श्रियम् ।
देववन्द्यः प्रमोदन्ते चित्रीयन्ते घनोदयाः ॥ २३ ॥

शक्तिमित्यादि—शक्तः शक्तिं प्रहरणमधुना संस्वजते गृह्णाति ।
‘दंशसञ्चक्ष्यज्ञां शक्तिः । ६।४।२५’ इत्यनुनासिकलोपः । हरिर्विष्णुः
श्रियं गोपायति आत्मन्येव कृत्वा रक्षति । देववन्द्यः प्रमोदन्ते हृष्यन्ति ।
घनोदया मेघातां गग्नेऽवस्थानानि चित्रीयन्ते नानारूपेणाहुतयन्ते । मृते
हृष्यतीति सर्वत्र योज्यम् ॥ २३ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकम्—

विप्रत्यक्षाणि सामर्षा रणकाम्यन्ति चामराः ।

चकासति च मांसाऽदां तथा रन्ध्रेषु जाग्रति ॥ २४ ॥

विद्वतीत्यादि—अमरा देवाः सामर्षाः सकोपाः अक्षाणि विप्रति
चारयन्ति । रणकाम्यन्ति च आत्मनो रणमिच्छन्ति । आत्मेच्छायां
‘काम्यच । ३।१।९।’ इति काम्यच् । चकासति च दीप्यन्ते च ।
‘जक्षित्यादित्वादभ्यस्तसंज्ञायां झेरदादेशः । तथा मांसादां राक्षसानाम् ।
‘अदोऽनन्त्रे । ३।२।६८।’ इति विद् । रन्ध्रेषु व्यसनेषु जाप्रति साक-
धाना भवन्ति ॥ २४ ॥

३ ‘कोपक्षोधामर्षरोष—’हत्यामरः ।

चञ्चूर्यन्तेभितो लङ्घामस्मांशाप्यतिशेरते ।

भूमयन्ति स्वसामर्थ्यं कीर्ति नः कनयन्ति च ॥ २५ ॥

चञ्चूर्यन्त इत्यादि—लङ्घामभितः वाहतोऽभ्यन्तरतत्त्वं । ‘पर्यमिभ्यां च । १५।३।११’ इति सर्वोभ्यार्थे तसिः । चञ्चूर्यन्ते गाहृतं चरन्ति । ‘लुप-सद्चरजपजभद्वदशगृभ्यो भावगर्हायाम् । १३।१२।४।’ इति भावगर्हायां शब्दः । ‘चरफलोश्च । ७।४।८।’ इत्यभ्यासस्य तुकः । ‘उत्परस्यातः । ७।४-१८।’ इत्युत्तम् । अस्मांशापि अतिशेरते अतिशयिता भवन्ति च । स्वसा-मर्थ्यं भूमयन्ति वर्धयन्ति । बहुनां भाव इति ‘पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । ५।१।१२।१’ । ‘बहोर्लेषो भू च बहोः । ६।४।१५।’ इति बहोर्भुरा-देशः । इमनिजादिलोपश्च । भूमानं कुर्वन्तीति जिचि पाविष्टवत्राविपद्वि-कस्येतीष्वद्वावात् टिलोपयणादिपरलोपः । विन्मतोर्लुगर्थमिति वचनाद्वा द्विलोपः । किंच नोऽस्माकं कीर्ति कनयन्ति अल्पां कुर्वन्ति । अमरा इति योज्यम् । अल्पां कुर्वन्तीति जिचि पाविष्टवद्वावाद् ‘युवाल्पयोः कनन्यक-रस्याम् । ५।३।६।’ इति कनादेशः ॥ २५ ॥

दिशो व्यश्नुवते हसास्त्वकृतां जहति स्थितिम् ।

क्षोदयन्ति च नः क्षुद्रा हसन्ति त्वां विपद्वतम् ॥ २६ ॥

दिश इत्यादि—द्वासौः सन्तः दिशो व्यश्नुवते व्याप्तुवन्ति । स्थिरं च्यवस्थां त्वकृताम् । ‘ग्रत्ययोत्तरपद्योश्च । ७।२।९।’ इति त्वदादेशः । जहति त्यजन्ति । ‘ओहाक् त्यागे’ लङ् । विपद्वते च त्वां हसन्ति । क्षुद्राः अल्पकायाः क्षोदयन्तीव क्षुद्रमिवाचक्षत इति । भुवने यो हि न्यकृतविन्द्व-लोकः स कथं क्षुद्र उच्यते । ‘स्थूलदूरयुवहस्त्वाक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्व-स्व च गुणः । ६।४।१५।’ इति औ यणादिपरलोपः पूर्वस्य च गुणः ॥ २६ ॥

शमं शमं नभस्वन्तः पुनर्निति परितो जगत् ।

उजिहीषे महाराज त्वं प्रशान्तो न किं पुनः ॥ २७ ॥

शममित्यादि—नभस्वन्तो वायवः शमं शमं शान्त्वा शान्त्वा । ‘आभीद्वये णमुल च । ३।४।२।’ इति णमुलि ‘नोदात्तोपेदशस्य मान्तस्यानाच्मेः । ७।३।३।’ इति वृद्धिप्रतिषेधः । आभीद्वये द्वे भवतः । परितः सर्वतो जगत् पुनर्निति पवित्रयन्ति । प्रशान्ता अपि पुनर्भूत्वा पुनरद्भुय जागत्

१ ‘अभित्परितःसमयानिकषाहप्रतिषेधोऽपि’ इति द्वितीया । २ प्रवृद्धदर्पः ।

पुनन्ति । हे महाराज ! त्वं पुनः प्रशान्तोऽपि किं नोजिहीवे नोचिष्ठसि ।
‘ओहाङ् गतौ’ इत्यभ्यासस्य ‘भृवामित् । ७ । ४ । ७६ ।’ इति इत्वम् ।
‘ई हल्यधोः । ६ । १ । ३ ।’ इतीत्वम् ॥ २७ ॥

प्रोणोति शोकश्चित्तं मे सत्त्वं संशाम्यतीव मे ।

प्रमार्ष्टि दुःखमालोकं मुञ्चाम्यूर्जं त्वया विना ॥ २८ ॥

प्रोणोतीत्यादि--हे महाराज ! त्वयां विना शोको मम चित्तं
प्रोणोति आच्छादयति । सत्त्वम् अवष्टम्भः संशाम्यतीव अपगच्छतीव ।
मां त्यजतीत्यर्थः । दुःखं च कर्तुं आलोकं प्रज्ञानं प्रमार्ष्टि अपनयति ।
अतरत्वया विना ऊर्जं बलं मुञ्चामि । अलसो भवामीत्यर्थः ॥ २८ ॥

के न संविद्रते नान्यस्त्वत्तो बान्धववत्सलः ।

विरौमि शून्ये प्रोणोमि कथं मन्युसमुद्धवम् ॥ २९ ॥

केनेत्यादि--त्वत्तोऽन्यो बान्धववत्सलो नेति के न संविद्रते न जानते । ‘समो गम्यृच्छभ्याम् । १ । ३ । २९ ।’ इति तङ् । ‘वेत्तर्विभाषा । ७ । १ । ७ ।’ इति रुद् । किंतु सर्वं एव संविद्रत इति भावः । बन्धुरेव बान्धवः ।
‘प्रज्ञादिभ्यश्च । ५ । ४ । ३८ ।’ इति स्वार्थेण । अतोऽहं शून्ये बन्धु-
विरहिते समये देशे वा विरौमि फूत्करोमि । कथं केन प्रकारेण मन्युस-
मुद्धवं शोकोत्पादं प्रोणोमि आच्छादयामि ॥ २९ ॥

रोदिम्यनाथमात्मानं बन्धुना रहितस्त्वया ।

प्रमाणं नोपकाराणामवगच्छामि यस्य ते ॥ ३० ॥

रोदिमीत्यादि--त्वया बन्धुना रहितत्वादनाथोऽस्मीति आत्मानमेव
रोदिमि न त्वां कृतकार्यम् । यस्य ते उपकाराणां प्रमाणमित्यत्तां
नावगच्छामि ॥ ३० ॥

नेदानीं शक्रयक्षेन्द्रौ विभीतो न दरिद्रितः ।

न गर्वं जहितो दृप्तौ न क्लिश्चीतो दशानन ॥ ३१ ॥

नेदानीमित्यादि—इदानीं त्वय्येवंभूते शक्रयक्षेन्द्रौ इन्द्रः कुबेरश्च न
विभीतः न भयं कुरुतः । ‘मिथोऽन्यतरस्याम् । ६ । ४ । ११५ ।’ इति

इत्वाभावपश्चे रूपम् । न दारिद्रितः दारेद्रौ न भवतः । ‘इदरिद्रस्य । ६ । ४ । ११४ ।’ इति हलादौ क्षुति सार्वधातुक इत् । हसौ न गर्वं जहितः परिलज्जतः ‘जहातेश्च । ६।४।१६।’ इतीत्वम् । न क्षुश्रीतः क्षेशं नानुभवतः । ‘ई हल्यघोः । ६।४।१३।’ इतीत्वम् ॥ ३१ ॥

त्वयापि नाम रहिताः कार्याणि तनुमो वयम् ।

कुर्मश्च जीविते बुद्धिं विकृतृष्णां कृतनाशिनीम् ॥ ३२ ॥

त्वयेत्यादि—यद्यन्यं त्वया विना कार्याणि राज्याङ्गानि तनुमः प्रसारयि-
ज्यामः । जीविते च बुद्धिं कुर्मः । तदिमां कार्ये जीविते च वृष्णां कृतनाशिनीं
परकृतोपकारादिविस्मारिकां धिक् । ‘गर्हयां लडपिजात्वोः । ३ । ३ । १४३ ।’
इति भविष्यति लट् ॥ ३२ ॥

तृणेहि देहमात्मीयं त्वं वाचं न ददासि चेत् ।

द्राघयन्ति हि मे शोकं स्मर्यमाणा गुणास्तव ॥ ३३ ॥

तृणेहीत्यादि—मम प्रतिवचनं न ददासि चेन् यदि त्वं ताहि आत्मीयं
देहं तृणेहि हन्मि । ‘तृणह इम् । ७।३।१२।’ हि यस्मात् स्मर्यमाणास्तव
गुणाः मम शोकं द्राघयन्ति दीर्घं कुर्वन्ति । णाविष्टवद्वावेन ‘प्रिय-
स्थिरस्तिरोरुवहुलगुरुवद्वरप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फुर्वैहगर्वार्वित्रद्वाधिवृन्दाः
। ६।४।१५७।’ इति दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः ॥ ३३ ॥

उन्मुच्य स्वजमात्मीयां मां स्वजपति को हसन् ।

नेदयत्यासनं को मे को हि मे वदति प्रियम् ॥ ३४ ॥

उन्मुच्येत्यादि—आत्मीयां सजं मालामुन्मुच्यापनीय देहात् हसन् परि-
सोषात् को मां स्वजपति स्वगिर्वणं करोति । णाविष्टवद्वावात् ‘विन्मतार्लुक् ।५-
।३।६।५।’ इति विनो लुक् । ‘प्रकृत्यैकात् । ६।४।१६।३।’ इति टिलोपाभावः ।
को वा ममासनं नेदयति अन्तिकं करोति । अत्रापि णौ इष्टवद्वावात्
‘अन्तिकबाढयोनेदसाधौ । ५ । ३ । ६।३।’ इति अन्तिकशब्दस्य नेदादेशः ।
कर्हि कदा को मे प्रियं वदति वदिष्यति । ‘विभाषा कदाकर्होः । ३ । ३ । ५।’
इति भविष्यति लट् ॥ ३४ ॥

न गच्छामि पुरा लङ्कामायुर्यवद् दधाम्यहम् ।

कदा भवति मे प्रीतिस्त्वां पश्यामि न चेदहम् ॥ ३५ ॥

न गच्छामीत्यादि—यावदहमायुर्दधामि धारयिष्यामि जीविष्यामीति भावः । ‘यावत्पुरानिपातयोर्लङ्घ । ३ । ३ । ४ ।’ इति भविष्यति लङ्घ । पुराशब्दोऽन्त्रं भविष्यदासत्तिमाह । प्रीतिर्हि लङ्घप्रवेश इति दर्शयन्नाह—वेद्याद्याहं त्वां जीवन्तं न पश्यामि । वर्तमाने लङ्घ । कदा कस्मिन् काले मे मम प्रीतिर्भवति भविष्यति । ‘विभाषा कदाकर्ष्णोः । ३।३।५।’ इति भविष्यति ‘लङ्घ ॥ ३५ ॥

उद्धर्वं स्त्रिये मुहूर्ताङ्गि विह्वलः क्षतबान्धवः ।

मन्त्रे स्म हितमारुण्यामि न करोमि तवाप्रियम् ॥ ३६ ॥

उद्धर्वमित्यादि—मुहूर्तादूर्धर्वम् उपरि अहं स्त्रिये मरिष्यामि । क्षतबान्धवः विनष्टबन्धुजनः । अत एव विह्वलः सन् । अनेन मरणस्य निमित्तभूतं प्राप्तकालं लोडर्थं दर्शयति । तेन ‘लिङ्गं चोर्धर्वमौहूर्तिके । ३।३।९।’ इति लोडर्थलक्षणे भविष्यति लङ्घ । लोटश्च प्रैषादिकः । ‘स्त्रियतेर्लुङ्गलिङ्गोऽच । १ । ३ । ६ । १ ।’ इति चकारात् शितश्चात्मनेपदम् । अन्यच्च मन्त्रे मन्त्रविषये हितमारुण्यामि स्म आख्यातवानहम् । ‘अपरोक्षे च । ३।२।११।’ इति लङ्घ । ममाप्रियं मा कार्षीरिति पृष्ठः सन्नहं न करोमि तवाप्रियमिति न कृतवानस्मि । ‘नन्वोर्विभाषा । ३।२।१२।’ इति पृष्ठप्रतिवचने लङ्घ ॥ ३६ ॥

अथ युग्मकम् ।

अन्तःपुराणि पौलस्त्यं पौराश्च भृशदुःखिताः ।

संश्रुत्य स्माभिधावन्ति हतं रामेण संयुगे ॥ ३७ ॥

अन्तःपुराणीत्यादि—अनन्तरं पौलस्त्यं रावणं रामेण हतं संश्रुत्य श्रुत्वा अन्तःपुराणि अन्तःपुरवर्तीनि कलत्राणि पौराश्च लङ्घापुरवास्तुष्या अन्येऽवशिष्टा राक्षसाश्च । पुर्याम्भवा इति तथोक्ताः दुःखिताः अभिधावन्ति स्म ढौकन्ते स्म । ‘लङ्घ स्मे । ३ । २ । ११८।’ इति भूतानय्यतनपरोक्षे लङ्घ ॥ ३७ ॥

मूर्धजान् स्म विलुञ्चन्ति क्रोशन्ति स्मातिविह्वलम् ।

अधीयन्त्युपकाराणां मुहूर्भर्तुः प्रमन्यु च ॥ ३८ ॥

मूर्धजानित्यादि—मूर्धजान् केशान्विलुञ्चन्ति स्म अपनयन्ति स्म । अतिविह्वलम् अतिवैकलव्यं गुणप्रधानो निर्देशः । क्रोशन्ति स्म फूत्कारं कुर्वन्ति स्म । अन्तःपुराणीत्यर्थः । भर्तुञ्चोपकाराणां मुहूरधीयन्ति स्म । ‘इक्ष स्मरणे ।’

‘अथीगर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ॥’ इति कर्मणि षष्ठी । प्रमन्यु चेति
क्रियाविशेषणं प्रकृष्टशोकमित्यर्थः । ‘प्रमन्यवः’ इति पाठान्तरं प्रकृष्टशोका
इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

रावणस्य नमन्ति स्म पौराः सास्त्रा रुदन्ति च ।

भाषते स्म ततो रामो वचः पौलस्त्यमाकुलम् ॥ ३९ ॥

रावणस्येत्यादि—पौराश्च रावणस्य नमन्ति स्म नमस्यन्ति स्म । पादावित्य-
र्थात् तत्सम्बन्धित्वात् । सास्त्रैश्च सन्तः रुदन्ति स्म । ततोऽनन्तरं रामः
पौलस्त्यं विभीषणम् आकुलं वचो भाषते स्म उक्तवान् ॥ ३९ ॥

दातुः स्थातुर्द्दिष्णां मूर्ध्नि यष्टुस्तर्पयितुः पितृन् ।

युद्धाभग्नाविपन्नस्य किं दशास्यस्य शोचसि ॥ ४० ॥

दातुरित्यादि—दशास्यो दाता, द्विषां मूर्ध्नि स्थातां, यष्टा यज्ञानां
पितृन् तर्पयिता । ‘तृप तृप्रौ’ चुरादिः । युधि देवादीनां संग्रामे-
भग्नः अविपन्नः । तस्यैवंविघ्नस्य किं शोचसि शोच्यमेव नास्ति ।
वर्तमाने लट् ॥ ४० ॥

बोभवीति न सम्मोहो व्यसने स्मृत्यवाहशाम् ।

किं न पश्यसि सर्वोऽयं जनस्त्वामवलम्बते ॥ ४१ ॥

बोभवीतीत्यादि—भवाहशां युज्मद्विघ्नानां व्यसने दुःखे सम्मोहः
अज्ञानं न बोभवीति अत्यर्थं न भवति । यह्न्तुकि रूपम् । एवं च सर्वि
स्त्राथों न हीयते । यतः किं न पश्यसि अयं सर्वो जनः त्वामवलम्बते ‘त्वमेव
स्वामी’ इति प्रतीक्षते ॥ ४१ ॥

त्वर्हसि भ्रातुरनन्तराणि कर्तुं जनस्यास्य च शोकभङ्गम् ।

घुर्ये विपन्ने त्वायि राज्यभारो मज्जत्यनूढः क्षणदाचरेन्द्र, ॥ ४२ ॥

इति महावैयाकरणश्रीभट्टिश्चित्तरामचरित-

काव्ये तिङ्कन्तकाण्डे लट्टविलसितो

नामाष्टादशः सर्गः ।

१ असुपूर्णनेत्रा हस्ति भावः । ‘रोदनं चात्मकुशु च’ इत्यमरः । २ एतेवास्य
किंरित्वदुपास्यत्वं सूचितम् ।

त्वर्महसीत्यादि—तस्मात् भ्रातुरनन्तराण्यग्निसात्कारादीनि कर्तुं त्वर्महसि
युज्यसे । अस्य च जनस्य शोकभङ्गं शोकापनयनं कर्तुं च । अन्यथा त्वयि धुर्ये धुरं
वहति विपन्ने विनष्टे सति हे क्षणदाचरेन्द्र! निशाचराणामिन्द्र इवेन्द्रस्तसम्बुद्धौ
राज्यभारः अनूढः अन्यैरनविष्टिः सन् मज्जति अधो याति शत्रुभार्विनश्यति ।
तस्मात् त्वया समाहितेन राज्यभारो बोढव्ये इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीजटेश्वरापरपर्यायजयमङ्गलसूरिविरचितया जय-
मङ्गलाख्यया व्याख्यया समलङ्घते श्रीभादृप्रणीते राम-
चरिते काव्ये चतुर्ये तिङ्गतकाण्डे लक्षणरूपे
पञ्चमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथा-
नके 'विभीषण-प्रलापो' नाम
अष्टादशः सर्गश्च ।

ऊनविंशः सर्गः ।

तः प्रयति लिङ्गमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र विष्यादिषु लिङ् । ततो-
उन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

अपमन्युस्ततो वाक्यं पौलस्त्यो राममुक्तवान् ।

अशोच्योऽपि ब्रजन्नस्तं सनाभिर्दुन्यान्न किम् ॥ १ ॥

अपमन्युरित्यादि—ततोऽनन्तरं पौलस्त्यो विभीषणः अपमन्युः अप-
गतो मन्युर्यस्य शोको स. गृहीतकिञ्चिद्दैर्यं इति भावः । प्रादिभ्यो धातुजस्य
बैहुत्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च । रामं वाक्यमुक्तवान् । देव ! किमेव -
भभिधत्से अशोच्य इति । यतः सनाभिः सगोत्रोऽस्तं ब्रजन् विनाशं
भृच्छन्नशोच्योऽपि सन् किं न दुन्याद्वियोगन अवश्यतया किं नोपता-
श्येत् । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् ॥ १ ॥

तं नो देवा विधेयासुर्येन रावणवद् वयम् ।

सपलांश्चाधिजीयास्म सङ्ग्रामे च मृषीमहि ॥ २ ॥

तं न इत्यादि—युष्मद्वचनादात्मा मया स्थिरीकृतः किन्त्वदमाशंसे ।
पायं नोऽस्माकं देवा विधेयासुः । 'घुमास्थागपाजहातिसां हलि । शि-
द्दि' इत्यमुवृत्तौ 'एर्लिङ्गि । द्वाप्तिर्द्विष्ठा' इत्येकारादेशः । येनोपायेन

। अन्वेन्द्रवश्चोपेन्द्रवज्योर्मेलनात्तयोरुपजातिरिति च्छन्दः ।

रावणवत् सपत्नान् वयमधिजीयास्म । ‘उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रती-
यते’ इति सकर्मकता । संग्रामे च मृषीमहि । लिङ्गश्रोति । लिङ्गः किञ्चत्वान्
गुणः । आर्धधातुकत्वान् सलोपः । सर्वत्रैवाशिषि लिङ्ग ॥ २ ॥

क्रियेरंश्च दशास्येन यथान्येनापि नः कुले ।

देवद्यञ्चो नराहारा न्यञ्चश्च द्विषतां गणाः ॥ ३ ॥

क्रियेरन्नित्यादि—यथा दशास्येन रावणेन नराहाराः राक्षसाः देवद्यञ्चः
देवैः सहाज्ञन्तो गच्छन्तः क्रियेरन् कृताः । ‘विष्वगदेवयोश्च टेरद्रथञ्चतावप्रत्यये
। ६ । ३ । १२ ।’ इति टेरद्रावेशः । द्विषतां च गणाः न्यञ्चः नीचैरञ्जन्तः
कृताः तिरस्कृताः । तथा नोडस्माकं कुले अन्येन क्रियेरंश्च । आशंसायां
कर्मणि लिङ्ग । कृषीरन्निति वा पाठः । आशिषि कर्मणि लिङ्ग ॥ ३ ॥

स एव धारयेत् प्राणानीहशे बन्धुविष्वुवे ।

भवेदाश्वासको यस्य सुहच्छक्तो भवाहशः ॥ ४ ॥

स एवेत्यादि—ईहशे बन्धुविष्वुवे बन्धुविनाशोऽपि स एव प्राणान् धार-
येत् नियोगतो विश्रयात् । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ्ग । यस्य भवाहशः
सुहन्मित्रं शक्त आश्वासकः सान्त्वयिता भवेत् । सम्भावनायां लिङ्ग ॥ ४ ॥

म्रियेयोर्ध्वं सुहूर्ताद्विद्व न स्थास्त्वं यदि मे गतिः ।

आशंसा नहि नः प्रेते जीवेम दशमूर्धनि ॥ ५ ॥

म्रियेवेत्यादि—यदि मे मम गतिः शरणं त्वं न स्याः न भवेः । लिङ्ग ।
तदा यस्मिन्सुहूर्ते रावणोऽपि नष्टः तस्मान्सुहूर्ताद्विद्व म्रियेय । नियोगतः
प्राप्तकालः । प्राणास्त्यक्तवानहम् । अत्र प्राप्तकाले गम्यमाने ‘लिङ्ग
चोर्ध्वमौहूर्तिके । ३ । ३ । १६४ ।’ इति लिङ्ग । तत्र हि प्रैपादयोऽनुवर्तन्ते ।
‘म्रियते लुङ्गलिङ्गोश्च । १ । ३ । ६१ ।’ इति तड़ । ततः सार्व-
धातुकत्वात् शः । हि यस्मान्नोऽस्माकं नेयमाशंसा यद्यशमूर्धनि
दशानने प्रेते मुते त्वयि वाऽशरणे जीवेम प्राणान् धारयिष्याम इति ।
अत्राशंसावचनस्योपपदत्वात् लिङ्ग ॥ ५ ॥

प्रकुर्याम वयं देशो गद्या तत्र कथं रतिम् ।

यत्र विंशतिहस्तस्य न सोदर्यस्य सम्भवः ॥ ६ ॥

१ ‘विष्वुवो वाक्त्रै सर्वक्षये सुद्धाद्युपद्रवे’ इति रमसः ।

प्रकुर्यामेत्यादिऽ—यत्र देशे सोदर्यस्य आरुविशतिहस्तस्य न सम्भवोऽस्ति
तत्र कथं वयं गहा निन्द्यां रतिं प्रकुर्याम करिष्यामः । नैवेत्यर्थः । अत्र
गहीयामित्यविकृत्य ‘विभाषा कथमि लिङ् च । ३।३।१४३।’ इति कथमित्युप-
पदे भविष्यति लिङ् ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेत तान् प्रह्लान् मन्त्रिणोऽथ विभीषणः ।

गच्छेत त्वरितं लङ्घां राजवेशम विशेत च ॥ ७ ॥

आमन्त्रयेतेत्यादि—अथानन्तरं विभीषणः संदासि सभायां यैर्मन्त्रिभिः
सह उत्थितः तान्मन्त्रिणः प्रह्लानामन्त्रयेत कर्मसु नियोगतः संहितवानित्यर्थः ।
निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् । तदेव दर्शयति । लङ्घां त्वरितं यूयं
गच्छेत यात । गताञ्च राजवेशम विशेत अत्र विवौ प्रेषणे लिङ् । स हि सर्व-
लकाराणामपवादः ॥ ७ ॥

आददीध्वं महार्हाणि तत्र वासांसि सत्वराः ।

उद्गुनीयात सत्कृतून् निर्हरेताऽथचन्दनम् ॥ ८ ॥

आददीध्वमित्यादि—वत्र राजवेशमानि वासांसि महार्हाणि योग्यानि ।
महार्हाणीति पाठे तु महामूल्यानीत्यर्थः । सत्वरा आददीध्वं गृहीत । ‘शाभ्यस्तयो-
रातः । ६ । ४ । ११२।’ इत्याकारलोपः । सत्कृतून् शोभनधवजान् उद्गुनीयात
ऊर्वांकरिष्यथ । ‘वादीनां हस्तः । ३।३।८०।’ ई हत्यघोः । ६ । ४ । ११२।’
अश्यचन्दनं सच्चन्दनकाष्ठानि निर्हरेत निर्गमयत ॥ ८ ॥

मुञ्चेताकाशधूपांश्च ग्रन्थीयात स्वजः शुभाः ।

आनयेतामितं दारु कपूरागुरुकङ्कुमम् ॥ ९ ॥

मुञ्चेतेत्यादि—धूपघटिकाभिराकाशधूपांश्च मुञ्चेत प्रवर्तयेत । स्वजः पुष्प-
मालाः शुभाः ग्रन्थीयात गुम्फिष्यथ । ‘अन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे’ इति ऋयादिः ।
दारु काष्ठम् अमितं प्रभूतं कपूरागुरुकङ्कुमं च आनयेत । सर्वत्र
विधौ लिङ् ॥ ९ ॥

उहोरन् यज्ञपात्राणि हियेत च विभावसुः ।

त्रियेत चाज्यमृतिगिभः कल्प्येत च समित्कुशम् ॥ १० ॥

* ‘आस्थानी क्षीबमास्थानं क्षीनपुंसकयोः सदः ।’ हत्यमरः । २ महती अर्हा
पूज्य, प्रशंसा येषां तानि । ‘आन्महृतः समानाधिकरणजातीययोः । ३ । ४ । ४६।’
इति दीर्घः । ३महान् अर्हो मूलयं येषां तानि । ‘मूलये पूजाविधावर्षः’ हत्यमरः ।—

उहोरन्नित्यादि—यज्ञपात्राणि सुगादीनि उहोरत् आनीयन्ताम् । विभावं-
सुश्रापिः हियेत । ऋत्विभः आज्यमपि चियेत । समित्कुशं कल्प्येत च
कल्प्यम् । सर्वत्र विधौ कर्मणि लिङ् ॥ १० ॥

स्नानीयैः स्नापयेताशु रम्यैर्लिम्पेत वर्णकैः ।

अलङ्कुर्यात् रत्नैश्च रावणाहृदशाननम् ॥ ११ ॥

स्नानीयैरित्यादि—यथा स्वविहितं च कृत्वा रम्यैः स्नानीयै-
दैशाननं राक्षसाधिं स्नापयेत स्नापयिष्यथ । ‘ग्लास्नावनुवमां च’ इति
विक्लैपेन मित्वम् । तत्र ‘ज्वलहृलनमामनुपसर्गाद्वा’ इति वाग्रहणमनु-
वर्तते । वर्णकैश्चन्दनादिभिः रम्यैर्लिम्पेत विलेप्यथ । रत्नैश्च रावणाहृदैनित्य-
नैमित्तिकैरलंकुर्यात अलंकरिष्यथ ॥ ११ ॥

वासयेत सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां राक्षसाधिपम् ।

ऋत्विक्ल स्नाग्निवणमादध्यात् प्राङ्मूर्धानं मृगाजिने ॥ १२ ॥

वासयेतेत्यादि—सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां पूताभ्यां वासयेत च आच्छादयि-
ष्यथ । ऋत्विक्ल यज्वा ऋग्निवणं कृत्वा मालाभूषितं कृत्वा मृगाजिने प्राङ्मूर्धानं
प्राच्यां मूर्धा यस्य पूर्वशिरसमादध्यात् स्थापयेत् ॥ १२ ॥

यज्ञपात्राणि गात्रेषु चिनुयाच्च यथाविधि ।

जुहुयाच्च हर्विवद्वौ गायेयुः साम सामगाः ॥ १३ ॥

यज्ञपात्राणीत्यादि—स एव यथाविधि यथाक्रमं यथाशास्त्रं वा यज्ञस्य
पात्राणि सुगादीनि गात्रेषु चिनुयात् । हर्विराज्यं वहौ जुहुयात् । निष्ठि-
पेत् । सामगाः छन्दोगाः साम तदाख्यं वेदं गायेयुश्च । ‘आतोऽनुपसर्गे कः
।३।२।३।’ इति कः । सर्वत्र विधौ लिङ् ॥ १३ ॥

गत्वाय ते पुरीं लङ्घां कृत्वा सर्वं यथोदितम् ।

समीपेऽन्त्याहुतेः साक्षाः प्रोक्तवन्तो विभीषणम् ॥ १४ ॥

गत्वेत्यादि—अथानन्तरं ते मन्त्रिणः लङ्घापुरीं गत्वा यथोदितं यथाशास्त्रम्
सर्वकर्म्मं च कृत्वा । अन्त्याहुतेर्भूताहुतेः अनन्तरं तस्य समीपे साक्षाः
सक्षमाः विभीषणं प्रोक्तवन्तः ऊचुः ॥ १४ ॥

१ यथाकथितम् । उद्यते स्मेत्युदितम् । ‘वद व्यक्तायां वाचि’ कः, सम्प्रसारण-
म् । उदितमनतिक्रम्येति यथोदितम् । ‘यथाऽसाद्ये २।१७’ इति समाप्तः ।

कृतं सर्वं यथोदिष्टं कर्तुं बहिजलक्रियाम्।

प्रयत्नेया महाराज सह सर्वैः स्वबन्धुभिः ॥ १५ ॥

कृतमित्यादि—यथोदिष्टं यथाविहितं सर्वमस्माभिः कृतम् । त्वमिदानीं आतुर्वहिक्रियां जलक्रियां च कर्तुं स्वबन्धुभिः सर्वैः सह प्रयत्नेयाः । प्रार्थनायां लिङ् ॥ १४ ॥

अज्ञवन्नोत्सहेयास्त्वं धेया धीरत्वमच्युतम् ।

स्थेयाः कार्येषु बन्धुनां हेयाः शोकोद्भवं तमः ॥ १६ ॥

अज्ञवदित्यादि—शोकादप्रवर्तमानं पुनराहुः । अज्ञवत् किं नोत्सहेयाः किमवसीदसि गर्हितमेतत् । ‘किवृत्ते लिङ्गलृष्टौ । ३।३।१४४’ इति गहीर्यां लिङ् । इयं चास्माकमाशंसा । यतु धीरत्वं धैर्यम् अच्युतम् अक्षतवज्ञानम् । धेयाः धास्यसि । बन्धुनां च कार्येषु स्थेयाः स्थास्यसि । शोकोद्भवं च तमोऽज्ञानं हेयास्त्यक्षयसि । सर्वत्राशिषि लिङ् । आर्थवातुकत्वात् । ‘एर्लिङ्गि६ । ४ ६७’ इत्यसंयोगादेरत्वम् ॥ १६ ॥

नावकल्प्यमिदं ग्लायेद्यत्कुच्छेषु भवानपि ।

न पृथग्जनवज्ञातु प्रमुह्येत् पण्डितो जनः ॥ १७ ॥

नावकल्प्यमित्यादि—अन्यच्च नावकल्प्यमिदं न सम्भाव्यमेतत् येन कुच्छेषु दुःखेषु भवानपि ग्लायेत् ग्लानिं याति । अनवकल्प्यते असम्भावनायां ‘अनवकल्प्यमर्थयोरकिवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १ ४५ ।’ इति लिङ् । सार्वधातुकत्वात् ‘वान्यस्य संयोगादेः । ६।४।६८।’ इत्येतत्वं न विकल्प्यते । यस्मात् पण्डितो जनः पृथग्जनवत् अपण्डितवृत् जातुं कदाचिदपि न प्रमुह्येत् न मौहं यातीति सम्भावयामः । ‘जातुयदोर्लिङ् । ३ । ३ । १४७ ।’ इत्यनवकल्प्यते लिङ् ॥ १७ ॥

यच्च यत्र भवांस्तिष्ठेतत्रान्यो रावणस्य नः ।

यच्च यत्र भवान् सीदेनमहङ्किर्दिस्तदिगर्हितम् ॥ १८ ॥

यच्चेत्यादि—यत्र देशे काले वा भवांस्तिष्ठेत् तत्र यच्च अन्यो रावणस्य कस्तिष्ठेत् अवस्थानं कः करिष्यति । नैतत्सम्भावयामः तस्य तत्र न्यूनत्वात् । अन्यसिमन्वकल्प्यते यच्छब्देनोपपदेन योगात् ‘यच्चयत्रयोः । ३ । ३ । १४८।’

* ‘कदाचिज्ञातु’ इत्यमरः । जायति क्षीयते इति । जै क्षये ‘उणादयो बहु-
म् ३।३।१’ इति बहुलश्चणात्तुन् ।

इत्यनवकल्मौ भविष्यति लिङ् । यच्चोति निपातसमुदायो यच्छब्दस्यार्थे
वर्तते । किंच यत्र देशे काले वा यच्च भवान् सीदेन् अवसादं करोतीति
महङ्गः पण्डितैः विगर्हतं निन्दितम् । 'गर्हयां च । ३।३।१४६' इति सब-
लकाराणामपवादो लिङ् । 'यच्चयत्रयोः' इत्यनुवर्तते । अनवकल्माविति
निवृत्तम् ॥ १८ ॥

आश्र्वर्यं यज्ञ यत्र त्वां प्रबूयाम वर्यं हितम् ।

अपि साक्षात् प्रशिष्यास्त्वं कृच्छ्रेष्ठिन्द्रपुरोहितम् ॥ १९ ॥

आश्र्वर्यमित्यादि—यत्र देशे काले वा यच्च यद्यमापि त्वां हितं प्रबू-
याम तदाश्र्वर्यं विचित्रमतेत् । 'चित्रीकरणे च । ३।३।१५०।'
इति लिङ् । 'यच्चयत्रयोः । ३।३।१४८।' इति वर्तते । त्वामित्यकथितं
कर्म । अतस्त्वं कृच्छ्रेषु व्यसनेषु साक्षादिन्द्रपुरोहितं वृहस्पतिं प्रशिष्याः
बाढं शिक्षयसि । 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ् । ३।३।१५२।' अपिशब्द०
स्योपपदत्वात् समर्थत्वं चानयोर्बाढमित्येतस्मिन् अर्थे । 'शास इदङ्क-
हलोः । ६।४।३४।' 'शासिवसिधसीनां च । ८।३।६०।' इति
ष्टव्यम् ॥ १९ ॥

कामो जनस्य जह्यास्त्वं प्रमादं नर्त्रहताऽधिप ।

उत द्विषोऽनुशोचेयुर्विष्टुवे किमु बान्धवाः ॥ २० ॥

काम इत्यादि—हे नैर्त्रहताधिप रक्षसां नाथ ! त्वं प्रमादं जह्याः त्यज ।
अस्य जनस्य पौरस्य काम इच्छा । 'कामप्रवेदनेऽकच्चिति । ३।३।१५३।'
इति लिङ् । कंचिच्छब्दस्याप्रयोगात् । कामप्रवेदने च जनाभिन्न-
श्रायप्रकाशनम् । अन्यच्च अस्मिन् विष्टुवे विनाशे द्विषः । 'शत्रवोऽपि
उत अनुशोचेयुः अनुशोचन्ति किमु बान्धवाः । 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ्
। ३।३।१५२।' ॥ २० ॥

स भवान् भ्रातृवद्रक्षेयथावदसिलं जनम् ।

न भवान् सम्प्रमुद्येच्चेदाश्वस्युश्च निशाचराः ॥ २१ ॥

स इत्यादि—चेद्यादि भवान् सम्प्रमुद्येत् मोहं न गच्छेत् तदा स
भवान् भ्रातृवत् यथा भ्रात्रा जनो रक्ष्यते तद्वत् अखिलं जनं यथावत्
सम्यक् रक्षत् । एते च निशाचरा आश्वस्युराश्वासं गच्छेयुः । 'हेतुहेतुम्
तांलङ् । ३।३।१५६।' अत्र प्रमोहो हेतुः जनरक्षणं निशाचराश्वासनं च
हेतुमत् । श्वसेरदादित्वाच्छपो लुक् । आश्रसेयुरिति पाठान्तरम् ॥२१॥

ततः स गतवान् कर्तुं भ्रातुरप्निजलक्रियाम् ।

प्रोक्तवान् कृतकर्तव्यं वचो रामोऽय राक्षसम् ॥ २२ ॥

तत इत्यादि—ततो वचनानन्तरं भ्रातुरप्निक्रियां जलक्रियां च कर्तुं
गतवान् । अथ कृतकर्तव्यं राक्षसं रामः वचः प्रोक्तवान् ॥ २२ ॥

अम्भांसि रुक्मिकुम्भेन सिञ्चन् मूर्ध्नि समाधिमान् ।

त्वं राजा रक्षसां लङ्घामवेक्षेथा विभीषण ॥ २३ ॥

अम्भांसीत्यादि—रुक्मिकुम्भे स्वर्णकलशेनाम्भांसि जलानि मूर्ध्नि
सिञ्चन् पातयन् । रामः प्रोक्तवानिति पूर्वेणान्वयः । हे विभीषण ! समा-
धिमान् ध्यानवान् त्वमद्यप्रसृते रक्षसां राजा लङ्घामवेक्षेथाः कार्याका-
र्यनिरूपणे द्रश्यसि ॥ २३ ॥

कुद्धाननुनयेः सम्यग्धनैर्दुर्बधानुपार्जयेः ।

मानिनो मानयेः काले त्रस्तान् पौलस्त्य सान्त्वयेः ॥ २४ ॥

कुद्धानित्यादि—हे पौलस्त्य ! कुद्धाननुनयेः प्रसादायिष्यसि । ये लुब्धान्
स्तान् धनेनोपार्जयेः दानेन ग्रहीष्यसि । मानिनः सत्कारोचिते काले मान-
येः पूजयिष्यसि । त्रस्तान् भीतान् सान्त्वयेः समाश्वासयिष्यसि । सर्वत्र
निमन्त्रणे नियोगकरणे प्रार्थनायां वा लिङ् ॥ २४ ॥

इच्छा मे परमानन्देः कथं त्वं वृत्रशत्रुवत् ।

इच्छेष्ठि सुहृदं सर्वो वृद्धिसंस्थं यतः सुहृत् ॥ २५ ॥

इच्छेत्यादि—इयं च मे इच्छा महती । यत्त्वं वृत्रशत्रुवदिन्द्र इव कथ-
मानन्देः मुदितो भविष्यसि । ‘इच्छार्थेषु लिङ्गोटौ ।३।३।१५७।’ इति
लिङ् । इच्छार्थस्य धातोरुपपद्तत्वात् । यतः सर्वं सुहृत् सुहृदं वृद्धिसंस्थम्
उदयस्थमिच्छेत् इच्छति । ‘इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने ।३।३।१६०।’
इति लिङ् ॥ २५ ॥

वर्धिषीष्ठाः स्वजातेषु वध्यास्त्वं रिषुसंहतीः ।

भूयास्त्वं गुणिनां मान्यस्तेषां स्थेया व्यवस्थितौ ॥ २६ ॥

वर्धिषीष्ठा इत्यादि—स्वजातेषु स्वजातिषु राक्षसेषु मध्ये त्वं वर्धिषीष्ठाः
वृद्धिमान् भविष्यसि । आशिषि लिङ् । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि सर्वत्र । रिषुसं-

१ ‘स्वमं कार्तस्वरं जाम्बूनदमषापदो खियाम् इत्यमरः । २ अस्मोऽर्णस्तोय-
पांशीयवीरक्षीरक्षीरक्षीरम्बरम् ।’ कृष्णमरः ।

तीः शत्रुसमूहान् वध्याः विनाशयिष्यसि । ‘हनो वध लिङ्गि ।२।४।४२’
शूद्राश्च गुणिनां मान्यः । शुतशीलवतां मानार्हश्च भविष्यसि । तेषां च
गुणिनां व्यवस्थितौ चिरकालं स्थेयाः स्थास्यसि ॥ २६ ॥

धेयास्त्वं सुहृदां प्रीतिं वन्दिषीष्टा दिवौकसः ।

सोमं पेयश्च हेयाश्च हिंसा हानिकरीः क्रियाः ॥ २७ ॥

धेया इत्यादि—त्वं सुहृदां मित्राणाम् ‘सुहृद्दूर्दौ मित्रामित्रयोः ।५।४।
१५।’ इति साधुः । प्रीतिं धेयाः जननिष्यसि । दिवौकसो द्यौरोको येषां तान्
देवान्वन्दिषीष्टाः प्रणस्यसि । सोमं सुधारासं पेयाः पास्यसि । तथा हिंसा:
परोपघातिकाः हानिकरीः अपचयहेतुकाः क्रियाः हेयाः त्यस्यसि ॥ २७ ॥

अवसेयाश्च कार्याणि घर्मेण पुरवासिनाम् ।

अनुरागं क्रिया राजन् सदा सर्वगतं जने ॥ २८ ॥

अवसेया इत्यादि—पुनः पुरवासिनां लङ्घापुरीनिवासिनां कार्याणि
घर्मेणावसेयाः समाप्स्यसि । ‘घोडन्तकर्मणि’ । हे राजन् ! अत्र जने अनु-
रागं सर्वगतं सर्वव्यापिनं क्रियाः करिष्यसि ॥ २८ ॥

धानिषीष्ट त्वया मन्युर्ग्राहिषीष्ट समुच्चरितः ।

. रक्षोभिर्दीर्शिषीष्टास्त्वं द्रक्षीरन् भवता च ते ॥ २९ ॥

धानिषीष्टेत्यादि—मन्युः क्रोधः त्वया धानिषीष्ट हनिष्यते । चिष्वद्वावो
वृद्धिर्धत्वं च । समुच्चरितर्युच्यते: प्राहिषीष्ट प्रहीष्यते । रक्षोभिर्दीर्शनपैर्ह-
र्शिषीष्टाः द्रक्ष्यसे । ते च राक्षसाः भवता दर्शनपरेण च द्रक्षीरन् । अचि-
त्वद्वावपक्षः ॥ २९ ॥

मन्युं वध्या भट्वधकृतं बालवृद्धस्य राजन् !

शास्त्राभिज्ञाः सदसि सुविधः सन्निर्विते क्रियासुः ।

संरसीष्टाः सुरमुनिगते वर्त्मनि प्राज्यवर्मे

सम्मुत्सीष्टाः सुनयनयनैर्विद्विषामीहितानि ॥ ३० ॥

इति महावैयाकरण-श्रीभट्टप्रणीते रामचरिते

काव्ये तिङ्कन्तकाण्डे लिङ्ग-विलसितो

नामैकोनर्विशतितमः सर्गः ॥

१ यद्यपि विपूर्वस्यैव दधाते: प्रकृतोऽर्थः, तथाऽपि शाश्वतामन्तर्कार्यत्वा-
दिव्यं समाधेयम् ।

मन्युमित्यादि—अन्यच्च हे राजन् ! बालानां वृद्धानां च । ‘सर्वो द्वन्द्वे द्विभाषैकबद्धवति’ इति बालाश्च वृद्धाश्चेति बालवृद्धम् । तस्य मन्युं शोकम् । भट्टवधकृतं भटानां पितृपुत्रादीनां च यो वधः तत्कृतम् । तज्जनितम् । वध्याः प्रियवचनार्थप्रदानादिभिरपनेष्यासि । शास्त्राभिज्ञाः शास्त्रार्थकुशलाः ते तत्र सदसि सभायां सग्रीविं क्रियासुः सग्रीहिता भवन्त्वत्यर्थः । सुरैर्मुनिभिरश्च गते सोविते वर्तमनि मार्गे प्राज्यधर्मे भूरिपुण्ये संरसीष्टाः रंखासे । द्विषां शत्रूणाम् ईहितानि चेष्टितानि सुनयनयनैः शोभना ये नयाः तैरेव नयनैश्चक्षुर्भिरिवावस्थितैः समुत्सीष्टाः जानीथाः ज्ञास्यासि । ‘बुध अवगमने’ एकाचो बशो भर्षै ॥ ३० ॥

इति जयदेवाद्यपरपर्याय-श्रीजयमङ्गलसूरीविरचितया श्रीजयमङ्गला-
र्घया व्याख्यया समलङ्घकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये
चतुर्थे तिडन्तकाण्डे लक्षणरूपे पष्ठः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे
कथानके ‘विभीषणाभिषेको’ नाम एकोनविंशति-
तमः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लोटमधिकृत्य तद्विलसितमाह—तत्र ‘लोट् च’ इति वचना-
द्विध्यादिष्येषु लोट् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

समुपेत्य ततः सीतामुक्तदान् पवनात्मजः ।

दिष्ट्या वर्धस्व वैदेहि हतस्त्रैलोक्यकण्टकः ॥ १ ॥

समुपेत्येत्यादि—ततोऽनन्तरं पवनात्मजः रामाङ्गया सीतां समुपेत्य
समुपागम्योक्तवान् । हे वैदेहि ! रावणक्षैलोक्यस्य प्रतोदकत्वात् कण्टको
हतस्तेन दिष्ट्या प्रियवचनेन वर्धस्व वियोगतो वर्त्स्यसीति । निम-
न्त्रणे लोट् ॥ १ ॥

अनुजानीहि हन्यन्तां मर्यैताः क्षुद्रमानसाः ।

रक्षिकास्तव राक्षस्यो गृहाणैतासु मत्सरम् ॥ २ ॥

^१ अत्र मन्दाक्रान्ता छन्दः ‘मो भ्रौ तौ गौ मन्दाक्रान्ता धौः’ इति चतुर्वेदी-
उत्तुशासनोक्ते ।

अनुज्ञानीहीत्यादि—अनुज्ञानीहि अनुज्ञां प्रयच्छ । प्रार्थनायां लोट् । येन
मयैता राक्षस्यत्वं रक्षिकाः क्षुद्रमानसाः पापाशयाः हन्यन्तां विनाशयन्ताम् ।
अत्र विधौ कर्मणि लोट् । तस्मादेतासु मत्सरं गृहाण जनय । प्रार्थनायां लोट् ।
येन गृहीतक्रोधा मामनुज्ञास्यसि ॥ २ ॥

दृणहानि दुराचारा घोररूपाशयक्रियाः ।

हिंसा भवतु ते बुद्धिरेतासु कुरु निष्ठुरम् ॥ ३ ॥

दृणहानीत्यादि—एता दुराचाराः घोररूपाशयक्रियाः कूराणि आकाशा-
भिप्रायानुष्टानानि यासां तास्तृणहानि हनिष्यामि । तदेतासु हिंसा
हिसनशीला तव बुद्धिर्भवतु । निष्ठुरं च नैष्ठुर्यं कुरु । भावप्रधानो
निर्देशः ॥ ३ ॥

पश्चिमं करवामैवत् प्रियं देवि वर्य तव ।

ततः प्रोक्तवती सीता वानरं करुणाशया ॥ ४ ॥

पश्चिमस्मित्यादि—हे देवि ! किमत्र विचारितेन तव पश्चिममन्त्यं प्रियम्
एतद्वयं करवाम करिष्यानः । ‘अस्मदो द्वयोश्च ।१२।५९’ इतेकत्वे बहु-
बचनम् । ततोऽनन्तरं सीता करुणाशया सर्वी वानरं प्रोक्तवती ॥ ४ ॥

उपशास्यतु ते बुद्धिः पिण्डनिर्वेशकारिषु ।

लघुसत्त्वेषु दोषोऽयं यत्कृतो निहतोऽसक्तौ ॥ ५ ॥

उपेत्यादि—लघुसत्त्वेषु श्रीजनेषु पिण्डनिर्वेशकारिषु पिष्ठस्य ग्रासस्य
निष्क्रयः तत्कारिषु ते बुद्धिरूपशास्यतु सकरुणा भवतु । सर्वत्र विद्यौ
कार्द्र । किंमिति चेत् यत्कृतो यज्ञनितोऽयं दोषः ममैतामिः कृतः । असकौ
असौ रावणो निहतो व्यापादितः । कुत्सायाम् ‘अव्ययसर्वनाम्रामकच् प्राक्
देः ।५।३।७।१’ इति अकच् ॥ ५ ॥

नहि प्रेष्यवधं घोरं करवाण्यस्तु ते मतिः ।

एषि कार्यकरस्वं मे गत्वा प्रवद राघवम् ॥ ६ ॥

नहीत्यादि—अन्यद्व नहि नैव घोरं प्रेष्यवधं करवाणि करिष्यामीतीत्यम्
मतिस्त्वाप्यस्तु । ‘आशिषि लिङ्गलोटौ ।३।३।१७।३’ इति लोट् । अतस्त्वं
कार्यकरः कार्यकरणे अनुकूलः । आनुलोम्ये टः । एषि भव । ‘असोरङ्गोपः
।६।४।१।१।१’ । ‘ब्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च ।६।४।१।१।१’ एत्वस्य समानाश्रयत्वाद-

३ करुणः करुणापूर्ण आशयो यस्याः सा । ‘ब्वभिग्रायश्चन्द्र आशयः’ इत्यमरः ।

सिद्धत्वे 'हुश्लभ्यो हेर्विः । ६ । ४ । १०१ ।' कार्यमाह । गत्वा प्रवद राघवं
ममादेशाद् ब्रूहि ॥ ६ ॥

किं मया वक्तव्यमिति चेत्तदाह—

दिव्यकुर्मैथिली राम पश्यतु त्वाऽविलम्बितम् ।

तथेति स प्रतिज्ञाय गत्वा राघवमुक्तवान् ॥ ७ ॥

दिव्यकुर्मित्यादि—हे राम ! द्रष्टुमिच्छुमैथिली सीता अविलम्बितं द्रुतं
त्वा त्वां पश्यतु । सर्वत्र प्रार्थनायां लोट । स पवनात्मजो हनुमान्
प्रतिज्ञाय यथाज्ञापयसीति तथेति स्वीकृत्य गत्वा राघवमुक्तवान् ॥ ७ ॥

किमित्याह—

उत्सुकाऽनीयतां देवीं काकुत्थकुलनन्दन ।

क्षमां लिखित्वा विनिश्चस्य स्वरालोक्य विभीषणम् ॥ ८ ॥

उत्सुकेत्यादि—हे काकुत्थकुलनन्दन ! उत्सुका देवी आनीयतामिति ।
प्रार्थनायां कर्मणि लोट । एवमुक्ते रावणवधे महति प्रयासे कृतेऽपि जनवाद-
भयात् न तया सह मया वासः कार्य इत्यभिप्रायेण । राघवः क्षमामङ्गुष्ठेन
लिखित्वा विनिश्चस्य स्वरालोक्य आकाशं दृष्ट्वा । स्वरित्यव्ययम् । विभी-
षणमुक्तवानिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तवान् राघवः सीतामानयालङ्कृतामिति ।

गत्वा प्रणम्य तेनोऽन्ता मैथिलीं मधुरं वचः ॥ ९ ॥

उक्तवानित्यादि—सीतामलंकृतामानयेति राघवो राम उक्तवान् । विधौ
लाद । इत्येवं रामेणाज्ञायां दृत्यायां तेन विभीषणेन गत्वा सीतासमीपं
प्राप्ये प्रणम्य तां मैथिलीं पुनः प्रणिपत्य च मैथिल्युक्ता मधुरं वचः ॥ ९ ॥

जहीहि शोकं वैदेहि प्रीतये वैह मानसम् ।

रावणे जहीहि द्वेषं जहीहि प्रमदावनम् ॥ १० ॥

जहीहीत्यादि—शोकं पतिवियोगजं जहीहि परित्यज । जहातेश्च । ६।४।
११६।' इत्यन्यतरस्यामित्वमीत्वं च 'आ च है । ६।४।११७।' इत्याकार इति
ख्यस्त्रयम् । प्रीतये प्रीत्यर्थं शरीरप्रसाधनद्वारा स्वप्रसादनायेत्यर्थः । पुनर्मानसं
वित्तम् वैह घटयस्व 'व्यसोरेद्वावभ्यासलोक्य । ६।४।११९।' रावणे
राघवविषये द्वेषं 'जहीहि' तस्य विनाश्तवात् 'मरणान्तानि वैराणि' इति हि

१ 'भूतलम्' 'क्षमाऽवनिमेंद्रियी मही' हस्तयमरः ।

स्थितिः, प्रमदावनम् अशोकवनिकां जहाहि । पत्युरन्तिकं याहीत्यर्थः ।
सर्वत्र विधौ लोट ॥ १० ॥

अथ युग्मकम् ।

स्नाहाबुलिम्प शूणय निवस्स्वाविष्य च स्नजम् ।

रत्नान्यामुच्च संदीप्ते हरिर्जुहुषि पावके ॥ ११ ॥

अद्भुतं पञ्चगव्यं च छिन्निं प्रंरोधजं तमः ।

आरोह शिविकां हैर्मीं द्विषां जहि मनोरथान् ॥ १२ ॥

स्नाहीत्यादि—स्नाहि स्नानं कुरु । ततः कायशुद्धयर्थं सदनुपहतं पञ्च-
गव्यमद्भुतं भक्षय । ‘हुङ्गलभ्यो हेऽधिः ।६।४।१०१’ गोरेतनिं गव्यानि ।
सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् । पञ्च गव्यानि समाहृतानीति पात्रादि-
दर्शनान्न डीप् । ततः पवित्रीकृतकाया, सन्दीप्ते पावकेऽपौ हरिर्जृतं
जुड्जधि । ततः स्वामिनं रामं गन्तुमतुष्टिदेवकार्यां सती त्वमालिम्पः । चन्दना-
दिना शरीरं समालभस्व । ततो निवस्स्व आच्छादय । ‘वस आच्छादने’
अदादित्वाच्छपो लुक् । घातुसकारस्य परगमनम् । ततो धूपाय धूपि-
कमात्मानं कुरु । धूपेग्यप्रत्ययः । आविष्य च स्नजं मालां शिरस्याद्धिप ।
‘व्यधं ताडने’ इयनि ‘ग्रहिज्यावयिव्याधिवष्टिविचित्रिवृश्चतिपृच्छति-
भृज्जतीनां डिति च ।६।१।१६’ इति सम्प्रसारणम् । रत्नान्यामुच्च विन्यस्ये-
त्ययमर्थवशान् क्रियाक्रमो द्रष्टव्यः । यथा देवदत्तं भोजय स्नापय उद्धर्त-
येति । किं च संरोधजम् अस्वतन्त्रीकरणं तमः शोकं छिन्निं अपनय ।
हैर्मीं शिविकां सौवर्णयानमारोह अवितिष्ठ । सर्वत्र भर्तुर्नियोगकरणे लोट ।
तामारुढा द्विषां मनोरथान् हृदये स्थितानभिप्रायान् जहि नाशय । हैर्मीं
परतो ‘हन्तेजः ।६।४।३६’ ॥ ११ ॥ १२ ॥

तृणेदु त्वद्वियोगोत्थां राजन्यानां पतिः शुचम् ।

भवतादाधियुक्ता त्वमत ऊर्ध्वं स्वर्वेशमनि ॥ १३ ॥

तृणेद्वित्यादि—गतात्यां त्वयि राजन्यानां शशियाणां पती रामः शुचं
शोकं त्वद्वियोगोत्थां त्वद्वियोगप्रभवाम् । ‘सुपि स्थः । ३।२।४’ इति कः ।
‘उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ।८।४।६१’ इति पूर्वसर्वणः । तृणेदु हिनस्तु । अतः

१ शोकस्यापि तमोरुपत्वादिदं कश्चनयोक्तम् ‘रहौ ज्वान्ते गुणे तमः ।’ इत्यमरणः

अस्मात्कालादूर्ध्वं कालं स्ववेशमनि अयोध्यायाम् अधियुक्ता त्वं भवतात् भूयाः
‘तु होस्तातड्डाशिष्यन्तरस्याम् ।३।१।३५।’ इति तातड्ड ॥ १३ ॥

दीक्षस्व सह रामेण त्वरितं तुरगाध्वरे ।

दृश्यस्व पत्या प्रीतेन प्रत्या प्रेक्षस्व राघवम् ॥ १४ ॥

दीक्षस्वेत्यादि—तुरगाध्वरे तुरगसाध्येऽध्वरे । शाकपार्थिवादित्वान्म-
च्छमपदलोपः । अश्वमेधं रामेण सह त्वरितं शीर्जिं दीक्षिता भूयाः
भव । आशिषि ‘अशिषि लिङ्गलोटौ ।३।३।१७३।’ इति लोट । प्रीतेन पत्या
दृश्यस्व दृष्टो भव । इह कर्मणि लोट । प्रीता च सती राघवं रामं त्वं
प्रेक्षस्व पश्य इहाप्याशिषि लोट ॥ १४ ॥

अर्यं नियोगः पत्युस्ते कार्या नात्र विचारणा ।

भूषयाऽङ्गं प्रमाणं चेद्रामं गन्तुं यतस्व च ॥ १५ ॥

अयमित्यादि—तव पत्युः रामस्यायं नियोगः आहा यत्कृतः स्नानादि-
व्यापारः । अत्रास्मिन्ननुष्ठेये वस्तुनि विचारणा न कार्या किमेवं न वैति ।
संशयो न विधेयः । एतत्प्रमाणं चेत् भूषयाऽङ्गं स्नानादिपूर्वकमवयवमलङ्कुरु ।
रामं गन्तुं यतस्व चेष्टस्व ॥ १५ ॥

मुदा संयुहि काकुत्स्थं स्वयं चाप्नुहि सम्मदम् ।

दुर्योद्धर्वं मुहूर्तात्त्वं देवि राघवसन्निधिम् ॥ १६ ॥

मुदेत्यादि—गत्वा च काकुत्स्थं मुदा हर्षेण संयुहि मिश्रय । ‘युमिश्रणासि-
अण्योः’ तत्र गमनेन स्वयं च संमैदं हर्षं प्राप्नुहि ‘प्रमदसंमदौ हर्षे ।३।३।०-
६८।’ सर्वत्र प्रार्थनायां लोट । हे देवि ! अस्मान्मुहूर्तादूर्ध्वं राघवस-
न्निधिम् । राघवः सन्निधियते यस्मिन् प्रदेशे इति ‘कर्मण्यधिकरणे च ।३।३।-
९३।’ इति किप्रत्ययः । तं त्वमुपेहि गच्छ ॥ १६ ॥

ज्ञाधर्वं मुहूर्ताद्वोऽङ्गं स्वामिनी स्म भव क्षितेः ।

राजपलीनियोगस्थमनुशाधि पुरीजनम् ॥ १७ ॥

कर्जिभित्यादि—तथा अहः मुहूर्तादूर्ध्वं क्षितेः स्वामिनी भव स्म । अङ्गेति
सम्बोधनपदम् । अत्र ‘त्वे लोट ।३।३।१६५।’ इत्यनेन प्रैषे लोट । तत्र हि
‘प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च । ३ । ३ । १६३ ।’ इति ‘और्ध्वमौहूर्तिके’

१ निजप्रासाद इति भावः । २ ‘अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः’ दृस्यमर्तः ।
३ ‘प्रमोदमोद्दसगमदा’ दृस्यमर्तः ।

इति च वर्तते । प्राप्तकालतायां लोट् । रघुवसन्निर्विं गन्तु क्षितेः स्वौ-
भिन्नी भवितुं प्राप्तकाला देवी । अन्यथा कालादिक्रमे मयि विरचेति रामो
विरज्यते । अन्यज्ञ इयमस्माकमाशंसा । त्वं राजपत्रीनियोगस्थं महादे-
व्याहाकरणतत्परं पुरीस्थमयोध्यावस्थितं जनम् अनुशासि विघ्नेयीकुरु ।
‘आशिषि लिङ्गलोटौ । ३ । ३ । ११३ ।’ इति आशिषि लोट् । ‘शा है
। ६ । ४ । ३५ ।’ इति शादेशः । तस्य समानाश्रयत्वादसिद्धत्वे ‘हुशलभ्यो
हेविः । ६।४।१०१ ।’ ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठस्व मते पत्युर्यतस्वालङ्कृतौ दयाः ।

प्रतिष्ठस्व च तं द्रष्टु द्रष्टव्यं त्वं महीपतिम् ॥ १८ ॥

उत्तिष्ठस्वेत्यादि—तत्सत्प्रार्थयेऽहं पत्युर्मते अभिप्राये मत्समीपमागन्त-
व्यमिति उत्तिष्ठस्व तदर्थं घटस्व । ‘उद्गोऽनूरुद्वर्कमणि । १ । ३ । २४ ।’
इति तड् । तथा अलङ्कृतौ अलङ्कृतणे यतस्व यत्नं कुरु । लज्जया कदा-
चिन्नोत्सहेतेति पुनःपुनरभिधानम् अविरुद्धम् । यथा स्नाहीत्यादि भूषया-
ङ्गमिति मन्यते तेन वारदद्यमुक्तमेवम् अलङ्कृत्य त्वं महीपतिं द्रष्टव्यं दर्श-
नाहेम् । ‘अहें कृत्यतृचश्च । ३ । ३ । १६९ ।’ इति अवश्यद्रष्टुव्ये वा
आवश्यके ‘कृत्याश्च । ३ । ३ । १७१ ।’ इति संद्रवुं प्रतिष्ठस्व गच्छ ।
प्रार्थनायां लोट् । ‘समवप्रविभ्यः स्थः । १।३।२२ ।’ इति तड् ॥ १८ ॥

अनुष्टाय यथादिष्टं नियोगं जनकात्मजा ।

समारूढवती यानं पट्टांशुकवृतानना ॥ १९ ॥

अनुष्टायेत्यादि—शोकत्रयम् एवमुक्ता भर्तुर्यथोदिष्टं नियोगं स्नानादिकस-
मुष्टाय कृत्वा जनकात्मजा मां कश्चिन्मात्राक्षीदिति पट्टांशुकवृतानना यत्नं
शिविकामारूढवतीं पत्युरन्तिकं च गत्वा यानादवतीर्थ्यथात् ॥ १९ ॥

लज्जानता विसंयोगदुःखसमरणविहला ।

सास्त्रा गत्वान्तिकं पत्युर्दीना रुदितवत्यसौ ॥ २० ॥

लज्जानवेत्यादि—लज्जया आनता अधोमुखी विसंयोगदुःखस्य पूर्वानुभूतस्य
स्मरणेन विहला शोकाकुला सास्त्रा अशुशृणनयना दीना सा पत्युरन्तिकं
रामस्य समीपं गत्वा सीता रुदितवती दुःखं प्रकटितवती ॥ २० ॥

^१ स्वमस्था अस्तीति तथोक्ता, अधिष्ठानीत्यर्थः। स्वामिक्षैश्वर्ये । ५ । २ । १२६ ।
इति साधुः ।

प्राप्तचारित्यसन्देहस्ततस्तामुक्तवान् नृपः ।

इच्छा मे नाददे सीति त्वामहं गम्यतामतः ॥ २१ ॥

प्राप्तेत्यादि—ततोऽनन्तरं नृपो रामः ‘रावणः किमस्यां स्खण्डितचारित्य-
शीलो न वा’ इति प्राप्तचारित्यसन्देहस्तामुक्तवान् । किमित्याह—हे सीते !
मे ममेयमिच्छा यत्त्वामहं नाददे न गृहामि । ‘इच्छार्थेषु लिङ्गोटौ
। ३ । ३ । १५७ ।’ इति लोदू । अतोऽनिच्छातः कारणाद्यथेषु गम्य-
वाम् ॥ २१ ॥

किमिति नेच्छाति चेदाह—

रावणाङ्गपरिश्लिष्टा त्वं हलेखकरी मम ।

मर्ति बधान सुग्रीवे राक्षसेन्द्रं गृहाण वा ॥ २२ ॥

रावणेत्यादि—रावणाङ्गपरिश्लिष्टा हरणसमये रावणोत्सङ्गे स्थिता सती
परिश्लिष्टा परिमुदितवती त्वं मम हलेखकरी चेतःषीडनशीला । ‘कृष्णो
हेतुताच्छिल्यानुलोम्येषु । ३ । २ । २० ।’ इति ठः । ‘हृदयस्य हलेखस्यदण्ण-
लासेषु । ६ । ३ । ५० ।’ इति हृदादेशः । कमहं शरणं यास्यामीति
चेदाह—सुग्रीवे मर्ति बधान ब्रह्मियाः उत्पादय, राक्षसेन्द्रं विभीषणं वा
अनुगृहाण स्वीकुरु ॥ २२ ॥

अशान भरताद् भोगान् लक्ष्मणं प्रवृणीष्व वा ।

कामाद् वा’ याहि मुच्यन्तामाशा रामनिबन्धनाः ॥ २३ ॥

अशानेत्यादि—भरताद्वा भोगानशान भुद्धश्व । सर्वत्र ‘हलः अः
शानज्ञौ । ३ । १ । ८३ ।’ इति शानच् । लक्ष्मणं प्रवृणीष्व वा अङ्गी-
कुरु । ‘वृच् वरणे’ इत्यस्य रूपम् । ‘प्वादीनां हस्वः । ७ । ३ । ८० ।’
त्वेच्छया वा याहि भवेत्यै यत्र रोचते तत्र गम्यताम् । रामनिबन्धनाः पुनः
रपि रामो मे पतिर्भूयादित्याशाः मुच्यन्तां त्यज्यन्ताम् ॥ २३ ॥

किमिति चेदाह—

कं च रुद्यातो रघोर्वशः कं त्वं परगृहोषिता ।

‘अन्यस्मै हृदयं देहि नाऽनभीष्टे घटामहै ॥ २४ ॥

कं चेत्यादि—परिशुद्धत्वात्सर्वत्र रुद्यातः लोके विदितो रघोर्वशः कं ।
कं च त्वं परगृहोषिता जातकलङ्कत्वात् । द्रुयमयेतहूरं भिन्नम् । सर्वत्र

६ ‘रुद्यर्थानां प्रीयमाणः । १४।३३’ इति चतुर्थी ।

विवौ घटधातौ लोट् । अतोऽन्यस्मै हृदयं देहि चित्तं परस्मै देहि परामिन्
यस्मिन् कर्सिमश्रिदभिमतेऽनुरक्ता भवेति भावः । वयम् अनीमते विषवे च
घटामहे । निमन्त्रणे लोट् ॥ २४ ॥

यथेष्टं चर वैदेहि ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।

कामास्तेऽन्यश्च तायन्तां विशङ्कां त्यज मद्भ्रताम् ॥ २५ ॥

यथेष्टमित्यादि—यथेष्टं चर यथेष्टचारिणी भव । अत्र विवौ लोट् । तत्र-
च यथेष्टं चरन्त्यास्तव पन्थानो मार्गाः शिवाः निर्विद्वाः सन्तु भूयासुः । अत्र
आशिषि लोट् । किं च कामा अभिलाषात्तवान्यत्र तायन्तां स्फीता भवन्तु ।
अत्राप्याशिषि लोट् । यथेष्टचारित्वात्किर्मर्थे करिष्यतीति मद्भ्रतां विशङ्कां भवं-
त्यज त्यक्ष्यसि । अत्र विवौ लोट् ॥ २५ ॥

ततः प्रगदिता वाक्यं मैथिलाभिजना नृपम् ।

स्त्रीसामान्येन सम्भूता शङ्का मयि विमुच्यताम् ॥ २६ ॥

सत इत्यादि—सतस्तद्वचनानन्तरं पातिवचनोचरमित्यर्थः मैथिलाभिजना-
मैथिलवंशोऽव्वा सीता नृपं वाक्यं प्रगदिता गदितुं प्रवृत्ता । ‘आदिकर्मणि कः
कर्त्तरिच । ३ । ४ । ७१ ।’ इत्यारम्भे योले कः । स्त्रीसामान्येन स्त्रीति कृत्वा-
या तव मयि शङ्का इयं सती न वेति सा विमुच्यताम् । मिथ्यात्वान् । अत्र
प्रार्थनायां लोट् ॥ २६ ॥

दैवाद्विभीहि काकुत्स्थं जिह्वाहि त्वं तथा जनात् ।

मिथ्या मामभिसङ्कुट्यन्नवशां शत्रुणा हृताम् ॥ २७ ॥

दैवादित्यादि—अन्यच्च हे काकुत्स्थं राम् ! अवशां पराधीनां शत्रुणा
हृताम् । मिथ्या अभिसङ्कुट्यन् अलीकेन । ‘कुट्य-दुहोरपसूष्योः कर्म । १ ।
४ । ३८ ।’ इति कर्मसंज्ञा । दैवात् अनिष्टफलात् विभीहि भीतो भव । हेर-
पित्वात्कित्वे गुणो न भवति । इतश्च जनादिमं जनं वीक्ष्य जिह्वाहि लज्जस्वः
‘त्यब्लौपे कर्मण्यधिकरणे च’ इति पञ्चमी । विवौ लोट् ॥ २७ ॥

त्वय्यसंकान्तायां मम कीदृशं भयं लज्जा चेति चेचदाह—

चेतस्त्वयि वृत्तिर्में शरीरं रक्षसा हृतम् ।

विदांकुर्वन्तु सम्यच्छो देवाः सत्यमिदं वचः ॥ २८ ॥

१ ‘लोट् च’ ३।३।१६२’ इति शास्त्रेण । २ मैथिलोऽभिजनः कुलं यस्याः । ‘सांकुडे-
इत्यभिजनो जन्मभूयामपि’ इत्यमरः । ३ न वशः हृच्छा, स्वामिश्रायानुकूल
प्रवृत्तिर्थस्याः सा । ‘वशः कान्तो’ इत्यमरः ।

चेदस इत्यादि—मे मम सीतायाश्रेतसो वृत्तिरात्मव्यापारः त्वयि भर्त्तरि
तिष्ठति अनन्यमनस्कत्वात् । रक्षसा रावणेन हताया मम न सर्वै हतम् अपि तु
शरीरमेकं हतम् । नैवेदं भिष्या । तथाहि हे महाभूताधिष्ठानाः सम्यच्चः सर्वत्र
चर्तमानाः अच्चन्तीति किं । अच्चतावप्रत्यये ‘समः समि । ६ । ३ । ९३ ।’
इति सम्यादेशः । एते मदार्थिताः मम वचः सत्यं विदांकुर्वन्तु अवगच्छन्तु ।
ज्ञानन्तु । अत्र प्रार्थनायां लोट् । विदांकुर्वन्त्वति निपातनम् ॥ २८ ॥

प्रत्येकं प्रार्थनामाह—

त्वं पुनीहि पुनीहीति पुनन् वायो जगत्रयम् ।
चरन् देहेषु भूतानां विद्धि मे बुद्धिविष्ववम् ॥ २९ ॥

त्वं पुनीहीत्यादि—हे वायो ! पुनीहि पुनीहीति जगत्रयं त्रिलोकां पुनः
पुनः पुनामि शृशं वा पुनामीत्यभिप्रायः । त्वं जगत्रयं पुनन् भूतानां
देहेषु चरन् मम बुद्धिविष्वं बुद्धेत्यथात्वं विद्धि अवगच्छ । अत्र प्रार्थनायां
लोट् । पूर्वत्र ‘क्रियासमभिहारे लोट् लेटो स्वौ वाहि च तत्त्वमोः । ३।४। २।’
इति लोट् । तस्य परस्मैपदसम्बन्धी हिरादेशः । क्रियासमभिहारे द्विर्वचनम् ।
‘पुनश्चिति यथाविष्यनुप्रयोगः । पूर्वस्मिन्नित्यनेन पुनातेरनुप्रयोगः । तत्र हि
ष्क्रियासमुच्चयाभावात् ॥ २९ ॥

खमट द्यामटाटोर्वीमित्यटन्त्योऽतिपावनाः ।

यूथमापो विजानीत मनोवृत्तिं शुभां मम ॥ ३० ॥

खमित्यादि—यूथमापोऽतिपावनाः अतिपवित्राः खमट द्यामट उर्वीमट
इति वयमन्तरिक्षमटाम देवलोकमटाम भूलोकमटाम इत्येवमभिप्रायः । सर्वे
त्राटन्त्यो मम शुभां चित्तवृत्तिं विजानीतेर्ति । अत्र प्रार्थनायां लोट् । पूर्वत्र
शु आकाशादिकोरकमेदात् अनेकाटनाक्रियासमुच्चयः । ततश्च ‘समुच्चयेऽन्य-
त्वरस्याम् । ३ । ४ । २ ।’ इति लोट् । अटेति समुच्चये सामान्यवचनस्येत्यनु-
प्रयोगः । आकाशाद्युपगामिनीनामटनक्रियायाः सामान्याया अनुप्रयो-
गात् ॥ ३० ॥

जगन्ति धत्स्व धत्स्वेति दधती त्वं वसुन्धरे ।

अवेहि मम चारित्रं नक्तंदिवमविच्युतय् ॥ ३१ ॥

ज्ञागन्तोत्यादि—त्वं वसुन्धरे ! धत्स्व धत्स्वेति अहं पुनः पुनर्दधे शृशं
वा धध इति एवमभिप्राया जगन्ति दधती मम चारित्रं नक्तंदिवमविच्युत

अस्त्रलितमवेहि जानीहि । अत्र प्रार्थनायां लोट । पूर्वत्र क्रियासमभिहारे तस्य
चात्मनेपदसम्बन्धिनः स्वादेशः ॥ ३१ ॥

रसान् संहर दीप्यस्व ध्वान्तं जाहि नभो भ्रम ।

इतीहमानस्तिगमांशो वृत्तं ज्ञातुं घटस्व मे ॥ ३२ ॥

रसानित्यादि—हे तिगमांशो ! त्वमपि अहं रसान् भौमान् संहर संहरा-
सीति । दीप्यस्व दीप्ये । ध्वान्तं जाहि हन्मि । नमो भ्रम भ्रमासीत्येवमभिप्रायः । ईहमानः जगत्यर्थक्रियासु चेष्टमानः । मम वृत्तं चारित्रं ज्ञातुं घटस्व
यतस्व । अत्र प्रार्थनायां लोट । पूर्वत्र ‘समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ३ ॥’
इति तस्य च यथायोगं हिस्वादेशः । ईहमान इति ‘समुच्चये सामान्यवचन-
वचनस्य ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥’ इत्यनुप्रयोगः । संहरेत्यादीनामीहतेः सामान्यवचन-
प्रयोगात् ॥ ३२ ॥

स्वर्गे विद्यस्व भुव्यास्व भुजङ्गनिलये भव ।

एवं वंसद् ममाकाश संबुद्ध्यस्व कृताकृतम् ॥ ३३ ॥

स्वर्ग इत्यादि—त्वं चाकाश ! स्वर्गे विद्यस्व अहं विद्ये । सुवि आत्म
आसे । भुजङ्गनिलये पाताले भव भवासीत्येवमभिप्रायः सर्वत्र वसद् विष्णुन्
मम कृताकृतं युक्तायुक्तं बुद्ध्यस्व अवगच्छ । अत्र प्रार्थनायां लोट ।
पूर्वत्र ‘समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ३ ॥’ इति तस्य च यथा-
योगं हिस्वादेशः । वसन्निति ‘समुच्चये सामान्यवचनस्य
॥ ४ ॥ ५ ॥’ इत्यनुप्रयोगः । विद्यमानादीनां वसतः सामान्यवचन-
स्यानुप्रयोगात् ॥ ३३ ॥

एवं पृथिव्यादीनि महाभूतानि कथायित्वा लक्षणमाह—

चितां कुरु च सौभित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम् ।

रामसुष्यतु मे वाद्य पापां मुण्णातु वानलः ॥ ३४ ॥

चितामित्यादि—हे सौभित्रे ! व्यसनस्यास्य मिथ्यादूषणस्य भेषजं प्रति-
क्रियां चितां कुरु । अत्र विवौ लोट । मम अप्नौ विशुद्धाया रामो
नियोगतसुष्यतु । अनलो वा मां पापां वियोगतः प्लुण्णातु दहतु । दहन्
मर्त्यलोकान्मोचयत्वित्यर्थः । ‘लोट च ३ ॥ ३ ॥ १६२ ॥’ इति निमन्त्रणे
लोट । ‘लुष मुष स्नेहनमोचनपूरणेषु’ इति ऋयादि:, मोचने द्रष्टव्यः
अनेकार्थत्वादाहे ॥ ३४ ॥

१ ‘नमोऽन्तरिक्षं गगनम् ।’ इत्यमरः ।

राघवस्य मतेनाथ लक्ष्मणेनाचितां चिताम् ।

द्वाष्ठा प्रदक्षिणीकृत्य रामं प्रगदिता वचः ॥ ३५ ॥

राघवस्येत्यादि—अथ राघवस्य मतेनानुज्ञातेन ‘क्तस्य च वर्तमाने । ३।३।६७।’ इति षष्ठी । ‘भवित्वुद्धिपूजाऽर्थेभ्यश्च । ३।२। १८८।’ इति वर्तमाने कः । तस्य वा मतेनानुज्ञया चितामाचितां रचितां द्वाष्ठा प्रदक्षिणी-कृत्य सीता रामं प्रगदिता वचो गर्दितुं प्रवृत्ता ॥ ३५ ॥

प्रवपाणि वपुर्वहौ रामाहं शङ्खिता त्वया ।

सर्वे विदन्तु शृण्वन्वतु भवन्तः सप्तवङ्गमाः ॥ ३६ ॥

प्रवपाणीत्यादि—येऽत्र सन्निहिता देवाद्यः ते सर्वे सप्तवङ्गमा वानरैः सह भवन्तः विदन्तु चेतसा जानन्तु । शृण्वन्तु श्रोत्रविषयीकुर्वन्तु मद्वचनम् । हे राम ! त्वया दुष्टेति शङ्खिता अहं वहौ वपुः शरीरं प्रव-पाणि नियोगतः प्रक्षिपाणि । ‘लोट् च । ३।१६२।’ इति निमन्त्रणे लोट् । ‘आनि लोट् । ३।४।१६।’ इति णत्वम् ॥ ३६ ॥

मां दुश्टं ज्वलितवपुः प्लुषाण वहै संरक्ष क्षतमलिनां सुहृद्यथा वा ।

एषाहं क्रतुषु वसोर्यथाज्यधारा त्वां प्राप्ता विधिवदुदीर्णदीस्मिमालम् ॥ ३७ ॥

इति महावैयाकरणश्रीभट्टिप्रणतिे रामचरिते तिडन्त-काण्डे लोटप्रदर्शनो नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

मामित्यादि—हे वहै ! यद्यहं दुष्टा तदा ज्वलितवपुः ज्वलितशरीरः सन् । मित्त्वाभावपक्षे रूपम् । प्लुषाण देहं मर्त्यलोकात् मोचय । यथा वा क्षत-मलिनां विशुद्धां सुहृदिव संरक्ष वा । आमन्त्रणे कामचारकरणे लोट् । एषाहं त्वां विधिवत् शास्त्रानुसारं सन्यक् प्राप्ता क्रतुषु वसोः राज्ञः आज्यधारेव । चीर्णदीस्मिमालम् उद्भवत्ज्वालासमूहं त्वांमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीजटेश्वरापरामीघेय—श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गला-स्यया व्याख्यया समलंकृते श्रीभट्टिप्रणतिे रामचरिते काव्ये चतुर्थे तिडन्त-काण्डे लक्षण-रूपे सप्तमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके ‘सीताप्रत्याख्यानं’ नाम विंशतितमः सर्गश्च ॥ २० ॥

^१ ‘प्रहर्षिणी’वृत्तम् ‘श्रौ ज्ञौ गम्भिदश्यतिः प्रहर्षिणीयम्’ इति वृत्तरत्नाकरोक्ते ।

एकविंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लृष्टमविकृत्य विलसितमाह—तत्र लिङ्गनिमित्ते लङ्घ क्रियातिपचौ भविष्यति भूते च । हेतुहेतुमतोऽर्लिङ्गित्येवमादिकं लिङ्गो निमित्तं क्रियातिपत्तिश्च । कुतश्चिद्द्वयुप्यात् क्रियाया अनिष्टाच्चिः । क्रियातिष्ठच्चिः । वैगुण्डं च विष्वरप्रत्ययोपनिपातात् सामग्र्यभावाच्च द्रष्टव्यम् ।

समुत्क्षिप्य ततो वद्धिर्मैथिलीं राममुक्तवान् ।

काकुत्थ दयितां साध्वीं त्वमाशङ्किष्यथाः कथम् ॥ ३ ॥

समुत्क्षिप्यत्यादि—ततोऽनन्तरं मैथिलीं समुत्क्षिप्य हस्ताभ्यामाकाशे वृत्त्वा वद्धिदेहवान् राममुक्तवान् । हे काकुत्थ ! साध्वीं पवित्रतामपि दयिताम् असाध्वीति त्वं यदाशङ्किष्यथाः शङ्कितवानासि तत्कथं गर्हितमेतन् न युक्तमाशङ्कितमित्यर्थः । ‘विमाषाकथमि लिङ्गं च । ३।३।१४३ ।’ इति । अत्र कथंशब्दो गर्हयां च लिङ्गो निमित्तम् । यतस्तत्र गर्हयामित्यनुवर्तते । तासिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपचौ लङ्घ भविष्यतीत्यांधिक्रियते । अत्रासामुत्क्रियायाः तद्विष्वद्वायुत्वामियोगोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते ॥ १ ॥

तदेव साधुत्वं दर्शयति—

नाभविष्यदियं शुद्धा यद्यपास्यमहं ततः ।

न चैनां यक्षपातो मे धर्माद्वन्यत्र राघव ॥ २ ॥

नेत्यादि—यद्यहमेनां नैवापास्यं नैव रक्षितवान् ततोऽरक्षणादियं शुद्धा नाभविष्यत, न भूता । येनैव मया रक्षिता चेनैवेचं शुद्धेति भोवः । ‘हेतुहेतुमतोऽलङ्घ । ३।३।१५६ ।’ इत्यतः हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपचौ सत्यां भूते नित्यं लङ्घ । तत्र ‘वोताप्योः । ३।३।१४१ ।’ इति विकल्पेनाधिक्रियते । अत्रापालनोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । तदतिपाताद्वेतुमतोऽपि पक्षपातात् त्वयैवमाचरितमिति चेदाह । हे राघव ! धर्माद्वन्यत्र अघर्मे न मे पक्षपातोऽनुरागः ॥ २ ॥

इदानीं सीतारावणयोर्थेष्टितमासीत् तत्वानेनावधार्ये प्रकाशयन्नाह—

अपि तत्रिपुः सीतां नार्थयिष्यत दुर्मतिः ।

क्वरं जात्ववदिष्यच्च जात्वस्तोष्यच्छ्रूयं स्वकाम् ॥ ३ ॥

अपीत्यादि—तत्ररिपुः स भवान् रिपुः स रावणः । भवच्छब्दोऽर्था-
द्रम्येत्, तेन ‘इतराभ्योऽपि हृश्यन्ते ।५।३।१४।’ इति त्रल । अपि बाढ
नार्थयिष्यत् दुर्मतिरदुष्टचेता अभविष्यत् तदा सीतां बाढं नार्थयिष्यत् ।
भार्या मम भवेति न प्रार्थितवान् । ‘उताप्योः समर्थयोर्डिङ् । ३ । ३ । १५२।’
इति । अत्रापिशब्दो बाढर्थः लिङ्गनिमित्तं तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियाति-
पत्तौ सत्यां भूते नित्यं लङ् । तत्र ‘वोताप्योः ।३ । ३ । १४१।’ इति अनुव-
र्तते । अत्रार्थनक्रियायाः तद्विरुद्धदुर्मतित्वोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अर्थन-
र्थः याचनम् । तत्करोतीति पितृ । नाहमवकल्पयामि यद्यदुर्मतिरभविष्यत्
क्रूरं परुषं जातु कदाचित् नावदिष्यत् नोक्तवान् । श्रियं विभूतिं
स्वकानात्मीयान् ईदृशी मे विभूतिरिति नास्तोष्यत् न स्तुत-
वांश्च । ‘जातुयदेव्विलङ् । ३ । ३ । १४७।’ इत्यत्र जातुशब्दोऽनवकल्पसिद्धा-
लिङ्गो निमित्तं तत्र । ‘अनवकल्पयमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५।’ इति
वर्तते । अत्र कूराभिधानक्रियाया विभूत्याः स्तवनक्रियायाश्च तद्विरुद्धदु-
र्मतित्वोपनिपातादतिपत्तिः । केचित् ‘लडपिजात्वोः’ इत्येवदुदाहरन्ति तद-
युक्तं तस्यालिङ्गनिमित्तत्वात् ॥ ३ ॥

सङ्कल्पं नाकारिष्यच्च तत्रेयं शुद्धमानसा

सत्यामर्षमवाप्यस्त्वं राम सीतानिबन्धनम् ॥ ४ ॥

सङ्कल्पमित्यादि—तत्रेयं शुभमानसेति नाहमवकल्पयामि यदीयं शुद्ध-
मानसा नाभविष्यत् । तत्र तस्मिन् रावणे हृत्यं प्रीयमाणेऽपि सङ्कल्पमभि-
ग्रायमकरिष्यत् कृतवती स्यात् न च कृतवती शुद्धमानसत्वात् । सत्यामर्षमवा-
प्यस्त्वमिति ह राम ! यद्यशुद्धमानसा अभविष्यत् तदा सीतानिबन्धनं
सीताहेतुकम् अर्मषे क्रोधं सत्यसंभूतमवाप्यस्त्वं प्राप्तः स्याः नतु सत्यं
यतः शुद्धमानसा । ‘अनवकल्पयमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५।’
इत्यत्र अनवकल्पयमर्षयोर्लिङ्गनिमित्तं तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपत्तौ
भूवे वा लङ् । तत्र ‘वोताप्योः । ३ । ३ । १४१।’ इत्य-
पिक्रियते । अत्र सङ्कल्पक्रियायाः सत्यामर्षक्रियायाश्च तद्विरुद्धशुद्धमा-
नसत्त्वोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ४ ॥

अन्यथास्मिन्वस्तुनि नाहमेवैकः प्रमाणं भवानपि प्रमाणमेवेति दर्शयन्नाह-
त्वयाद्रक्ष्यत किं नास्याः शीलं संवसता चिरम् ।

अदर्शिष्यन्तं वा चेष्टाः कालेन बहुनान किम् ॥ ५ ।

त्वयेत्यादि—किं नाम तच्छीलं तच्चरित्रं यदस्याः शीलं चिरं कालं संवसता
एकत्र सहवासं कुर्वता तथा नाद्रक्ष्यत नोपलब्धमेव चेतोधर्मत्वाऽनोपलब्धमिति
चेत् किं वा नाम चेष्टा: शीलनिबन्धनाः क्रिया: बहुनापि कालेन तथा नाद-
शिष्यन्त न हृष्टा अभूवन् । अपि तु हृष्टा एव । ‘किंवृते लङ्गलटौ
।३।३।१४४’ इति किंशब्दो विभक्त्यन्तो गर्हा च लिङ्गनिमित्तं वत्र
गर्हायामित्येतदनुवर्तते तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपचौ भूते लङ्ग ।
कर्मष्येव चिण्डिद् । अत्र शीलानुपलब्धक्रियायाश्च तद्विरुद्धचि-
रवासोपनिपातादतिपरिचार्यते । तथाहि ‘शीलं संवसता इयं तच्च
कालेन भूयसा’ इति ॥ ५ ॥

यावज्जीवमशोचिष्यो नाहास्यश्चेदिदं तमः ।

भानुरप्यपतिष्यत् क्षमामशोभिष्यत चेदियम् ॥ ६ ॥

यावदित्यादि—अन्यच्च लोकस्याज्ञानमूलं परगृहोषितेत्येतात्रत्वाप-
रिशुद्धेत्वज्ञानसुत्पन्नमिदं तमः अज्ञानं यदि त्वं नाहास्यः न त्यक्ष्यसि
तद्वास्या वैलक्षण्येन मरणादवदयं यावज्जीवमशोचिष्यः शोकमेष्यसि ।
अतो मशमिथीयमानः स्वयं च विमुशन् परिशुद्धा हीयमित्यवेहि खेन
न शोचिष्यसि । अत्र भविष्यदज्ञानात्यागो हेतुः । यावज्जीवशोचनं
हेतुमत् । तयोर्हेतुमत्वे लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपचौ सत्यां भविष्यति नित्यं
लङ्ग । अत्राज्ञानत्यागक्रियायास्तद्विरुद्धोपदेशकत्वमर्पितज्ञानोत्पादनिपादा-
दुष्टिष्यति भूत्यते । अन्यच्च अभूतवस्तुपादकसूचक उत्पातो भवति न च
दक्षमभूतेऽस्तीति दर्शयन्नाह । यदीयमशोभिष्यत् दुष्टचित्तमभूत् तदा
भानुरापि क्षमां पृथ्वीमपतिष्यत् गतोऽभूत् । अत्रापि श्वोभो हेतुः भाजुम-
क्तनं हेतुमत् तयोर्हेतुहेतुमत्वे लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपचौ सत्यां भूते लङ्ग ।
अत्र श्वोभक्रियायास्तद्विरुद्धाक्षोभोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ६ ॥

अन्यच्च सत्येन सवित्रा लोकपाला अदुष्टचित्तेषु संनिधीयन्ते
इति दर्शयन्नाह—

समपत्स्यत राजेन्द्र खैरं यद्यत्र चापलम् ।

लोकपाला इहयास्यस्ततो नामी कलिदुःः ॥ ७ ॥

समेत्यादि—शीणामिदं खैरं चापलं चरित्यवन्धनं तदत्र सीतायां हे
राजेन्द्र ! समपत्स्यत संपन्नमभूत् । ततः कारणादमी लोकपालाः एव मादयो मूर्ति-
मन्तः कलिदुःः पापस्य द्रोगधारः इह नायास्यन् नागता अभूवन् । चापलमत्र

हेतुः । लोकपालागमनं हेतुमत् । ततो हेतुहेतुमत्वे लिङ्गनिमित्ते क्रियाऽतिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र चापलाचरणक्रियायास्ताद्विद्वाचापलोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ७ ॥

अन्यच्च योवित्सामान्येन नेयं द्रष्टव्येति दर्शयन्नाह—

आश्वर्यं यज्ञं यत्र स्त्री कृच्छ्रेऽयत्स्थन् मते तव ।

त्रासादस्यां विनशायां किं किमालप्स्यथाः फलम् ॥ ८ ॥

आश्वर्यमित्यादि—यच्च यत्र या भवति स्त्री यत्तव कृच्छे मते सङ्क्लेषभिप्राये अवत्स्यैत् प्रवृत्तिमती तदाश्वर्यं चित्रमेव वर्तते । नान्येति भावः । ‘चित्रीकरणे च । ३ । ३ । १५० ।’ इत्यत्र ‘यच्चयत्रयोः । ६ । ३ । १४८।’ इत्यनुवर्तते । यज्ञयत्रशब्द उपपदे गम्यमानं चित्रीकरणं लिङ्गनिमित्तं तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियाऽतिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र कृच्छ्राभिप्रायानुवर्तनं-क्रियायास्तस्यां योविद्नुवर्तनं सामग्र्यभावाद्गम्यते । अन्यच्च स्वभावत एव योषित् कातरा भवति, ततश्च परगृहावस्थित्या दुष्टेति ऋधादहमवक्षिप्तेति त्रासादस्यां विप्रायां प्रच्छत्रविषयं गतायां सत्यां किं किमालप्स्यथाः फलं नाहमवकल्पयामि । किं नाम तत्र फलं यदाप्स्यसि नैवेत्यर्थः । ‘अनव-क्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।’ इत्यत्रापिश्च ब्दात् किंवृत्तमनवक्लृ-प्तिश्च लिङ्गो निमित्तं तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भविष्यति लङ् । अत्र फलप्राप्तिक्रियायास्तद्वद्दन्यसामग्र्यभावात् गम्यते ‘किंकिलालप्स्यथाः फलम्’ इति पाठान्तरं तदयुक्तं ‘किंकिलास्त्यर्थेषु । ३ । ३ । १४६ ।’ इत्येतत्य लिङ्गनिमित्तत्वाभावात् ॥ ८ ॥

अश्ववा नाहं दुष्टेत्यवगच्छन्त्या योवित्सास एव नास्ति येन गर्हितं भरणमाच-रेदिति दर्शयन्नाह—

यत्र यज्ञामरिष्यत्स्त्री साध्वसाहोषवर्जिता ।

तदसूयारतौ लोके तस्या वाच्यासपदं सृष्टा ॥ ९ ॥

यवेत्यादि—गर्हितमेतत् यज्ञं यत्र या भवति स्त्री दोषवर्जिता शुद्धचरित्रापि साध्वसात् पतित्रासादमरिष्यत् सृजस्त्रैल नैवेत्यर्थः । अद्युपायाः क्लृप्तसामावात् । गर्हियामित्यत्र यज्ञयत्रशब्द उपपदं गर्हा च लिङ्गनिमित्तं तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियपत्तिपत्तौ सत्यां भूते वा लङ् । अत्र मरणप्रिया-

यास्तद्विरुद्धसाध्वे से परनिपातादविपर्तीगम्यते । यदि हि त्रासात् श्रियेत दोष एव स्यादित्याह । तन्मरणं लोकेऽस्मिन्नासूयारतौ सत्स्वपि गुणेषु दोषा-विष्करणपरे तस्या अदुष्टाया योषितः वाच्यास्पदं वचनीयाश्रयं मृषा अलीक-मेव दुष्टैवेयम् मृषा अलीकमेव येन प्रच्छलभ्रमृतेति । यदि मरणम-करिष्यत् मृषावचनीयास्पदमभविष्यत् इति क्रियातिपत्तौ याज्यम् । अन्यथा वाक्यमिदमशरीरकं स्यात् इदम्बवगच्छन्त्यानया प्रच्छलमरणं नानुष्ठितम् ॥ ९ ॥

अमंस्यत भवान् यद्वत्तथैव च पिता तव ।

नागमिष्यद्विमानस्थः साक्षाद्वशरथो नृपः ॥ १० ॥

अमंस्यतेत्यादि—यदूद्यथा भवानमंस्यत दुष्टेति ज्ञातवान् तथैवद्यदि-नान्यथा तदा तव पिता दशरथः साक्षात्प्रत्यक्षो विमानस्थः सन् नाग-मिष्यत् नागतवान् स्यात् । अत्र दुष्टाभवनं हेतुः दशरथागमनं च हेतुमत् । तयोर्हेतुहेतुमत्वे लिङ्गनिमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र दुष्टाभवनक्रियायास्तद्विरुद्धादुष्टल्वोपनिपाताद-पतिपत्तिः ॥ १० ॥

नाकलप्स्यत्सन्निधि स्थाणुः शूली वृषभवाहनः ।

अन्वभाविष्यतान्येन मैथिली चेत् पतिवता ॥ ११ ॥

नाकलप्स्यदित्यादि—मैथिली पतिक्रता सती चेद्यदि त्वत्तोऽन्येनान्वभा-विष्यत परिमुक्ताभूत् । चिष्वदित् । तदायं स्याणुर्महादेवः शूली वृषभवाहनः व्यक्तचिह्नः सन् सन्निधि सन्निधानं नाकलप्स्यत न कृतवान् स्यात् । ‘वासि च कृपः । ७।२।६०’ इति चकारात् स्ये च परस्मैपदे लङ् । अन्यानुभवनं हेतुः । शाण्वागमनं हेतुमत् । धूर्वत क्रियातिपत्तौ लङ् । अत्रान्यानुभवन-क्रियायास्तद्विरुद्धानन्यानुभवनोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ११ ॥

आनन्दयिष्यदागम्य कथं त्वामरविन्दसत् ।

राजेन्द्र विश्वसूर्वाता चारित्र्ये सीतया क्षते ॥ १२ ॥

आनन्दयिष्यदित्यादि—हे राजेन्द्र ! सीतया चारित्र्ये क्षते कुत्सिते कृते सति एष धाता ब्रह्मा विश्वसूरः सर्वस्य जगतः स्त्रष्टा अदविन्दसत् कमलासनः

१ भवे । ‘भीतिभीः साक्षसं भवत् ।’ हस्तमरः । २ वृषमेष वर्जन वृषपेष
नन्दीश्वरेण बाह्यत इति तथोक्त इति केचित् । ३ प्रत्यक्षभूतः ।

सन् आगम्य त्वां कथमानन्दविष्यत् दर्शनाशीर्वादादिभिरानन्दितवान्
गहितमेतत् । युक्तमागत्यानन्दविष्यतुमित्यर्थः । ‘विभाषा कथमि लिङ् च
। ३ । ३ । १४३ ।’ इति कथंशब्दो गर्हा च लिङ्निमित्तं तस्मिन्
क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्रानन्दनक्रियायास्तद्विरुद्धचारित्र्यक्षतोपनिपाताद-
तिपत्तिः ॥ १२ ॥

प्रणमन् ब्रह्मणा प्रोक्तो राजकाधिपतिस्ततः ।

नाशोत्स्यन्मैथिली लोके नाचरिष्यदिर्दं यदि ॥ १३ ॥

प्रणमन्नित्यादि—ततोऽनन्तरं राजकाधिपतिः राजसमूहानां पातिः । राजकं
राजसमूहः । ‘गोत्रोऽक्षोप्त्वेरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाहुव् । ४२ ।
२१ ।’ इति वुव् । रामः प्रणमन् ब्रह्मणिमित्यर्थात् । ब्रह्मणा प्रोक्तः मैथिली यदि
इदं वहिप्रवेशनं नाचरिष्यत् नानुष्ठितवती तदा लोके दुराराधे नाशोत्स्यत्
न शुद्धाभूत् किन्तु शुद्धा । ‘शुध शौचे’ दिवादिः । अत्रानिनप्रवेशाचरणं
हेतुः अशोधनं च हेतुभूत् । तयोर्हेतुहेतुभूत्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ
भूते लङ् । अत्राप्निप्रवेशाचरणक्रियायास्तद्विरुद्धाचरणोपनिपाताद-
तिपत्तिः ॥ १३ ॥

नामोक्ष्याम वर्यं शङ्कामिहाधा स्यन्न चेऽवान् ।

किंवा चित्रमिदं युक्तं भवान् यद्करिष्यत ॥ १४ ॥

नेत्यादि—चेद्यदि भवाप्निह सीतां नाधास्यत् न रोपितवान् । अन्तर्भावित-
क्षोऽन्न प्यथेः । तदा वर्यं किं शुद्धा नेति शङ्कां नामोक्ष्याम न मुक्तवन्तः ।
अस्मिन् वस्तुति अनिनप्रमाणित्वेन लोको गृहीयादित्येवमुक्तवान् । अन्यथा
ब्रह्मणः सर्ववेदित्वात् कथं शङ्का स्यात् । अत्राधानं हेतुः शङ्कालागश्च हेतु-
भान् । अस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्रानाधानक्रियाया-
स्तद्विरुद्धाधानोपनिपातादितिपत्तिर्गस्यते । अथवा नाहमवकलपयामि यदीदं पर-
गृहोषिताया अग्निप्रवेशशोधनं युक्तं न्याय्यम् तत् भवान् किं चित्रमकरि-
ष्यत् विसमयनीयं कृतवान् । एवं राज्ञः लोकस्य व्यवस्थार्थं विशेषे प्रवर्तनात्
‘अनवकलृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।’ इत्यत्राप्निशब्दात् किंवृत्त-
मनवकलृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् ।
अत्र चित्रीकरणक्रियाया अतिर्पत्तिस्तद्विरुद्धस्याचित्रीकरणस्योपनिपाताद्विति-
प्रतिर्गस्यते । अदि भवान् प्रतीक्ष्य सीक्षामाः परिग्रहणमकरिष्यत् लोकोऽपि
तर्थाकरिष्यत् ॥ १४ ॥

प्रधानानुयायित्वालोकस्येति दर्शयन्नाह-

प्रावर्तिष्यन्तं चेष्टाश्वेदयाथातश्यवत्तव ।

अनुशास्ये त्वया लोके रामावस्त्यस्तरां ततः ॥ १५ ॥

प्रावर्तिष्यन्तेत्यादि—चेद्यादि तव लोकव्यवस्थाकारिणश्चेष्टाः कर्माणि अयाथातश्यवत् यथा अज्ञाना असमीक्ष्यकारितया प्रवर्तन्ते तद्विप्रावर्तिष्यन्तः तथा प्रवर्तनात् त्वया अनुशास्ये व्यवस्थायां स्थाप्ये लोके हे राम ! तत्रेष्टा अवस्त्यस्तराम् अतिशयेन प्रावर्तिष्यन्तं न च तव प्रवृत्ताः । अत्र रामचेष्टा प्रवर्तनं हेतुः लोकचेष्टाप्रवर्तनं च हेतुमत् । तस्मिन् लिङ्गनिमित्ते क्रियातिभूतौ भूते भविष्यति लङ् । अत्रापि परीक्ष्य स्वीकरणलक्षणक्रियायास्तद्विरुद्धपरीक्षितोपादानानातिपत्तिः । अयाथातश्यवदिति वतिप्रत्ययान्तं क्रियाविशेषणम् । ‘यथातथायथापुरुषोः पर्यायेण ।७।३।३१।’ इति नवः पर्यायेण वृद्धिः । प्रावस्त्यस्तरामिति ‘तिङ्कश्च ।५।३।५६।’ इत्यातिशयिकस्तरः । ‘किमेतिङ्कव्ययधादान्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११।’ इत्याम् । ‘नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७।’ इति रुद्धं पूर्वस्यानुस्वारः ॥ १५ ॥

प्रणमन्तं ततो राममुक्तवानिति शङ्करः ।

किं नारायणमात्मानं नाभोत्स्यत भवानजम् ॥ १६ ॥

प्रणमन्तमित्यादि—ततो ब्रह्मवचनानन्तरं शङ्करो महादेवः वक्ष्यमाणम् वचनं राममुक्तवान् । प्रणमन्तं तमेव राममित्यर्थात् । किन्नाम तत् यथा आत्मानम् नारायणमर्जं नित्यं अस्मिन् प्रादुर्भावे भवान्नाभोत्स्यत न बुद्धवान् । अपि तु तथाविधं कर्म कुर्वन् ज्ञातवानेव । अत्र नारायणानवबोधक्रियाः तद्विरुद्धबोधनोपनिपातादितिपत्तिः ॥ १६ ॥

तदेव दर्शयन्नाह-

कोऽन्योऽकर्त्स्यदिह प्राणान् दृष्टानां च सुरदिष्टाम् ।

को वा विश्वजनीनेषु कर्मसु प्राघटिष्यत ॥ १७ ॥

क इत्यादि—यदि नारायणो न भवान् तदा तस्मादन्यः को नाम सुरद्विषां राक्षसानां दृष्टानां प्राणानकर्त्स्यत् लिङ्गवान् । ‘कृती च्छेदने’ । नैव । विश्वजनीनेषु सर्वलोकहितेषु कर्मसु अनुग्रहलक्षणेषु को नाम प्राघटिष्यत चेष्टितवान् । अत्राच्छेदलक्रियाद्या अघटनक्रियायाश्च तद्विरुद्धच्छेदनघटनो-

(९१४)

भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमर्ते-

अनिपातादतिपत्तिः । सर्वत्र ‘किंवृत्ते लुङ्गल्टौ ।३।३।१४४’ इति क्रियातिपत्तौ
भूते गर्हयां लङ् ॥ १७ ॥

दैत्यक्षये महाराज ! यच्च यत्राघटिष्ठथाः ।

समाप्तिं जातु तत्रापि किं नानेष्यस्त्वमीहितम् ॥ १८ ॥

दत्यक्षय इत्यादि-हे महाराज ! नैवेदमवकलपयामि दैत्यक्षयनिमित्तम्
यच्च यत्र त्वमघटिष्ठथाः यां पुनरात्मनो घटनां करिष्यसि किन्तु पुनः प्रादुर्भावे
घटिष्ठसे । तत्रापि प्रादुर्भावत्वमीहितं चेष्टितं जातु कदाचित् समाप्तिं सिद्धिं
नानेष्यः किं न नेष्यसि । ‘जातुयदोर्लिङ् ।३।३।१४७’ इति जातुयच्छब्दौ
अनवक्लृप्तिश्च लिङ्गनिमित्तं तस्मिन् क्रियातिपत्तौ भविष्यति नित्यं लङ् ।
अत्राघटनक्रियायाश्चातिपत्तिः ज्ञानेनोपलब्धभविष्यत्प्रादुर्भावसमाप्तिनयनयोस्त-
द्विरुद्धयोरुपनिपातात् ॥ १८ ॥

तातं प्रसाद्य कैकेय्या भरताय प्रपीडितम् ।

सहस्रचक्षुषं रामो निनंसुः परिहृष्टवान् ॥ १९ ॥

तातमित्यादि—तातं दशरथं कैकेय्या प्रपीडितं सन्तापितं भरताय
भरतार्थं राज्येऽभिषिच्यतामिति प्रसाद्य प्रसन्नं कृत्वा तद्विषये चित्तकालुण्यं
त्याजयित्वा रामः सहस्रचक्षुषम् इन्द्रं परिहृष्टवान् संहृष्टवान् । निनंसुः
नन्तुमिच्छुः ॥ १९ ॥

प्रेता वरेण शक्तस्य ग्राणन्तः कपयस्त्रतः ।

संजाताः फलिनानग्ररोचिष्णुदुमसद्रवः ॥ २० ॥

प्रेता इत्यादि—ततः प्रणामानन्तरं शक्तस्य प्रसन्नस्य वरेण कपयः संग्रामे
प्रेताः संग्रामे मृताः प्राणन्तो जीवन्तः सञ्जाताः संवृत्ताः । कीदृशा इत्याह—
फलिनाः फलवन्तः ‘फलबहूभ्यामिन्न’ अत एव आनन्दाः समनशीलाः रोचि-
ष्णावः दीपनशीलाः ये द्रुमास्तेषु सद्रवः सदनशीलाः । ‘दाधेदूसिशदसदोः ।
३।२।१५९।३ इति सदे रुः ॥ २० ॥

अमरकुल कुलोल्बणसुगन्धिपुष्पतरु-

स्त्रहणमधूकसम्भवपिशङ्गितदुङ्गशिखः ।

शिखरशिलान्तरालपरिक्लृप्तजलापसरः ।
सरसफलश्रियं स विततानसुवेलगिरिः ॥ २१ ॥

भ्रमरेत्यादि—वरेण च सुवेलगिरिः सरसाम् अभिनवां फलश्रियं विशूर्ति
विततान विस्तृतवान् । भ्रमरकुलैरकुला व्याप्ता उल्बणाः सुगन्धयश्च
सपुष्पास्तरवो यत्र गिरौ । तरुणानाम् अभिनवानां मधूकानां यः सम्भवः तेन
पिशाङ्गितास्तुङ्गाः शिखाः शिखराणि यत्र । शिखरशिलानामन्तरालेषु परिक्लृप्ता
जलापसरा जलधारा यत्र । जलमपसरत्येभ्य इति ‘क्षदोरपू॒।३।२।५७’ ॥२१॥

संवाद्धिः सकुसुमरेणुभिः समीरैरानप्रैर्वहुक्लवारिभिर्वनान्तैः ।
इच्योतद्धिर्मधुपटलैश्च वानराणामाप्यानो रिपुवधसम्भवः प्रमोदः ॥२२॥

संवाद्धिरित्यादि—सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः । रिपुवधः सम्भवो यस्य
प्रमोदस्य स वानराणामाप्यानः वृद्ध गतः । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्
स्मोपसर्गस्य प्यायते: पीभावो न भवति । ‘ओदितश्च । ८।२।४५।’
इति निष्ठान्तव्यम् । कैराप्यानः समीरैः सकुसुमरेणुभिः संवाद्धिः वहङ्गिः ।
वनान्तैः फलभरधारिभिः अत एवानपैः । मधुकरपटलैः इच्योतद्धिः मध्वि-
त्यथात् ॥ २२ ॥

आयान्त्यः स्वफलभरेण भङ्गुरत्वं
भृङ्गलीनिचयचित्ता लतास्तरुणाम् ।
सामोदाः क्षितितलसंस्थितावलोप्या
भोक्तृणां श्रममुदयं न नीतवत्यः ॥ २३ ॥

इति भट्टिकाव्यापरनामधेये रामचारितकाव्ये तिढन्तकाण्डे
लट्टप्रदर्शनो नाम एकार्बिद्धतितमः सर्गः ॥

आयान्त्य इत्यादि—तरुणां लताः स्वफलभरेण भङ्गुरत्वं सुभेदत्वमाया-
न्त्यः गच्छन्त्यः । सामोदाः अतएव भृङ्गलीनिचयचित्ताः । क्षितितलसं-
स्थितैरेव अवलोप्युं शक्याः । भोक्तृणां कृपीनां श्रमं चित्तकायक्षेशम् उदयम् वृद्धे

१ अत्र नर्दट्क छन्दः । ‘यदि भवते नजौ भजजला गुरु नर्दट्कम् ।’
इति वृत्तरत्नाकरोक्तेः । २ अद्वाग्निमे च पथे ग्रहर्षिणी वृत्तम् । तद्वक्षणं चोक्तं प्राक् ।

न नीतवत्यः । ‘विनीतवत्यः’ इति पाठान्तरम् । उत्पूर्वादयतेः कर्तर्यच् ।
बूद्धिमुपगच्छन्तं श्रममपनीतवत्य इत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति श्रीजटेश्वरापराभिधश्रीजयमङ्गलसूरिविराचितया जयमङ्गलाख्यया
व्याख्यया समलङ्घते श्रीरामचरितापराभिधे भट्टिकाव्ये चतुर्थे
तिष्ठन्तकाण्डे लक्षणरूपेऽष्टमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे
कथानके ‘सीतासंशोधनं’ नाम एकविंशतितमः
सर्गश्च ॥ २१ ॥

इतः प्रमृति लुटमधिकृत्य विलसितमाह—तत्र भविष्यदनवातने लुद् ।
ततो रामो हनूमन्तमुक्तवान् हृषमानसम् ।
अयोध्यां शः प्रथातासि कपे भरतपालिताम् ॥ १ ॥

तत्तद्विषयादि—ततः सीतासंशोधनानन्तरं रामो हनूमन्तं हृषमानसं स्वामि-
कार्यस्य निष्पादितवात् उक्तवान् । हे कपे ! श्वोदिने अयोध्यां भरतपालितां
प्रथातासि गन्तासि । ‘तासस्त्योलोपः । ग्रामाण्डोपः । ग्रामाण्डोपः । ग्रामाण्डोपः ।’ ॥ १ ॥

गाधितासे नभो भूयः स्फुटन्मेघघटावलि ।
ईक्षितासेऽम्भसां पत्युः पयः शिशिरशीकरम् ॥ २ ॥

गाधितास इत्यादि—भूयः पुनरपि नभः गाधितासे प्रस्थातासे । ‘गाधृ
प्रतिष्ठालिप्सयोः’ इत्यनुदाचेत् । त्वद्ग्रामनवातात् स्फुटन्त्यः खण्डशो भवन्त्यः
मेघघटा वलयो मेघसमुदायपङ्गयो यत्र नभसि । अम्भसां पत्युः समुद्रस्य
पयः शिशिरशीकरम् ईक्षितासे द्रष्टासि ॥ ३ ॥

सेवितासे पुवङ्ग त्वं महेन्द्राद्रेगधित्यकाः ।
व्युक्तान्तवर्त्मनो भानोः सहजोत्स्नाकुमुदतीः ॥ ३ ॥

सेवितास इत्यादि—हे पुवङ्ग ! भानोरादित्यस्य व्युक्तान्तवर्त्मन अत्यु-
चत्वादितिक्रान्तमार्गस्य महेन्द्राद्रेः अधित्यकाः उपरिभागान् । कुमुदतीः
विद्यमानकुमुदाः सह ज्योत्सनया पश्चाद्विशेषणसमासः । सज्योत्सना वा
कुमुदत्यः कुमुदाकरा यासु अधित्यकासु तास्त्वं सेवितासे अनुभवितासि ।
पुवेन गच्छतीति कर्तरि खच् ॥ ३ ॥

चन्दनदुमसंच्छन्ना निराकृतहिमश्रथाः ।

दर्शीशतारस्त्वया ताश्च मलयोपत्यकाः शुभाः ॥ ४ ॥

चन्दनेत्यादि—ताश्च पूर्व दृष्टा मलयोपत्येकाः मलयासन्नाः भुवः शुभाः
चन्दनदुमसंच्छन्नत्वात् । निराकृतहिमश्रथाः तिरस्कृतचन्द्राः । त्वया दर्शी-
तारः श्वा द्रष्टव्याः । कर्मणि लुट् । चिष्णवदित् चेति सकारलोपः । हिमं श्राविति
मुच्चतीति हिमश्रथः चन्द्रः । ‘श्रन्थ सेचनप्रतिहर्षयोः’ इति कर्मण्यण्
‘अवोदैवैद्यप्रश्रथहिमश्रथाः । ६ । ४ । ६९ ।’ इत्यनुनासिकलोपो निपात्यते ॥ ४ ॥

प्रतन्ध्यः कोमला विन्ध्ये सहितारः स्यदं न ते ।

लताः स्तबकशालिन्यो मधुलेहिकुलाकुलाः ॥ ५ ॥

प्रतन्ध्य इत्यादि—विन्ध्ये लताः स्तबकशालिन्यः सकुसुमस्तबकोपेताः
मधुलेहिकुलाकुलाः अमरकुलसङ्कुलाः प्रतनुत्वात् । कोमलत्वात् । गच्छतास्ते
तव स्यदं जवे न सहितारः न सहिष्यन्ते । ‘स्यदो जवे । ६ । ४ । २८ ।’
इत्यनुनासिकलोपो निपात्यते ॥ ५ ॥

द्रष्टासि प्रीतिमानारात्सखिभिः सह सेविताम् ।

सपक्षपातं किञ्जिन्धां पूर्वक्रीडां स्मरन्मुहुः ॥ ६ ॥

द्रष्टासीत्यादि—किञ्जिन्धां च आरात् नातिदूरे द्रष्टासि । प्रीतिमान
नातप्रीतिः सन् सखिभिर्मित्रैः सह सेविताम् अनुभूताम् । एवं च कृत्वा
र्जक्रीडां स्मरन् मुहुः । घेषत्वेनाविविष्टत्वात् षष्ठी न भवति । सपक्ष-
गतं सानुरागमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ६ ॥

त्वया सन्दर्शीशतारौ ते माल्यवहप्पदकावने ।

उष्टुतश्चिरं द्वन्द्वैर्यथोः छिशितवानहम् ॥ ७ ॥

त्वयेत्कादि—माल्यवान् पर्वतः दण्डकावनं दण्डकेतिनाम्ना प्रसिद्धमरण्य
ते त्वया सन्दर्शीशतारौः । सम् ‘दूशिर् भ्रेष्णेण’ कर्मणि लुट् । ययोर्माल्यवह-
प्पदकावनयोः व्यवस्थितैः द्वन्द्वैः सीताया । वियोगजन्यैदुर्खैश्चिरं चिरता
उपहुतः अभिभूतः सन् अहं रामः छिशितवान् पीडामनुभूतवानिति

१ ‘उपत्यकादेरासत्रा भूमिः’ इत्यमरः ।

भावः । ‘द्विशः क्त्वानिष्ठयोः ।७।२।१०’ इतीद् । ‘मृडमृदगुधकुषद्विश-
वद्वसः क्त्वा ।१।३।७’ इति कित्वम् ॥ ७ ॥

आप्तारौ भवता रम्यावाश्रमौ हरिणाऽकुलौ ।

पुण्योदकद्विजाकीर्णौ सुतीक्ष्णशरभङ्गयोः ॥ ८ ॥

आप्तारावित्यादि—सुतीक्ष्णशरभङ्गयो रम्यावाश्रमौ हरिण आकुलौ
पुण्यैः पवित्रैः उदकैः द्विजैः पश्चिमिश्र आकीर्णौ भवता आप्तारौ
प्राप्तव्यौ ॥ ८ ॥

अतिक्रान्ता त्वया रम्यं दुःखमत्रेस्तपोवनम् ।

पवित्रचित्रकूटेऽद्वौ त्वं स्थातासि कुतूहलात् ॥ ९ ॥

अतिक्रान्तेत्यादि—अत्रेः तत्राश्च मुनेश्च तपोवनम् रम्यत्वात् रम-
णीयत्वात् त्वया दुःखमतिक्रान्ता अतिक्रमितव्यम् । चित्रकूटे चादौ पवित्रे
पुण्ये कुतूहलात् त्वं स्थातासि ॥ ९ ॥

ततः परं भरद्वाजो भवता दर्शितो मुनिः ।

द्रष्टारश्च जनाः पुण्या यामुनाम्बुक्षतांहसः ॥ १० ॥

तत इत्यादि—ततः तदनन्तरं चित्रकूटात् तन्नाम्नः पर्वतात् गच्छता भवता
भरद्वाजो नाम मुनिर्दर्शिता द्रष्टव्यः । जनाश्च पुण्या यमुनाया इदं यामुनं तदि-
द्वम्बु जलं तेन क्षतांहसैः यमुनाजलस्य स्नानात् पानाच्च क्षपितपापा द्रष्टरो
द्रष्टव्या वा चिष्णविदि ॥ १० ॥

स्यन्त्वा स्यन्त्वा दिवः शम्भोर्मूर्धि स्यन्त्वा भुवं गताम् ।

गाहितासेऽथ पुण्यस्य गङ्गां मूर्त्तिमिव द्रुताम् ॥ ११ ॥

स्यन्त्वेत्यादि—अथ अनन्तरं या गङ्गा दिवः स्वर्गात् स्यन्त्वा स्यन्त्वा
मुत्वा खुत्वा । ‘आभीक्ष्ये णमुल च । ३।४।२३.’ इति चकारात्
क्त्वा च आभीक्ष्ये च द्वे भवतः । शम्भोः महेश्वरस्य मूर्धि जटाजूदे
स्यन्त्वा गत्वा भुवं पृथिवीम् गता प्राप्ता । ‘कित्व स्कन्दिस्यन्दोः । ६।४।२१’
इत्यनुनासिकल्पेप्रतिषेधः । तां पुण्यस्य मूर्त्तिमिव द्रुतां द्रवरूपेण स्थिताम्
गाहितासे स्नातुं विलोडितासे ॥ ११ ॥

सर्गः] ,

तिङ्काण्डम् ।

(५१९)

तमसाया महानीलपाषाणसदृशत्विषः ।

वनान्तान्बुद्धु मन्त्रासे नागराक्रीडसाक्षिणः ॥ १२ ॥

तमसाया इत्यादि—तमसा एतत्राम्न्याः नद्याश्च वनान्तान् वनोपकुण्ठान् भग्नान् भग्नान् असौ नीलमणिः, स एव पाषाणस्तस्य सदृशी द्विद्व कान्तिः अतिश्यामत्वात् येषां ते नगरे भवा इति नागराः तेषाम् आक्रीडः क्रीडा, तस्य साक्षिणः साक्षिभूतास्तान् । वहु अत्यन्तम् मन्त्रासे श्लाघितासे ॥ १२ ॥

नगरखीस्तनन्यस्तधौतकुङ्कुमपिञ्चराम् ।

विलोक्य सरयूं रम्यां गन्त्यायोद्या त्वया पुरी ॥ १३ ॥

नगरेत्यादि—नगरवासिन्यः क्षिय इति नगरखीयः अयोध्यावनिताः तासां स्तनेषु यत् पूर्वं न्यस्तं पश्चाद्वौतं कुङ्कुमं तेन पिञ्चरां कपिशवर्णम् अत एव रम्यां रमणीयाम् सरयूं विलोक्य अयोध्या पुरी त्वया गन्ता गन्तव्या ॥ १३ ॥

आनन्दितारस्त्वां दृष्टा प्रष्टारश्चावयोः शिवम् ।

मातरः सहैर्थिल्या तोषा च भरतः परम् ॥ १४ ॥

आनन्दितार इत्यादि—अयोध्यायां नगर्यां च त्वां दृष्टा मातरः कौसल्या—सुभित्राकैकेयः आनन्दितारः आनन्दिष्यन्ति । आवयोरामलक्ष्मणयोः सहैर्थिल्या जनकनन्दिन्या सीतया शिवें कल्याणं प्रष्टारः प्रश्नं करिष्यन्ति भरतश्च श्रुत्वा परम् अत्यर्थं तोषा प्रीतिं कर्ता । आमन्त्रितार इति पाठान्तरम् । तत्रानित्यण्णन्ता इति दर्शनं देषां गिर्जा न भवति अन्यथा णेरनिटिद्वा ॥ १५१२ ॥ इति गिर्जो लोपे न प्राप्नोति । ततश्च आमन्त्रयितार इतिः स्यात् । अथवा आनन्दन्नेन्द्रियान्तः इति घबन्तात् आचारे ‘सर्वप्राप्तिपदिकेभ्यः किं वा वक्तव्यः’ इति किं । तदन्तात्त्वासेरिद् ‘अतो लोपः ॥ १५१३ ॥’ इत्यतो लोपे च रूपम् । ‘सहैर्थिल्योः’ इति पाठान्तरम् । तत्रापि बहुशीहौ ‘नद्यृतश्च । ५ । ४ । १५३ ॥’ इति कृपा न भवति समासान्तविधिरनित्य इति कृत्वा ॥ १४ ॥

आख्यातासि हतं शञ्चुमभिषिक्तं विभीषणम् ।

सुग्रीवं चार्जितं मित्रं सर्वाश्चागामुकान् द्रुतम् ॥ १५ ॥

आख्यातासीत्यादि—हतं शत्रुं रावणं लङ्घायामभिषिक्तं विभीषणम् अर्जितं
भित्रं च सुग्रीवं विशिष्टमाख्यातासि कथयितासि सर्वाश्चास्मान् द्रुतमागामु-
कान् आगमनशीलान् ॥ १५ ॥

गन्तारः परमां प्रीतिं पौरा: श्रुत्वा वचस्तव ।

ज्ञावैतत्सम्मुखीनश्च समेता भरतो ध्रुवम् ॥ १६ ॥

गन्तार इत्यादि—त्वद्वचनं श्रुत्वा पौरा: पौरजनाः परमां प्रीतिं गन्तारो
गमिष्यन्ति । एतन्मदागमनवृत्तान्तं श्रुत्वा सम्मुखीनः प्रतिबिम्बाश्रय इव
सम्मुखो भूत्वा मामेवागमिष्यति भरतो ध्रुवमसंशयम् ॥ १६ ॥

गते त्वयि पथानेन वयमप्याहितास्महे ।

लब्धाहेऽहं धृतिं प्राप्ते भूयो भवति सम्मुखे ॥ १७ ॥

गत इत्यादि—त्वयि पथा अनेन मयाभिहितेन गते वयमपि अंहितास्महे
प्रयातास्मः । ‘अहि गतौ’ भूयश्च पुनरपि भवति त्वयि सम्मुखे प्राप्ते
धृतिमहं लब्धाहे प्राप्तोऽस्मि । ‘ह एति । ७ । ४ । ५२ ।’ इति तासि सका-
रस्य हकारः ॥ १७ ॥

गते तस्मिन् गृहीतार्थे रामः सुग्रीवराक्षसौ ।

लक्ष्मीवान् श्वोऽभिगन्तास्थो युवां सह मया पुरम् ॥ १८ ॥

गते, तस्मिन्नित्यादि—तस्मिन् हनूमति गृहीतार्थे अवगतसन्देशार्थे गते
ताति रामः सुग्रीवराक्षसावुक्तवान् । युवां मया सह श्वः अभिगन्तास्थः
द्युमयोध्यां गमिष्यन्थः ॥ १८ ॥

द्रष्टास्थस्तव तिस्रो मे मातृतुष्टाऽन्तरात्मनः ।

आत्यन्तान् सखित्वं च ग्रासास्थो भरताश्रयम् ॥ १९ ॥

द्रष्टास्थ इत्यादि—तत्र च पुनः पुर्यी नोऽस्माकं तिस्रो मातृः कौसल्याद्याः ।
तस्मादित्वाम ढीप् । शसि प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । तुष्टाऽन्तरात्मनः हृष्ट-
मानसाः द्रष्टास्थः । भरताश्रयं च भरतनिबन्धनं च सखित्वं भित्रत्वमात्यन्ती-

^१ अनागते दिने इत्यर्थः । ‘अनागतेऽहि श्वः’ इत्यमरः ।

नमत्यन्तं गामीत्यरिमन्त्रये 'अवारपारात्यन्तानुकामं गामी । ५ । २ । ११ ।'
इति खः । प्राप्तास्थः लब्धासाथे ॥ १९ ॥

नैवं विरहदुःखेन वयं व्याघानितास्महे ।

श्रमोऽनुभविता नैवं भवद्वां च वियोगजः ॥ २० ॥

एवं युवां मम प्रीत्यै कल्पास्थः कपिराक्षसा ।

गन्तुं प्रयतितासाथे प्रातः सह मया यदि ॥ २१ ॥

तैवमित्यादि श्लोकद्वयम्—हे कपिराक्षसौ ! प्रातर्मया सह गन्तुं ये,
प्रयतितासाथे यत्नं कर्तास्थः एवं सति युष्मद्विरहदुःखेन वयं न व्याघा-
नितास्महे न पीडिता भवितास्मः । कर्मणि लुद् । चिष्वदिट् । 'सं-
योजितास्महे' इति पाठान्तरम् । न संयोजिता भवितास्मः । युज्ञ्य-
न्तस्य चिष्वदिट् । इटोऽसिद्धत्वात् 'णरनिटि । ६ । ४ । ५१ ।' इति पि-
लोपः । भवद्वधां च वियोगजः श्रमः खेदो नानुभविता । अत्रापि चिष्व-
दिट् । एवं मम प्रीत्यै युवां कल्पास्थः सम्पादितास्थः । 'लुटि च क्लूपः
। १ । ३ । ९३ ।' इति तङ्कभावपक्षः 'तसि च क्लूपः । ७।२।६०।' इतीटप्रति-
वेदः । क्लूपि सम्पद्यमाने चतुर्थी ॥ २० ॥ १ ॥

उक्तवन्तौ ततो रामं वचः पौलस्त्यवानरौ ।

अनुग्रहोऽयं काकुत्स्य गन्तास्वो यत् त्वया सह ॥ २२ ॥

उक्तवन्तावित्यादि—ततोऽनन्तरं पौलस्त्यवानरौ विभीषणसुभीवौ रामं
वच उक्तवन्तौ । हे काकुत्स्य ! त्वया सह यदावां गन्तास्वः गमिष्यावः अयम-
नुप्रहः प्रसाद इति ॥ २२ ॥

अनुमन्तास्वहे नावां भवन्तं विरहं त्वया ।

अपि ग्राप्य सुरेन्द्रत्वं किं नु प्रत्यं त्वयाऽऽस्पदम् ॥ २३ ॥

अनुमन्तास्वहे इत्यादि—किं च सुरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं प्रात्यावप्यावां त्वया
सह भवन्तमुत्पद्यमानं विरहं वियोगे नानुमन्तास्महे किं पुनरस्त्वया प्रत्यं
दृतम् । 'अच उपसर्गात्तः । ७।४।४७।' आस्पदं राज्यं प्राप्तवन्तौ । अत्र सुतरा-
मेव त्वया सह वियोगो न युज्यते । भवन्तं विरहमिति वर्तमानकालः नानुम-
न्तास्वह इति भविष्यत्कालेन सम्बद्धमानः साधुर्भवति 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः
। ३।४।१।' इति । एतावल्लुडिलसितम् ॥ २३ ॥

अथ सर्गभज्ञार्थं छन्दोऽन्तरेण तच्छेष्मूतमर्थवशात् प्रकीर्णकक्रियाविलसितं
दर्शयन्नाह—

ततः कथाभिः समतीत्य दोषामारुद्ध्य सैन्यैः सह पुष्पकं ते ।

सम्प्रस्थिता वेगवशादगांवं प्रक्षोभयन्तः सलिलं पयोधेः ॥ २४ ॥

तत इत्यादि—कथाभिरनन्तरोक्ताभः दोषां रात्रिं समतीत्य प्रेरयित्वा ततो-
ऽनन्तरं ते रामाद्यः पुष्पकं विमानमारुद्ध्य सैन्यैः सह आयोध्यां यातुं
संप्रस्थिताः । पयोधेः सलिलमगाधमक्षोभ्यमपि वेगवशात्प्रक्षोभेयन्तः ॥ २४ ॥

सेतुं महेन्द्रं मलयं सविन्ध्यं समाल्यवन्तं गिरिमृष्यमूकम् ।

सदृण्डकारण्यवर्तीं च पम्पां रामः प्रियायाः कथयन् जगाम ॥ २५ ॥

सेतुमित्यादि—सेतुं समुद्रवन्धनं महेन्द्रं तदाख्यं शैलं मलयं सविन्ध्यं
विन्ध्यं च । समाल्यवन्तं माल्यवन्तं च कृष्यमूकं च गिरिम् दण्डकारण्य-
गतां च पम्पाम् । एष सेतुस्त्वदर्थे मया कारितः एते च महेन्द्राद्यः इत्येवं
प्रियायाः सीतायाः कथयन् जगाम । अयोध्याभिमुखं गतवान् ॥ २५ ॥

एते ते मुनिजनमणिडता दिगन्ताः शैलोऽयं लुलितवनः स चित्रकूटः ।
गङ्गेयं सुतनु विशालतीररम्या, मैथिल्या रघुतनयो दिशननन्द ॥ २६ ॥

एते इत्यादि—शोभना तनुः शरीरं यस्याः सा त्वं हे सुतनु ! कचिदु-
कारान्तमपि लियः प्रोक्तमिति वचनात् नदीसंज्ञकत्वात् सम्बुद्धिहस्तवम् ।
‘कृषिचमितनिर्सर्जिमज्जिभ्यः’ इत्यौणादिकस्तनुशब्दः । एते दिगन्ता मुनिजनै-
स्तत्रिवासिभिर्मणिडताः भूषिताः । अयं स चित्रकूटः यत्र भरतेनागम्य
द्वषोऽस्मि । लुलितवनोऽस्मद्वेगवशात् । इयं च गङ्गा विशालतीरतया रम्या ।
एवं मैथिल्या दिशन् कथयन् ननन्द मुदितैः ॥ २६ ॥

शिखानभ्रमरकुलाकुलाग्रपुष्पाः शाताम्भः प्रविलयसम्प्लवाभिलीनाः ।
एते ते सुतनु पुरीजनोपभोग्या दृश्यन्ते नयनमनोरमा वनान्ताः ॥ २७ ॥

१ अत्राग्रिमे च पदे उपजातिशब्दः । २ सम्बन्धसामान्यविवक्षयात्र षष्ठी
३ अत्राग्रिमे च प्रहर्षिणीवृत्तम् ।

शिखानेत्यादि—सुतनु ! एते वनान्ताः पुर्या दृश्यन्ते शिखानैः कूजद्धिः
अभ्रकुलैः आकुलाप्राणि पुष्पाणि वेषां वनान्तानाम् । प्रविलीयतेऽस्मिन्निति
श्रविलयः । ‘एरच् । ३।३।५६’ इत्यच् । ‘निमिर्मीलियां स्तलचोरात्त्वं नेति
वाच्यम् ।’ इति वार्त्तिकेन ‘विभाषा लीयतेः । ६।१।५१’ इत्यात्मं न भवति ।
शीतास्मसः प्रविलयः कुल्या तेन यः संप्रवः स्नापना तेनाभिलीनाः
कुल्यया सिच्यमानमूलत्वात् । अत एव नयनमनोरमाः रमयतीति
कर्तव्यच् । पश्चात् षष्ठीसमासः । एवं च पुरीजनानामयोध्यानिवा-
सिनाम् उपमोग्याः ॥ २७ ॥

स्थानं नः पूर्वजानामियमधिकमसौ प्रेयसी पूरयोध्या
दूरादालोक्यते या हुतविविघविष्णीणिताऽज्ञेषदेवा ॥
सोऽयं देशो रुदन्तं पुरजनमखिलं यत्र हित्वा प्रयाता
आवां सीते वनान्तं सह धृतधृतिना लक्ष्मणेन क्षपान्ते ॥ २८ ॥

स्थानं न इत्यादि—हे सीते ! असौ पुरी नोऽस्माकं पूर्वजानां स्थानम-
धिकम् अयोध्या पूः अतएव च प्रेयसी प्रियतमा । दूरादालोक्यते
उच्चप्रासादयोगात् । या हुतैर्विविधैर्विर्भाज्यादिभिः प्रीणिवाशेषदेवा ।
यत्र देशे पुरजनमखिलं समस्तं रुदन्तं क्षपान्ते उषसि हित्वा त्यक्त्वा
छलेन आवां वनान्तं प्रयातौ सोऽयं देशः सह लक्ष्मणेन धृतधृतिना
धृतसौमनस्येनैः ॥ २८ ॥

तूर्याणामथ निःस्वनेन सकलं लोकं समापूरयन्
विक्रान्तैः करिणां गिरीन्द्रसदृशां क्षमां कम्पयन् सर्वतः ।
सानन्दाश्रुविलोचनः प्रकृतिभिः साध सहान्तःपुरः
सम्प्राप्तो भरतः समारुतिरलं नम्रः समं मातृभिः ॥ २९ ॥

तूर्याणामित्यादि—अथानन्तरं भरतो हनूमतः समुपलब्धरामवृत्तान्तत्वात्
सानन्दाश्रुविलोचनः सानन्दाश्रुणी विलोचने यस्य तथाभूतः प्रकृतिभिः अमा-
लादिभिः सार्धम् । सहान्तःपुरः अन्तःपुरेण समम् । मातृभिः कौसल्यादिभिः

१ अत्र खग्वरा वृत्तम् ‘प्रज्ञेर्यानां त्रयेण त्रिसुनियतियुता खग्वरा कीर्तिर्यम्’
इति वृत्तरत्वाकरोक्ते ।

सह मातुभिः हनूमता च सह । अर्थं नग्रः अनुद्धतः ‘समीपं मे नाथ आगतः’ इति तृणाणां निःस्वनेन सकलं लोकं मार्गप्राप्तं समापूर्यन् व्याप्तुवन् करिणां च गिरीन्द्रसदृशाम् । ‘त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च । ३ । २१६०।’ इति चकारात् किन् । विक्रान्तैः पादन्यासैः क्षमां कम्पयन् सर्वतो विघूनयन् ‘क्षमापथन्’ इति पाठान्तरम् । तत्र ‘अर्तिहीन्लीरीकनूयीक्ष्मान्यातां पुरणौ । ७ । ३ । ३६।’ इति पुक्ष । सम्प्राप्तः रामसमीपमित्यर्थः ॥ २९ ॥

अथ ससम्ब्रमपौरजनावृतो भरतपाणिधृतोज्ज्वलचामरः ।

गुरुजनद्विजबन्धुभिनन्दितः प्रविशति स्म पुरं रघुनन्दनः ॥ ३० ॥

अथेत्यादि—अथ भरतसम्प्राप्त्यनन्तरं रघुनन्दनो रामः ससम्ब्रमेण सादरेण सहर्षेण पौरजनेनावृतः । भरतपाणिना धृतमुज्ज्वलं चामरं यस्य । गुरुजनेन द्विजैर्बन्दिभिश्च स्तुतिपाठकैरभिनन्दितोऽभिष्टुतः सन् पुरमयोध्यां प्रविशति स्म प्रविष्टः ॥ ३० ॥

प्रविधाय धृतिं परां जनानां युवराजं भरतं ततोऽभिषिच्य ।

जघटे तुरगाध्वरेण यष्टुं कृतसम्भारविधिः पतिः प्रजानाम् ॥ ३१ ॥

प्रविधायेत्यादि—प्रविश्य च पुरं प्रजानां पती रामः जनानां धृतिं श्रीति-रूपचेतोर्चितं परामुक्त्वा त्रिपतिं प्रविधाय कृत्वा भरतं च युवराजमभिषिच्य ततोऽनन्तरम् तुरगाध्वरेणाश्वेषेन यष्टुं जघटे चेष्टितवाम् । कृतसम्भारविधिः संभ्रियत इति सम्भारः द्रव्यगण इत्यर्थः । कृतोऽनुष्टितः सम्भारस्य विधीरिति कर्तव्यतालक्षणो येन स इति ॥ ३१ ॥

नायकाभ्युद्यान्तं महाकाव्यभिति परिसमाप्य तत्र जयभिच्छता अस्मिन्नादरः कर्तव्यं इति दूर्शयन्नाह—

इदमधिगतमुक्तिमार्गचित्रं विविषतां वदतां च सन्निबन्धात् ।

जनयति विजयं सदा जनानां युवि सुसमाहितमैश्वरं यथाख्यम् ॥३२॥

१ अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, तल्लक्षणं चोक्तं प्राक् । २ अत्र द्रुतविस्त्रवत् वृत्तम्, ‘द्वृतविलम्बितमाह नभौ भरौ ॥’ इत्युक्तेः । ३ अत्रौपच्छन्दसिकं वृत्तम् ‘स्मृत्वा ओपच्छन्दसिकम्’ इति छन्दोऽनुशासनोक्ते; ‘ओजे षण्मात्रायुज्यझौ रणयग-गान्ताश्वेत् अवशिष्टं वैतालीयवृत्तदौपच्छन्दसिकम्’ इति छन्दोऽनुशासनकारः ।

इदमित्यादि—इदं महाकाव्यम् । उक्तेर्वर्चनस्य यो मार्गः पन्थाः सुसंस्कृत-
शब्दलक्षणः प्रपञ्चितः तेन चित्रं विस्मयनीयम् । सुसमाहितम् अलङ्घारयुक्तम् ।
विगतं परिज्ञातं सज्जनानां विवादिषतां वक्तुमिच्छतां वदतां च वक्तुं प्रवर्तमा-
त्तानां सदा विजयं जनयति । सन्निवन्धात् क्षोभनवन्धात्कारणान् । यथास्तमै-
रं पाशुपतम् । अधिगतमुक्तिमार्गम् अविगतः प्राप्तः प्रज्ञातो मोचनमार्गः
पणमार्गो येन । चित्रं नानावर्णकेन चित्रितत्वात् । सुसमाहितं युधि संग्रामे
जयं विद्युति तद्वत् ॥ ३२ ॥

तस्मादादरः कर्तव्यं इति तत्रापि य एव व्याकरणमधीतवान् तस्यैवात्रादरो
प्रक्त इति दर्शयन्नाह—

दीपतुल्यः प्रवन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तामर्ष इवान्धानां भवेद्याकरणादते ॥ ३३ ॥

दीपतुल्य इत्यादि—अयं प्रवन्धो महाकाव्यसंज्ञकः । प्रबद्धयते विरच्यत
इति कृत्वा । शब्दलक्षणमेव चक्षुर्येयां तेषां दीपतुल्यः । अत एवैतत्काव्याधिं-
गमात् स्वातन्त्र्येणान्यानपि शब्दान् प्रयोक्तुं क्षमत्वात् । व्याकरणादते विना
हस्तामर्ष इवान्धानां हस्तामर्षं इवावबोधः यथा अन्धानां हस्तेन घटपटादिवत् ।
स्वपरामृश्यसंस्थानमात्रपरिज्ञानम् यथाविश्वस्वरूपपरिज्ञानमेवमनवीतव्याकर-
णानां न शब्दस्वरूपपरिज्ञानं अन्यत्र शब्दश्वरणात् ततश्च तत्स्वरूपापरिज्ञानात्
कुतोऽप्यन्यशब्दप्रयोग इति ॥ ३३ ॥

व्याख्यागम्यमिदं काव्यं मुत्सवः सुर्धियामलम् ।
हता दुर्भेषसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया ॥ ३४ ॥

एवं च कृत्वा विदुषोऽनुरुद्ध्यमानेन मयेदें काव्यं कृतमिति दर्शयन्नाह-
व्याख्यागम्यमित्यादि—व्याख्यागम्यं व्याख्यानादिना वोद्धुं न शक्यते
किमर्थमीदृशं कृतमिति चेत् उत्सवः सुधियामलं शास्त्रे क्षुण्णबुद्धीनां परं प्रमोक्तं
जायते । एवं च सत्यस्मिन् काव्ये विषयभूतदुर्भेषसो व्याकरणबाह्यः मया हत-
नानुशृहताः । तस्माद्विद्वत्प्रियतया विद्वांसः प्रिया यस्य मम विद्वत्प्रियः तद्वाव-
स्तत्ता तया हेतुभूतयेति ॥ ३४ ॥

१ अत्र पुष्पिताग्रा अन्दः‘गान्तं पुष्पिताग्रा’इति उन्दोऽनुशासनोक्ते । ‘अपरवक्त-
मेवौजयुजोर्गान्तं पुष्पिताग्रा’इति तदर्थः।अपरवक्तं च नारलगानज्ञात्रा अपरवक्तम्’इति-

(५२६) भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमेते— [द्वार्चिशः—सर्गः]

यत्रेदं काव्यं कृतं तदर्शयन्नाह—

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसूनुने नदपालितायाम् ।
कीर्तिरतो भवतान्नस्य तस्य प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम् ॥ ३५ ॥

इति महावैद्ययाकरणश्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते भट्टि—
काव्ये द्वार्चिशतितमः सर्गः ॥

काव्यमित्यादि—मया-भट्टिकविना, इदं रामचरितं काव्यं विहितं
कृतम् । श्रीधरसूनुना नरेन्द्रनान्ना नृपेण पालितायां रक्षितायां वलभ्यां
वलभीनामपुर्याम् । अत एव काव्याविधानाय या कीर्तिः सा तस्यैव
राज्ञो भवतात् । आशेषि तातङ् । यतः प्रज्ञानां प्रेमकरः प्रेमानुकूलः ।
आनुलोम्ये टैः ॥ ३५ ॥

इति वलभीवास्तव्यस्य श्रीस्वामिसूनोः श्रीभट्टिकवेर्महावैयाकरणस्य
कृतौ रावणवधे महातिष्ठन्तकाण्डे लुड्डिलसितनान्नो नवमपरिच्छेदस्य
जटीश्वरज-वदेवापरमनामधेयश्रीजयमङ्गलस्यानेकशास्त्रव्याख्यानकृतौ
जयमङ्गलख्यायां टीकायां काव्यस्य ‘अयोध्या—प्रत्यागमन’
नाम द्वार्चिशः सर्गः ॥

॥ जयमङ्गलकृता टीका समाप्ता ॥

समाप्तश्चार्यं ग्रन्थः ।

‘ । अत्र चित्रचमत्कृति नाम छन्दः, ‘चित्रचमत्कृति विद्धि भौ रथौ चेत् ।’
इति लक्षणात् ।